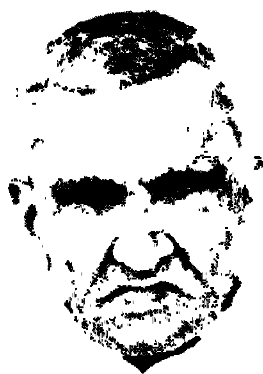


पंडित सुखलालजी

(ता. ८-१२-१९५५)

दर्शन और चिन्तन

पण्डित सुखलालजीके हिन्दी लेखोंका संग्रह

खण्ड–१, २





: प्रकाशक :

पण्डित सुखलालजी सन्मान समिति

गुजरात विद्यासभा, भद्र

अहमदाबाद–१

सम्पादक मण्डल

श्री. दलसुखभाई मालवणिया (मुख्य सम्पादक)
श्री. पं. बेचरदास जीवराज दोशी
श्री. रसिकलाल छोटालाल परीख
श्री. चुनीलाल वर्धमान शाह
श्री. बालाभाई वीरचन्द देसाई 'जयभिक्खु'

वि. सं. २०१३ : वीर निर्वाण सं. २४८३ : ई. स. १९५७

मूल्य : सात रुपये

ग्रन्थ-प्राप्ति-स्थान

(१) जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, F/३, B. H. U. बनारस–५ (उत्तर प्रदेश)
(२) गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, गांधीमार्ग, अहमदाबाद (गुजरात)
(३) श्री. बम्बई जैन युवक संघ, ४५–४७, धनजी स्ट्रीट, बम्बई–३

प्रकाशक: श्री. दलसुखभाई मालवणिया, मंत्री, पण्डित सुखलालजी सन्मान समिति, गुजरात विद्यासभा, भद्र, अहमदाबाद–१ (गुजरात)

मुद्रक : प्रथम खण्डके पृ. २८० पर्यन्त, श्री. परेशनाथ घोष, सरला प्रेस, गदोलिया, बनारस ।

शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ, श्री. राजेन्द्रप्रसाद गुप्त, श्री. शंकर मुद्रणालय, हाथीगली, बनारस ।

संपादकीय निवेदन

विद्वत्वं च नृपत्वं च, नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥

विभूतिपूजा संसारके प्रत्येक देशके लिये एक आवश्यक कार्य है। समय समय पर देशकी महान् विभूतियोंका आदर-सत्कार होता ही रहता है, और यह प्रजाकी जागरूकता और जीवनविकासका चिह्न है।

जिस विभूतिका सन्मान करनेके उद्देश्यसे हम यह ग्रन्थरत्न प्रकट कर रहे हैं वह केवल जैनोंके लिए आदरणीय है, या सिर्फ गुजरातकी श्रद्धेय व्यक्ति है, वैसा नहीं है; वह तो सारे भारतवर्षकी विद्याविभूति है। और उसका सन्मान भारतकी भारतीदेवीका सन्मान है।

पण्डित श्री सुखलालजी संघवी ता. ८–१२–५५ को अपने जीवनके ७५ वर्ष पूर्ण करनेवाले थे। अतएव सारे देशकी ओरसे उनका सन्मान करनेके विचारसे अहमदाबाद में ता. ४–९–५५ के दिन 'पण्डित सुखलालजी सन्मान समिति' का संगठन किया गया, और निम्न प्रकार सन्मानकी योजना की गई :—

(१) पण्डित श्री. सुखलालजीके सन्मानार्थ अखिल भारतीय पैमाने पर एक सन्माननिधि एकत्रित करना।

(२) उस निधिमेंसे पण्डित सुखलालजीके लेखोंका संग्रह प्रकाशित करना।

(३) उस निधिमेंसे आगामी दिसम्बर मासके बाद, बम्बईमें, उचित समय पर, पण्डित सुखलालजीका एक सन्मान–समारोह करना।

(४) उपर्युक्त सन्मान–समारोहके समय, अवशिष्ट सन्माननिधि पण्डितजीको अर्पण करना।

(५) उपर्युक्त कार्यको सम्पन्न करनेके लिये, अहमदाबादमें, एक 'पण्डित सुखलालजी मध्यस्थ सन्मान समिति' की स्थापना करना व उसका मुख्य कार्यालय अहमदाबादमें रखना।

(६) इसी उद्देश्यको पूर्तिके लिये बम्बई, कलकत्ता व जहाँ जहाँ आवश्यक मालूम हो वहाँ वहाँ स्थानिक समिति कायम करना; और इन स्थानिक समितिओंके सर्व सदस्योंको मध्यस्थ समितिके सदस्य समझना।

(७) जहाँ ऐसी स्थानिक समिति कायम न की गई हो वहाँकी विशिष्ट व्यक्तिओंको भी मध्यस्थ समितिमें शामिल करना।

इस समितिका अध्यक्षपद माननीय श्री गणेश वासुदेव मावलंकर, अध्यक्ष, लोकसभाको दिया गया। श्री मावलंकरके निधनके बाद भारत सरकारके व्यापार उद्योग मन्त्री माननीय श्री मोरारजीभाई देसाई उस समितिके अध्यक्ष बने हैं।

सन्मानकी इस योजनाकी दूसरी कलमको मूर्तरूप देनेके हेतुसे समितिकी कार्यकारिणी समितिने ता. १४-१०-५५ को निम्न प्रस्ताव किया:—

(१) पण्डितजीके जो लेख हिन्दीमें हों वे हिन्दी भाषामें और जो लेख गुजरातीमें हों वे गुजराती भाषामें—इस प्रकार दो अलग अलग ग्रन्थ मुद्रित किए जायँ।

(२) इन ग्रन्थोंके सम्पादनके लिए निम्न पांच सदस्योंका सम्पादकमण्डल नियुक्त किया जाता है। श्री दलसुखभाई मालवणिया मुख्य सम्पादक रहेंगे:—

(१) श्री दलसुखभाई मालवणिया [मुख्य संपादक]

(२) श्री पं. बेचरदास जीवराज दोशी

(३) श्री रसिकलाल छोटालाल परीख

(४) श्री चुनीलाल वर्धमान शाह

(५) श्री बालाभाई वीरचंद देसाई 'जयभिक्खु'

(३) ग्रन्थोंको कहाँ मुद्रित कराना इस बातका निर्णय सम्पादकमण्डल करेगा, व इन ग्रन्थोंको तैयार करनेमें जो भी आवश्यक खर्च करना होगा वह सब सम्पादकमण्डलकी सूचना अनुसार किया जायगा।

(४) ग्रन्थ डिमाई ८ पेजी साईझमें मुद्रित किया जाय।

(५) हिन्दी व गुजराती दोनों ग्रन्थोंकी दो-दो हज़ार नक़लें रहें।

(६) सन्माननिधिमें कम-से-कम रू. २५) (पच्चीस) का चन्दा देनेवालोंको हिन्दी तथा गुजराती दोनों ग्रन्थ भेंट दिये जाँय।

इस प्रस्तावके अनुसार 'दर्शन और चिन्तन'के नामसे प्रस्तुत पुस्तकमें पंडितजीके हिन्दी लेखोंका संग्रह प्रकाशित किया जाता है।

प्रथम खण्डमें धर्म, समाज तथा दार्शनिक मीमांसा विषयक लेखोंका संग्रह है और दूसरे खण्डमें जैन धर्म और दर्शनसे संबद्ध लेख संगृहीत हैं। ये लेख पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकोंको प्रस्तावनाओं, ग्रन्थगत टिप्पणों और व्याख्यानोंके रूपमें लिखे गये थे। ई० १९१८ में मुद्रित कर्मग्रन्थकी प्रस्तावनासे लेकर ई० १९५६ के अक्तूबरमें गांधीपारितोषिककी प्राप्तिके अवसर पर दिये गये व्याख्यान तककी पंडितजीकी हिन्दी साहित्यकी साधनाको साकार करनेका यहाँ प्रयत्न है।

वाचक यह न समझें कि पंडितजीकी साहित्यसाधना इतनेमें ही मर्यादित है। इसी पुस्तकके साथ उनके गुजराती लेखोंका संग्रह भी प्रकाशित हो रहा है, जो विषयवैविध्यकी दृष्टिसे, हिन्दी संग्रहकी अपेक्षा, अधिक समृद्ध है। उनके संस्कृत लेखोंका संग्रह किया ही नहीं गया। और कुछ लेखोंका संग्रह होना अभी बाकी है। विशाल पत्रराशिको और वाचनके समय की गई नोधोंको भी छोड़ दिया गया है। संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंके सम्पादनकी शैली उनकी अपनी ही है। इन सबका परिशीलन किया जाय तब ही पंडितजीकी साहित्य-साधनाका पूरा परिचय प्राप्त हो सकता है।

पंडितजीके सामाजिक और धार्मिक लेखोंका प्रधान तत्त्व है–बुद्धि-शुद्ध श्रद्धासे समन्वित सुसंवादी धार्मिक समाजका निर्माण। व्यक्तिके वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकारके कर्तव्योंमें सामञ्जस्य होना आवश्यक है। केवल प्रवर्तक या केवल निवर्तक, सच्चा धर्म नहीं हो सकता; किन्तु प्रवृत्ति और निवृत्तिका समन्वय ही सच्चा धर्म हो सकता है। बाह्य आचारोंकी आवश्यकता, आन्तरशुद्धिमें यदि वे उपयोगी हैं, तब ही है, अन्यथा नहीं; कोरा बाह्याचार निरर्थक है। जीवनमें प्राथमिकता आन्तरशुद्धिकी है, बाह्याचारकी नहीं। इन्हीं बातोंका शास्त्र और बुद्धिके बलसे पंडितजीने अपने लेखोंमें विशद रूपसे निरूपण किया है।

पंडितजीने दर्शनके क्षेत्रमें भारतीय दर्शनोंके प्रमाण–प्रमेयके विषयमें जो लिखा है उसका संग्रह 'दार्शनिक मीमांसा' नामक विभागमें किया गया है। उससे उनका बहुश्रुतत्व तो प्रकट होता ही है, किन्तु साथ ही दार्शनिकोंमें अपने अपने अभिमत दर्शनके प्रति जो कदाग्रह होता है उसके स्थानमें पंडितजीमें समन्वय और माध्यस्थ्य देखा जाता है। यह समन्वय और माध्यस्थ्य केवल जैनदर्शनके अभ्याससे ही आया हो, ऐसी बात नहीं, किन्तु गांधीजीके संसर्गसे, उनके जीवनदर्शनके जीवित अनेकान्तके जो पाठ पंडितजीने पढे हैं, उसका भी यह फल है। यही कारण है कि निराग्रही हो कर दार्शनिक विविध मन्तव्यों-की तुलना करके उनका सारसर्वस्व तटस्थ की तरह वे ग्रहण कर सकते हैं।

यह सच है कि पंडितजीका कार्यक्षेत्र जैनधर्म और जैनदर्शन विशेषतः रहा है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनका जैनधर्म और दर्शनमें कदाग्रह है। इस बातकी प्रतीति प्रस्तुत संग्रहगत प्रत्येक लेख करा सकेगा। किसी भी विषयका प्रतिपादन करना हो, तब दो विशेषताएँ पंडितजीकी अपनी हैं, जो उनके लेखोंमें प्रायः सर्वत्र व्यक्त होती हैं—एक है, ऐतिहासिक दृष्टिकी और दूसरी है, तुलनात्मक दृष्टिकी। इन दो दृष्टिओंसे विषयका प्रति-पादन करके वे वाचकके समक्ष वस्तुस्थिति रख देते हैं। निर्णय कभी वे दे

देते हैं और कभी स्वयं वाचकके ऊपर छोड देते हैं।

यह तो निर्विवादरूपसे कहा जा सकता है कि हिन्दी या अंग्रेजीमें एक एक दर्शनके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु दार्शनिक एक एक प्रमेयको लेकर उसका ऐतिहासिक दृष्टिसे क्रमिक तुलनात्मक विवेचन प्रायः नहीं हुआ है। इस दिशामें पंडितजीने दार्शनिक लेखकोंका मार्गदर्शन किया है—ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। 'दार्शनिक मीमांसा' विभागमें जिन लेखोंका संग्रह प्रस्तुत संग्रहमें है, उनमेंसे किसी एकका भी पठन वाचकको इस तथ्यकी प्रतीति करा देगा।

'जैनधर्म और दर्शन' विभागमें उन विविध लेखोंका संग्रह है, जो उन्होंने जैनधर्म और दर्शनको केन्द्रमें रखकर लिखे हैं। ये लेख वस्तुतः जैनधर्मके मर्मको तो प्रकट करते ही हैं, साथ ही जैन मन्तव्योंकी अन्य दार्शनिक मन्तव्योंसे तुलना भी करते हैं—यह इन लेखोंकी विशेषता है। पूर्वोक्त 'दार्शनिक मीमांसा' विभागकी विशेषताएँ इन लेखोंमें भी प्रकट हैं। जैनधर्म और दर्शनके विषयमें हिन्दीमें अत्यल्प ही लिखा गया है। और जो लिखा भी गया है वह प्रायः सांप्रदायिक दृष्टिकोणसे। ऐसी स्थितिमें प्रस्तुत लेख-संग्रह वाचकको नई दृष्टि देगा, इसमें सन्देह नहीं।

इस ग्रन्थमें पण्डितजीका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इससे ज्ञान-साधना व जीवनसाधनाके लिये उन्होंने जो पुरुषार्थ किया है, उसका कुछ परिचय मिल सकेगा। ऐसी आशा है।

प्रस्तुत संपादनको अत्यल्प समयमें पूरा करना था। अनेक मित्रोंकी सहायता न होती तो हमारे लिये यह कार्य कठिन हो जाता। श्री महेन्द्र 'राजा'ने इस लेखसंग्रहके प्रूफ देखनेमें और श्री भोगीभाई पटेल शास्त्री B. A. ने सूची बनानेमें सहायता की; बनारसके सरला प्रेसके व्यवस्थापक श्रीयुत परेशनाथ घोष व शंकर मुद्रणालयके व्यवस्थापक श्रीयुत राजेन्द्रप्रसाद गुप्तने इस ग्रन्थको समय पर मुद्रित कर दिया है; अहमदाबादके एल. डी. आर्ट्स

कालिजके अध्यापक श्री रणधीर उपाध्यायने पण्डितजीके संक्षिप्त परिचयका हिन्दी भाषान्तर कर दिया है—हम इन सबका आभार मानते हैं।

श्री भँवरमलजी सिंघीका तो हम खास आभार मानते है कि उन्होंने आजसे १५ वर्ष पूर्व प्रेरणा की थी कि यदि पंडितजीके लेखोंका संग्रह किया जाय तो प्रकाशनका प्रबन्ध वे कर देंगे। फलस्वरूप पंडितजीके बिखरे हुए लेखोंका इतना भी संग्रह हो सका। श्री नाथुराम प्रेमीजीने पंडितजीके लेखोंका एक संग्रह—'समाज और धर्म' नामसे और जैन संस्कृति संशोधन मंडलने 'चार तीर्थंकर' के नामसे प्रकाशित किया है—यह भी उसी प्रेरणाका फल है।

इस ग्रन्थमें संगृहीत 'सर्वज्ञत्व और उसका अर्थ' इस एक लेखको छोडकर बाकी सभी लेख पूर्वप्रकशित हैं। यहाँ हम उन सभी प्रकाशकोंका हार्दिक आभार मानते हैं, जिनके प्रकाशनोंसे यह संग्रह तैयार किया गया है।

कौन लेख कब और कहाँ प्रकाशित हुआ है, इसकी सूचना विषयानुक्रममें दी गई है। संकेतोंकी संपूर्ति अंतमें दी गई सूचीमें की गई है।

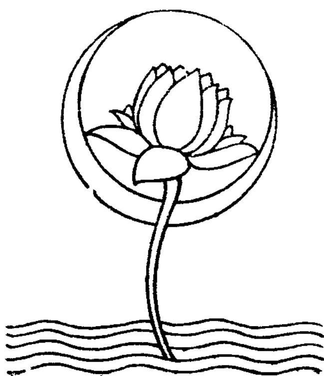
अन्तमें सन्मान समितिका भी हम आभार मानते हैं कि उसने पंडितजीके लेखोंका संकलित रूपमें पुनर्मुद्रण करके उन्हें ग्रन्थरूपमें जनताके समक्ष उपस्थित करनेका अवसर दिया।

बुद्धजयन्ती
वि. सं. २०१३ }

—सम्पादकमण्डल

पंडित सुखलालजी

[संक्षिप्त परिचय]



सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरइ ।

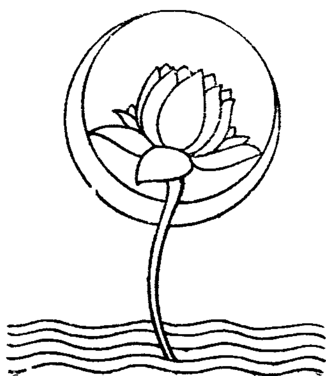
—सत्यकी आज्ञा पर खड़ा हुआ बुद्धिमान मृत्युको पार कर जाता है ।

—श्री आचारांगसूत्र ।



पंडित सुखलालजी

[संक्षिप्त परिचय]



सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरइ ।

—सत्यकी आज्ञा पर खड़ा हुआ बुद्धिमान मृत्युको पार कर जाता है ।

—श्री आचारांगसूत्र ।





एशिया महाद्वीप सदा ही धर्मप्रवर्तकों, तत्त्वचिंतकों और साधकोंकी जन्मभूमि रहा है। इस महागौरवको निभाये रखनेका श्रेय विशेषतः भारतवर्षको है। पुराणयुगमें भगवान रामचंद्र और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, इतिहासकालमें भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध और अर्वाचीन युगमें महात्मा गांधी, योगी श्री. अरविन्द एवं संत विनोबा जैसे युगपुरुषोंको जन्म देकर भारतवर्षने धर्मचिंतनके क्षेत्रमें गुरुपद प्राप्त किया है। युगोंसे भारतवर्षने इस प्रकारके अनेक तत्त्वचिंतकों, शास्त्रप्रणेताओं, साधकों, योगियों और विद्वानोंको जगती-तल पर सादर समर्पित किया है।

प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी उन्हींमेंसे एक हैं। वे सदा ही सत्यशोधक, जीवनसाधक, पुरुषार्थपरायण तथा ज्ञान-पिपासु रहे हैं। इस पंडित पुरुषने ज्ञान-मार्ग पर अपने अंतर्लोकको प्रकाशित कर उज्ज्वल चरित्र द्वारा जीवनको निर्मल और ऊर्ध्वगामी बनानेका निरंतर प्रयत्न किया है। इनकी साधना सामंजस्यपूर्ण है, इनकी प्रज्ञा सत्यमूलक तथा समन्वयगामी है और इनका जीवन त्याग, तितिक्षा एवं संयमयुक्त है।

जन्म, कुटुम्ब और बाल्यावस्था

पंडितजीकी जन्मभूमि वही सौराष्ट्र है जहां कई संतों, वीरों और साहसिकोंने जन्म लिया है। झालावाड जिलेके सुरेन्द्रनगरसे छ मीलके फ़ासले पर लीमली नामक एक छोटेसे गाँवमें संवत् १९३७ के मार्गशीर्षकी शुक्ला पंचमी, तदनुसार ता० ८-१२-१८८० के दिन पंडितजीका जन्म हुआ था। इनके पिताजीका नाम संघजीभाई था। वे विसाश्रीमाली ज्ञातिके जैन थे। उनका उपनाम संघवी और गोत्र धाकड (धर्कट) था। जब पंडितजी चार ही

सालके थे, तब उनकी माताजीका स्वर्गवास हो गया। घरमें विमाताका आगमन हुआ। उनका नाम था जड़ीबाई। वे जितनी सुंदर थीं, अुतनी ही प्रसन्नवदना भी थीं। स्नेह और सौजन्य तो उनमें कूट कूटकर भरा हुआ था। वे मानो मातृत्वकी साक्षात् मूर्ति ही थीं। पंडितजीका कहना है कि कई वर्षों बाद उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे उनकी विमाता थीं। इतना उनका मृदु व्यवहार था!

पारिवारिक व्यवस्था और बच्चोंकी देखभालका सारा काम मूलजी काका करते थे। वे थे तो घरके नौकर, पर कुटुम्बके एक सदस्य ही बन गये थे। उनमें बड़ी वफ़ादारी और ईमानदारी थी। बालक सुखलालको तो वे अपने बेटेसे भी ज़्यादा चाहते थे। उन्हे पंडितजी आज भी 'पुरुषमाता' के स्नेहभरे नामसे स्मरण करते हैं।

बचपनसे ही सुखलालको खेल-कूदका बड़ा शौक था। वे बड़े निर्भीक और साहसी थे। एक बार तैरना सीखनेका जीमें आया तो बिना किसीकी मदद मांगे जाकर कुएँमें कूद पड़े और अपने तईं तैरना सीख लिया। घुड़सवारी भी उन्हें बहुत पसंद थी। सरकसके सवारकी तरह घोड़ेकी पीठ पर खड़े होकर उसे दौड़ाने में उन्हें बड़ा मज़ा आता था। कई बार वे इसमें मुँहके बल गिरे भी थे।

एक बार सुखलाल अपने दो मित्रोंके साथ तालाब पर नहाने चले। बातें करते करते तीनों मित्रोंमें यह होड़ लगी कि उलटे पाँव चलकर कौन सबसे पहले तालाब पर पहुँचता है। बस! अब क्या था? लगे सुखलाल तो उलटे पाँव चलने। थोड़ी ही देरमें वे थूहरके कांटोंमें जा गिरे। सारे शरीरमें बुरी तरह कांटे चुभ गये। वे वहीं बेहोश हो गये। उन्हें घर ले जाया गया। बड़ी मुश्किलसे चार-छः घंटोंके बाद जब वे होशमें आये, तो क्या देखते हैं कि सारा बदन कांटोंसे बिंध गया है। तेल लगाया जा रहा है और नाई एक-एक कर कांटे निकाल रहा है। पर उन्होंने इसकी ज़रा भी परवाह नहीं की। लगे बढ़ बढ़कर अपनी शौर्य-गाथा गाने। ऐसे साहसप्रिय और क्रीडाप्रिय सुखलाल परिश्रमी, आज्ञाकारी तथा स्वावलंबी भी कम नहीं थे। विवेक और व्यवस्था उनके प्रत्येक कार्यमें दीख पड़ती थी। दूसरोंका काम करनेको वे सदा तत्पर रहते थे। पढ़ाईमें वे कभी लापरवाही नहीं करते थे। उनमें आलस्य नामको न था। बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि कठिनतम विषय भी उनके लिये सरल-सा था। स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि जो भी वे पढ़ते, तुरंत कंठस्थ

हो जाता। पुस्तकोंकी देखभाल इतनी अधिक करते थे कि सालभरके उपयोगके बाद भी वे बिलकुल नई-सी रहती थीं।

गुजराती सातवीं श्रेणी पास करनेके बाद सुखलालकी इच्छा अंग्रेजी पढ़नेकी हुई, पर उनके अभिभावकोंने तो यह सोचा कि इस होशियार लड़केको पढ़ाईके बदले व्यापारमें लगा दिया जाय तो थोड़े ही अरसेमें दुकानका बोझ उठानेमें यह अच्छा साझीदार बनेगा। अतः उन्हें दुकान पर बैठना पड़ा।

धीरे धीरे सुखलाल सफल व्यापारी बनने लगे। व्यापारमें उन दिनों बड़ी तेज़ी थी। परिवारके व्यवहार भी ढंगसे चल रहे थे। सगाई, शादी, मौत और जन्मके मौकों पर पैसा पानीकी तरह बहाया जाता था। अतिथि-सत्कार और तिथि-त्यौहार पर कुछ भी बाक़ी न रखा जाता था। पंडितजी कहते हैं — इन सबको मैं देखा करता। यह सब पसंद भी बहुत आता था। पर न जाने क्यों मनके किसी कोनेसे हल्की-सी आवाज़ उठती थी कि यह सब ठीक तो नहीं हो रहा है। पढ़ना-लिखना छोड़कर इस प्रकारके खर्चीले रिवाजोंमें लगे रहनेसे कोई भला नहीं होगा। शायद यह किसी अगम्य भावीका इंगित था।

चौदह वर्षकी आयुमें विमाताका भी अवसान हो गया। सुखलालकी सगाई तो बचपन ही में हो गई थी। वि० सं० १९५२में पंद्रह वर्षकी अवस्थामें विवाहकी तैयारियाँ होने लगीं, पर ससुरालकी किसी कठिनाईके कारण उस वर्ष विवाह स्थगित करना पड़ा। उस समय किसीको यह ज्ञान नहीं था कि वह विवाह सदाके लिये स्थगित रहेगा।

चेचककी बीमारी

व्यापारमें हाथ बँटानेवाले सुखलाल सारे परिवारकी आशा बन गये थे, किन्तु मधुर लगनेवाली आशा कई बार ठगिनी बनकर धोखा दे जाती है। पंडितजीके परिवारको भी यही अनुभव हुआ। वि. सं. १९५३ में १६ वर्षके किशोर सुखलाल चेचकके भयंकर रोगके शिकार हुए। शरीरके रोम रोममें यह व्याधि परिव्याप्त हो गई। क्षण क्षणमें मृत्युका साक्षात्कार होने लगा। जीवन-मरणका भीषण द्वन्द्व-युद्ध छिड़ा। अंतमें सुखलाल विजयी हुए, पर इसमें वे अपनी आँखोंका प्रकाश खो बैठे। अपनी विजय उन्हें पराजयसे भी विशेष असह्य हो गई, और जीवन मृत्युसे भी अधिक कष्टदायी प्रतीत हुआ। नेत्रोंके अंधकारने उनकी अंतरात्माको निराशा एवं शून्यतामें निमग्न कर दिया।

पर दुःखकी सच्ची औषधि समय है। कुछ दिन बीतने पर सुखलाल स्वस्थ हुए। खोया हुआ आँखोंका बाह्य प्रकाश धीरे धीरे अंतर्लोकमें प्रवेश

करने लगा। और फिर तो उनकी विकलता, निराशा तथा शून्यता विनष्ट हो गई। उनके स्थान पर स्वस्थता एवं शांतिका सूर्योदय हुआ। अब युवक सुखलाल का जीवन-मंत्र बना—'**न दैन्यं, न पलायनम्।**' महारथी कर्णकी भाँति '**मदायत्तं तु पौरुषं**' के अमोघ अस्त्रसे भाग्यके साथ लड़नेका दृढ़ संकल्प कर लिया। अपनी विपदाओंको उन्होंने विकासका साधन बनाया। '**विपदः सन्तु नः शश्वत्**'—माता कुन्ती द्वारा व्यक्त महाभारतकारके ये शब्द आज भी उन्हें उतने ही प्रिय और प्रेरक हैं। सुखलालने चेचककी बीमारीसे मुक्त होकर अपना जीवन-प्रवाह बदल दिया। सफल व्यापारी होनेवाले सुखलाल विद्योपार्जनके प्रति उन्मुख हुए, और जन्मसे जो वैश्य थे वे कर्मसे अब ब्राह्मण (सरस्वती-पुत्र) बनने लगे। १६ वर्षकी वयमें द्विजन्मके ये नवीन संस्कार! लीलाधरकी लीला ही तो है।

विद्या-साधनाके मार्ग पर

सुखलालका अंतर्मुखी मन आत्माके प्रति गमन करने लगा। उन्होंने विद्या-साधनाका मार्ग अपनाया। अपनी जिज्ञासा-तुष्टिके लिये वे साधु-साध्वी और संत-साधकोंका सत्संग करने लगे। इस सत्संगके दो शुभ परिणाम आये। एक ओर धर्मशास्त्रोंके अध्ययनसे सुखलालकी प्रज्ञामें अभिवृद्धि होने लगी और दूसरी ओर व्रत, तप और नियमपालन द्वारा उनका जीवन संयमी एवं संपन्न बनने लगा।

वि० सं० १९५३ से १९६० तकका ६-७ वर्षका काल सुखलालके जीवनमें संक्रांति-काल था। उस अवधिमें एक बार एक मुनिराजके संसर्गसे सुखलाल मन-अवधानके प्रयोगकी ओर मुड़े। एक साथ ही सौ-पचास बातें याद रखकर उनका व्यवस्थित उत्तर देना कितना आश्चर्यजनक है! किन्तु अल्प समयमें ही सुखलालने अनुभव किया कि यह प्रयोग न केवल विद्योपार्जनमें ही बाधक है, अपितु उससे बुद्धिमें वंध्यत्व तथा जिज्ञासावृत्तिमें शिथिलता आ जाती है। फलतः तत्काल ही इस प्रयोगको छोड़कर वे विद्या-साधनामें संलग्न हो गये। आज भी यदि कोई अवधान सीखनेकी बात छेड़ता है तो पंडितजी स्पष्टतः कहते हैं कि बुद्धिको वंध्या और जिज्ञासाको कुंठित बनानेका यह मार्ग है।

इसी प्रकार एक बार सुखलालको मंत्र-तंत्र सीखनेकी इच्छा हो आई। अवकाश तो था ही; बौद्धिक प्रयोग करनेका साहस भी था। सोचा — सांपका जहर उतार सकें या अभीप्सित वस्तु प्राप्त कर सकें तो क्या ही अच्छा? लगे मंत्र-तंत्र सीखने, किन्तु अल्पानुभवसे ही उन्हें यह प्रतीति हो गई कि इन

सबमें सत्यांश तो क्वचित् ही है, विशेषतः दंभ और मिथ्यात्व है। उसमें अज्ञान, अंधश्रद्धा तथा वहमको विशेष बल मिलता है। उनका परित्याग कर वे फिर जीवन-साधनामें लग गये—ज्ञानमार्गकी ओर प्रवृत्त हुए।

वि० सं० १९६० तक वे लीमली गाँवमें यथासंभव ज्ञानोपार्जन करते रहे। अर्धमागधीके आगम तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-मनन कर उन्हें कण्ठस्थ कर लिया। साथ ही अनेक संस्कृत पुस्तकों तथा रासों, स्तवनों और सज्झायों जैसी असंख्य गुजराती कृतियोंको भी ज़बानी याद कर लिया। पूज्य लाधाजी स्वामी और उनके विद्वान शिष्य पूज्य उत्तमचंदजी स्वामीने उन्हें सारस्वत-व्याकरण पढ़ाया, पर इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। लीमलीमें नये अभ्यासकी सुविधा नहीं थी। उन्हें इन दिनों यह भी अनुभव होने लगा कि अपने समस्त शास्त्र-ज्ञानको व्यवस्थित करनेके लिये संस्कृत भाषाका सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है। संस्कृतके विशिष्ट अध्यापनकी सुविधा लीमलीमें थी ही नहीं। सुखलाल इस अभावसे बेचैन रहने लगे। प्रश्न यह था कि अब किया क्या जाय?

काशीमें विद्याध्ययन

दैवयोगसे उसी समय उन्हें ज्ञात हुआ कि पूज्य मुनि महाराज श्री. धर्मविजयजी (शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्री. विजयधर्मसूरीश्वरजी) ने जैन विद्यार्थियोंको संस्कृत-प्राकृत भाषाके पंडित बनानेके लिये काशीमें श्री. यशोविजय जैन संस्कृत पाठशाला स्थापित की है। इससे सुखलाल अत्यंत प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपने कुटुम्बी-जनोंसे गुप्त पत्रव्यवहार करके बनारसमें अध्ययन करनेकी महाराजजीसे अनुमति प्राप्त कर ली, पर दृष्टिविहीन इस युवकको बनारस तक भेजनेको कुटुम्बी-जन राजी हों कैसे? मगर सुखलालका मन तो अपने संकल्प पर दृढ था। ज्ञान-पिपासा इतनी अधिक तीव्र थी कि उसे कोअी दबा नहीं सकता था। साहस करनेकी वृत्ति तो जन्मजात थी ही। फलतः वे पुरुषार्थ करनेको उद्यत हुए। एक दिन उन्होंने अपने अभिभावकोंसे कहा—"अब मुझे आपमेंसे कोई रोक नहीं सकता। मैं बनारस जरूर जाऊँगा। अगर आप लोगोंने स्वीकृति नहीं दी तो बड़ा अनिष्ट होगा।" घरके सभी लोग चुप थे।

एक दिन पंडितजी अपने साथी नानालालके साथ बनारसके लिये रवाना हो ही गये। बिलकुल अनजाना प्रदेश, बहुत लम्बी यात्रा और भला-भोला साथी—इन सबके कारण उन्हें यात्रामें बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। एक बार

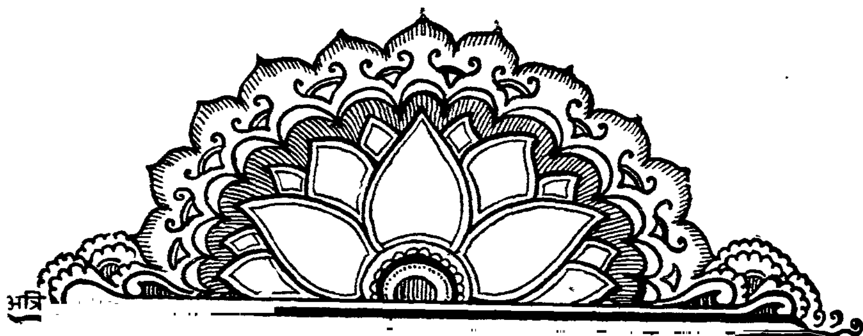
शौचादिके लिये एक स्टेशन पर उतरे, तो गाड़ी ही छूट गई । पर ज्यों-त्यों कर वे अंतमें काशी पहुँचे ।

पंडितजीके जीवनके दो प्रेरक बल हैं — जाग्रत जिज्ञासा और अविरत प्रयत्न । इन दोनों गुणों के कारण उनका जीवन सदा नवीन एवं उल्लासपूर्ण रहा है । अपनी जिज्ञासा-तुष्टिके लिये वे किसी भी प्रकारका पुरुषार्थ करनेसे नहीं हिचकिचाते ।

भूखा ज्यों भोजनमें लग जाता है, काशी पहुँचकर सुखलाल त्यों अध्ययनमें संलग्न हो गये । वि० सं० १९६३ तक, मात्र तीन ही वर्षमें, उन्होंने अठारह हजार श्लोक-परिमाण सिद्धहेमव्याकरण कंठस्थ कर लिया । (पंडितजीको आज भी समग्र व्याकरण टीकाके साथ स्मरण है ।) व्याकरणके साथ साथ न्याय और साहित्यका भी अध्ययन आरंभ कर दिया । इससे पंडितजीकी जिज्ञासा और बढ़ने लगी । वे नये नये पुरुषार्थ करनेको उद्यत हुए । जब पाठशालाका वातावरण उन्हें अध्ययनके अधिक अनुकूल नहीं जँचा, तो वे उससे मुक्त होकर स्वतंत्र रूपसे गंगाजीके तटपर भदैनी घाट पर रहने लगे । उनके साथ उनके मित्र व्रजलालजी भी थे । बनारस जैसे सुदूर प्रदेशमें पंडितजीका कोई सम्बन्धी नहीं था, खर्चकी पूरी व्यवस्था भी नहीं थी । जिज्ञासा-वृत्ति अदम्य थी, अतः आये दिन उन्हें विकट परिस्थितिका सामना करना पड़ता था । आर्थिक संकट तो इस स्वप्नदर्शी नवयुवकको बेहद तंग करता था । अंतमें सोचा—यदि भारतमें व्ययकी व्यवस्था नहीं हुई तो अमरिकाके मि० रोकफेलरसे, जो अनेक युवकोंको छात्रवृत्तियाँ दिया करते हैं, आर्थिक सहायता प्राप्त कर अमरिका पहुँचेंगे । पर दैवयोगसे आवश्यक धन प्राप्त हो गया और अमरिका जानेका विचार सदाके लिये छूट गया ।

सुखलाल अब विद्योपार्जनमें विशेष कटिबद्ध हुए । उन दिनों किसी वैश्य विद्यार्थीके लिये ब्राह्मण पंडितसे संस्कृत साहित्यका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य था, पर सुखलाल हताश होनेवाले व्यक्ति नहीं थे । चिलचिलाती हुई धूपमें या कड़ाके की सर्दीमें वे रोज आठ-दस मील पैदल चलकर पंडितोंके घर पहुँचते, सेवा-शुश्रूषा कर उन्हें संतुष्ट करते और ज्यों-त्यों कर अपना हेतु सिद्ध करते । इस प्रकार अविरत परिश्रमसे छात्र सुखलाल पंडित सुखलालजी बनने लगे ।

गंगा-तटके इस निवास-कालके बीच कभी कभी पंडितजी अपने एक हाथसे रस्सीके एक सिरेको बाँधकर और दूसरा सिरा किसी दूसरेको सौंपकर गंगा-



एशिया महाद्वीप सदा ही धर्मप्रवर्तकों, तत्त्वचिंतकों और साधकोंकी जन्मभूमि रहा है। इस महागौरवको निभाये रखनेका श्रेय विशेषतः भारतवर्षको है। पुराणयुगमें भगवान रामचंद्र और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, इतिहासकालमें भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध और अर्वाचीन युगमें महात्मा गांधी, योगी श्री. अरविन्द एवं संत विनोबा जैसे युगपुरुषोंको जन्म देकर भारतवर्षने धर्मचिंतनके क्षेत्रमें गुरुपद प्राप्त किया है। युगोंसे भारतवर्षने इस प्रकारके अनेक तत्त्वचिंतकों, शास्त्रप्रणेताओं, साधकों, योगियों और विद्वानोंको जगती–तल पर सादर समर्पित किया है।

प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी उन्हींमेंसे एक हैं। वे सदा ही सत्यशोधक, जीवनसाधक, पुरुषार्थपरायण तथा ज्ञान-पिपासु रहे हैं। इस पंडित पुरुषने ज्ञान-मार्ग पर अपने अंतर्लोकको प्रकाशित कर उज्ज्वल चरित्र द्वारा जीवनको निर्मल और ऊर्ध्वगामी बनानेका निरंतर प्रयत्न किया है। इनकी साधना सामंजस्यपूर्ण है, इनकी प्रज्ञा सत्यमूलक तथा समन्वयगामी है और इनका जीवन त्याग, तितिक्षा एवं संयमयुक्त है।

जन्म, कुटुम्ब और बाल्यावस्था

पंडितजीकी जन्मभूमि वही सौराष्ट्र है जहाँ कई संतों, वीरों और साहसिकोंने जन्म लिया है। झालावाड जिलेके सुरेन्द्रनगरसे छ मीलके फ़ासले पर लीमली नामक एक छोटेसे गाँवमें संवत् १९३७ के मार्गशीर्षकी शुक्ला पंचमी, तदनुसार ता० ८–१२–१८८० के दिन पंडितजीका जन्म हुआ था। इनके पिताजीका नाम संघजीभाई था। वे विसाश्रीमाली ज्ञातिके जैन थे। उनका उपनाम संघवी और गोत्र धाकड (धर्कट) था। जब पंडितजी चार ही

सालके थे, तब उनकी माताजीका स्वर्गवास हो गया। घरमें विमाताका आगमन हुआ। उनका नाम था जड़ीबाई। वे जितनी सुंदर थीं, अुतनी ही प्रसन्नवदना भी थीं। स्नेह और सौजन्य तो उनमें कूट कूटकर भरा हुआ था। वे मानो मातृत्वकी साक्षात् मूर्ति ही थीं। पंडितजीका कहना है कि कई वर्षों बाद उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे उनकी विमाता थीं। इतना उनका मृदु व्यवहार था!

पारिवारिक व्यवस्था और बच्चोंकी देखभालका सारा काम मूलजी काका करते थे। वे थे तो घरके नौकर, पर कुटुम्बके एक सदस्य ही बन गये थे। उनमें बड़ी वफ़ादारी और ईमानदारी थी। बालक सुखलालको तो वे अपने बेटेसे भी ज़्यादा चाहते थे। उन्हें पंडितजी आज भी 'पुरुषमाता' के स्नेहभरे नामसे स्मरण करते हैं।

बचपनसे ही सुखलालको खेल-कूदका बड़ा शौक था। वे बड़े निर्भीक और साहसी थे। एक बार तैरना सीखनेका जीमें आया तो बिना किसीकी मदद मांगे जाकर कुएँमें कूद पड़े और अपने तईं तैरना सीख लिया। घुड़सवारी भी उन्हें बहुत पसंद थी। सरकसके सवारकी तरह घोड़ेकी पीठ पर खड़े होकर उसे दौड़ाने में उन्हे बड़ा मज़ा आता था। कई बार वे इसमें मुँहके बल गिरे भी थे।

एक बार सुखलाल अपने दो मित्रोंके साथ तालाब पर नहाने चले। बातें करते करते तीनों मित्रोंमें यह होड़ लगी कि उलटे पाँव चलकर कौन सबसे पहले तालाब पर पहुँचता है। बस! अब क्या था? लगे सुखलाल तो उलटे पाँव चलने। थोड़ी ही देरमें वे थूहरके काँटोंमें जा गिरे। सारे शरीरमें बुरी तरह कांटे चुभ गये। वे वहीं बेहोश हो गये। उन्हें घर ले जाया गया। बड़ी मुश्किलसे चार-छः घंटोंके बाद जब वे होशमें आये, तो क्या देखते हैं कि सारा बदन कांटोंसे बिंध गया है। तेल लगाया जा रहा है और नाई एक-एक कर कांटे निकाल रहा है। पर उन्होंने इसकी ज़रा भी परवाह नहीं की। लगे बढ़ बढ़कर अपनी शौर्य-गाथा गाने। ऐसे साहसप्रिय और क्रीडाप्रिय सुखलाल परिश्रमी, आज्ञाकारी तथा स्वावलंबी भी कम नहीं थे। विवेक और व्यवस्था उनके प्रत्येक कार्यमें दीख पड़ती थी। दूसरोंका काम करनेको वे सदा तत्पर रहते थे। पढ़ाईमें वे कभी लापरवाही नहीं करते थे। उनमें आलस्य नामको न था। बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि कठिनतम विषय भी उनके लिये सरल-सा था। स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि जो भी वे पढ़ते, तुरंत कंठस्थ

हो जाता। पुस्तकोंकी देखभाल इतनी अधिक करते थे कि सालभरके उपयोगके बाद भी वे बिलकुल नई-सी रहती थीं।

गुजराती सातवीं श्रेणी पास करनेके बाद सुखलालकी इच्छा अंग्रेज़ी पढ़नेकी हुअी, पर उनके अभिभावकोंने तो यह सोचा कि इस होशियार लड़केको पढ़ाअीके बदले व्यापारमें लगा दिया जाय तो थोड़े ही अरसेमें दुकानका बोझ उठानेमें यह अच्छा साझीदार बनेगा। अतः उन्हें दुकान पर बैठना पड़ा।

धीरे धीरे सुखलाल सफल व्यापारी बनने लगे। व्यापारमें उन दिनों बड़ी तेज़ी थी। परिवारके व्यवहार भी ढंगसे चल रहे थे। सगाई, शादी, मौत और जन्मके मौकों पर पैसा पानीकी तरह बहाया जाता था। अतिथि-सत्कार और तिथि-त्यौहार पर कुछ भी बाक़ी न रखा जाता था। पंडितजी कहते हैं — इन सबको मैं देखा करता। यह सब पसंद भी बहुत आता था। पर न जाने क्यों मनके किसी कोनेसे हल्की-सी आवाज़ उठती थी कि यह सब ठीक तो नहीं हो रहा है। पढ़ना-लिखना छोड़कर इस प्रकारके खर्चीले रिवाजोंमें लगे रहनेसे कोई भला नहीं होगा। शायद यह किसी अगम्य भावीका इंगित था।

चौदह वर्षकी आयुमें विमाताका भी अवसान हो गया। सुखलालकी सगाई तो बचपन ही में हो गई थी। वि० सं० १९५२में पंद्रह वर्षकी अवस्थामें विवाहकी तैयारियाँ होने लगीं, पर ससुरालकी किसी कठिनाईके कारण उस वर्ष विवाह स्थगित करना पड़ा। उस समय किसीको यह ज्ञान नहीं था कि वह विवाह सदाके लिये स्थगित रहेगा।

चेचककी बीमारी

व्यापारमें हाथ बँटानेवाले सुखलाल सारे परिवारकी आशा बन गये थे, किन्तु मधुर लगनेवाली आशा कई बार ठगिनी बनकर धोखा दे जाती है। पंडितजीके परिवारको भी यही अनुभव हुआ। वि. सं. १९५३ में १६ वर्षके किशोर सुखलाल चेचकके भयंकर रोगके शिकार हुए। शरीरके रोम रोममें यह व्याधि परिव्याप्त हो गई। क्षण क्षणमें मृत्युका साक्षात्कार होने लगा। जीवन-मरणका भीषण द्वन्द्व-युद्ध छिड़ा। अंतमें सुखलाल विजयी हुए, पर इसमें वे अपनी आँखोंका प्रकाश खो बैठे। अपनी विजय उन्हें पराजयसे भी विशेष असह्य हो गई, और जीवन मृत्युसे भी अधिक कष्टदायी प्रतीत हुआ। नेत्रोंके अंधकारने उनकी अंतरात्माको निराशा एवं शून्यतामें निमग्न कर दिया।

पर दुःखकी सच्ची औषधि समय है। कुछ दिन बीतने पर सुखलाल स्वस्थ हुए। खोया हुआ आँखोंका बाह्य प्रकाश धीरे धीरे अंतर्लोकमें प्रवेश

करने लगा। और फिर तो उनकी विकलता, निराशा तथा शून्यता विनष्ट हो गई। उनके स्थान पर स्वस्थता एवं शांतिका सूर्योदय हुआ। अब युवक सुखलाल का जीवन-मंत्र बना—'**न दैन्यं, न पलायनम्।**' महारथी कर्णकी भाँति '**मदायत्तं तु पौरुषं**' के अमोघ अस्त्रसे भाग्यके साथ लड़नेका दृढ़ संकल्प कर लिया। अपनी विपदाओंको उन्होंने विकासका साधन बनाया। '**विपदः सन्तु नः शश्वत्**'—माता कुन्ती द्वारा व्यक्त महाभारतकारके ये शब्द आज भी उन्हें उतने ही प्रिय और प्रेरक हैं। सुखलालने चेचककी बीमारीसे मुक्त होकर अपना जीवन-प्रवाह बदल दिया। सफल व्यापारी होनेवाले सुखलाल विद्योपार्जनके प्रति उन्मुख हुए, और जन्मसे जो वैश्य थे वे कर्मसे अब ब्राह्मण (सरस्वती-पुत्र) बनने लगे। १६ वर्षकी वयमें द्विजत्वके ये नवीन संस्कार! लीलाधरकी लीला ही तो है।

विद्या-साधनाके मार्ग पर

सुखलालका अंतर्मुखी मन आत्माके प्रति गमन करने लगा। उन्होंने विद्या–साधनाका मार्ग अपनाया। अपनी जिज्ञासा–तुष्टिके लिये वे साधु-साध्वी और संत-साधकोंका सत्संग करने लगे। इस सत्संगके दो शुभ परिणाम आये। एक ओर धर्मशास्त्रोंके अध्ययनसे सुखलालकी प्रज्ञामें अभिवृद्धि होने लगी और दूसरी ओर व्रत, तप और नियमपालन द्वारा उनका जीवन संयमी एवं संपन्न बनने लगा।

वि० सं० १९५३ से १९६० तकका ६-७ वर्षका काल सुखलालके जीवनमें संक्रांति-काल था। उस अवधिमें एक बार एक मुनिराजके संसर्गसे सुखलाल मन-अवधानके प्रयोगकी ओर मुड़े। एक साथ ही सौ-पचास बातें याद रखकर उनका व्यवस्थित उत्तर देना कितना आश्चर्यजनक है! किन्तु अल्प समयमें ही सुखलालने अनुभव किया कि यह प्रयोग न केवल विद्योपार्जनमें ही बाधक है, अपितु उससे बुद्धिमें वंध्यत्व तथा जिज्ञासावृत्तिमें शिथिलता आ जाती है। फलतः तत्काल ही इस प्रयोगको छोड़कर वे विद्या-साधनामें संलग्न हो गये। आज भी यदि कोई अवधान सीखनेकी बात छेड़ता है तो पंडितजी स्पष्टतः कहते हैं कि बुद्धिको वंध्या और जिज्ञासाको कुंठित बनानेका यह मार्ग है।

इसी प्रकार एक बार सुखलालको मंत्र-तंत्र सीखनेकी इच्छा हो आई। अवकाश तो था ही; बौद्धिक प्रयोग करनेका साहस भी था। सोचा — सांपका जहर उतार सकें या अभीप्सित वस्तु प्राप्त कर सकें तो क्या ही अच्छा? लगे मंत्र-तंत्र सीखने, किन्तु अल्पानुभवसे ही उन्हें यह प्रतीति हो गई कि इन

सबमें सत्यांश तो क्वचित् ही है, विशेषतः दंभ और मिथ्यात्व है। उसमें अज्ञान, अंधश्रद्धा तथा वहमको विशेष बल मिलता है। उनका परित्याग कर वे फिर जीवन-साधनामें लग गये—ज्ञानमार्गकी ओर प्रवृत्त हुए।

वि० सं० १९६० तक वे लीमली गाँवमें यथासंभव ज्ञानोपार्जन करते रहे। अर्धमागधीके आगम तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-मनन कर उन्हें कंठस्थ कर लिया। साथ ही अनेक संस्कृत पुस्तकों तथा रासों, स्तवनों और सज्झायों जैसी असंख्य गुजराती कृतियोंको भी ज़बानी याद कर लिया। पूज्य लाधाजी स्वामी और उनके विद्वान शिष्य पूज्य उत्तमचंदजी स्वामीने उन्हें सारस्वत–व्याकरण पढ़ाया, पर इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। लीमलीमें नये अभ्यासकी सुविधा नहीं थी। उन्हें इन दिनों यह भी अनुभव होने लगा कि अपने समस्त शास्त्र-ज्ञानको व्यवस्थित करनेके लिये संस्कृत भाषाका सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है। संस्कृतके विशिष्ट अध्यापनकी सुविधा लीमलीमें थी ही नहीं। सुखलाल इस अभावसे बेचैन रहने लगे। प्रश्न यह था कि अब किया क्या जाय?

काशीमें विद्याध्ययन

दैवयोगसे उसी समय उन्हें ज्ञात हुआ कि पूज्य मुनि महाराज श्री. धर्मविजयजी (शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्री. विजयधर्मसूरीश्वरजी) ने जैन विद्यार्थियोंको संस्कृत-प्राकृत भाषाके पंडित बनानेके लिये काशीमें श्री. यशोविजय जैन संस्कृत पाठशाला स्थापित की है। इससे सुखलाल अत्यंत प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपने कुटुम्बी-जनोंसे गुप्त पत्रव्यवहार करके बनारसमें अध्ययन करनेकी महाराजजीसे अनुमति प्राप्त कर ली, पर दृष्टिविहीन इस युवकको बनारस तक भेजनेको कुटुम्बी-जन राज़ी हों कैसे? मगर सुखलालका मन तो अपने संकल्प पर दृढ था। ज्ञान-पिपासा इतनी अधिक तीव्र थी कि उसे कोई दबा नहीं सकता था। साहस करनेकी वृत्ति तो जन्मजात थी ही। फलतः वे पुरुषार्थ करनेको उद्यत हुए। एक दिन उन्होंने अपने अभिभावकोंसे कहा—"अब मुझे आपमेंसे कोई रोक नहीं सकता। मैं बनारस ज़रूर जाऊँगा। अगर आप लोगोंने स्वीकृति नहीं दी तो बड़ा अनिष्ट होगा।" घरके सभी लोग चुप थे।

एक दिन पंडितजी अपने साथी नानालालके साथ बनारसके लिये रवाना हो ही गये। बिलकुल अनजाना प्रदेश, बहुत लम्बी यात्रा और भला-भोला साथी—इन सबके कारण उन्हें यात्रामें बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। एक बार

शौचादिके लिये एक स्टेशन पर उतरे, तो गाड़ी ही छूट गई। पर ज्यों-त्यों कर वे अंतमें काशी पहुँचे।

पंडितजीके जीवनके दो प्रेरक बल हैं — जाग्रत जिज्ञासा और अविरत प्रयत्न। इन दोनों गुणों के कारण उनका जीवन सदा नवीन एव उल्लासपूर्ण रहा है। अपनी जिज्ञासा-तुष्टिके लिये वे किसी भी प्रकारका पुरुषार्थ करनेसे नहीं हिचकिचाते।

भूखा ज्यों भोजनमें लग जाता है, काशी पहुँचकर सुखलाल त्यों अध्ययनमें संलग्न हो गये। वि० सं० १९६३ तक, मात्र तीन ही वर्षमें, उन्होंने अठारह हजार श्लोक-परिमाण सिद्धहेमव्याकरण कंठस्थ कर लिया। (पंडितजीको आज भी समग्र व्याकरण टीकाके साथ स्मरण है।) व्याकरणके साथ साथ न्याय और साहित्यका भी अध्ययन आरंभ कर दिया। इससे पंडितजीकी जिज्ञासा और बढ़ने लगी। वे नये नये पुरुषार्थ करनेको उद्यत हुए। जब पाठशालाका वातावरण उन्हें अध्ययनके अधिक अनुकूल नहीं जँचा, तो वे उससे मुक्त होकर स्वतंत्र रूपसे गंगाजीके तटपर भदैनी घाट पर रहने लगे। उनके साथ उनके मित्र व्रजलालजी भी थे। बनारस जैसे सुदूर प्रदेशमें पंडितजीका कोई सम्बन्धी नहीं था, खर्चकी पूरी व्यवस्था भी नहीं थी। जिज्ञासा-वृत्ति अदम्य थी, अतः आये दिन उन्हें विकट परिस्थितिका सामना करना पड़ता था। आर्थिक संकट तो इस स्वप्नदर्शी नवयुवकको बेहद तंग करता था। अंतमें सोचा—यदि भारतमें व्ययकी व्यवस्था नहीं हुई तो अमरिकाके मि० रोकफेलरसे, जो अनेक युवकोंको छात्रवृत्तियाँ दिया करते हैं, आर्थिक सहायता प्राप्त कर अमरिका पहुँचेंगे। पर दैवयोगसे आवश्यक धन प्राप्त हो गया और अमरिका जानेका विचार सदाके लिये छूट गया।

सुखलाल अब विद्योपार्जनमें विशेष कटिबद्ध हुए। उन दिनों किसी वैश्य विद्यार्थीके लिये ब्राह्मण पंडितसे संस्कृत साहित्यका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य था, पर सुखलाल हताश होनेवाले व्यक्ति नहीं थे। चिलचिलाती हुई धूपमें या कड़ाके की सर्दीमें वे रोज आठ-दस मील पैदल चलकर पंडितोंके घर पहुँचते, सेवा-शुश्रूषा कर उन्हें संतुष्ट करते और ज्यों-त्यों कर अपना हेतु सिद्ध करते। इस प्रकार अविरत परिश्रमसे छात्र सुखलाल पंडित सुखलालजी बनने लगे।

गंगा-तटके इस निवास-कालके बीच कभी कभी पंडितजी अपने एक हाथसे रस्सीके एक सिरेको बाँधकर और दूसरा सिरा किसी दूसरेको सौंपकर गंगा-

स्नानका आनंद लेते थे। एक बार तो वे बिना रस्सी बांधे नदीमें कूद पड़े और लगे डूबने, किन्तु संयोगसे उनके मित्र व्रजलाल वहाँ समय पर आ पहुँचे और उन्हें बचा लिया।

वि० सं० १९६६में सुखलालजी न्यायाचार्यकी परीक्षामें संमिलित हुए, पर दुर्भाग्यसे 'लेखक' निकम्मा मिला। सुखलालजी लिखाए कुछ, और वह लिखे कुछ। अंतमें उन्होंने अपनी कठिनाई कालेजके प्रिन्सिपल श्री० वेनिस साहबसे कही। वे अंग्रेज विद्वान सहृदय थे। विद्यार्थीकी वास्तविक स्थितिको समझकर उन्होंने तुरंत मौखिक परीक्षाकी व्यवस्था कर दी और स्वयं भी परीक्षकोंके साथ बैठे। पंडितजीके उत्तर सुनकर श्री० वेनिस साहब अत्यंत मुग्ध हो गये और उन परीक्षकोंमेंसे एक श्री० वामाचरण भट्टाचार्य तो इतने अधिक प्रसन्न हुए कि उन्होंने सुखलालजीसे अपने यहाँ पढ़ने आनेको कहा। यह पंडितजीकी प्रतिभाका एक उदाहरण है।

क्रमशः सुखलालजीने 'न्यायाचार्य' उपाधिके तीन खंडोंकी परीक्षा भी दे दी, परंतु वि० सं० १९६९ में अंतिम खंडकी परीक्षाके समय परीक्षकोंके ऐसे कटु अनुभव हुए कि परीक्षाके लिये उस कालेज-भवनमें फिर कभी पैर न रखनेका संकल्प कर पंडितजी बाहर निकल गये। इस प्रसंगके लगभग २२-२३ वर्ष पश्चात् वि० सं० १९९२ में पाठ्यक्रम-संशोधन समितिके एक सदस्यकी हैसियतसे उन्होंने उस भवनमें सम्मानपूर्वक पुनः प्रवेश किया!

मिथिलाकी यात्रा

वि० सं० १९६६-६७ तक पंडितजीने बनारसमें जो भी ज्ञान प्राप्त हो सकता था, प्राप्त कर लिया; किन्तु उनकी जिज्ञासा और ज्ञानपिपासा तो दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। उनका मन अब विहारके विद्याधाम मिथिलाकी ओर दौड़ने लगा।

मिथिला प्रदेश यानी दरिद्रताकी भूमि; किन्तु वहांके सरस्वती-उपासक, ज्ञान-तपस्वी पंडितगण विद्याके ऐसे व्यासंगी हैं कि वे अध्ययनमें अपनी दरिद्रताका दुःख ही भूल जाते हैं। 'नव्यन्याय'का विशेष अध्ययन करनेके लिये पंडितजी बनारससे अब समय-समय पर मिथिला जाने लगे। मिथिलामें भी उन्होंने कम कष्ट नहीं झेला। वहाँ वे भोजनमें पाते थे—दाल, भात और साग। कभी अगर दहीं मिल गया तो षड्रस भोजन! मिथिलाकी सर्दी और बरसातका मुकाबला करना लोहेके चने चबाना था। फूसकी झोंपडीमें घासके

बिस्तर पर सोकर सुखलालजीने सब कुछ सहा और अपने अभीष्ट मार्ग पर डटे रहे ।

पंडितजीके पास एक गरम स्वीटर था । जीवनमें पहली बार उन्होंने उसे खरीदा था । कड़ाके की सर्दी थी । गुरुजीने स्वीटरकी बड़ी तारीफ़ की । पंडितजी ताड़ गये । सर्दीसे खुदके ठिठुरनेकी परवाह न कर उन्होंने वह स्वीटर गुरुजीकी सेवामें सादर समर्पित कर दिया, और खुदने घासके बिस्तर और जर्जरित कंबल पर सर्दीके दिन काट दिये ।

शुरू-शुरूमें पंडितजी मिथिलाके तीन चार गाँवोंमें अध्ययन-व्यवस्थाके लिये घूमे । अंतमें उन्हें दरभंगामें महामहोपाध्याय श्री० बालकृष्ण मिश्र नामक गुरु मिल गये, जिनकी कृपासे उनका परिश्रम सफल हुआ । मिश्रजी पंडितजीसे उम्रमें छोटे थे, पर न्यायशास्त्र और सभी दर्शनोंके प्रखर विद्वान थे । साथ ही वे कवि भी थे; और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वे अत्यंत सहृदय एवं सज्जन थे । पंडितजी उन्हें पाकर कृतकृत्य हुए और गुरुजी भी ऐसे पंडित-शिष्यको पाकर अत्यंत प्रसन्न हुए ।

तत्पश्चात् श्री० बालकृष्ण मिश्र बनारसके ओरिएन्टल कालेजके प्रिन्सिपल नियुक्त हुए । उनकी सिफारिशसे महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी और आचार्य आनंदशंकर ध्रुवने सन् १९३३ में पंडितजीको जैन-दर्शनका अध्यापक नियुक्त किया । बनारसमें अध्यापक होते हुए भी पंडितजी श्री० बालकृष्ण मिश्रके वर्गमें यदा कदा उपस्थित रहा करते थे । यह था पंडितजीका जीवंत विद्यार्थी-भाव । आज भी पंडितजीके मन पर इन गुरुवर्यके पांडित्य एवं सौजन्यका बडा भारी प्रभाव है । उनके नाम-स्मरणसे ही पंडितजी भक्ति, श्रद्धा एवं आभारकी भावनासे गद्‌गद हो जाते हैं ।

इस प्रकार वि० संवत् १९६० से १९६९ तकके नौ वर्ष पंडितजीने गंभीर अध्ययनमें व्यतीत किये थे । उस समय उनकी अवस्था ३२ वर्षकी थी । उसके बाद अपने उपार्जित ज्ञानको विद्यार्थीवर्गमें वितरित करनेका पुण्य कार्य उन्होंने शुरू किया ।

यहाँ एक वस्तु विशेष उल्लेखनीय है कि अपने अध्ययन-कालमें पंडितजी मात्र विद्योपार्जनमें ही नहीं लगे रहे । बंगभंगसे प्रारंभ होकर विविध रूपोंमें विकसित होनेवाले हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनसे भी वे पूर्णतः अवगत रहे । तदुपरान्त देशकी सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं पर भी उन्होंने चिंतन

किया। इस प्रकार पंडितजीकी दृष्टि शुरूसे ही व्यापक थी। निःसंदेह यह उनकी जाग्रत जिज्ञासाका ही फल था।

अध्यापन, ग्रंथरचना तथा अन्य प्रवृत्तियाँ

श्री० बाबू दयालचंदजी जौहरी आदि उत्साही एवं भावनाशील नवयुवकोंसे आकर्षित होकर अब पंडितजीने बनारसके बदले आगराको अपना प्रवृत्ति-केन्द्र बनाया। वहांसे वे आसपासके शहरोंमें मुनियोंको पढ़ानेके लिये चार-छः मास जा आते और फिर आगरा वापस आकर अध्ययन-अध्यापन करते। इस प्रकार तीन-चार वर्ष बीते। इतनेमें महात्मा गांधीके प्रसिद्ध सत्याग्रह-संग्रामकी दुंदुभि देशके कोने-कोनेमें बजने लगी। पंडितजी उससे अलिप्त कैसे रह सकते थे? उन्हें भी बापूके कर्मयोगने बेहद आकर्षित किया। प्रारंभमें अहमदाबादके कोचरब आश्रममें और तत्पश्चात् सत्याग्रह-आश्रम, साबरमतीमें बापूके साथ रहने पहुँचे। वहाँ सबके साथ चक्की पीसते और अन्य श्रम-कार्य करते। गाँधीजीके साथ चक्की पीसते पीसते हाथमें फफोले उठनेकी बात आज भी पण्डितजी आनन्दके साथ याद करते हैं। किन्तु थोड़े ही समयके बाद उन्होंने यह अनुभव किया कि उनके जैसे पराधीन व्यक्तिके लिये बापूके कर्मयोगका पूर्णतः अनुसरण संभव नहीं है। इस वास्ते विवश होकर फिर वे आगरा लौटे, पर उन पर बापूका स्थायी प्रभाव तो पड़ा ही। वे सादगी और स्वावलंबनके पुजारी बने। पीसना, बर्तन मलना, सफ़ाई करना वगैरह स्वावलंबनके कामोंको करनेमें उन्हें आनंद आने लगा। यह वि० सं० १९७३ की बात है। इन दिनों जीवनको विशेष संयमी बनानेके लिये पंडितजीने पाँच वर्ष तक घी-दूधका भी त्याग किया और खाने-पीनेकी झंझटसे छुट्टी पाने और ज़्यादा खर्चसे बचनेके लिये उन्होंने अपनी खुराकको बिलकुल सादा बना लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सन् १९२० में पंडितजीको बवासीरके भयंकर रोगने आ घेरा और वे मरते-मरते ज्यों-त्योंकर बचे। तबसे पंडितजीने शरीर-सँभालनेका पदार्थपाठ सीखा।

अबतक तो पंडितजी अध्यापन-कार्य ही करते थे, पर वि० सं० १९७४ में एक बार शांतमूर्ति सन्मित्र मुनि श्री कर्पूरविजयजीने पंडितजीके मित्र व्रजलालजीसे कहा कि-"आप तो कुछ लिख सकते हैं, फिर आप लिखते क्यों नहीं? सुखलालजी लिख नहीं सकते, इसलिये वे पंडितोंको तैयार करनेका कार्य करें।" पंडितजीको यह बात लग गई। उन्हें अपनी विवशता बहुत खटकी। उन्होंने सोचा-"मैं स्वयं लिख नहीं सकता तो क्या हुआ?

दूसरेको लिखाकर तो ग्रंथ-रचना की जा सकती है!" तुरंत ही उन्होंने कर्मतत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्राकृत भाषाका 'कर्मग्रंथ' उठाया। घोर परिश्रम कर उस कठिन ग्रंथका अनुवाद, विवेचन और अभ्यासपूर्ण प्रस्तावना तैयार कर छपवाया। तब तो सभी विद्वान दांतों तले उँगली दबाने लगे। इस प्रकार पंडितजीकी लेखन-प्रतिभाका पंडितवर्गको प्रथम परिचय प्राप्त हुआ। उसीके साथ पंडितजीके ग्रन्थ-निर्माण की परपरा प्रारंभ हो गई, जो अक्षुण्ण रूपसे आज तक चल रही है।

तीन वर्षके पश्चात् पंडितजीने 'सन्मतितर्क' जैसे महान दार्शनिक ग्रंथका संपादन-कार्य आगरामें रहकर आरंभ किया, पर उसी समय गांधीजीने अहमदाबादमें गुजरात विद्यापीठकी स्थापना की और पंडितजीके मित्रोंने उन्हें विद्यापीठके पुरातत्त्व मंदिरमें भारतीय दर्शनके अध्यापक-पदको ग्रहण करनेका अनुरोध किया। पंडितजीको गांधीजीके प्रति आकर्षण तो पहले से था ही, मनपसंद काम करते हुए गांधीजीके संसर्गमें रहनेका यह सुयोग पाकर वे अत्यंत प्रसन्न हुए और संवत् १९७८ में अहमदाबाद जाकर गुजरात विद्यापीठके अध्यापक बन गये।

गुजरात विद्यापीठ और साबरमती आश्रम उन दिनों राष्ट्रीय तीर्थस्थान माने जाते थे। विद्यापीठमें अध्यापन-कार्यके लिये भारतभरके चोटीके विद्वान एकत्रित हुए थे। श्री० काका कालेलकर, आचार्य कृपालानी, आचार्य गिडवानी, मुनि जिनविजयजी, अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बी, श्री० किशोरलालभाई मशरूवाला, प्रो० रामनारायण पाठक, श्री० रसिकलाल परीख, पं० बेचरदासजी, श्री० नानाभाई भट्ट, श्री० नरहरिभाई परीख इत्यादि अनेक विद्वानोंने अपनी बहुमूल्य सेवाएँ निःस्वार्थभावसे विद्यापीठको समर्पित की थीं। पंडितजी भी उनमें संमिलित हुए। यह सुयोग उन्हें बहुत पसंद आया।

विद्यापीठमें रहकर पंडितजीने अध्यापनके साथ-साथ अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बीसे पाली भाषाका अध्ययन भी किया। तदुपरांत पं० बेचरदासजीके सहयोगसे ८-९ वर्षका अविरत परिश्रम कर 'सन्मतितर्क' के संपादनका भगीरथ कार्य सम्पन्न किया। विद्वानोंने उस ग्रंथकी (मूल पाँच भाग और छठा भाग अनुवाद, विवेचन तथा विस्तृत प्रस्तावना आदिका) मुक्तकंठसे प्रशंसा की। डॉ० हर्मन जेकोबी, प्रो० लोयमन और प्रो० ल्यूडर्स जैसे प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वानोंने भी उसकी तारीफ़ की। गांधीजीको भी उसके निर्माणसे बड़ा ही संतोष हुआ, और उन्होंने कहा—"इतना भारी परिश्रम

करनेके पश्चात् सुखलालजीको एकाध वर्षका विश्राम लेना चाहिए।" इतनेमें सन् '३० का ऐतिहासिक वर्ष आ पहुँचा। सारे देशमें स्वतंत्रता-संग्रामके नक्कारे बजने लगे। राष्ट्रीय आंदोलनमें संमिलित होनेका सबको आह्वान हुआ। प्रसिद्ध दांडीकूच प्रारंभ हुई, और गांधीजीके सभी साथी इस अहिंसक संग्रामके सैनिक बने। पंडितजी भी उसमें संमिलित होनेको अधीर हो उठे, पर उनके लिये तो यह संभव ही न था, अतः वे मन मसोसकर चुप रह गये। उन्होंने इस समयका सदुपयोग एक और सिद्धि प्राप्त करनेके लिये किया। अंग्रेज़ीमें विविध विषयके उच्चकोटिके गंभीर साहित्यका प्रकाशन देखकर पंडितजीको अंग्रेज़ीकी अपनी अज्ञानता बहुत खटकी। उन्होंने कटिबद्ध होकर सन् ३०–३१ के वे दिन अंग्रेजी-अध्ययनमें बिताये। इसी सिलसिलेमें वे तीन मासके लिये शांतिनिकेतन भी रह आये। अंग्रेज़ीकी अच्छी योग्यता पाकर ही उन्होंने दम लिया।

सन् १९३३ में पंडितजी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटीमें जैन-दर्शनके अध्यापक नियुक्त हुए। दस वर्ष तक इस स्थान पर कार्य करनेके पश्चात् सन् १९४४ में वे निवृत्त हुए। इस दस वर्षकी अवधिमें पंडितजीने अनेक विद्वानोंको, जिन्हें पंडितजी 'चेतनग्रंथ' कहते हैं, तैयार किया और कई ग्रंथोका संपादन किया।

निवृत्तिके समय हिन्दू विश्वविद्यालय बनारसके तत्कालीन वाइस-चान्सलर और वर्तमान उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णने यूनिवर्सिटीमें ही ग्रन्थ-संपादनका महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपने और एतदर्थ आवश्यक धनकी व्यवस्था कर देनेका पंडितजीके सामने प्रस्ताव रखा, पर पंडितजीका मन अब गुजरातकी ओर खींचा जा रहा था, अतः उसे वे स्वीकार न कर सके।

इससे पूर्व भी कलकत्ता यूनिवर्सिटीके तत्कालीन वाइस-चांसलर श्री० श्यामाप्रसाद मुखर्जीने सर आशुतोष चेयरके जैन-दर्शनके अध्यापकका कार्य करनेकी पंडितजीसे प्रार्थना की थी, पर पंडितजीने उसमें भी सविनय अपनी असमर्थता प्रदर्शित की थी।

समन्वयसाधक पांडित्य

पंडितजीके अध्यापन एवं साहित्य-सर्जनकी मुख्य तीन विशेषताएँ हैं :—

(१) "**नामूलं लिख्यते किंचित्**"—जो कुछ भी पढ़ाना या लिखना हो वह आधारभूत ही होना चाहिए और उसमें अल्पोक्ति, अतिशयोक्ति या कल्पित उक्तिका तनिक भी समावेश नहीं होना चाहिये।

(२) ऐतिहासिक दृष्टि यानी सत्यशोधक दृष्टि—किसी भी तथ्यका उपयोग अपने मान्य मतको सत्य सिद्ध करनेके हेतु नहीं, पर उस मतके सत्यस्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिये ही होना चाहिये।

(३) तुलनात्मक दृष्टि—किसी भी ग्रन्थके निर्माणमें कई प्रेरक बलोंने कार्य किया होता है। इसीके साथ उस ग्रन्थ पर पूर्वकालीन या समकालीन ग्रन्थोंका प्रभाव होता है तथा उसमें अनेक अन्य उद्धरणोंके समाविष्ट होनेकी संभावना रहती है। इसके अतिरिक्त समान विषयके ग्रन्थोंमें, भाषा-भेदके होते हुए भी, विषय-निरूपणकी कुछ समानता अवश्य रहती है। इसलिये जिस व्यक्तिको सत्यकी खोज करनी है, उसे तुलनात्मक अध्ययनको अपनाना चाहिये।

पंडितजीने उपर्युक्त पद्धतिसे ग्रन्थ-रचना कर कई सांप्रदायिक रूढ़ियों और मान्यताओंको छिन्न-भिन्न कर दिया। कई नई स्थापनाएँ और मान्यताएँ प्रस्तुत कीं। इसलिये वे एक ओर समर्थ विद्वानोंके प्रीतिपात्र बने, तो दूसरी ओर पुराने रूढ़िवादियोंके कोपभाजन भी बने।

पंडितजी संस्कृत, प्राकृत, पाली, गुजराती, हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओंके ज्ञाता हैं। गुजराती, हिन्दी और संस्कृतमें उन्होंने ग्रन्थ-रचना की है। प्रारंभमें पंडितजी प्रस्तावना, टिप्पणियाँ आदि संस्कृतमें लिखवाते थे, किन्तु बादमें गुजराती और हिंदी जैसी लोकसुगम भाषाओंमें लिखनेका आग्रह रखा। जब किसी विषय पर लिखना होता है, तब पंडितजी तत्संबंधी कई ग्रन्थ पढ़वाते हैं, सुनते सुनते कई महत्त्वके उद्धरण नोट करवाते हैं और कुछ को याद भी रख लेते हैं। उसके बाद एकाग्र होकर स्वस्थतापूर्वक धाराप्रवाही रूपसे ग्रन्थ लिखवाते हैं। उनकी स्मरणशक्ति, कुशाग्र बुद्धि और विभिन्न विषयों को वैज्ञानिक ढंगसे प्रस्तुत करनेकी असाधारण क्षमता देखकर आश्चर्य होता है।

पंडितजीका मुख्य विषय है: भारतीय दर्शनशास्त्र, और उसमें भी वे जैन-दर्शनके विशेषज्ञ हैं। उन्होंने सभी दर्शनोंके मूल तत्त्वोंका एक सच्चे अभ्यासीके रूपमें अभ्यास किया है। इसीलिए वे उनकी तात्त्विक मान्यताओंको जड़-मूलसे पकड़ सकते हैं। आज जबकि हमारे सामान्य पंडितोंको भारतीय दर्शनोंमें परस्पर विभेद नजर आता है, पंडितजीको उनमें समन्वय-साधक अभेद-तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार सर्व भारतीय दर्शनोंके मध्य समन्वयवादी दृष्टिकोणकी स्थापना ही दर्शनके क्षेत्रमें पंडितजीकी मौलिक देन है। आज तो वे भारतीय दर्शन ही नहीं, संसारके सभी दर्शनोंमें समन्वय-

साधक तत्त्वोंके दर्शन कर रहे हैं। अब पंडितजी सही अर्थोंमें 'सर्वदर्शन-समन्वयके समर्थ पंडित' बन गये हैं।

जीवनपद्धति

पंडितजी अधिकसे अधिक स्वावलंवनके पक्षपाती हैं। किसी पर अवलंबित रहना उन्हें रुचिकर नहीं। दूसरोंकी सेवा लेते समय उन्हें बड़ा क्षोभ होता है। परावलंबन उन्हें प्रिय नहीं है, अतः उन्होंने अपने जीवनको बहुत ही सादा और कम खर्चवाला बनाया है। अपरिग्रहके वे आग्रही हैं।

पंडितजीके भोजन, वाचन, लेखन या मुलाकातका कार्यक्रम सदा निश्चित रहता है। वे प्रत्येक कार्यमें नियमित रहनेका प्रयत्न करते रहते हैं। निरर्थक कालक्षेप तो उन्हें धनके दुर्व्ययसे भी विशेष असह्य है।

भोजनकी परिमितता और टहलनेकी नियमितताके ही कारण पंडितजी तन और मनसे स्वस्थ रहते हैं। वे मानते हैं कि भोजनके पश्चात् आलस्यका अनुभव होना कदापि उचित नहीं। शरीरका जितना पोषण हो उतना ही उससे काम भी लिया जाय। धन-संचयकी भाँति शरीर-संचय भी मनुष्यके पतनका कारण होता है। इस मान्यताके कारण वे शरीर-पुष्टिके लिये औषधि या विशेष भोजन कभी नहीं लेते। जब स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, तब अनिवार्य रूपसे ही दवाका आश्रय लेते हैं। सन् १९३८ में पंडितजीको एपेण्डिसाइटिसका ओपरेशन बम्बईमें करवाना पड़ा था। तबसे उन्हें यह विश्वास हो गया कि तबीयतकी ओरसे लापरवाह रहने पर ही ऐसी बीमारियाँ आ घेरती हैं। अब वे अपने खाने-पीनेमें ज़्यादा चौकन्ने हो गये हैं। कम-खर्चीको पंडितजी अपना मित्र मानते हैं, पर साथ ही अपने साथीके लिये सदा उदार रहते हैं। किसीका, किसी भी प्रकारका शोषण उन्हें पसंद नहीं। किसी जिज्ञासु या तत्त्वचिंतकको मिलकर पंडितजीको बहुत खुशी होती है। अपनी या औरोंकी जिज्ञासा संतुष्ट करना उनका प्रिय कार्य है।

पंडिजीका जीवनमंत्र है — 'औरोंकी ओर नहीं, अपनी ओर देखो। दूसरे क्या कहते हैं, इसकी चिंता न करो। अपने मनको स्वच्छ एवं स्वस्थ रखना हमारे हाथमें है।' एक वार प्रसंगवशात् उन्होंने कहा था, "यह वात हमें सदा याद रखनी चाहिये कि हम अपने मनको अपने वसमें रख सकते हैं। मन ही बंधन और मुक्तिका कारण है। मान लीजिये मैंने किसीसे रसका प्याला मँगवाया। रसका वह भरा हुआ प्याला लाते-लाते रास्तेमें गिर

पड़ा और फूट गया। सारा रस जमीन पर फैल गया। इस पर हमें गुस्सा आना स्वाभाविक है। पर ऐसे मौकों पर हमें, जिन्हे आध्यात्मिक साधना इष्ट है, इतना ही सोचना चाहिये कि प्यालेको या रसको नीचे गिरनेसे बचाना भले ही हमारे हाथमें न हो, पर हमारे चित्तको क्रोध द्वारा पतित होनेसे बचाना तो हमारे वसकी बात है। हम उसे क्यों न करें ?"

व्यापक दृष्टि

पंडितजी मूलतः ज्ञानोपासक हैं, पर ज्ञानको ही सर्वेसर्वा माननेवाले वे पोंगापंथी नहीं। वे जीवनको व्यापक दृष्टिसे देखते हैं। संकुचितता उनमें नामको भी नहीं। वे दर्शनशास्त्र एवं संस्कृत–पाली–प्राकृत साहित्यके समर्थ विद्वान होते हुए भी मनोविज्ञान, मानववंशशास्त्र, समाजशास्त्र इत्यादि विविध ज्ञान-विज्ञानकी शाखाओंके भी जानकार हैं। साथ ही जीवनोपयोगी विविध प्रवृत्तियोंका महत्त्व वे खूब जानते हैं। इसीलिए तो उन्हें गंभीर अध्ययन तथा शास्त्रीय चिंतनमें जितनी रुचि है उतनी ही पशुपालन, खेती, स्त्री-शिक्षा, हरिजनोद्धार, ग्रामोद्योग, खादी, कताई-बुनाई, शिक्षाका माध्यम इत्यादि राष्ट्रनिर्माण और जनसेवाके विविध रचनात्मक कार्योंमें रुचि है। वे इनमें रस लेते हैं और समग्र मानव-जीवनके साथ अपने व्यक्तिगत जीवनका तादात्म्य स्थापित करनेका निरंतर प्रयत्न करते हैं। अज्ञानता, अंधश्रद्धा, वहम, रूढ़िपरायणता आदिके प्रति पंडितजीको सख्त नफ़रत है। स्त्री-पुरुष या मानव-मानवके ऊँच-नीचके भेदभावको देखकर उनकी आत्माको बड़ा क्लेश होता है। जिस धर्मने एक दिन जनताको अज्ञानता, अंधश्रद्धा तथा रूढ़िसे मुक्त करनेका पुण्यकार्य किया था उसी धर्म या मतके अनुयायियोंको आज प्रगतिरोधक दुर्गुणोंको प्रश्रय देते देखकर पंडितजीका पुण्यप्रकोप प्रकट हो जाता है और वे कह उठते हैं—"**द्राक्षाक्षेत्रे गर्दभाश्चरन्ति।**"

ज्ञानका हेतु सत्य-शोधन और क्रियाका हेतु जीवन-शोधन अर्थात् अहिंसा–पालन है। अतः यदि कहीं शास्त्रके नाम पर अंधश्रद्धा और अज्ञानताकी तथा क्रियाके नाम पर विवेकहीनता और जड़ताकी पुष्टि होती हो, तो पंडितजी उसका उग्र विरोध किये बिना रह नहीं सकते। इसीके परिणामस्वरूप वे परंपरावादी और रूढ़िवादी समाजकी घोर निंदाके पात्र बनते हैं। ज्ञान–साधनाको सफल बनानेके लिये वे सत्यको संप्रदायसे बढ़कर मानते हैं। सांप्रदायिक कदाग्रह या अपने मतका मोह उन पर कभी नहीं छाया। बुद्धि और हृदयके विकासकी अवरोधक प्रवृत्तिका उनकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं।

इस प्रकार पंडितजी सदा ही क्रांतिकारी एवं प्रगतिशील दृष्टिकोणका स्वागत करते रहे हैं, अन्याय और दमनका विरोध करते रहे हैं, सामाजिक दुर्व्यवहारसे पीडित महिलाओं एवं पददलितोंके प्रति सहृदय बने रहे हैं।

पंडितजी धार्मिक एवं सामाजिक रोगोंके सच्चे परीक्षक और चिकित्सक हैं। निवृत्तिके नाम पर प्रवृत्तिके प्रति हमारे समाजकी उदासीनता उन्हें बेहद खटकती है। उनका धार्मिक आदर्श है : **मित्ति मे सव्वभूएसु** — समस्त विश्वके साथ अद्वैतभाव यानी अहिंसाका पूर्ण साक्षात्कार। इसमें सांप्रदायिकता या पक्षापक्षीको तनिक भी अवकाश नहीं है। उनका सामाजिक प्रवृत्तिका आदर्श है — स्त्री-पुरुष या मानवमात्रकी समानता।

पंडितजी प्रेमके भूखे हैं, पर खुशामदसे कोसों दूर भागते हैं। वे जितने विनम्र हैं, उतने ही दृढ़ भी हैं। अत्यंत शांतिपूर्वक सत्य वस्तु कहनेमें उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं। आवश्यकता पड़ने पर कटु सत्य कहना भी वे नहीं चूकते।

पंडितजीकी व्यवहारकुशलता प्रसिद्ध है। पारिवारिक या गृहस्थीके जटिल प्रश्नोंका वे व्यावहारिक हल खोज निकालते हैं। वे इतने विचक्षण हैं कि एक बार किसी व्यक्ति या स्थानकी मुलाक़ात ले लेने पर उसे फिर कभी नहीं भूलते; और जब वे उसका वर्णन करना शुरू करते हैं, तब सुननेवाला यह भाँप नहीं सकता कि वर्णनकर्ता चक्षुहीन है। वे उदार, सरल एवं सहृदय हैं। कोई उन्हें अपना मित्र मानता है, कोई पिता और कोई गुरुवर्य।

गाँधीजीके प्रति पंडितजीकी अटूट श्रद्धा है। बापूकी रचनात्मक प्रवृत्तियोंमें उन्हें बड़ी रुचि है। अपनी विवशताके कारण वे उनमें सक्रिय सहयोग नहीं दे सकते, इसका उन्हें बड़ा दुःख है। इन दिनों गुजरातके भूदान कार्यकर्ताओंने तो उन्हें अपना बना लिया है। पू० रविशंकर महाराजके प्रति पंडितजीको बड़ा आदर है। तदुपरांत '**गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः**'—इस सिद्धान्तानुसार श्री० नारायण देसाई जैसे नवयुवकोंकी सेवा-प्रवृत्तिके प्रति भी वे स्नेह व श्रद्धापूर्वक देखते हैं।

प्रवृत्तिपरायण निवृत्ति

बनारससे निवृत्त होकर पंडितजी बम्बईके भारतीय विद्याभवनमें अवैतनिक अध्यापकके रूपमें काम करने लगे, पर बम्बईका निवास उन्हें अनुकूल न हुआ। अतः वे वापस बनारस लौट गये। सन् १९४७ में वे अहमदाबादमें

आये और गुजरात विद्यासभाके श्री० भो० जे० विद्याभवनमें अवैतनिक अध्यापकके रूपमें कार्य शुरू किया। यह कार्य आज भी जारी है और अब तो अहमदाबाद ही में पंडितजीका क़ायमी मुक़ाम हो गया है।

वैसे देखा जाय तो पंडितजी अब निवृत्त गिने जाते हैं, पर उनका यह निवृत्ति-काल प्रवृत्ति-कालसे किसी तरह कम नहीं। विद्याके उपार्जन और वितरणका कार्य आज ७७ वर्षकी आयुमें भी वे अविरत गतिसे कर रहे हैं, और मानो किसी प्राचीन ऋषि-आश्रमके कुलपति हों इस तरह विद्यार्थियों, अध्यापकों और विद्वानोंको उनका अमूल्य मार्गदर्शन सुलभ हो रहा है।

अपने निकट आनेवाले व्यक्तिको कुछ-न-कुछ देकर मानवताके ऋणसे मुक्त होनेकी पंडितजी सदा चिंता करते रहते हैं। हाल ही में (ता० १६-२-५७ के दिन) गुजरातके नवयुवक भूदान कार्यकर्ता श्री० सूर्यकांत परीखको पत्र लिखते हुए आचार्य विनोबा भावेने पंडितजीके बारे में सत्य ही लिखा है—

"पंडित सुखलालजीको आपको विचार-शोधनमें मदद मिलती है, यह जानकर मुझे ख़ुशी हुई। मदद देनेको तो वे बैठे ही हैं। मदद लेनेवाला कोई मिल जाता है तो उसीका अभिनंदन करना चाहिये।"

विद्वत्ताका बहुमान

गत दस वर्षोंमें पंडितजीकी विद्वत्ताका निम्नलिखित ढंगसे बहुमान हुआ है—

सन् १९४७ में जैन साहित्यकी उल्लेखनीय सेवा करनेके उपलक्ष्यमें भावनगरकी श्री० यशोविजय जैन ग्रंथमालाकी ओरसे श्री० विजयधर्मसूरि जैन साहित्य सुवर्ण-चंद्रक (प्रथम) अर्पित किया गया।

सन् १९५१ में आप ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फरन्सके १६वें लखनऊ अधिवेशनके जैन और प्राकृत विभागके अध्यक्ष बने।

सन् १९५५ में अहमदाबादमें गुजरात विद्यासभा द्वारा आयोजित श्री० पोपटलाल हेमचंद्र अध्यात्म व्याख्यानमालामें 'अध्यात्मविचारणा' संबंधी तीन व्याख्यान दिये।

सन् १९५६ में वर्धाकी राष्ट्रभाषा प्रचार समितिकी ओरसे दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ग्रंथोंकी हिन्दीमें रचना कर हिन्दी भाषाकी सेवा करनेके उपलक्ष्यमें

रु० १५०१) का श्री० महात्मा गाँधी पुरस्कार (पंचम) आपको प्रदान किया गया। (चतुर्थ पुरस्कार पू० विनोबाजीको प्रदान किया गया था।)

सन् १९५७ में महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदाके तत्त्वावधानमें महाराजा सयाजीराव ओनरेरियम लेक्चर्सकी श्रेणीमें 'भारतीय तत्त्वविद्या' पर आपने पाँच व्याख्यान दिये।

सन् १९५७ में गुजरात यूनिवर्सिटीने आपको डोक्टर ऑफ लेटर्स (D. Litt.) की सम्मानित उपाधि प्रदान करनेका निर्णय किया।

सन् १९५७ में अखिल भारतीय रूपमें संगठित 'पंडित सुखलालजी सन्मान समिति' द्वारा बंबईमें आपका सार्वजनिक ढंगसे भव्य सन्मान किया गया। एक सन्मान-कोश भी अर्पित किया गया और आपके लेख-संग्रहों (दो गुजरातीमें और एक हिन्दीमें—कुल तीन ग्रंथों)का प्रकाशन करनेकी घोषणा की गई।

साहित्य सर्जन

पंडितजीके संपादित, संशोधित, अनुवादित और विवेचित ग्रंथोंकी नामावली निम्नांकित है—

(१) **आत्मानुशास्तिकुलक**—(पूर्वाचार्य कृत) मूल प्राकृत; गुजराती अनुवाद (सन् १९१४–१५)।

(२–५) **कर्मग्रंथ १ से ४**—देवेन्द्रसूरि कृत; मूल प्राकृत; हिन्दी अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना, परिशिष्टयुक्त; सन् १९१५ से १९२० तक; प्रकाशक: श्री आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा।

(६) **दंडक**—पूर्वाचार्य कृत प्राकृत जैन प्रकरण ग्रंथका हिन्दीसार; सन् १९२१; प्रकाशक उपर्युक्त।

(७) **पंच प्रतिक्रमण**—जैन आचार विषयक ग्रन्थ; मूल प्राकृत; हिन्दी अनुवाद विवेचन, प्रस्तावना युक्त; सन् १९२१; प्रकाशक उपर्युक्त।

(८) **योगदर्शन**—मूल पातंजल योगसूत्र; वृत्ति उपाध्याय यशोविजयजी कृत तथा श्री हरिभद्रसूरि कृत प्राकृत योगविंशिका मूल, टीका (संस्कृत) उपाध्याय यशोविजयजी कृत; हिन्दी सार, विवेचचन तथा प्रस्तावना युक्त; सन् १९२२; प्रकाशक उपर्युक्त।

(९) **सन्मतितर्क**—मूल प्राकृत सिद्धसेन दिवाकर कृत; टीका (संस्कृत) श्री अभयदेवसूरि कृत; पाँच भाग, छठा भाग मूल और गुजराती सार, विवेचन तथा प्रस्तावना सहित; पं. बेचरदासजीके सहयोगसे। सन् १९२५ से १९३२ तक;

प्रकाशक : गुजरात विद्यापीठ, अहमदावाद।

(छठे भागका अंग्रेजी अनुवाद सन् १९४० में जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक कान्फरन्सकी ओरसे प्रकट हुआ है।)

(१०) **जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्यविचार**—गुजरातीमें, पंडित बेचरदासजीके सहयोगसे, प्रकाशक उपर्युक्त।

(११) **तत्त्वार्थसूत्र**—उमास्वति वाचक कृत संस्कृत; सार, विवेचन, विस्तृत प्रस्तावना युक्त; गुजराती और हिन्दीमें; सन् १९३० में। गुजरातीके प्रकाशक : गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, तीन आवृत्तियाँ।

हिन्दी प्रथम आवृत्तिके प्रकाशक : श्री० आत्मानंद जन्म शताब्दी स्मारक समिति, बम्बई; दूसरी आवृत्तिके प्रकाशक : जैन संस्कृति संशोधक मंडल, बनारस।

(१२) **न्यायावतार**—सिद्धसेन दिवाकर कृत; मूल संस्कृत; अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना युक्त; सन् १९२५; जैन साहित्य संशोधक में प्रकट हुआ है।

(१३) **प्रमाणमीमांसा**—हेमचंद्राचार्य कृत; मूल संस्कृत; हिन्दी प्रस्तावना तथा टिप्पण युक्त; सन् १९३९; प्रकाशक : सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

(१४) **जैनतर्कभाषा**—उपाध्याय यशोविजयजी कृत; मूल संस्कृत; संस्कृत टिप्पणयुक्त, हिन्दी प्रस्तावना; सन् १९४०; प्रकाशक उपर्युक्त।

(१५) **हेतुबिंदु**—बौद्ध न्यायका संस्कृत ग्रन्थ; धर्मकीर्ति कृत; टीकाकार अर्चट, अनुटीकाकार दुर्वेक मिश्र; अंग्रेजी प्रस्तावना युक्त; सन् १९४९; प्रकाशक : गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज़, बड़ौदा।

(१६) **ज्ञानबिंदु**—उपाध्याय यशोविजयजी कृत; मूल संस्कृत; हिन्दी प्रस्तावना तथा संस्कृत टिप्पण युक्त; सन् १९४९; प्रकाशक : सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

(१७) **तत्त्वोपप्लवसिंह**—जयराशि कृत; चार्वाक परम्पराका संस्कृत ग्रन्थ; अंग्रेजी प्रस्तावना युक्त; सन् १९४०; प्रकाशक : गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़, बड़ौदा।

(१८) **वेदवादद्वात्रिंशिका**—सिद्धसेन दिवाकर कृत; संस्कृत; गुजरातीमें सार, विवेचन, प्रस्तावना; सन् १९४६; प्रकाशक : भारतीय विद्याभवन, बम्बई। (यह ग्रन्थ हिन्दीमें भी प्रकाशित हुआ है।)

(१९) **आध्यात्मिक विकासक्रम**—गुणस्थानके तुलनात्मक अध्ययन संबंधी तीन लेख; सन् १९२५; प्रकाशक : शंभुलाल ज० शाह, अहमदाबाद।

(२०) **निर्ग्रंथ संप्रदाय**—महत्त्वके प्राचीन तथ्योंका ऐतिहासिक निरूपण; हिन्दीमें; सन् १९४७; प्रकाशक : जैन संस्कृति संशोधक मंडल, बनारस।

(२१) **चार तीर्थंकर**—भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर संबंधी लेखोंका संग्रह; हिन्दीमें; सन् १९५४; प्रकाशक उपर्युक्त।

(२२) **धर्म और समाज**—लेखोंका संग्रह; हिन्दीमें; सन् १९५१; प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

(२३) **अध्यात्मविचारणा**—गुजरात विद्यासभाकी श्री० पोपटलाल हेमचंद्र अध्यात्म व्याख्यानमालाके अंतर्गत आत्मा, परमात्मा और साधनाके संबंधमें दिये गये तीन व्याख्यान; गुजरातीमें; सन् १९५६; प्रकाशक : गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद।

(२४) **भारतीय तत्त्वविद्या**—महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदाके तत्त्वावधानमें महाराजा सयाजीराव ओनरेरियम लेक्चर्सके अंतर्गत जगत, जीव और ईश्वरके संबंधमें दिये गये पाँच व्याख्यान; प्रकाशक : बड़ौदा यूनिवर्सिटी (प्रेसमें)।

इनके अतिरिक्त दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विषयोंसे सम्बद्ध अनेक लेख पंडितजीने गुजराती और हिन्दीमें लिखे हैं। इनमेंसे अधिकांश लेख 'पंडित सुखलालजी सन्मान समिति'की ओरसे प्रकाशित 'दर्शन अने चिंतन' नामक गुजरातीके दो ग्रन्थोंमें तथा 'दर्शन और चिंतन' नामक हिन्दीके एक ग्रन्थमें संगृहीत किये गये हैं।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

१. धर्म और समाज

२. दार्शनिक मीमांसा

द्वितीय खण्ड

१. जैन धर्म और दर्शन



प्रथम खण्ड

मैं हिन्दी लिखने की ओर क्यों झुका ?

मैं नित्य की तरह एक दिन अपने काम में लगा ही था कि मेरे मित्र श्री रतिभाई ने आकर मुझ से इतना ही कहा कि आपको पुरस्कार के लिए श्री जेठालाल जोशी कहने आएंगे, तो उसका अस्वीकार नहीं करना, इत्यादि। यह सुनकर मैं एकदम आश्चर्य में पड़ गया। आश्चर्य कई बातों का था। पुरस्कार मुझे किस बात के लिए ? फिर श्री जेठालाल जोशी से इसका क्या सम्बन्ध ? अभी ऐसी कौन-सी बात है कि जिसके लिए मैं पसन्द किया गया ? फिर पुरस्कार क्या होगा ? क्या कोई पुस्तक होगी या अन्य कुछ ? इत्यादि।

आश्चर्य कुछ अर्से तक रहा। मैंने अपने मानसिक प्रश्नों के बारे में पूछताछ भी नहीं की—यह सोचकर कि श्री जोशीजी को तो आने दो। जब वे मिले और उनसे पुरस्कार की भूमिका जान ली तब मैंने उसका स्वीकार तो किया, पर मन में तब से आज तक उत्तरोत्तर आश्चर्य की परम्परा अधिकाधिक बढ़ती ही रही है।

कई प्रश्न उठे। कुछ ये हैं—मैंने जो कुछ हिन्दी में लिखा उसकी जानकारी वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को कैसे हुई ? क्या इस जानकारी के पीछे मेरे किसी विशेष परिचित का हाथ तो नहीं है ? समिति ने मेरे लिखे सब हिन्दी पुस्तक-पुस्तिका, लेख आदि देखे होंगे या कुछ ही ? उसे यह सब लेख-सामग्री कहाँ से कैसे मिली होगी जो मेरे पास तक नहीं है ? अच्छा, यह सामग्री मिली भी हो तो वह पारितोषिक के पात्र है—इसका निर्णय किसने किया होगा ? निर्णय करने वालों में क्या ऐसे व्यक्ति भी होंगे जिन्होंने मेरे सारे हिन्दी साहित्य को ध्यान से अथेति देखा भी होगा और उसके गुण-दोषों पर स्वतन्त्र भाव से विचार भी किया होगा ? ऐसा तो हुआ न होगा कि किसी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने सिफारिश की हो और इतर सभ्यों ने जैसा बहुधा अन्य समितियों में होता है वैसे, एक या दूसरे कारण से उसे मान्य रखा हो ? अगर ऐसा हुआ हो तो मेरे लिए क्या उचित होगा कि मैं मात्र अहिन्दी भाषा-भाषी होने के नाते इस पुरस्कार को स्वीकार करूँ ? न जाने ऐसे कितने ही प्रश्न मन में उठते रहे।

कुछ दिनों के बाद श्री जेठालाल जोशी मिले। फिर श्री मोहनलाल भट्ट के साथ भी वे मिले। मैंने उक्त प्रश्नों में से महत्त्व के थोड़े प्रश्न उनके सामने रखे। मैं अनजान था कि कार्यकारिणी समिति के सदस्य कितने, कौन-कौन और

किस कोटि के हैं ? श्री जोशीजी और श्री भट्टजी ने सदस्यों का कुछ परिचय कराया। फिर तो उनकी योग्यता के बारे में सन्देह को स्थान ही न रहा। फिर भी मन में एक सवाल तो बार-बार उठता ही रहा कि निःसन्देह सदस्य सुयोग्य हैं, पर क्या इतनी फुरसत किसी को होगी कि वह मेरा लिखा ध्यान से देख भी लें ? और यह भी सवाल था कि मैंने दार्शनिक और खासकर साम्प्रदायिक माने जानेवाले कई विषयों पर यथाशक्ति जो कुछ लिखा है उसमें उन सुयोग्य द्रष्टाओं को भी कैसे रस आया होगा ? परन्तु जब मैंने सुना कि जोधपुर कॉलेज के प्रो. डॉ. सोमनाथ गुप्त ने सूचना की और सब सदस्यों ने सर्वसम्मति से पारितोषिक देने का निर्णय किया तब मुझे इतनी तसल्ली हुई कि अवश्य ही किसी-न-किसी सुयोग्य व्यक्ति ने पूरा नहीं तो महत्त्व का मेरा लिखा अंश जरूर पढ़ा है। इतना ही नहीं, बल्कि उसने मध्यस्थ दृष्टि से गुण-दोष का विचार भी किया है। ऐसी तसल्ली होते ही मैंने श्री भट्ट और श्री जोशी दोनों के सामने पारितोषिक स्वीकार करने की अनुमति दे दी।

पुरस्कार लेने न-लेने की भूमिका इतनी विस्तृत रूप से लिखने के पीछे मेरा खास उद्देश्य है। मैं सतत यह मानता आया हूँ कि पुरस्कार केवल गुणवत्ता की कसौटी पर ही दिया जाना चाहिए, और चाहता था कि इस आन्तरिक मान्यता का मैं किसी तरह अपवाद न बनूँ।

अब तो मैं आ ही गया हूँ और अपनी कहानी भी मैंने कह दी है। समिति पारितोषिक देकर अधिकारी पाठकों को यह सूचित करती है कि वे इस साहित्य को पढ़ें और सोचें कि समिति का निर्णय कहाँ तक ठीक है। मेरा चित्त कहता है कि अगर अधिकारी हिन्दीश मेरे लिखे विषयों को पढ़ेंगे तो उनको समय व शक्ति बरबाद होने की शिकायत करनी न पड़ेगी।

अब मैं अपने असली विषय पर आता हूँ। यहाँ मेरा मुख्य वक्तव्य तो इसी मुद्दे पर होना चाहिए कि मैं एक गुजराती, गुजराती में भी झालावाड़ी, तिस पर भी परतन्त्र; फिर हिन्दी भाषा में लिखने की ओर क्यों, कब और किस कारण से झुका ? संक्षेप में यों कहें कि हिन्दी में लिखने की प्रेरणा का बीज क्या रहा ?

मेरे सहचर और सहाध्यायी पं. ब्रजलाल शुक्ल जो उत्तर-प्रदेश के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण रहे, मेरे मित्र भी थे। हम दोनों ने बंगभंग की हलचल से, खासकर लोकमान्य को सजा मिलने के बाद की परिस्थिति से, साथ ही काम करने का तय किया था। काठियावाड़ के सुप्रसिद्ध जैन-तीर्थ पालीताना में एक जैन मुनि थे, जिनका नाम था सन्मित्र कपूर विजयजी। हम दोनों मित्रों के वह श्रद्धाभाजन भी रहे। एक बार उक्त मुनिजी ने ब्रजलालजी से कहा कि तुम द्रष्टा

हो और स्वतन्त्र भी। अतएव उत्तम-उत्तम जैन ग्रन्थों का अनुवाद करो या सार लिखो और सुखलालजी नहीं देख सकने के कारण लिखने में तो समर्थ हो नहीं सकते, अतएव वह उनके प्रिय अध्यापन कार्य को ही करते रहें। पीछे से मुझे उक्त मुनिजी की सलाह ज्ञात हुई। उसी समय मुझे विचार आया कि क्या मैं सचमुच अपने सुअधीत और सुपरिचित विषयों में भी लिखने का काम कर नहीं सकता? अन्तर्मुख मन ने जवाब दिया कि तुम जरूर कर सकते हो और तुम्हें करना भी चाहिए। यह जवाब संकल्प में परिणत तो हुआ, पर आगे प्रश्न था कि कब और कैसे उसे असली रूप दिया जाए? मेरा दृढ़ संकल्प तो दूसरा कोई जानता न था, पर वह मुझे चुप बैठे रहने भी न देता था। एक बार अचानक एक पढ़े-लिखे गुजराती मित्र आ गए। मुझ से कहा कि इन पच्चीस प्राकृत गाथाओं का अनुवाद चाहिए। मैं बैठ गया और करीब सवा घण्टे में लिख डाला। दूसरा प्रसंग सम्भवतः बड़ौदे में आया। याद नहीं कि वह अनुवाद मैंने गुजराती में लिखवाया या हिन्दी में, पर तब से वह संकल्प का बीज अंकुरित होने लगा और मन में पक्का विश्वास पैदा हुआ कि अध्यापन के अलावा मैं लिखने का काम भी कर सकूँगा।

मेरे कुछ मित्र और सहायक आगरा के निवासी थे। अतएव मैं ई० १६१६ के अन्त में आगरा चला गया। उधर तो हिन्दी भाषा में ही लिखना पड़ता था, पर जब मैंने देखा कि काशी में दस साल बिताने के बाद भी मैं हिन्दी को शुद्ध रूप में जानता नहीं हूँ और लिखना तो है उसी भाषा में, तब तुरन्त ही मैं काशी चला गया। वह समय था चम्पारन में गान्धीजी के सत्याग्रह करने का। गंगा-तट का एकान्त स्थान तो साधना की गुफा जैसा था, पर मेरे कार्य में कई बाधाएँ थीं। मैं न शुद्ध पढ़नेवाला, न मुझे हिन्दी साहित्य का विशाल परिचय और न मेरे लिए अपेक्षित अन्य साधनों की सुलभता। पर आखिर को बल तो संकल्प का था ही। जो और वैसे साधन मिले उन्हीं से हिन्दी भाषा का नए सिरे से अध्ययन शुरू किया। अध्ययन करते समय मैंने बहुत ग्लानि महसूस की। ग्लानि इसलिए कि मैं दस साल तक संस्कृत और तद्वत् अनेक विषयों को हिन्दी भाषा में ही पढ़ता था; फिर भी मेरी हिन्दी भाषा, अपने-अपने विषय में असाधारण पर हिन्दी की दृष्टि से दरिद्र तथा पुराने ढर्रे की हिन्दी बोलने वाले मेरे अनेक पूज्य अध्यापकों से कुछ भी आगे बढ़ न सकी थी। पर इस ग्लानि ने और बल दिया।

फिर तो मैंने हिन्दी के कामताप्रसाद गुरु, रामजीलाल आदि के कई व्याकरण ध्यान से देखे। हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों के ग्रन्थ, लेख, पत्र-

पत्रिकाएँ आदि भाषा की दृष्टि से देखने लगा। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के रघुवंश, माघ आदि के अनुवाद, अंग्रेजी के स्वाधीनता, शिक्षा आदि अनुवाद तो सुने ही, पर तत्कालीन सरस्वती, मर्यादा, अभ्युदय आदि अनेक सामयिक पत्रों को भी कई दृष्टि से सुनने लगा, पर उसमें मुख्य दृष्टि भाषा की रही।

रोजमर्रा केवल अच्छे साहित्य को सुन लेने से लिखने योग्य आवश्यक संस्कार पड़ नहीं सकते—यह प्रतीति तो थी ही। अतएव साथ ही साथ हिन्दी में लिखाने का भी प्रयोग करता रहा। याद है कि मैंने सबसे पहले संस्कृत ग्रन्थ 'ज्ञानसार' पसन्द किया जो प्रसिद्ध तार्किक और दार्शनिक बहुश्रुत विद्वान् उ. यशोविजयजी की पद्यबद्ध मनोरम कृति है। मैं उस कृति के अष्टकों का भावानुवाद करता, फिर विवेचन भी। परन्तु मैं विशेष एकाग्रता व श्रम से अनुवाद आदि लिखाकर जब उसे मेरे मित्र व्रजलालजी को दिखाता था तब अक्सर वह उसमें कुछ-न-कुछ त्रुटि बतलाते थे। वह विस्पष्ट हिन्दी-भाषी थे और अच्छा लिखते भी थे। उनकी बतलाई त्रुटि अक्सर भाषा, शैली आदि के बारे में होती थी। निर्दिष्ट त्रुटि को सुनकर मैं कभी हतोत्साह हुआ ऐसा याद नहीं आता। पुनः प्रयत्न, पुनर्लेखन, पुनरवधान इस क्रम से उस बच्छराज घाट की गुफा जैसी कोठरी में करारे जाड़े और सख्त गरमी में भी करीब आठ मास बीते। अन्त में थोड़ा सन्तोष हुआ। फिर तो मूल उद्दिष्ट कार्य में ही लगा। वह कार्य था कर्मविषयक जैन ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद तथा विवेचन करना। उस साल के आषाढ़ मास में पूना गया। निर्धारित काम तो साथ था ही, पर पूना की राजकीय, सामाजिक और विद्या विषयक हलचलों ने भी मुझे अपने लेखन कार्य में प्रोत्साहित किया। तिलक का गीतारहस्य, केलकर के निबन्ध, राजवाड़े के गीता-विवेचन आदि देखकर मन में हुआ कि जिन कर्मग्रन्थों का मैं अनुवाद विवेचन करता हूँ उनकी प्रस्तावनाएँ मुझे तुलना एवं इतिहास की दृष्टि से लिखनी चाहिए। फिर मुझे जँचा कि अब आगरा ही उपयुक्त स्थान है। वहाँ पहुँच कर योग्य साथियों की तजवीज में लगा और अन्त में थोड़ी सफलता भी मिली। इष्ट प्रस्तावनाओं के लिए यथासम्भव विशाल दृष्टि से आवश्यक दार्शनिक संस्कृत-प्राकृत-पालि आदि वाङ्मय तो सुनता ही था, पर साथ में धुन थी हिन्दी भाषा के विशेष परिशीलन की।

इस धुन का चार साल का लम्बा इतिहास है, पर यहाँ तो मुझे इतना ही कहना है कि उन दिनों में सात छोटे-बड़े संस्कृत ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद-विवेचन के साथ तैयार हुए और उनकी प्रस्तावनाएँ भी, सर्वांश में नहीं तो अल्पांश में, सन्तोषजनक लिखी गईं व बहुत-सा भाग छपा भी। जो ग्रन्थ पूरे तैयार हुए वे

तो छपे, पर बहुत सा ऐसा भाग भी लिखा गया जो मेरी राय में विषय व निरूपण की दृष्टि से गम्भीर था, पर पूरा हुआ नहीं था। मैं उस अधूरे मैटर को वहीं छोड़कर १९२१ की गरमी में अहमदाबाद चला आया।

गुजरात विद्यापीठ में इतर कार्यों के साथ लिखाता तो था, पर वहाँ मुख्य कार्य सम्पादन और अध्यापन का रहा। बीच-बीच में लिखता अवश्य था, पर गुजराती में अधिक और हिन्दी में केवल प्रसंगवश। यद्यपि गुजरात में गुजराती में ही काम करता रहा फिर भी मुख तो हिन्दी भाषा के संस्कारों की ओर ही रहा। इसी से मैंने तत्त्वार्थ आदि को हिन्दी में ही लिखना जारी रखा।

गुजरात में, तिसमें भी गुजरात विद्यापीठ और गान्धीजी के सान्निध्य में रहना यह प्राचीन भाषा में कहें तो पुण्यलभ्य प्रसंग था। वहाँ जो विविध विषय के पारगामी विद्वानों का दल जमा था उससे मेरे लेखन-कार्य में मुझे बहुत-कुछ प्रेरणा मिली। एक संस्कार तो यह दृढ़ हुआ कि जो लिखना वह चालू बोल-चाल की भाषा में, चाहे वह गुजराती हो या हिन्दी। संस्कृत जैसी शास्त्रीय भाषा में लिखना हो तो भी साथ ही उसका भाव चालू भाषा में रखना चाहिये। इसका फल भी अच्छा अनुभूत हुआ।

अहमदाबाद और गुजरात में बारह वर्ष बीते। फिर ई० १९३३ से काशी में रहने का प्रसंग आया। शुरू में दो साल तो खास लिखाने में न बीते, पर १९३५ से नया युग शुरू हुआ। पं० श्री दलसुख मालवणिया, जो अभी हिन्दू यूनिवर्सिटी के ओरिएण्टल कालेज में जैनदर्शन के विशिष्ट अध्यापक हैं, १९३५ में काशी आये। पुनः हिन्दी में लेखन-यज्ञ की भूमिका तैयार होने लगी। प्रमाण-मीमांसा, ज्ञानबिन्दु, जैनतर्क भाषा, तत्त्वोपप्लवसिंह, हेतुबिन्दु जैसे संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन कार्य सामने था, पर विचार हुआ कि इसके साथ दार्शनिक विविध मुद्दों पर तुलनात्मक व ऐतिहासिक दृष्टि से टिप्पणियाँ लिखी जाएँ। प्रस्तावना आदि भी उसी विशाल दृष्टि से, और वह सब लिखना होगा हिन्दी में।

यद्यपि मेरे कई मित्र तथा गुरुजन, जो मुख्यतया संस्कृत-भक्त थे, मुझे सलाह देते थे कि संस्कृत में ही लिखो। इससे विद्वत्परिषद् में प्रतिष्ठा बढ़ेगी। मैं चाहता तो अवश्य ही संस्कृत में और शायद सुचारु सरल संस्कृत लिखता, पर मेरे भाषा में लिखने के संस्कार ने मुझे बिलकुल स्थिर रखा। तभी से सोचता हूँ तो लगता है कि हिन्दी भाषा में लिखा यह अच्छा हुआ। यदि संस्कृत में लिखता तो भी उससे आखिर को पढ़ने वाले अपनी-अपनी भाषा में ही सार ग्रहण करते। ऐसी स्थिति में हिन्दी भाषा में लिखे विषय को पढ़नेवाले बहुत आसानी से समझ सकते हैं। मैंने सोचा कि कुछ बंगाली और कुछ

दाक्षिणात्य ऐसे हो सकते हैं जो हिन्दी को बराबर नहीं जानते, पर जब हिन्दी भाषा राष्ट्रीय, व्यापक व सरल है तब वे लोग भी, अगर पुस्तक उपादेय है तो, अवश्य सोचेंगे और जिज्ञासा हुई तो इस निमित्त हिन्दी समझने का प्रयत्न भी करेंगे व राष्ट्रभाषा के प्रचार की गति भी बढ़ावेंगे। अस्तु,

काशी में था तो कभी-कभी मित्रों ने सलाह दी थी कि मैं अपने ग्रन्थों को मंगलाप्रसाद पारितोषिक के लिए समिति के सम्मुख उपस्थित करूँ, पर मैं कभी मन से भी इस प्रलोभन में न पड़ा। यह सोचकर कि जो लिखा है वह अगर उस-उस विषय के सुनिष्णातों को योग्य व उपयोगी जँचेगा तो यह वस्तु पारितोषिक से भी अधिक मूल्यवान् है; फिर पारितोषिक की आशा में मन को विचलित क्यों करना? और भी जो कुछ प्राक्कथन आदि लिखना पड़ता था वह काशी में तो प्रायः हिन्दी में ही लिखता था, पर ई० १९४४ की जनवरी में बम्बई और उसके बाद १९४७ में अहमदाबाद आया तब से आज तक हिन्दी भाषा में लिखने के विचार का संस्कार शिथिल नहीं हुआ है। यद्यपि गुजरात में अधिकतर गुजराती में ही प्रवृत्ति चलती है, तो भी राष्ट्रीय-भाषा के नाते व पहले के दृढ़ संस्कार के कारण हिन्दी भाषा में लिखता हूँ तब विशेष सन्तोष होता है। इससे गुजरात में रहते हुए भी जुदे-जुदे विषयों पर थोड़ा बहुत कुछ-न-कुछ हिन्दी में लिखता ही रहता हूँ। मैं इस रुचिकर या अरुचिकर रामकहानी को न लिखने में समय बिताता और न सभा का समय उसे सुनाने में ही लेता, अगर इसके पीछे मेरा कोई खास आशय न होता। मेरा मुख्य और मौलिक अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब कोई संकल्प कर लेता है और अगर वह संकल्प दृढ़ तथा विचारपूत हुआ तो उसके द्वारा वह अन्त में सफल अवश्य होता है। दूसरी बात जो मुझे सूझती है वह यह कि अध्ययन-मनन-लेखन आदि व्यवसाय का मुख्य प्रेरक बल केवल अन्तर्विकास और आत्म-सन्तोष ही होना चाहिये। ख्याति, अर्थलाभ, दूसरों को सुधारना इत्यादि बातों का स्थान विद्योपासक के लिए गौण है। खेती मुख्य रूप से अन्न के लिए है; तुष-भूसा आदि अन्न के साथ आनुषंगिक हैं।

मैं गुजरातीभाषी होने के नाते गुजराती भाषा के साहित्य के प्रकर्ष का पक्षपाती रहा हूँ और हूँ, पर इससे राष्ट्र-भाषा के प्रति मेरे दृष्टिकोण में कभी कोई अन्तर न पड़ा, न आज भी है। प्रत्युत मैंने देखा है कि ये प्रान्तीय भाषाएँ परस्पर सहोदर भगिनियाँ हैं। कोई एक दूसरी के उत्कर्ष के सिवाय अपना-अपना पूरा और सर्वांगीण उत्कर्ष साध ही नहीं सकतीं। प्रान्तीय भाषा-भगिनियों में भी राष्ट्र-भाषा का कई कारणों से विशिष्ट स्थान है। इस स्थान की प्रतिष्ठा

कायम रखने और बढ़ाने के लिए हिन्दी के सुलेखकों और विचारकों के ऊपर गम्भीर जिम्मेदारी भी है।

संकुचित और भीरू मनोवृत्तिवाले प्रान्तीय भाषा के पक्षपातियों के कारण कुछ गलतफहमी पैदा होती है तो दूसरी ओर आवेशयुक्त और घमण्डी हिन्दी के कुछ समर्थकों के कारण भी कुछ गलतफहमियाँ फैल जाती हैं। फलस्वरूप ऐसा वातावरण भी तैयार हो जाता है कि मानो प्रान्तीय भाषाओं व राष्ट्र-भाषा में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा हो। इसका असर सरकारी-तन्त्र में भी देखा जाता है। परन्तु मैं निश्चित रूप से मानता हूँ कि प्रान्तीय भाषाओं और राष्ट्र-भाषा के बीच कोई विरोध नहीं और न होना चाहिये। प्रान्तीय भाषाओं की प्रवृत्ति व कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से प्रान्तीय सर्वांगीण शिक्षा, प्रान्तीय सामाजिक, आर्थिक व राजकीय-व्यवहार आदि तक सीमित है; जब कि राष्ट्र-भाषा का प्रवृत्तिक्षेत्र अन्तरप्रान्तीय यावत् व्यवहारों तक फैला है। इसलिये राष्ट्रीयता के नाते हरएक शिक्षित कहलाने वाले प्रान्तीय व्यक्ति को राष्ट्रभाषा का जानना उचित भी है और लाभदायक भी। इसी तरह जिनकी मातृभाषा हिन्दी है वे भी शिक्षित तथा संस्कारी कोटि में तभी गिने जा सकते हैं जब वे प्रान्तीय भाषाओं से अधिकाधिक परिचित हों। शिक्षा देना या लेना, विचार करना व उसे अभिव्यक्त करना इत्यादि सब काम मातृभाषा में विशेष आसानी से होता है और इस कारण उसमें मौलिकता भी सम्भव है। जब कोई प्रान्तीय भाषा-भाषी अपनी सहज मातृभाषा में मौलिक व विशिष्ट रूप से लिखेगा तब उसका लाभ राष्ट्र-भाषा को अवश्य मिलेगा। अनेक प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे लेखकों के सर्जन अपने-अपने प्रान्त के अलावा राष्ट्रभर के लिए भेंट बन जाते हैं। कविवर टैगोर ने बंगाली में लिखा, पर राष्ट्र-भर के लिए वह अर्पण साबित हुआ। गान्धीजी गुजराती में लिखते थे तो भी इतर भाषाओं के उपरान्त राष्ट्र-भाषा में भी अवतीर्ण होता था। सच्चा बल प्रतिभाजनित मौलिक विचार व लेखन में है, फिर वह किसी भी भाषा में अभिव्यक्त क्यों न हुआ हो। उसे बिना अपनाए बुद्धिजीवी मनुष्य सन्तुष्ट रह ही नहीं सकता। अतएव मेरी राय में प्रान्तीय भाषा-भाषियों को हिन्दी भाषा के प्रचार को आक्रमण समझने की या शंका-दृष्टि से देखने की कोई जरूरत नहीं। वे अपनी-अपनी भाषा में अपनी शक्ति विशेष-रूप से दरसायेंगे तो उनका सर्जन अन्त में राष्ट्र-भाषा को एक देन ही साबित होगा। इसी तरह राष्ट्र-भाषा के अति उत्साही पर अदीर्घदर्शी लेखकों व वक्ताओं से भी मेरा नम्र निवेदन है कि वे अपने लेखन व भाषण में ऐसी कोई बात न कहें जिससे अन्य प्रान्तों में हिन्दी के आक्रमण का भाव पैदा हो। उत्साही व समझदार प्रचारकों का

विनम्र कार्य तो यह होना चाहिए कि वे राष्ट्रीय भाषा के साहित्य की गुणवत्ता बढ़ाने की ओर ही दत्तचित्त रहें और खुद यथाशक्ति प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन भी करें, उनमें से सारग्राही भाग हिन्दी में अवतीर्ण करें तथा प्रान्तीय भाषाओं के सुलेखकों के साथ ऐसे घुलमिल जाएँ जिससे सब को उनके प्रति आदरणीय अतिथि का भाव पैदा हो।

अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व भले ही राजकीय सत्ता के कारण पहले-पहल शुरू हुआ, पर आज जो उसके प्रति अति-आकर्षण और आदर-ममता का भाव है वह तो उसकी अनेकांगी गुणवत्ता के कारण ही। आज भारत के ऊपर अंग्रेजी भाषा का बोझ थोपने वाली कोई परकीय सत्ता नहीं है, फिर भी हम उसके विशिष्ट सामर्थ्य से उसके ऐच्छिक भक्त बन जाते हैं, तब हमारा फर्ज हो जाता है कि हम राष्ट्रभाषा के पक्षपाती और प्रचारक राष्ट्रभाषा में ऐसी गुणमयी मोहिनी लाने का प्रयत्न करें जिससे उसका आदर सहज भाव से सार्वत्रिक हो। हिन्दी भाषा के प्रचार के लिए जितने साधन-सुभीते आज प्राप्त हैं उतने पहले कभी न थे। अब जरूरत है तो इस बात की है कि हिन्दी भाषा के साहित्य का प्रत्येक अंग पूर्ण रूप से विकसित करने की ओर प्रवृत्ति की जाए।

जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज, आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय भाषाओं, दर्शनों, शास्त्रों, परम्पराओं और शिल्प-स्थापत्य आदि के बारे में पिछले सौ-सवा सौ वर्ष में इतना अधिक और गवेषणापूर्ण लिखा है कि इसके महत्त्वपूर्ण भाग को बिना जाने हम अपने उच्चतम साहित्य की भूमिका ही नहीं तैयार कर सकते। इस दृष्टि से कहना हो तो कहा जा सकता है कि राष्ट्र-भाषा के साहित्य विषयक सब अंग-प्रत्यंगों का अद्यतन विकास सिद्ध करने के लिए एक ऐसी अकादमी आवश्यक है कि जिसमें उस विषय के पारदर्शी विद्वान् व लेखक समय-समय पर एकत्र हों और अन्य अधिकारी व्यक्तियों को अपने-अपने विषय में मार्गदर्शन करें जिससे नई पीढ़ी और भी समर्थतर पैदा हो।

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पिटक, आगम, अवेस्ता आदि से लेकर आधुनिक भारतीय विविध विषयक कृतियों पर पाश्चात्य भाषाओं में इतना अधिक और कभी-कभी इतना सूक्ष्म व मौलिक लिखा गया है कि हम उसका पूरा उपयोग किए बिना हिन्दी वाङ्मय की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ा ही नहीं सकते।

मैं यहाँ कोई समालोचना करने या उपदेश देने के लिए उपस्थित नहीं हुआ हूँ, पर अपने काम को करते हुए मुझे जो अनुभव हुआ, जो विचार आया

वह अगर नम्र-भाव से सूचित न करूँ तो मैं साहित्य का, खास कर हिन्दी साहित्य का उपासक ही कैसे कहला सकता हूँ ?

जब मैं अंग्रेजी के अत्यल्प परिचय के द्वारा भी मेक्समूलर, थीबो, गार्बे, जेकोबी, विन्तर्नित्ज, शेरबात्सकी आदि की तपस्या को अल्पांश में भी जान सका और समान विषय के नवीनतम हिन्दी लेखकों की उन मनीषियों की साधना के साथ तुलना की तो मुझे लगा कि अगर मेरी उम्र व शक्ति होती या पहले ही से इस दिशा में मुझे कुछ प्रयत्न करने का सूझता तो अवश्य ही मैं अपने विषय में कुछ और अधिक मौलिकता ला सकता। पर मैं थोड़ा भी निराश नहीं हूँ। मैं व्यक्तिमात्र में कार्य की इतिश्री माननेवाला नहीं। व्यक्ति तो समष्टि का एक अंग है। उसका सोचा-विचारा और किया काम अगर सत्संकल्प-मूलक है तो वह समष्टि के और नई पीढ़ी के द्वारा सिद्ध हुए बिना रह ही नहीं सकता।

भारत का भाग्य बहुत आशापूर्ण है। जो भारत गान्धीजी, विनोबाजी और नेहरू को पैदाकर सत्य, अहिंसा की सच्ची प्रतिष्ठा स्थापित कर सकता है वह अवश्य ही अपनी निर्बलताओं को झाड़झूड़ कर फेंक देगा। मैं आशा करूँगा कि आप मेरे इस कथन को अतिवादी न समझें।

मैं राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा का आभारी हूँ जिसने एक ऐसे व्यक्ति की, जिसने कभी अपनी कृतियों को पुरस्कृत होने की स्वप्न में भी आशा न की थी, कोने में पड़ी कृतियों को ढूँढ़ निकाला। 'महात्मा गान्धी पुरस्कार' की योजना इसलिए सराहनीय है कि उससे अहिन्दीभाषी होनहार लेखकों को उत्तेजन मिलता है। मुझ जैसा व्यक्ति तो शायद बाहरी उत्तेजन के सिवाय भी भीतरी प्रेरणावश बिना कुछ-न-कुछ लिखे शान्त रह ही नहीं सकता, पर नई पीढी का प्रश्न निराला है। अवश्य ही इस पुरस्कार से वह पीढी प्रभावित होगी।[१]

---

१. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के जयपुर अधिवेशन में 'महात्मागांधी पुरस्कार' की प्राप्ति के अवसर पर ता० १८-१०-५६ को दिया गया भाषण—सं०

धर्म और समाज

धर्मका बीज और उसका विकास

लॉर्ड मोर्लेने कहा है कि धर्मकी लगभग १०००० व्याख्याएँ की गई हैं, फिर भी उनमें सब धर्मोंका समावेश नहीं होता। आखिर बौद्ध, जैन आदि धर्म उन व्याख्याओंके बाहर ही रह जाते हैं। विचार करनेसे जान पड़ता है कि सभी व्याख्याकार किसी न किसी पंथका अवलम्बन करके व्याख्या करते हैं। जो व्याख्याकार कुरान और मुहम्मदको व्याख्यामें समावेश करना चाहेगा उसकी व्याख्या कितनी ही उदार क्यों न हो, अन्य धर्म-पंथ उससे बाहर रह जाएँगे। जो व्याख्याकार बाइबिल और क्राइस्टका समावेश करना चाहेगा, या जो वेद, पुराण आदिको शामिल करेगा उसकी व्याख्याका भी यही हाल होगा। सेश्वरवादी निरीश्वर धर्मका समावेश नहीं कर सकता और निरीश्वरवादी सेश्वर धर्मका। ऐसी दशामें सारी व्याख्याएँ अधूरी साबित हों, तो कोई अचरज नहीं। तब प्रश्न यह है कि क्या शब्दोंके द्वारा धर्मका स्वरूप पहचानना संभव ही नहीं? इसका उत्तर 'हाँ' और 'ना' दोनोंमें है। 'ना' इस अर्थमें कि जीवनमें धर्मका स्वतः उदय हुए बिना शब्दोंके द्वारा उसका स्पष्ट भान होना संभव नहीं और 'हाँ' इस अर्थमें कि शब्दोंसे प्रतीति अवश्य होगी, पर वह अनुभव जैसी स्पष्ट नहीं हो सकती। उसका स्थान अनुभवकी अपेक्षा गौण ही रहेगा अतएव, यहाँ धर्मके स्वरूपके बारेमें जो कुछ कहना है वह किसी पान्थिक दृष्टिका अवलंबन करके नहीं कहा जाएगा जिससे अन्य धर्मपंथोंका समावेश ही न हो सके। यहाँ जो कुछ कहा जाएगा वह प्रत्येक समझदार व्यक्तिके अनुभवमें आनेवाली हकीकतके आधारपर ही कहा जाएगा जिससे वह हर एक पंथकी परिभाषामें घट सके और किसीका बहिर्भाव न हो। जब वर्णन शाब्दिक है तब यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता कि वह अनुभव जैसा स्पष्ट भी होगा।

पूर्व-मीमांसामें 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्रसे धर्मके स्वरूपका विचार प्रारंभ किया है कि धर्मका स्वरूप क्या है? तो उत्तर-मीमांसामें 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्रसे जगत्‌के मूलतत्त्वके स्वरूपका विचार प्रारम्भ किया है। पहलेमें आचारका और दूसरेमें तत्त्वका विचार प्रस्तुत है। इसी तरह आधुनिक प्रश्न यह है कि धर्मका बीज क्या है, और उसका प्रारंभिक स्वरूप क्या है? हम सभी अनुभव करते हैं कि हममें जिजीविषा है। जिजीविषा केवल मनुष्य,

पशु-पक्षी तक ही सीमित नहीं है, वह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीट, पतंग और बेक्टेरिया जैसे जंतुओंमें भी है। जिजीविषाके गर्भमें ही सुखकी ज्ञात, अज्ञात अभिलाषा अनिवार्यरूपसे निहित है। जहाँ सुखकी अभिलाषा है, वहाँ प्रतिकूल वेदना या दुःखसे बचनेकी वृत्ति भी अवश्य रहती है। इस जिजीविषा, सुखाभिलाषा और दुःखके प्रतिकारकी इच्छामें ही धर्मका बीज निहित है।

कोई छोटा या बड़ा प्राणधारी अकेले अपने आपमें जीना चाहे तो जी नहीं सकता और वैसा जीवन बिता भी नहीं सकता। वह अपने छोटे-बड़े सजातीय दलका आश्रय लिये बिना चैन नहीं पाता। जैसे वह अपने दलमें रहकर उसके आश्रयसे सुखानुभव करता है वैसे ही यथावसर अपने दलकी अन्य व्यक्तियोंको यथासंभव मदद देकर भी सुखानुभव करता है। यह वस्तुस्थिति चींटी, भौंरे और दीमक जैसे क्षुद्र जन्तुओंके वैज्ञानिक अन्वेषकोंने विस्तारसे दरसाई है। इतने दूर न जानेवाले सामान्य निरीक्षक भी पक्षियों और बन्दर जैसे प्राणियोंमें देख सकते हैं कि तोता, मैना, कौआ आदि पक्षी केवल अपनी संततिके ही नहीं बल्कि अपने सजातीय दलके संकटके समय भी उसके निवारणार्थ मरणांत प्रयत्न करते हैं और अपने दलका आश्रय किस तरह पसंद करते हैं। आप किसी बन्दरके बच्चे को पकड़िए, फिर देखिए कि केवल उसकी माँ ही नहीं, उस दलके छोटे-बड़े सभी बन्दर उसे बचानेका प्रयत्न करते हैं। इसी तरह पकड़ा जानेवाला बच्चा केवल अपनी माँकी ही नहीं अन्य बन्दरोंकी ओर भी बचावके लिए देखता है। पशु-पक्षियोंकी यह रोजमर्राकी घटना है तो अतिपरिचित और बहुत मामूली-सी, पर इसमें एक सत्य सूक्ष्मरूपसे निहित है।

वह सत्य यह है कि किसी प्राणधारीकी जिजीविषा उसके जीवनसे अलग नहीं हो सकती और जिजीविषाकी तृप्ति तभी हो सकती है, जब प्राणधारी अपने छोटे-बड़े दलमें रहकर उसकी मदद लें और मदद करें। जिजीविषाके साथ अनिवार्य रूपसे संकलित इस सजातीय दलसे मदद लेनेके भावमें ही धर्मका बीज निहित है। अगर समुदायमें रहे बिना और उससे मदद लिए बिना जीवनधारी प्राणीकी जीवनेच्छा तृप्त होती, तो धर्मका प्रादुर्भाव संभव ही न था। इस दृष्टिसे देखनेपर कोई सन्देह नहीं रहता कि धर्मका बीज हमारी जिजीविषामें है और वह जीवन-विकासकी प्राथमिकसे प्राथमिक स्थितिमें भी मौजूद है, चाहे वह अज्ञान या अव्यक्त अवस्था ही क्यों न हो।

हरिण जैसे कोमल स्वभावके ही नहीं बल्कि जंगली भैंसों तथा गैण्डों जैसे कठोर स्वभावके पशुओंमें भी देखा जाता है कि वे सब अपना-अपना दल

बाँधकर रहते और जीते हैं। इसे हम चाहे आनुवंशिक संस्कार मानें चाहे पूर्वजन्मोपार्जित, पर विकसित मनुष्य-जातिमें भी यह सामुदायिक वृत्ति अनिवार्य रूपसे देखी जाती है। जब पुरातन मनुष्य जंगली अवस्थामें था तब और जब आजका मनुष्य सभ्य गिना जाता है तब भी, यह सामुदायिक वृत्ति एक-सी अखण्ड देखी जाती है। हाँ, इतना फ़र्क़ अवश्य है कि जीवन-विकासकी अमुक भूमिका तक सामुदायिक वृत्ति उतनी समान नहीं होती जितनी कि विकसित बुद्धिशील गिने जानेवाले मनुष्यमें है। हम अभान या अस्पष्ट भानवाली सामुदायिक वृत्तिको प्रावाहिक या औधिक वृत्ति कह सकते हैं। पर यही वृत्ति धर्म-बीजका आश्रय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस धर्म-बीजका सामान्य और संक्षिप्त स्वरूप यही है कि वैयक्तिक और सामुदायिक जीवनके लिए जो अनुकूल हो उसे करना और जो प्रतिकूल हो उसे टालना या उससे बचना।

जब हम विकसित मानव जातिके इतिहास-पटपर आते हैं तब देखते हैं कि केवल माता-पिताके सहारे बढ़ने और पलनेवाला तथा कुटुम्बके वातावरणसे पुष्ट होनेवाला बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है और उसकी समझ जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उसका ममत्व और आत्मीय भाव माता-पिता तथा कुटुम्बके वर्तुलसे और भी आगे विस्तृत होता जाता है। वह शुरूमें अपने छोटे गाँवको ही देश मान लेता है। फिर क्रमशः अपने राष्ट्रको देश मानता है और किसी-किसीकी समझ इतनी अधिक व्यापक होती है कि उसका ममत्व या आत्मीयभाव किसी एक राष्ट्र या जातिकी सीमामें बद्ध न रहकर समग्र मानव-जाति ही नहीं बल्कि समग्र प्राणी-वर्गतक फैल जाता है। ममत्व या आत्मीय-भावका एक नाम मोह है और दूसरा प्रेम। जितने परिमाणमें ममत्व सीमाबद्ध अधिक, उतने परिमाणमें वह मोह है और जितने परिमाणमें निस्सीम या सीमामुक्त है उतने परिमाणमें वह प्रेम है। धर्मका तत्त्व तो मोहमें भी है और प्रेममें भी। अन्तर इतना ही है कि मोहकी दशामें विद्यमान धर्मका बीज तो कभी-कभी विकृत होकर अधर्मका रूप धारण कर लेता है जब कि प्रेम की दशामें वह धर्मके शुद्ध स्वरूपको ही प्रकट करता है।

मनुष्य-जातिमें ऐसी विकास शक्ति है कि वह प्रेम-धर्मकी ओर प्रगति कर सकती है। उसका यह विकास-बल एक ऐसी वस्तु है जो कभी-कभी विकृत होकर उसे यहाँ तक उलटी दिशामें खींचता है कि वह पशुसे भी निकृष्ट मालूम होती है। यही कारण है कि मानव-जातिमें देवासुर-वृत्तिका द्वन्द्व देखा जाता है। तो भी एक बात निश्चित है कि जब कभी धर्मवृत्तिका अधिकसे अधिक

या पूर्ण उदय देखा गया है या संभव हुआ है तो वह मनुष्यकी आत्मामें ही।

देश, काल, जाति, भाषा, वेश, आचार आदिकी सीमाओंमें और सीमाओंसे परे भी सच्चे धर्मकी वृत्ति अपना काम करती है। वही काम धर्म-बीजका पूर्ण विकास है। इसी विकासको लक्ष्यमें रखकर एक ऋषिने कहा कि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः' अर्थात् जीना चाहते हो तो कर्तव्य कर्म करते ही करते जियो। कर्तव्य कर्मकी संक्षेपमें व्याख्या यह है कि "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यचित् धनम्" अर्थात् तुम भोग करो पर बिना त्यागके नहीं और किसीके सुख या सुखके साधनको लूटनेकी वृत्ति न रखो। सबका सारांश यही है कि जो सामुदायिक वृत्ति जन्मसिद्ध है उसका बुद्धि और विवेकपूर्वक अधिकाधिक ऐसा विकास किया जाए कि वह सबके हितमें परिणत हो। यही धर्म-बीजका मानव-जातिमें संभवित विकास है।

ऊपर जो वस्तु संक्षेपमें सूचित की गई है, उसीको हम दूसरे प्रकारसे अर्थात् तत्त्वचिन्तमके ऐतिहासिक विकास-क्रमकी दृष्टिसे भी सोच सकते हैं। यह निर्विवाद तथ्य है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओंसे लेकर बड़ेसे बड़े पशु-पक्षी जैसे प्राणियोंतकमें जो जिजीविषामूलक अमरत्वकी वृत्ति है, वह दैहिक या शारीरिक जीवन तक ही सीमित है। मनुष्येतर प्राणी सदा जीवित रहना चाहते हैं पर उनकी दृष्टि या चाह वर्तमान दैहिक जीवनके आगे नहीं जाती। वे आगे या पीछेके जीवनके बारेमें कुछ सोच ही नहीं सकते। पर जहाँ मनुष्यत्वका प्रारंभ हुआ वहाँसे इस वृत्तिमें सीमा-भेद हो जाता है। प्राथमिक मनुष्य-दृष्टि चाहे जैसी रही हो या अब भी है, तो भी मनुष्य-जातिमें हजारों वर्षके पूर्व एक ऐसा समय आया जब उसने वर्तमान दैहिक जीवनसे आगे दृष्टि दौड़ाई। मनुष्य वर्तमान दैहिक अमरत्वसे संतुष्ट न रहा, उसने मरणोत्तर जिजीविषामूलक अमरत्वकी भावनाको चित्तमें स्थान दिया और उसीको सिद्ध करनेके लिए वह नाना प्रकारके उपायोंका अनुष्ठान करने लगा। इसीमेंसे बलिदान, यज्ञ, व्रत-नियम, तप, ध्यान, ईश्वर-भक्ति, तीर्थ-सेवन, दान आदि विविध धर्म मार्गोंका निर्माण तथा विकास हुआ। यहाँ हमें समझना चाहिए कि मनुष्यकी दृष्टि वर्तमान जन्मसे आगे भी सदा जीवित रहनेकी इच्छासे किसी न किसी उपायका आश्रय लेती रही है। पर उन उपायोंमें ऐसा कोई नहीं है जो सामुदायिक वृत्ति या सामुदायिक भावनाके सिवाय पूर्ण सिद्ध हो सके। यज्ञ और दानकी तो बात ही क्या, एकांत सापेक्ष माना जानेवाला ध्यानमार्ग भी आखिरको किसी

अन्यकी मददके बिना नहीं निभ सकता या ध्यान-सिद्ध व्यक्ति किसी अन्यमें अपने एकत्र किये हुए संस्कार डाले बिना तृप्त भी नहीं हो सकता। केवल दैहिक जीवनमें दैहिक सामुदायिक वृत्ति आवश्यक है, तो मानसिक जीवनमें भी दैहिकके अलावा मानसिक सामुदायिक वृत्ति अपेक्षित है।

जब मनुष्यकी दृष्टि पारलौकिक स्वर्गीय दीर्घ-जीवनसे तृप्त न हुई और उसने एक कदम आगे सोचा कि ऐसा भी जीवन है जो विदेह अमरत्व-पूर्ण है, तो उसने इस अमरत्वकी सिद्धिके लिए भी प्रयत्न शुरू किया। पुराने उपायोंके अतिरिक्त नये उपाय भी उसने सोचे। सबका ध्येय एकमात्र अशरीर अमरत्व रहा। मनुष्य अभी तक मुख्यतया वयक्तिक अमरत्वके बारेमें सोचता था, पर उस समय भी उसकी दृष्टि सामुदायिक वृत्तिसे मुक्त न थी। जो मुक्त होना चाहता था, या मुक्त हुआ माना जाता था, वह भी अपनी श्रेणीमें अन्य मुक्तोंकी वृद्धिके लिए सतत प्रयत्नशील रहता था। अर्थात् मुक्त व्यक्ति भी अपने जैसे मुक्तोंका समुदाय निर्माण करनेकी वृत्तिसे मुक्त न था। इसीलिए मुक्त व्यक्ति अपना सारा जीवन अन्योंको मुक्त बनानेकी ओर लगा देता था। यही वृत्ति सामुदायिक है और इसीमें महायानकी या सर्व-मुक्तिकी भावना निहित है। यही कारण है कि आगे जाकर मुक्तिका अर्थ यह होने लगा कि जब तक एक भी प्राणी दुःखित हो या वासनाबद्ध हो, तब तक किसी अकेलेकी मुक्तिका कोई पूरा अर्थ नहीं है। यहाँ हमें इतना ही देखना है कि वर्तमान दैहिक जिजीविषासे आगे अमरत्वकी भावनाने कितना ही प्रयाण क्यों न किया हो, पर वैयक्तिक जीवनका परस्पर संबन्ध कभी विच्छिन्न नहीं होता।

अब तत्त्वचिन्तनके इतिहासमें वैयक्तिक जीवन-भेदके स्थानमें या उसके साथ-साथ अखण्ड जीवनकी या अखण्ड ब्रह्मकी भावना स्थान पाती है। ऐसा माना जाने लगा कि वैयक्तिक जीवन भिन्न भिन्न भले ही दिखाई दे, तो भी वास्तवमें कीट-पतंगसे मनुष्य तक सब जीवनधारियोंमें और निर्जीव मानीजानेवाली सृष्टिमें भी एक ही जीवन व्यक्त-अव्यक्त रूपसे विद्यमान है, जो केवल ब्रह्म कहलाता है। इस दृष्टिमें तो वास्तवमें कोई एक व्यक्ति इतर व्यक्तियोंसे भिन्न है ही नहीं। इसलिए इसमें वैयक्तिक अमरत्व सामुदायिक अमरत्वमें घुल-मिल जाता है। सारांश यह है कि हम वैयक्तिक जीवन-भेदकी दृष्टिसे या अखण्ड ब्रह्म-जीवनकी दृष्टिसे विचार करें या व्यवहारमें देखें, तो एक ही बात नजरमें आती है कि वैयक्तिक जीवनमें सामुदायिक वृत्ति अनिवार्यरूपसे निहित है और उसी वृत्तिका विकास मनुष्य-जातिमें अधिकसे अधिक संभवित है और तदनुसार ही उसके धर्ममार्गोंका विकास होता रहता है।

उन्हीं सब मार्गोंका संक्षेपमें प्रतिपादन करनेवाला वह ऋषिवचन है जो पहले निर्दिष्ट किया गया है कि कर्तव्य कर्म करते ही करते जीओ और अपनेमेंसे त्याग करो, दूसरेका हरण न करो। यह कथन सामुदायिक जीवन-शुद्धिका या धर्मके पूर्ण विकासका सूचक है जो मनुष्य-जातिमें ही विवेक और प्रयत्नसे कभी न कभी संभवित है।

हमने मानव-जातिमें दो प्रकारसे धर्म-बीजका विकास देखा। पहले प्रकारमें धर्म-बीजके विकासके आधाररूपसे मानव जातिका विकसित जीवन या विकसित चैतन्यस्पन्दन विवक्षित है और दूसरे प्रकारमें देहात्मभावनासे आगे बढ़कर पुनर्जन्मसे भी मुक्त होनेकी भावना विवक्षित है। चाहे जिस प्रकारसे विचार किया जाए, विकासका पूर्ण मर्म ऊपर कहे हुए ऋषिवचनमें ही है, जो वैयक्तिक और सामाजिक श्रेयकी योग्य दिशा बतलाता है।

प्रस्तुत पुस्तकमें धर्म और समाजविषयक जो, जो लेख, व्याख्यान आदि संग्रह किये गए हैं, उनके पीछे मेरी धर्मविषयक दृष्टि वही रही है जो उक्त ऋषिवचनके द्वारा प्रकट होती है। तो भी इसके कुछ लेख, ऐसे मालूम पड़ सकते हैं कि एक वर्ग विशेषको लक्ष्यमें रखकर ही लिखे गए हों। बात यह है कि जिस समय जैसा वाचक-वर्ग लक्ष्यमें रहा, उस समय उसी वर्गके अधिकारकी दृष्टिसे विचार प्रकट किए गए हैं। यही कारण है कि कई लेखोंमें जैनपरंपराका संबन्ध विशेष दिखाई देता है और कई विचारोंमें दार्शनिक शब्दोंका उपयोग भी किया गया है। परन्तु मैंने यहाँ जो अपनी धर्मविषयक दृष्टि प्रकट की है यदि उसीके प्रकाशमें इन लेखोंको पढ़ा जाएगा तो पाठक यह अच्छी तरह समझ जाएँगे कि धर्म और समाजके पारस्परिक संबन्धके बारेमें मैं क्या सोचता हूँ। यों तो एक ही वस्तु देश-कालके भेदसे नाना प्रकारसे कही जाती है।

ई० १९५१] ['धर्म और समाज'से

धर्म और संस्कृति

धर्मका सच्चा अर्थ है आध्यात्मिक उत्कर्ष, जिसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखताको छोड़कर—वासनाओंके पाशसे हटकर—शुद्ध चिद्रूप या आत्म-स्वरूपकी ओर अग्रसर होता है। यही है यथार्थ धर्म। अगर ऐसा धर्म सचमुच जीवनमें प्रकट हो रहा हो तो उसके बाह्य साधन भी—चाहे वे एक या दूसरे रूपमें अनेक प्रकारके क्यों न हों—धर्म कहे जा सकते हैं। पर यदि वासनाओंके पाशसे मुक्ति न हो या मुक्तिका प्रयत्न भी न हो, तो बाह्य साधन कैसे भी क्यों न हों, वे धर्म-कोटिमें कभी आ नहीं सकते। बल्कि वे सभी साधन अधर्म ही बन जाते हैं। सारांश यह कि धर्मका मुख्य मतलब सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह-जैसे आध्यात्मिक सद्गुणोंसे है। सच्चे अर्थमें धर्म कोई बाह्य वस्तु नहीं है। तो भी वह बाह्य जीवन और व्यवहारके द्वारा ही प्रकट होता है। धर्मको यदि आत्मा कहें, तो बाह्य जीवन और सामाजिक सब व्यवहारोंको देह कहना चाहिए।

धर्म और संस्कृतिमें वास्तविक रूपमें कोई अन्तर होना नहीं चाहिए। जो व्यक्ति या जो समाज संस्कृत माना जाता हो, वह यदि धर्म-पराङ्मुख है, तो फिर जंगलीपनसे संस्कृतिमें विशेषता क्या? इस तरह वास्तवमें मानव-संस्कृतिका अर्थ तो धार्मिक या न्याय-सम्पन्न जीवन-व्यवहार ही है। परन्तु सामान्य जगत्में संस्कृतिका यह अर्थ नहीं लिया जाता। लोग संस्कृतिसे मानवकृत विविध कलाएँ, विविध आविष्कार और विविध विद्याएँ ग्रहण करते हैं। पर ये कलाएँ, ये आविष्कार, ये विद्याएँ हमेशा मानव-कल्याणकी दृष्टि या वृत्तिसे ही प्रकट होती हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। हम इतिहाससे जानते हैं कि अनेक कलाओं, अनेक आविष्कारों और अनेक विद्याओंके पीछे हमेशा मानव-कल्याणका कोई शुद्ध उद्देश्य नहीं होता है। फिर भी ये चीजें समाजमें आती हैं और समाज भी इनका स्वागत पूरे हृदयसे करता है। इस तरह हम देखते हैं और व्यवहारमें पाते हैं कि जो वस्तु मानवीय बुद्धि और एकाग्र प्रयत्नके द्वारा निर्मित होती है और मानव-समाजको पुराने स्तरसे नए स्तरपर लाती है, वह संस्कृतिकी कोटिमें आती है। इसके साथ शुद्ध धर्मका कोई अनिवार्य संबन्ध हो, ऐसा नियम नहीं है। यही कारण है कि संस्कृत कही और मानी जानेवाली जातियाँ भी अनेकधा धर्म-पराङ्मुख पाई जाती हैं। उदाहरणके लिए मूर्तिनिर्माण, मन्दिरोंको तोड़कर मस्जिद बनाना और मस्जिदोंको तोड़कर

मन्दिर-निर्माण, छीना-झपटी आदि सब धर्म अथवा धर्मोद्धारके नामपर होता है। ये संस्कृत जातियोंके लक्षण तो कदापि नहीं हैं।

सामान्य समझके लोग धर्म और संस्कृतिमें अभेद कर डालते हैं। कोई संस्कृतिकी चीज सामने आई, जिसपर कि लोग मुग्ध हों, तो बहुधा उसे धर्म कहकर बखाना जाता है और बहुतसे भोले-भाले लोग ऐसी सांस्कृतिक वस्तुओंको ही धर्म मानकर उनसे सन्तुष्ट हो जाते हैं। उनका ध्यान सामाजिक न्यायोचित व्यवहारकी ओर जाता ही नहीं। फिर भी वे संस्कृतिके नामपर नाचते रहते हैं। इस तरह यदि हम औरोंका विचार छोड़कर केवल अपने भारतीय समाजका ही विचार करें, तो कहा जा सकता है कि हमने संस्कृतिके नामपर अपना वास्तविक सामर्थ्य बहुत-कुछ गँवाया है। जो समाज हजारों वर्षोंसे अपनेको संस्कृत मानता आया है और अपनेको अन्य समाजोंसे संस्कृततर समझता है वह समाज यदि नैतिक बलमें, चरित्र-बलमें, शारीरिक बलमें और सहयोगकी भावनामें पिछड़ा हुआ हो, खुद आपसमें छिन्न-भिन्न हो, तो वह समाज वास्तवमें संस्कृत है या असंस्कृत, यह विचार करना आवश्यक है। संस्कृति भी उच्चतर हो और निर्बलताकी भी पराकाष्ठा हो, यह परस्पर विरोधी बात है। इस दृष्टिसे भारतीय समाज संस्कृत है, एकान्ततः ऐसा मानना बड़ी भारी गलती होगी।

जैसे सच्चे मानीमें हम आज संस्कृत नहीं हैं, वैसे ही सच्चे मानीमें हम धार्मिक भी नहीं हैं। कोई भी पूछ सकता है कि तब क्या इतिहासकार और विद्वान् जब भारतको संस्कृति तथा धर्मका धाम कहते हैं, तब क्या वे झूठ कहते हैं? इसका उत्तर 'हाँ' और 'ना' दोनोंमें है। अगर हम इतिहासकारों और विद्वानोंके कथनका यह अर्थ समझें कि सारा भारतीय समाज या सभी भारतीय जातियाँ और परम्पराएँ संस्कृत एवं धार्मिक ही हैं तो उनका कथन अवश्य सत्यसे पराङ्मुख होगा। यदि हम उनके कथनका अर्थ इतना ही समझें कि हमारे देशमें खास-खास ऋषि या साधक सांस्कृतिक एवं धार्मिक हुए हैं तथा वर्त्तमानमें भी हैं, तो उनका कथन असत्य नहीं।

उपर्युक्त चर्चासे हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि हमारे निकटके या दूरवर्ती पूर्वजोंके संस्कृत एवं धार्मिक जीवनसे हम अपनेको संस्कृत एवं धार्मिक मान लेते हैं और वस्तुतः वैसे हैं नहीं, तो सचमुच ही अपनेको और दूसरोंको धोखा देना है। मैं अपने अल्प-स्वल्प इतिहासके अध्ययन और वर्त्तमान स्थितिके निरीक्षण द्वारा इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि अपनेको आर्य कहनेवाला भारतीय समाज वास्तवमें संस्कृति एवं धर्मसे कोसों दूर है।

जिस देशमें करोड़ों ब्राह्मण हों, जिनका एकमात्र जीवन-व्रत पढ़ना-पढ़ाना या शिक्षा देना कहा जाता है, उस देशमें इतनी निरक्षरता कैसे? जिस देशमें लाखोंकी संख्यामें भिक्षु, संन्यासी, साधु और श्रमण हों, जिनका कि एकमात्र उद्देश्य अकिंचन रहकर सब प्रकारकी मानव-सेवा करना कहा जाता है, उस देशमें समाजकी इतनी निराधारता कैसे?

हमने १६४३ के बंगाल-दुर्भिक्षके समय देखा कि जहाँ एक ओर सड़कोंपर अस्थि-कंकाल बिछे पड़े थे, वहाँ दूसरी ओर अनेक स्थानोंमें यज्ञ एवं प्रतिष्ठाके उत्सव देखे जाते थे, जिनमें लाखोंका व्यय घृत, हवि और दान-दक्षिणामें होता था—मानो अब मानव-समाज, खान-पान, वस्त्र-निवास आदिसे पूर्ण सुखी हो और बची हुई जीवन-सामग्री इस लोकमें जरूरी न होनेसे ही परलोकके लिए ख़र्च की जाती हो!

पिछले एक वर्षसे तो हम अपनी संस्कृति और धर्मका और भी सच्चा रूप देख रहे हैं। लाखों शरणार्थियोंको निःसीम कष्ट होते हुए भी हमारी संग्रह तथा परिग्रह-वृत्ति तनिक भी कम नहीं हुई है। ऐसा कोई बिरला ही व्यापारी मिलेगा, जो धर्मका ढोंग किये बिना चोर-बाजार न करता हो और जो घूसको एकमात्र संस्कृति एवं धर्मके रूपमें अपनाए हुए न हो। जहाँ लगभग समूची जनता दिलसे सामाजिक नियमों और सरकारी कानूनका पालन न करती हो, वहाँ अगर संस्कृति एवं धर्म माना जाए, तो फिर कहना होगा कि ऐसी संस्कृति और ऐसा धर्म तो चोर-डाकुओंमें भी संभव है।

हम हजारों वर्षोंसे देखते आ रहे हैं और इस समय तो हमने बहुत बड़े पैमानेपर देखा है कि हमारे जानते हुए ही हमारी माताएँ, बहनें और पुत्रियाँ अपहृत हुईं। यह भी हम जानते हैं कि हम पुरुषोंके अबलत्वके कारण ही हमारी स्त्रियाँ विशेष अबला एवं अनाथ बनकर अपहृत हुईं, जिनका रक्षण एवं स्वामित्व करनेका हमारा स्मृतिसिद्ध कर्त्तव्य माना जाता है। फिर भी हम इतने अधिक संस्कृत, इतने अधिक धार्मिक और इतने अधिक उन्नत हैं कि हमारी अपनी निर्बलताके कारण अपहृत हुई स्त्रियाँ यदि फिर हमारे समाजमें आना चाहें, तो हममेंसे बहुतसे उच्चताभिमानी पंडित, ब्राह्मण और उन्हींकी-सी मनोवृत्तिवाले कह देते हैं कि अब उनका स्थान हमारे यहाँ कैसे? अगर कोई साहसिक व्यक्ति अपहृत स्त्रीको अपना लेता है, तो उस स्त्रीकी दुर्दशा या अवगणना करनेमें हमारी बहनें ही अधिक रस लेती हैं।

इस प्रकार हम जिस किसी जीवन-क्षेत्रको लेकर विचार करते हैं, तो यही मालूम होता है कि हम भारतीय जितने प्रमाणमें संस्कृति तथा धर्मकी बातें करते हैं, हमारा समूचा जीवन उतने ही प्रमाणमें संस्कृति एवं धर्मसे दूर है। हाँ, इतना अवश्य है कि संस्कृतिके बाह्य रूप और धर्मकी बाहरी स्थूल लीकें हममें इतनी अधिक हैं कि शायद ही कोई दूसरा देश हमारे मुकाबलेमें खड़ा रह सके। केवल अपने विरल पुरुषोंके नामपर जीना और बड़ाईकी डींगें हाँकना तो असंस्कृति और धर्म-पराङ्मुखताका ही लक्षण है।

ई० १९४८] [नया समाज।

धर्म और बुद्धि

आज तक किसी भी विचारकने यह नहीं कहा कि धर्मका उत्पाद और विकास बुद्धिके सिवाय और भी किसी तत्त्वसे हो सकता है। प्रत्येक धर्म-संप्रदायका इतिहास यही कहता है कि अमुक बुद्धिमान् पुरुषोंके द्वारा ही उस धर्मकी उत्पत्ति या शुद्धि हुई है। हरेक धर्म-संप्रदायके पोषक धर्मगुरु और विद्वान् इसी एक बातका स्थापन करनेमें गौरव समझते हैं कि उनका धर्म बुद्धि, तर्क, विचार और अनुभव-सिद्ध है। इस तरह धर्मके इतिहास और उसके संचालकके व्यावहारिक जीवनको देखकर हम केवल एक ही नतीजा निकाल सकते हैं कि बुद्धितत्त्व ही धर्मका उत्पादक, उसका संशोधक, पोषक और प्रचारक रहा है और रह सकता है।

ऐसा होते हुए भी हम धर्मोंके इतिहासमें बराबर धर्म और बुद्धितत्त्वका विरोध और पारस्परिक संघर्ष देखते हैं। केवल यहाँके आर्य धर्मकी शाखाओंमें ही नहीं बल्कि यूरोप आदि अन्य देशोंके ईसाई, इस्लाम आदि अन्य धर्मोंमें भी हम भूतकालीन इतिहास तथा वर्तमान घटनाओंमें देखते हैं कि जहाँ बुद्धितत्त्वने अपना काम शुरू किया कि धर्मके विषयमें अनेक शङ्का-प्रतिशङ्का और तर्क-वितर्कपूर्ण प्रश्नावली उत्पन्न हो जाती है। और बड़े आश्चर्यकी बात है कि धर्मगुरु और धर्माचार्य जहाँ तक हो सकता है उस प्रश्नावलीका, उस तर्कपूर्ण विचारणाका आदर करनेके बजाय विरोध ही नहीं, सख्त विरोध करते हैं। उनके ऐसे विरोधी और संकुचित व्यवहारसे तो यह जाहिर होता है कि अगर तर्क, शङ्का या विचारको जगह दी जाएगी, तो धर्मका अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा अथवा वह विकृत होकर ही रहेगा। इस तरह जब हम चारों तरफ धर्म और विचारणाके बीच विरोध-सा देखते हैं तब हमारे मनमें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या धर्म और बुद्धिमें विरोध है? इसके उत्तरमें संक्षेपमें इतना कहा जा सकता है उनके बीच कोई विरोध नहीं है और न हो सकता है। यदि सचमुच ही किसी धर्ममें इनका विरोध माना जाए तो हम यही कहेंगे कि उस बुद्धि-विरोधी धर्मसे हमें कोई मतलब नहीं। ऐसे धर्मको अंगीकार करनेकी अपेक्षा उसको अंगीकार न करनेमें ही जीवन सुखी और विकसित रह सकता है।

धर्मके दो रूप हैं, एक तो जीवन-शुद्धि और दूसरा बाह्य व्यवहार। क्षमा, नम्रता, सत्य, संतोष आदि जीवनगत गुण पहिले रूपमें आते हैं और स्नान,

तिलक, मूर्तिपूजन, यात्रा, गुरुसत्कार, देहदमनादि बाह्य व्यवहार दूसरे रूपमें। सात्त्विक धर्मका इच्छुक मनुष्य जब अहिंसाका महत्त्व गाता हुआ भी पूर्व-संस्कारवश कभी-कभी उसी धर्मकी रक्षाके लिए हिंसा, पारम्परिक पक्षपात तथा विरोधीपर प्रहार करना भी आवश्यक बतलाता है, सत्यका हिमायती भी ऐन मौके पर जब सत्यकी रक्षाके लिए असत्यकी शरण लेता है, सबको सन्तुष्ट रहनेका उपदेश देनेवाला भी जब धर्म-समर्थनके लिए परिग्रहकी आवश्यकता बतलाता है, तब बुद्धिमानोंके दिलमें प्रश्न होता है कि अधर्मस्वरूप समझे जाने वाले हिंसा आदि दोषोंसे जीवन-शुद्धि-रूप धर्मकी रक्षा या पुष्टि कैसे हो सकती है? फिर वही बुद्धिशाली वर्ग अपनी शङ्काको उन विपरीतगामी गुरुओं या पण्डितोंके सामने रखता है। इसी तरह जब बुद्धिमान् वर्ग देखता है कि जीवन-शुद्धिका विचार किये बिना ही धर्मगुरु और पण्डित बाह्य क्रियाकाण्डोंको ही धर्म कहकर उनके ऊपर ऐकान्तिक भार दे रहे हैं और उन क्रियाकाण्डों एवं नियत भाषा तथा वेशके बिना धर्मका चला जाना, नष्ट हो जाना, बतलाते हैं तब वह अपनी शङ्का उन धर्म-गुरुओं, पण्डितों आदिके सामने रखता है कि वे लोग जिन अस्थायी और परस्पर असंगत बाह्य व्यवहारोंपर धर्मके नामसे पूरा भार देते हैं उनका सच्चे धर्मसे क्या और कहाँतक संबन्ध है? प्रायः देखा जाता है कि जीवन-शुद्धि न होनेपर, बल्कि अशुद्ध जीवन होनेपर भी, ऐसे बाह्य-व्यवहार, अज्ञान, वहम, स्वार्थ एवं भोलेपनके कारण मनुष्यको धर्मात्मा समझ लिया जाता है। ऐसे बाह्य-व्यवहारोंके कम होते हुए या दूसरे प्रकारके बाह्य-व्यवहार होनेपर भी सात्त्विक धर्मका होना सम्भव हो सकता है। ऐसे प्रश्नोंके सुनते ही उन धर्म-गुरुओं और धर्म पंडितोंके मनमें एक तरहकी भीति पैदा हो जाती है। वे समझने लगते हैं कि ये प्रश्न करनेवाले वास्तवमें तात्त्विक धर्मवाले तो हैं नहीं, केवल निरी तर्कशक्तिसे हम लोगोंके द्वारा धर्मरूपसे मनाये जानेवाले व्यवहारोंको अधर्म बतलाते हैं। ऐसी दशामें धर्मका व्यावहारिक बाह्यरूप भी कैसे टिक सकेगा? इन धर्म-गुरुओंकी दृष्टिमें ये लोग अवश्य ही धर्म-द्रोही या धर्म-विरोधी हैं। क्योंकि वे ऐसी स्थितिके प्रेरक हैं जिसमें न तो जीवन-शुद्धिरूपी असली धर्म ही रहेगा और न झूठा सच्चा व्यावहारिक धर्म ही। धर्मगुरुओं और धर्म-पंडितोंके उक्त भय और तज्जन्य उलटी विचारणामेंसे एक प्रकारका द्वन्द्व शुरू होता है। वे सदा स्थायी जीवन-शुद्धिरूप तात्त्विक धर्मको पूरे विश्लेषणके साथ समझानेके बदले बाह्य-व्यवहारोंको त्रिकालाबाधित कहकर उनके ऊपर यहाँतक जोर देते हैं कि जिससे बुद्धिमान वर्ग उनकी दलीलोंसे ऊबकर, असन्तुष्ट होकर यही कह बैठता है कि गुरु

और पंडितोंका धर्म सिर्फ ढकोसला है--धोखेकी टट्टी है। इस तरह धर्मोपदेशक और तर्कवादी बुद्धिमान् वर्गके बीच प्रतिक्षण अन्तर और विरोध बढ़ता ही जाता है। उस दशामें धर्मका आधार विवेकशून्य श्रद्धा, अज्ञान या वहम ही रह जाता है और बुद्धि एवं तज्जन्य गुणोंके साथ धर्मका एक प्रकारसे विरोध दिखाई देता है।

यूरोपका इतिहास बताता है कि विज्ञानका जन्म होते ही उसका सबसे पहला प्रतिरोध ईसाई धर्मकी ओरसे हुआ। अन्तमें इस प्रतिरोधसे धर्मका ही सर्वथा नाश देखकर उसके उपदेशकोंने विज्ञानके मार्गमें प्रतिपक्षी भावसे आना ही छोड़ दिया। उन्होंने अपना क्षेत्र ऐसा बना लिया कि वे वैज्ञानिकोंके मार्गमें बिना बाधा डाले ही कुछ धर्मकार्य कर सकें। उधर वैज्ञानिकोंका भी क्षेत्र ऐसा निष्कण्टक हो गया कि जिससे वे विज्ञानका विकास और सम्वर्धन निर्बाध रूपसे करते रहें। इसका एक सुन्दर और महत्त्वका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक और अन्तमें राजकीय क्षेत्रसे भी धर्मका डेरा उठ गया और फलतः वहाँकी सामाजिक और राजकीय संस्थाएँ अपने ही गुण-दोषोंपर बनने-बिगड़ने लगीं।

इस्लाम और हिन्दू धर्मकी सभी शाखाओंकी दशा इसके विपरीत है। इस्लामी दीन और धर्मोंकी अपेक्षा बुद्धि और तर्कवादसे अधिक घबड़ाता है। शायद इसीलिए वह धर्म अभी तक किसी अन्यतम महात्माको पैदा नहीं कर सका और स्वयं स्वतन्त्रताके लिए उत्पन्न होकर भी उसने अपने अनुयायियोंको अनेक सामाजिक तथा राजकीय बन्धनोंसे जकड़ दिया। हिन्दू धर्मकी शाखाओंका भी यही हाल है। वैदिक हो, बौद्ध हो या जैन, सभी धर्म स्वतन्त्रता का दावा तो बहुत करते हैं, फिर भी उनके अनुयायी जीवनके हरेक क्षेत्रमें अधिक से अधिक गुलाम हैं। यह स्थिति अब विचारकोंके दिलमें खटकने लगी है। वे सोचते हैं कि जब तक बुद्धि, विचार और तर्कके साथ धर्मका विरोध समझा जाएगा तब तक उस धर्मसे किसीका भला नहीं हो सकता। यही विचार आजकलके युवकोंकी मानसिक क्रान्तिका एक प्रधान लक्षण है।

राजनीति, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, तर्कशास्त्र, इतिहास और विज्ञान आदिका अभ्यास तथा चिन्तन इतना अधिक होने लगा है कि उससे युवकोंके विचारमें स्वतन्त्रता तथा उनके प्रकाशनमें निर्भयता दिखाई देने लगी है। इधर धर्मगुरु और धर्मपंडितोंका उन नवीन विद्याओंसे परिचय नहीं होता, इस कारण वे अपने पुराने, वहमी, संकुचित और भीरु खयालोंमें ही विचरते रहते हैं। ज्यों ही युवकवर्ग अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने लगता है त्यों ही धर्मजीवी महात्मा घबड़ाने और कहने लगते हैं कि विद्या और विचारने ही तो

धर्मका नाश शुरू किया है। जैनसमाजकी ऐसी ही एक ताजी घटना है। अहमदाबादमें एक ग्रेज्युएट वकीलने जो मध्यश्रेणीके निर्भय विचारक हैं, धर्मके व्यावहारिक स्वरूपपर कुछ विचार प्रकट किये कि चारों ओरसे विचारके कब्रस्तानोंसे धर्म-गुरुओंकी आत्माएँ जाग पड़ीं। हलचल होने लग गई कि ऐसा विचार प्रकट क्यों किया गया और उस विचारकको जैनधर्मोचित सजा क्या और कितनी दी जाए ? सजा ऐसी हो कि हिंसात्मक भी न समझी जाय और हिंसात्मक सजासे अधिक कठोर भी सिद्ध हो, जिससे आगे कोई स्वतन्त्र और निर्भय भावसे धार्मिक विषयोंकी समीक्षा न करे। हम जब जैनसमाजकी ऐसी ही पुरानी घटनाओं तथा आधुनिक घटनाओंपर विचार करते हैं तब हमें एक ही बात मालूम होती है और वह यह कि लोगोंके खयालमें धर्म और विचारका विरोध ही जँच गया है। इस जगह हमें थोड़ी गहराईसे विचार-विश्लेषण करना होगा।

हम उन धर्मधुरंधरोंसे पूछना चाहते हैं कि क्या वे लोग तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके स्वरूपको अभिन्न या एक ही समझते हैं ? और क्या व्यावहारिक स्वरूप या बंधारणको वे अपरिवर्तनीय साबित कर सकते हैं ? व्यावहारिक धर्मका बंधारण और स्वरूप अगर बदलता रहता है और बदलना चाहिए तो इस परिवर्तनके विषयमें यदि कोई अभ्यासी और चिन्तनशील विचारक केवल अपना विचार प्रदर्शित करे, तो इसमें उनका क्या बिगड़ता है ?

सत्य, अहिंसा, संतोष आदि तात्त्विक धर्मका तो कोई विचारक अनादर करता ही नहीं बल्कि वह तो उस तात्त्विक धर्मकी पुष्टि, विकास एवं उपयोगिताका स्वयं कायल होता है। वह जो कुछ आलोचना करता है, जो कुछ हेर-फेर या तोड़-फोड़की आवश्यकता बताता है वह तो धर्मके व्यावहारिक स्वरूपके संबन्धमें है और उसका उद्देश्य धर्मकी विशेष उपयोगिता एवं प्रतिष्ठा बढ़ाना है। ऐसी स्थितिमें उसपर धर्म-विनाशका आरोप लगाना या उनका विरोध करना केवल यही साबित करना है कि या तो धर्मधुरन्धर धर्मके वास्तविक स्वरूप और इतिहासको नहीं समझते या समझते हुए भी ऐसा पामर प्रयत्न करनेमें उनकी कोई परिस्थिति कारणभूत है।

आम तौरसे अनुयायी गृहस्थ वर्ग ही नहीं बल्कि साधु वर्गका बहुत बड़ा भाग भी किसी वस्तुका समुचित विश्लेषण करने और उसपर समतौलपन रखनेमें नितान्त असमर्थ है। इस स्थितिका फायदा उठाकर संकुचितमना साधु और उनके अनुयायी गृहस्थ भी, एक स्वरसे कहने लगते हैं कि ऐसा कहकर अमुकने धर्मनाश कर दिया। बेचारे भोले-भाले लोग इस बातसे अज्ञानके और भी गहरे गढ़ेमें जा गिरते हैं। वास्तवमें चाहिए तो यह कि कोई विचारक नए दृष्टि-

बिन्दुसे किसी विषयपर विचार प्रकट करें तो उनका सच्चे दिलसे आदर करके विचार-स्वातंत्र्यको प्रोत्साहन दिया जाए। इसके बदलेमें उनका गला घोंटनेका जो प्रयत्न चारों ओर देखा जाता है उसके मूलमें मुझे दो तत्त्व मालूम होते हैं। एक तो उग्र विचारोंको समझ कर उनकी गलती दिखानेका असामर्थ्य और दूसरा अकर्मण्यताकी भित्तिके ऊपर अनायास मिलनेवाली आराम-तलबीके विनाशका भय।

यदि किसी विचारकके विचारोंमें आंशिक या सर्वथा गलती हो तो क्या उसे धर्मनेता समझ नहीं पाते? अगर वे समझ सकते हैं तो क्या उस गलतीको वे चौगुने बलसे दलीलोंके साथ दर्शानेमें असमर्थ हैं? अगर वे समर्थ हैं तो उचित उत्तर देकर उस विचारका प्रभाव लोगोंमेंसे नष्ट करनेका न्याय्य मार्ग क्यों नहीं लेते? धर्मकी रक्षाके बहाने वे अज्ञान और अधर्मके संस्कार अपनेमें और समाजमें क्यों पुष्ट करते हैं? मुझे तो सच बात यही जान पड़ती है कि चिरकालसे शारीरिक और दूसरा जवाबदेहीपूर्ण परिश्रम किए बिना ही मख-मली और रेशमी गद्दियोंपर बैठकर दूसरोंके पसीनेपूर्ण परिश्रमका पूरा फल बड़ी भक्तिके साथ चखनेकी जो आदत पड़ गई है, वही इन धर्मधुरंधरोंसे ऐसी उपहासास्पद प्रवृत्ति कराती है। ऐसा न होता तो प्रमोद-भावना और ज्ञान पूजाकी हिमायत करनेवाले ये धर्म-धुरन्धर विद्या, विज्ञान और विचार-स्वातन्त्र्यका आदर करते और विचारक युवकोंसे बड़ी उदारतासे मिलकर उनके विचारगत दोषोंको दिखाते और उनकी योग्यताकी कद्र करके ऐसे युवकोंको उत्पन्न करनेवाले अपने समाजका गौरव करते। खैर, जो कुछ हो पर अब दोनों पक्षोंमें प्रतिक्रिया शुरू हो गई है। जहाँ एक पक्ष ज्ञात या अज्ञात रूपसे यह स्थापित करता है कि धर्म और विचारमें विरोध है, तो दूसरे पक्षको भी यह अवसर मिल रहा है कि वह प्रमाणित करे कि विचार-स्वातन्त्र्य आवश्यक है। यह पूर्ण रूपसे समझ रखना चाहिए कि विचार-स्वातन्त्र्यके बिना मनुष्यका अस्तित्व ही अर्थशून्य है। वास्तवमें विचार तथा धर्मका विरोध नहीं, पर उनका पारस्परिक अनिवार्य संबन्ध है।

अगस्त १९३६] [ओसवाल नवयुवक।

विकासका मुख्य साधन

विकास दो प्रकारका है, शारीरिक और मानसिक। शारीरिक विकास केवल मनुष्योंमें ही नहीं पशु-पक्षियों तकमें देखा जाता है। खान-पान-स्थान आदिके पूरे सुभीते मिलें और चिन्ता, भय न रहे तो पशु पक्षी भी खूब बलवान्, पुष्ट और गठीले हो जाते हैं। मनुष्यों और पशु-पक्षियोंके शारीरिक विकासका एक अन्तर ध्यान देने योग्य है, कि मनुष्यका शारीरिक विकास केवल खान-पान और रहन-सहन आदिके पूरे सुभीते और निश्चिन्ततासे ही सिद्ध नहीं हो सकता जब कि पशु-पक्षियोंका हो जाता है। मनुष्यके शारीरिक विकासके पीछे जब पूरा और समुचित मनोव्यापार-बुद्धियोग हो, तभी वह पूरा और समुचित रूपसे सिद्ध हो सकता है, और किसी तरह नहीं। इस तरह उसके शारीरिक-विकास-का असाधारण और प्रधान साधन बुद्धियोग–मनोव्यापार–संयत प्रवृत्ति है।

मानसिक-विकास तो जहाँ तक उसका पूर्णरूप संभव है मनुष्य मात्रमें है। उसमें शरीर-योग–देह-व्यापार अवश्य निमित्त है, देह-योगके बिना वह सम्भव ही नहीं, फिर भी कितना ही देह-योग क्यों न हो, कितनी ही शारीरिक पुष्टि क्यों न हो, कितना ही शरीर-बल क्यों न हो, यदि मनोयोग–बुद्धि-व्यापार या समुचित रीतिसे समुचित दिशामें मनकी गति-विधि न हो तो पूरा मानसिक विकास कभी सम्भव नहीं।

अर्थात् मनुष्यका पूर्ण और समुचित शारीरिक और मानसिक विकास केवल व्यवस्थित और जागरित बुद्धि-योगकी अपेक्षा रखता है।

हम अपने देशमें देखते हैं कि जो लोग खान-पानसे और आर्थिक दृष्टिसे ज्यादा निश्चिन्त हैं, जिन्हें विरासतमें पैतृक सम्पत्ति जमींदारी या राजसत्ता प्राप्त है, वे ही अधिकतर मानसिक विकासमें मंद होते हैं। खास-खास धनवानोंकी सन्तानों, राजपुत्रों और जमींदारोंको देखिए। बाहरी चमक-दमक और दिखा-वटी फुर्ती होने पर भी उनमें मनका, विचारशक्तिका, प्रतिभाका कम ही विकास होता है। बाह्य साधनोंकी उन्हें कमी नहीं, पढ़ने-लिखनेके साधन भी पूरे प्राप्त हैं, शिक्षक-अध्यापक भी यथेष्ट मिलते हैं, फिर भी उनका मानसिक विकास एक तरहसे रुके हुए तालाबके पानीकी तरह गतिहीन होता है। दूसरी ओर जिसे विरासतमें न तो कोई स्थूल सम्पत्ति मिलती है और न कोई दूसरे मनोयोगके सुभीते सरलतासे मिलते हैं, उस वर्गमेंसे असाधारण मनोविकासवाले व्यक्ति पैदा

होते हैं। इस अन्तरका कारण क्या है? होना तो यह चाहिए था कि जिन्हें साधन अधिक और अधिक सरलतासे प्राप्त हों वे ही अधिक और जल्दी विकास प्राप्त करें पर देखा जाता है उलटा। तब हमें खोजना चाहिए कि विकासकी असली जड़ क्या है? मुख्य उपाय क्या है कि जिसके न होनेसे और सब न होनेके बराबर हो जाता है।

जवाब बिलकुल सरल है और उसे प्रत्येक विचारक व्यक्ति अपने और अपने आस-पासवालोंके जीवनमेंसे पा सकता है। वह देखेगा कि जवाबदेही या उत्तरदायित्व ही विकासका प्रधान बीज है। हमें मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे देखना चाहिए कि जवाबदेहीमें ऐसी क्या शक्ति है जिससे वह अन्य सब विकासके साधनोंकी अपेक्षा प्रधान साधन बन जाती है। मनका विकास उसके सत्व-अंशकी योग्य और पूर्ण जाग्रतिपर ही निर्भर है। जब राजस या तामस अंश सत्वगुणसे प्रबल हो जाता है तब मनकी योग्य विचारशक्ति या शुद्ध विचार-शक्ति आवृत या कुण्ठित हो जाती है। मनके राजस तथा तामस अंश बलवान् होनेको व्यवहारमें प्रमाद कहते हैं। कौन नहीं जानता कि प्रमादसे वैयक्तिक और सामष्टिक सारी खराबियाँ होती हैं। जब जवाबदेही नहीं रहती तब मनकी गति कुण्ठित हो जाती है और प्रमादका तत्त्व बढ़ने लगता है जिसे योग-शास्त्रमें मनकी क्षिप्त और मूढ़ अवस्था कहा है। जैसे शरीरपर शक्तिसे अधिक बोझ लादनेपर उसकी स्फूर्ति, उसका स्नायुबल, कार्यसाधक नहीं रहता वैसे ही रजोगुणजनित क्षिप्त अवस्थामें और तमोगुणजनित मूढ़ अवस्थाका बोझ पड़नेसे मनकी स्वभाविक सत्वगुणजनित विचार-शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। इस तरह मनकी निष्क्रियताका मुख्य कारण राजस और तामस गुणका उद्रेक है। जब हम किसी जवाबदेहीको नहीं लेते या लेकर नहीं निबाहते, तब मनके सात्त्विक अंशकी जाग्रति होनेके बदले तामस और राजस अंशकी प्रबलता होने लगती है। मनका सूक्ष्म सच्चा विकास रुककर केवल स्थूल विकास रह जाता है और वह भी सत्य दिशाकी ओर नहीं होता। इसीसे बेजवाबदारी मनुष्य जातिके लिए सबसे अधिक खतरेकी वस्तु है। वह मनुष्यको मनुष्यत्वके यथार्थ मार्गसे गिरा देती है। इसीसे जवाबदेहीकी विकासके प्रति असाधारण प्रधानताका भी पता चल जाता है।

जवाबदेही अनेक प्रकारकी होती है—कभी-कभी वह मोहमेंसे आती है। किसी युवक या युवतीको लीजिए। जिस व्यक्तिपर उसका मोह होगा उसके प्रति वह अपनेको जवाबदेह समझेगा, उसीके प्रति कर्तव्य-पालनकी चेष्टा करेगा, दूसरोंके प्रति वह उपेक्षा भी कर सकता है। कभी-कभी जवाबदेही स्नेह या

प्रेममेंसे आती है। माता अपने बच्चेके प्रति उसी स्नेहके वश कर्तव्य पालन करती है पर दूसरोंके बच्चोंके प्रति अपना कर्तव्य भूल जाती है। कभी जवाबदेही भयमेंसे आती है। अगर किसीको भय हो कि इस जङ्गलमें रातको या दिनको शेर आता है, तो वह जागरित रहकर अनेक प्रकारसे बचाव करेगा, पर भय न रहनेसे फिर बेफिक्र होकर अपने और दूसरोंके प्रति कर्तव्य भूल जाएगा। इस तरह लोभ-वृत्ति, परिग्रहाकांक्षा, क्रोधकी भावना, बदला चुकानेकी वृत्ति, मान-मत्सर आदि अनेक राजस-तामस अंशोंसे जवाबदेही थोड़ी या बहुत, एक या दूसरे रूपमें, पैदा होकर मानुषिक जीवनका सामाजिक और आर्थिक चक्र चलता रहता है। पर ध्यान रखना चाहिए कि इस जगह विकासके, विशिष्ट विकासके या पूर्ण विकासके असाधारण और प्रधान साधन रूपसे जिस जवाबदेहीकी ओर संकेत किया गया है वह उन सब मर्यादित और संकुचित जवाबदेहियोंसे भिन्न तथा परे है। वह किसी क्षणिक संकुचित भावके ऊपर अवलम्बित नहीं है, वह सबके प्रति, सदाके लिए, सब स्थलोंमें एक-सी होती है चाहे वह निजके प्रति हो, चाहे कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और मानुषिक व्यवहार मात्रमें काम लाई जाती हो। वह एक ऐसे भावमेंसे पैदा होती है जो न तो क्षणिक है, न संकुचित और न मलीन। वह भाव अपनी जीवन-शक्तिका यथार्थ अनुभव करनेका है। जब इस भावमेंसे जवाबदेही प्रकट होती है तब वह कभी रुकती नहीं। सोते जागते सतत वेगवती नदीके प्रवाहकी तरह अपने पथपर काम करती रहती है। तब क्षिप्त या मूढ़ भाग मनमें फटकने ही नहीं पाता। तब मनमें निष्क्रियता या कुटिलताका संचार सम्भव ही नहीं। जवाबदेहीकी यही संजीवनी शक्ति है, जिसकी बदौलत वह अन्य सब साधनोंपर आधिपत्य करती है और पामरसे पामर, गरीबसे गरीब, दुर्बलसे दुर्बल और तुच्छसे तुच्छ समझे जानेवाले कुल या परिवारमें पैदा हुए व्यक्तिको सन्त, महन्त, महात्मा, अवतार तक बना देती है।

गरज यह कि मानुषिक विकासका आधार एकमात्र जवाबदेही है और वह किसी एक भावसे संचालित नहीं होती। अस्थिर संकुचित या क्षुद्र भावोंमेंसे भी जवाबदेही प्रवृत्त होती है। मोह, स्नेह, भय, लोभ आदि भाव पहले प्रकारके हैं और जीवन-शक्तिका यथार्थानुभव दूसरे प्रकारका भाव है।

अब हमें देखना होगा कि उक्त दो प्रकारके भावोंमें परस्पर क्या अन्तर है और पहले प्रकारके भावोंकी अपेक्षा दूसरे प्रकारके भावोंमें अगर श्रेष्ठता है तो वह किस सबबसे है? अगर यह विचार स्पष्ट हो जाए तो फिर उक्त दोनों प्रकारके भावोंपर आश्रित रहनेवाली जवाबदेहियोंका भी अन्तर तथा श्रेष्ठता-कनिष्ठता ध्यानमें आ जाएगी।

मोहमें रसानुभूति है, सुख-संवेदन भी है। पर वह इतना परिमित और इतना अस्थिर होता है कि उसके आदि, मध्य और अन्तमें ही नहीं उसके प्रत्येक अंशमें शंका, दुःख और चिन्ताका भाव भरा रहता है जिसके कारण घड़ीके लोलककी तरह वह मनुष्यके चित्तको अस्थिर बनाए रखता है। मान लीजिए कि कोई युवक अपने प्रेम-पात्रके प्रति स्थूल मोहवश बहुत ही दत्त-चित्त रहता है, उसके प्रति कर्तव्य-पालनमें कोई त्रुटि नहीं करता, उससे उसे रसानुभव और सुख-संवेदन भी होता है। फिर भी बारीकीसे परीक्षण किया जाए, तो मालूम होगा कि वह स्थूल मोह अगर सौन्दर्य या भोगलालसासे पैदा हुआ है, तो न जाने वह किस क्षण नष्ट हो जाएगा, घट जाएगा या अन्य रूप-में परिणत हो जाएगा। जिस क्षण युवक या युवतीको पहले प्रेम-पात्रकी अपेक्षा दूसरा पात्र अधिक सुन्दर, अधिक समृद्ध, अधिक बलवान् या अधिक अनुकूल मिल जाएगा, उसी क्षण उसका चित्त प्रथम पात्रकी ओरसे हटकर दूसरी ओर झुक पड़ेगा और इस झुकावके साथ ही प्रथम पात्रके प्रति कर्तव्य-पालनके चक्रकी, जो पहलेसे चल रहा था, गति और दिशा बदल जाएगी। दूसरे पात्रके प्रति भी वह चक्र योग्य रूपसे न चल सकेगा और मोहका रसानुभव जो कर्त्तव्य-पालनसे संतुष्ट हो रहा था, कर्तव्य-पालन करने या न करनेपर भी अतृप्त ही रहेगा। माता मोहवश अंगजात बालकके प्रति अपना सब कुछ न्यौछावर करके रसानुभव करती है, पर उसके पीछे अगर सिर्फ मोहका भाव है तो रसानुभव बिलकुल संकुचित और अस्थिर होता है। मान लीजिए कि वह बालक मर गया और उसके बदलेमें उसकी अपेक्षा भी अधिक सुन्दर और पुष्ट दूसरा बालक परवरिशके लिए मिल गया, जो बिलकुल मातृहीन है। परन्तु इस निराधार और सुन्दर बालकको पाकर भी वह माता उसके प्रति अपने कर्तव्य-पालनमें वह रसानुभव नहीं कर सकेगी जो अपने अंगजात बालकके प्रति करती थी। बालक पहलेसे भी अच्छा मिला है, माताको बालककी स्पृहा है और अर्पण करनेकी वृत्ति भी है। बालक भी मातृहीन होनेसे बालकापेक्षिणी माताकी प्रेम-वृत्तिका अधिकारी है। फिर भी उस माताका चित्त उसकी ओर मुक्त धारासे नहीं बहता। इसका सबब एक ही है और वह यह कि उस माताकी न्यौछावर या अर्पणवृत्तिका प्रेरक भाव केवल मोह था, जो स्नेह होकर भी शुद्ध और व्यापक न था, इस कारण उसके हृदयमें उस भावके होनेपर भी उसमेंसे कर्त्तव्य-पालनके फव्वारे नहीं छूटते, भीतर ही भीतर उसके हृदयको दबाकर सुखीके बजाय दुखी करते हैं, जैसे खाया हुआ पर हजम न हुआ सुन्दर अन्न। वह न तो खून बनकर शरीरको सुख पहुँचाता है और न बाहर निकलकर शरी-

रको हलका ही करता है। भीतर ही भीतर सड़कर शरीर और चित्तको अस्वस्थ बनाता है। यही स्थिति उस माताके कर्त्तव्य-पालनमें अपरिणत स्नेह भावकी होती है। हमने कभी भयवश रक्षणके वास्ते झोपड़ा बनाया, उसे सँभाला भी। दूसरोंसे बचनेके निमित्त अखाड़ेमें बल सम्पादित किया, कवायद और निशानेबाजीसे सैनिक शक्ति प्राप्त की, आक्रमणके समय (चाहे वह निजके ऊपर हो, कुटुम्ब, समाज या राष्ट्रके ऊपर हो) सैनिकके तौरपर कर्त्तव्य-पालन भी किया, पर अगर वह भय न रहा, खासकर अपने निजके ऊपर या हमने जिसे अपना समझा है या जिसको हम अपना नहीं समझते, जिस राष्ट्रको हम निज राष्ट्र नहीं समझते उसपर हमारी अपेक्षा भी अधिक और प्रचंड भय आ पड़ा, तो हमारी भय-त्राण-शक्ति हमें कर्त्तव्य-पालनमें कभी प्रेरित नहीं करेगी, चाहे भयसे बचने-बचानेकी हममें कितनी ही शक्ति क्यों न हो। वह शक्ति संकुचित भावोंमेंसे प्रकट हुई है तो जरूरत होनेपर भी वह काम न आएगी और जहाँ जरूरत न होगी या कम जरूरत होगी वहाँ खर्च होगी। अभी-अभी हमने देखा है कि यूरोपके और दूसरे राष्ट्रोंने भयसे बचने और बचानेकी निस्सीम शक्ति रखते हुए भी भयत्रस्त एबीसीनियाकी हजार प्रार्थना करनेपर भी कुछ भी मदद न की। इस तरह भयजनित कर्त्तव्य-पालन अधूरा होता है और बहुधा विपरीत भी होता है। मोह कोटिमें गिने जानेवाले सभी भावोंकी एक ही जैसी अवस्था है, वे भाव बिलकुल अधूरे, अस्थिर और मलिन होते हैं।

जीवन-शक्तिका यथार्थ अनुभव ही दूसरे प्रकारका भाव है जो न तो उदय होनेपर चलित या नष्ट होता, न मर्यादित या संकुचित होता और न मलिन होता है। प्रश्न होता है कि जीवन-शक्तिके यथार्थ अनुभवमें ऐसा कौन-सा तत्त्व है जिससे वह सदा स्थिर, व्यापक और शुद्ध ही बना रहता है? इसका उत्तर पानेके लिए हमें जीवन-शक्तिके स्वरूपपर थोड़ा-सा विचार करना होगा।

हम अपने आप सोचें और देखें कि जीवन-शक्ति क्या वस्तु है। कोई भी समझदार श्वासोच्छ्वास या प्राणको जीवनकी मूलाधार शक्ति नहीं मान सकता, क्योंकि कभी कभी ध्यानकी विशिष्ट अवस्थामें प्राण संचारके चालू न रहनेपर भी जीवन बना रहता है। इससे मानना पड़ता है कि प्राणसंचाररूप जीवनकी प्रेरक या आधारभूत शक्ति कोई और ही है। अभी तकके सभी आध्यात्मिक सूक्ष्म अनुभवियोंने उस आधारभूत शक्तिको चेतना कहा है। चेतना एक ऐसी स्थिर और प्रकाशमान शक्ति है जो दैहिक, मानसिक और ऐंद्रिक आदि सभी कार्योंपर ज्ञानका, परिज्ञानका प्रकाश अनवरत डालती रहती है। इन्द्रियाँ कुछ

भी प्रवृत्ति क्यों न करें, मन कहीं भी गति क्यों न करे, देह किसी भी व्यापारका क्यों न आचरण करे, पर उस सबका सतत भान किसी एक शक्तिको थोड़ा बहुत होता ही रहता है। हम प्रत्येक अवस्थामें अपनी दैहिक, ऐन्द्रिक और मानसिक क्रियासे जो थोड़े बहुत परिचित रहा करते हैं, सो किस कारणसे? जिस कारणसे हमें अपनी क्रियाओंका संवेदन होता है वही चेतना शक्ति है और हम इससे अधिक या कम कुछ भी नहीं हैं। और कुछ हो या न हो, पर हम चेतनाशून्य कभी नहीं होते। चेतनाके साथ ही साथ एक दूसरी शक्ति और ओतप्रोत है जिसे हम संकल्प शक्ति कहते हैं। चेतना जो कुछ समझती सोचती है उसको क्रियाकारी बनानेका या उसे मूर्तरूप देनेका चेतनाके साथ अन्य कोई बल न होता तो उसकी सारी समझ बेकार होती और हम जहाँके तहाँ बने रहते। हम अनुभव करते हैं कि समझ, जानकारी या दर्शनके अनुसार यदि एक बार संकल्प हुआ तो चेतना पूर्णतया कार्याभिमुख हो जाती है। जैसे कूदनेवाला संकल्प करता है तो सारा बल संचित होकर उसे कुदा डालता है। संकल्प शक्तिका कार्य है बलको बिखरनेसे रोकना। संकल्पसे संचित बल संचित भाफ़के बल जैसा होता है। संकल्पकी मदद मिली कि चेतना गतिशील हुई और फिर अपना साध्य सिद्ध करके ही संतुष्ट हुई। इस गतिशीलताको चेतनाका वीर्य समझना चाहिए। इस तरह जीवन-शक्तिके प्रधान तीन अंश हैं—चेतना, संकल्प और वीर्य या बल। इस त्रिअंशी शक्तिको ही जीवन-शक्ति समझिए, जिसका अनुभव हमें प्रत्येक छोटे बड़े सर्जन-कार्यमें होता है। अगर समझ न हो, संकल्प न हो और पुरुषार्थ—वीर्यगति—न हो तो कोई भी सर्जन नहीं हो सकता। ध्यानमें रहे कि जगतमें ऐसा कोई छोटा-बड़ा जीवनधारी नहीं है जो किसी न किसी प्रकार सर्जन न करता हो। इससे प्राणीमात्रमें उक्त त्रिअंशी जीवन-शक्तिका पता चल जाता है। यों तो जैसे हम अपने आपमें प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वैसे ही अन्य प्राणियोंके सर्जन-कार्यसे भी उनमें मौजूद उस शक्तिका अनुमान कर सकते हैं। फिर भी उसका अनुभव, और सो भी यथार्थ अनुभव, एक अलग वस्तु है।

यदि कोई सामने खड़ी दीवालसे इन्कार करे, तो हम उसे मानेंगे नहीं। हम तो उसका अस्तित्व ही अनुभव करेंगे। इस तरह अपनेमें और दूसरोंमें मौजूद उस त्रिअंशी शक्तिके अस्तित्वका, उसके सामर्थ्यका अनुभव करना जीवन-शक्तिका यथार्थ अनुभव है।

जब ऐसा अनुभव प्रकट होता है तब अपने आपके प्रति और दूसरोंके प्रति जीवन-दृष्टि बदल जाती है। फिर तो ऐसा भाव पैदा होता है कि सर्वत्र त्रिअंशी

जीवन-शक्ति (सच्चिदानन्द) या तो अखण्ड या एक है या सर्वत्र समान है। किसीको संस्कारानुसार अभेदानुभव हो या किसीको साम्यानुभव, पर परिणाममें कुछ भी फर्क नहीं होता। अभेद-दृष्टि धारण करनेवाला दूसरोंके प्रति वही जवाबदेही धारण करेगा जो अपने प्रति। वास्तवमें उसकी जवाबदेही या कर्तव्य-दृष्टि अपने परायेके भेदसे भिन्न नहीं होती, इसी तरह साम्य दृष्टि धारण करनेवाला भी अपने परायेके भेदसे कर्तव्य दृष्टि या जवाबदेहीमें तारतम्य नहीं कर सकता।

मोहकी कोटिमें आनेवाले भावोंसे प्रेरित उत्तरदायित्व या कर्तव्य-दृष्टि एकसी अखण्ड या निरावरण नहीं होती जब कि जीवन शक्तिके यथार्थ अनुभवसे प्रेरित उत्तरदायित्व या कर्तव्य-दृष्टि सदा एक-सी और निरावरण होती है क्योंकि वह भाव न तो राजस अंशसे आता है और न तामस अंशसे अभिभूत हो सकता है। वह भाव साहजिक है, सात्विक है।

मानवजातिको सबसे बड़ी और कीमती जो कुदरती देन मिली है वह है उस साहजिक भावको धारण करने या पैदा करनेकी सामर्थ्य या योग्यता जो विकासका—असाधारण विकासका—मुख्य साधन है। मानव-जातिके इतिहासमें बुद्ध, महावीर आदि अनेक सन्त-महन्त हो गए हैं, जिन्होंने हजारों विघ्न-बाधाओंके होते हुए भी मानवताके उद्धारकी जवाबदेहीसे कभी मुँह न मोड़ा। अपने शिष्यके प्रलोभनपर सॉक्रेटीस मृत्युमुखमें जानेसे बच सकता था पर उसने शारीरिक जीवनकी अपेक्षा आध्यात्मिक सत्यके जीवनको पसन्द किया और मृत्यु उसे डरा न सकी। जीसिसने अपना नया प्रेम-सन्देश देनेकी जवाबदेहीको अदा करनेमें शूलीको सिंहासन माना। इस तरहके पुराने उदाहरणोंकी सचाईमें सन्देहको दूर करनेके लिए ही मानो गाँधीजीने अभी-अभी जो चमत्कार दिखाया है वह सर्वविदित है। उनको हिन्दुत्व-आर्यत्वके नामपर प्रतिष्ठाप्राप्त ब्राह्मणों और श्रमणोंकी सैकड़ों कुरूढ़ि पिशाचियाँ चलित न कर सकीं। न तो हिंदू-मुसलमानोंकी दण्डादण्डी या शस्त्राशस्त्रीने उन्हें कर्तव्य-चलित किया और न उन्हें मृत्यु ही डरा सकी। वे ऐसे ही मनुष्य थे जैसे हम। फिर क्या कारण है कि उनकी कर्तव्य-दृष्टि या जवाबदेही ऐसी स्थिर, व्यापक और शुद्ध थी और हमारी इसके विपरीत। जवाब सीधा है कि ऐसे पुरुषोंमें उत्तरदायित्व या कर्तव्य-दृष्टिका प्रेरक भाव जीवन-शक्तिके यथार्थ अनुभवमेंसे आता है जो हममें नहीं है।

ऐसे पुरुषोंको जीवन-शक्तिका जो यथार्थ अनुभव हुआ है उसीको जुदे-जुदे दार्शनिकोंने जुदी-जुदी परिभाषामें वर्णन किया है। उसे कोई आत्म-साक्षात्कार

कहता है, कोई ब्रह्म-साक्षात्कार और कोई ईश्वर-दर्शन, पर इससे वस्तुमें अन्तर नहीं पड़ता। हमने ऊपरके वर्णनमें यह बतलानेकी चेष्टा की है कि मोहजनित भावोंकी अपेक्षा जीवन-शक्तिके यथार्थ अनुभवका भाव कितना और क्यों श्रेष्ठ है और उससे प्रेरित कर्तव्य-दृष्टि या उत्तरदायित्व कितना श्रेष्ठ है। जो वसुधाको कुटुम्ब समझता है, वह उसी श्रेष्ठ भावके कारण। ऐसा भाव केवल शब्दोंसे आ नहीं सकता। वह भीतरसे उगता है और वही मानवीय पूर्ण विकासका मुख्य साधन है। उसीके लाभके निमित्त अध्यात्म-शास्त्र है, योगमार्ग है, और उसीकी साधनामें मानव-जीवनकी कृतार्थता है।

ई० १९५०] [संपूर्णानन्द-अभिनन्दन ग्रन्थ

जीवन-दृष्टिमें मौलिक परिवर्त्तन

इतिहासके आरम्भमें वर्त्तमान जीवन-पर ही अधिक भार दिया जाता था। पारलौकिक जीवनकी बात हम सुख-सुविधामें और फुर्सतके समय ही करते थे। वेदोंके कथनानुसार 'चरवैति चरैवैति चराति चरतो भगः' (अर्थात् चलो, चलो, चलनेवालेका ही भाग्य चलता है) को ही हमने जीवनका मूलमन्त्र माना है।

पर आज हमारी जीवन-दृष्टि बिलकुल बदल गई है। आज हम इस जीवनकी उपेक्षा कर परलोकका जीवन सुधारनेकी ही विशेष चिन्ता करते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि जीवनमें परिश्रम और पुरुषार्थ करनेकी हमारी आदत बिलकुल छूट गई है। पुरुषार्थकी कमीसे हमारा जीवन बिलकुल कृत्रिम और खोखला होता जा रहा है। जिस प्रकार जङ्गलमें चरनेवाली गाय-बकरीकी अपेक्षा घरपर बँधी रहनेवाली गाय-बकरीका दूध कम लाभदायक होता है, उसी प्रकार घरमें कैद रहनेवाली स्त्रियोंकी सन्तान भी शक्तिशाली नहीं हो सकती। पहले क्षत्रियोंका बल-विक्रम प्रसिद्ध था, पर अब विलासिता और अकर्मण्यतामें पले राजा-रईसोंके बच्चे बहुत ही अशक्त और पुरुषार्थहीन होते हैं। आगेके क्षत्रियोंकी तरह न तो वे लम्बी पैदलयात्रा या घुड़सवारी कर सकते हैं और न और कोई श्रम ही। इसी प्रकार वैश्योंमें भी पुरुषार्थकी हानि हुई है। पहले वे अरब, फारस, मिस्र, बाली, सुमात्रा, जावा आदि दूर-दूरके स्थानोंमें जाकर व्यापार-वाणिज्य करते थे। पर अब उनमें वह पुरुषार्थ नहीं है, अब तो उनमेंसे अधिकांशकी तोंदें आराम-तलबी और आलस्यके कारण बढ़ी हुई नजर आती हैं।

आज तो हम जिसे देखते हैं वही पुरुषार्थ और कर्म करनेके बजाय धर्म-कर्म और पूजा-पाठके नामपर ज्ञानकी खोजमें व्यस्त दीखता है। परमेश्वरकी भक्ति तो उसके गुणोंका स्मरण, उसके रूपकी पूजा और उसके प्रति श्रद्धामें है। पूजाका मूलमन्त्र है 'सर्वभूतहिते रतः' (सब भूतोंके हितमें रत है)—अर्थात् हम सब लोगोंके साथ अच्छा बर्ताव करें, सबके कल्याणकी बात सोचें। और सच्ची भक्ति तो सबके सुखमें नहीं, दुःखमें साझीदार होनेमें है। ज्ञान है आत्म-ज्ञान; जड़से भिन्न, चेतनका बोध ही तो सच्चा ज्ञान है। इसलिए चेतनके प्रति ही हमारी अधिक श्रद्धा होना चाहिए, जड़के प्रति कम। पर इस बातकी कसौटी क्या है कि हमारी श्रद्धा जड़में ज्यादा है या चेतनमें? उदा-

हरणके रूपमें मान लीजिए कि एक बच्चेने किसी धर्म-पुस्तकपर पाँव रख दिया। इस अपराधपर हम उसको तमाचा मार देते हैं। क्योंकि हमारी निगाहमें जड़ पुस्तकसे चेतन लड़का हेच है।

यदि सही मानोंमें हम ज्ञान-मार्गका अनुसरण करें, तो सद्गुणोंका विकास होना चाहिए। पर होता है उलटा। हम ज्ञान-मार्गके नामपर वैराग्य लेकर लँगोटी धारण कर लेते हैं, शिष्य बनाते हैं और अपनी इहलौकिक जिम्मेदारियोंसे छुट्टी ले लेते हैं। दरअसल वैराग्यका अर्थ है जिसपर राग हो, उससे विरत होना। पर हम वैराग्य लेते हैं उन जिम्मेदारियोंसे, जो आवश्यक हैं और उन कामोंसे, जो करने चाहिए। हम वैराग्यके नामपर अपंग पशुओंकी तरह जीवनके कर्म-मार्गसे हट कर दूसरोंसे सेवा करानेके लिए उनके सिरपर सवार होते हैं। वास्तवमें होना तो यह चाहिए कि पारलौकिक ज्ञानसे इहलोकके जीवनको उच्च बनाया जाए। पर उसके नामपर यहाँके जीवनकी जो जिम्मेदारियाँ हैं, उनसे मुक्ति पानेकी चेष्टाकी जाती है।

लोगोंने ज्ञान-मार्गके नामपर जिस स्वार्थान्धता और विलासिताको चरितार्थ किया है, उसका परिणाम स्पष्ट हो रहा है। इसकी ओटमें जो कविताएँ रची गईं, वे अधिकांशमें शृंगार-प्रधान हैं। तुकारामके भजनों और बाउलोंके गीतोंमें जिस वैराग्यकी छाप है, साफ-सीधे अर्थमें उनमें बल या कर्मकी कहीं गन्ध भी नहीं। उनमें है यथार्थवाद और जीवनके स्थूल सत्यसे पलायन। यही बात मन्दिरों और मठोंमें होनेवाले कीर्त्तनोंके संबन्धमें भी कही जा सकती है। इतिहासमें मठों और मन्दिरोंके ध्वंसकी जितनी घटनाएँ हैं, उनमें एक बात तो बहुत ही स्पष्ट है कि दैवी शक्तिकी दुहाई देनेवाले पुजारियों या साधुओंने उनकी रक्षाके लिए कभी अपने प्राण नहीं दिए। बख्तियार खिलजीने दिल्लीसे सिर्फ १६ घुड़सवार लेकर बिहार-युक्तप्रान्त आदि जीते और बङ्गालमें जाकर लक्ष्मणसेनको पराजित किया। जब उसने सुना कि परलोक सुधारनेवालोंके दानसे मन्दिरोंमें बड़ा धन जमा है, मूर्तियों तकमें रत्न भरे हैं तो उसने उन्हें लूटा और मूर्त्तियोंको तोड़ा।

ज्ञान-मार्गके ठेकेदारोंने जिस तरहकी संकीर्णता फैलाई, उससे उन्हींका नहीं, न जाने कितनोंका जीवन दुःखमय बना। उड़ीसाका कालापहाड़ ब्राह्मण था, पर उसका एक मुसलमान लड़कीसे प्रेम हो गया। भला ब्राह्मण उसे कैसे स्वीकार कर सकते थे? उन्होंने उसे जातिच्युत कर दिया। उसने लाख मिन्नतें-खुशामदें की, माफ़ी माँगी; पर कोई सुनवाई नहीं हुई। अन्तमें उसने कहा कि यदि मैं पापी होऊँ, तो जगन्नाथकी मूर्त्ति मुझे दण्ड देगी। पर मूर्ति क्या दण्ड

देती ? आखिर वह मुसलमान हो गया। फिर उसने केवल जगन्नाथकी मूर्ति ही नहीं, अन्य सैकड़ों मूर्तियाँ तोड़ीं और मंदिरों को लूटा। ज्ञान-मार्ग और परलोक सुधारनेके मिथ्या आयोजनोंकी संकीर्णताके कारण ऐसे न-जाने कितने अनर्थ हुए हैं और ढोंग-पाखण्डोंको प्रश्रय मिला है। पहले शाकद्वीपी ब्राह्मण ही तिलक-चन्दन लगा सकता था। फल यह हुआ कि तिलक-चन्दन लगानेवाले सभी लोग शाकद्वीपी ब्राह्मण गिने जाने लगे। प्रतिष्ठाके लिए यह दिखावा इतना बढ़ा कि तीसरी-चौथी शताब्दीमें आए हुए विदेशी पादरी भी दक्षिणमें तिलक-जनेऊ रखने लगे।

ज्ञान-मार्गकी रचनात्मक देन भी है। उससे सद्गुणोंका विकास हुआ है। परन्तु परलोकके ज्ञानके नामसे जो सद्गुणोंका विकास हुआ है, उसके उपयोगका क्षेत्र अब बदल देना चाहिए। उसका उपयोग हमें इसी जीवनमें करना होगा। राकफेलरका उदाहरण हमारे सामने है। उसने बहुत-सा दान दिया, बहुत-सी संस्थाएँ खोलीं। इसलिए नहीं कि उसका परलोक सुधरे, बल्कि इसलिए कि बहुतोंका इहलोक सुधरे। सद्गुणोंका यदि इस जीवनमें विकास हो जाए, तो वह परलोक तक भी साथ जाएगा। सद्गुणोंका जो विकास है, उसको वर्त्तमान जीवनमें लागू करना ही सच्चा धर्म और ज्ञान है। पहले खान-पानकी इतनी सुविधा थी कि आदमीको अधिक पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। यदि उस समय आजकल जैसी खान-पानकी असुविधा होती, तो वह शायद और अधिक पुरुषार्थ करता। पर आज तो यह पुरुषार्थकी कमी ही जनताकी मृत्यु है।

पहले जो लोग परलोक-ज्ञानकी साधनामें विशेष समय और शक्ति लगाते थे, उनके पास समय और जीवनकी सुविधाओंकी कमी नहीं थी। जितने लोग यहाँ थे, उनके लिए काफी फल और अन्न प्राप्त थे। दुधारू पशुओंकी भी कमी न थी, क्योंकि पशुपालन बहुत सस्ता था। चालीस हजार गौओंका एक गोकुल कहलाता था। उन दिनों ऐसे गोकुल रखनेवालोंकी संख्या कम न थी। मालवा, मेवाड़, मारवाड़ आदिकी गायोंके जो वर्णन मिलते हैं, उनमें गायोंके उदसकी तुलना सारनाथमें रखे 'घटोघ्नि' से की गई है। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि तब गौएँ कितना दूध देती थीं। कामधेनु कोई दैवी गाय न थी, बल्कि यह संज्ञा उस गायकी थी, जो चाहे जब दुहनेपर दूध देती थी और ऐसी गौओंकी कमी न थी। ज्ञान-मार्गके जो प्रचारक (ऋषि) जंगलोंमें रहते थे, उनके लिए कन्द-मूल, फल और दूधकी कमी न थी। त्यागका आदर्श उनके लिए था। उपवासकी उनमें शक्ति होती थी, क्योंकि

आगे-पीछे उनको पर्याप्त पोषण मिलता था। पर आज लोग शहरोंमें रहते हैं, पशु-धनका ह्रास हो रहा है और आदमी अशक्त एवं अकर्मण्य हो रहा है। बंगालके १९४३ के अकालमें भिखारियोंमेंसे अधिकांश स्त्रियाँ और बच्चे ही थे, जिन्हें उनके सशक्त पुरुष छोड़कर चले गए थे। केवल अशक्त बच रहे थे; जो भीख माँग कर पेट भरते थे।

मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि हमें अपनी जीवन-दृष्टिमें मौलिक परिवर्त्तन करना चाहिए। जीवनमें सद्गुणोंका विकास इहलोकको सुधारनेके लिए करना चाहिए। आज एक ओर हम आलसी, अकर्मण्य और पुरुषार्थहीन होते जा रहे हैं और दूसरी ओर पोषणकी कमी तथा दुर्बल सन्तानकी वृद्धि हो रही है। गाय रख कर घर-भरको अच्छा पोषण देनेके बजाय लोग मोटर रखना अधिक ज्ञानकी बात समझते हैं। यह खामखयाली छोड़नी चाहिए और पुरुषार्थवृत्ति पैदा करनी चाहिए। सद्गुणोंकी कसौटी वर्त्तमान जीवन ही है। उसमें सद्गुणोंको अपनाने, और उनका विकास करनेसे, इहलोक और परलोक दोनों सुधर सकते हैं।

सितम्बर १९४८] [नया समाज,

समाजको बदलो

'बदलना' प्रेरक क्रिया है, जिसका अर्थ है—बदल डालना। प्रेरक क्रिया-में अप्रेरक क्रियाका भाव भी समा जाता है; इसलिए उसमें स्वयं बदलना और दूसरेको बदलना ये दोनों अर्थ आ जाते हैं। यह केवल व्याकरण या शब्द-शास्त्रकी युक्ति ही नहीं है, इसमें जीवनका एक जीवित सत्य भी निहित है। इसीसे ऐसा अर्थविस्तार उपयुक्त मालूम होता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अनुभव होता है कि जो काम औरोंसे कराना हो और ठीक तरहसे कराना हो, व्यक्ति उसे पहले स्वयं करे। दूसरोंको सिखानेका इच्छुक स्वयं इच्छित विषयका शिक्षण लेकर—उसमें पारंगत या कुशल होकर ही दूसरोंको सिखा सकता है। जिस विषयका ज्ञान ही नहीं, अच्छा और उत्तम शिक्षक भी वह विषय दूसरेको नहीं सिखा सकता। जो स्वयं मैला-कुचैला हो, अंग अंगमें मैल भरे हो, वह दूसरोंको नहलाने जाएगा, तो उनको स्वच्छ करनेके बदले उनपर अपना मैल ही लगाएगा। यदि दूसरेको स्वच्छ करना है तो पहले स्वयं स्वच्छ होना चाहिए। यद्यपि कभी-कभी सही शिक्षण पाया हुआ व्यक्ति भी दूसरेको निश्चयके मुताबिक नहीं सिखा पाता, तो भी सिखानेकी या शुद्ध करनेकी क्रिया बिलकुल बेकार नहीं जाती, क्योंकि इस क्रियाका जो आचरण करता है, वह स्वयं तो लाभमें रहता ही है, पर उस लाभके बीज जल्द या देरसे, दिखाई दें या न दें, आस-पासके वातावरणमें भी अंकुरित हो जाते हैं।

स्वयं तैयार हुए बिना दूसरेको तैयार नहीं किया जा सकता, यह सिद्धान्त सत्य तो है ही, इसमें और भी कई रहस्य छिपे हुए हैं, जिन्हें समझनेकी जरूरत है। हमारे सामने समाजको बदल डालनेका प्रश्न है। जब कोई व्यक्ति समाज-को बदलना चाहता है और समाजके सामने शुद्ध मनसे कहता है—'बदल जाओ,' तब उसे समाजको यह तो बताना ही होगा कि तुम कैसे हो, और कैसा होना चाहिए। इस समय तुम्हारे अमुक-अमुक संस्कार हैं, अमुक-अमुक व्यवहार हैं, उन्हें छोड़कर अमुक-अमुक संस्कार और अमुक-अमुक रीतियाँ धारण करो। यहाँ देखना यह है कि समझनेवाला व्यक्ति जो कुछ कहना चाहता है, उसमें उसकी कितनी लगन है, उसके बारे में कितना जानता है, उसे उस वस्तुका कितना रंग लगा है, प्रतिकूल संयोगोंमें भी वह उस संबन्धमें कहाँतक टिका रहा है और उसकी समझ कितनी गहरी है। इन बातोंकी छाप समाजपर

पहले पड़ती है। सारे नहीं तो थोड़ेसे भी लोग जब समझते हैं कि कहनेवाला व्यक्ति सच्ची ही बात कहता है और उसका परिणाम उसपर दीखता भी है, तब उनकी वृत्ति बदलती है और उनके मनमें सुधारकके प्रति अनादरकी जगह आदर प्रकट होता है। भले ही वे लोग सुधारकके कहे अनुसार चल न सकें, तो भी उसके कथनके प्रति आदर तो रखने ही लगते हैं।

औरोंसे कहनेके पहले स्वयं बदल जानेमें एक लाभ यह भी है कि दूसरोंको सुधारने यानी समाजको बदल डालनेके तरीकेकी अनेक चाबियाँ मिल जाती हैं। उसे अपने आपको बदलनेमें जो कठिनाइयाँ महसूस होती हैं, उनका निवारण करनेमें जो ऊहापोह होता है, और जो मार्ग ढूँढ़े जाते हैं, उनसे वह औरोंकी कठिनाइयाँ भी सहज ही समझ लेता है। उनके निवारणके नए-नए मार्ग भी उसे यथाप्रसंग सूझने लगते हैं। इसलिए समाजको बदलनेकी बात कहनेवाले सुधारकको पहले स्वयं दृष्टांत बनना चाहिए कि जीवन बदलना जो कुछ है, वह यह है। कहनेकी अपेक्षा देखनेका असर कुछ और होता है और गहरा भी होता है। इस वस्तुको हम सभीने गाँधीजीके जीवनमें देखा है। न देखा होता तो शायद बुद्ध और महावीरके जीवन-परिवर्तनके मार्गके विषयमें भी संदेह बना रहता।

इस जगह मैं दो-तीन ऐसे व्यक्तियोंका परिचय दूँगा जो समाजको बदल डालनेका बीड़ा लेकर ही चले हैं। समाजको कैसे बदला जाए इसकी प्रतीति वे अपने उदाहरणसे ही करा रहे हैं। गुजरातके मूक कार्यकर्त्ता **रविशंकर महाराजको**—जो शुरूसे ही गाँधीजीके साथी और सेवक रहे हैं,—चोरी और खून करनेमें ही भरोसा रखनेवाली और उसीमें पुरुषार्थ समझनेवाली 'बारैया' जातिको सुधारनेकी लगन लगी। उन्होंने अपना जीवन इस जातिके बीच ऐसा ओतप्रोत कर लिया और अपनी जीवन-पद्धतिको इस प्रकार परिवर्तित किया कि धीरे-धीरे यह जाति आप ही आप बदलने लगी, खूनके गुनाह खुद-ब-खुद कबूल करने लगी और अपने अपराधके लिए सजा भोगनेमें भी गौरव मानने लगी। आखिरकर यह सारी जाति परिवर्तित हो गई।

रविशंकर महाराजने हाईस्कूलतक भी शिक्षा नहीं पाई, तो भी उनकी वाणी बड़े-बड़े प्रोफेसरों तकपर असर करती है। विद्यार्थी उनके पीछे पागल बन जाते हैं। जब वे बोलते हैं तब सुननेवाला समझता है कि महाराज जो कुछ कहते हैं, वह सत्य और अनुभवसिद्ध है। केन्द्र या प्रान्तके मन्त्रियों तक पर उनका जादू जैसा प्रभाव है। वे जिस क्षेत्रमें कामका बीड़ा उठाते हैं, उसमें बसनेवाले उनके रहन-सहनसे मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं—क्योंकि उन्होंने

पहले अपने आपको तैयार किया है—बदला है, और बदलनेके रास्तोंका—भेदों का अनुभव किया है। इसीसे उनकी वाणीका असर पड़ता है। उनके विषयमें कवि और साहित्यकार स्व० मेघाणीने 'माणसाईना दीवा' (मानवताके दीप) नामक परिचय-पुस्तक लिखी है। एक और दूसरी पुस्तक श्री बबलभाई मेहता-की लिखी हुई है।

दूसरे व्यक्ति हैं **सन्त बाल**, जो स्थानकवासी जैन साधु हैं। वे मुँहपर मुँहपत्ती, हाथमें रजोहरण आदिका साधु-वेष रखते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि बहुत ही आगे बढ़ी हुई है। वेष और पन्थके बाड़ोंको छोड़कर वे किसी अनोखी दुनियामें विहार करते हैं। इसीसे आज शिक्षित और अशिक्षित, सरकारी या गैरसरकारी, हिन्दू या मुसलमान स्त्री-पुरुष उनके वचन मान लेते हैं। विशेष रूपसे 'भालकी पट्टी' नामक प्रदेशमें समाज-सुधारका कार्य वे लगभग बारह वर्षोंसे कर रहे हैं। उस प्रदेशमें दो सौसे अधिक छोटे-मोटे गाँव हैं। वहाँ उन्होंने समाजको बदलनेके लिए जिस धर्म और नीतिकी नींवपर सेवाकी इमारत शुरू की है, वह ऐसी वस्तु है कि उसे देखनेवाले और जाननेवालेको आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। मन्त्री, कलेक्टर, कमिश्नर आदि सभी कोई अपना-अपना काम लेकर सन्त बालके पास जाते हैं और उनकी सलाह लेते हैं। देखनेमें सन्तबालने किसी पन्थ, वेष या बाह्य आचारका परिवर्त्तन नहीं किया परन्तु मौलिक रूपमें उन्होंने ऐसी प्रवृत्ति शुरू की है कि वह उनकी आत्मामें अधिवास करनेवाले धर्म और नीति-तत्त्वका साक्षात्कार कराती है और उनके समाजको सुधारने या बदलनेके दृष्टिबिन्दुको स्पष्ट करती है। उनकी प्रवृत्तिमें जीवन-क्षेत्रको छूनेवाले समस्त विषय आ जाते हैं। समाजकी सारी काया ही कैसे बदली जाए और उसके जीवनमें स्वास्थ्यका, स्वावलम्बनका वसन्त किस प्रकार प्रकट हो, इसका पदार्थ-पाठ वे जैन साधुकी रीतिसे गाँव-गाँव घूमकर, सारे प्रश्नोंमें सीधा भाग लेकर लोगोंको दे रहे हैं। इनकी विचारधारा जाननेके लिए इनका 'विश्व-वात्सल्य' नामक पत्र उपयोगी है और विशेष जानकारी चाहनेवालोंको तो उनके सम्पर्कमें ही आना चाहिए।

तीसरे भाई मुसलमान हैं। उनका नाम है **अकबर भाई**। उन्होंने भी, अनेक वर्ष हुए, ऐसी ही तपस्या शुरू की है। बनास तटके सम्पूर्ण प्रदेशमें उनकी प्रवृत्ति विख्यात है। वहाँ चोरी और खून करनेवाली कोली तथा ठाकु-रोंकी जातियाँ सैकड़ों वर्षोंसे प्रसिद्ध हैं। उनका रोजगार ही मानों यही हो गया है। अकबर भाई इन जातियोंमें नव-चेतना लाए हैं। उच्चवर्णके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भी जो कि अस्पृश्यता मानते चले आए हैं और दलित वर्गको

दबाते आए हैं, अकबर भाईको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। यह जानते हुए भी कि अकबर भाई मुसलमान हैं, कट्टर हिन्दू तक उनका आदर करते हैं। सब उन्हें 'नन्हें बापू' कहते हैं। अकबर भाईकी समाजको सुधारनेकी सूझ भी ऐसी अच्छी और तीव्र है कि वे जो कुछ कहते हैं या सूचना देते हैं, उसमें न्यायकी ही प्रतीति होती है। इस प्रदेशकी अशिक्षित और असंस्कारी जातियोंके हजारों लोग इशारा पाते ही उनके इर्द-गिर्द जमा हो जाते हैं और उनकी बात सुनते हैं। अकबर भाईने गाँधीजीके पास रह कर अपने आपको बदल डाला है—समझपूर्वक और विचारपूर्वक। गाँवोंमें और गाँवोंके प्रश्नोंमें उन्होंने अपने आपको रमा दिया है।

ऊपर जिन तीन व्यक्तियोंका उल्लेख किया गया है, वह केवल यह सूचित करनेके लिए कि यदि समाजको बदलना हो और निश्चित रूपसे नए सिरेसे गढ़ना हो, तो ऐसा मनोरथ रखनेवाले सुधारकोंको सबसे पहले अपने आपको बदलना चाहिए। यह तो आत्म-सुधारकी बात हुई। अब यह भी देखना चाहिए कि युग कैसा आया है। हम जैसे हैं, वैसेके वैसे रहकर अथवा परिवर्तनके कुछ पैबन्द लगाकर नये युगमें नहीं जी सकते। इस युगमें जीनेके लिए इच्छा और समझपूर्वक नहीं तो आखिर धक्के खाकर भी हमें बदलना पड़ेगा।

समाज और सुधारक दोनोंकी दृष्टिके बीच केवल इतना ही अन्तर है कि रूढ़िगामी समाज नवयुगकी नवीन शक्तियोंके साथ घिसटता हुआ भी उचित परिवर्तन नहीं कर सकता, ज्योंका त्यों उन्हीं रूढ़ियोंसे चिपटा रहता है और समझता है कि आजतक काम चला है तो अब क्यों नहीं चलेगा? फिर अज्ञानसे या समझते हुए भी रूढ़िके बन्धनवश सुधार करते हुए लोकनिन्दासे डरता है, जब कि सच्चा सुधारक नए युगकी नई ताकतको शीघ्र परख लेता है और तदनुसार परिवर्तन कर लेता है। वह न लोक-निन्दाका भय करता है, न निर्बलतासे झुकता है। वह समझता है कि जैसे ऋतुके बदलनेपर कपड़ोंमें फेरफार करना पड़ता है अथवा वय बढ़नेपर नए कपड़े सिलाने पड़ते हैं, वैसे ही नई परिस्थितिमें सुखसे जीनेके लिए उचित परिवर्तन करना ही पड़ता है और वह परिवर्तन कुदरतका या और किसी वस्तुका धक्का खाकर करना पड़े, इससे अच्छा तो यही है कि सचेत होकर पहलेसे ही समझदारीके साथ कर लिया जाए।

यह सब जानते हैं कि नये युगने हमारे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पाँव जमा

लिए हैं। जो पहले कन्या-शिक्षा नहीं चाहते थे, वे भी अब कन्याको थोड़ा बहुत पढ़ाते है। यदि थोड़ा-बहुत पढ़ाना जरूरी है तो फिर कन्याकी शक्ति देखकर उसे ज्यादा पढ़ानेमें क्या नुकसान है? जैसे शिक्षणके क्षेत्रमें वैसे ही अन्य मामलोंमें भी नया युग आया है। गाँवों या पुराने ढंगके शहरोंमें तो पर्देसे निभ जाता है, पर अब बम्बई, कलकत्ता या दिल्ली जैसे नगरोंमें निवास करना हो और वहाँ बन्द घरोंमें स्त्रियोंको पर्देमें रखनेका आग्रह किया जाए, तो स्त्रियाँ खुद ही पुरुषोंके लिए भाररूप बन जाती हैं और सन्तति दिनपर दिन कायर और निर्बल होती जाती है।

विशेषकर तरुण जन विधवाके प्रति सहानुभूति रखते हैं, परन्तु जब विवाहका प्रश्न आता है तो लोक-निन्दासे डर जाते हैं। डरकर अनेक बार योग्य विधवाकी उपेक्षा करके किसी अयोग्य कन्याको स्वीकार कर लेते हैं और अपने हाथसे ही अपना संसार बिगाड़ लेते हैं। स्वावलम्बी जीवनका आदर्श न होनेसे तेजस्वी युवक भी अभिभावकोंकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारके लोभसे, उनको राजी रखनेके लिए, रूढ़ियोंको स्वीकार कर लेते हैं और उनके चक्रको चालू रखनेमें अपना जीवन गँवा देते हैं। इस तरहकी दुर्बलता रखनेवाले युवक क्या कर सकते हैं? योग्य शक्ति प्राप्त करनेसे पूर्व ही जो कुटुम्ब-जीवनकी जिम्मेदारी ले लेते हैं, वे अपने साथ अपनी पत्नी और बच्चोंको भी खड्डेमें डाल देते हैं। महँगी और तङ्गीके इस जमानेमें इस प्रकारका जीवन अन्तमें समाजपर बढ़ता हुआ अनिष्ट भार ही है। पालन-पोषणकी, शिक्षा देनेकी और स्वावलम्बी होकर चलनेकी शक्ति न होनेपर भी जब मूढ़ पुरुष या मूढ़ दम्पति सन्ततिसे घर भर लेते हैं, तब वे नई सन्ततिसे केवल पहले की सन्ततिका नाश नहीं करते बल्कि स्वयं भी ऐसे फँस जाते हैं कि या तो मरते हैं या जीते हुए भी मुर्दोंके समान जीवन बिताते हैं।

खान-पान और पहनावेके विषयमें भी अब पुराना युग बीत गया है। अनेक बीमारियों और अपचके कारणोंमें भोजनकी अवैज्ञानिक पद्धति भी एक है। पुराने जमानेमें जब लोग शारीरिक मेहनत बहुत करते थे, तब गाँवोंमें जो पच जाता था, वह आज शहरोंके 'बैठकिए' जीवनमें पचाया नहीं जा सकता। अन्न और दुष्पच मिठाइयोंका स्थान वनस्पतियोंको कुछ अधिक प्रमाणमें मिलना चाहिए। कपड़ेकी मँहगाई या तंगीकी हम शिकायत करते हैं परन्तु बचे हुए समयका उपयोग कातनेमें नहीं कर सकते और निठल्ले रहकर मिलमालिकों या सरकारको गालियाँ देते रहते हैं। कम कपड़ोंसे कैसे निभाव करना, सादे

और मोटे कपड़ोंमें कैसे शोभित होना, यह हम थोड़ा भी समझ लें तो बहुत कुछ भार हलका हो जाए।

पुरुष पक्षमें यह कहा जा सकता है कि एक धोतीसे दो पाजामे तो बन ही सकते हैं और स्त्रियोंके लिए यह कहा जा सकता है कि बारीक और कीमती कपड़ोंका मोह घटाया जाए। साइकिल, ट्राम, बस जैसे वाहनोंकी भाग-दौड़में, बरसात, तेज हवा या आँधीके समयमें और पुराने ढंगके रसोई-घरमें स्टोव आदि सुलगाते समय स्त्रियोंकी पुरानी प्रथाका पहनावा (लहँगे-साड़ीका) प्रतिकूल पड़ता है। इसको छोड़कर नवयुगके अनुकूल पंजाबी स्त्रियों जैसा कोई पहनावा (कमसे कम जब बैठा न रहना हो) स्वीकार करना चाहिए।

धार्मिक एवं राजकीय विषयोंमें भी दृष्टि और जीवनको बदले बिना नहीं चल सकता। प्रत्येक समाज अपने पंथका वेश और आचरण धारण करनेवाले हर साधुको यहाँतक पूजता-पोषता है कि उससे एक बिलकुल निकम्मा, दूसरोंपर निर्भर रहनेवाला और समाजको अनेक वहमोंमें डाल रखनेवाला विशाल वर्ग तैयार होता है। उसके भारसे समाज स्वयं कुचला जाता है और अपने कन्धे-पर बैठनेवाले इस पंडित या गुरुवर्गको भी नीचे गिराता है।

धार्मिक संस्थामें किसी तरहका फेरफार नहीं हो सकता, इस झूठी धारणाके कारण उसमें लाभदायक सुधार भी नहीं हो सकते। पश्चिमी और पूर्वी पाकि-स्तानसे जब हिन्दू भारतमें आए, तब वे अपने धर्मप्राण मन्दिरों और मूर्तियोंको इस तरह भूल गए मानो उनसे कोई संबन्ध ही न हो। उनका धर्म सुखी हालतका धर्म था। रूढ़िगामी श्रद्धालु समाज इतना भी विचार नहीं करता कि उसपर निर्भर रहनेवाले इतने विशाल गुरुवर्गका सारी जिन्दगी और सारे समयका उपयोगी कार्यक्रम क्या है?

इस देशमें असाम्प्रदायिक राज्यतंत्र स्थापित है। इस लोकतंत्रमें सभीको अपने मत द्वारा भाग लेनेका अधिकार मिला है। इस अधिकारका मूल्य कितना अधिक है, यह कितने लोग जानते हैं? स्त्रियोंको तो क्या, पुरुषोंको भी अपने हकका ठीक-ठीक भान नहीं होता; फिर लोकतंत्रकी कमियाँ और शासनकी त्रुटियाँ किस तरह दूर हों?

जो गिने-चुने पैसेवाले हैं अथवा जिनकी आय पर्याप्त है, वे मोटरके पीछे जितने पागल हैं, उसका एक अंश भी पशु-पालन या उसके पोषणके पीछे नहीं। सभी जानते हैं कि समाज-जीवनका मुख्य स्तंभ दुधारू पशुओंका पालन

और संवर्धन है। फिर भी हरेक धनी अपनी पूँजी मकानमें, सोने-चाँदीमें, जवाहरातमें या कारखानेमें लगानेका प्रयत्न करता है परन्तु किसीको पशु-संवर्धन द्वारा समाजहितका काम नहीं सूझता। खेतीकी तो इस तरह उपेक्षा हो रही है मानो वह कोई कसाईका काम हो, यद्यपि उसके फलकी राह हरेक आदमी देखता है।

ऊपर निर्दिष्ट की हुई सामान्य बातोंके अतिरिक्त कई बातें ऐसी हैं जिन्हें सबसे पहले सुधारना चाहिए। उन विषयोंमें समाज जब तक बदले नहीं, पुरानी रूढ़ियाँ छोड़े नहीं, मानसिक संस्कार बदले नहीं, तब तक अन्य सुधार हो भी जाएँगे तो भी सबल समाजकी रचना नहीं हो सकेगी। ऐसी कई महत्वकी बातें ये हैं:—

१—हिन्दू धर्मकी पर्याय समझी जानेवाली ऊँच-नीचके भेदकी भावना, जिसके कारण उच्च कहानेवाले सवर्ण स्वयं भी गिरे हैं और दलित अधिक दलित बने हैं। इसीके कारण सारा हिन्दू-मानस मानवता-शून्य बन गया है।

२—पूँजीवाद या सत्तावादको ईश्वरीय अनुग्रह या पूर्वोपार्जित पुण्यका फल मान कर उसे महत्त्व देनेकी भ्रान्ति, जिसके कारण मनुष्य उचित रूपमें और निश्चिन्ततासे पुरुषार्थ नहीं कर सकता।

३—लक्ष्मीको सर्वस्व मान लेनेकी दृष्टि, जिसके कारण मनुष्य अपने बुद्धि-बल या तेजकी बजाय खुशामद या गुलामीकी ओर अधिक झुकता है।

४—स्त्री-जीवनके योग्य मूल्यांकनमें भ्रांति, जिसके कारण पुरुष और स्त्रियाँ स्वयं भी स्त्री-जीवनके पूर्ण विकासमें बाधा डालती हैं।

५—क्रियाकांड और स्थूल प्रथाओंमें धर्म मान बैठनेकी मूढ़ता, जिसके कारण समाज संस्कारी और बलवान बननेके बदले उल्टा अधिक असंस्कारी और सच्चे धर्मसे दूर होता जाता है।

समाजको बदलनेकी इच्छा रखनेवालेको सुधारके विषयोंका तारतम्य समझकर जिस बारेमें सबसे अधिक जरूरत हो और जो सुधार मौलिक परिवर्तन ला सकें उन्हें जैसे भी बने सर्वप्रथम हाथमें लेना चाहिए और वह भी अपनी शक्तिके अनुसार। शक्तिसे परेकी चीजें एक साथ हाथमें लेनेसे सम्भव सुधार भी रुके रह जाते हैं।

समाजको यदि बदलना हो तो उस विषयका सारा नक्शा अपनी दृष्टिके

सामने रखकर उसके पीछे ही लगे रहनेकी वृत्तिवाले उत्साही तरुण या तरुणियोंके लिए यह आवश्यक है कि वे प्रथम उस क्षेत्रमें ठोस काम करनेवाले अनुभवियोंके पास रहकर कुछ समयतक तालीम लें और अपनी दृष्टि स्पष्ट और स्थिर बनाएँ। इसके बिना प्रारम्भमें प्रकट हुआ उत्साह बीचमें ही मर जाता है या कम हो जाता है और रूढ़िगामी लोगोंको उपहास करनेका मौका मिलता है।

फरवरी १९५१] [तरुण,

बाल-दीक्षा

मैं बाल-दीक्षा विरोधके प्रश्नपर व्यापक दृष्टिसे सोचता हूँ। उसको केवल जैन-परम्परातक या किसी एक या दो जैन फिरकोंतक सीमित रखकर विचार नहीं करता क्योंकि बाल-दीक्षा या बाल-संन्यासकी वृत्ति एवं प्रवृत्ति करीब-करीब सभी त्याग-प्रधान परम्पराओंमें शुरूसे आजतक देखी जाती है, खासकर भारतीय संन्यास-प्रधान संस्थाओंमें तो इस प्रवृत्ति एव वृत्तिकी जड़ बहुत पुरानी है और इसके बलाबल तथा औचित्यानौचित्यपर हजारों वर्षोंसे चर्चा-प्रतिचर्चा भी होती आई है। इससे संबन्ध रखनेवाला पुराना और नया वाङ्मय व साहित्य भी काफी है।

भारतकी त्यागभूमि तथा कर्मभूमि रूपसे चिरकालीन प्रसिद्धि है। खुद बापूजी इसे ऐसी भूमि मानकर ही अपनी साधना करते रहे। हम सभी लोग अपने देशको त्यागभूमि व कर्मभूमि कहनेमें एक प्रकारके गौरवका अनुभव करते हैं। साथ ही जब त्यागी संस्थाके पोषणका या पुराने ढंगसे उसे निबाहनेका प्रश्न आता है तब उसे टालते हैं और बहुधा सामना भी करते हैं। यह एक स्पष्ट विरोध है। अतएव हमें सोचना होगा कि क्या वास्तवमें यह कोई विरोध है या विरोधाभास है तथा इसका रहस्य क्या है?

अपने देशमें मुख्यतया दो प्रकारकी धर्म संस्थाएँ रही हैं, जिनकी जड़ें तथागत बुद्ध और निर्ग्रंथनाथ महावीरसे भी पुरानी हैं। इनमेंसे एक गृहस्थाश्रम केंद्रित है और दूसरी है संन्यास व परिव्रज्या-केंद्रित। पहली संस्थाका पोषण और संवर्धन मुख्यतया वैदिक ब्राह्मणोंके द्वारा हुआ है, जिनका धर्म-व्यवसाय गृह्य तथा श्रौत यज्ञयागादि एवं तदनुकूल संस्कारोंको लक्ष्य करके चलता रहा है।

दूसरी संस्था शुरूमें और मुख्यतया ब्राह्मणेतर यानी वैदिकेतर, खासकर कर्मकांडीब्राह्मणेतर वर्गके द्वारा आविर्भूत हुई है। आज तो हम चार आश्रमके नामसे इतने अधिक सुपरिचित हैं कि हर कोई यह समझता है कि भारतीय प्रजा पहलेहीसे चतुराश्रम संस्थाकी उपासक रही है। पर वास्तवमें ऐसा नहीं है।

बाल-दीक्षा विरोधी सम्मेलन, जयपुरमें ता० १४-१०-४६ को सभापति-पदसे दिया हुआ भाषण।

गृहस्थाश्रम केंद्रित और संन्यासाश्रम केंद्रित दोनों संस्थाओंके पारस्परिक संघर्ष तथा आचार-विचारके आदान-प्रदानमेंसे यह चतुराश्रम संस्थाका विचार व आचार स्थिर हुआ है। पर, मूलमें ऐसा न था।

जो गृहस्थाश्रम केंद्रित संस्थाको जीवनका प्रधान अङ्ग समझते थे वे संन्यासका विरोध ही नहीं, अनादरतक करते थे। इस विषयमें गोभिल गृह्यसूत्र देखना चाहिये तथा शंकर-दिग्विजय। हम इस संस्थाके समर्थनका इतिहास शतपथ ब्राह्मण, महाभारत तथा पूर्वपक्ष रूपसे न्यायभाष्यतकमें पाते हैं। दूसरी ओरसे संन्यास-केन्द्रित संस्थाके पक्षपाती संन्यासपर इतना अधिक भार देते थे कि मानों समाजका जीवन-सर्वस्व ही वह हो। ब्राह्मण लोग वेद और वेदाश्रित कर्मकांडोंके आश्रयसे जीवन व्यतीत करते रहे, जो गृहस्थोंके द्वारा गृहस्थाश्रममें ही सम्भव है। इसलिये वे गृहस्थाश्रमकी प्रधानता, गुणवत्ता तथा सर्वोपयोगितापर भार देते आए। जिनके वास्ते वेदाश्रित कर्मकाण्डोंका जीवनपथ सीधे तौरसे खुला न था और जो विद्या-रुचि तथा धर्म-रुचिवाले भी थे, उन्होंने धर्म-जीवनके अन्य द्वार खोले जिनमेंसे क्रमशः आरण्यक धर्म, तापसधर्म, या टैगोरकी भाषामें 'तपोवन'की संस्कृतिका विकास हुआ है, जो सन्त संस्कृतिका मूल है। ऐसे भी वैदिक ब्राह्मण होते गए जो सन्त संस्कृतिके मुख्य स्तम्भ भी माने जाते हैं। दूसरी तरफसे वेद तथा वेदाश्रित कर्मकांडोंमें सीधा भाग ले सकनेका अधिकार न रखनेवाले अनेक ऐसे ब्राह्मणेतर भी हुए हैं जिन्होंने गृहस्थाश्रम-केन्द्रित धर्म-संस्थाको ही प्रधानता दी है। पर इतना निश्चित है कि अन्तमें दोनों संस्थाओंका समन्वय चतुराश्रम रूपमें ही हुआ है। आज कट्टर कर्मकाण्डी मीमांसक ब्राह्मण भी संन्यासकी अवगणना कर नहीं सकता। इसी तरह संन्यासका अत्यन्त पक्षपाती भी गृहस्थाश्रमकी उपयोगिताको इन्कार नहीं कर सकता। लम्बे संघर्षके बाद जो चतुराश्रम संस्थाका विचार भारतीय प्रजामें स्थिर व व्यापक हुआ है और जिसके द्वारा समग्र जीवनकी जो कर्म-धर्म पक्षका या प्रवृत्ति-निवृत्ति पक्षका विवेकयुक्त विचार हुआ है, उसीको अनेक विद्वान् भारतीय अध्यात्म-चिन्तनका सुपरिणाम समझते हैं। भारतीय वाङ्मय ही नहीं पर भारतीय जीवनतकमें जो चतुराश्रम संस्थाओंका विचारपूत अनुसरण होता आया है, उसके कारण भारतकी त्यागभूमि व कर्मभूमि रूपसे प्रतिष्ठा है।

आरण्यक, तपोवन या सन्त संस्कृतिका मूल व लक्ष्य अध्यात्म है। आत्मा-परमात्माके स्वरूपका चिन्तन तथा उसे पानेके विविध मार्गोंका अनुसरण ही सन्त-संस्कृतिका आधार है। इसमें भाषा, जाति, वेष, आदिका कोई बन्धन

नहीं। इससे इस संस्कृतिकी ओर पहले ही से साधारण जनताका झुकाव अधिकाधिक रहा है। अनुगामिनी जनता जितनी विशाल होती गई उतनी ही इस संस्कृतिके अवांतर नाना विध बाड़े बनते गए। कोई तपपर तो कोई ध्यानपर जोर देता है। कोई भक्तिपर तो कोई प्रत्यक्ष सेवाको विशेषता देता है, कोई नग्नत्वपर तो कोई कोपिनपर विशेष भार देता है। कोई मैले-कुचैले वस्त्रपर जोर देता है। कोई श्मशानवास तो कोई गुहावासकी बड़ाई करता है। जुदे जुदे बाह्य मार्गोंपर भार देनेवाले सन्त-साधुओंका सामान्य धोरण यह रहा है कि सब अपने-अपने पन्थके आचारोंका तथा अपने सात्त्विक विचारोंका प्रचार करनेके लिए अपने एक संघकी आवश्यकता महसूस करते रहे। धर्म-पुरुषोंकी चिन्ताका विषय यह रहा है कि हमारा पन्थ या हमारा धर्म-मार्ग अधिक फैले, विशेष लोकग्राह्य बने और अच्छे-अच्छे आदमी उसमें सम्मिलित हों। दूसरी ओरसे ऐसे अनेक आध्यात्मिक जिज्ञासु भी साधारण जनतामें निकलते आते रहे हैं जो सच्चे गुरुकी तलाशमें धर्म-पुरुषोंके समीप जाते और उनमेंसे किसी एकको गुरु रूपसे स्वीकार करते थे। गुरुओंकी आध्यात्मिकताके योग्य उम्मेदवारोंकी खोज और सच्चे उम्मेदवारोंकी सच्चे गुरुओंकी खोज इन पारस्परिक सापेक्ष भावनाओंसे गुरु-शिष्योंके संघकी संस्थाका जन्म हुआ है। ऐसे संघोंकी संस्था बहुत पुरानी है। बुद्ध और महावीरके पहले भी ऐसे अनेक संघ मौजूद थे और परस्पर प्रतिस्पर्धासे तथा धार्मिक भावके उद्रेकसे वे अपना-अपना आचार-विचार फैलाते रहे हैं। इन सन्त संघों या श्रमण-संघोंके सारे आचार-विचारका, जीवनका, उसके पोषण व संवर्धनका तथा उसकी प्रतिष्ठाका एकमात्र आधार योग्य शिष्यका संपादन ही रहा है क्योंकि ऐसे सन्त गृहस्थ न होनेसे सन्ततिवाले तो संभव ही न थे, और उन्हें अपना जीवन-कार्य चलाना तो था ही इसलिये उनको अनिवार्य रूपसे योग्य शिष्योंकी जरूरत होती थी। उस समय भारतकी स्थिति भी ऐसी थी कि धर्म-मार्गकी या आध्यात्मिक-मार्गकी पुष्टिके लिये आवश्यक सभी साधन सुलभ थे और धर्म-संघमें या गुरु-संघमें कितने ही क्यों न सम्मिलित हों पर सबका सम्मानपूर्वक निर्वाह भी सुसम्भव था। धर्म-संघमें ऐसे गम्भीर आध्यात्मिक पुरुष भी हो जाते थे कि जिनकी छायामें अनेक साधारण संस्कारवाले उम्मेदवारोंकी भी मनोवृत्ति किसी न किसी प्रकारसे विकसित हो जाती थी। क्योंकि एक तो उस समयका जीवन बहुत सादा था; दूसरे, अधिकतर निवास ग्राम व नगरोंके आकर्षणसे दूर था और तीसरे एकाध सच्चे तपस्वी आध्यात्मिक पुरुषका जीवनप्रद साहचर्य भी था। इस वातावरणमें बड़े-बड़े त्यागी संघ जमे थे। यही कारण है कि हम महावीर, बुद्ध, गोशालक, साँख्य-

परिव्राजक आदि अनेक संघ चारों ओर देश-भरमें फैले हुए शास्त्रोंमें देखते हैं।

आध्यात्मिक धर्म-संघोंमें तेजस्वी, देशकालज्ञ और विद्वान् गुरुओंके प्रभावसे आकृष्ट होकर अनेक मुमुक्षु ऐसे भी संघमें आते थे और दीक्षित होते थे कि जो उम्रमें ६, १० वर्षके भी हों, बिलकुल तरुण भी हों, विवाहित भी हों। इसी तरह अनेक मुमुक्षु स्त्रियाँ भी भिक्षुणी-संघमें दाखिल होती थीं, जो कुमारी, तरुणी और विवाहिता भी होती थीं। भिक्षुणी संघ केवल जैन परम्परामें ही नहीं रहा है बल्कि बौद्ध, सांख्य, आजीवक आदि अन्य त्यागी परम्पराओंमें भी रहा है। पुराने समयमें किशोर, तरुण, और प्रौढ़ स्त्री-पुरुष भिक्षु संघमें प्रविष्ट होते थे, यह बात निःशंक है। बुद्ध, महावीर आदिके बाद भी भिक्षु-भिक्षुणियोंका संघ इसी तरह बढ़ता व फैलता रहा है और हजारोंकी संख्यामें साधु-साध्वियोंका अस्तित्व पहलेसे आजतक बना भी रहा है। इसलिए यह तो कोई कह ही नहीं सकता और कहता भी नहीं कि बाल-दीक्षाकी प्रवृत्ति कोई नई वस्तु है, परम्परा सम्मत नहीं है, और पुरानी नहीं है।

दीक्षाके उद्देश्य अनेक हैं। इनमें मुख्य तो आत्मशुद्धिकी दृष्टिसे विविध प्रकारकी साधना करना ही है। साधनाओंमें तपकी साधना, विद्याकी साधना, ध्यान योगकी साधना इत्यादि अनेक शुभ साधनाओं का समावेश होता है जो सजीव समाजके लिये उपयोगी वस्तु है। इसलिए यह तो कोई कहता ही नहीं कि दीक्षा अनावश्यक है, और उसका वैयक्तिक जीवनमें तथा सामाजिक जीवनमें कोई स्थान ही नहीं। दीक्षा, संन्यास तथा अनगार जीवनका लोकमानसमें जो श्रद्धापूर्ण स्थान है उसका आधार केवल यही है कि जिन उद्देश्योंके लिये दीक्षा ली जानेका शास्त्रमें विधान है और परम्परामें समर्थन है, उन उद्देश्योंकी दीक्षाके द्वारा सिद्धि होना। अगर कोई दीक्षित व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, इस पंथका हो या अन्य पंथका, दीक्षाके उद्देश्योंकी साधना में ही लगा रहता है और वास्तविक रूपमें नए-नए क्षेत्रमें विकास भी करता है तो कोई भी उसका बहुमान किए बिना नहीं रहेगा। तब आज जो विरोध है, वह न तो दीक्षाका है और न दीक्षित व्यक्ति मात्रका है। विरोध है, तो केवल अकालमें दी जानेवाली दीक्षाका। जब पुराने समयमें और मध्यकालमें बालदीक्षाका इतना विरोध कभी नहीं हुआ था, तब आज इतना प्रबल विरोध वे ही क्यों कर रहे हैं जो दीक्षाको आध्यात्मिक शुद्धिका एक अंग मानते हैं और जो दीक्षित व्यक्तिका बहुमान भी करते हैं। यही आजके सम्मेलनका मुख्य विचारणीय प्रश्न है।

अब हम संक्षेपमें कुछ पुराने इतिहासको तथा वर्तमान कालकी परिस्थिति-

को ध्यानमें रखकर बाल-दीक्षाके हिमायतियोंकी ओरसे कहे जानेवाले बाल-दीक्षाके एक-एक उद्देश्यपर विचार करेंगे कि बाल-दीक्षाने वे उद्देश्य जैन परम्परामें कहाँ तक सिद्ध किए हैं ? इस विचारमें हम तुलनाके लिए अपनी सहचर और अति प्रसिद्ध ब्राह्मण परम्पराको तथा बौद्ध परम्पराको सामने रखेंगे जिसमें विचारक जैन साधु और गृहस्थ दोनोंके सामने विचारणीय चित्र उपस्थित हो।

पहिले हम विद्याकी साधनाको अर्थात् शास्त्राभ्यासको लेते हैं। सब कोई जानते हैं कि यज्ञोपवीतके समयसे अर्थात् लगभग दस वर्षकी उम्रमें ही माता-पिता अपने बटुकको ब्रह्मचारी बनाकर अर्थात् ब्रह्मचारीकी दीक्षा देकर विद्याके निमित्त विद्वान गुरुके पास इच्छापूर्वक भेजते हैं। वह बटुक बहुधा भिक्षा व मधुकरीपर रहकर वर्षोंतक विद्याध्ययन करता है। बारह वर्ष तो एक सामान्य मर्यादा है। ऐसे बटुक हजारों ही नहीं, लाखोंकी संख्यामें सारे देशमें यत्र-तत्र पढ़ते ही आये हैं। आजकी सर्वथा नवीन व परिवर्तित परिस्थितिमें भी ब्राह्मण परम्पराका वह विद्याध्ययन-यज्ञ न तो बन्द पड़ा है, न मन्द हुआ है, बल्कि नई-नई विद्याओंकी शाखाओंका समावेश करके और भी तेजस्वी बना है। यद्यपि इस समय बौद्ध मठ या गुरुकुल भारतमें नहीं बना है पर सीलोन, बर्मा, स्याम, चीन, तिब्बत आदि देशोंमें बौद्ध मठ व बौद्ध विद्यालय इतने अधिक और इतने बड़े हैं कि तिब्बतके किसी एक ही मठमें रहने तथा पढ़नेवाले बौद्ध विद्यार्थियोंकी संख्या जैन परम्पराके सभी फिरकोंके सभी साधु-साध्वियोंकी कुल संख्याके बराबरतक पहुँच जाती है। बौद्ध विद्यार्थी भी बाल-अवस्थामें ही मठोंमें रहने व पढ़ने जाते हैं। सामणेर या सेख बनकर भिक्षु वेषमें ही खास नियमानुसार रहकर भिक्षाके आधारपर जीवन बिताते व विद्याध्ययन करते हैं। लड़के ही नहीं, इसी तरह लड़कियाँ भी भिक्षुणी मठमें रहती व पढ़ती हैं। अब हम जैन परम्पराकी ओर देखें। यद्यपि जैन परम्परामें कोई ऐसा स्थायी मठ या गुरुकुल नहीं है जिसमें साधु-साध्वियाँ रहकर नियमित विद्याध्ययन कर सकें या करते हैं। पर हरेक फिरकेके साधु-साध्वी अपने पास दीक्षित होनेवाले बालक, तरुण आदि सभी उम्मेदवारोंको तथा दीक्षित हुए छोटे-बड़े साधु-साध्वी मण्डलको पढ़ाते हैं और खुद पढ़ा न सकें तो और किसी न किसी प्रकारका प्रबन्ध करते हैं। इस तरह ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों भारतीय जीवन परम्परामें विद्याध्ययनका मार्ग तो चालू है ही। खासकर बाल अवस्थामें तो इसका ध्यान विशेष रखा ही जाता है। यह सब होते हुए भी विद्याध्ययनके बारेमें जैन परम्परा कहाँ है इसपर कोई विचार करे तो वह शर्मिन्दा हुए बिना न रहेगा। विद्याध्ययनके इतने अधिक

निश्चिन्त सुभीते होनेपर भी तथा अध्ययनकी दृष्टिसे बाल्य-अवस्था अधिक उपयुक्त होनेपर भी जैन परम्पराने ऐसा एक भी विद्वान् साधु पैदा नहीं किया है जो ब्राह्मण परम्पराके विद्वान्के साथ बैठ सके। शुरूसे आजतक बाल-दीक्षा थोड़े बहुत परिमाणमें चालू रहनेपर भी उसका विद्या सम्बन्धी उद्देश्य शून्य-सा रहा है। विद्याके बारेमें जैन परम्पराने स्वावलम्बन पैदा नहीं किया, यही इस निर्बलताका सबूत है। जहाँ उच्च और गम्भीर विद्याके अध्ययनका प्रसंग आया, वहीं जैन साधु ब्राह्मण विद्वानोंका मुखापेक्षी हुआ और अब भी है। जिस फिरकेमें जितनी बाल-दीक्षाएँ अधिक, उस फिरकेमें उतना ही विद्याका विस्तार व गांभीर्य अधिक होना चाहिए और परमुखापेक्षिता कम होनी चाहिए। पर स्थिति इसके विपरीत है। इस बातको न तो साधु ही जानते हैं और न गृहस्थ ही। वे अपने उपाश्रय और भक्तोंकी चहारदिवारीके बाहरके जगतको जानते ही नहीं। केवल सिद्धसेन, समन्तभद्र अकलंक, हरिभद्र, हेमचन्द्र या यशोविजय के नाम व साहित्यसे आजकी बाल-दीक्षाका बचाव करना, यह तो राम-भरतके नाम और कामसे सूर्यवंशकी प्रतिष्ठाका बचाव करने जैसा है। जब बाल्यकालसे ही ब्राह्मण बटुकोंकी तरह बाल-जैन साधु-साध्वियाँ पढ़ते हैं और एकमात्र विद्याध्ययनका उद्देश्य रखते हैं तो क्या कारण है बाल-दीक्षाने विद्याकी कक्षाको जैन परम्परामें न तो उन्नत किया, न विस्तृत किया और न पहलेकी श्रुत परम्पराको ही पूरे ही तौरसे सम्भाले रखा।

दीक्षाका दूसरा उद्देश्य तप व त्याग बतलाया जाता है। मेरी तरह आपमें से अनेकोंने जैन परम्पराके तपस्वी साधु-साध्वियोंको देखा होगा। तीन, दो और एक मास तकके उपवास करनेवाले साधुओं और साध्वियोंको मैं जानता हूँ, उनके सहवासमें रहा हूँ; भक्तिसे रहा हूँ। तप्त टीनकी चद्दरपर धूपमें लेटनेवाले तथा अति संतप्त बालुकापर नंगे बदन लेटनेवाले जैन तपस्वियोंको भी मैंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया है, पर जब इतनी कठोर तपस्याका उनकी आत्मापर आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या हुआ, इसपर मध्यस्थ भावसे सोचने लगा तो मैं एक ही नतीजेपर आया हूँ कि जैन परम्परामें बाह्य तपका अभ्यास ही खूब हुआ है। इस विषयमें भगवान् महावीरके दीर्घतपस्वी विशेषणकी प्रतिष्ठा बना रखी है, पर जैन परम्परा भगवान् महावीरकी तपस्याका मर्म अपनानेमें निष्फल रही है। जिस एकांगी बाह्य तपको तापस तप की कोटिमें भगवान् ने रखा था, उसी का जैन परम्पराने विकास किया है, तपके आभ्यन्तर स्वरूपमें जो स्वाध्याय तथा ध्यानका महत्त्वपूर्ण स्थान है उसका बाल दीक्षा या प्रौढ़

दीक्षाने कोई विकास नहीं किया है। केवल देह-दमन और बाह्य तप ही अभिमानकी वस्तु हो तो इस दृष्टिसे भी जैन साधु-साध्वियाँ जैनेतर तपस्वी बाबाओंसे पीछे ही हैं। जैनेतर परम्परामें कैसा-कैसा देह-दमन और विवध प्रकारका बाह्य तप प्रचलित है! इसे जाननेके लिए हिमालय, विन्ध्याचल, चित्रकूट आदि पर्वतोंमें तथा अन्य एकांत स्थानोंमें जाकर देखना चाहिए। वहाँ हम आठ-आठ, दस-दस हजार फीटकी ऊँचाईपर बरफकी वर्षामें नङ्गे या एक कोपीन-धारी खाखी बाबाको देख सकते हैं। जिसने वर्तमान स्वामी रामदासका जीवन पढ़ा है, उनका परिचय किया है, वह जैन साधु-साध्वियोंके बाह्य तपको मृदु ही कहेगा। इसलिए केवल तपकी यशोगाथा गाकर जो श्रावक-श्राविकाओंको धोखेमें रखते हैं वे खुद अपनेको तथा तप-परम्पराको धोखा दे रहे हैं। तप बुरा नहीं, वह आध्यात्मिक तेजका उद्गम स्थान है, पर उसे साधनेकी कला दूसरी है जो आजकलका साधुगण भूल-सा गया है।

दीक्षाका खासकर बाल-दीक्षाका महान् उद्देश्य आध्यात्मिकताकी साधना है। इसमें ध्यान तथा योगका ही मुख्य स्थान है। पर क्या कोई यह बतला सकेगा कि इन जैन दीक्षितोंमेंसे एक भी साधु या साध्वी ध्यान या योग की सच्ची प्रक्रियाको स्वल्प प्रमाणमें भी जानता है? प्रक्रियाकी बात दूर रही, ध्यान-योग संबन्धी सम्पूर्ण साहित्यको भी क्या किसीने पढ़ा तक है? श्री अरविन्द, महर्षि रमण आदिके जीवित योगाभ्यासकी बात नहीं करता पर मैं केवल जैन शास्त्रमें वर्णित शुक्ल ध्यानके स्वरूपकी बात करता हूँ। इतनी शताब्दियों का शुक्ल ध्यान संबन्धी वर्णन पढ़िए। उसके जो शब्द ढाई हजार वर्ष पहले थे, वही आज हैं। अगर गुरू ही ध्यान तथा योगका पूरा शास्त्रीय अर्थ नहीं जानता, न तो वह उसकी प्रक्रियाको जानता है, तो फिर उसके पास कितने ही बालक-बालिकाएँ दीक्षित क्यों न हों; वे ध्यान-योगके शब्दका उच्चार छोड़कर क्या जान सकेंगे? यही कारण है कि दीक्षित व्यक्तियोंका आध्यात्मिक व मानसिक विकास रुक जाता है। इस तरह हम शास्त्राभ्यास, तात्त्विक त्यागाभ्यास या ध्यान-योगाभ्यासकी दृष्टिसे देखते हैं तो जैन त्यागियोंकी स्थिति दयनीय जँचती है। गुरू-गुरुणियोंकी ऐसी स्थितिमें छोटे-छोटे बालक-बालिकाओंको आजन्म नवकोटि संयम देनेका समर्थन करना, इसे कोई साधारण समझदार भी वाजिब न कहेगा।

बाल-दीक्षाकी असामयिकता और घातकताके और दो खास कारण हैं, जिनपर विचार किए बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। पुराने युगमें जैन गुरू वर्गका मुख अरण्य, वन और उपवनकी ओर था, नगर शहर आदिका अव-

लम्बन या वास नहीं था, जब कि आजके जैन गुरू वर्गका मुख नगर तथा शहरोंकी ओर है, अरण्य, वन और उपवनकी ओर तो साधु-साध्वियोंकी पीठ भर है, मुख नहीं। जिन कसबों, नगरों और शहरोंमें विकारकी पूर्ण सामग्री है उसीमें आजके बालक किशोर, तरुण साधु-साध्वियोंका जीवन व्यतीत होता है। वे जहाँ रहते हैं, जहाँ जाते हैं, वहाँ सर्वत्र ग्यारहवें गुणस्थानतक चढ़े हुए को भी गिरानेवाली सामग्री है। फिर जो साधु-साध्वियाँ छठे गुणस्थानका भी वास्तविक स्पर्श करनेसे दूर हैं, वे वैसी भोग सामग्रीमें अपना मन अविकृत रख सकें और आध्यात्मिक शुद्धि सँभाले रखें तो गृहस्थ अपने गृहस्थाश्रमकी भोग सामग्रीमें ही ऐसी स्थिति क्यों न प्राप्त कर सकें ? क्या वेष मात्रके बदल देनेमें ही या घर छोड़कर उपाश्रयकी शरण लेने मात्रमें ही कोई ऐसा चमत्कार है जो आध्यात्मिक शुद्धि साध दे और मनको विकृत न होने दे।

बाल-दीक्षाके विरोधका दूसरा सबल कारण यह है कि जैन दीक्षा आजन्म ली जाती है। जो स्त्री-पुरुष साधुत्व धारण करता है, वह फिर इस जीवनमें साधु वेष छोड़कर जीवन बिताए तो उसका जीवन न तो प्रतिष्ठित समझा जाता है और न उसे कोई उपयोगी जीवन-व्यवसाय ही सरलतासे मिलता है। श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी सभी ऐसे व्यक्तियोंको अवगणना या उपेक्षा-की दृष्टिसे देखते हैं। फल यह होता है कि जो नाबालिग लड़का, लड़की उम्र होने पर या तारुण्य पाकर एक या दूसरे कारणसे साधु जीवनमें स्थिर नहीं रह सकते, उनको या तो साधुवेष धारण कर प्रछन्न रूपसे मलिन जीवन बिताना पड़ता है या वेष छोड़कर समाजमें तिरस्कृत जीवन बिताना पड़ता है। दोनों हालतोंमें मानवताका नाश है। अधिकतर उदाहरणोंमें यही देखा जाता है कि त्यागी वेषमें ही छिप कर नाना प्रकारकी भोगवासना तृप्त-की जाती है जिससे एक तरफसे ऐसे अस्थिर साधुओंका जीवन बर्बाद होता है और दूसरी तरफसे उनके संपर्कमें आए हुए अन्य स्त्री-पुरुषोंका जीवन बर्बाद हो जाता है। इस देशमें स्त्री-पुरुषोंके अस्वाभाविक शरीर-संबन्धके दूषणका जो फैलाव हुआ है, उसमें अनधिकार बाल-संन्यास और अपक्व संन्यासका बड़ा हाथ हैं। इस दोषकी जिम्मेवारी केवल मुसलमानोंकी नहीं है, केवल अन्य धर्मावलम्बी मठवासियों, बाबा-महंतोंकी भी नहीं है। इस जिम्मेवारी में जैन परम्पराकी अनधिकार, अकाल, अनवसर दीक्षाका भी खास हाथ है। इन सब कारणों पर विचार करनेसे तथा ऐसी स्थितिके अनुभवसे मेरा सुनिश्चित मत है कि बाल-दीक्षा धर्म और समाजके लिए ही नहीं, मानवताके लिये घातक है।

मैं दीक्षाको आवश्यक समझता हूँ। दीक्षित व्यक्तिका बहुमान करता हूँ

पर इस समय दीक्षा देनेका तथा दीक्षित व्यक्तियोंके जीवनका जो ढर्रा चल रहा है, उसे उस व्यक्तिकी दृष्टिसे, सामाजिक दृष्टिसे बिलकुल अनुपयोगी ही नहीं घातक समझता हूँ।

जो दीक्षा-शुद्धिके पक्षपाती हों, उनका भी इस शर्तपर समर्थन करनेको तैयार हूँ कि पहले तो साधु-संस्था वनवासिनी बने; दूसरे, दिनमें एक बार ही भोजन करे और मात्र एक प्रहर नींद ले, बाकीका समय केवल स्वाध्यायमें बिताए; तीसरे, वह या तो दिगम्बरत्व स्वीकार करे या वस्त्र धारण करे तो भी कमसे कम हाथ-कती मोटी खद्दरके दो या तीन वस्त्र रखें। आजकल मल-मल ही नहीं रेशमी कपड़े पहननेमें जो साधुओंकी और खास कर आचार्योंकी प्रतिष्ठा समझी जाती है, इसका त्याग-प्रधान दीक्षाके साथ क्या मेल है, मुझे कोई समझा सके तो मैं उसका आभार मानूंगा। जब आचार्य तक ऐसे आकर्षक कपड़ोंमें धर्मका महत्त्व और धर्मकी प्रभावना समझते हों, तब कच्ची उम्रमें दीक्षाके लिए आनेवाले बालक-बालिकाओंके मानस पर उसका क्या प्रभाव पड़ता होगा? इसका कोई विचार करता है? क्या केवल सब मानस-रोगोंका इलाज एक मात्र उपवास ही है। ऊपरकी तीन शर्तोंसे भी सबल और मुख्य शर्त तो यह है कि दीक्षित हुआ बाल, तरुण, प्रौढ़ या वृद्ध भिक्षु या भिक्षुणी दम्भसे जीवन न बिताए अर्थात् वह जब तक अपने मनसे आध्यात्मिक साधना चाहे करता रहे। उसके लिये आजीवन साधुवेशकी प्रतिज्ञाकी कैद न हो; वह अपनी इच्छासे साधु बना रहे। अगर साधु अवस्थामें संतुष्ट न हो सके तो उस अवस्थाको छोड़ कर जैसा चाहे वैसा आश्रम स्वीकार करे। फिर भी समाज में उसकी अवगणना या अप्रतिष्ठाका भाव न रहना चाहिए। जैसी उसकी योग्यता, वैसा उसको जीवन बितानेमें कोई अड़चन न होनी चाहिए। इतना ही नहीं बल्कि उसको समाजकी ओरसे आश्वासन मिलना चाहिये जिससे उस पर प्रतिक्रिया न हो। खास कर कोई साध्वी गृहस्थाश्रमकी ओर घूमना चाहे तो उसको इस तरह साथ मिलना चाहिये कि जिससे वह आर्त रौद्र ध्यानसे बच सके। समाजकी शोभा इसीमें है। बात यह है कि बौद्ध परम्परा जैसा शुरूसे ही आजीवन महाव्रतकी प्रतिज्ञा न लेनेका सामान्य नियम बनाएँ। जैसे-जैसे दीक्षामें स्थिरता होती जाए, वैसे-वैसे उसकी काल-मर्यादा बढ़ाएँ। आजीवन प्रतिज्ञा लाजमी न होनेसे सब दोषोंकी जड़ हिल जाती है।

सेवा-दृष्टिमें साधुओंका स्थान क्या है? इस मुद्दे पर हमने ऊपर विचार किया ही नहीं है। इस दृष्टिसे जब विचार करते हैं तब तो अनेक बालक-बालिकाओंको अकालमें, अपक्व मानसिक दशामें आजीवन प्रतिज्ञाबद्ध कर

लेना और फिर इधर या उधर कहींके न रखना, यह आत्मघातक दोष है। इसके उपरान्त दूसरा भी बड़ा दोष नजर आता है। वह यह कि ऐसी अकर्मण्य दीक्षित फौजको निभानेके वास्ते समाजकी बहुत बड़ी शक्ति बेकार ही खर्च हो जाती है। वह फौज सेवा करनेके बजाय केवल सेवा लेती ही रहती है। इस स्थितिका सुधार खुद अगुवे विचारक साधु-साध्वी एवं गृहस्थ श्रावक न करेंगे तो उनके आध्यात्मिक साम्यवादके स्थानमें लेनिन-स्टालिनका साम्यवाद इतनी त्वरासे आएगा कि फिर उनके किए कुछ न होगा।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि केवल जैन परम्पराको लेकर बाल-दीक्षाके प्रश्नपर मैं नहीं सोचता। तब इतने विस्तारसे जैन परम्पराकी बाल-दीक्षा संबन्धी स्थितिपर मैंने विचार क्यों किया और अन्य भारतीय संन्यास प्रधान परम्पराओंके बारेमें कुछ भी क्यों नहीं कहा ? ऐसा प्रश्न जरूर उठता है। इसका खुलासा यह है कि बौद्ध परम्परामें तो बाल-दीक्षाका दोष इसलिए तीव्र नहीं बनता कि उसमें दीक्षाके समय आजीवन प्रतिज्ञाका अनिवार्य नियम नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि अमुक समयतक भिक्षु या भिक्षुणी जीवन बिता कर जो अन्य आश्रमको स्वीकार करता है, उसके लिए अप्रतिष्ठाका भय नहीं है। अब रही वैदिक, शैव, वैष्णव, अवधूत, नानक उदासीन आदि अन्य परम्पराओंकी बात। इन परम्पराओंके अनुयायी सब मिलाकर करोड़ोंकी संख्यामें हैं। उन्हींका भारतमें हिन्दूके नामसे बहुमत है। इससे कोई छोटी उम्रका दीक्षित व्यक्ति उत्पथगामी बनता है या दीक्षा छोड़कर अन्य आश्रम स्वीकार करता है तो करोड़ोंकी अनुयायी संख्यापर उसका कोई दुष्परिणाम उतना नजर नहीं आता जितना छोटेसे जैन समाजपर नजर आता है। इसके सिवाय दो एक बातें और भी हैं। जैन परम्परामें जैसी भिक्षुणी संस्था है वैसी कोई बड़ी या व्यापक संन्यासिनी संस्था उक्त परम्पराओंमें नहीं है। इसलिए बालिका, त्यक्ता या विधवाकी दीक्षाके बाद जो अनर्थ जैन परम्परामें सम्भव है, कमसे कम वैसा अनर्थ उक्त परम्पराओंमें पुरुष बाल-दीक्षा होने पर भी होने नहीं पाता। उक्त वैदिक आदि संन्यास प्रधान परम्पराओंमें इतने बड़े समाज-सेवक पैदा होते हैं और इतने बड़े उच्च लेखक, विश्वप्रसिद्ध वक्ता और राजपुरुष भी पैदा होते हैं कि जिससे त्यागी संस्थाके सैंकड़ों दोष ढक जाते हैं और सारा हिन्दू समाज जैन समाजकी तरह एक सूत्रमें संगठित न होनेसे उन दोषोंको निभा भी लेता है। जैन परम्परामें साधु-साध्वी संघमें यदि रामकृष्ण, रामतीर्थ, विवेकानन्द, महर्षि रमण, श्री अरविन्द, कृष्ण मूर्ति, स्वामी ज्ञानानन्दजी, आदि जैसे साधु और भक्त मीराबाई जैसी एक-आध साध्वी भी होती तो आज बाल-दीक्षाका इतना विरोध नहीं होता!

हर एक फिरके गुरु अपने पासदीक्षित व्यक्तियोंकी संख्याका बड़ा ध्यान रखता है। भक्तोंसे कहता रहता है कि मेरे परिवारमें इतने चेले, इतनी चेलियाँ हैं। जिस गुरु या आचार्यके पास दीक्षा लेनेवालोंकी संख्या जितनी बड़ी, उसकी उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा समाजमें प्रचलित है। यह भी अनुयायियोंमें संस्कार सा पड़ गया है कि वे अपने गच्छ या फिर्केमें दीक्षित व्यक्तियोंकी बड़ी संख्यामें गौरव लेते हैं। पर कोई गुरु, कोई गुरुणी या कोई आचार्य या कोई संघपति गृहस्थ कभी इस बातको जाहिरा प्रसिद्ध नहीं करता, खुले दिलसे बिना हिचकिचाये नहीं बोलता कि उसके शिष्य परिवारोंमेंसे या उसके साधु-मण्डलमें से कितनोंने दीक्षा छोड़ दी, दीक्षा छोड़कर वे कहाँ गए, क्या करते हैं और दीक्षा छोड़नेका सच्चा कारण क्या है? इन बातोंके प्रकट न होनेसे तथा उनकी सच्ची जानकारी न होनेसे श्रावक समाज अँधेरेमें रहता है। दीक्षा छोड़नेके जो कारण हों, वे चालू ही नहीं बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ते ही रहते हैं। दीक्षा छोड़नेवालोंकी स्थिति भी खराब होती जाती है। उतने अंशमें समाज भी निर्बल पड़ता जाता है। समझदारोंकी श्रद्धा बिलकुल उठती जाती नजर आती है और साथ ही साथ अविचारी दीक्षा देनेका सिलसिला भी जारी रहता है। यह स्थिति बिना सुधरे कभी धर्म-तेज सुरक्षित रह नहीं सकता। इसलिए हर एक समझदार संघके अगुवे तथा जवाबदेह धार्मिक स्त्री-पुरुषका यह फर्ज है कि वह दीक्षा त्यागके सच्चे कारणोंकी पूरी जाँच करे और आचार्य या गुरुको ही दीक्षा-त्यागसे उत्पन्न दुष्परिणामोंका जवाबदेह समझे। ऐसा किए बिना कोई गुरु या आचार्य न तो अपनी जवाबदारी समझेगा न स्थितिका सुधार होगा। उदाहरणार्थ, सुननेमें आया कि तेरापन्थमें १८०० व्यक्तियोंकी दीक्षा हुई जिनमेंसे २५० के करीब निकल गए। अब सवाल यह है कि २५० के दीक्षा-त्यागकी जवाबदेही किसकी? अगर १८०० व्यक्तियोंको दीक्षा देनेमें तेरापन्थके आचार्योंका गौरव है, तो २५० के दीक्षा-त्यागका कलंक किसके मत्थे समझना चाहिए? मेरी रायमें दीक्षित व्यक्तियोंके ब्यौरेकी अपेक्षा दीक्षा-त्यागी व्यक्तियोंके पूरे ब्यौरेका मूल्य संघ और समाजके श्रेयकी दृष्टिसे अधिक है क्योंकि तभी संघ और समाजके जीवनमें सुधार सम्भव है। जो बात तेरापन्थके विषयमें है, वही अन्य फिरकोंके बारेमें भी सही है।

दिसम्बर १९४९] [तरुण,

धर्म और विद्याका तीर्थ—वैशाली।

उपस्थित सज्जनो,

जबसे वैशाली संघकी प्रवृत्तियोंके बारेमें थोड़ा बहुत जानता रहा हूँ तभीसे उसके प्रति मेरा सद्भाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। यह सद्भाव आखिर मुझे यहाँ लाया है। मैंने सोचकर यही तय किया कि अगर संघके प्रति सद्भाव प्रकट करना हो तो मेरे लिए संतोषप्रद मार्ग यही है कि मैं अपने जीवनमें अधिक बार नहीं तो कमसे कम एक बार, उसकी प्रवृत्तियोंमें सीधा भाग लूँ। संघके संचालकोंके प्रति आदर व कृतज्ञता दर्शानेका भी सीधा मार्ग यही है।

मानव मात्रका तीर्थ

दीर्घतपस्वी महावीरकी जन्म-भूमि और तथागत बुद्धकी उपदेश-भूमि होनेके कारण वैशाली विदेहका प्रधान नगर रहा है। यह केवल जैनों और बौद्धोंका ही नहीं, पर मानव-जातिका एक तीर्थ बन गया है। उक्त दोनों श्रमणवीरोंने करुणा तथा मैत्रीकी जो विरासत अपने-अपने तत्कालीन संघोंके द्वारा मानव जातिको दी थी उसीका कालक्रमसे भारत और भारतके बाहर इतना विकास हुआ है कि आजका कोई भी मानवतावादी वैशालीके इतिहासके प्रति उदासीन रह नहीं सकता।

मानवजीवनमें संबंध तो अनेक हैं, परन्तु चार संबंध ऐसे हैं जो ध्यान खींचते हैं—राजकीय, सामाजिक, धार्मिक और विद्याविषयक। इनमेंसे पहले दो स्थिर नहीं। दो मित्र नरपति या दो मित्र राज्य कभी मित्रतामें स्थिर नहीं। दो परस्परके शत्रु भी अचानक ही मित्र बन जाते हैं, इतना ही नहीं शासित शासक बन जाता है और शासक शासित। सामाजिक संबंध कितना ही निकटका और रक्तका हो तथापि यह स्थायी नहीं। हम दो चार पीढ़ी दूरके संबंधियोंको अकसर बिलकुल भूल जाते हैं। यदि संबंधियोंके बीच स्थान की दूरी हुई या आना-जाना न रहा तब तो बहुधा एक कुटुम्ब के व्यक्ति भी पारस्परिक संबंधको भूल जाते हैं। परन्तु धर्म और विद्याके संबंधकी बात निराली है। किसी एक धर्मका अनुगामी भाषा, जाति, देश, आदि बातोंमें उसी धर्मके दूसरे अनुगामियोंसे बिल्कुल ही जुदा हो तब भी उनके बीच धर्मका तांता ऐसा होता है मानों वे एक ही कुटुम्ब के हों। चीन, तिब्बत जैसे दूरवर्ती देशोंका बौद्ध जब सीलोन बर्मा आदिके बौद्धोंसे मिलेगा तब वह आत्मीयताका अनुभव करेगा।

भारतमें जन्मा और पला मुसलमान मक्का-मदीनाके मुसलमान अरबोंसे घनिष्ठता मानेगा। यह स्थिति सब धर्मोंकी अक्सर देखी जाती है। गुजरात, राजस्थान, दूर दक्षिण, कर्णाटक आदि के जैन कितनी ही बातों में भिन्न क्यों न हों पर वे सब भगवान् महावीरके धर्मानुयायीके नाते अपने में पूर्ण एकताका अनुभव करते हैं। भगवान् महावीरके अहिंसाप्रधान धर्मका पोषण, प्रचार वैशाली और विदेहमें ही मुख्यतया हुआ है। जैसे चीनी बर्मी आदि बौद्ध, सारनाथ, गया आदि को अपना ही स्थान समझते हैं, वैसे ही दूर-दूरके जैन महावीरके जन्मस्थान वैशालीको भी मुख्य धर्मस्थान समझते हैं और महावीरके धर्मानुगामी के नाते वैशालीमें और वैसे ही अन्य तीर्थोंमें बिहारमें मिलते हैं। उनके लिए बिहार और खासकर वैशाली मक्का या जेरुसेलम है। यह धार्मिक संबंध स्थायी होता है। कालके अनेक थपेड़े भी इसे क्षीण नहीं कर सके हैं और न कभी क्षीण कर सकेंगे। बल्कि जैसे-जैसे अहिंसाकी समझ और उसका प्रचार बढ़ता जाएगा वैसे-वैसे ज्ञातृपुत्र महावीरकी यह जन्मभूमि विशेष और विशेष तीर्थरूप बनती जाएगी।

हम लोग पूर्वके निवासी हैं। सोक्रेटिस, प्लेटो, एरिस्टोटेल आदि पश्चिमके निवासी। बुद्ध, महावीर, कणाद, अक्षपाद, शंकर, वाचस्पति आदि भारतके सपूत हैं, जिनका यूरोप, अमेरिका आदि देशोंसे कोई वास्ता नहीं। फिर भी पश्चिम और पूर्व के संबन्धको कभी क्षीण न होने देनेवाला तत्त्व कौन है, ऐसा कोई प्रश्न करे तो इसका जवाब एक ही है कि वह तत्त्व है विद्याका। जुदे-जुदे धर्मवाले भी विद्याके नाते एक हो जाते हैं। लड़ाई, आर्थिक खींचातानी, मतान्धता आदि अनेक विघातक आसुरी तत्त्व आते हैं तो भी विद्या ही ऐसी चीज है जो सब जुदाइयोंमें भी मनुष्य-मनुष्यको एक दूसरेके प्रति आदरशील बनाती है। अगर विद्याका संबन्ध ऐसा उज्ज्वल और स्थिर है तो कहना होगा कि विद्याके नाते भी वैशाली-विदेह और बिहार सबको एक सूत्रमें पिरोएगा क्योंकि वह विद्याका भी तीर्थ है।

महात्मा गांधीजीने अहिंसाकी साधना शुरू तो की दक्षिण अफ्रीकामें, पर उस अनोखे अस्त्र-शस्त्रका सीधा प्रयोग उन्होंने पहले पहल भारतमें शुरू किया, इसी विदेह क्षेत्र में। प्रजाकी अन्तश्चेतनामें जो अहिंसाकी विरासत सुषुप्त पड़ी थी, वह गांधीजीकी एक मौन पुकारसे जग उठी और केवल भारतका ही नहीं पर दुनिया-भरका ध्यान देखते-देखते चम्पारन-बिहारकी ओर आकृष्ट हुआ। और महावीर तथा बुद्धके समयमें जो चमत्कार इस विदेहमें हुए थे वही गांधीजीके कारण भी देखनेमें आए। जैसे अनेक क्षत्रियपुत्र, गृहपतिपुत्र और

ब्राह्मणपुत्र तथा पुत्रियाँ बुद्ध व महावीरके पीछे पागल होकर निकल पड़े थे वैसे ही कई अध्यापक, वकील, जमींदार और अन्य समझदार स्त्री-पुरुष गांधीजीके प्रभावमें आए। जैसे उस पुराने युग में करुणा तथा मैत्रीका सार्वत्रिक प्रचार करनेके लिए संघ बने थे वैसे ही सत्याग्रहको सार्वत्रिक बनानेके गांधीजीके स्वप्नमें सीधा साथ देनेवालोंका एक बड़ा संघ बना जिसमें वैशाली-विदेह या बिहारके सपूतोंका साथ बहुत महत्त्व रखता है। इसीसे मैं नवयुगीन दृष्टिसे भी इस स्थानको धर्म तथा विद्याका तीर्थ समझता हूँ। और इसी भावनासे मैं सब कुछ सोचता हूँ।

मैं काशीमें अध्ययन करते समय आजसे ४६ वर्ष पहले सहाध्यायिओं और जैन साधुओंके साथ पैदल चलते-चलते उस क्षत्रियकुण्डमें भी यात्राकी दृष्टिसे आया था जिसे आजकल जैन लोग महावीरकी जन्मभूमि समझकर वहाँ यात्राके लिए आते हैं और लक्खीसराय जंक्शनसे जाया जाता है। यह मेरी बिहारकी सर्व प्रथम धर्मयात्रा थी। इसके बाद अर्थात् करीब ४३ वर्षके पूर्व मैं मिथिला-विदेहमें अनेक बार पढ़ने गया और कई स्थानोंमें कई बार ठहरा भी। यह मेरी विदेहकी विद्यायात्रा थी। उस युग और इस युगके बीच बड़ा अन्तर हो गया है। अनेक साधन मौजूद रहनेपर भी उस समय जो बातें मुझे ज्ञात न थीं वह थोड़े बहुत प्रमाणमें ज्ञात हुई हैं और जो भावना साम्प्रदायिक दायरेके कारण उस समय अस्तित्वमें न थी आज उसका अनुभव कर रहा हूँ। अब तो मैं स्पष्ट रूपसे समझ सका हूँ कि महावीरकी जन्मभूमि न तो वह लिच्छुआड़ या पर्वतीय क्षत्रियकुण्ड है और न नालन्दाके निकटका कुण्डल-ग्राम ही। आजके बसाढ़की खुदाईमेंसे इतने अधिक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं और इन प्रमाणोंका जैन-बौद्ध परम्पराके प्राचीन शास्त्रोंके उल्लेखोंके साथ इतना अधिक मेल बैठता है तथा फाहियान ह्युएनसंग जैसे प्रत्यक्षदर्शी यात्रियोंके वृत्तान्तोंके साथ अधिक संवाद होता है कि यह सब देखकर मुझको उस समयके अपने अज्ञानपर हँसी ही नहीं तरस भी आता है। और साथ ही साथ सत्यकी जानकारीसे असाधारण खुशी भी होती है। वह सत्य यह है कि बसाढ़के क्षेत्रमें जो वासुकुण्ड नामक स्थान है वही सचमुच क्षत्रियकुण्ड है।

विभिन्न परंपराओंकी एकता

भारतमें अनेक धर्म परम्पराएँ रही हैं। ब्राह्मण परम्परा मुख्यतया वैदिक है जिसकी कई शाखाएँ हैं। श्रमण परम्पराकी भी जैन, बौद्ध, आजीवक, प्राचीन सांख्य-योग आदि कई शाखाएँ हैं। इन सब परम्पराओंके शास्त्रमें, गुरुवर्गमें और संघमें, आचार-विचारमें उत्थान-पतन और विकास-ह्रासमें इतनी अधिक

ऐतिहासिक भिन्नता है कि उस-उस परम्परामें जन्मा व पला हुआ और उस-उस परम्पराके संस्कारसे संस्कृत हुआ कोई भी व्यक्ति सामान्य रूपसे उन सब परम्पराओंके अन्तस्तल में जो वास्तविक एकता है, उसे समझ नहीं पाता। सामान्य व्यक्ति हमेशा भेदपोषक स्थूल स्तरोंमें ही फँसा रहता है पर तत्वचिंतक और पुरुषार्थी व्यक्ति जैसे-जैसे गहराईसे निर्भयतापूर्वक सोचता है वैसे-वैसे उसको आन्तरिक सत्यकी एकता प्रतीत होने लगती है और भाषा, आचार, संस्कार आदि सब भेद उसकी प्रतीतिमें बाधा नहीं डाल सकते। मानव चेतना आखिर मानव-चेतना ही है, पशुचेतना नहीं। जैसे-जैसे उसके ऊपरसे आवरण हटते जाते हैं वैसे-वैसे वह अधिकाधिक सत्यका दर्शन कर पाती है।

हम साम्प्रदायिक दृष्टिसे महावीरको अलग, बुद्धको अलग और उपनिषद् के ऋषियोंको अलग समझते हैं, पर अगर गहराईसे देखें तो उन सबके मौलिक सत्यमें शब्दभेदके सिवा और भेद न पायँगे। महावीर मुख्यतया अहिंसाकी परिभाषामें सब बातें समझाते हैं तो बुद्ध तृष्णात्याग और मैत्रीकी परिभाषामें अपना सन्देश देते हैं। उपनिषदके ऋषि अविद्या या अज्ञान निवारणकी दृष्टिसे चिन्तन उपस्थित करते हैं। ये सब एक ही सत्यके प्रतिपादनकी जुदी-जुदी रीतियाँ हैं; जुदी-जुदी भाषाएँ हैं। अहिंसा तब तक सिद्ध हो ही नहीं सकती जब तक तृष्णा हो। तृष्णात्यागका दूसरा नाम ही तो अहिंसा है। अज्ञानकी वास्तविक निवृत्ति बिना हुए न तो अहिंसा सिद्ध हो सकती है और न तृष्णा का त्याग ही सम्भव है। धर्मपरम्परा कोई भी क्यों न हो, अगर वह सचमुच धर्मपरम्परा है तो उसका मूल तत्त्व अन्य वैसी धर्मपरम्पराओं से जुदा हो ही नहीं सकता। मूल तत्त्व की जुदाई का अर्थ होगा कि सत्य एक नहीं। पर पहुँचे हुए सभी ऋषियोंने कहा है कि सत्यके आविष्कार अनेकधा हो सकते हैं पर सत्य तो अखण्डित एक ही है। मैं अपने छप्पन वर्षके थोड़े-बहुत अध्ययन-चिन्तनसे इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि पन्थभेद कितना ही क्यों न हो पर उसके मूल में एक ही सत्य रहता है। आज मैं इसी भावनासे महावीरकी जन्मजयन्तीके स्थूल महोत्सवमें भाग ले रहा हूँ। मेरी दृष्टिमें महावीरकी जयन्तीका अर्थ है उनकी अहिंसासिद्धिकी जयन्ती। और अहिंसासिद्धिकी जयन्तीमें अन्यान्य महापुरुषोंकी सद्गुणसिद्धि अपने आप समा जाती है। अगर वैशालीके आँगनमें खड़े होकर हम लोग इस व्यापक भावनाकी प्रतीति न कर सकें तो हमारा जयन्ती-उत्सव नए युगकी माँगको सिद्ध नहीं कर सकता।

राज्यसंघ और धर्मसंघ

वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ तथा जुदी-जुदी पत्रिकाओंके द्वारा वैशालीका

पौराणिक और ऐतिहासिक परिचय इतना अधिक मिल जाता है कि इसमें वृद्धि करने जितनी नई सामग्री अभी नहीं है। भगवान् महावीर की जीवनी भी उस अभिनन्दन ग्रन्थमें संक्षेप से आई है। यहाँ मुझको ऐसी कुछ बातें कहनी हैं जो वैसे महात्माओंकी जीवनीसे फलित होती हैं और जो हमें इस युगमें तुरन्त कामकी भी हैं। महावीरके समयमें वैशालीके और दूसरे भी गणराज्य थे जो तत्कालीन प्रजासत्ताक राज्य ही थे पर उन गणराज्योंकी संघदृष्टि अपने तक ही सीमित थी। इसी तरहसे उस समय के जैन, बौद्ध, आजीवक आदि अनेक धर्मसंघ भी थे जिनकी संघदृष्टि भी अपने-अपने तक ही सीमित थी। पुराने गणराज्योंकी संघदृष्टिका विकास भारत-व्यापी नये संघराज्यरूपमें हुआ है जो एक प्रकारसे अहिंसाका ही राजकीय विकास है। अब इसके साथ पुराने धर्म-संघ तभी मेल खा सकते हैं या विकास कर सकते हैं जब उन धर्मसंघोंमें भी मानवतावादी संघदृष्टिका निर्माण हो और तदनुसार सभी धर्मसंघ अपना-अपना विधान बदलकर एक लक्ष्यगामी हों। यह हो नहीं सकता कि भारतका राज्यतंत्र तो व्यापक रूपसे चले और पन्थोंके धर्मसंघ पुराने ढर्रे पर चलें। आखिरको राज्यसंघ और धर्मसंघ दोनोंका प्रवृत्ति क्षेत्र तो एक अखंड भारत ही है। ऐसी स्थितिमें अगर संघराज्यको ठीक तरहसे विकास करना है और जनकल्याणमें भाग लेना है तो धर्मसंघके पुरस्कर्ताओंको भी व्यापक दृष्टिसे सोचना होगा। अगर वे ऐसा न करें तो अपने-अपने धर्मसंघको प्रतिष्ठित व जीवित रख नहीं सकते या भारतके संघराज्यको भी जीवित रहने न देंगे। इसलिए हमें पुराने गणराज्यकी संघदृष्टि तथा पन्थोंकी संघदृष्टिका इस युगमें ऐसा सामञ्जस्य करना होगा कि धर्मसंघ भी विकासके साथ जीवित रह सके और भारतका संघराज्य भी स्थिर रह सके।

भारतीय संघराज्यका विधान असाम्प्रदायिक है इसका अर्थ यही है कि संघराज्य किसी एक धर्म में बद्ध नहीं है। इसमें लघुमती बहुमती सभी छोटे-बड़े धर्म पन्थ समान भावसे अपना-अपना विकास कर सकते हैं। जब संघ-राज्यकी नीति इतनी उदार है तब हरेक धर्म परम्पराका कर्तव्य अपने आप सुनि-श्चित हो जाता है कि प्रत्येक धर्म परम्परा समग्र जनहितकी दृष्टिसे संघराज्यको सब तरहसे दृढ़ बनानेका खयाल रक्खे और प्रयत्न करे। कोई भी लघु या बहु-मती धर्म परम्परा ऐसा न सोचे और न ऐसा कार्य करे कि जिससे राज्यकी केन्द्रीय शक्ति या प्रान्तिक शक्तियाँ निर्बल हों। यह तभी सम्भव है जब कि प्रत्येक धर्म परम्पराके जवाबदेह समझदार त्यागी या गृहस्थ अनुयायी अपनी

दृष्टिको व्यापक बनाएँ और केवल संकुचित दृष्टिसे अपनी परम्पराका ही विचार न करें।

धर्म परम्पराओंका पुराना इतिहास हमें यही सिखाता है। गणतन्त्र, राजतन्त्र ये सभी आपसमें लड़कर अन्तमें ऐसे धराशायी हो गए कि जिससे विदेशियोंको भारतपर शासन करनेका मौका मिला। गाँधीजीकी अहिंसादृष्टिने उस त्रुटिको दूर करनेका प्रयत्न किया और अन्तमें २७ प्रान्तीय घटक राज्योंका एक केन्द्रीय संघराज्य कायम हुआ जिसमें सभी प्रान्तीय लोगों का हित सुरक्षित रहे और बाहरके भय स्थानोंसे भी बचा जा सके। अब धर्म परम्पराओंको भी अहिंसा, मैत्री या ब्रह्मभावनाके आधारपर ऐसा धार्मिक वातावरण बनाना होगा कि जिसमें कोई एक परम्परा अन्य परम्पराओंके संकटको अपना संकट समझे और उसके निवारणके लिए वैसा ही प्रयत्न करे जैसा अपनेपर आये संकटके निवारणके लिए। हम इतिहाससे जानते हैं कि पहले ऐसा नहीं हुआ। फलतः कभी एक तो कभी दूसरी परम्परा बाहरी आक्रमणोंका शिकार बनी और कम ज्यादा रूपमें सभी धर्म परम्पराओंकी सांस्कृतिक और विद्यासम्पत्तिको सहना पड़ा। सोमनाथ, रुद्रमहालय और उज्जयिनीका महाकाल तथा काशी आदिके वैष्णव, शैव आदि धाम इत्यादि पर जब संकट आए तब अगर अन्य परम्पराओंने प्राणार्पणसे पूरा साथ दिया होता तो वे धाम बच जाते। नहीं भी बचते तो सब परम्पराओंकी एकताने विरोधियोंका हौसला जरूर ढीला किया होता। सारनाथ, नालन्दा, उदन्तपुरी, विक्रमशिला आदिके विद्याविहारोंको बख्तियार खिलजी कभी ध्वस्त कर नहीं पाता अगर उस समय बौद्धेतर परम्पराएँ उस आफतको अपनी समझतीं। पाटन, तारङ्गा, सांचोर, आबू, झालोर आदिके शिल्पस्थापत्यप्रधान जैन मन्दिर भी कभी नष्ट नहीं होते। अब समय बदल गया और हमें पुरानी त्रुटियोंसे सबक सीखना होगा।

सांस्कृतिक और धार्मिक स्थानोंके साथ-साथ अनेक ज्ञानभण्डार भी नष्ट हुए। हमारी धर्म परम्पराओंकी पुरानी दृष्टि बदलनी हो तो हमें नीचे लिखे अनुसार कार्य करना होगा।

(१) प्रत्येक धर्मपरम्पराको दूसरी धर्मपरम्पराओंका उतना ही आदर करना चाहिए जितना वह अपने बारेमें चाहती है।

(२) इसके लिये गुरुवर्ग और पण्डितवर्ग सबको आपसमें मिलने-जुलनेके प्रसंग पैदा करना और उदारदृष्टिसे विचार विनिमय करना। जहाँ ऐकमत्य न हो वहाँ विवादमें न पड़कर सहिष्णुताकी वृद्धि करना। धार्मिक और सांस्कृतिक अध्ययन-अध्यापनकी परम्पराओंको इतना विकसित करना कि

जिसमें किसी एक धर्मपरम्पराका अनुयायी अन्य धर्मपरम्पराओंकी बातोंसे सर्वथा अनभिज्ञ न रहे और उनके मन्तव्योंको गलतरूपमें न समझे।

इसके लिए अनेक विश्वविद्यालय महाविद्यालय जैसे शिक्षाकेन्द्र बने हैं जहाँ इतिहास और तुलना दृष्टिसे धर्मपरम्पराओंकी शिक्षा दी जाती है। फिर भी अपने देशमें ऐसे सैकड़ों नहीं हजारों छोटे-बड़े विद्याधाम, पाठशालाएँ आदि हैं जहाँ केवल साम्प्रदायिक दृष्टिसे उस परम्पराकी एकांगी शिक्षा दी जाती है। इसका नतीजा अभी यही देखनेमें आता है कि सामान्य जनता और हरेक परम्पराके गुरु या पण्डित अभी उसी दुनियामें जी रहे हैं जिसके कारण सब धर्मपरम्पराएँ निस्तेज और मिथ्याभिमानी हो गई हैं।

विद्याभूमि-विदेह

वैशाली-विदेह-मिथिलाके द्वारा अनेक शास्त्रीय विद्याओंके विषयमें बिहार का जो स्थान है वह हमें पुराने ग्रीसकी याद दिलाता है। उपनिषदोंके उपलब्ध भाष्योंके प्रसिद्ध प्रसिद्ध आचार्य भले ही दक्षिणमें हुए हों पर उपनिषदोंके आत्मतत्त्वविषयक और अद्वैतस्वरूपविषयक अनेक गम्भीर चिन्तन—विदेहके जनककी सभामें ही हुए हैं जिन चिन्तनोंने केवल पुराने आचार्योंका ही नहीं पर आधुनिक देश-विदेशके अनेक विद्वानोंका भी ध्यान खींचा है। बुद्धने धर्म और विनयके बहुत बड़े भागका असली उपदेश बिहारके जुदे जुदे स्थानोंमें ही किया है; इतना ही नहीं बल्कि बौद्ध त्रिपिटककी सारी संकलना बिहारकी तीन संगीतियोंमें ही हुई है। जो त्रिपिटक बिहारके सपूतोंके द्वारा ही एशियाके दूर-दूर अगम्य भागोंमें भी पहुँचे हैं और जो इस समयकी अनेक भाषाओंमें रूपान्तरित भी हुए हैं। इन्हीं त्रिपिटकोंने सैकड़ों यूरोपीय विद्वानोंको अपनी ओर खींचा और जो कई यूरोपीय भाषाओंमें रूपान्तरित भी हुए। जैन परम्पराके मूल आगम पीछेसे भले ही पश्चिम और दक्षिण भारतके जुदे-जुदे भागोंमें पहुँचे हों, संकलित व लेखबद्ध भी हुए हों पर उनका उद्गम और प्रारम्भिक संग्रहण तथा संकलन तो बिहारमें ही हुआ है। बौद्ध संगीतिकी तरह प्रथम जैन संगीति भी बिहारमें ही मिली थी। चाणक्यके अर्थशास्त्रकी और सम्भवतः कामशास्त्र-की जन्मभूमि भी बिहार ही है। हम जब दार्शनिक, सूत्र और व्याख्या ग्रंथोंका विचार करते हैं तब तो हमारे सामने बिहारकी वह प्राचीन प्रतिभा मूर्त्त होकर उपस्थित होती है। कणाद और अक्षपाद ही नहीं पर उन दोनोंके वैशेषिक-न्याय दर्शनके भाष्य, वार्तिक, टीका, उपटीका आदि सारे साहित्य परिवारके प्रणेता बिहारमें ही, खासकर विदेह मिथिलामें ही हुए हैं।

सांख्य, योग परम्पराके मूल चिन्तक और ग्रन्थकार एवं व्याख्याकार बिहार

में या बिहारकी सीमाके आसपास ही हुए हैं। मेरे ख्यालसे मीमांसाकार जैमिनी और बादरायण भी बिहारके ही होने चाहिए। पूर्वोत्तर मीमांसाके अनेक धुरीण प्रमुख व्याख्याकार मिथिलामें ही हुए हैं जो एक बार सैकड़ों मीमांसक विद्वानोंका धाम मानी जाती थी। बंगाल, दक्षिण आदि अन्य भागोंमें न्याय विद्याकी शाखा-प्रशाखाएँ फूटी हैं पर उनका मूल तो मिथिला ही है। वाचस्पति, उदयन, गंगेश आदि प्रकाण्ड विद्वानोंने दार्शनिक विद्याका इतना अधिक विकास किया है कि जिसका असर प्रत्येक धर्मपरम्परापर पड़ा है। तक्षशिलाके ध्वंसके बाद जो बौद्ध विहार स्थापित हुए उनके कारण तो विहार काशी बन गया था। नालन्दा, विक्रमशीला, उदन्तपुरी जैसे बड़े-बड़े विहार और जगत्तल जैसे साधारण विहारमें बसनेवाले भिक्षुकों और अन्य दुर्वेक मिश्र जैसे ब्राह्मण विद्वानोंने जो संस्कृत बौद्ध साहित्यका निर्माण किया है उसकी गहराई, सूक्ष्मता और बहुश्रुतता देखकर आज भी बिहारके प्रति आदर उमड़ आता है। यह बात भली-भाँति हमारे लक्ष्यमें आ सकती है कि बिहार धर्मकी तरह विद्याका भी तीर्थ रहा है।

विद्याकेन्द्रोंमें सर्व-विद्याओंके संग्रहकी आवश्यकता

जैसा पहले सूचित किया है कि धर्मपरम्पराओंकी अपनी दृष्टिका तथा व्यवहारोंका युगानुरूप विकास करना ही होगा। वैसे ही विद्याओंकी सब परम्पराओंको भी अपना तेज कायम रखने और बढ़ानेके लिए अध्ययन-अध्यापनकी प्रणालीके विषयमें नए सिरे से सोचना होगा।

प्राचीन भारतीय विद्याएँ कुल मिलाकर तीन भाषाओंमें समा जाती हैं— संस्कृत, पालि और प्राकृत। एक समय था जब संस्कृतके धुरन्धर विद्वान् भी पालि या प्राकृत शास्त्रोंका जानते न थे या बहुत ऊपर-ऊपरसे जानते थे। ऐसा भी समय था जब कि पालि और प्राकृत शास्त्रोंके विद्वान् संस्कृत शास्त्रोंकी पूर्ण जानकारी रखते न थे। यही स्थिति पालि और प्राकृत शास्त्रोंके जानकारोंके बीच परस्परमें भी थी। पर क्रमशः समय बदलता गया। आज तो पुराने युगने ऐसा पलटा खाया है कि इसमें कोई भी सच्चा विद्वान् एक या दूसरी भाषाकी तथा उस भाषामें लिखे हुए शास्त्रोंकी उपेक्षा करके नवयुगीन विद्यालयों और महाविद्यालयोंको चला ही नहीं सकता। इस दृष्टिसे जब विचार करते हैं तब स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यूरोपीय विद्वानोंने पिछले सवा सौ वर्षोंमें भारतीय विद्याओंका जो गौरव स्थापित किया है, संशोधन किया है उसकी बराबरी करनेके लिए तथा उससे कुछ आगे बढ़नेके लिए हम भारतवासियोंको अब अध्ययन-अध्यापन, चिन्तन, लेखन और संपादन-विवेचन आदिका क्रम अनेक प्रकार-

से बदलना होगा जिसके सिवाय हम प्राच्यविद्या-विशारद यूरोपीय विद्वानोंके अनुगामी तक बनने में असमर्थ रहेंगे।

प्राच्य भारतीय विद्याकी किसी भी शाखाका उच्च अध्ययन करनेके लिए तथा उच्च पदवी प्राप्त करनेके लिए हम भारतीय यूरोपके जुदे-जुदे देशोंमें जाते हैं उसमें केवल नौकरीकी दृष्टिसे डीग्री पानेका ही मोह नहीं है पर इसके साथ उन देशोंकी उस-उस संस्था का व्यापक विद्यामय वातावरण भी निमित्त है। वहाँके अध्यापक, वहाँकी कार्यप्रणाली, वहाँके पुस्तकालय आदि ऐसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं जो हमें अपनी ओर खींचते हैं, अपने देशकी विद्याओं-का अध्ययन करनेके लिए हमको हजारों कोस दूर कर्ज ले करके भी जाना पड़ता है और उस स्थिति में जब कि उन प्राच्य विद्याओंकी एक-एक शाखाके पारदर्शी अनेक विद्वान् भारतमें भी मौजूद हों। यह कोई अचरजकी बात नहीं है। वे विदेशी विद्वान् इस देशमें आकर सीख गए, अभी वे सीखने आते हैं पर सिक्का उनका है। उनके सामने भारतीय पुराने पण्डित और नई प्रणालीके अध्यापक अकसर फीके पड़ जाते हैं। इसमें कृत्रिमता और मोहका भाग बाद करके जो सत्य है उसकी ओर हमें देखना है। इसको देखते हुए मुझको कहनेमें कोई भी हिचकिचाहट नहीं कि हमारे उच्च विद्याके केन्द्रोंमें शिक्षण-प्रणालीका आमूल परिवर्तन करना होगा।

उच्च विद्याके केन्द्र अनेक हो सकते हैं। प्रत्येक केन्द्रमें किसी एक विद्या-परंपराकी प्रधानता भी रह सकती है। फिर भी ऐसे केन्द्र अपने संशोधन कार्यमें पूर्ण तभी बन सकते हैं जब अपने साथ संबंध रखने वाली विद्या परंप-राओंकी भी पुस्तक आदि सामग्री वहाँ संपूर्णतया सुलभ हो।

पालि, प्राकृत, संस्कृत भाषामें लिखे हुए सब प्रकारके शास्त्रोंका परस्पर इतना घनिष्ठ संबन्ध है कि कोई भी एक शाखाकी विद्याका अभ्यासी विद्या की दूसरी शाखाओंके आवश्यक वास्तविक परिशीलनको बिना किए सच्चा अभ्यासी बन ही नहीं सकता, जो परिशीलन अधूरी सामग्रीवाले केन्द्रोंमें संभव नहीं।

इससे पुराना पंथवाद और जातिवाद जो इस युगमें हेय समझा जाता है वह अपने आप शिथिल हो जाता है। हम यह जानते हैं कि हमारे देशका उच्चवर्णाभिमानी विद्यार्थी भी यूरोपमें जाकर वहाँके संसर्गसे वर्णाभिमान भूल जाता है। यह स्थिति अपने देशमें स्वाभाविक तब बन सकती है जब कि एक ही केन्द्रमें अनेक अध्यापक हों, अध्येता हों और सबका परस्पर मिलन सहज हो। ऐसा नहीं होनेसे साम्प्रदायिकताका मिथ्या अंश किसी न किसी रूपमें

पुष्ट हुए बिना रह नहीं सकता। साम्प्रदायिक दाताओंकी मनोवृत्तिको जीतनेके वास्ते उच्चविद्याके क्षेत्रमें भी साम्प्रदायिकताका दिखावा संचालकोंको करना पड़ता ही है। उस लिये मेरे विचारसे तो उच्चतम अध्ययनके केन्द्रोमें सर्वविद्याओंकी आवश्यक सामग्री होनी ही चाहिए।

शास्त्रीय परिभाषामें लोकजीवनकी छाया

अब अन्तमें मैं संक्षेपमें यह दिखाना चाहता हूँ कि उस पुराने युगके राज्यसंघ और धर्मसंघका आपसमें कैसा चोली-दामनका संबन्ध रहा है जो अनेक शब्दोंमें तथा तत्त्वज्ञानकी परिभाषाओंमें भी सुरक्षित है। हम जानते हैं कि वज्जीओंका राज्य गणराज्य था अर्थात् वह एक संघ था। गण और संघ शब्द ऐसे समूहके सूचक हैं जो अपना काम चुने हुए योग्य सभ्योंके द्वारा करते थे। वही बात धर्मक्षेत्रमें भी थी। जैनसंघ भी भिक्षु-भिक्षुणी, श्रावक श्राविका चतुर्विध अङ्गोंसे ही बना और सब अङ्गोंकी सम्मतिसे ही काम करता रहा। जैसे-जैसे जैनधर्मका प्रसार अन्यान्य क्षेत्रोंमें तथा छोटे-बड़े सैकड़ों-हजारों गाँवोंमें हुआ वैसे-वैसे स्थानिक संघ भी कायम हुए जो आज तक कायम हैं। किसी भी एक कस्बे या शहरको लीजिए अगर वहाँ जैन बस्ती है तो उसका वहाँ संघ होगा और सारा धार्मिक कारोबार संघके जिम्मे होगा। संघका कोई मुखिया मनमानी नहीं कर सकता। बड़ेसे बड़ा आचार्य भी हो तो भी उसे संघके अधीन रहना ही होगा। संघसे बहिष्कृत व्यक्तिका कोई गौरव नहीं। सारे तीर्थ, सारे धार्मिक, सार्वजनिक काम संघकी देखरेखमें ही चलते हैं। और उन इकाई संघोंके मिलनसे प्रान्तीय और भारतीय संघोंकी घटना भी आज तक चली आती है। जैसे गणराज्यका भारतव्यापी संघराज्यमें विकास हुआ वैसे ही पार्श्वनाथ और महावीरके द्वारा संचालित उस समयके छोटे बड़े संघोके विकासस्वरूपमें आजकी जैन संघव्यवस्था है। बुद्धका संघ भी वैसा ही है। किसी भी देशमें जहाँ बौद्ध धर्म है वहाँ संघ व्यवस्था है और सारा धार्मिक व्यवहार संघोंके द्वारा ही चलता है।

जैसे उस समयके राज्योंके साथ गण शब्द लगा था वैसे ही महावीरके मुख्य शिष्योंके साथ 'गण' शब्द प्रयुक्त है। उनके ग्यारह मुख्य शिष्य जो बिहारमें ही जन्मे थे वे गणधर कहलाते हैं। आज भी जैन परम्परामें 'गणी' पद कायम है और बौद्ध परम्परामें संघ स्थविर या संघनायक पद।

जैन तत्त्वज्ञानकी परिभाषाओंमें नयवादकी परिभाषाका भी स्थान है। नय पूर्ण सत्यकी एक बाजूको जाननेवाली दृष्टिका नाम है। ऐसे नयके सात प्रकार जैन शास्त्रोंमें पुराने समयसे मिलते हैं जिनमें प्रथम नयका नाम है 'नैगम'।

कहना न होगा कि नैगम शब्द 'निगम' से बना है जो निगम वैशालीमें थे और जिनके उल्लेख सिक्कोंमें भी मिले हैं। 'निगम' समान कारोबार करने-वालोंकी श्रेणी विशेष है। उसमें एक प्रकारकी एकता रहती है और सब स्थूल व्यवहार एक-सा चलता है। उसी 'निगम' का भाव लेकर उसके ऊपरसे नैगम शब्दके द्वारा जैन परम्पराने एक ऐसी दृष्टिका सूचन किया है जो समाजमें स्थूल होती है और जिसके आधारपर जीवन व्यवहार चलता है।

नैगमके बाद संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे छह शब्दोंके द्वारा यह आंशिक विचारसरणियोंका सूचन आता है। मेरी रायमें उक्त छहों दृष्टियाँ यद्यपि तत्त्व-ज्ञानसे संबन्ध रखती हैं पर वे मूलतः उस समयके राज्य व्यवहार और सामाजिक व्यावहारिक आधारपर फलित की गई हैं। इतना ही नहीं बल्कि संग्रह व्यवहारादि ऊपर सूचित शब्द भी तत्कालीन भाषा प्रयोगोंसे लिए हैं। अनेक गण मिलकर राज्य व्यवस्था या समाज व्यवस्था करते थे जो एक प्रकारका समुदाय या संग्रह होता था और जिसमें भेदमें अभेद दृष्टिका प्राधान्य रहता था। तत्त्वज्ञानके संग्रह नयके अर्थमें भी वही भाव है। व्यवहार चाहे राजकीय हो या सामाजिक वह जुदे-जुदे व्यक्ति या दलके द्वारा ही सिद्ध होता है। तत्त्वज्ञानके व्यवहार नयमें भी भेद अर्थात् विभाजनका ही भाव मुख्य है। हम वैशालीमें पाए गए सिक्कोंसे जानते हैं कि 'व्यावहारिक' और 'विनिश्चय महामात्य' की तरह 'सूत्रधार' भी एक पद था। मेरे ख्यालसे सूत्रधारका काम वही होना चाहिए जो जैन तत्वज्ञानके ऋजुसूत्र नय शब्दसे लक्षित होता है। ऋजुसूत्रनयका अर्थ है—आगे पीछेकी गली कुंजीमें न जाकर केवल वर्तमानका ही विचार करना। संभव है सूत्रधारका काम भी वैसा ही कुछ रहा हो जो उपस्थित समस्याओंको तुरन्त निपटाए। हरेक समाजमें, सम्प्रदायमें और राज्यमें भी प्रसंग विशेषपर शब्द अर्थात् आज्ञाको ही प्राधान्य देना पड़ता है। जब अन्य प्रकारसे मामला सुलझता न हो तब किसी एकका शब्द ही अन्तिम प्रमाण माना जाता है। शब्दके इस प्राधान्यका भाव अन्य रूपमें शब्दनयमें गर्भित है। बुद्धने खुद ही कहा है कि लिच्छवीगण पुराने रीतिरिवाजों अर्थात् रूढ़ियोंका आदर करते हैं। कोई भी समाज प्रचलित रूढ़ियोंका सर्वथा उन्मूलन करके नहीं जी सकता। समभि-रूढ़नयमें रूढ़िके अनुसरणका भाव तात्त्विक दृष्टिसे घटाया है। समाज, राज्य और धर्मकी व्यवहारगत और स्थूल विचारसरणी या व्यवस्था कुछ भी क्यों न हो पर उसमें सत्यकी पारमार्थिक दृष्टि न हो तो वह न जी सकती है, न प्रगति

कर सकती है। एवम्भूतनय उसी पारमार्थिक दृष्टिका सूचक है जो तथागतके 'तथा' शब्दमें या पिछले महायानके 'तथता' में निहित है। जैन परम्परामें भी 'तहत्ति' शब्द उसी युगसे आजतक प्रचलित है। जो इतना ही सूचित करता है कि सत्य जैसा है वैसा हम स्वीकार करते हैं।

ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि अनेक परम्पराओंके प्राप्य ग्रन्थोंसे तथा सुलभ सिक्के और खुदाईसे निकली हुई अन्यान्य सामग्रीसे जब हम प्राचीन आचार-विचारोंका, संस्कृतिके विविध अङ्गोंका, भाषाके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका और शब्दके अर्थोंके भिन्न-भिन्न स्तरोंका विचार करेंगे तब शायद हमको ऊपरकी तुलना भी काम दे सके। इस दृष्टिसे मैंने यहाँ संकेत कर दिया है। बाकी तो जब हम उपनिषदों, महाभारत-रामायण जैसे महाकाव्यों, पुराणों, पिटकों, आगमों और दार्शनिक साहित्यका तुलनात्मक बड़े पैमानेपर अध्ययन करेंगे तब अनेक रहस्य ऐसे ज्ञात होंगे जो सूचित करेंगे कि यह सब किसी एक वट बीजका विविध विस्तार मात्र है।

अध्ययनका विस्तार

पाश्चात्य देशोंमें प्राच्यविद्याके अध्ययन आदिका विकास हुआ है उसमें अविश्रान्त उद्योगके सिवाय वैज्ञानिक दृष्टि, जाति और पन्थभेदसे ऊपर उठकर सोचनेकी वृत्ति और सर्वाङ्गीण अवलोकन ये मुख्य कारण हैं। हमें इस मार्गको अपनाना होगा। हम बहुत थोड़े समयमें अभीष्ट विकास कर सकते हैं। इस दृष्टिसे सोचता हूँ तब कहनेका मन होता है कि हमें उच्च विद्याके वर्तुलमें अवेस्ता आदि जरथुस्त परम्पराके साहित्यका समावेश करना होगा। इतना ही नहीं बल्कि इस्लामी साहित्यको भी समुचित स्थान देना होगा। जब हम इस देशमें राजकीय एवं सांस्कृतिक दृष्टिसे घुलमिल गए हैं या अविभाज्य रूपसे साथ रहते हैं तब हमें उसी भावसे सब विद्याओंको समुचित स्थान देना होगा। बिहार या वैशाली-विदेहमें इस्लामी संस्कृतिका काफी स्थान है। और पटना, वैशाली आदि बिहारके स्थानोंकी खुदाईमें ताता जैसे पारसी गृहस्थ मदद करते हैं यह भी हमें भूलना न चाहिए।

भूदानमें सहयोग

आचार्य विनोबाजीकी मौजूदगीने सारे देशका ध्यान अभी बिहारकी ओर खींचा है। मालूम होता है कि वे पुराने और नये अहिंसाके सन्देशको लेकर बिहारमें वैशालीकी धर्मभावनाको मूर्त कर रहे हैं। बिहारके निवासी स्वभावसे सरल पाए गए हैं। भूदानयज्ञ यह तो अहिंसा भावनाका एक प्रतीक मात्र है।

सच्चे अर्थमें उसके साथ कई बातें अनिवार्य रूपसे जुड़ी हुई हैं जिनके बिना नवभारतका निर्माण संभव नहीं। जमींदार जमीनका दान करे, धनवान् संपत्ति का दान करे। पर इसके सिवा भी आत्मशुद्धि अनेक रूपसे आवश्यक है। आज चारों ओर शिकायत रिश्वतखोरीकी है। बिहारके राजतंत्रवाहक इस क्षतिको निर्मूल करेंगे तो वह कार्य विशेष आशीर्वादरूप सिद्ध होगा। और देशके अन्य भागोंमें बिहारकी यह पहल अनुकरणीय बनेगी। ऊपर जो कुछ कहा गया है वह सब महावीर, बुद्ध, गांधीजी वगैरहकी सम्मिलित अहिंसा-भावनामेंसे फलित होने वाला ही विचार है जो हर जन्मजयन्ती पर उपयुक्त है।

[वैशाली-संघ द्वारा आयोजित भ० महावीर जयन्तीके अवसरपर अध्यक्ष पदसे दिया गया व्याख्यान—ई० १९५३।]

एक पत्र[1]

...........लेख अभी सुन गया। मुझको तो इसमें कोई अयुक्त किंवा आपत्तिजनक अंश प्रतीत नहीं हुआ। इससे भी कड़ी समालोचना गुजरात, महाराष्ट्र आदिमें खुद जैन समाजमें होती है। अगर किसीको लेखमें गलती मालूम हो तो उसका धर्म है कि वह युक्ति तथा दलीलसे जवाब दे। व्यवहार धर्म सामाजिक वस्तु हैं, इसपर विचार करना, समालोचना करना हरएक बुद्धिशाली और जवाबदेह व्यक्तिका कर्त्तव्य है। ऐसे कर्त्तव्यको दबावसे, भयसे, लालचसे, खुशामदसे रोकना समाज को सुधरनेसे या सुधारनेसे रोकना मात्र है। समालोचक भ्रान्त हो तो सयुक्तिक जवाबसे उसकी भ्रान्ति दूर करना, यह दूसरे पक्षका पवित्र कर्त्तव्य है। यह तो हुई सार्वजनिक वस्तुपर समालोचनाकी सामान्य बात। पर समालोचकका भी एक अधिकार होता है जिसके बलपर वह समाजके चालू व्यवहारों और मान्यताओंकी टीका कर सकता है। वह अधिकार यह है कि उसका दर्शन तथा अवलोकन स्पष्ट एवं निष्पक्ष हो। वह किसी लालच, स्वार्थ या खुशामदसे प्रेरित होकर प्रवृत्त होनेवाला न हो। इस अधिकारकी परीक्षा भी हो सकती है। मैं कुछ लिखने लगा, विरोधियोंने मुझे कुछ लालच दी, कुछ खुशामद की और मैं रुक गया। अथवा मुझे भय दिखाया, पूरी तरह गिरानेका प्रयत्न किया और मैं अपने विचार प्रकट करनेसे रुक गया या विचार वापिस खींच लिया तब समझना चाहिए कि मेरा समालोचनाका अधिकार नहीं है। इसी तरह किसी व्यक्ति या समूहको नीचा दिखानेकी बुरी नियतसे भी समालोचना करना अधिकार-शून्य है। ऐसी नियतकी परीक्षा भी की जा सकती है। सामाजिक व धार्मिक संशोधनकी तटस्थ दृष्टिसे अपना विचार प्रकट करना, यह अपना पढ़े-लिखे लोगोंका विचारधर्म है। इसे उत्तरोत्तर विकसित ही करना चाहिये। रुकावटें जितनी अधिक हों उतना विकास भी अधिक साधना चाहिये। मतलब यह कि चर्चित विषयको और भी गहराई एवं प्रमाणोंके साथ फिरसे सोचना-जाँचना चाहिए और समभाव विशेष पुष्ट करके उस विवादास्पद विषयपर विशेष गहराई एवं स्पष्टताके साथ लिखते

---

(१) श्री भँवरमलजी सिंघीके नाम यह पत्र 'धर्म और धन' शीर्षक लेखके विषयमें लिखा गया था।

रहना चाहिए। विचार व अभ्यासका क्षेत्र अनुकूल परिस्थितिकी तरह प्रतिकूल परिस्थितिमें भी विस्तृत होता है।

मुझको आपके लेखसे तथा थोड़ेसे वैयक्तिक परिचयसे मालूम होता है कि आपने किसी बुरी नियतसे या स्वार्थसे नहीं लिखा है। लेखकी वस्तु तो बिल्कुल सही है। इस स्थितिमें जितना विरोध हो, आपकी परीक्षा ही है। समभाव और अभ्यासकी वृद्धिके साथ लेखमें चर्चित मुद्दोंपर आगे भी विशेष लिखना धर्म हो जाता है। हाँ, जहाँ कोई गलती मालूम हो, कोई बतलाए, फौरन सरलतासे स्वीकार कर लेनेकी हिम्मत भी रखना। बाकी जो-जो काम खास कर सार्वजनिक काम, धनाश्रित होंगे वहाँ धन अपने विरोधियोंको चुप करनेका प्रयत्न करेगा ही। इसीसे मैंने आप नवयुवकोंके समक्ष कहा था कि पत्र-पत्रिकादि स्वावलम्बनसे चलाओ। प्रेस आदिमें धनिकोंका आश्रय उतना वांछनीय नहीं। कामका प्रमाण थोड़ा होकर भी जो स्वावलम्बी होगा वही ठोस और निरुपद्रव होगा। हाँ, सब धनी एकसे नहीं होते। विद्वान् भी, लेखक भी स्वार्थी, खुशामदी होते हैं। कोई बिलकुल सुयोग्य भी होते हैं। धनिकोंमें भी सुयोग्य व्यक्तिका अत्यन्त अभाव नहीं। धन स्वभावसे बुरी वस्तु नहीं जैसे विद्या भी। अतएव अगर सामाजिक प्रवृत्तिमें पड़ना हो तब तो हरेक युवकके वास्ते जरूरी है कि वह विचार एवं अभ्याससे स्वावलम्बी बने और थोड़ी भी अपनी आमदनी पर ही कामका हौसला रखे। गुणग्राही धनिकोंका आश्रय मिल जाए तो वह लाभमें समझना।

इस दृष्टिसे आगे लेखन-प्रवृत्ति करनेसे फिर क्षोभ होनेका कोई प्रसङ्ग नहीं आता। बाकी समाज, खास कर मारवाड़ी समाज इतना विद्या-विहीन और असहिष्णु है कि शुरू-शुरूमें उसकी ओरसे सब प्रकारके विरोधोंको सम्भव मान ही रखना चाहिए, पर वह समाज भी इस जमानेमें अपनी स्थिति इच्छा या अनिच्छासे बदल ही रहा है। उसमें भी पढ़े लिखे बढ़ रहे हैं। आगे वही सन्तान अपने वर्तमान पूर्वजोंकी कड़ी समीक्षा करेगी, जैसी आपने की है।

[ओसवाल नवयुवक ८–११

दार्शनिक मीमांसा

दर्शन और सम्प्रदाय[1]।

न्यायकुमुदचन्द्र यह दर्शनका ग्रन्थ है, सो भी सम्प्रदाय विशेषका, अतएव सर्वोपयोगिताकी दृष्टिसे यह विचार करना उचित होगा कि दर्शनका मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुतः उसका मतलब क्या होना चाहिए। इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि सम्प्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ दर्शनका संबन्ध कैसा रहा है तथा उस सांप्रदायिक संबन्धके फलस्वरूप दर्शनमें क्या गुण-दोष आए हैं इत्यादि।

सब कोई सामान्य रूपसे यही समझते और मानते आए हैं कि दर्शनका मतलब है तत्त्व-साक्षात्कार। सभी दार्शनिक अपने-अपने सांप्रदायिक दर्शनको साक्षात्कार रूप ही मानते आए हैं। यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहना? इसका जवाब एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या सन्देहको अवकाश न हो और साक्षात्कार किए गए तत्त्वमें फिर मतभेद या विरोध न हो। अगर दर्शनकी उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि अनेक सम्प्रदायाश्रित विविध दर्शनोंमें एक ही तत्त्वके विषयमें इतने नाना मतभेद कैसे और उनमें असमाधेय समझा जानेवाला परस्पर विरोध कैसा? इस शंकाका जवाब देनेके लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्दका कुछ और अर्थ समझें। उसका जो साक्षात्कार अर्थ समझा जाता है और जो चिरकालसे शास्त्रोंमें भी लिखा मिलता है, वह अर्थ अगर यथार्थ है, तो मेरी रायमें वह समग्र दर्शनों द्वारा निर्विवाद और असंदिग्ध रूपसे सम्मत निम्नलिखित आध्यात्मिक प्रमेयोंमें ही घट सकता है—

१—पुनर्जन्म, २—उसका कारण, ३—पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४—साधनविशेष द्वारा पुनर्जन्मके कारणोंका उच्छेद।

ये प्रमेय साक्षात्कारके विषय माने जा सकते हैं। कभी-न-कभी किसी तपस्वी द्रष्टा या द्रष्टाओंको उक्त तत्वोंका साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि आजतक किसी आध्यात्मिक दर्शनमें इन तथा ऐसे तत्त्वोंके बारेमें

---

१. पं० महेन्द्रकुमारसम्पादित न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भागके प्राक्कथनका अंश, ई० १९४१।

न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है। पर उक्त मूल आध्यात्मिक प्रमेयोंके विशेष-विशेष स्वरूपके विषयमें तथा उनके व्यौरेवार विचारमें सभी प्रधान-प्रधान दर्शनोंका और कभी-कभी तो एक ही दर्शनकी अनेक शाखाओंका इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रोंमें देखा जाता है कि जिसे देखकर तटस्थ समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी सम्प्रदायके व्यौरेवार मन्तव्य साक्षात्कारके विषय हुए हों। अगर ये मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो किस सम्प्रदायके ? किसी एक सम्प्रदायके प्रवर्तकको व्यौरेके बारेमें साक्षात्कर्ता—द्रष्टा साबित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त मूल प्रमेयोंमें दर्शनका साक्षात्कार अर्थ मान लेनेके बाद व्यौरेके बारेमें दर्शनका कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

विचार करनेसे जान पड़ता है, कि दर्शनका दूसरा अर्थ 'सबल प्रतीति' ही करना ठीक है। शब्दके अर्थोंके भी जुदे-जुदे स्तर होते हैं। दर्शनके अर्थका यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वातिके "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रमें तथा इसकी व्याख्याओंमें वह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते हैं। वाचकने साफ कहा है कि प्रमेयोंकी श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिए कि श्रद्धाके माने है बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कारको सम्प्रदायमें जीवित रखनेकी एक भूमिका विशेष है, जिसे मैंने दर्शनका दूसरा स्तर कहा है।

यों तो सम्प्रदाय हर एक देशके चिन्तकोंमें देखा जाता है। यूरोपके तत्त्व-चिन्तनकी आद्य भूमि ग्रीसके चिन्तकोंमें भी परस्पर विरोधी अनेक संप्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्व-चिन्तकोंके सम्प्रदायकी कथा कुछ निराली ही है। इस देशके सम्प्रदाय मूलमें धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी सम्प्रदायोंने तत्त्व-चिन्तनको आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तारमें भी बहुत कुछ किया है। एक तरहसे भारतीय तत्व-चिन्तनका चमत्कारपूर्ण बौद्धिक प्रदेश जुदे-जुदे सम्प्रदायोंके प्रयत्नका ही परिणाम है। पर हमें जो सोचना है वह तो यह है कि हरएक सम्प्रदाय अपने जिन मन्तव्योंपर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्योंको दूसरा विरोधी सम्प्रदाय कतई माननेको तैयार नहीं है वे मन्तव्य साम्प्रदायिक विश्वास या साम्प्रदायिक भावनाके ही विषय माने जा सकते हैं, साक्षात्कारके विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कारका सामान्य स्रोत सम्प्रदायोंकी भूमिपर व्यौरेके विशेष प्रवाहोंमें विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीतिका रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वासरूपमें परिणत हुआ तब उस विश्वासको स्थापित

रखने और उसका समर्थन करनेके लिए सभी सम्प्रदायोंको कल्पनाओंका, दलीलोंका तथा तर्कोंका सहारा लेना पड़ा। सभी साम्प्रदायिक तत्व-चिन्तक अपने-अपने विश्वासकी पुष्टिके लिए कल्पनाओंका सहारा पूरे तौरसे लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा सम्प्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नहीं किन्तु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओंका तथा सत्य-असत्य और अर्ध सत्य तर्कोंका समावेश भी दर्शनके अर्थमें हो गया। एक तरफसे जहाँ सम्प्रदायने मूल दर्शन याने साक्षात्कारकी रक्षा की और उसे स्पष्ट करनेके लिये अनेक प्रकारके चिन्तनको चालू रखा तथा उसे व्यक्त करनेकी अनेक मनोरम कल्पनाएँ कीं, वहाँ दूसरी तरफसे सम्प्रदायकी बाड़पर बढ़ने तथा फूलने-फलनेवाली तत्व-चिन्तनकी बेल इतनी पराश्रित हो गई कि उसे सम्प्रदायके सिवाय कोई दूसरा सहारा ही न रहा। फलतः पर्देबन्द पद्मिनियोंकी तरह तत्व-चिन्तनकी बेल भी कोमल और संकुचित दृष्टिवाली बन गई।

हम साम्प्रदायिक चिन्तकोंका यह झुकाव रोज देखते हैं कि वे अपने चिन्तन में तो कितनी ही कमी या अपनी दलीलोंमें कितना ही लचरपन क्यों न हो उसे प्रायः देख नहीं पाते। और दूसरे विरोधी सम्प्रदायके तत्व-चिन्तनोंमें कितना ही साद्गुण्य और वैशद्य क्यों न हो उसे स्वीकार करनेमें भी हिचकिचाते हैं। साम्प्रदायिक तत्व-चिन्तनोंका यह भी मानस देखा जाता है कि वे सम्प्रदायान्तरके प्रमेयोंको या विशेष चिन्तनोंको अपना कर भी मुक्त कण्ठसे उसके प्रति कृतज्ञता दर्शानेमें हिचकिचाते हैं। दर्शन जब साक्षात्कारकी भूमिकाको लाँघकर विश्वास-की भूमिकापर आया और उसमें कल्पनाओं तथा सत्यासत्य तर्कोंका भी समावेश किया जाने लगा, तब दर्शन साम्प्रदायिक संकुचित दृष्टियोंमें आवृत होकर, मूलमें शुद्ध आध्यात्मिक होते हुए भी अनेक दोषोंका पुञ्ज बन गया। अब तो पृथक्करण करना ही कठिन हो गया है कि दार्शनिक चिन्तनोंमें क्या कल्पनामात्र है, क्या सत्य तर्क है, या क्या असत्य तर्क है? हरएक सम्प्रदायका अनुयायी चाहे वह अपढ़ हो, या पढ़ा-लिखा, विद्यार्थी एवं पण्डित, यह मानकर ही अपने तत्वचिन्तक ग्रंथोंको सुनता है या पढ़ता-पढ़ाता है, कि इस हमारे तत्त्वग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है, इसमें भ्रान्ति या सन्देहको अवकाश ही नहीं है तथा इसमें जो कुछ है वह दूसरे किसी सम्प्रदायके ग्रन्थमें नहीं है और अगर है तो भी वह हमारे सम्प्रदायसे ही उसमें गया है। इस प्रकारकी प्रत्येक सम्प्रदायकी अपूर्णमें पूर्ण मान लेनेकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बलवती है कि अगर इसका कुछ इलाज न हुआ तो मनुष्य जातिके उपकार के लिये प्रवृत्त हुआ यह दर्शन मनुष्यताका ही घातक सिद्ध होगा।

मैं समझता हूँ कि उक्त दोषको दूर करनेके अनेक उपायोंमेंसे एक उपाय यह भी है कि जहाँ दार्शनिक प्रमेयोंका अध्ययन तात्विक दृष्टिसे किया जाए वहाँ साथ ही साथ वह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी किया जाए। जब हम किसी भी एक दर्शनके प्रमेयोंका अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे करते हैं तब हमें अनेक दूसरे दर्शनोंके बारेमें भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। वह जानकारी अधूरी या विपर्यस्त नहीं। पूरी और यथासम्भव यथार्थ जानकारी होते ही हमारा मानस व्यापक ज्ञानके आलोकसे भर जाता है। ज्ञानकी विशालता और स्पष्टता हमारी दृष्टिमेंसे संकुचितता तथा तज्जन्य भय आदि दोषोंको उसी तरह हटाती है जिस तरह प्रकाश तमको। हम असर्वज्ञ और अपूर्ण हैं, फिर भी अधिक सत्यके निकट पहुँचना चाहते हैं। अगर हम योगी नहीं हैं फिर भी अधिकाधिक सत्य तथा तत्त्व-दर्शनके अधिकारी बनना चाहते हैं तो हमारे वास्ते साधारण मार्ग यही है कि हम किसी भी दर्शनको यथासम्भव सर्वाङ्गीण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी पढ़ें।

न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने मूल ग्रन्थके नीचे एक-एक छोटे-बड़े मुद्देपर जो बहुश्रुतत्वपूर्ण टिप्पण दिए हैं और प्रस्तावनामें जो अनेक सम्प्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेसे लेन-देनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी सार्थकता उपर्युक्त दृष्टिसे अध्ययन करने-करानेमें ही है। सारे न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा प्रस्तावनाका मर्मांश अगर कार्य साधक है तो सर्व-प्रथम अध्यापकोंके लिए। जैन हो या जैनेतर, सच्चा जिज्ञासु इसमेंसे बहुत कुछ पा सकता है। अध्यापकोंकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अवलोकन प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, फिर वह सुवास विद्यार्थियोंमें तथा अपढ़ अनुयायियोंमें भी अपने-आप फैलने लगती है। इस भावी लाभकी निश्चित आशासे देखा जाए तो मुझको यह कहनेमें लेश भी संकोच नहीं होता कि सम्पादकका टिप्पण तथा प्रस्तावना विषयक श्रम दार्शनिक अध्ययन क्षेत्रमें साम्प्रदायिकताकी संकुचित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा।

भारतवर्षको दर्शनोंकी जन्मस्थली और क्रीड़ाभूमि माना जाता है। यहाँका अपढ़जन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दोंको पद-पदपर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारतका दार्शनिक पौरुषशून्य क्यों हो गया है? इसका विचार करना जरूरी है। हम देखते हैं कि दार्शनिक प्रदेशमें कुछ ऐसे दोष दाखिल हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकोंका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। पहली बात दर्शनोंके पठन संबन्धी उद्देश्य की है। जिसे कोई दूसरा क्षेत्र न मिले और बुद्धिप्रधान आजीविका करनी हो तो बहुधा वह दर्शनोंकी ओर

झुकता है। मानों दार्शनिक अभ्यासका उद्देश्य या तो प्रधानतया आजीविका हो गया है या वादविजय एवं बुद्धिविलास। इसका फल हम सर्वत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाम बन जाता है या सुखशील। इस तरह जहाँ दर्शन शाश्वत अमरताकी गाथा तथा अनिवार्य प्रतिक्षण मृत्युकी गाथा सिखाकर अभयका संकेत करता है वहाँ उसके अभ्यासी हम निरे भीरु बन गए हैं। जहाँ दर्शन हमें सत्यासत्यका विवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्यको समझनेमें भी असमर्थ हो रहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करनेके विचारसे ही काँप उठते हैं। दर्शन जहाँ दिन-रात आत्मैक्य या आत्मौपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रभेदोंको और भी विशेष रूपसे पुष्ट करनेमें ही लग जाते हैं। यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है। इसका कारण एक ही है और वह है दर्शनके अध्ययनके उद्देश्यको ठीक-ठीक न समझना। दर्शन पढ़नेका अधिकारी वही हो सकता है और उसे ही पढ़ना चाहिए कि जो सत्यासत्यके विवेकका सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्यके स्वीकारकी हिम्मतकी अपेक्षा असत्यका परिहार करनेकी हिम्मत या पौरुष सर्व-प्रथम और सर्वाधिक प्रमाणमें प्रकट करना चाहता हो। संक्षेपमें दर्शनके अध्ययनका एक मात्र उद्देश्य है जीवनकी बाहरी और भीतरी शुद्धि। इस उद्देश्यको सामने रखकर ही उसका पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवताका पोषक बन सकता है।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रदेशमें नए संशोधनोंकी। अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक सम्प्रदायमें जो मान्यताएँ और जो कल्पनाएँ रूढ़ हो गई हैं उन्हींको उस सम्प्रदायमें सर्वज्ञ प्रणीत माना जाता है और आवश्यक नए विचारप्रकाशका उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता। पूर्व-पूर्व पुरखोंके द्वारा किये गए और उत्तराधिकारमें दिये गए चिन्तनों तथा धारणाओंका प्रवाह ही सम्प्रदाय है। हर एक सम्प्रदायका माननेवाला अपने मन्तव्योंके समर्थनमें ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकी प्रतिष्ठाका उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टिका उपयोग वहाँ तक ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पड़े। परिवर्तन और संशोधनके नामसे या तो सम्प्रदाय घबड़ाता है या अपनेमें पहलेसे ही सब कुछ होनेकी डींग हाँकता है। इसलिए भारतका दार्शनिक पीछे पड़ गया। जहाँ-जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयोंके द्वारा या वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा दार्शनिक विषयोंमें संशोधन करनेकी गुंजाइश हो वहाँ सर्वत्र उसका उपयोग अगर न किया जाएगा तो यह सनातन दार्शनिक विद्या केवल पुराणोंकी ही वस्तु रह जाएगी। अतएव दार्शनिक क्षेत्रमें संशोधन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी झुकाव होना जरूरी है।

———

दर्शन शब्दका विशेषार्थ।

दर्शन शब्दके तीन अर्थ सभी परम्पराओंमें प्रसिद्ध हैं, जैसे—घटदर्शन इत्यादि व्यवहारमें चाक्षुष ज्ञान अर्थमें, आत्मदर्शन इत्यादि व्यवहारमें साक्षात्कार अर्थमें और न्याय-दर्शन, सांख्य-दर्शन इत्यादि व्यवहारमें खास-खास परम्परासम्मत निश्चित विचारसरणी अर्थमें दर्शन शब्दका प्रयोग सर्वसम्मत है पर उसके अन्य दो अर्थ जो जैन परम्परामें प्रसिद्ध हैं वे अन्य परम्पराओंमें प्रसिद्ध नहीं। उनमेंसे एक अर्थ तो है श्रद्धान और दूसरा अर्थ है सामान्यबोध या आलोचन मात्र[1]। जैनशास्त्रोंमें तत्त्वश्रद्धाको दर्शन पदसे व्यवहृत किया जाता है, जैसे—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'—तत्त्वार्थ० १. २। इसी तरह वस्तुके निर्विशेषसत्तामात्रके बोधको भी दर्शन कहा जाता है जैसे—'विषय-विषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनात्'— प्रमाणन० २. ७। दर्शन शब्दके उक्त पाँच अर्थोंमेंसे अन्तिम सामान्यबोधरूप अर्थ लेकर ही यहाँ विचार प्रस्तुत है। इसके सम्बन्धमें यहाँ छः मुद्दोंपर कुछ विचार किया जाता है।

१. अस्तित्व—जिस बोधमें वस्तुका निर्विशेषण स्वरूपमात्र भासित हो ऐसे बोधका अस्तित्व एक या दूसरे नामसे तीन परम्पराओंके सिवाय सभी परम्पराएँ स्वीकार करती हैं। जैनपरम्परा जिसे दर्शन कहती है उसी सामान्यमात्र बोधको

---

(१) दर्शन शब्दका आलोचन अर्थ, जिसका दूसरा नाम अनाकार उपयोग भी है, यहाँ कहा गया है सो श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराकी अति प्रसिद्ध मान्यताको लेकर। वस्तुतः दोनों परम्पराओंमें अनाकार उपयोगके सिवाय अन्य अर्थ भी दर्शन शब्दके देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ—लिङ्गके बिना ही साक्षात् होनेवाला बोध अनाकार या दर्शन है और लिङ्गसापेक्ष बोध साकार या ज्ञान है—यह एक मत। दूसरा मत ऐसा भी है कि वर्तमानमात्रग्राही बोध–दर्शन और त्रैकालिकग्राही बोध–ज्ञान—तत्त्वार्थभा० टी० २. ६। दिगम्बरीय धवला टीकाका ऐसा भी मत है कि जो आत्म-मात्रका अवलोकन वह दर्शन और जो बाह्य अर्थका प्रकाश वह ज्ञान। यह मत बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका (गा० ४४) तथा लघीयस्त्रयीकी अभयचन्द्रकृत (१. ५) में निर्दिष्ट है।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा पूर्वोत्तरमीमांसक निर्विकल्पक और आलोचन-मात्र कहते हैं। बौद्ध परम्परामें भी उसका निर्विकल्पक नाम प्रसिद्ध है। उक्त सभी दर्शन ऐसा मानते हैं कि ज्ञानव्यापारके उत्पत्तिक्रममें सर्वप्रथम ऐसे बोधका स्थान अनिवार्यरूपसे आता है जो ग्राह्य विषयके सन्मात्र स्वरूपको ग्रहण करे पर जिसमें कोई अंश विशेष्यविशेषणरूपसे भासित न हो। फिर भी [1] मध्व और वल्लभकी दो वेदान्त परम्पराएँ और तीसरी भर्तृहरि और उसके पूर्ववर्ती शाब्दिकोंकी परम्परा ज्ञानव्यापारके उत्पत्तिक्रममें किसी भी प्रकारके सामान्यमात्र बोधका अस्तित्व स्वीकार नहीं करती। उक्त तीन परम्पराओंका मन्तव्य है कि ऐसा बोध कोई हो ही नहीं सकता जिसमें कोई न कोई विशेष भाषित न हो या जिसमें किसी भी प्रकारका विशेष्य-विशेषण संबन्ध भासित न हो। उनका कहना है कि प्राथमिकदशापन्न ज्ञान भी किसी न किसी विशेष को, चाहे वह विशेष स्थूल ही क्यों न हो, प्रकाशित करता ही है अतएव ज्ञानमात्र सविकल्पक हैं। निर्विकल्पकका मतलब इतना ही समझना चाहिए कि उसमें इतर ज्ञानोंकी अपेक्षा विशेष कम भासित होते हैं। ज्ञानमात्रको सविकल्पक माननेवाली उक्त तीन परम्पराओंमें भी शाब्दिक परम्परा ही प्राचीन है। सम्भव है भर्तृहरिकी उस परम्पराको ही मध्व और वल्लभने अपनाया हो।

२. लौकिकालौकिकता—निर्विकल्पका अस्तित्व माननेवाली सभी दार्शनिक परम्पराएँ लौकिक निर्विकल्प अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षजन्य निर्विकल्पको तो मानती हैं ही पर यहाँ प्रश्न है अलौकिक निर्विकल्पके अस्तित्व का। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराएँ ऐसे भी निर्विकल्पकको मानती हैं जो इन्द्रियसन्निकर्षके सिवाय भी योग या विशिष्टात्मशक्तिसे उत्पन्न होता है। बौद्ध परम्परामें ऐसा अलौकिक निर्विकल्पक योगिसंवेदनके नामसे प्रसिद्ध है जब कि जैन परम्परामें अवधिदर्शन और केवलदर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्वोत्तरमीमांसक विविध कक्षावाले योगियोंका तथा उनके योगजन्य अलौकिक ज्ञानका अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतएव उनके मतानुसार भी अलौकिक निर्विकल्पका अस्तित्व मान लेनेमें कुछ बाधक जान नहीं पड़ता। अगर यह धारणा ठीक है तो कहना होगा कि सभी निर्विकल्पकास्तित्ववादी सविकल्पक ज्ञानकी तरह निर्विकल्पक ज्ञानको भी लौकिक-अलौकिक रूपसे दो प्रकार का मानते हैं।

---

१. **Indian Psychology: Perception. P. 52-54**

३. विषयस्वरूप—सभी निर्विकल्पकवादी सत्तामात्रको निर्विकल्पका विषय मानते हैं पर सत्ताके स्वरूपके बारेमें सभी एक मत नहीं। अतएव निर्विकल्पक के ग्राह्य विषयका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न दर्शनके अनुसार जुदा-जुदा ही फलित होता है। बौद्ध परम्पराके अनुसार अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है और वह भी क्षणिक व्यक्तिमात्रमें ही पर्यवसित है जब कि शंकर वेदान्तके अनुसार अखण्ड और सर्वव्यापक ब्रह्म ही सत्त्वस्वरूप है, जो न देशबद्ध है न कालबद्ध। न्याय वैशेषिक और पूर्व मीमांसकके अनुसार अस्तित्वमात्र सत्ता है या जातिरूप सत्ता है जो बौद्ध और वेदान्तसम्मत सत्तासे भिन्न है। सांख्य-योग और जैन-परम्परामें सत्ता न तो क्षणिक व्यक्ति मात्र नियत है, न ब्रह्मस्वरूप है और न जाति रूप है। उक्त तीनों परम्पराएँ परिणामिनित्यत्ववादी होनेके कारण उनके मतानुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप ही सत्ता फलित होती है। जो कुछ हो, पर इतना तो निर्विवाद है कि सभी निर्विकल्पकवादी निर्विकल्पकके ग्राह्य विषय रूपसे सन्मात्रका ही प्रतिपादन करते हैं।

४. मात्र प्रत्यक्षरूप—कोई ज्ञान परोक्षरूप भी होता है और प्रत्यक्षरूप भी जैसे सविकल्पक ज्ञान, पर निर्विकल्पक ज्ञान तो सभी निर्विकल्पकवादियोंके द्वारा केवल प्रत्यक्ष-रूप माना गया है। कोई उसकी परोक्षता नहीं मानता, क्योंकि निर्विकल्पक, चाहे लौकिक हो या अलौकिक, पर उसकी उत्पत्ति किसी ज्ञानसे व्यवहित न होनेके कारण वह साक्षात्रूप होनेसे प्रत्यक्ष ही है। परन्तु जैन परम्पराके अनुसार दर्शनकी गणना परोक्षमें भी की जानी चाहिए, क्योंकि तार्किक परिभाषाके अनुसार परोक्ष मतिज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है अतएव तदनुसार मति उपयोगके क्रममें सर्वप्रथम अवश्य होनेवाले दर्शन नामक बोधको भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है पर आगमिक प्राचीन विभाग, जिसमें पारमार्थिक-सांव्यवहारिकरूपसे प्रत्यक्षके भेदोंका स्थान नहीं है, तदनुसार तो मतिज्ञान परोक्ष मात्र ही माना जाता है जैसा कि तत्त्वार्थ-सूत्र (१. ११) में देखा जाता है। तदनुसार जैनपरम्परामें इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप ही है प्रत्यक्षरूप नहीं। सारांश यह कि जैन परम्परामें तार्किक परिभाषा-के अनुसार दर्शन प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। अवधि और केवल रूप दर्शन तो मात्र प्रत्यक्षरूप ही हैं जब कि इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप होने पर भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जाता है। परन्तु आगमिक परिपाटीके अनुसार इन्द्रियजन्य दर्शन केवल परोक्ष ही है और इन्द्रियनिरपेक्ष अवध्यादि दर्शन केवल प्रत्यक्ष ही हैं।

५. उत्पादक सामग्री—लौकिक निर्विकल्पक जो जैन तार्किक परम्पराके

अनुसार सांव्यवहारिक दर्शन है उसकी उत्पादक सामग्रीमें विषयेन्द्रियसन्निपात और यथासम्भव आलोकादि सन्निविष्ट हैं। पर अलौकिक निर्विकल्प जो जैन-परम्पराके अनुसार पारमार्थिक दर्शन है उसकी उत्पत्ति इन्द्रियसन्निकर्षके सिवाय ही केवल विशिष्ट आत्मशक्तिसे मानी गई है। उत्पादक सामग्रीके विषयमें जैन और जैनेतर परम्पराएँ कोई मतभेद नहीं रखतीं। फिर भी इस विषयमें शाङ्कर वेदान्तका मन्तव्य जुदा है जो ध्यान देने योग्य है। वह मानता है कि 'तत्त्व-मसि' इत्यादि महावाक्यजन्य अखण्ड ब्रह्मबोध भी निर्विकल्पक है। इसके अनुसार निर्विकल्पकका उत्पादक शब्द आदि भी हुआ जो अन्य परम्परा-सम्मत नहीं।

६. प्रामाण्य—निर्विकल्पके प्रामाण्यके सम्बन्धमें जैनेतर परम्पराएँ भी एक-मत नहीं। बौद्ध और वेदान्त दर्शन तो निर्विकल्पकको ही प्रमाण मानते हैं इतना ही नहीं बल्कि उनके मतानुसार निर्विकल्पक ही मुख्य व पारमार्थिक प्रमाण है। न्याय-वशेषिक दर्शनमें निर्विकल्पकके प्रमात्व संबन्धमें एकविध कल्पना नहीं है। प्राचीन परम्पराके अनुसार निर्विकल्पक प्रमारूप माना जाता है जैसा कि श्रीधरने स्पष्ट किया है (कन्दली पृ० १६८) और विश्वनाथने भी भ्रमभिन्नत्वरूप प्रमात्व मानकर निर्विकल्पकको प्रमा कहा है (कारिकावली का० १३४) परन्तु गङ्गेशकी नव्य परम्पराके अनुसार निर्विकल्पक न प्रमा है और न अप्रमा। तदनुसार प्रमात्व किंवा अप्रमात्व प्रकारतादिघटित होनेसे, निर्विकल्प जो प्रकारतादिशून्य है वह प्रमा-अप्रमा उभय विलक्षण है—कारि-कावली का० १३५। पूर्वमीमांसक और सांख्य-योगदर्शन सामान्यतः ऐसे विषयोंमें न्याय-वैशेषिकानुसारी होनेसे उनके मतानुसार भी निर्विकल्पकके प्रमात्वकी वे ही कल्पनाएँ मानी जानी चाहिएँ जो न्यायवैशेषिक परम्परामें स्थिर हुई हैं। इस सम्बन्धमें जैन परम्पराका मन्तव्य यहाँ विशेष रूपसे वर्णन करने योग्य है।

जैनपरम्परामें प्रमात्व किंवा प्रामाण्यका प्रश्न उसमें तर्कयुग आनेके बादका है, पहिलेका नहीं। पहिले तो उसमें मात्र आगमिक दृष्टि थी। आगमिक दृष्टिके अनुसार दर्शनोपयोगको प्रमाण किंवा अप्रमाण कहनेका प्रश्न ही न था। उस दृष्टिके अनुसार दर्शन हो या ज्ञान, या तो वह सम्यक् हो सकता है या मिथ्या। उसका सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भी आध्यात्मिक भावानुसारी ही माना जाता था। अगर कोई आत्मा कमसे कम चतुर्थ गुणस्थानका अधिकारी हो अर्थात् वह सम्यक्त्वप्राप्त हो तो उसका सामान्य या विशेष कोई भी उपयोग मोक्षमार्गरूप तथा सम्यग्रूप माना जाता है। तदनुसार आगमिक दृष्टिसे सम्यक्त्वयुक्त आत्मा-

का दर्शनोपयोग सम्यक्दर्शन है और मिथ्यादृष्टियुक्त आत्माका दर्शनोपयोग मिथ्यादर्शन है। व्यवहारमें मिथ्या, भ्रम या व्यभिचारी समझा जानेवाला भी दर्शन अगर सम्यक्त्वधारि-आत्मगत है तो वह सम्यग्दर्शन ही है जब कि सत्य अभ्रम और अबाधित समझा जानेवाला भी दर्शनोपयोग अगर मिथ्यादृष्टियुक्त है तो वह मिथ्यादर्शन ही है [1]।

दर्शनके सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्वका आगमिक दृष्टिसे जो आपेक्षिक वर्णन ऊपर किया गया है वह सन्मतिटीकाकार अभयदेवने दर्शनको भी प्रमाण कहा है इस आधारपर समझना चाहिए। तथा उपाध्याय यशोविजयजीने संशय आदि ज्ञानोंको भी सम्यक्दृष्टियुक्त होनेपर सम्यक् कहा है—इस आधारपर समझना चाहिए। आगमिक प्राचीन और श्वेताम्बर-दिगम्बर उभय साधारण परम्परा तो ऐसा नहीं मानती, क्योंकि दोनों परम्पराओंके अनुसार चक्षु, अचक्षु, और अवधि तीनों दर्शन दर्शन ही माने गये हैं। उनमेंसे न कोई सम्यक् या न कोई मिथ्या और न कोई सम्यक् मिथ्या उभयविध माना गया है जैसा कि मति-श्रुत अवधि ज्ञान सम्यक् और मिथ्या रूपसे विभाजित हैं। इससे यही फलित होता है कि दर्शन उपयोग मात्र निराकार होनेसे उसमें सम्यग्दृष्टि किंवा मिथ्यादृष्टिप्रयुक्त अन्तरकी कल्पना की नहीं जा सकती। दर्शन चाहे चक्षु हो, अचक्षु हो या अवधि—वह दर्शन मात्र है। उसे न सम्यग्दर्शन कहना चाहिए और न मिथ्यादर्शन। यही कारण है कि पहिले गुणस्थानमें भी वे दर्शन ही माने गए हैं जैसा कि चौथे गुणस्थानमें। यह वस्तु गन्धहस्ति सिद्धसेनने सूचित भी की है—"अत्र च यथा साकाराद्धायां सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्विशेषः, नैवमस्ति दर्शने, अनाकारत्वे द्वयोरपि तुल्यत्वादित्यर्थः"– तत्त्वार्थभा० टी २.६।

यह हुई आगमिक दृष्टिकी बात जिसके अनुसार उमास्वातिने उपयोगमें सम्यक्त्व-असम्यक्त्वका निदर्शन किया है। पर जैनपरम्परामें तर्कयुग दाखिल होते ही प्रमात्व-अप्रमात्व या प्रामाण्य-अप्रामाण्यका प्रश्न आया। और उसका विचार भी आध्यात्मिक भावानुसारी न होकर विषयानुसारी किया जाने लगा जैसा कि जैनेतर दर्शनोंमें तार्किक विद्वान् कर रहे थे। इस तार्किक दृष्टिके अनुसार जैनपरम्परा दर्शनको प्रमाण मानती है, अप्रमाण मानती है, उभयरूप मानती है या उभयभिन्न मानती है? यह प्रश्न यहाँ प्रस्तुत है।

१—"सम्यग्दृष्टिसम्बन्धिनां संशयादीनामपि ज्ञानत्वस्य महाभाष्यकृता परिभाषितत्वात्"—ज्ञानबिन्दु पृ० १३६ B. नन्दी सू० ४१।

तार्किकदृष्टिके अनुसार भी जैनपरम्परामें दर्शनके प्रमात्व या अप्रमात्वके बारेमें कोई एकवाक्यता नहीं। सामान्यरूपसे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर सभी तार्किक दर्शन को प्रमाण कोटिसे बाहर ही रखते हैं। क्योंकि वे सभी बौद्ध-सम्मत निर्विकल्पकके प्रमात्व का खण्डन करते हैं और अपने-अपने प्रमाण लक्षणमें विशेषोपयोगबोधक ज्ञान, निर्णय आदि पद दाखिल करके सामान्य उपयोगरूप दर्शन को प्रमाणलक्षणका अलक्ष्य ही मानते हैं[1]। इस तरह दर्शनको प्रमाण न माननेकी तार्किक परम्परा श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी ग्रन्थोंमें साधारण है। माणिक्यनन्दी और वादी देवसूरिने तो दर्शनको न केवल प्रमाणबाह्य ही रखा है बल्कि उसे प्रमाणाभास (परी०६. २। प्रमाणन० ६. २४, २५) भी कहा है।

सन्मतिटीकाकार अभयदेवने (सन्मतिटी० पृ० ४५७) दर्शनको प्रमाण कहा है पर वह कथन तार्किकदृष्टिसे न समझना चाहिए। क्योंकि उन्होंने आगमानुसारी सन्मतिकी व्याख्या करते समय आगमदृष्टि ही लक्ष्यमें रखकर दर्शनको सम्यग्दर्शन अर्थमें प्रमाण कहा है, न कि तार्किकदृष्टिसे विषयानुसारी प्रमाण। यह विवेक उनके उस सन्दर्भसे हो जाता है।

अलबत्ता उपाध्याय यशोविजयजीके दर्शनसम्बन्धी प्रामाण्य-अप्रामाण्य विचारमें कुछ विरोध सा जान पड़ता है। एक ओर वे दर्शनको व्यञ्जनावग्रह-अनन्तरभावी नैश्चयिक अवग्रहरूप बतलाते हैं[2] जो मतिव्यापार होनेके कारण प्रमाण कोटिमें आ सकता है। और दूसरी ओर वे वादीदेवसूरिके प्रमाणलक्षण-वाले सूत्रकी व्याख्यामें ज्ञानपदका प्रयोजन बतलाते हुए दर्शनको प्रमाणकोटिसे बहिर्भूत बतलाते हैं (तर्कभाषा पृ० १।) इस तरह उनके कथनमें जहाँ एक ओर दर्शन बिलकुल प्रमाणबहिर्भूत है वहाँ दूसरी ओर अवग्रह रूप होनेसे प्रमाणकोटिमें आने योग्य भी है। परन्तु जान पड़ता है उनका तात्पर्य कुछ और है। और सम्भवतः वह तात्पर्य यह है कि मत्यंश होनेपर भी नैश्चयिक अवग्रह प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यवहारक्षम न होनेके कारण प्रमाणरूप गिना ही न जाना चाहिए। इसी अभिप्रायसे उन्होंने दर्शनको प्रमाणकोटिबहिर्भूत बहलाया है ऐसा मान लेनेसे फिर कोई विरोध नहीं रहता।

आचार्य हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसामें दर्शनसे संबन्ध रखनेवाले विचार तीन

---

१ लघो०परी० १.३। प्रमेयक० पृ० ८। प्रमाणन० १.२

२ तर्कभाषा पृ० ५। ज्ञानबिन्दु पृ० १३८।

जगह प्रसङ्गवश प्रगट किए हैं। अवग्रहका स्वरूप दर्शाते हुए उन्होंने कहा कि दर्शन जो अविकल्पक है वह अवग्रह नहीं, अवग्रहका परिणामी कारण अवश्य है और वह इन्द्रियार्थ संबन्धके बाद पर अवग्रहके पूर्व उत्पन्न होता है–१.१.२६–बौद्धसम्मत निर्विकल्पक ज्ञानको अप्रमाण बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि वह अनध्यवसाय रूप होनेसे प्रमाण नहीं, अध्यवसाय या निर्णय ही प्रमाण गिना जाना चाहिये–१.१.६। उन्होंने निर्णयका अर्थ बतलाते हुए कहा है कि अनध्यवसायसे भिन्न तथा अविकल्पक एवं संशयसे भिन्न ज्ञान ही निर्णय है—पृ०३.पं०१। आचार्यके उक्त सभी कथनोंसे फलित यही होता है कि वे जैनपरम्पराप्रसिद्ध दर्शन और बौद्धपरम्पराप्रसिद्ध निर्विकल्पकको एक ही मानते हैं और दर्शनको अनिर्णय रूप होनेसे प्रमाण नहीं मानते तथा उनका यह अप्रमाण्य कथन भी तार्किक दृष्टिसे है, आगम दृष्टिसे नहीं, जैसा कि अभयदेवभिन्न सभी जैन तार्किक मानते आए हैं।

आ० हेमचन्द्रोक्त अवग्रहका परिणामिकारणरूप दर्शन ही उपाध्यायजीका नैश्चयिक अवग्रह समझना चाहिए।

ई० १९३९] [प्रमाणमीमांसा

तत्त्वोपप्लवसिंह

चार्वाक दर्शनका एक अपूर्व ग्रन्थ।

गत वर्ष, ई० स० १९४० में, गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीजके ग्रन्थाङ्क ८७ रूपमें, तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जो चार्वाक दर्शनके विद्वान् जयराशि भट्टकी कृति है और जिसका सम्पादन प्रो० रसिकलाल सी० परीख तथा मैंने मिलकर किया है। इस ग्रन्थ तथा इसके कर्ताके विषयमें ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिनकी जानकारी दर्शन-साहित्यके इतिहासज्ञोंके लिए तथा दार्शनिक-प्रमेयोंके जिज्ञासुओंके लिए उपयोगी एवं रसप्रद हैं।

उक्त सिरीजमें प्रकाशित प्रस्तुत कृतिकी प्रस्तावनामें, ग्रन्थ तथा उसके कर्ताके बारेमें कुछ आवश्यक जानकारी दी गई है; फिर भी प्रस्तुत लेख विशिष्ट उद्देश्यसे लिखा जाता है। एक तो यह, कि वह मुद्रित पुस्तक सबको उतनी सुलभ नहीं हो सकती जितना कि एक लेख। दूसरी, वह प्रस्तावना अंग्रेजीमें लिखी होनेसे अंग्रेजी न जाननेवालोंके लिए कार्यसाधक नहीं। तीसरी, खास बात यह है कि उस अंग्रेजी प्रस्तावनामें नहीं चर्चित ऐसी अनेकानेक ज्ञातव्य बातोंका इस लेखमें विस्तृत ऊहापोह करना है।

तत्त्वोपप्लवसिंह और उसके कर्ताके बारेमें कुछ लिखनेके पहले, यह बतलाना उपयुक्त होगा कि इस ग्रन्थकी मूल प्रति हमें कब, कहाँसे और किस तरहसे मिली। करीब पन्द्रह वर्ष हुए, जब कि मैं अपने मित्र पं० बेचरदासके साथ अहमदाबादके गुजरात पुरातत्त्व मन्दिरमें सन्मतितर्कका सम्पादन करता था, उस समय सन्मतितर्ककी लिखित प्रतियोंकी खोजकी धुन मेरे सिरपर सवार थी। मुझे मालूम हुआ कि सन्मतितर्ककी ताडपत्रकी प्रतियाँ पाटणमें हैं। मैं पं० बेचरदासके साथ वहाँ पहुँचा। उस समय पाटणमें स्व० मुनिश्री हंसविजयजी विराजमान थे। वहाँके ताडपत्रीय भण्डारको खुलवानेका तथा उसमेंसे इष्ट प्रतियोंके पा लेनेका कठिन कार्य उक्त मुनिश्रीके ही सद्भाव तथा प्रयत्नसे सरल हुआ था।

सन्मतितर्ककी ताडपत्रीय प्रतियोंको खोजते व निकालते समय हम लोगोंका ध्यान अन्यान्य अपूर्व ग्रन्थोंकी ओर भी था। पं० बेचरदासने देखा कि उस एकमात्र ताडपत्रीय ग्रन्थोंके भण्डारमें दो ग्रन्थ ऐसे हैं जो अपूर्व हो कर जिनका

उपयोग सन्मतितर्ककी टीकामें भी हुआ है। हमने वे दोनों ग्रन्थ किसी तरह उस भण्डारके व्यवस्थापकोंसे प्राप्त किए। उनमेंसे एक तो था बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुशास्त्रका अर्चटकृत विवरण [१] और दूसरा ग्रन्थ था प्रस्तुत तत्त्वोपप्लवसिंह। अपनी विशिष्टता तथा पिछले साहित्य पर पड़े हुए इनके प्रभावके कारण, उक्त दोनों ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण तो थे ही, पर उनकी लिखित प्रति अन्यत्र कहीं भी ज्ञात न होनेके कारण वे ग्रन्थ और भी अधिक विशिष्ट महत्त्ववाले हमें मालूम हुए।

उक्त दोनों ग्रन्थोंकी ताडपत्रीय प्रतियाँ यद्यपि यत्र-तत्र खण्डित और कहीं कहीं घिसे हुए अक्षरोंवाली हैं, फिर भी ये शुद्ध और प्राचीन रही। तत्त्वोपप्लवकी इस प्रतिका लेखन-समय वि० सं० १३४९ मार्गशीर्ष कृष्ण ११ शनिवार है। यह प्रति गुजरातके धोलका नगरमें, महं० नरपालके द्वारा लिखवाई गई है। धोलका, गुजरातमें उस समय पाटणके बाद दूसरी राजधानीका स्थान था, जिसमें अनेक ग्रन्थ भण्डार बने थे और सुरक्षित थे। धोलका वह स्थान है जहाँ रह कर प्रसिद्ध मन्त्री वस्तुपालने सारे गुजरातका शासन-तंत्र चलाया था। सम्भव है कि इस प्रतिका लिखानेवाला महं० नरपाल शायद मंत्री वस्तुपालका ही कोई वंशज हो। अस्तु, जो कुछ हो, तत्त्वोपप्लवकी इस उपलब्ध ताडपत्रीय प्रतिको अनेक बार पढ़ने, इसके घिसे हुए तथा लुप्त अक्षरोंको पूरा करने आदिका श्रमसाध्य कार्य अनेक सहृदय विद्वानोंकी मददसे चालू रहा, जिनमें भारतीय-विद्याके सम्पादक मुनिश्री जिनविजयी, प्रो० रसिकलाल परीख तथा पं० दलसुख मालवणिया मुख्य हैं।

इस ताड़पत्रकी प्रतिके प्रथम वाचनसे ले कर इस ग्रन्थके छप जाने तकमें जो कुछ अध्ययन और चिन्तन इस सम्बन्धमें हुआ है उसका सार '**भारतीय विद्या**' के पाठकोंके लिए प्रस्तुत लेखके द्वारा उपस्थित किया जाता है। इस लेखका वर्त्तमान स्वरूप पं० दलसुख मालवणियाके सौहार्दपूर्ण सहयोगका फल है।

ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिताका नाम, जैसा कि ग्रन्थके अन्तिम प्रशस्तिपद्यमें [२]

---

१. गायकवाड़ सिरीजमें यह भी प्रकाशित हो गया है।

२. **भट्टश्रीजयराशिदेवगुरुभिः सृष्टो महार्थोदयः।**
तत्त्वोपप्लवसिंह एष इति यः ख्यातिं परां यास्यति॥ तत्त्वो०, पृ० १२५
"तत्त्वोपप्लवकरणाद् जयराशिः सौगतमतमवलम्ब्य ब्रूयात्"–सिद्धिवि० टी०, पृ० २८८।

उल्लिखित है, **जयराशि भट्ट है।** यह जयराशि किस वर्ण या जातिका था इसका कोई स्पष्ट प्रमाण ग्रन्थमें नहीं मिलता, परन्तु वह अपने नामके साथ जो 'भट्ट' विशेषण लगाता है उससे जान पड़ता है कि वह जातिसे ब्राह्मण होगा। यद्यपि ब्राह्मणसे भिन्न ऐसे जैन आदि अन्य विद्वानोंके नामके साथ भी कभी-कभी यह भट्ट विशेषण लगा हुआ देखा जाता है (यथा—भट्ट अकलंक इत्यादि); परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थमें आए हुए जैन और बौद्ध मत विषयक निर्दय एवं कटाक्ष-युक्त [1] खण्डनके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि यह जयराशि न जैन है और न बौद्ध। जैन और बौद्ध संप्रदायके इतिहासमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता है, जिससे यह कहा जा सके, कि जैन और बौद्ध होते हुए भी अमुक विद्वान्ने अपने जैन या बौद्ध संप्रदायका समग्र भावसे विरोध किया हो। जैन और बौद्ध सांप्रदायिक परंपराका बंधारण ही पहलेसे ऐसा रहा है, कि कोई विद्वान् अपनी परंपराका आमूल खण्डन करके वह फिर न अपनेको उस परंपरका अनुयायी कह सकता है और न उस परम्पराके अन्य अनुयायी ही उसे अपनी परम्पराका मान सकते हैं। ब्राह्मण संप्रदायका बंधारण इतना सख्त नहीं है। इस संप्रदायका कोई विद्वान्, अगर अपनी पैतृक ऐसी सभी वैदिक मान्यताओंका, अपना बुद्धिपाटव दिखानेके वास्ते अथवा अपनी वास्तविक मान्यताको प्रकट करनेके वास्ते, आमूल खण्डन करता है, तब भी, वह यदि आचारसे ब्राह्मण संप्रदायका आत्यन्तिक त्याग नहीं कर बैठता है, तो वैदिक मतानुयायी विशाल जनतामें उसका सामाजिक स्थान कभी नष्ट नहीं हो पाता। ब्राह्मण सम्प्रदायकी प्रकृतिका, हमारा उपर्युक्त ख्याल अगर ठीक है, तो

---

१. बौद्धोंके लिए ये शब्द हैं—

'तद्बालविलसितम्'–पृ० २६, पं० २६। 'जडचेष्टितम्'– पृ० ३२, पं० ४। 'तदिदं महानुभावस्य दर्शनम्। न ह्यबालिश एवं वक्तुमुत्सहेत'–पृ० ३८, पं० १५। 'तदेतन्मुग्धाभिधानं दुनोति मानसम्'–पृ० ३६, पं० १७। 'तद्बालवल्गितम्'–पृ० ३६, पं० २३। 'मुग्धबौद्धैः'–पृ० ४२, पं० २२। 'तन्मुग्ध विलसितम्'–पृ० ५३, पं० ६। इत्यादि

तथा जैनोंके लिए ये शब्द हैं—

"इमामेव मूर्खतां दिगम्बराणामङ्गीकृत्य उक्तं सूत्रकारेण यथा—

"नग्न! श्रमणक! दुर्बुद्धे! कायक्लेशपरायण!।
जीविकार्थेऽपि चारम्भे केन त्वमसि शिक्षितः॥"

—पृ० ७६, पं० १५।

कहना होगा कि यह भट्ट विशेषण जयराशिकी ब्राह्मण सांप्रदायिकताका ही द्योतक होना चाहिए।

इसके सिवा, जयराशिके पिता-माता या गुरु-शिष्य इत्यादिके संबन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता। फिर भी जयराशिका बौद्धिक मन्तव्य क्या था यह बात इसके प्रस्तुत ग्रन्थसे स्पष्ट जानी जा सकती है। जयराशि एक तरहसे बृहस्पतिके चार्वाक संप्रदायका अनुगामी है; फिर भी वह चार्वाकके सिद्धान्तोंको अक्षरशः नहीं मानता। चार्वाक सिद्धान्तमें पृथ्वी आदि चार भूतोंका तथा मुख्य रूपसे प्रत्यक्ष विशिष्ट प्रमाणका स्थान है। पर जयराशि न प्रत्यक्ष प्रमाणको ही मानता है और न भूत तत्त्वोंको ही। तब भी वह अपनेको चार्वाकानुयायी जरूर मानता है। अतएव ग्रन्थके आरम्भमें[1] ही बृहस्पतिके मन्तव्यके साथ अपने मन्तव्यकी आनेवाली असंगतिका उसने तर्कशुद्ध परिहार भी किया है। उसने अपने मन्तव्यके बारेमें प्रश्न उठाया है, कि बृहस्पति जब चार तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है, तब तुम (जयराशि) तत्त्वमात्रका खण्डन कैसे करते हो? अर्थात् बृहस्पतिकी परम्पराके अनुयायीरूपसे कम-से-कम चार तत्त्व तो तुम्हें अवश्य मानने ही चाहिए। इस प्रश्नका जवाब देते हुए जयराशिने अपनेको बृहस्पतिका अनुयायी भी सूचित किया है और साथ ही बृहस्पतिसे एक कदम आगे बढ़नेवाला भी बतलाया है। वह कहता है कि—बृहस्पति जो अपने सूत्रमें चार तत्त्वोंको गिनाता है, वे इसलिए नहीं कि वह खुद उन तत्त्वोंको मानता है। सूत्रमें चार तत्त्वोंके गिनाने अथवा तत्त्वोंके व्याख्यानकी प्रतिज्ञा करनेसे बृहस्पतिका मतलब सिर्फ लोकप्रसिद्ध तत्त्वोंका निर्देश करना मात्र है। ऐसा करके बृहस्पति यह सूचित करता है, कि साधारण लोकमें प्रसिद्ध और माने जानेवाले पृथ्वी आदि चार तत्त्व भी जब सिद्ध हो नहीं सकते, तो फिर अप्रसिद्ध और अतीन्द्रिय आत्मा आदि तत्त्वोंकी तो बात ही क्या! बृहस्पतिके कुछ सूत्रोंका उल्लेख करके और उसके आशयके साथ अपने नए प्रस्थानकी आनेवाली असंगतिका परिहार करके जयराशिने भारत-वर्षीय प्राचीन गुरु-शिष्य भावकी प्रणालीका ही परिचय दिया है। भारतवर्षके किसी भी संप्रदाय-

---

१. 'ननु यदि उपप्लवस्तत्त्वानां किमाया....; अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः'; 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा इत्यादि? न अन्यार्थत्वात्। किमर्थम्? प्रतिबिम्बनार्थम्। किं पुनरत्र प्रतिबिम्ब्यते? पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते, किं पुनरन्यानि?'—तत्त्वो० पृ० १, पं० १०।

के इतिहासको हम देखते हैं, तो उसमें स्पष्ट दिखाई देता है, कि जब कोई असाधारण और नवीन विचारका प्रस्थापक पैदा होता है तब वह अपने नवीन विचारोंका मूल या बीज अपने संप्रदायके प्राचीन एवं प्रतिष्ठित आचार्योंके वाक्योंमें ही बतलाता है। वह अपनेको अमुक संप्रदायका अनुयायी मानने-मनवानेके लिए उसकी परम्पराके प्राचीन एवं प्रतिष्ठित आचार्योंके साथ अपना अविच्छिन्न अनुसंधान अवश्य बतलाता है। चाहे फिर उसका वह नया विचार उस संप्रदायके पूर्ववर्ती आचार्योंके मस्तिष्कमें कभी आया भी न हो।[१] जयराशिने भी यही किया है। उसने अपने निजी विचार-विकासको बृहस्पतिके अभिप्रायमेंसे ही फलित किया है। यह वस्तुस्थिति इतना बतलानेके लिए पर्याप्त है कि जयराशि अपनेको बृहस्पतिकी संप्रदायका मानने-मनवानेका पक्षपाती है।

अपनेको बृहस्पतिकी परम्पराका मान कर और मनवा कर भी वह अपनेको बृहस्पतिसे भी ऊँची बुद्धिभूमिका पर पहुँचा हुआ मानता है। अपने इस मन्तव्यको वह स्पष्ट शब्दोंमें, ग्रन्थके अन्तकी प्रशस्तिके एक पद्यमें, व्यक्त करता है। वह बहुत ही जोरदार शब्दोंमें कहता है कि सुरगुरु—बृहस्पतिको भी जो नहीं सूझे ऐसे समर्थ विकल्प—विचारणीय प्रश्न मेरे इस ग्रन्थमें ग्रथित हैं[२]।

जयराशि बृहस्पतिकी चार्वाक मान्यताका अनुगामी था इसमें तो कोई सन्देह नहीं, पर यहाँ प्रश्न यह है कि जयराशि बुद्धिसे ही उस परम्पराका अनुगामी था कि आचारसे भी? इसका जवाब हमें सीधे तौरसे किसी तरह नहीं मिलता। पर तत्त्वोपप्लवके आन्तरिक परिशीलनसे तथा चार्वाक परम्पराकी थोड़ी बहुत पाई जानेवाली ऐतिहासिक जानकारीसे, ऐसा जान पड़ता है कि जयराशि बुद्धिसे ही चार्वाक परम्पराका अनुगामी होना चाहिए। साहित्यिक

---

१. उदाहरणार्थ आचार्य शङ्कर, रामानुज, मध्व और वल्लभादिको लीजिए—जो सभी परस्पर अत्यन्त विरुद्ध ऐसे अपने मन्तव्योंको गीता, ब्रह्मसूत्र जैसी एक ही कृतिमेंसे फलित करते हैं; तथा सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्धाचार्य परस्पर बिलकुल भिन्न ऐसे अपने विचारोंका उद्गम एक ही तथागतके उपदेशमेंसे बतलाते हैं।

२. **"ये याता नहि गोचरं सुरगुरोः बुद्धेर्विकल्पा दृढाः।**
प्राप्यन्ते ननु तेऽपि यत्र विमले पाखण्डदर्पच्छिदि।"

—तत्त्वो० पृ० १२५, पं० १३

इतिहास हमें चार्वाकके खास जुदे आचारोंके बारेमें कुछ भी नहीं कहता। यद्यपि अन्य[1] संप्रदायोंके विद्वानोंने चार्वाक मतका निरूपण करते हुए, उसके अभिमत रूपसे कुछ नीतिविहीन आचारोंका निर्देश अवश्य किया है; पर इतने परसे हम यह नहीं कह सकते कि चार्वाकके अभिमतरूपसे, अन्यपरम्पराके विद्वानोंके द्वारा वर्णन किये गए वे आचार, चार्वाक परम्परामें भी कर्तव्यरूपसे प्रतिपादन किये जाते होंगे। चार्वाक दर्शनकी तात्त्विक मान्यता दर्शानेवाले बार्हस्पत्यके नामसे कुछ सूत्र या वाक्य हमें बहुत पुराने समयके मिलते हैं; पर हमें ऐसा कोई वाक्य या सूत्र नहीं मिलता जो बार्हस्पत्य नामके साथ उद्धृत हो और जिसमें चार्वाक मान्यताके किसी न किसी प्रकारके आचारोंका वर्णन हो। खुद बार्हस्पत्य वाक्योंके द्वारा चार्वाकके आचारोंका पता हमें न चलें तब तक, अन्य द्वारा किये गए वर्णनमात्रसे, हम यह निश्चित नतीजा नहीं निकाल सकते कि अमुक आचार ही चार्वाकका है। वाममार्गीय परंपराओंमें या तान्त्रिक एवं कापालिक परम्पराओंमें प्रचलित या माने जानेवाले अनेक विधि-निषेधमुक्त[2] आचारोंका पता हमें कितनेएक तान्त्रिक आदि ग्रन्थोंसे चलता है। पर वे आचार चार्वाक मान्यताको भी मान्य होंगे इस बातका निर्णायक प्रमाण हमारे पास कोई नहीं। ऐसी दशामें जयराशिको चार्वाक संप्रदायका अनुगामी मानते हुए भी, निर्विवाद रूपसे हम उसे सिर्फ बुद्धिसे ही चार्वाक परम्पराका अनुगामी

---

१. "पिब खाद च चारुलोचने यदतीतं वरगात्रि तन्नते।
नहि भीरु गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥
साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने।
निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात् परो न हि॥"

—षड्द० का० ८२, ८६।

'प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

'इति लोकगाथामनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेणार्थकामावेव पुरुषार्थौ मन्यमानाः पारलौकिकमर्थमपह्नुवानाश्चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते।'—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २।

२. इस विषयके जिज्ञासुओंको आगमप्रकाश नामकी गुजराती पुस्तक देखने योग्य है जिसमें लेखकने तान्त्रिक ग्रन्थोंका हवाला देकर वाममार्गीय आचारोंका निरूपण किया है।

कह सकते हैं। ऐसा भी संभव है कि वह आचारके विषयमें अपनी पैतृक ऐसी ब्राह्मण परम्पराके ही आचारोंका सामान्य रूपसे अनुगामी रहा हो।

जयराशिके जन्मस्थान, निवासस्थान या पितृदेशके बारेमें जाननेका कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं हैं। परन्तु उसकी प्रस्तुत कृति तत्त्वोपप्लवका किया गया सर्वप्रथम उपयोग, हम इस समय, जैन विद्वान् विद्यानन्द, अनन्तवीर्य आदिकी कृतियोंमें देखते हैं[1]। विद्यानन्द दक्षिण भारतके विद्वान् हैं, अतएव पुष्ट संभावना यह है कि जयराशि भी दक्षिण भारतमें ही कहीं उत्पन्न हुआ होगा। पश्चिम भारत—अर्थात् गुजरात और मालवामें होनेवाले कई जैन विद्वानोंने[2] भी अपने ग्रन्थोंमें तत्त्वोपप्लवका साक्षात् उपयोग किया है; परन्तु जान पड़ता है कि गुजरात आदिमें तत्त्वोपप्लवका जो प्रचार बादमें जाकर हुआ वह असलमें विद्यानन्दकी कृतियोंके प्रचारका ही परिणाम मालूम होता है। उत्तर और पूर्व भारतमें रचे गए किसी ग्रन्थमें, तत्त्वोपप्लवका किया गया ऐसा कोई प्रत्यक्ष उपयोग अभी तक नहीं देखा गया, जैसा दक्षिण भारत और पश्चिम भारतमें बने हुए ग्रन्थोंमें देखा जाता है। इसमें भी दक्षिण भारतकी कृतियोंमें ही जब सर्वप्रथम इसका उपयोग देखा जाता है तब ऐसी कल्पनाका करना असंगत नहीं मालूम देता कि जयराशिकी यह अपूर्व कृति कहीं दक्षिणमें ही बनी होगी।

जयराशिके समयके बारेमें भी अनुमानसे ही काम लेना पड़ता है। क्योंकि न तो इसने स्वयं अपना समय सूचित किया है और न दूसरे किसीने ही इसके समयका उल्लेख किया है। तत्वोपप्लवमें जिन प्रसिद्ध विद्वानोंके नाम आए हैं या जिनकी कृतियोंमेंसे कुछ अवतरण आए हैं उन विद्वानोंके समयकी अन्तिम अवधि ई० स० ७२५ के आसपास तककी है। कुमारिल, प्रभाकर, धर्मकीर्ति और धर्मकीर्तिके टीकाकार आदि विद्वानोंके नाम, वाक्य या मन्तव्य तत्त्वोपप्लवमें[3] मिलते हैं। इन विद्वानोंके समयकी उत्तर अवधि ई० स० ७५०

---

१. अष्टसहस्री, पृ० ३७। सिद्धिविनिश्चय, पृ० २८८।

२. गुजरात तथा मालवामें विहार करनेवाले सन्मतिके टीकाकार अभयदेव, जैनतर्कवार्तिककार शान्तिसूरि, स्याद्वादरत्नाकरकार वादी देवसूरि, स्याद्वादमंजरीकार मल्लिषेणसूरि आदि ऐसे विद्वान हुए हैं जिन्होंने तत्त्वोपप्लवका साक्षात् उपयोग किया है।

३. कुमारिलके श्लोकवार्तिककी कुछ कारिकाएँ तत्वोपप्लवमें (पृ० २७, ११६) उद्धृत की गई हैं। प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषसंबंध मतका खण्डन जयराशिने

से आगे नहीं जा सकती, दूसरी तरफ, ई० स० ८१० से ८७५ तकमें संभवित जैन विद्वान् विद्यानन्दने तत्त्वोपप्लवका केवल नाम ही नहीं लिया है बल्कि उसके अनेक भाग ज्योंके त्यों अपनी कृतियोंमें उद्धृत किये हैं और उनका खण्डन भी किया है [१]। पर साथमें इस जगह यह भी ध्यानमें रखना चाहिए, कि ई० स० की आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें होनेवाले या जीवित ऐसे अकलंक, हरिभद्र आदि किसी जैन विद्वान्का तत्त्वोपप्लवमें कोई निर्देश नहीं है, और न उन विद्वानोंकी कृतियोंमें ही तत्त्वोपप्लवका वैसा कोई सूचन है। इसी तरह, ई० स० की नवीं शताब्दीके प्रारम्भमें होनेवाले प्रसिद्ध शंकराचार्यका भी कोई सूचन तत्त्वोपप्लवमें नहीं है। तत्त्वोपप्लवमें आया हुआ वेदान्तका खण्डन [२] प्राचीन औपनिषदिक संप्रदायका ही खण्डन जान पड़ता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे इस समय हमारी धारणा ऐसी बनती है कि जयराशि ई०स० ७२५ तकमें कभी हुआ है।

यहाँ एक बात पर विशेष विचार करना प्राप्त होता है, और वह यह है, कि तत्त्वोपप्लवमें एक पद्य [३] ऐसा मिलता है जो शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें मौजूद है। पर वहाँ, वह कुमारिलके नामके साथ उद्धृत किये जाने पर भी, उपलभ्य कुमारिलकी किसी कृतिमें प्राप्य नहीं है। अगर तत्त्वोपप्लवमें उद्धृत किया हुआ वह पद्य, सचमुच तत्त्वसंग्रहमेंसे ही लिया गया है,

---

बिस्तारसे किया है (पृ० १८)। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी कुछ कारिकाएँ और न्यायविन्दुका एक सूत्र तत्त्वोपप्लवमें उद्धृत हैं (पृ० २८, ५१, ४५, इत्यादि; तथा पृ० ३२)। धर्मकीर्तिके टीकाकारोंका नामोल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थकी कारिकाकी, जो टीका किसीने की होगी उसका खण्डन तत्त्वोपप्लवमें उपलब्ध है—पृ० ६८।

१. 'कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम्? किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्वेन, प्रवृत्तिसामर्थ्येन, अन्यथा वा? यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन सदा....' इत्यादि अष्टसहस्रीगत पाठ (अष्टसहस्री पृ० ३८) तत्त्वोपप्लवमेंसे (पृ० २) शब्दशः लिया गया है। और आगे चलकर अष्टसहस्रीकारने तत्त्वोपप्लवके उन वाक्योंका एक-एक करके खण्डन भी किया है—देखो, अष्टसहस्री पृ० ४०।

२. देखो, तत्त्वोपप्लव पृ० ८१।

३. "दोषाः सन्ति न सन्तीति" इत्यादि, तत्त्वो० पृ० ११६।

तो ऐसा मानना होगा कि जयराशिने शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहको जरूर देखा था। शान्तरक्षितका जीवन-काल इतना अधिक विस्तृत है कि वह प्रायः पूरी एक शताब्दीको व्याप्त कर लेता है। शान्तरक्षितका समय ई० स० की आठवीं-नवीं शताब्दी है। इस बातसे भी जयराशिके समय संबन्धी हमारे उक्त अनुमानकी पुष्टि होती है। दस-बीस वर्ष इधर या उधर; पर समय संबन्धी उपर्युक्त अनुमानमें विशेष अन्तर पड़नेकी संभावना बहुत ही कम है।

जयराशिकी पाण्डित्यविषयक योग्यताके विषयमें विचार करनेका साधन, तत्त्वोपप्लवके सिवाय, हमारे सामने और कुछ भी नहीं है। तत्त्वोपप्लवमें एक जगह **लक्षणसार**[1] नामक ग्रन्थका निर्देश है जो जयराशिकी ही कृति जान पड़ती है; परन्तु वह ग्रन्थ अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं है। जयराशिकी अन्य कृतियोंके बारेमें और कोई प्रमाण नहीं मिला है; परन्तु प्रस्तुत तत्त्वोपप्लवकी पाण्डित्यपूर्ण एवं बहुश्रुत चर्चाओंको देखनेसे ऐसा माननेका मन हो जाता है कि जयराशिने और भी कुछ ग्रन्थ अवश्य लिखे होंगे। जयराशि दार्शनिक है फिर भी उसके केवल वैयाकरणसुलभ कुछ प्रयोगोंको[2] देख कर यह मानना पड़ता है कि वह वैयाकरण जरूर था। उसकी दार्शनिक लेखन-शैलीमें भी जहाँ-तहाँ आलंकारिकसुलभ व्यङ्ग्योक्तियाँ और मधुर कटाक्षोंकी भी कहीं-कहीं छटा है[3]। इससे उसके एक अच्छे आलंकारिक होनेमें भी बहुत सन्देह नहीं रहता। जयराशि वैयाकरण या आलंकारिक हो— या न हो, पर वह दार्श-

---

१. 'अव्यपदेश्यपदं च यथा न साधीयः तथा **लक्षणसारे** द्रष्टव्यम्।'— तत्त्वो० पृ० २०।

२. 'जेगीयते'–पृ० २६, ४१। 'जाघटीति' पृ० २७,७६ इत्यादि।

३. 'शृण्वन्तु अमी बाललपितं विपश्चितः ?'–पृ० ५। 'अहो राजाज्ञा गरीयसी नैयायिकपशोः !'–पृ० ६। 'तदेतन्महासुभाषितम् ?'–पृ० ६। 'न जातु जानते जनाः।'–पृ० ८। 'मरीचयः प्रतिभान्ति देवानांप्रियस्य।' –पृ० १२। 'अहो राजाज्ञा नैयायिकपशोः'–पृ० १४। 'तथापि विद्यमान-योर्बाध्यबाधकभावो भूपालयोरिव'–पृ० १५। 'सोयं गड्डुप्रवेशाक्षितारकवि-निर्गमन्यायोपनिपातः श्रुतिलालसानां दुरुत्तरः।'–पृ० २३। 'बालविलसितम्' –पृ० २६। 'जडचेष्टितम्'–पृ० ३२। 'तदिदं मद्विकल्पान्दोलितबुद्धेः निरुप-पत्तिकाभिधानम्'–पृ० ३३। 'वर्तमानव्यवहारविरहः स्यात्'–पृ० ३७। 'जडमतयः' पृ० ५६। 'सुस्थितं नित्यत्वम्' पृ० ७६।

निक तो पूरा है। उसके अभ्यासका विषय भी कोई एक दर्शन, या किसी एक दर्शनका अमुक ही साहित्य नहीं है, पर उसने अपने समयमें पाए जानेवाले सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध दर्शनोंके प्रधान-प्रधान ग्रन्थ अवश्य देखे जान पड़ते हैं। उसने खण्डनीय ऐसे सभी दर्शनोंके प्रधान ग्रन्थोंको केवल स्थूल रूपसे देखा ही नहीं है, परन्तु वह खण्डनीय दर्शनोंके मन्तव्योंको वास्तविक एवं गहरे अभ्यासके द्वारा पी गया-सा जान पड़ता है। वह किसी भी दर्शनके अभिमत प्रमाणलक्षणकी या प्रमेयतत्वकी जब समालोचना करता है तब मानों उस खण्डनीय तत्वको, अर्जुनकी तरह, सैकड़ों[1] ही विकल्प बाणोंसे, व्याप्त कर देता है। जयराशिके उठाए हुए प्रत्येक विकल्पका मूल किसी न किसी दार्शनिक परम्परामें अवश्य देखा जाता है। उससे उसके दार्शनिक विषयोंके तलस्पर्शी अभ्यासके बारेमें तो कोई सन्देह ही नहीं रहता। जयराशिको अपना तो कोई पक्ष स्थापित करना है ही नहीं; उसको तो जो कुछ करना है वह दूसरोंके माने हुए सिद्धान्तोंका खण्डन मात्र। अतएव वह जब तक, अपने समय पर्यन्तमें मौजूद और प्रसिद्ध सभी दर्शनोंके मन्तव्योंका थोड़ा-बहुत खण्डन न करे तब तक, वह अपने ग्रन्थके उद्देश्यको, अर्थात् समग्र तत्त्वोंके खण्डनको, सिद्ध ही नहीं कर सकता। उसने अपना यह उद्देश्य तत्त्वोपप्लव ग्रन्थके द्वारा सिद्ध किया है, और इससे सूचित होता है कि वह समग्र भारतीय दर्शन परम्पराओंका तलस्पर्शी अभ्यासी था। वह एक-एक करके सब दर्शनोंका खण्डन करनेके बाद अन्तमें वैयाकरण दर्शनकी[2] भी पूरी खबर लेता है। जयराशिने वैदिक, जैन और बौद्ध—इन तीनों संप्रदायोंका खण्डन किया है। और फिर वैदिक परम्परा अन्तर्गत न्याय, सांख्य, मीमांसा, वेदान्त और व्याकरण दर्शनका भी खण्डन किया है। जैन संप्रदायको उसने दिगम्बर शब्दसे[3] उल्लिखित किया है।

---

१. 'केयं कल्पना? किं गुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पादितं विज्ञानं कल्पना, आहो स्मृत्युत्पादकं विज्ञानं कल्पना, स्मृतिरूपं वा, स्मृत्युत्पाद्यं वा, अभिलापसंसर्गनिर्भासो वा, अभिलापवती प्रतीतिर्वा कल्पना, अस्पष्टाकारा वा, अतात्त्विकार्थगृहीतिरूपा वा, स्वयं वाऽतात्त्विकी, त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृग्वा, अतीतानागतार्थनिर्भासा वा?'—एक कल्पनाके विषयमें ही इतने विकल्प करके और फिर प्रत्येक विकल्पको लेकर भी उत्तरोत्तर अनेक विकल्प करके जयराशि उनका खण्डन करता है।—तत्त्वो० पृ० ३२।

२. तत्त्वोपप्लव, पृ० १२०।

३. ,, पृ० ७६।

बौद्ध मतकी विज्ञानवादी शाखाका, खास कर धर्मकीर्ति और उसके शिष्योंके मन्तव्योंका निरसन किया है।[1] उसका खण्डित वैयाकरण दर्शन महाभाष्यानुगामी[2] भर्तृहरिका दर्शन जान पड़ता है। इस तरह जयराशिकी प्रधान योग्यता दार्शनिक विषयकी है और वह समग्र दर्शनोंसे संबन्ध रखती है।

ग्रन्थ परिचय

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थका पूरा नाम है **तत्त्वोपप्लवसिंह** जो उसके प्रारंभिक पद्यमें स्पष्ट रूपसे दिया हुआ है[3]। यद्यपि यह प्रारम्भिक पद्य बहुत कुछ

---

१. प्रमाणसामान्यका लक्षण, जिसका कि खण्डन जयराशिने किया है, धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकमेंसे लिया गया है (–तत्त्वो० पृ० २८)। प्रत्यक्षका लक्षण भी खण्डन करनेके लिए धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुमेंसे ही लिया गया है (–पृ० ३२)। इसी प्रसंगमें धर्मकीर्ति और उनके शिष्योंने जो सामान्यका खण्डन और सन्तानका समर्थन किया है—उसका खण्डन भी जयराशिने किया है। आगे चलकर जयराशिने (पृ० ८३ से) धर्मकीर्ति सम्मत तीनों अनुमानका खण्डन किया है और उसी प्रसंगमें धर्मकीर्ति और उनके शिष्यों द्वारा किया गया अवयवीनिराकरण, बाह्यार्थविलोप, क्षणिकत्वस्थापन—इत्यादि विषयोंका विस्तारसे खण्डन किया है।

२. अपशब्दके भाषणसे मनुष्य म्लेच्छ हो जाता है अतः साधुशब्दके प्रयोगज्ञानके लिए व्याकरण पढना आवश्यक है, ऐसा महाभाष्यकारका मत है—'म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्' (–पात० महाभाष्य पृ० २२; पं० गुरुप्रसादसंपादित), तथा "एवमिहापि समानायां अर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते। 'शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देन' इति एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति"—(पृ० ५८) ऐसा कह करके महाभाष्यकारने साधुशब्दके प्रयोगको ही अभ्युदयकर बताया है। महाभाष्यकारके इसी मतको लक्ष्यमें रखकर भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीयमें साधुशब्दोंके प्रयोगका समर्थन किया है और असाधुशब्दोंके प्रयोगका निषेध किया है—

"शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।
अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः॥"

इत्यादि—वाक्यपदीय, १. २७; १. १४१, तथा १४९ से। जयराशिने इस मतका खण्डन किया है—पृ० १२० से।

३. देखो पृ० ८० का टिप्पण २।

खण्डित हो गया है, तथापि दैवयोगसे इस शार्दूलविक्रीडित पद्यका एक पाद बच गया है जो शायद उस पद्यका अंतिम अर्थात् चौथा ही पाद है; और जिसमें ग्रन्थकारने ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा करते हुए इसका नाम भी सूचित कर दिया है। ग्रंथकारने जो **तत्त्वोपप्लवसिंह** ऐसा नाम रखा है और इस नामके साथ जो '**विषमः**' तथा '**मया सृज्यते**' ऐसे पद मिल रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि इस पद्यके अनुपलब्ध तीन पादोंमें ऐसा कोई रूपकका वर्णन होगा जिसके साथ 'सिंह' शब्दका मेल बैठ सके। हम दूसरे अनेक ग्रंथोंके प्रारम्भमें ऐसे रूपक पाते हैं जिनमें ग्रन्थकारोंने अपने दर्शनको 'केसरी सिंह' या 'अग्नि'[१] कहा है और प्रतिवादी या प्रतिपक्षभूत दर्शनोंको 'हरिण' या 'ईंधन' कहा है। प्रस्तुत ग्रंथकारका अभिप्रेत रूपक भी ऐसा ही कुछ होना चाहिए, जिसमें कहा गया होगा कि सभी आस्तिक दर्शन या प्रमाणप्रमेयवादी दर्शन मृगप्राय हैं और प्रस्तुत तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ उनके लिए एक विषम—भयानक सिंह है। अपने विरोधीके ऊपर या शिकारके ऊपर आक्रमण करनेकी सिंहकी निर्दयता सुविदित है। इसी तरह प्रस्तुत ग्रन्थ भी सभी स्थापित संप्रदायोंकी मान्यताओंका निर्दयता-पूर्वक निर्मूलन करनेवाला है। तत्त्वोपप्लवसिंह नाम रखने तथा रूपक करनेमें ग्रन्थकारका यही भाव जान पड़ता है। तत्त्वोपप्लवसिंह यह पूरा नाम ई० १३-१४ वीं शताब्दीके जैनाचार्य मल्लिषेणकी कृति स्याद्वादमञ्जरी (पृ० ११८)में भी देखा जाता है। अन्य ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं प्रस्तुत ग्रन्थका नाम आया है वहाँ प्रायः तत्त्वोपप्लव[२] इतना ही संक्षिप्त नाम मिलता है। जान पड़ता है पिछले ग्रन्थकारोंने संक्षेपमें तत्त्वोपप्लव नामका ही प्रयोग करनेमें सुभीता देखा हो।

उद्देश्य—प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना करनेमें ग्रन्थकारके मुख्यतया दो उद्देश्य जान पड़ते हैं जो अंतिम भागसे स्पष्ट होते हैं। इनमेंसे, एक तो यह, कि अपने सामने मौजूद ऐसी दार्शनिक स्थिर मान्यताओंका समूलोच्छेद करके यह बतलाना, कि शास्त्रोंमें जो कुछ कहा गया है और उनके द्वारा जो कुछ स्थापन किया जाता है, वह सब परीक्षा करनेपर निराधार सिद्ध होता है। अतएव शास्त्रजीवी सभी व्यवहार, जो सुन्दर व आकर्षक मालूम होते हैं, अविचारके

---

१. "श्रीवीरः स जिनः श्रिये भवतु यत् स्याद्वाददावानले,
भस्मीभूतकुतर्ककाष्ठनिकरे तृप्यन्तिसर्वेऽप्यहो।"
—षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नटीका, पृ० १

२. सिद्धिविनिश्चय, पृ० २८८।

ही परिणाम हैं [1]। इस प्रकार समग्र तत्वोंका खण्डन करके चार्वाक मान्यताका पुनरुज्जीवन करना यह पहला उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य, ग्रन्थकारका यह जान पड़ता है, कि प्रस्तुत ग्रन्थके द्वारा अध्येताओंको ऐसी शिक्षा देना, जिससे वे प्रतिवादियोंका मुँह बड़ी सरलतासे बन्द कर सकें। यद्यपि पहले उद्देश्यकी पूर्ण सफलता विवादास्पद है, पर दूसरे उद्देश्यकी सफलता असंदिग्ध है। ग्रन्थ इस ढंगसे और इतने जटिल विकल्पोंके जालसे बनाया गया है कि एक बार जिसने इसका अच्छी तरह अध्ययन कर लिया हो, और फिर वह जो प्रतिवादियोंके साथ विवाद करना चाहता हो, तो **इस ग्रन्थमें प्रदर्शित शैलीके** आधार पर सचमुच प्रतिवादीको क्षणभरमें चुप कर सकता है। इस दूसरे उद्देश्यकी सफलताके प्रमाण हमें इतिहासमें भी देखनेको मिलते हैं। ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध जैनाचार्य शांतिसूरि—जो वादिवेतालके बिरुदसे सुप्रसिद्ध हैं—के साथ तत्त्वोपप्लवकी मददसे अर्थात् तत्त्वोपप्लव जैसे विकल्पजालकी मददसे चर्चा करनेवाले एक धर्म नामक विद्वानका सूचन, प्रभाचन्द्रसूरिने अपने 'प्रभावक चरित्र'में किया [2] है। बौद्ध और वैदिक सांप्रदायिक विद्वानोंने वाद-विवादमें या शास्त्ररचनामें, प्रस्तुत तत्त्वोपप्लवका उपयोग किया है या नहीं और किया है तो कितना—इसके जाननेका अभी हमारे पास कोई साधन नहीं है; परन्तु जहाँ तक जैन संप्रदायका संबंध है, हमें कहना पड़ता है, कि क्या दिगम्बर-क्या श्वेताम्बर सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध जैन विद्वानोंने अपनी ग्रन्थरचनामें और संगत हुआ तो शास्त्रार्थोंमें भी, तत्त्वोपप्लवका थोड़ा बहुत उपयोग अवश्य किया है [3]। और यही खास कारण है कि यह ग्रन्थ अन्यत्र कहीं प्राप्त न होकर जैन ग्रन्थभंडारमें ही उपलब्ध हुआ है।

संदर्भ—प्रस्तुत ग्रन्थका संदर्भ गद्यमय संस्कृतमें है। यद्यपि इसमें अन्य ग्रन्थोंके अनेक पद्यबन्ध अवतरण आते हैं, पर ग्रन्थकारकी कृतिरूपसे तो आदि

---

१. 'तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहारा घटन्त एव।'
तथा—'पाखण्डखण्डनाभिज्ञा ज्ञानोदधिविवर्द्धिताः।
जयराशेर्जयन्तीह विकल्पा वादिजिष्णवः ॥' तत्त्वो० पृ० १२५.

२. सिंघी जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित, प्रभावकचरित, पृ० २२१–२२२। प्रो० रसिकलाल परिख संपादित, काव्यानुशासनकी अँगरेजी प्रस्तावना, पृ० CXLVI; तथा तत्त्वोपप्लवकी प्रस्तावना पृ० ५।

३. अष्टसहस्री, सिद्धिविनिश्चय, न्यायमुकुदचन्द्र, सन्मतिटीका, स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादमञ्जरी आदि।

और अन्तके मिलाकर कुल तीन ही पद्य इसमें मिलते हैं। बाकी सारा ग्रन्थ सरल गद्यमें है। भाषा प्रसन्न और वाक्य छोटे-छोटे हैं। फिर भी इसमें जो कुछ दुरूहता या जटिलता प्राप्त होती है, वह विचारकी अति सूक्ष्मता और एकके बाद दूसरी ऐसी विकल्पोंकी झड़ीके कारण है।

शैली—प्रस्तुत ग्रन्थकी शैली वैतण्डिक है। वैतण्डिक शैली वह है जिसमें **वितण्डा कथा**का आश्रय लेकर चर्चा की गई हो। **वितण्डा** यह **कथा**के[1] तीन प्रकारोंमेंका एक प्रकार है। दार्शनिक साहित्यमें **वितण्डा कथा**का क्या स्थान है, और वैतण्डिक शैलीके साहित्यमें प्रस्तुत ग्रन्थका क्या स्थान है, इसे समझनेके लिए नीचे लिखी बातोंपर थोड़ा-सा ऐतिहासिक विचार करना आवश्यक है।

(अ) **कथा**के प्रकार एवं उनका पारस्परिक अन्तर।

(इ) दार्शनिक साहित्यमें **वितण्डा कथा**का प्रवेश और विकास।

(उ) वैतण्डिक शैलीके ग्रन्थोंमें प्रस्तुत ग्रन्थका स्थान।

(अ) दो व्यक्तियों या दो समूहोंके द्वारा की जानेवाली चर्चा, जिसमें दोनों अपने-अपने पक्षका स्थापन और विरोधी परपक्षका निरसन, युक्तिसे करते हों, **कथा** कहलाती है। इसके **वाद, जल्प** और **वितण्डा** ऐसे तीन प्रकार हैं, जो उपलब्ध संस्कृत साहित्यमें सबसे प्राचीन **अक्षपाद**के सूत्रोंमें लक्षण-पूर्वक निर्दिष्ट हैं। **वादकथा**[2] वह है जो केवल सत्य जानने और जतलानेके अभिप्रायसे की जाती है। इस कथाका आन्तरिक प्रेरक तत्त्व केवल सत्यजिज्ञासा है। **जल्पकथा** वह है जो विजयकी इच्छासे या किसी लाभ एवं ख्यातिकी

---

१. कथासे संबंध रखनेवाली अनेक ज्ञातव्य बातोंका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए गुजरातीमें लिखा हुआ हमारा 'कथापद्धतिनुं स्वरूप अने तेना साहित्यनुं दिग्दर्शन' नामक सुविस्तृत लेख (पुरातत्त्व, पुस्तक ३, पृ० १९५) उपयोगी है। इसी तरह उनके वास्ते हिन्दीमें स्वतंत्रभावसे लिखे हुए हमारे वे विस्तृत टिप्पण भी उपयोगी हैं जो 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला'में प्रकाशित 'प्रमाणमीमांसा'के भाषाटिप्पणोंमें, पृ० १०८ से पृ० १२३ तक अंकित हैं।

२. 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः। स्वप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।'—न्यायसूत्र १. २. १—३।

इच्छासेकी जाती है। इसका प्रेरक आन्तरिक तत्त्व केवल विजयेच्छा है। **वितण्डा कथा** भी विजयेच्छासे ही की जाती है। इस तरह **जल्प** और **वितण्डा** दो तो विजयेच्छाजनित हैं और **वाद** तत्त्वबोधेच्छाजनित। विजयेच्छाजनित होने पर भी जल्प और वितण्डामें एक अन्तर है, और वह यह कि जल्पकथामें वादी-प्रतिवादी दोनों अपना-अपना पक्ष रखकर, अपने-अपने पक्षका स्थापन करते हुए, विरोधी पक्षका खण्डन करते हैं। जब कि वितण्डा कथामें यह बात नहीं होती। उसमें अपने पक्षका स्थापन किये बिना ही प्रतिपक्षका खण्डन करनेकी एकमात्र दृष्टि रहती है।

यहाँ पर ऐतिहासिक तथा विकास क्रमकी दृष्टिसे यह कहना उचित होगा कि ऊपर जो कथाके तीन प्रकारोंका तथा उनके पारस्परिक अन्तरका शास्त्रीय सूचन किया है, वह विविध विषयके विद्वानोंमें अनेक सदियोंसे चली आती हुई चर्चाका तर्कशुद्ध परिणाम मात्र है। बहुत पुराने समयकी चर्चाओंमें अनेक जुदी-जुदी पद्धतियोंका बीज निहित है। वार्तालापकी पद्धति, जिसे संवादपद्धति भी कहते हैं, प्रश्नोत्तरपद्धति और कथापद्धति—ये सभी प्राचीन कालकी चर्चाओंमें कभी शुद्ध रूपसे तो कभी मिश्रित रूपसे चलती थीं। कथापद्धतिवाली चर्चामें भी **वाद, जल्प** आदि कथाओंका मिश्रण हो जाता था। जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता गया और एक पद्धतिमें दूसरी पद्धतिके मिश्रणसे, और खासकर एक कथामें दूसरी कथाके मिश्रणसे, कथाकालमें तथा उसके परिणाममें नानाविध असामञ्जस्यका अनुभव होता गया, वैसे-वैसे कुशल विद्वानोंने कथाके भेदोंका स्पष्ट विभाजन करना भी शुरू कर दिया; और इसके साथ ही साथ उन्होंने हरएक कथाके लिए, अधिकारी, प्रयोजन, नियम-उपनियम आदिकी मर्यादा भी बाँधनी शुरू की। इसका स्पष्ट निर्देश हम सबसे पहले अक्षपादके सूत्रोंमें देखते हैं। कथाका यह शास्त्रीय-निरूपण इसके बादके समग्र वाङ्मयमें आजतक सुस्थिर है। यद्यपि बीच-बीचमें बौद्ध और जैन तार्किकोंने, अक्षपादकी बतलाई हुई कथासंबन्धी मर्यादाका विरोध और परिहास करके, अपनी-अपनी कुछ भिन्न प्रणाली भी स्थापित की है; फिर भी सामान्य रूपसे देखा जाए तो सभी दार्शनिक परम्पराओंमें अक्षपादकी बतलाई हुई कथापद्धतिकी मर्यादाका ही प्रभुत्व बना हुआ है।

(**इ**) व्याकरण, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, छन्द और संगीत आदि अनेक ऐसे विषय हैं जिनपर चर्चात्मक संस्कृत साहित्य काफी तादादमें बना है; फिर भी हम देखते हैं कि **वितण्डा कथा**के प्रवेश और विकासका केन्द्र तो केवल दार्शनिक साहित्य ही रहा है। इस अन्तरका कारण, विषयका स्वाभा-

विक स्वरूपभेद ही है। दर्शनोंसे संबन्ध रखनेवाले सभी विषय प्रायः ऐसे ही हैं जिनमें कल्पनाओंके साम्राज्यका यथेष्ट अवकाश है, और जिनकी चर्चामें कुछ भी स्थापन न करना और केवल खण्डन ही खण्डन करना यह भी आकर्षक बन जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि दार्शनिक क्षेत्रके सिवाय अन्य किसी विषयमें वितण्डा कथाके विकास एवं प्रयोगकी कोई गुंजाइश नहीं है।

चर्चा करनेवाले विद्वानोंकी दृष्टिमें भी अनेक कारणोंसे परिवर्तन होता रहता है। जब विद्वानोंकी दृष्टिमें सांप्रदायिक भाव और पक्षाभिनिवेश मुख्यतया काम करते हैं तब उनके द्वारा **वाद कथा**का सम्भव कम हो जाता है। तिस पर भी, जब उनकी दृष्टि आभिमानिक अहंवृत्तिसे और शुष्क वाग्विलासकी कुतूहल वृत्तिसे आवृत हो जाती है, तब तो उनमें **जल्प कथा**का भी सम्भव विरल हो जाता है। मध्य युग और अर्वाचीन युगके अनेक ग्रन्थोंमें **वितण्डा कथा**का आश्रय लिए जानेका एक कारण उपर्युक्त दृष्टिभेद भी है।

ब्राह्मण और उपनिषद् कालमें तथा बुद्ध और महावीरके समयमें चर्चाओंकी भरमार कम न थी, पर उस समयके भारतवर्षीय वातावरणमें धार्मिकता, आध्यात्मिकता और चित्तशुद्धिका ऐसा और इतना प्रभाव अवश्य था कि जिससे उन चर्चाओंमें विजयेच्छाकी अपेक्षा सत्यज्ञानकी इच्छा ही विशेषरूपसे काम करती थी। यही सबब है कि हम उस युगके साहित्यमें अधिकतर **वाद कथा**का ही स्वरूप पाते हैं। इसके साथ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि उस युगके मनुष्य भी अन्तमें मनुष्य ही थे। अतएव उनमें भी विजयेच्छा, सांप्रदायिकता और अहंताका तत्त्व, अनिवार्य रूपसे थोड़ा बहुत काम करता ही था। जिससे कभी-कभी **वाद कथा**में भी **जल्प** और **वितण्डा**का तथा **जल्प कथा**में वितण्डाका जानते-अनजानते प्रवेश हो ही जाता था। इतना होते हुए भी, इस बातमें कोई संदेह नहीं, कि अंतिम रूपमें उस समय प्रतिष्ठा सत्यज्ञानेच्छाकी और वादकथाकी ही थी। जल्प और वितण्डा कथा करनेवालोंकी तथा किसी भी तरहसे उसका आश्रय लेनेवालोंकी, उतनी प्रतिष्ठा नहीं थी जितनी शुद्ध **वाद कथा** करनेवालोंकी थी।

परंतु, अनेक ऐतिहासिक कारणोंसे, उपर्युक्त स्थितिमें बड़े जोरोंसे अंतर पड़ने लगा। बुद्ध और महावीरके बाद, भारतमें एक तरफसे **शस्त्रविजय**की वृत्ति प्रबल होने लगी; और दूसरी तरफसे उसके साथ-ही-साथ **शास्त्रविजय**की वृत्ति भी उत्तरोत्तर प्रबल होती चली। सांप्रदायिक संघर्ष, जो पहले विद्यास्थान, धर्मस्थान और मठोंहीकी वस्तु थी, वह अब राज-सभा तक जा पहुँचा। इस सबबसे दार्शनिक विद्याओंके क्षेत्रमें जल्प और वितण्डाका प्रवेश अधिकाधिक

होने लगा और उसकी कुछ प्रतिष्ठा भी अधिक बढ़ने लगी। खुल्लमखुल्ला उन लोगोंकी पूजा और प्रतिष्ठा होने लगी जो 'येन केन प्रकारेण' प्रतिवादीको हरा सकते थे एवं हराते थे। अब सभी संप्रदायवादियोंको फिक्र होने लगी, कि किसी भी तरहसे अपने-अपने सम्प्रदायके मंतव्योंकी विरोधी सांप्रदायिकोंसे रक्षा करनी चाहिए। सामान्य मनुष्यमें विजयकी तथा लाभख्यातिकी इच्छा साहजिक ही होती है। फिर उसको बढते हुए संकुचित सांप्रदायिक भावका सहारा मिल जाए, तो फिर कहना ही क्या? जहाँ देखो वहाँ विद्या पढने-पढानेका, तत्त्व-चर्चा करनेका प्रतिष्ठित लक्ष्य यह समझा जाने लगा, कि **जल्प कथा**से नहीं तो अन्तमें **वितण्डा कथा**से ही सही, पर प्रतिवादीका मुख बंद किया जाए और अपने सांप्रदायिक निश्चयोंकी रक्षा की जाय।

चन्द्रगुप्त और **अशोक**के समयसे लेकर आगेके साहित्यमें हम जल्प औरी वितण्डाक तत्त्व पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट पाते हैं। ईसाकी दूसरी तीसर शताब्दीके माने जानेवाले **नागार्जुन** और **अक्षपाद**की कृतियाँ हमारे इस कथनकी साक्षी हैं।

नागार्जुनकी कृति **विग्रहव्यावर्तिनी** को लीजिए या **माध्यमिकका-रिका**को लीजिए और ध्यानसे उनका अवलोकन कीजिए, तो पता चल जाएगा कि दार्शनिक चिन्तनमें वादकी आडमें, या वादका दामन पकड़कर उसके पीछे-पीछे, जल्प और वितण्डाका प्रवेश किस कदर होने लग गया था। हम यह तो निर्णयपूर्वक कभी कह नहीं सकते कि नागार्जुन सत्य-जिज्ञासासे प्रेरित था ही नहीं, और उसकी कथा सर्वथा वादकोटिसे बाह्य है; पर इतना तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नागार्जुनकी समग्र शैली, जल्प और वितण्डा कथाके इतनी नजदीक है कि उसकी शैलीका साधारण अभ्यासी, बड़ी सर-लतासे, जल्प और वितण्डा कथाकी ओर लुढ़क सकता है।

अक्षपादने अपने अतिमहत्त्वपूर्ण सूत्रात्मक संग्रह ग्रथमें **वाद, जल्प** और **वितण्डा**का, केवल अलग-अलग लक्षण ही नहीं बतलाया है बल्कि उन कथाओं के अधिकारी, प्रयोजन आदिकी पूरी मर्यादा भी सूचित की है। निःसंदेह अक्ष-पादने अपने सूत्रोंमें जो कुछ कहा है और जो कुछ स्पष्टीकरण किया है, वह केवल उनकी कल्पना या केवल अपने समयकी स्थितिका चित्रण मात्र ही नहीं है, बल्कि उनका यह निरूपण, अतिपूर्वकालसे चली आती हुई दार्शनिक विद्वानोंकी मान्यताओंका तथा विद्याके क्षेत्रमें विचरनेवालोंकी मनोदशाका जीवित प्रतिबिम्ब है। निःसंदेह अक्षपादकी दृष्टिमें वास्तविक महत्व तो 'वादकथा'का ही है, फिर भी वह स्पष्टता तथा बलपूर्वक, यह भी मान्यता प्रकट करता है कि केवल

'जल्प' ही नहीं बल्कि 'वितण्डा' तकका भी आश्रय लेकर अपने तत्त्वज्ञानकी तथा अपने सम्प्रदायके मंतव्योंकी रक्षा करनी चाहिए। कांटे भले ही फेंक देने योग्य हों, फिर भी पौधोंकी रक्षाके वास्ते वे कभी-कभी बहुत उपादेय भी हैं। अक्षपादने इस दृष्टान्तके द्वारा 'जल्प' और 'वितण्डाकथा'का पूर्व समयसे माना जानेवाला मात्र औचित्य ही प्रकट नहीं किया है, बल्कि उसने खुद भी अपने सूत्रोंमें, कभी-कभी पूर्वपक्षीको निरस्त करनेके लिए, स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे, 'जल्प'का और कभी 'वितण्डा' तकका आश्रय लिया जान पड़ता है।[1]

मनुष्यकी साहजिक विजयवृत्ति और उसके साथ मिली हुई सांप्रदायिक मोहवृत्ति—ये दो कारण तो दार्शनिक क्षेत्रमें थे ही, फिर उन्हें ऋषिकल्प विद्वानोंके द्वारा किये गए 'जल्प' और 'वितण्डा कथा'के प्रयोगके समर्थनका सहारा मिला, तथा कुछ असाधारण विद्वानोंके द्वारा उक्त कथाकी शैलीमें लिखे गए ग्रन्थोंका भी समर्थन मिला। ऐसी स्थितिमें फिर तो कहना ही क्या था ? आगमें घृताहुतिकी नौबत आ गई। जहाँ देखो वहाँ अकसर दार्शनिक क्षेत्रमें 'जल्प' और 'वितण्डा' का ही बोलबाला शुरू हुआ। यहाँतक कि एक बार ही नहीं बल्कि अनेक बार 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाके प्रयोगका निषेध करनेवाले तथा उसका अनौचित्य बतलानेवाले बुद्धि एवं चरित्र प्रगल्भ ऐसे खुद बौद्ध तथा जैन तत्त्वसंस्थापक विद्वान् तथा उनके उत्तराधिकारी भी 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाकी शैलीसे या उसके प्रयोगसे बिलकुल अछूते रह न सके। कभी-कभी तो उन्होंने यह भी कह दिया कि यद्यपि 'जल्प' और 'वितण्डा' सर्वथा वर्ज्य है तथापि परिस्थिति विशेषमें उसका भी उपयोग है।[2]

इस तरह कथाओंके विधि-निषेधकी दृष्टिसे, या कथाओंका आश्रय लेकर की जानेवाली ग्रन्थकारकी शैलीकी दृष्टिसे, हम देखें, तो हमें स्पष्टतया मालूम पड़ता है कि **वात्स्यायन, उद्द्योतकर, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, सिद्धसेन, समन्तभद्र, कुमारिल, शंकराचार्य** आदिकी कृतियाँ 'शुद्ध वादकथा' के नमूने नहीं हैं। जहाँतक अपने-अपने संप्रदायका तथा उसकी अवांतर शाखाओंका संबंध है वहाँतक तो, उनकी कृतियोंमें 'वादकथा'का तत्त्व सुरक्षित है, पर जब विरोधी संप्रदायके साथ चर्चाका मौका आता है तब ऐसे

---

१. देखो न्यायसूत्र, ४. २. ४७।

२. देखो, उ० यशोविजयजीकृत वादद्वात्रिंशिका, श्लो०, ६—

अयमेव विधेयस्तत् तत्त्वज्ञेन तपस्विना।
देशाद्यपेक्षयाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम्॥

विशिष्ट विद्वान् भी, थोड़े बहुत प्रमाणमें, विशुद्ध 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाकी ओर नहीं तो कमसे कम उन कथाओंकी शैलीकी ओर तो, अवश्य ही झुक जाते हैं। दार्शनिक विद्वानोंकी यह मनोवृत्ति नवीं सदीके बादके साहित्यमें तो और भी तीव्रतर होती जाती है। यही सबब है कि हम आगेके तीनों मतोंके साहित्यमें विरोधी संप्रदायके विद्वानों तथा उनके स्थापकोंके प्रति अत्यंत कडुआपनका तथा तिरस्कारका[1] भाव पाते हैं।

मध्य युगके तथा अर्वाचीन युगके बने हुए दार्शनिक साहित्यमें ऐसा भाग बहुत बड़ा है जिसमें 'वाद'की अपेक्षा 'जल्पकथा'का ही प्राधन्य है। नागार्जुनने जिस 'विकल्पजाल'की प्रतिष्ठा की थी और बादके बौद्ध, वैदिक तथा जैन तार्किकोंने जिसका पोषण एवं विस्तार किया था, उसका विकसित तथा विशेष दुरूह स्वरूप हम **श्रीहर्षके खण्डनखण्डखाद्य** एवं **चित्सुखाचार्य**की **चित्सुखी** आदिमें पाते हैं।[2] बेशक ये सभी ग्रन्थ 'जल्प कथा'की ही प्रधानतावाले हैं, क्योंकि इनमें लेखकका उद्देश्य स्वपक्षस्थापन ही है, फिर भी इन ग्रन्थोंकी शैलीमें 'वितण्डा'की छाया अति स्पष्ट है। यों तो 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाके बीचका अन्तर इतना कम है कि अगर ग्रन्थकारके मनोभाव और उद्देश्यकी तरफ हमारा ध्यान न जाए, तो अनेक बार हम यह निर्णय ही नहीं कर सकते कि यह ग्रन्थ 'जल्प शैली'का है, या वितण्डा शैलीका। जो कुछ हो, पर उपर्युक्त चर्चासे हमारा अभिप्राय इतना ही मात्र है कि मध्य युग तथा अर्वाचीन युगके सारे साहित्यमें शुद्ध वितण्डाशैलीके ग्रन्थ नाममात्रके हैं।

(उ) हम दार्शनिक साहित्यकी शैलीको संक्षेपमें पाँच विभागोंमें बाँट सकते हैं—

(१) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी शैली मात्र प्रतिपादनात्मक है, जैसे—

---

१. इस विषयमें गुजरातीमें लिखी हुई 'साम्प्रदायिकता अने तेना पुरावाओनुं दिग्दर्शन' नामक हमारी लेखमाला, जो पुरातत्त्व, पुस्तक ४, पृ० १६६ से शुरू होती है, देखें।

२. हेतुविडम्बनोपाय अभी छपा नहीं है। इसके कर्ताका नाम ज्ञात नहीं हुआ। इसकी लिखित प्रति पाटणके किसी भाण्डारमें भी होनेका स्मरण है। इसकी एक प्रति पूनाके भाण्डारकर इन्स्टिट्यूटमें है जिसके ऊपरसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारने एक नकल कर ली है। वही इस समय हमारे सम्मुख है।

माण्डूक्यकारिका, **सांख्यकारिका**, **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र**, **अभिधर्मकोष**, **प्रशस्तपादभाष्य**, **न्यायप्रवेश**, **न्यायबिन्दु** आदि ।

(२) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें स्वसंप्रदायके प्रतिपादनका भाग अधिक और अन्य संप्रदायके खण्डनका भाग कम है—जैसे **शाबरभाष्य** ।

(३) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें परमतोंका खण्डन विस्तारसे है और स्वमतका स्थापन थोड़ेमें हैं, जैसे—**माध्यमिक कारिका**, **खण्डनखण्डखाद्य** आदि ।

(४) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें खण्डन और मण्डन समप्रमाण है या साथ-ही-साथ चलता है, जैसे—**वात्स्यायन भाष्य**, **मीमांसा श्लोकवार्तिक**, **शांकरभाष्य**, **प्रमाणवार्तिक** आदि ।

(५) बहुत थोड़े पर ऐसे ग्रंथ भी मिलते हैं जिनमें स्वपक्षके प्रतिपादनका नामोनिशान तक नहीं है और दूसरेके मन्तव्योंका खण्डन-ही-खण्डन मात्र है । ऐसे शुद्ध वैतण्डिक शैलीके ग्रन्थ इस समय हमारे सामने दो हैं—एक प्रस्तुत **तत्त्वोपप्लवसिंह** और दूसरा **हेतुविडम्बनोपाय** ।

इस विवेचनासे प्रस्तुत तत्त्वोपप्लव ग्रन्थकी शैलीका दार्शनिक शैलियोंमें क्या स्थान है यह हमें स्पष्ट मालूम पड़ जाता है ।

यद्यपि 'तत्त्वोपप्लवसिंह और 'हेतुविडम्बनोपाय' इन दोनोंकी शैली शुद्ध खण्डनात्मक ही है, फिर भी इन दोनोंकी शैलीमें थोड़ासा अन्तर भी है जो मध्ययुगीन और अर्वाचीनकालीन शैलीके भेदका स्पष्ट द्योतक है ।

दसवीं शताब्दीके पहलेके दार्शनिक साहित्यमें व्याकरण और अलंकारके पाण्डित्यको पेट भरकर व्यक्त करनेकी कृत्रिम कोशिश नहीं होती थी । इसी तरह उस युगके व्याकरण तथा अलंकार विषयक साहित्यमें, न्याय एवं दार्शनिक तत्त्वोंको लबालब भर देनेकी भी अनावश्यक कोशिश नहीं होती थी । जब कि दसवीं सदीके बादके साहित्यमें हम उक्त दोनों कोशिशें उत्तरोत्तर अधिक परिमाणमें पाते हैं । दसवीं सदीके बादका दार्शनिक, अपने ग्रन्थकी रचनामें तथा प्रत्यक्ष चर्चा करनेमें, यह ध्यान अधिकसे अधिक रखता है, कि उसके ग्रन्थमें और संभाषणमें, व्याकरणके नव-नव और जटिल प्रयोगोंको तथा आलंकारिक तत्त्वोंकी वह अधिकसे अधिक मात्रा किस तरह दिखा सके । वादी देवसूरिका **स्याद्वादरत्नाकर**, श्रीहर्षका **खण्डनखण्डखाद्य**, **रत्नमण्डन**की **जल्पकल्पलता** आदि दार्शनिक ग्रन्थ उक्त वृत्तिके नमूने हैं । दूसरी तरफसे वैयाकरणों और आलंकारिकोंमें भी एक ऐसी वृत्तिका उदय हुआ, जिससे प्रेरित होकर वे न्यायशास्त्रके नवीन तत्त्वोंको एवं जटिल परिभाषाओंको

अपने विषयके सूक्ष्म चिंतनमें ही नहीं पर प्रतिवादीको चुप करनेके लिए भी काममें लाने लगे। बारहवीं सदीके **गंगेशने** 'अवच्छेदकता', 'प्रकारता', 'प्रतियोगिता' आदि नवीन परिभाषाके द्वारा न्यायशास्त्रके बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूपमें युगान्तर उपस्थित किया और उसके उत्तराधिकारी मैथिल एवं बंगाली तार्किकोंने उस दिशामें आश्चर्यजनक प्रगति की। न्यायशास्त्रकी इस सूक्ष्म पर जटिल परिभाषाको तथा विचारसरणीको वैयाकरणों और आलंकारिकों तकने अपनाया। वे न्यायकी इस नवीन परिभाषाके द्वारा प्रतिवादियोंको परास्त करनेकी भी वैसी ही कोशिश करने लगे, जैसी कुछ दार्शनिक विद्वान् व्याकरण और अलंकारकी चमत्कृतिके द्वारा करने लगे थे। **नागोजी भट्ट**के **शब्देन्दु-शेखर** आदि ग्रन्थ तथा **जगन्नाथ** कविराजके **रसगंगाधर** आदि ग्रन्थ नवीन न्यायशैलीके जीवंत नमूने हैं।

यद्यपि 'हेतुविडम्बनोपाय'की शैली 'तत्त्वोपप्लवसिंह'की शैली जैसी शुद्ध वैतण्डिक ही है, फिर भी दोनोंमें युगभेदका अन्तर स्पष्ट है। तत्त्वोपप्लवसिंहमें दार्शनिक विचारोंकी सूक्ष्मता और जटिलता ही मुख्य है, भाषा और अलंकारकी छटा उसमें वैसी नहीं है। जब कि हेतुविडम्बनोपायमें वैयाकरणोंके तथा आलंकारिकोंके भाषा-चमत्कारकी आकर्षक छटा है। इसके सिवाय इन दोनों ग्रन्थोंमें एक अन्तर और भी है जो प्रतिपाद्य विषयसे संबंध रखता है। तत्त्वो-पप्लवसिंहका खण्डनमार्ग समग्र तत्त्वोंको लक्ष्यमें रखकर चला है, अतएव उसमें दार्शनिक परंपराओंमें माने जानेवाले समस्त प्रमाणोंका एक-एक करके खण्डन किया गया है; जब कि हेतुविडम्बनोपायका खण्डनमार्ग केवल अनु-मानके हेतुको लक्ष्यमें रख कर शुरू हुआ है, इसलिए उसमें उतने खण्डनीय प्रमाणोंका विचार नहीं है जितनोंका तत्त्वोपप्लवमें है।

इसके सिवाय एक बड़े महत्त्वकी ऐतिहासिक वस्तुका भी निर्देश करना यहाँ जरूरी है। तत्त्वोपप्लवसिंहका कर्ता **जयराशि** तत्त्वमात्रका वैतण्डिक शैलीसे खण्डन करता है और अपनेको **बृहस्पति**की परम्पराका बतलाता है। जब कि हेतुविडम्बनोपायका कर्ता जो कोई जैन है—जैसा कि उसके प्रारम्भिक भागसे[1] स्पष्ट है—आस्तिक रूपसे अपने इष्ट देवको नमस्कार भी करता है और केवल खण्डनचातुरीको दिखानेके वास्ते ही हेतुविडम्बनोपायकी रचना

---

१. 'प्रणम्य श्रीमदर्हन्तं परमात्मानमव्ययम्।
हेतोर्विडम्बनोपायो निरपायः प्रतायते॥'

करना बतलाता है[1]। जयराशिका उद्देश्य केवल खण्डनचातुरी बतलानेका या उसे दूसरोंको सिखानेका ही नहीं है बल्कि अपनी चार्वाक मान्यताका एक नया रूप प्रदर्शित करनेका भी है। इसके विपरीत हेतुविडम्बनोपायके रचयिताका उद्देश्य अपनी किसी परम्पराके स्वरूपका बतलाना नहीं है। उसका उद्देश्य सिर्फ यही बतलानेका है कि विवाद करते समय अगर प्रतिवादीको चुप करना हो तो उसके स्थापित पक्षमेंसे एक साध्य या हेतुवाक्यकी परीक्षा करके या उसका समूल खण्डन करके किस तरह उसे चुप किया जा सकता है।

चार्वाक दर्शनमें प्रस्तुत ग्रन्थका स्थान

प्रस्तुत ग्रन्थ चार्वाक संप्रदायका होनेसे इस जगह इस संप्रदायके संबन्धमें नीचे लिखी बातें ज्ञातव्य हैं।

(अ) चार्वाक संप्रदायका इतिहास

(इ) भारतीय दर्शनोंमें उसका स्थान

(उ) चार्वाक दर्शनका साहित्य

(अ) पुराने उपनिषदोंमें[2] तथा **सूत्रकृताङ्ग**[3] जैसे प्राचीन माने जानेवाले जैन आगममें भूतवादी या भूतचैतन्यवादी रूपसे चार्वाक मतका निर्देश है। **पाणिनि**के सूत्रमें आनेवाला नास्तिक शब्द भी अनात्मवादी चार्वाक मतका ही सूचक है। बौद्ध **दीघनिकाय**में भी भूतवादी और अक्रियवादी रूपसे दो

---

१. ग्रन्थकार शुरूमें ही कहता है कि—"इह हि यः कश्चिद्विपश्चित् प्रचण्डप्रामाणिकप्रकाण्डश्रेणीशिरोमणीयमानः सर्वाङ्गीणानणीयः प्रमाणधोरणीप्रगुणीभवदखण्डपाण्डित्योड्डामरतां स्वात्मनि मन्यमानः स्वान्यानन्यतमसौजन्यधन्यत्रिभुवनमान्यवदान्यगणावगणनानुगुणानणु तत्तद्गुणितिरणरणकरंरणन्निस्समानाभिमानः अप्रतिहतप्रसरप्रवरनिरवद्यसद्यस्कानुमानपरम्परापराबोभवेतनिस्तुषमनीषाविशेषोन्मिषन्मनीषिपरिषज्जाग्रत्प्रत्यग्रोदग्रमहीयोमहीयसन्मानः शतमखगुरुमुखादृगविमुखताकारिहारिसर्वतोमुखशेमुषीमुखरासंख्यसंख्यावद्विख्याते पर्षदिदितसमग्रतर्ककर्कशवितर्कणप्रवणः प्रामाणिकग्रामणीः प्रमाणयति तस्याशयस्याहङ्कारप्राग्भारतिरस्काराय चारुविचारचातुरीगरीयश्चतुरनरचेतश्चमत्काराय च किञ्चिदुच्यते।"

२. "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञा अस्तीति"—बृहदारण्यकोपनिषद्. ४, १२.

३. सूत्रकृताङ्ग, पृ० १४, २८१।

तीर्थिकोंका सूचन है[1]। **चाणक्यके अर्थशास्त्रमें** लोकायतिक मतका निर्देश उसी भूतवादी दर्शनका बोधक है। इस तरह 'नास्तिक' 'भूतवादी' 'लोकायतिक' 'अक्रियवादी' आदि जैसे शब्द इस संप्रदायके अर्थमें मिलते हैं। पर उस प्राचीन कालके साहित्यमें 'चार्वाक' शब्दका पता नहीं चलता। चार्वाक मतका पुरस्कर्ता कौन था इसका भी पता उस युगके साहित्यमें नहीं मिलता। उसके पुरस्कर्ता रूपसे **बृहस्पति, देवगुरु** आदिका जो मन्तव्य प्रचलित है वह संभवतः पौराणिकोंकी कल्पनाका ही फल है। पुराणोंमें[2] चार्वाक मतके प्रवर्तकका जो वर्णन है वह कितना साधार है यह कहना कठिन है। फिर भी पुराणोंका वह वर्णन, अपनी मनोरञ्जकता तथा पुराणोंकी लोकप्रियताके कारण, जनसाधारणमें और विद्वानोंमें भी रूढ हो गया है; और सब कोई निर्विवाद रूपसे यही कहते और मानते आए हैं कि बृहस्पति ही चार्वाक मतका पुरस्कर्ता है। जहाँ कहीं चार्वाक मतके निदर्शक वाक्य या सूत्र मिलते हैं वहाँ वे[3] बृहस्पति, सुरगुरु[4] आदि नामके साथ ही उद्धृत किये हुए पाए जाते हैं।

(६) भारतीय दर्शनोंको हम संक्षेपमें चार विभागोंमें बाँट सकते हैं।

१. इन्द्रियाधिपत्य पक्ष
२. अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष
३. उभयाधिपत्य पक्ष
४. आगमाधिपत्य पक्ष

१. जिस पक्षका मन्तव्य यह है कि प्रमाणकी सारी शक्ति इन्द्रियोंके ऊपर ही अवलम्बित है। मन खुद इन्द्रियोंका अनुगमन कर सकता है पर वह इन्द्रियोंकी मददके सिवाय कहीं भी अर्थात् जहाँ इन्द्रियोंकी पहुँच न हो वहाँ—प्रवृत्त होकर सच्चा ज्ञान पैदा कर ही नहीं सकता, सच्चे ज्ञानका अगर सम्भव है तो वह इन्द्रियोंके द्वारा ही—यह है इन्द्रियाधिपत्य पक्ष। इस पक्षमें चार्वाक दर्शन ही समाविष्ट है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि चार्वाक अनुमान या

---

१. देखो, दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त, पृ० १२; तथा सामञ्ञफलसुत्त, पृ० २०—२१।

२. विष्णुपुराण, तृतीयअंश, अध्याय—१७। कथाके लिए देखो सर्वदर्शनसंग्रहका पं० अभ्यंकरशास्त्री लिखित उपोद्घात, पृ० १३२।

३. तत्त्वोपप्लव, पृ० ४५।

४. तत्त्वोपप्लवमें बृहस्पतिको सुरगुरु भी कहा है—पृ० १२५। खण्डनखण्डखाद्यमें भगवान् सुरगुरुको लोकायतिक सूत्रका कर्ता कहा गया है—पृ० ७।

शब्दव्यवहार रूप आगम आदि प्रमाणोंको, जो प्रतिदिन सर्वसिद्ध व्यवहारकी वस्तु है, न मानता हो; फिर भी चार्वाक अपनेको जो प्रत्यक्षमात्रवादी—इन्द्रिय प्रत्यक्षमात्रवादी कहता है, इसका अर्थ इतना ही है कि अनुमान, शब्द आदि कोई भी लौकिक प्रमाण क्यों न हो, पर उसका प्रामाण्य इन्द्रिय प्रत्यक्षके संवादके सिवाय कभी सम्भव नहीं। अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्षसे बाधित नहीं ऐसा कोई भी ज्ञानव्यापार यदि प्रमाण कहा जाए तो इसमें चार्वाकको आपत्ति नहीं।

२. अनिन्द्रियके अन्तःकरण—मन, चित्त और आत्मा ऐसे तीन अर्थ फलित होते हैं, जिनमेंसे चित्तरूप अनिन्द्रियका आधिपत्य माननेवाला अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष है। इस पक्षमें **विज्ञानवाद, शून्यवाद** और **शाङ्कर-वेदान्त**का समावेश होता है। इस पक्षके अनुसार यथार्थज्ञानका सम्भव विशुद्ध चित्तके द्वारा ही माना जाता है। यह पक्ष इन्द्रियोंकी सत्यज्ञानजननशक्तिका सर्वथा इन्कार करता है और कहता है कि इन्द्रियाँ वास्तविक ज्ञान करानेमें पंगु ही नहीं बल्कि धोखेबाज भी अवश्य हैं। इनके मन्तव्यका निष्कर्ष इतना ही है कि चित्त—खासकर ध्यानशुद्ध सात्त्विक चित्तसे बाधित या उसका संवाद प्राप्त न कर सकनेवाला कोई ज्ञान प्रमाण हो ही नहीं सकता, चाहे वह फिर भले ही लोकव्यवहारमें प्रमाण रूपसे माना जाता हो।

३. उभयाधिपत्य पक्ष वह है जो चार्वाककी तरह इन्द्रियोंको ही सब कुछ मानकर इन्द्रिय निरपेक्ष मनका असामर्थ्य स्वीकार नहीं करता; और न इन्द्रियोंको ही पंगु या धोखेबाज मानकर केवल अनिन्द्रिय या चित्तका ही सामर्थ्य स्वीकार करता है। यह पक्ष मानता है कि चाहे मनकी मददसे ही सही, पर इन्द्रियाँ गुणसम्पन्न हो सकती हैं और वास्तविक ज्ञान पैदा कर सकती हैं। इसी तरह यह पक्ष यह भी मानता है कि इन्द्रियोंकी मदद जहाँ नहीं है वहाँ भी अनिन्द्रिय यथार्थ ज्ञान करा सकता है। इसीसे इसे उभयाधिपत्य पक्ष कहा है। इसमें **सांख्य योग, न्याय-वैशेषिक** और **मीमांसक** आदि दर्शनोंका समावेश है। सांख्य-योग इन्द्रियोंका साद्गुण्य मान कर भी अन्तःकरणकी स्वतंत्र यथार्थशक्ति मानता है। न्याय-वैशेषिक आदि भी मनकी वैसी ही शक्ति मानते हैं; पर फर्क यह है कि सांख्य-योग आत्माका स्वतंत्र प्रमाणसामर्थ्य नहीं मानते। क्योंकि वे प्रमाणसामर्थ्य बुद्धिमें ही मान कर पुरुष या चेतनको निरतिशय मानते हैं; जब कि न्याय-वैशेषिक आदि, चाहे ईश्वरकी आत्माका ही सही, पर आत्माका स्वतन्त्र प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं। अर्थात् वे शरीर-मनका अभाव होनेपर भी ईश्वरमें ज्ञानशक्ति मानते हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक

भी इसी पक्षके अन्तर्गत हैं, क्योंकि वे भी इन्द्रिय और मन दोनोंका प्रमाण-सामर्थ्य मानते हैं।

४. आगमाधिपत्य पक्ष वह है जो किसी-न-किसी विषयमें आगमके सिवाय किसी इन्द्रिय या अनिन्द्रियका प्रमाणसामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। यह पक्ष केवल **पूर्वमीमांसा**का ही है। यद्यपि वह अन्य विषयोंमें सांख्ययोगादिकी तरह उभयाधिपत्य पक्षका ही अनुगामी है, फिर भी धर्म और अधर्म इन दो विषयोंमें वह आगम मात्रका ही सामर्थ्य मानता है। यों तो **वेदान्त**के अनुसार ब्रह्मके विषयमें भी आगमका ही प्राधान्य है; फिर भी वह आगमाधिपत्य पक्षमें इस-लिए नहीं आ सकता कि ब्रह्म विषयमें ध्यानशुद्ध अन्तःकरणका भी सामर्थ्य उसे मान्य है।

इस तरह, चार्वाक मान्यता इन्द्रियाधिपत्य पक्षकी अनुवर्तिनी ही सर्वत्र मानी जाती है। फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ उस मान्यताके विषयमें एक नया प्रस्थान उपस्थित करता है। क्योंकि इसमें इन्द्रियोंकी यथार्थज्ञान उत्पन्न करनेकी शक्तिका भी खण्डन किया गया है और लौकिक प्रत्यक्ष तकको भी प्रमाण माननेसे इन्कार कर दिया है। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थके अभिप्रायसे चार्वाक मान्यता दो विभागोंमें बँट जाती है। पूर्वकालीन मान्यता इन्द्रियाधिपत्य पक्षमें जाती है, और **जयराशि**की नई मान्यता प्रमाणोपप्लव पक्षमें आती है।

(उ) चार्वाक मान्यता का कोई पूर्ववर्ती ग्रन्थ अखण्ड रूपसे उपलब्ध नहीं है। अन्य दर्शन ग्रन्थोंमें पूर्वपक्ष रूपसे चार्वाक मतके मन्तव्यके साथ कहीं-कहीं जो कुछ वाक्य या सूत्र उद्धृत किये हुए मिलते हैं, वही उसका एक मात्र साहित्य है। यह भी जान पड़ता है कि चार्वाक मान्यताको व्यवस्थित रूपसे लिखनेवाले विद्वान् शायद हुए ही नहीं। जो कुछ बृहस्पतिने कहा उसीका छिन्नभिन्न अंश उस परम्पराका एक मात्र प्राचीन साहित्य कहा जा सकता है। उसी साहित्यके आधार पर पुराणोंमें भी चार्वाक मतको पल्लवित किया गया है। आठवीं सदीके जैनाचार्य **हरिभद्र**के **षड्दर्शनसमुच्चय**में और तेरहवीं-चौद-हवीं सदीके **माधवाचार्य** कृत **सर्वदर्शनसंग्रह**में चार्वाक मतके वर्णनके साथ कुछ पद्य उद्धृत मिलते हैं। पर जान पड़ता है, कि ये सब पद्य, किसी चार्वा-काचार्यकी कृति न होकर, और और विद्वानोंके द्वारा चार्वाक-मत-वर्णन रूपसे वे समय-समय पर बने हुए हैं।

इस तरह चार्वाक दर्शनके साहित्यमें प्रस्तुत ग्रन्थका स्थान बड़े महत्त्वका है। क्योंकि यह एक ही ग्रन्थ हमें ऐसा उपलब्ध है जो चार्वाक मान्यताका अखण्ड ग्रन्थ कहा जा सकता है।

विषय परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थमें किस-किस विषयकी चर्चा है और वह किस प्रकार की गई है इसका संक्षिप्त परिचय प्राप्त करनेके लिए नीचे लिखी बातों पर थोड़ासा प्रकाश डालना जरूरी है।

(१) ग्रन्थकारका उद्देश्य और उसकी सिद्धिके वास्ते उसके द्वारा अवलंबित मार्ग।

(२) किन-किन दर्शनोंके और किन-किन आचार्योंके सम्मत प्रमाणलक्षणोंका खण्डनीय रूपसे निर्देश है।

(३) किन-किन दर्शनोंके कौन-कौनसे प्रमेयोंका प्रासंगिक खण्डनके वास्ते निर्देश है।

(४) पूर्वकालीन और समकालीन किन-किन विद्वानोंकी कृतियोंसे खण्डन-सामग्री ली हुई जान पड़ती है।

(५) उस खण्डन-सामग्रीका अपने अभिप्रेतकी सिद्धिमें ग्रन्थकारने किस तरह उपयोग किया है।

(१) हम पहले ही कह चुके हैं कि ग्रन्थकारका उद्देश्य, समग्र दर्शनोंकी छोटी-बड़ी सभी मान्यताओंका एकमात्र खण्डन करना है। ग्रन्थकारने यह सोचकर कि सब दर्शनोंके अभिमत समग्र तत्वोंका एक-एक करके खण्डन करना संभव नहीं; तब यह विचार किया होगा कि ऐसा कौन मार्ग है जिसका सरलतासे अवलम्बन हो सके और जिसके अवलम्बनसे समग्र तत्त्वोंका खण्डन आप-ही-आप सिद्ध हो जाए। इस विचारमेंसे ग्रन्थकारको अपने उद्देश्यकी सिद्धिका एक अमोघ मार्ग सूझ पड़ा, और वह यह कि अन्य सब बातोंके खण्डनकी ओर मुख्य लक्ष्य न देकर केवल प्रमाणखण्डन ही किया जाए, जिससे प्रमाणके आधारसे सिद्ध किये जानेवाले अन्य सब तत्त्व या प्रमेय अपने आप ही खण्डित हो सकें। जान पड़ता है ग्रन्थकारके मनमें जब यह निर्णय स्थिर बन गया तब फिर उसने सब दर्शनोंके अभिमत प्रमाणलक्षणोंके खण्डनकी तैयारी की। ग्रन्थके प्रारम्भमें ही वह अपने इस भावको स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करता है। वह सभी प्रमाण-प्रमेयवादी दार्शनिकोंको ललकार कर कहता है[१] कि—**'आप लोग जो प्रमाण और प्रमेयकी व्यवस्था मानते हैं उसका**

---

१. 'अथ कथं तानि न सन्ति ? तदुच्यते—सल्लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थानम्, माननिबन्धना च मेयस्थितिः, तदभावे तयोः सद्व्यवहारविषयत्वं कथम् ?........इत्यादि। तत्त्वोपप्लव, पृ० १.।

आधार है प्रमाणका यथार्थ लक्षण। परन्तु विचार करने पर जब कोई प्रमाणका लक्षण ही निर्दोष सिद्ध नहीं होता तब उसके आधार पर बतलाई जानेवाली प्रमाण प्रमेयकी व्यवस्था कैसे मानी जा सकती है?' ऐसा कहकर, वह फिर एक-एक करके प्रमाणलक्षणका क्रमशः खण्डन करना आरंभ करता है। इसी तरह ग्रन्थके अन्तमें भी उसने अपने इस निर्णीत मार्गको दोहराया है और उसकी सफलता भी सूचित की है। उसने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि—**'जब कोई प्रमाणलक्षण ही ठीक नहीं बनता तब सब तत्त्व आप ही आप बाधित या असिद्ध हो जाते हैं। ऐसी दशामें बाधित तत्त्वोंके आधारपर चलाये जानेवाले सब व्यवहार वस्तुतः अविचाररमणीय ही हैं।'** अर्थात् शास्त्रीय और लौकिक अथवा इहलौकिक और पारलौकिक—सब प्रवृत्तियोंकी सुन्दरता सिर्फ अविचारहेतुक ही है। विचार करनेपर वे सब व्यवहार निराधार सिद्ध होनेके कारण निर्जीव जैसे शोभाहीन हैं। ग्रन्थकारने अपने निर्णयके अनुसार यद्यपि दार्शनिकोंके अभिमत प्रमाणलक्षणोंकी ही खण्डनीय रूपसे मीमांसा शुरू की है और उसीपर उसका जोर है; फिर भी वह बीच-बीचमें प्रमाणलक्षणोंके अलावा कुछ अन्य प्रमेयोंका भी खण्डन करता है। इस तरह प्रमाणलक्षणोंके खण्डनका ध्येय रखनेवाले इस ग्रन्थमें थोड़ेसे अन्य प्रमेयोंका भी खण्डन मिलता है।

(२) **न्याय, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध, वैयाकरण** और **पौराणिक** इन छह दर्शनोंके अभिमत लक्षणोंको, ग्रन्थकारने खण्डनीय रूपसे लिया है। इनमेंसे कुछ लक्षण ऐसे हैं जो प्रमाणसामान्यके हैं और कुछ ऐसे हैं जो विशेष विशेष प्रमाणके हैं। प्रमाणसामान्यके लक्षण सिर्फ **मीमांसा** और **बौद्ध**—इन दो दर्शनोंके लिये गए हैं[1]। मीमांसासम्मत प्रमाणसामान्यलक्षण जो ग्रन्थकारने लिया है वह **कुमारिल**का माना जाता है, फिर भी इसमें सदेह नहीं कि वह लक्षण पूर्ववर्ती अन्य मीमांसकोंको भी मान्य रहा होगा। ग्रन्थकारने बौद्ध दर्शनके प्रमाणसामान्य संबंधी दो लक्षण चर्चाके लिये हैं[2] जो प्रगट रूपसे **धर्मकीर्ति**के माने जाते हैं, पर जिनका मूल **दिङ्नागके** विचारमें भी अवश्य है।

विशेष प्रमाणोंके लक्षण जो ग्रन्थमें आए हैं वे **न्याय, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध, पौराणिक** और **वैयाकरणों**के हैं।

---

१ देखो पृ० २२ और २७।
२ देखो, पृ० २७ और २८।

न्याय दर्शनके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चारों प्रमाणोंके विशेष लक्षण ग्रन्थमें आए हैं[1] और वे **अक्षपाद**के **न्यायसूत्र**के हैं।

सांख्य दर्शनके विशेष प्रमाणोंमेंसे केवल प्रत्यक्षका ही लक्षण लिया गया है,[2] जो **ईश्वरकृष्ण**का न होकर **वार्षगण्य**का है।

बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंको ही मानता है।[3] ग्रन्थकारने उसके दोनों प्रमाणोंके लक्षण चर्चाके वास्ते लिए हैं[4] जो—जैसा कि हमने ऊपर कहा है—धर्मकीर्तिके हैं, पर जिनका मूल दिङ्नागके ग्रन्थोंमें भी मिलता है।

मीमांसा दर्शनके प्रसिद्ध आचार्य दो हैं—**कुमारिल** और **प्रभाकर**। प्रभाकरको पाँच प्रमाण इष्ट हैं, पर कुमारिलको छह। प्रस्तुत ग्रन्थमें कुमारिल-के छहों प्रमाणोंकी मीमांसाकी गई है, और इसमें प्रभाकर सम्मत पाँच प्रमाणों-की मीमांसा भी समा जाती है।

पौराणिक विद्वान मीमांसा सम्मत छह प्रमाणोंके अलावा ऐतिह्य और सम्भव नामक दो[5] और प्रमाण मानते हैं—जिनका निर्देश **अक्षपाद**के सूत्रों तकमें[6] भी है—वे भी प्रस्तुत ग्रन्थमें लिये गए हैं।[7]

वैयाकरणोंके अभिमत 'वाचकपद'के लक्षण और 'साधुपद'की उनकी व्याख्याका भी इस ग्रन्थमें खण्डनीय रूपसे निर्देश मिलता है। यह सम्भवतः **भर्तृहरि**के **वाक्यपदीय**से लिया गया है।[8]

(३) यों तो ग्रन्थमें प्रसंगवश अनेक विचारोंकी चर्चा की गई है,जिनका यहाँपर सविस्तर वर्णन करना शक्य नहीं है, फिर भी उनमेंसे कुछ विचारों—वस्तुओंका निर्देश करना आवश्यक है, जिससे यह जानना सरल हो जाएगा, कि कौन-कौनसी वस्तुएँ, अमुक दर्शनको मान्य और अन्य दर्शनोंको अमान्य होनेके कारण, दार्शनिक-क्षेत्रमें खण्डन-मण्डनकी विषय बनी हुई हैं, और

---

१. देखो, पृ० २७,५४,११२,११५।
२. पृ० ६१।
३. पृ० ३२, ८३।
४. ५८, ८२ १०६, ११२, ११६।
५. पृ० ११३।
६. न्यायसूत्र—२. २. १.   ७. पृ० १११।
८. पृ० १२०।

ग्रन्थकारने दार्शनिकोंके उस पारस्परिक खण्डन-मण्डनकी चर्चासे किस तरह फायदा उठाया है। वे वस्तुएँ ये हैं—

जाति, समवाय, आलम्बन, अतथ्यता, तथ्यता, स्मृतिप्रमोष, सन्निकर्ष, विषयद्वैविध्य, कल्पना, अस्पष्टता, स्पष्टता, सन्तान, हेतु-फलभाव, आत्मा, कैवल्य, अनेकान्त, अवयवी, बाह्यार्थविलोप, क्षणभङ्ग, निर्हेतुकविनाश, वर्ण, पद, स्फोट और **अपौरुषेयत्व।**

इनमेंसे 'जाति', 'समवाय', 'सन्निकर्ष', 'अवयवी', आत्माके साथ सुख-दुःखादिका संबन्ध, शब्दका अनित्यत्व, कार्यकारणभाव—आदि ऐसे पदार्थ हैं जिनको **नैयायिक** और **वैशेषिक** मानते हैं, और जिनका समर्थन उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें बहुत बल तथा विस्तारपूर्वक करके विरोधी मतोंके मन्तव्यका खण्डन भी किया है। परन्तु वे ही पदार्थ **सांख्य, बौद्ध, जैन** आदि दर्शनोंको उस रूपमें बिलकुल मान्य नहीं। अतः उन-उन दर्शनोंमें इन पदार्थोंका, अति विस्तारके साथ खण्डन किया गया है।

'स्मृतिप्रमोष' मीमांसक **प्रभाकर**की अपनी निजकी मान्यता है, जिसका खण्डन नैयायिक, बौद्ध और जैन विद्वानोंके अतिरिक्त स्वयं महामीमांसक **कुमारिल**के अनुगामियों तकने, खूब विस्तारके साथ किया है।

'अपौरुषेयत्व' यह **मीमांसक** मान्यताकी स्वीय वस्तु होनेसे उस दर्शनमें इसका अति विस्तृत समर्थन किया गया है; पर नैयायिक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनोंमें इसका उतने ही विस्तारसे खण्डन पाया जाता है।

'अनेकान्त' **जैन** दर्शनका मुख्य मन्तव्य है जिसका समर्थन सभी जैन तार्किकोंने बड़े उत्साहसे किया है; परंतु बौद्ध, नैयायिक, वेदान्त आदि दर्शनोंमें उसका वैसा ही प्रबल खण्डन किया गया है।

'आत्मकैवल्य' जिसका समर्थन **सांख्य** और **वेदान्त** दोनों अपने ढंगसे करते हैं; लेकिन बौद्ध, नैयायिक आदि अन्य सभी दार्शनिक उसका खण्डन करते हैं।

'वर्ण', 'पद' 'स्फोट' आदि शब्दशास्त्र विषयक वस्तुओंका समर्थन जिस ढंगसे वैयाकरणोंने किया है उस ढंगका, तथा कभी-कभी उन वस्तुओंका ही, बौद्ध, नैयायिक आदि अन्य तार्किकोंने बलपूर्वक खण्डन किया है।

'क्षणिकत्व', 'संतान', 'विषयद्वित्व', 'स्पष्टता—अस्पष्टता', 'निर्हेतुकविनाश', 'बाह्यार्थविलोप', 'आलम्बन', 'हेतुफलसंबंध', 'कल्पना', 'तथ्यता—अतथ्यता' आदि पदार्थ ऐसे हैं जिनमेंसे कुछ तो सभी बौद्ध परंपराओंमें, और कुछ किसी-किसी परम्परामें, मान्य होकर जिनका समर्थन बौद्ध विद्वानोंने बड़े

प्रयाससे किया है; पर नैयायिक, मीमांसक, जैन आदि अन्य दार्शनिकोंने उन्हीं-का खण्डन करनेमें अपना बड़ा बौद्धिक पराक्रम दिखलाया है।

(४) यह खण्डन सामग्री, निम्नलिखित दार्शनिक साहित्य परसे ली गई जान पड़ती है—

न्याय-वैशेषिक दर्शनके साहित्यमेंसे अक्षपादका न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, न्यायवर्तिक, व्योमवती और न्यायमंजरी।

मीमांसक साहित्यके श्लोकवार्तिक और बृहती नामक ग्रंथोंका आश्रय लिया जान पड़ता है।

बौद्ध साहित्यमेंसे प्रमाणवार्तिक, संबंधपरीक्षा, सामान्यपरीक्षा आदि धर्म-कीर्तिके ग्रन्थोंका; तथा प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर आदि धर्मकीर्तिके शिष्योंकी की हुई उन ग्रन्थोंकी व्याख्याओंका आश्रय लिया जान पड़ता है।

व्याकरण शास्त्रीय साहित्यमेंसे वाक्यपदीयका उपयोग किया हुआ जान पड़ता है।

जैन साहित्यमेंसे पात्रस्वामि या अकलंककी कृतियोंका उपयोग किये जानेका संभव है।

(५) जयराशिने अपने अध्ययन और मननसे, भिन्न-भिन्न दार्शनिक-प्रमाणके स्वरूपके विषयमें तथा दूसरे पदार्थोंके विषयमें, क्या-क्या मतभेद रखते हैं और वे किन-किन मुद्दोंके ऊपर एक दूसरेका किस-किस तरह खण्डन करते हैं, यह सब जानकर, उसने उन विरोधी दार्शनिकोंके ग्रन्थोंमेंसे बहुत कुछ खण्डन सामग्री संग्रहीत की और फिर उसके आधारपर किसी एक दर्शनके मन्तव्यका खण्डन, दूसरे विरोधी दर्शनोंकी की हुई युक्तियोंके आधारपर किया; और उसी तरह, फिर अन्तमें दूसरे विरोधी दर्शनोंके मन्तव्योंका खण्डन, पहले विरोधी दर्शनकी दी हुई युक्तियोंसे किया। उदाहरणार्थ—जब नैयायिकोंका खण्डन करना हुआ, तब बहुत करके बौद्ध और मीमांसकके ग्रन्थोंका आश्रय लिया गया, और फिर बौद्ध, और मीमांसक आदिके सामने नैयायिक और जैन आदिको भिड़ा दिया गया। पुराणोंमें यदुवंशके नाशके बारेमें कथा है कि मद्यपानके नशेमें उन्मत्त होकर सभी यादव आपसमें एक दूसरेसे लड़े और मर मिटे। जयराशिने दार्शनिकोंके मन्तव्योंका यही हाल देखा। वे सभी मन्तव्य दूसरेको पराजित करने और अपनेको विजयी सिद्ध करनेके लिए जल्पकथाके अखाड़ेपर लड़नेको उतरे हुए थे। जयराशिने दार्शनिकोंके उस जल्पवादमेंसे अपने वितण्डावादका मार्ग बड़ी सरलतासे निकाल लिया और दार्शनिकोंकी खण्डनसामग्रीसे उन्हींके तत्वोंका उपप्लव सिद्धकर दिया।

यद्यपि जयराशिकी यह पद्धति कोई नई वस्तु नहीं है—अंशरूपमें तो वह सभी मध्यकालीन और अर्वाचीन दर्शन ग्रन्थोंमें विद्यमान है, पर इसमें विशेषत्व यह है कि भट्ट जयराशिकी खण्डनपद्धति सर्वतोमुखी और सर्वव्यापक होकर निरपेक्ष है।

उपसंहार

यद्यपि यह तत्त्वोपप्लव एक मात्र खण्डनप्रधान ग्रन्थ है, फिर भी इसका और तरहसे भी उपयोग आधुनिक विद्वानोंके लिए कर्तव्य है। उदाहरणार्थ—जो लोग दार्शनिक शब्दोंका कोश या संग्रह करना चाहें और ऐसे प्रत्येक शब्दके संभवित अनेकानेक अर्थ भी खोजना चाहें, उनके लिए यह ग्रन्थ एक बनी बनाई सामग्री है। क्योंकि जयराशिने अपने समय तकके दार्शनिक ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध ऐसे सभी पारिभाषिक दार्शनिक शब्दोंका विशिष्ट ढंगसे प्रयोग किया है और साथ ही साथ 'कल्पना', 'स्मृति' आदि जैसे प्रत्येक शब्दोंके सभी प्रचलित अर्थोंका निदर्शन भी किया है। अतएव यह तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ आधुनिक विद्वानोंके वास्ते एक विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु है। इस परसे दार्शनिक विचारोंकी तुलना करने तथा उनके ऐतिहासिक क्रमविकासको जाननेके लिए अनेक प्रकारकी बहुत कुछ सामग्री मिल सकती है।

ई० १६४१] [भारतीय विद्या

ज्ञानकी स्व-पर प्रकाशकता

दार्शनिक क्षेत्रमें ज्ञान स्वप्रकाश है, पर प्रकाश है या स्व-परप्रकाश है, इन प्रश्नोंकी बहुत लम्बी और विविध कल्पनापूर्ण चर्चा है। इस विषयमें किसका क्या पक्ष है इसका वर्णन करनेके पहिले कुछ सामान्य बातें जान लेनी जरूरी हैं जिससे स्वप्रकाशत्व-परप्रकाशत्वका भाव ठीक-ठीक समझा जा सके।

१—ज्ञानका स्वभाव प्रत्यक्ष योग्य है। ऐसा सिद्धान्त कुछ लोग मानते हैं जबकी दूसरे कोई इससे बिलकुल विपरीत मानते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानका स्वभाव परोक्ष ही है प्रत्यक्ष नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष परोक्षरूपसे ज्ञानके स्वभावभेदकी कल्पना ही स्वप्रकाशत्वकी चर्चाका मूलाधार है।

२—स्वप्रकाश शब्दका अर्थ है स्वप्रत्यक्ष अर्थात् अपने आप ही ज्ञानका प्रत्यक्षरूपसे भासित होना। परन्तु परप्रकाश शब्दके दो अर्थ हैं जिनमेंसे पहिला तो परप्रत्यक्ष अर्थात् एक ज्ञानका अन्य ज्ञानव्यक्तिमें प्रत्यक्षरूपसे भासित होना, दूसरा अर्थ है परानुमेय अर्थात् एक ज्ञानका अन्य ज्ञानमें अनुमेयरूपतया भासित होना।

३—स्वप्रत्यक्षका यह अर्थ नहीं कि कोई ज्ञान स्वप्रत्यक्ष है अतएव उसका अनुमान आदि द्वारा बोध होता ही नहीं पर उसका अर्थ इतना ही है कि जब कोई ज्ञान व्यक्ति पैदा हुई तब वह स्वाधार प्रमाताको प्रत्यक्ष होती ही है अन्य प्रमाताओंके लिए उसकी परोक्षता ही है तथा स्वाधार प्रमाताके लिए भी वह ज्ञान व्यक्ति यदि वर्तमान नहीं तो परोक्ष ही है[1]। परप्रकाशके परप्रत्यक्ष अर्थके पक्षमें भी यही बात लागू है—अर्थात् वर्तमान ज्ञान व्यक्ति ही स्वाधार प्रमाताके लिये प्रत्यक्ष है, अन्यथा नहीं।

---

१. 'यत्त्वनुभूतेः स्वयंप्रकाशत्वमुक्तं तद्विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति, परानुभवस्य हानोपादानादिलिङ्गकानुमानज्ञानविषयत्वात् स्वानुभवस्याप्यतीतस्याज्ञासिषमिति ज्ञानविषयत्वदर्शनाच्च।'

—श्रीभाष्य पृ० २४।

विज्ञानवादी बौद्ध (न्यायबि० १. १०) मीमांसक, प्रभाकर[1] वेदान्त[2] और जैन ये स्वप्रकाशवादी हैं। ये सब ज्ञानके स्वरूपके विषयमें एक मत नहीं क्योंकि विज्ञानवादके अनुसार ज्ञानभिन्न अर्थका अस्तित्व ही नहीं[3] और ज्ञान भी साकार। प्रभाकरके मतानुसार बाह्यार्थका अस्तित्व है (बृहती पृष्ठ ७४) जिसका संवेदन होता है। वेदान्तके अनुसार ज्ञान मुख्यतया ब्रह्मरूप होनेसे नित्य ही है। जैन मत प्रभाकर मतकी तरह बाह्यार्थका अस्तित्व और ज्ञानको जन्य स्वीकार करता है। फिर भी वे सभी इस बारेमें एकमत हैं कि ज्ञान-मात्र स्वप्रत्यक्ष है अर्थात् ज्ञान प्रत्यक्ष हो या अनुमिति, शब्द, स्मृति आदि रूप हो फिर भी वह स्वस्वरूपके विषयमें साक्षात्काररूप ही है, उसका अनुमितित्व, शाब्दत्व, स्मृतित्व आदि अन्य ग्राह्यकी अपेक्षासे समझना चाहिए अर्थात् भिन्न भिन्न सामग्री[4]से प्रत्यक्ष, अनुमेय, स्मर्तव्य आदि विभिन्न विषयोंमें उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमिति, स्मृति आदि ज्ञान भी स्वस्वरूपके विषयमें प्रत्यक्ष ही हैं।

ज्ञानको परप्रत्यक्ष अर्थमें परप्रकाश्य माननेवाले सांख्य-योग[5] और न्याय वैशेषिक हैं[6]। वे कहते हैं कि ज्ञानका स्वभाव प्रत्यक्ष होनेका है पर वह अपने आप प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। उसकी प्रत्यक्षता अन्याश्रित है। अतएव ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो, अनुमिति हो, या शब्द स्मृति आदि अन्य कोई, फिर भी वे सब स्वविषयक अनुव्यवसायके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे गृहीत होते ही हैं। पर प्रत्यक्षत्वके विषयमें इनका ऐकमत्य होनेपर भी परशब्दके अर्थके विषयमें ऐकमत्य

---

१. 'सर्वविज्ञानहेतूत्था मितौ मातरि च प्रमा। साक्षात्कर्तृत्वसामान्यात् प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥'—प्रकरणप० पृ० ५६।

२. भामती पृ० १६। "सेयं स्वयं प्रकाशानुभूतिः"—श्रीभाष्य पृ० १८। चित्सुखी पृ० ६।

३. 'सहोपलम्भनियमादभेदोनीलतद्धियोः'-बृहती पृ० २६। 'प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः। यथा प्रकाशोऽभिमतः तथा धीरात्मवेदिनी।'—प्रमाणवा० ३. ३२६।

४. सर्वविज्ञान हेतूत्था....यावती काचिद्ग्रहणस्मरणरूपा।"—प्रकरणप० पृ० ५६।

५. "सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्। न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्"—योगसू० ४. १८, १६।

६. "मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः"—कारिकावली ५७।

नहीं क्योंकि न्याय-वैशेषिकके अनुसार तो परका अर्थ है अनुव्यवसाय जिसके द्वारा पूर्ववर्ती कोई भी ज्ञानव्यक्ति प्रत्यक्षतया गृहीत होती है परन्तु सांख्य-योगके अनुसार पर शब्दका अर्थ है चैतन्य जो पुरुषका सहज स्वरूप है और जिसके द्वारा ज्ञानात्मक सभी बुद्धिवृत्तियाँ प्रत्यक्षतया भासित होती हैं।

परानुमेय अर्थमें परप्रकाशवादी केवल कुमारिल हैं जो ज्ञानको स्वभावसे ही परोक्ष मानकर उसका तज्जन्यज्ञाततारूप लिङ्गके द्वारा अनुमान मानते हैं जो अनुमान कार्यहेतुक कारणविषयक है—शास्त्रदी०पृ० १५७। कुमारिलके सिवाय और कोई ज्ञानको अत्यन्त परोक्ष नहीं मानता। प्रभाकरके मतानुसार जो फलसंवित्तिसे ज्ञानका अनुमान माना जाता है वह कुमारिल-सम्मत प्राकट्यरूप फलसे होनेवाले ज्ञानानुमानसे बिलकुल जुदा है। कुमारिल तो प्राकट्यसे ज्ञान, जो आत्मसमवेत गुण है उसका अनुमान मानते हैं जब कि प्रभाकरमतानुसार संविद्रूप फलसे अनुमित होनेवाला ज्ञान वस्तुतः गुण नहीं किन्तु ज्ञानगुणजनक सन्निकर्ष आदि जड सामग्री ही है[1]। इस सामग्री रूप अर्थमें ज्ञान शब्दके प्रयोगका समर्थन करणार्थक 'अन्' प्रत्यय मान कर किया जाता है।

आचार्य हेमचन्द्रने जैन परम्परासम्मत ज्ञानमात्रके प्रत्यक्षत्व स्वभावका सिद्धान्त मानकर ही उसका स्वनिर्णयत्व स्थापित किया है और उपर्युक्त द्विविध परप्रकाशत्वका प्रतिवाद किया है। इनके स्वपक्षस्थापन और परपक्ष-निरासकी दलीलें तथा प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाणका उपन्यास यह सब वैसा ही है जैसा शालिकनाथकी प्रकरणपञ्चिका तथा श्रीभाष्य आदिमें है। स्वपक्षके ऊपर औरों-के द्वारा उद्भावित दोषोंका परिहार भी आचार्यका वैसा ही है जैसा उक्त ग्रन्थोंमें है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

---

१ संविदुत्पत्तिकारणमात्ममनःसन्निकर्षाख्यं तदित्यवगम्य परितुष्यतामायुष्मता"—प्रकरणप० पृ० ६३।

आत्माका स्व-परप्रकाश (१)

भारतमें दार्शनिकोंकी चिन्ताका मुख्य और अन्तिम विषय आत्मा ही रहा है। अन्य सभी चीजें आत्माकी खोजमेंसे ही फलित हुई हैं। अतएव आत्माके अस्तित्व तथा स्वरूपके संबन्धमें बिलकुल परस्पर विरोधी ऐसे अनेक मत अति चिरकालसे दर्शनशास्त्रोंमें पाये जाते हैं। उपनिषद् कालके पहिले ही से आत्माको सर्वथा नित्य—कूटस्थ—माननेवाले दर्शन पाये जाते हैं जो औपनिषद, सांख्य आदि नामसे प्रसिद्ध हैं। आत्मा अर्थात् चित्त या नाम को भी सर्वथा क्षणिक माननेका बौद्ध सिद्धान्त है जो गौतम बुद्धसे तो अर्वाचीन नहीं है। इन सर्वथा नित्यत्व और सर्वथा क्षणिकत्व स्वरूप दो एकान्तोंके बीच होकर चलनेवाला अर्थात् उक्त दो एकान्तोंके समन्वयका पुरस्कर्ता नित्यानित्यत्ववाद आत्माके विषयमें भी भगवान् महावीरके द्वारा स्पष्टतया आगमोंमें प्रतिपादित (भग० श० ७. उ० २.) देखा जाता है। इस जैनाभिमत आत्मनित्यानित्यत्ववादका समर्थन मीमांसकधुरीण कुमारिल ने (श्लोकवा० आत्म० श्लो० २८ से) भी बड़ी स्पष्टता एवं तार्किकतासे किया है जैसा कि जैनतार्किकग्रन्थोंमें भी देखा जाता है। इस बारेमें यद्यपि आ० हेमचन्द्रने जैनमतकी पुष्टिमें तत्त्वसंग्रहगत श्लोकोंका ही अक्षरशः अवतरण दिया है तथापि वे श्लोक वस्तुतः कुमारिलके श्लोकवार्तिकगत श्लोकोंके ही सार मात्रके निर्देशक होनेसे मीमांसकमतके ही द्योतक हैं।

ज्ञान एवं आत्मामें स्वावभासित्व-परावभासित्व विषयक विचारके बीज तो श्रुतिआगमकालीन साहित्य[1] में भी पाये जाते हैं पर इन विचारों का स्पष्टीकरण एवं समर्थन तो विशेषकर तर्कयुगमें ही हुआ है। परोक्षज्ञानवादी कुमारिल आदि मीमांसकके मतानुसार ही ज्ञान और उससे अभिन्न आत्मा इन दोनों का परोक्षत्व अर्थात् मात्र परावभासित्व सिद्ध होता है। योगाचार बौद्धके मतानुसार विज्ञानबाह्य किसी चीजका अस्तित्व न होनेसे और विज्ञान स्वसंविदित होनेसे ज्ञान और तद्रूप आत्माका मात्र स्वावभासित्व फलित होता है। इस बारेमें भी

---

१. 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ॥'

—कठो० ५.१५।

जैनदर्शनने अपनी अनेकान्त प्रकृतिके अनुसार ही अपना मत स्थिर किया है। ज्ञान एवं आत्मा दोनोंको स्पष्ट रूपसे स्व-पराभासी कहनेवाले जैनाचार्योंमें सबसे पहिले सिद्धसेन ही हैं (न्याया० ३१)। आ० हेमचन्द्रने सिद्धसेनके ही कथनको दोहराया है।

देवसूरिने आत्माके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए जो मतान्तरव्यावर्त्तक अनेक विशेषण दिये हैं (प्रमाणन० ७.५४,५५) उनमें एक विशेषण देह-व्यापित्व यह भी है। आ० हेमचन्द्रने जैनाभिमत आत्माके स्वरूपको सूत्रबद्ध करते हुए भी उस विशेषणका उपादान नहीं किया। इस विशेषणत्यागसे आत्मपरिमाणके विषयमें (जैसे नित्यानित्यत्व विषयमें है वैसे) कुमारिलके मतके साथ जैन मतकी एकताकी भ्रान्ति न हो इसलिए आ० हेमचन्द्रने स्पष्ट ही कह दिया है कि देहव्यापित्व इष्ट है पर अन्य जैनाचार्योंकी तरह सूत्रमें उसका निर्देश इसलिए नहीं किया है कि वह प्रस्तुतमें उपयोगी नहीं है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

आत्माका स्व-परप्रकाश (२)

आचार्य हेमचन्द्रने सूत्रमें आत्माको स्वाभासी और पराभासी कहा है। यद्यपि इन दो विशेषणोंको लक्षित करके हमने संक्षेपमें लिखा है (पृ० ११३) फिर भी इस विषयमें अन्य दृष्टिसे लिखना आवश्यक समझ कर यह थोड़ा-सा विचार लिखा जाता है।

'स्वाभासी' पदके 'स्व' का आभासनशील और 'स्व' के द्वारा आभासनशील ऐसे दो अर्थ फलित होते हैं पर वस्तुतः इन दोनों अर्थोंमें कोई तात्त्विक भेद नहीं। दोनों अर्थोंका मतलब स्वप्रकाशसे है और स्वप्रकाशका तात्पर्य भी स्वप्रत्यक्ष ही है। परन्तु 'पराभासी' पदसे फलित होनेवाले दो अर्थोंकी मर्यादा एक नहीं। पर का आभासनशील यह एक अर्थ जिसे वृत्तिमें आचार्यने स्वयं ही बतलाया है और पर के द्वारा आभासनशील यह दूसरा अर्थ। इन दोनों अर्थोंके भावमें अन्तर है। पहिले अर्थसे आत्माका परप्रकाशन स्वभाव सूचित किया जाता है जब कि दूसरे अर्थसे स्वयं आत्माका अन्यके द्वारा प्रकाशित होनेका स्वभाव सूचित होता है। यह तो समझ ही लेना चाहिए कि उक्त दो अर्थोंमेंसे दूसरा अर्थात् पर के द्वारा आभासित होना इस अर्थका तात्पर्य पर के द्वारा प्रत्यक्ष होना इस अर्थमें है। पहिले अर्थका तात्पर्य तो पर को प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी रूपसे भासित करना यह है। जो दर्शन आत्मभिन्न तत्त्वको भी मानते हैं वे सभी आत्माक परका अवभासक मानते ही हैं। और जैसे प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे पर का अवभासक आत्मा अवश्य होता है वैसे ही वह किसी-न-किसी रूपसे स्वका भी अवभासक होता ही है अतएव यहाँ जो दार्शनिकोंका मतभेद दिखाया जाता है वह स्वप्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष अर्थको लेकर ही समझना चाहिए। स्वप्रत्यक्षवादी वे ही हो सकते हैं जो ज्ञानका स्वप्रत्यक्ष मानते हैं और साथ ही ज्ञान-आत्माका अभेद या कथञ्चिदभेद मानते हैं। शंकर, रामानुज आदि वेदान्त, सांख्य, योग, विज्ञानवादी बौद्ध और जैन इनके मतसे आत्मा स्वप्रत्यक्ष है—चाहे वह आत्मा किसीके मतसे शुद्ध व नित्य चैतन्यरूप हो, किसीके मतसे जन्य ज्ञानरूप ही हो या किसीके मतसे चैतन्य-ज्ञानोभयरूप हो—क्योंकि वे सभी आत्मा और ज्ञानका अभेद मानते हैं तथा ज्ञानमात्रको स्वप्रत्यक्ष ही मानते हैं। कुमारिल ही एक ऐसे हैं जो ज्ञानको परोक्ष मानकर भी आत्माको वेदान्तकी तरह स्व-

प्रकाश ही कहते हैं। इसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि कुमारिलने आत्माका स्वरूप श्रुतिसिद्ध ही माना है और श्रुतिओंमें स्वप्रकाशत्व स्पष्ट है अतएव ज्ञानका परोक्षत्व मानकर भी आत्माको स्वप्रत्यक्ष विना माने उनकी दूसरी गति ही नहीं[1]।

परप्रत्यक्षवादी वे ही हो सकते हैं जो ज्ञानको आत्मासे भिन्न, पर उसका गुण मानते हैं—चाहे वह ज्ञान किसीके मतसे स्वप्रकाश हो जैसा प्रभाकरके मतसे, चाहे किसीके मतसे परप्रकाश हो जैसा नैयायिकादिके मतसे।

प्रभाकरके मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि कोई भी संवित् हो पर उसमें आत्मा प्रत्यक्षरूपसे अवश्य भासित होता है। न्याय-वैशेषिक दर्शनमें मतभेद है। उसके अनुगामी प्राचीन हों या अर्वाचीन—सभी एक मतसे योगीकी अपेक्षा आत्माको परप्रत्यक्ष ही मानते हैं क्योंकि सबके मतानुसार योगज प्रत्यक्षके द्वारा आत्माका साक्षात्कार होता है[2]। पर अस्मदादि अर्वाग्दर्शीकी अपेक्षा उनमें मतभेद है। प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक विद्वान् अर्वाग्दर्शीके आत्माको प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते हैं[3], जब कि पीछेके न्याय-वैशेषिक विद्वान् अर्वाग्दर्शी आत्माको भी उसके मानस-प्रत्यक्षका विषय मानकर परप्रत्यक्ष बतलाते हैं[4]।

ज्ञानको आत्मासे भिन्न माननेवाले सभीके मतसे यह बात फलित होती है कि मुक्तावस्थामें योगजन्य या और किसी प्रकारका ज्ञान न रहनेके कारण आत्मा न तो साक्षात्कर्ता है और न साक्षात्कारका विषय। इस विषयमें दार्शनिक कल्पनाओंका राज्य अनेकधा विस्तृत है पर वह यहाँ प्रस्तुत नहीं।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

---

१. 'आत्मनैव प्रकाश्योऽयमात्मा ज्योतिरितीरितम' —श्लोकवा० आत्मवाद श्लो० १४२।

२. 'युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति।' —न्यायभा० १. १. ३। 'आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषाद् आत्मप्रत्यक्षम्—वैशे० ९. १. ११।

३. 'आत्मा तावत्प्रत्यक्षतो गृह्यते' —न्यायभा० १. १. १०। 'तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे' —वैशे० ८. १. २।

४. 'तदेवमहंप्रत्ययविषयत्वादात्मा तावत् प्रत्यक्षः' —न्यायवा० पृ० ३४२। 'अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः'—कारिकावली ५५।

प्रमाण लक्षणोंकी तार्किक परम्परा

प्रमाणसामान्यलक्षणकी तार्किक परम्पराके उपलब्ध इतिहासमें कणाद-का स्थान प्रथम है। उन्होंने 'अदुष्टं विद्या' (९. २. १२) कहकर प्रमाण-सामान्यका लक्षण कारणशुद्धि मूलक सूचित किया है। अक्षपादके सूत्रोंमें लक्षणक्रममें प्रमाणसामान्यलक्षणके अभावकी त्रुटिको वात्स्यायन[1] ने 'प्रमाण' शब्दके निर्वचन द्वारा पूरा किया। उस निर्वचनमें उन्होंने कणादकी तरह कारणशुद्धिकी तरफ ध्यान नहीं रखा पर मात्र उपलब्धिरूप फलकी ओर नजर रखकर 'उपलब्धिहेतुत्व' को प्रमाणसामान्यका लक्षण बतलाया है। वात्स्या-यनके इस निर्वचनमूलक लक्षणमें आनेवाले दोषोंका परिहार करते हुए वाच-स्पति मिश्र[2] ने 'अर्थ' पदका संबन्ध जोड़कर और 'उपलब्धि' पदको ज्ञानसामान्यबोधक नहीं पर प्रमाणरूप ज्ञानविशेषबोधक मानकर प्रमाणसामान्य-के लक्षणको परिपूर्ण बनाया, जिसे उदयनाचार्य[3] ने कुसुमाञ्जलिमें 'गौतम-नयसम्मत' कहकर अपनी भाषामें परिपूर्ण रूपसे मान्य रखा जो पिछले सभी न्याय-वैशेषिक शास्त्रोंमें समानरूपसे मान्य है। इस न्याय-वैशेषिककी परम्पराके अनुसार प्रमाणसामान्यलक्षणमें मुख्यतया तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१—कारणदोषके निवारण द्वारा कारणशुद्धिकी सूचना।

२—विषयबोधक अर्थ पदका लक्षणमें प्रवेश।

३—लक्षणमें स्व-परप्रकाशत्वकी चर्चाका अभाव तथा विषयकी अपूर्वता-अनधिगतताके निर्देशका अभाव।

यद्यपि प्रभाकर[4] और उनके अनुगामी मीमांसक विद्वानोंने 'अनुभूति'

---

१. 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि इति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्यं प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः'—न्यायभा० १. १. ३.

२. 'उपलब्धिमात्रस्य अर्थाव्यभिचारिणः स्मृतेरन्यस्य प्रमाशब्देन अभि-धानात्'—तात्पर्य० पृ० २१.

३. 'यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता। तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मतं ॥' —न्यायकु० ४. १. ५.।

४. 'अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्'—बृहती १. १. ५.

मात्रको ही प्रमाणरूपसे निर्दिष्ट किया है तथापि कुमारिल एवं उनकी परम्परावाले अन्य मीमांसकोंने न्याय-वशेषिक तथा बौद्ध दोनों परम्पराओंका संग्राहक ऐसा प्रमाणका लक्षण रचा[1] है; जिसमें 'अदुष्टकारणारब्ध' विशेषणसे कणादकथित कारणदोषका निवारण सूचित किया और 'निर्बाधत्व' तथा 'अपूर्वार्थत्व' विशेषणके द्वारा बौद्ध[2] परम्पराका भी समावेश किया।

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥"

यह श्लोक कुमारिलकर्तृक माना जाता है। इसमें दो बातें खास ध्यान देने की हैं—

१—लक्षणमें अनधिगतबोधक 'अपूर्व' पदका अर्थविशेषणरूपसे प्रवेश।

२—स्व-परप्रकाशत्वकी सूचनाका अभाव।

बौद्ध परम्परामें दिङ्नाग[3] ने प्रमाणसामान्यके लक्षणमें 'स्वसंवित्ति' पदका फलके विशेषणरूपसे निवेश किया है। धर्मकीर्त्ति[4] के प्रमाणवार्त्तिकवाले लक्षणमें वात्स्यायनके 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' का सूचक तथा कुमारिल आदिके निर्बाधत्वका पर्याय 'अविसंवादित्व' विशेषण देखा जाता है और उनके न्यायबिन्दुवाले लक्षणमें दिङ्नागके अर्थसारूप्यका ही निर्देश है (न्यायबि० १. २०.)। शान्तरक्षितके लक्षणमें दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनोंके आशयका संग्रह देखा जाता है—

---

१. 'औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते। अबाधोऽव्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता॥ सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा॥' —श्लोकवा० औत्प० श्लो० १०, ११. 'एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम्' —शास्त्रदी० पृ० १२३. 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इति भट्टमीमांसका आहुः' —सि० चन्द्रो० पृ० २०.

२. 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।' —प्रमाणस० टी० पृ० ११.

३. 'स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥' —प्रमाणस० १. १०.

४. 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्॥' —प्रमाणवा० २. १.

"विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥"

—तत्त्वसं० का० १३४४।

इसमें भी दो बातें खास ध्यान देने की हैं—

१—अभी तक अन्य परम्पराओंमें स्थान नहीं प्राप्त 'स्वसंवेदन' विचारका प्रवेश और तद्द्वारा ज्ञानसामान्यमें स्व-परप्रकाशत्वकी सूचना।

असङ्ग और वसुबन्धुने विज्ञानवाद स्थापित किया। पर दिङ्नागने उसका समर्थन बड़े जोरोंसे किया। उस विज्ञानवादकी स्थापना और समर्थन-पद्धतिमें ही स्वसंविदितत्व या स्वप्रकाशत्वका सिद्धान्त स्फुटतर हुआ जिसका एक या दूसरे रूपमें अन्य दार्शनिकोंपर भी प्रभाव पड़ा—देखो Buddhist Logic vol. I. P. 12.

२—मीमांसककी त ह स्पष्ट रूपसे अनधिगतार्थक ज्ञानका ही प्रामाण्य।

श्वेताम्बर दिगम्बर .नों जैन परम्पराओंके प्रथम तार्किक सिद्धसेन और समन्तभद्रने अपने-अपने लक्षणमें स्व-परप्रकाशार्थक 'स्व-परावभासक' विशेषणका समानरूपसे निवेश किया है। सिद्धसेनके लक्षणमें 'बाधविवर्जित' पद उसी अर्थमें है जिस अर्थमें मीमांसकका 'बाधवर्जित' या धर्मकीर्त्तिका 'अविसंवादि' पद है। जैन न्यायके प्रस्थापक अकलंकने[2] कहीं 'अनधिगतार्थक' और 'अविसंवादि' दोनों विशेषणोंका प्रवेश किया और कहीं 'स्वपरावभासक' विशेषणका भी समर्थन किया है। अकलंक के अनुगामी माणिक्यनन्दी[3] ने एक ही वाक्यमें 'स्व' तथा 'अपूर्वार्थ पद दाखिल करके सिद्धसेन-समन्तभद्रकी स्थापित और अकलंकके द्वारा विकसित जैन पर-

---

१. 'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।' —न्याया० १. 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।' —आप्तमी० १०१. 'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्'—बृ० स्वयं० ६३.

२. 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।'—अष्टश० अष्टस० पृ० १७५. उक्तं च—'सिद्धं यन्न परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयोः। तत् प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम्।' न्यायवि० टी० पृ० ६३. उक्त कारिका सिद्धिविनिश्चय की है जो अकलंक की ही कृति है।

३. 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।' —परी० १. १

म्पराका संग्रह कर दिया। विद्यानन्द[1] ने अकलंक तथा माणिक्यनन्दी की उस परम्परासे अलग होकर केवल सिद्धसेन और समन्तभद्रकी व्याख्याको अपने 'स्वार्थव्यवसायात्मक' जैसे शब्दमें संगृहीत किया और 'अनधिगत' या 'अपूर्व' पद जो अकलंक और माणिक्यनन्दीकी व्याख्या में हैं, उन्हें छोड़ दिया। विद्यानन्दका 'व्यवसायात्मक' पद जैन परम्पराके प्रमाणलक्षणमें प्रथम ही देखा जाता है पर वह अक्षपाद[2] के प्रत्यक्षलक्षणमें तो पहिले ही से प्रसिद्ध रहा है। सन्मतिके टीकाकार अभयदेव[3] ने विद्यानन्दका ही अनुसरण किया पर 'व्यवसाय'के स्थानमें 'निर्णीति' पद रखा। वादी[4] देवसूरिने तो विद्यानंदके ही शब्दोंको दोहराया है। आ० हेमचन्द्रने उपर्युक्त जैन-जैनेतर भिन्न-भिन्न परंपराओंका औचित्य-अनौचित्य विचारकर अपने लक्षणमें केवल 'सम्यक्', 'अर्थ' और 'निर्णय' ये तीन पद रखे। उपर्युक्त जैन परम्पराओंको देखते हुए यह कहना पड़ता है कि आ० हेमचन्द्रने अपने लक्षणमें काट-छाँटके द्वारा संशोधन किया है। उन्होंने 'स्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैनाचार्योंने लक्षणमें सन्निविष्ट किया था, निकाल दिया। 'अवभास', 'व्यवसाय' आदि पदोंको स्थान न देकर अभयदेवके 'निर्णीति' पदके स्थानमें 'निर्णय' पद दाखिल किया और उमास्वाति, धर्मकीर्त्ति तथा भासर्वज्ञके सम्यक्[5] पदको अपनाकर अपना 'सम्यगर्थनिर्णय' लक्षण निर्मित किया है।

आर्थिक तात्पर्यमें कोई खास मतभेद न होनेपर भी सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार्योंके प्रमाणलक्षणमें शाब्दिक भेद है, जो किसी अंशमें विचारविकासका सूचक और किसी अंशमें तत्कालीन भिन्न-भिन्न साहित्यके अभ्यासका परिणाम है। यह भेद संक्षेपमें चार विभागोंमें समा जाता है। पहिले विभागमें 'स्व-परा-

---

१. 'तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता। लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥' —तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७७. प्रमाणप० पृ० ५३.

२. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।' —न्याय सू० १. १. ४.

३. 'प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।' —सन्मतिटी० पृ० ५१८.

४. 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।' — प्रमाणन० १. २.

५. 'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।' —तत्त्वार्थ० १. १. 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः।' —न्यायवि० १. १. 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्।' —न्यायसार पृ० १.

वभास' शब्दवाला सिद्धसेन-समन्तभद्रका लक्षण आता है जो संभवतः बौद्ध विज्ञानवादके स्व-परसंवेदनकी विचारच्छायासे खाली नहीं है, क्योंकि इसके पहिले आगम ग्रंथोंमें यह विचार नहीं देखा जाता। दूसरे विभागमें अकलंक-माणिक्यनन्दीका लक्षण आता है जिसमें 'अविसंवादि', अनधिगत' और 'अपूर्व' शब्द आते हैं जो असंदिग्ध रूपसे बौद्ध और मीमांसक ग्रंथोंके ही हैं। तीसरे विभागमें विद्यानन्द, अभयदेव और देवसूरिके लक्षणका स्थान है जो वस्तुतः सिद्धसेन-समन्तभद्रके लक्षणका शब्दान्तर मात्र है पर जिसमें अवभास के स्थानमें 'व्यवसाय' या 'निर्णीति' पद रखकर विशेष अर्थ समाविष्ट किया है। अन्तिम विभागमें मात्र आ० हेमचन्द्रका लक्षण है जिसमें 'स्व', 'अपूर्व', 'अनधिगत' आदि सब उड़ाकर परिष्कार किया गया है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

प्रामाण्य-स्वतः या परतः

दर्शनशास्त्रोंमें प्रामाण्य और अप्रामाण्यके 'स्वतः' 'परतः'की चर्चा बहुत प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टिसे जान पड़ता है कि इस चर्चाका मूल वेदोंके प्रामाण्य मानने न माननेवाले दो पक्षोंमें है। जब जैन, बौद्ध आदि विद्वानोंने वेदके प्रामाण्यका विरोध किया तब वेदप्रामाण्यवादी न्याय-वैशेषिक-मीमांसक विद्वानोंने वेदोंके प्रामाण्यका समर्थन करना शुरू किया। प्रारम्भमें यह चर्चा 'शब्द' प्रमाण तक ही परिमित रही जान पड़ती है पर एक बार उसके तार्किक प्रदेशमें आने पर फिर वह व्यापक बन गई और सर्व ज्ञानके विषयमें प्रामाण्य किंवा अप्रामाण्यके 'स्वतः' 'परतः'का विचार शुरू हो गया[1]।

इस चर्चामें पहिले मुख्यतया दो पक्ष पड़ गए। एक तो वेद-अप्रामाण्य वादी जैन-बौद्ध और दूसरा वेदप्रामाण्यवादी नैयायिक, मीमांसक आदि। वेद-प्रामाण्यवादियोंमें भी उसका समर्थन भिन्न-भिन्न रीतिसे शुरू हुआ। ईश्वरवादी न्याय-वैशेषिक दर्शनने वेदका प्रामाण्य ईश्वरमूलक स्थापित किया। जब उसमें वेदप्रामाण्य परतः स्थापित किया गया तब बाकीके प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणोंका प्रामाण्य भी परतः' ही सिद्ध किया गया और समान युक्तिसे उसमें अप्रामाण्यको भी 'परतः' ही निश्चित किया। इस तरह प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों परतः ही न्याय-वैशेषिक सम्मत[2] हुए।

---

१. 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' जैमि० सू० १. १. ५. 'तस्मात् तत् प्रमाणम् अनपेक्षत्वात्। न ह्येवं सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यम्, पुरुषान्तरं वापि; स्वयं प्रत्ययो ह्यसौ।' —शाबरभा० १. १. ५. बृहती० १. १. ५. 'सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्प्रतीक्ष्यताम्। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा॥' —श्लोकवा० चोद० श्लो० ३३.

२. 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्' —न्यायभा० पृ० १। तात्पर्य० १. १. १। किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः, उत उभयमपि परतः, आहोस्विदप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परतः, उतस्वित् प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं तु परत इति। तत्र परत

मीमांसक ईश्वरवादी न होनेसे वह तन्मूलक प्रामाण्य तो वेदमें कह ही नहीं सकता था। अतएव उसने वेदप्रामाण्य 'स्वतः' मान लिया और उसके समर्थनके वास्ते प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानोंका प्रामाण्य 'स्वतः' ही स्थापित किया[1]। पर उसने अप्रामाण्य को तो 'परतः' ही माना[2] है।

यद्यपि इस चर्चामें सांख्यदर्शनका क्या मन्तव्य है इसका कोई उल्लेख उसके उपलब्ध ग्रन्थोंमें नहीं मिलता; फिर भी कुमारिल, शान्तरक्षित और माधवाचार्यके कथनोंसे जान पड़ता है कि सांख्यदर्शन प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनोंको 'स्वतः' ही माननेवाला रहा[3] है। शायद उसका तद्विषयक प्राचीन-साहित्य नष्टप्राय हुआ हो। उक्त आचार्यों के ग्रन्थोंमें ही एक ऐसे पक्षका भी निर्देश है जो ठीक मीमांसकसे उलटा है अर्थात् वह अप्रामाण्यको 'स्वतः' ही और प्रामाण्यको 'परतः' ही मानता है। सर्वदर्शन-संग्रहमें—सौगताश्चरमं स्वतः (सर्वद० पृ० २७६) इस पक्षको बौद्धपक्ष रूपसे वर्णित किया है सही, पर तत्त्वसंग्रहमें जो बौद्ध पक्ष है वह बिलकुल जुदा है। सम्भव है सर्वदर्शन-संग्रहनिर्दिष्ट बौद्धपक्ष किसी अन्य बौद्धविशेषका रहा हो।

शान्तरक्षितने अपने बौद्ध मन्तव्यको स्पष्ट करते हुए कहा है कि १—प्रामाण्य-अप्रामाण्य उभय 'स्वतः', २—उभय 'परतः', ३—दोनोंमेंसे प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः तथा ४—अप्रामाण्य स्वतः, प्रामाण्य परतः इन चार पक्षोंमेंसे कोई भी बौद्धपक्ष नहीं है क्योंकि वे चारों पक्ष नियमवाले हैं। बौद्धपक्ष अनियमवादी है अर्थात् प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य दोनोंमें कोई

एव वेदस्य प्रामाण्यमिति वक्ष्यामः। ....स्थितमेतदर्थक्रियाज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चय इति। तदिदमुक्तम्। प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणमिति। तस्मादप्रामाण्यमपि परोक्षमित्यतो द्वयमपि परत इत्येष एव पक्षः श्रेयान्। —न्यायम० पृ० १६०-१७४। कन्दली पृ० २१८–२२०। 'प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात्। तदन्यस्मिन्ननाश्वासान्न विधान्तरसम्भवः॥' न्यायकु० २. १। तत्त्वचि० प्रत्यक्ष० पृ० १८३–२३३।

१. 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥' —श्लोकवा० सू० २. श्लो० ४७।

२. श्लोकवा० सू० २. श्लो० ८५।

३. 'केचिदाहुर्द्वयं स्वतः।' —श्लोकवा० सू० २. श्लो० ३४३ तत्त्वसं० प० का० २८११. 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।' —सर्वद० जैमि० पृ० २७६।

'स्वतः' तो कोई 'परतः' अनियमसे है। अभ्यासदशामें तो 'स्वतः' समझना चाहिए चाहे प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य। पर अनभ्यास दशामें 'परतः' समझना चाहिए[1]।

जैनपरम्परा ठीक शान्तरक्षितकथित बौद्धपक्षके समान ही है। वह प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनोंको अभ्यासदशामें 'स्वतः' और अनभ्यासदशामें 'परतः' मानती है। यह मन्तव्य प्रमाणनयतत्त्वालोकके सूत्रमें ही स्पष्टतया निर्दिष्ट है। यद्यपि आ० हेमचन्द्रने अपने सूत्रमें प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनोंका निर्देश न करके परीक्षामुखकी तरह केवल प्रामाण्यके स्वतः-परतःका ही निर्देश किया है तथापि देवसूरिका सूत्र पूर्णतया जैन परम्पराका द्योतक है। जैसे—'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति।' —परी० १. १३.। 'तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति' —प्रमाणन० १. २१।

इस स्वतः-परतःकी चर्चा क्रमशः यहाँ तक विकसित हुई है कि इसमें उत्पत्ति[2], ज्ञप्ति और प्रवृत्ति तीनोंको लेकर स्वतः-परतःका विचार बड़े विस्तारसे सभी दर्शनोंमें आ गया है और यह विचार प्रत्येक दर्शनकी अनिवार्य चर्चाका विषय बन गया है। और इसपर परिष्कारपूर्ण तत्वचिन्तामणि, गादाधरप्रामाण्यवाद आदि जैसे जटिल ग्रन्थ बन गये हैं।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

---

१. 'नहि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टोऽनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि—उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परतः इति पूर्वमुपवर्णितम्। अत एव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पञ्चमस्याप्यनियमपक्षस्य सम्भवात्।' —तत्त्वसं० प० का० ३१२३।

२. प्रमेयक० पृ० १४९ से।

सर्वज्ञवाद

लोक और शास्त्रमें सर्वज्ञ शब्दका उपयोग, योगसिद्ध विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञानके सम्भवमें विद्वानों और साधारण लोगोंकी श्रद्धा, जुदे-जुदे दार्शनिकोंके द्वारा अपने-अपने मन्तव्यानुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके विशिष्ट ज्ञानरूप अर्थमें सर्वज्ञ जैसे पदोंको लागू करनेका प्रयत्न और सर्वज्ञरूपसे माने जानेवाले किसी व्यक्तिके द्वारा ही मुख्यतया उपदेश किये गए धर्म या सिद्धान्तकी अनुगामियोंमें वास्तविक प्रतिष्ठा—इतनी बातें भगवान महावीर और बुद्धके पहिले भी थीं—इसके प्रमाण मौजूद हैं। भगवान् महावीर और बुद्धके समयसे लेकर आजतकके करीब ढाई हजार वर्षके भारतीय साहित्यमें तो सर्वज्ञत्वके अस्ति-नास्तिपक्षोंकी, उसके विविध स्वरूप तथा समर्थक और विरोधी युक्तिवादोंकी, क्रमशः विकसित सूक्ष्म और सूक्ष्मतर स्पष्ट एवं मनोरंजक चर्चाएँ पाई जाती हैं।

सर्वज्ञत्वके नास्तिपक्षकार मुख्यतया तीन हैं—चार्वाक, अज्ञानवादी और पूर्वमीमांसक। उसके अस्तिपक्षकार तो अनेक दर्शन हैं, जिनमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन मुख्य हैं।

चार्वाक इन्द्रियगम्य भौतिक लोकमात्र को मानता है इसलिये उसके मतमें अतीन्द्रिय आत्मा तथा उसकी शक्तिरूप सर्वज्ञत्व आदिके लिये कोई स्थान ही नहीं है। अज्ञानवादीका अभिप्राय आधुनिक वैज्ञानिकोंकी तरह ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञानकी भी एक अन्तिम सीमा होती है। ज्ञान कितना ही उच्च कक्षाका क्यों न हो पर वह त्रैकालिक सभी स्थूल-सूक्ष्म भावोंको पूर्ण रूपसे जाननेमें स्वभावसे ही असमर्थ है। अर्थात् अन्तमें कुछ न कुछ अज्ञेय रह ही जाता है। क्योंकि ज्ञानकी शक्ति ही स्वभावसे परिमित है। वेद-वादी पूर्वमीमांसक आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थ मानता है। किसी प्रकारका अतीन्द्रिय ज्ञान होनेमें भी उसे कोई आपत्ति नहीं फिर भी वह अपौरुषेयवेदवादी होनेके कारण वेदके अपौरुषेयत्वमें बाधक ऐसे किसी भी प्रकारके अतीन्द्रिय ज्ञानको मान नहीं सकता। इसी एकमात्र अभिप्रायसे उसने[1]

---

१. 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं-जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्' —शाबरभा० १. १. २। 'नानेन वचनेनेह सर्वज्ञत्वनिराक्रिया। वचनादृत इत्येवमपवादो हि

वेद-निरपेक्ष साक्षात् धर्मज्ञ या सर्वज्ञके अस्तित्वका विरोध किया है। वेद द्वारा धर्माधर्म या सर्व पदार्थ जाननेवालेका निषेध नहीं किया।

बौद्ध और जैन दर्शनसम्मत साक्षात् धर्मज्ञवाद या साक्षात् सर्वज्ञवादसे वेदके अपौरुषेयत्वका केवल निरास ही अभिप्रेत नहीं है बल्कि उसके द्वारा वेदोंमें अप्रामाण्य बतलाकर वेदभिन्न आगमोंका प्रामाण्य स्थापित करना भी अभिप्रेत है। इसके विरुद्ध जो न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शन सर्वज्ञवादी हैं उनका तात्पर्य सर्वज्ञवादके द्वारा वेदके अपौरुषेयत्ववादका निरास करना अवश्य है, पर साथ ही उसी वादके द्वारा वेदका पौरुषेयत्व बतलाकर उसीका प्रामाण्यस्थापन करना भी है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी हैं। वे ईश्वरके ज्ञानको नित्य[1]—उत्पाद-विनाशरहित और पूर्ण—त्रैकालिक सूक्ष्म-स्थूल समग्र भावोंको युगपत् जानने-वाला—मानकर तद्द्वारा उसे सर्वज्ञ मानते हैं। ईश्वरभिन्न आत्माओंमें वे सर्व-ज्ञत्व मानते हैं सही, पर सभी आत्माओंमें नहीं किन्तु योगी आत्माओंमें। योगियोंमें भी सभी योगियोंको वे सर्वज्ञ नहीं मानते किन्तु जिन्होंने योग द्वारा वैसा सामर्थ्य प्राप्त किया हो सिर्फ उन्हींको[2]। न्याय-वैशेषिक मतानुसार यह

संश्रितः॥ यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते। एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते॥ नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते।' श्लोकवा० चोद० श्लो० ११०–२। 'धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्य-द्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥' –तत्वसं० का० ३१२८। यह श्लोक तत्त्वसंग्रह में कुमारिलका कहा गया है। —पृ० ८४४

१. 'न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद्विरोधः। दृष्टा हि गुणानामा-श्रयभेदेन द्वयी गतिः नित्यता अनित्यता च तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्य-तीति।' —कन्दली पृ० ६०। 'एतादृशानुमितौ लाघवज्ञानसहकारेण ज्ञाने-च्छाकृतिषु नित्यत्वमेकत्वं च भासते इति नित्यैकत्वसिद्धिः।' —दिन-करी पृ० २६।

२. वै० सू० ६. १. ११–१३। 'अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्सम-वेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते। वियुक्तानां पुनश्चतुष्टयसन्निकर्षाद्योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्ष-मुत्पद्यते।' –प्रश० पृ० १८७। वै० सू० ६. १. ११–१३।

नियम नहीं कि सभी योगियोंको वैसा सामर्थ्य अवश्य प्राप्त हो। इस मतमें जैसे मोक्षके वास्ते सर्वज्ञत्वप्राप्ति अनिवार्य शर्त नहीं है वैसे यह भी सिद्धान्त[1] है कि मोक्षप्राप्तिके बाद सर्वज्ञ योगियोंकी आत्मामें भी पूर्ण ज्ञान शेष नहीं रहता, क्योंकि वह ज्ञान ईश्वरज्ञानकी तरह नित्य नहीं पर योगजन्य होनेसे अनित्य है।

सांख्य, योग[2] और वेदान्त दर्शनसम्मत सर्वज्ञत्वका स्वरूप वैसा ही है जैसा न्यायवैशेषिकसम्मत सर्वज्ञत्वका। यद्यपि योगदर्शन न्याय-वैशेषिककी तरह ईश्वर मानता है यथापि वह न्याय-वैशेषिककी तरह चेतन आत्मामें सर्वज्ञत्वका समर्थन न कर सकनेके कारण विशिष्ट बुद्धितत्त्व[3] में ही ईश्वरीय सर्वज्ञत्वका समर्थन कर पाता है। सांख्य, योग और वेदान्तमें बौद्धिक सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति भी मोक्षके वास्ते अनिवार्य[4] वस्तु नहीं है, जैसा कि जैन दर्शनमें माना जाता है। किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शनकी तरह वह एक योगविभूति मात्र होनेसे किसी-किसी साधकको होती है।

सर्वज्ञवादसे संबन्ध रखनेवाले हजारों वर्षके भारतीय दर्शन शास्त्र देखनेपर भी यह पता स्पष्टरूपसे नहीं चलता कि अमुक दर्शन ही सर्वज्ञवादका प्रस्थापक है। यह भी निश्चयरूपसे कहना कठिन है कि सर्वज्ञत्वकी चर्चा शुद्ध तत्त्व चिन्तनमेंसे फलित हुई है, या साम्प्रदायिक भावसे धार्मिक खण्डन-मण्डनमें से फलित हुई है? यह भी सप्रमाण बतलाना सम्भव नहीं कि ईश्वर, ब्रह्मा आदि दिव्य आत्माओंमें माने जानेवाले सर्वज्ञत्वके विचारसे मानुषिक सर्वज्ञत्वका विचार प्रस्तुत हुआ, या बुद्ध-महावीरसदृश मनुष्यमें माने जानेवाले सर्वज्ञत्वके

---

१. 'तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः। गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रकीर्तितः॥' —न्यायम० पृ० ५०८।

२. 'तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्॥' —योगसू० ३. ५४।

३. 'निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य....सर्वज्ञातृत्वम्, सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः।' —योगभा० ३. ४९।

४. 'प्राप्तविवेकजज्ञानस्य अप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।' —योगसू० ३. ५५।

विचार-आन्दोलनसे ईश्वर, ब्रह्मा आदिमें सर्वज्ञत्वका समर्थन किया जाने लगा, या देव-मनुष्य उभयमें सर्वज्ञत्व माने जानेका विचारप्रवाह परस्पर निरपेक्ष रूपसे प्रचलित हुआ ? यह सब कुछ होते हुए भी सामान्यरूपसे इतना कहा जा सकता है कि यह चर्चा धर्म-सम्प्रदायोंके खण्डन-मण्डनमेंसे फलित हुई है और पीछेसे उसने तत्त्वज्ञानका रूप धारण करके तात्त्विक चिन्तनमें भी स्थान पाया है। और वह तटस्थ तत्त्वचिन्तकोंका विचारणीय विषय बन गई है। क्योंकि मीमांसक जैसे पुरातन और प्रबल वैदिक दर्शनके सर्वज्ञत्व संबन्धी अस्वीकार और शेष सभी वैदिक दर्शनोंके सर्वज्ञत्व संबन्धी स्वीकारका एक मात्र मुख्य उद्देश्य यही है कि वेदका प्रामाण्य स्थापित करना जब कि जैन, बौद्ध आदि मनुष्य-सर्वज्ञत्ववादी दर्शनोंका एक यही उद्देश्य है कि परम्परासे माने जानेवाले वेदप्रामाण्यके स्थानमें इतर शास्त्रोंका प्रामाण्य स्थापित करना और वेदोंका अप्रामाण्य। जब कि वेदका प्रामाण्य-अप्रामाण्य ही असर्वज्ञवाद, देव-सर्वज्ञ-वाद और मनुष्य-सर्वज्ञवादकी चर्चा और उसकी दलीलोंका एकमात्र मुख्य विषय है तब धर्म-संप्रदायको इस तत्त्वचर्चाका उत्थानबीज माननेमें सन्देहको कम से कम अवकाश है।

मीमांसकधुरीण कुमारिलने धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादोंका निराकरण बड़े आवेश और युक्तिवादसे किया है (मीमांसाश्लो० सू० २. श्लो० ११० से १४३) वैसे ही बौद्धप्रवर शान्तरक्षितने उसका जवाब उक्त दोनों वादोंके समर्थनके द्वारा बड़ी गम्भीरता और स्पष्टतासे दिया है (तत्त्वसं० पृ० ८४६ से) इसलिए यहाँपर एक ऐतिहासिक प्रश्न होता है कि क्या धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वाद अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अपने-अपने युक्तिबलपर स्थिर होंगे, या किसी एक वादमेंसे दूसरे वादका जन्म हुआ है ? अभीतकके चिन्तनसे यह जान पड़ता है कि धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादोंकी परम्परा मूलमें अलग-अलग ही है। बौद्ध सम्प्रदाय धर्मज्ञवादकी परम्पराका अवलम्बी खास रहा होगा क्योंकि खुद बुद्धने (मज्झिम० चूल-मालुंक्यपुत्तसुत्त २.१) अपनेको सर्वज्ञ उसी अर्थमें कहा है जिस अर्थमें धर्मज्ञ या मार्गज्ञ शब्दका प्रयोग होता है। बुद्धके वास्ते धर्मशास्ता, धर्मदेशक आदि विशेषण पिटकग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। [1]धर्मकीर्त्तिने बुद्धमें सर्वज्ञत्वको अनुपयोगी बताकर केवल धर्मज्ञत्व ही स्थापित किया है, जब

---

१. 'हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥ दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।' —प्रमाणवा० २. ३२-३३।

कि शान्तरक्षितने प्रथम धर्मज्ञत्व सिद्धकर गौणरूपसे सर्वज्ञत्वको भी स्वीकार[1] किया है।

सर्वज्ञवादकी परम्पराका अवलम्बी मुख्यतया जैन सम्प्रदाय ही जान पड़ता है क्योंकि जैन आचार्योंने प्रथमसे ही अपने तीर्थंकरोंमें सर्वज्ञत्वको माना और स्थापित किया[2] है। ऐसा सम्भव है कि जब जैनोंके द्वारा प्रबल रूपसे सर्वज्ञत्व-की स्थापना और प्रतिष्ठा होने लगी तब बौद्धोंके वास्ते बुद्धमें सर्वज्ञत्वका समर्थन करना भी अनिवार्य और आवश्यक हो गया। यही सबब है कि बौद्ध तार्किक ग्रन्थोंमें धर्मज्ञवादसमर्थनके बाद सर्वज्ञवादका समर्थन होने पर भी उसमें वह जोर और एकतानता[3] नहीं है, जैसी कि जैन तार्किक ग्रन्थोंमें है।

मीमांसक (श्लो० सू० २. श्लो० ११०-१४३. तत्त्वसं० का० ३१२४-३२४६ पूर्वपक्ष) का मानना है कि यागादिके प्रतिपादन और उसके द्वारा धर्माधर्मादिका, किसी पुरुषविशेष की अपेक्षा रखे बिना ही, स्वतन्त्र विधान करना यही वेदका कार्य है। इसी सिद्धान्तको स्थिर रखनेके वास्ते कुमारिलने कहा है कि कोई भले ही धर्माधर्म-भिन्न अन्य

---

१. 'स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते। साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते॥'–तत्त्वसं० का० ३३०६। 'मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासंगिकमन्यत्रापि भगवतो ज्ञानप्रवृत्तेः बाधकप्रमाणाभावात् साक्षादशेषार्थपरिज्ञानात् सर्वज्ञो भवन् न केनचिद् बाध्यते इति, अतो न प्रेक्षावतां तत्प्रतिक्षेपो युक्तः।'–तत्त्वसं० प० पृ० ८६३।

२. 'से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ, तं० आगइं गइं ठिइं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ।' आचा० श्रु० २. चू० ३. पृ० ४२५ A. 'तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च'—आव० नि० गा० १२७। भग० श० ६. उ० ३२। 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥'–आप्तमी० का० ५।

३. 'यैः स्वेच्छासर्वज्ञो वर्ण्यते तन्मतेनाप्यसौ न विरुध्यते इत्यादर्शयन्नाह यद्यदित्यादि—यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः। शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ॥'–तत्त्वसं० का० ३६२८। मिलि० ३. ६. २।

सब वस्तु साक्षात् जान सके पर धर्माधर्मको वेदनिरपेक्ष होकर कोई साक्षात् नहीं जान सकता[1], चाहे वह जाननेवाला बुद्ध, जिन आदि जैसा मनुष्य योगी हो, चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु आदि जैसा देव हो, चाहे वह कपिल, प्रजापति आदि जैसा ऋषि या अवतारी हो। कुमारिलका कहना है कि सर्वत्र सर्वदा धर्ममर्यादा एक सी है, जो सदा सर्वत्र एकरूप वेद द्वारा विहित माननेपर ही सङ्गत हो सकती है। बुद्ध आदि व्यक्तियोंको धर्मके साक्षात् प्रतिपादक माननेपर वैसी मर्यादा सिद्ध हो नहीं सकती क्योंकि बुद्ध आदि उपदेशक कभी निर्वाण पानेपर नहीं भी रहते। जीवितदशामें भी वे सब क्षेत्रोंमें पहुँच नहीं सकते। सब धर्मोपदेशकोंकी एकवाक्यता भी सम्भव नहीं। इस तरह कुमारिल साक्षात् धर्मज्ञत्वका निशेध[2] करके फिर सर्वज्ञत्वका भी सबमें निषेध करते हैं। वह पुराणोक्त ब्रह्मादि देवोंके सर्वज्ञत्वका अर्थ भी, जैसा उपनिषदोंमें देखा जाता है, केवल आत्मज्ञान[3] परक करते हैं। बुद्ध, महावीर आदिके बारेमें कुमारिलका यह भी कथन[4] है कि वे वेदज्ञ ब्राह्मणजातिको धर्मोपदेश न करने और वेदविहीन मूर्ख शूद्र आदिको धर्मोपदेश करनेके कारण वेदाभ्यासी एवं वेद

---

१. 'नहि अतीन्द्रियार्थे वचनमन्तरेण अवगतिः सम्भवति, तदिदमुक्तम्–अशक्यं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात्'—शाबरभा० १. १. २। श्लो० न्याय० पृ० ७६।

२. 'कुड्यादिनिःसृतत्वाच्च नाश्वासो देशनासु नः। किन्नु बुद्धप्रणीताः स्युः किमु कैश्चिद् दुरात्मभिः। अदृश्यैः विप्रलम्भार्थं पिशाचादिभिरीरिताः। एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥'—श्लोकवा० सू० २. श्लो० १३६–४१। 'यत्तु वेदवादिभिरेव कैश्चिदुक्तम्-नित्य एवाऽयं वेदः प्रजापतेः प्रथममार्षज्ञानेनावबुद्धो भवतीति तदपि सर्वज्ञवदेव निराकार्यमित्याह–नित्येति'—श्लो० न्याय० सू० २. १४३। "अथापि वेददेहत्वात् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। सर्वज्ञानमयाद्वेदात्सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम्॥'—तत्त्वसं० का० ३२०८, ३२१३–१४।

३. 'ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति योपि दशाव्ययः। शङ्करः श्रूयते सोऽपि ज्ञानवानात्मवित्तया॥'—तत्त्वसं० का० ३२०६।

४. 'शाक्यादिवचनानि तु कतिपयदमदानादिवचनवर्जं सर्वाण्येव समस्तचतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि। त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्थवर्णनिरवसितप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्पितानीति न वेदमूलत्वेन संभाव्यन्ते।' तन्त्रवा० पृ० ११६। तत्त्वसं० का० ३२२६–२७।

द्वारा धर्मज्ञ भी नहीं थे। बुद्ध, महावीर आदिमें सर्वज्ञत्वनिषेधकी एक प्रबल युक्ति कुमारिलने यह दी[1] है कि परस्परविरुद्धभाषी बुद्ध, महावीर, कपिल आदि मेंसे किसे सर्वज्ञ माना जाय और किसे न माना जाय? अतएव उनमेंसे कोई सर्वज्ञ नहीं हैं। यदि वे सर्वज्ञ होते तो सभी वेदवत् अविरुद्धभाषी होते, इत्यादि।

शान्तरक्षितने कुमारिल तथा अन्य सामट, यज्ञट आदि मीमांसकोंकी दलीलोंका बड़ी सूक्ष्मतासे सविस्तर खण्डन (तत्त्वसं० का० ३२६३ से) करते हुए कहा है कि—वेद स्वयं ही भ्रान्त एवं हिंसादि दोषयुक्त होनेसे धर्मविधायक हो नहीं सकता। फिर उसका आश्रय लेकर उपदेश देनेमें क्या विशेषता है? बुद्ध[2] ने स्वयं ही स्वानुभवसे अनुकम्पाप्रेरित होकर अभ्युदय निःश्रेयससाधक धर्म बतलाया है। मूर्ख शूद्र आदि को उपदेश देकर तो उसने अपनी करुणा-वृत्तिके द्वारा धार्मिकता ही प्रकट की है। वह मीमांसकों से[3] पूछता है कि जिन्हें तुम ब्राह्मण कहते हो उनकी ब्राह्मणताका निश्चित प्रमाण क्या है?। अतीतकाल बड़ा लम्बा है, स्त्रियोंका मन भी चपल है, इस दशामें कौन कह सकता है कि ब्राह्मण कहलानेवाली सन्तानके माता-पिता शुद्ध ही रहे हों और कभी किसी विजातीयताका मिश्रण हुआ न हो। शान्तरक्षित[4]ने यह भी कह दिया कि सच्चे ब्राह्मण और श्रमण बुद्ध शासनके सिवाय अन्य किसी धर्ममें नहीं हैं (का० ३५८९-९२)। अन्तमें शान्तरक्षितने पहिले सामान्यरूपसे सर्वज्ञत्वका सम्भव सिद्ध किया है, फिर उसे महावीर, कपिल आदिमें असम्भव

---

१. 'सर्वज्ञेषु च भूयःसु विरुद्धार्थोपदेशिषु। तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम्॥ सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा। अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः तयोः कथम्॥'—तत्त्वसं० का० ३१४८-४९॥

२. 'करुणापरतन्त्रास्तु स्पष्टतत्त्वनिदर्शिनः। सर्वापवादनिःशङ्काश्चक्रुः सर्वत्र देशनाम्॥ यथा यथा च मौर्ख्यादिदोषदुष्टो भवेज्जनः। तथा तथव नाथानां दया तेषु प्रवर्तते॥'—तत्वसं० का० ३५७१-२।

३. 'अतितश्च महान् कालो योषितां चातिचापलम्। तद्भवत्यपि निश्चेतुं ब्राह्मणत्वं न शक्यते॥ अतीन्द्रियपदार्थज्ञो नहि कश्चित् समस्ति वः। तदन्वयविशुद्धिं च नित्यो वेदोपि नोक्तवान्॥'—तत्त्वसं० का० ३५७९ ८०।

४. 'ये च वाहितपापत्वाद् ब्राह्मणाः पारमार्थिकाः। अभ्यस्तामलनैरात्म्यास्ते मुनेरेव शासने॥ इहैव श्रमणस्तेन चतुर्द्धा परिकीर्त्यते। शून्याः परप्रवादा हि श्रमणैर्ब्राह्मणैस्तथा॥'—तत्त्वसं० का० ३५८९-९०।

बतलाकर केवल बुद्धमें ही सिद्ध किया है। इस विचारसरणीमें शान्तरक्षितकी मुख्य युक्ति यह[1] है कि चित्त स्वयं ही प्रभास्वर अतएव स्वभावसे प्रज्ञाशील है। क्लेशावरण, ज्ञेयावरण आदि मल आगन्तुक हैं। नैरात्म्यदर्शन जो एक मात्र सत्यज्ञान है, उसके द्वारा आवरणोंका क्षय होकर भावनाबलसे अन्तमें स्थायी सर्वज्ञताका लाभ होता है। ऐकान्तिक[2] क्षणिकत्वज्ञान, नैरात्म्यदर्शन आदिका अनेकान्तोपदेशी ऋषभ, वर्द्धमानादिमें तथा आत्मोपदेशक कपिलादिमें सम्भव नहीं अतएव उनमें आवरणक्षय द्वारा सर्वज्ञत्वका भी सम्भव नहीं। इस तरह सामान्य सर्वज्ञत्वकी सिद्धिके द्वारा अन्तमें अन्य तीर्थङ्करोंमें सर्वज्ञत्वका असम्भव बतलाकर केवल सुगतमें ही उसका अस्तित्व सिद्ध किया है और उसीके शास्त्र-को ग्राह्य बतलाया है।

शान्तरक्षितकी तरह प्रत्येक सांख्य या जैन आचार्यका भी यही प्रयत्न रहा है कि सर्वज्ञत्वका सम्भव अवश्य है पर वे सभी अपने-अपने तीर्थङ्करोंमें ही सर्वज्ञत्व स्थापित करते हुए अन्य तीर्थङ्करोंमें उसका नितान्त असम्भव बत-लाते हैं।

जैन आचार्योंकी भी यही दलील रही है कि अनेकान्त सिद्धान्त ही सत्य है। उसके यथावत् दर्शन और आचरणके द्वारा ही सर्वज्ञत्व लभ्य है। अने-कान्तका साक्षात्कार व उपदेश पूर्णरूपसे ऋषभ, वर्द्धमान आदिने ही किया अतएव वे ही सर्वज्ञ और उनके उपदिष्ट शास्त्र ही निर्दोष व ग्राह्य हैं। सिद्धसेन हों या समन्तभद्र, अकलङ्क हों या हेमचन्द्र सभी जैनाचार्योंने सर्वज्ञसिद्धिके प्रसङ्गमें वैसा ही युक्तिवाद अवलम्बित किया है जैसा बौद्ध सांख्यादि आचार्यों-

---

१. 'प्रत्यक्षीकृतनैरात्म्ये न दोषो लभते स्थितिम्। तद्विरुद्धतया दीप्ते प्रदीपे तिमिरं यथा ॥'—तत्त्वसं० का० ३३३८। 'एवं क्लेशावरणप्रहाणं प्रसाध्य ज्ञेयावरणप्रहाणं प्रतिपादयन्नाह—साक्षात्कृतिविशेषादिति—साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः। सर्वज्ञत्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तितः ॥'—तत्त्वसं० का० ३३३९। 'प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम्। प्रकृत्यैव स्थितं यस्मात् मलास्त्वागन्तवो मताः।'—तत्त्वसं० का० ३४३५। प्रमाणवा० ३, २०८।

२. 'इदं च वर्द्धमानादेर्नैरात्म्यज्ञानमीदृशम्। न समस्त्यात्मदृष्टौ हि विनष्टाः सर्वतीर्थिकाः ॥ स्याद्वादाक्षणिकस्या(त्वा)दि प्रत्यक्षादिप्रबो(बा)धितम्। बह्वेवा-युक्तमुक्तं यैः स्युः सर्वज्ञाः कथं नु ते ॥'—तत्त्वसं० ३३२५-२६।

ने। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसीने[1] नैरात्म्यदर्शनको तो किसीने[2] पुरुष-प्रकृति आदि तत्त्वोंके साक्षात्कारको, किसीने[3] द्रव्य-गुणादि छः पदार्थके तत्त्व-ज्ञानको तो किसीने[4] केवल आत्मज्ञानको यथार्थ कहकर उसके द्वारा अपने-अपने मुख्य प्रवर्त्तक तीर्थङ्करमें ही सर्वज्ञत्व सिद्ध किया है, जब जैनाचार्योंने[5] अनेकान्त-वादकी यथार्थता दिखाकर इसके द्वारा भगवान् ऋषभ, वर्द्धमान आदिमें ही सर्वज्ञत्व स्थापित किया है। जो कुछ हो, इतना साम्प्रदायिक भेद रहनेपर भी सभी सर्वज्ञवादी दर्शनोंका, सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याज्ञान और तज्जन्य क्लेशोंका नाश और तद्द्वारा ज्ञानावरणके सर्वथा नाशकी शक्यता आदि तात्त्विक विचारमें कोई मतभेद नहीं।

ई० १६३६] [प्रमाण मीमांसा

---

१. 'अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयंकरम्। विनेयेभ्यो हितायोक्तं नैरात्म्यं तेन तु स्फुटम्॥'—तत्त्वसं० का० ३३२२।

२. 'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥'—सांख्यका० ६४।

३. 'धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्'—वै० सू० १. १. ४।

४. 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्।'—बृहदा० २. ४. ५।

५. 'त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥'—आप्तमी० का० ७। अयोग० का० २८।

इन्द्रिय विचार

इन्द्रियनिरूपण प्रसङ्गमें मुख्यतया नीचे लिखी बातोंपर दर्शनशास्त्रोंमें विचार पाया जाता है—

इन्द्रिय पदकी निरुक्ति, इन्द्रियोंका कारण, उनकी संख्या, उनके विषय, उनके आकार, उनका पारस्परिक भेदाभेद, उनके प्रकार तथा द्रव्य-गुणग्राहित्व-विवेक इत्यादि।

अभीतक जो कुछ देखनेमें आया उससे ज्ञात होता है कि इन्द्रियपदकी निरुक्ति जो सबसे पुरानी लिपिबद्ध है वह पाणिनिके सूत्र[1] में ही है। यद्यपि इस निरुक्तिवाले पाणिनीय सूत्रके ऊपर कोई भाष्यांश पतञ्जलिके उपलब्ध महाभाष्य-में दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि सम्भव है पाणिनीय सूत्रोंकी अन्य कोई प्राचीन व्याख्या या व्याख्याओंमें उस सूत्रपर कुछ व्याख्या लिखी गई हो। जो कुछ हो पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि प्राचीन बौद्ध और जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें पाई जानेवाली पाणिनीय सूत्रोक्त इन्द्रियपदकी निरुक्ति किसी न किसी प्रकारसे पाणिनीय व्याकरणकी परम्पराके अभ्यासमेंसे ही उक्त बौद्ध-जैन ग्रन्थोंमें दाखिल हुई है। विशुद्धिमार्ग[2] जैसे प्रतिष्ठित बौद्ध और तत्त्वार्थ-

---

१. 'इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमितिवा।'–५.२.९३।

२. 'को पन नेसं इन्द्रियट्ठो नामाति ? इन्दलिंगट्ठो इन्द्रियट्ठो; इन्ददेसितट्ठो इन्द्रियट्ठो; इन्ददिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो; इन्दसिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो; इन्दजुट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो; सो सब्बोपि इध यथायोगं युज्जति। भगवा हि सम्मासम्बुद्धो परमिस्सरियभावतो इन्दो, कुसलाकुसलं च कम्मं कम्मेसु कस्सचि इस्सरियाभावतो। तेनेवेत्थ कम्मसञ्जनितानि ताव इन्द्रियानि कुसलाकुसलकम्मं उल्लिंगेन्ति। तेन च सिट्ठानीति इन्दलिङ्गट्ठेन इन्दसिट्ठट्ठेन च इन्द्रियानि। सब्बानेव पनेतानि भगवता यथा भूततो पकासितानि अभिसम्बुद्धानि चाति इन्ददेसितट्ठेन इन्ददिट्ठट्ठेन च इन्द्रियानि। तेनेव भगवता मुनीन्देन कानिचि गोचरासेवनाय, कानिचि भावनासेवनाय सेवितानीति इन्दजुट्ठट्ठेनापि इन्द्रियानि। अपि च आधिपच्च-संखातेन इस्सरियट्ठेनापि एतानि इन्द्रियानि। चक्खुविञ्ञाणादिप्पवत्तियं हि चक्खादीनं सिद्धं आधिपच्चं, तस्मिं तिक्खे तिक्खत्ता, मन्दे मन्दत्ता ति। अयं तावेत्थ अत्थतो विनिच्छयो।'–विसुद्धि० पृ० ४९१।

भाष्य[1] जैसे प्रतिष्ठित जैन दार्शनिक ग्रन्थमें एक बार स्थान प्राप्त कर लेनेपर तो फिर वह निरुक्ति उत्तरवर्ती सभी बौद्ध-जैन महत्त्वपूर्ण दर्शन ग्रन्थोंका विषय बन गई है।

इस इन्द्रिय पदकी निरुक्तिके इतिहासमें मुख्यतया दो बातें खास ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि बौद्ध वैयाकरण जो स्वतन्त्र है और जो पाणिनीय के व्याख्याकार हैं उन्होंने उस निरुक्तिको अपने-अपने ग्रन्थोंमें कुछ विस्तारसे स्थान दिया है और आ० हेमचन्द्र[2] जैसे स्वतन्त्र जैन वैयाकरणने भी अपने व्याकरणसूत्र तथा वृत्तिमें पूरे विस्तारसे उसे स्थान दिया है। दूसरी बात यह कि पाणिनीय सूत्रोंके बहुत ही अर्वाचीन व्याख्या-ग्रन्थोंके अलावा और किसी वैदिक दर्शनके ग्रन्थमें वह इन्द्रियपदकी निरुक्ति पाई नहीं जाती जैसी कि बौद्ध-जैन दर्शन ग्रन्थोंमें पाई जाती है। जान पड़ता है, जैसा अनेक स्थलोंमें हुआ है वैसे ही, इस संबन्धमें असलमें शाब्दिकोंकी शब्दनिरुक्ति बौद्ध-जैन दर्शन ग्रन्थोंमें स्थान पाकर फिर वह दार्शनिकोंकी चिन्ताका विषय भी बन गई है।

माठरवृत्ति[3] जैसे प्राचीन वैदिक दर्शनग्रन्थमें इन्द्रिय पदकी निरुक्ति है पर वह पाणिनीय सूत्र और बौद्ध-जैन दर्शनग्रन्थोंमें लभ्य निरुक्तिसे बिलकुल भिन्न और विलक्षण है।

जान पड़ता है पुराने समयमें शब्दोंकी व्युत्पत्ति या निरुक्ति बतलाना यह एक ऐसा आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था कि जिसकी उपेक्षा कोई बुद्धिमान् लेखक नहीं करता था। व्युत्पत्ति और निरुक्ति बतलानेमें ग्रन्थकार अपनी स्वतन्त्र कल्पनाका भी पूरा उपयोग करते थे। यह वस्तुस्थिति केवल प्राकृत-पालि शब्दोंतक ही परिमित न थी वह संस्कृत शब्दोंमें भी थी। इन्द्रियपदकी निरुक्ति इसीका एक उदाहरण है।

मनोरञ्जक बात तो यह है कि शाब्दिक क्षेत्रसे चलकर इन्द्रियपदकी निरुक्ति ने दार्शनिक क्षेत्रमें जब प्रवेश किया तभी उसपर दार्शनिक सम्प्रदायकी छाप लग गई। बुद्धघोष[4] इन्द्रियपदकी निरुक्तिमें और सब अर्थ पाणिनिकथित बत-

---

१. 'तत्त्वार्थभा० २. १५। सर्वार्थ १. १४।

२. 'इन्द्रियम्।'–हैमश० ७. १. १७४।

३. 'इन् इति विषयाणां नाम, तानिनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियाणि।'–माठर० का० २६।

४. देखो पृ० १३४. टिप्पणी २.।

लाते हैं पर इन्द्रका अर्थ सुगत बतलाकर भी उस निरुक्तिको सङ्गत करनेका प्रयत्न करते हैं। जैन आचार्योंने इन्द्रपदका अर्थ मात्र जीव या आत्मा ही सामान्य रूपसे बतलाया है। उन्होंने बुद्धघोषकी तरह उस पदका स्वाभिप्रेत तीर्थङ्कर अर्थ नहीं किया है। न्याय-वैशेषिक जैसे ईश्वरकर्तृत्ववादी किसी वैदिक दर्शनके विद्वान्ने अपने ग्रन्थमें इस निरुक्तिको स्थान दिया होता तो शायद वह इन्द्रपदका ईश्वर अर्थ करके भी निरुक्ति सङ्गत करता।

सांख्यमतके अनुसार इन्द्रियोंका उपादानकारण अभिमान है जो प्रकृतिजन्य एक प्रकारका सूक्ष्म द्रव्य ही है—सांख्यका० २५। यही मत वेदान्तको मान्य है। न्याय वैशेषिक मतके अनुसार (न्यायसू० १. १. १२) इन्द्रियोंका कारण पृथ्वी आदि भूतपञ्चक है जो जड़ द्रव्य ही है। यह मत पूर्वमीमांसकको भी अभीष्ट है। बौद्धमतके अनुसार प्रसिद्ध पाँच इन्द्रियाँ रूपजन्य होनेसे रूप ही हैं जो जड़ द्रव्यविशेष है। जैन दर्शन भी द्रव्य—स्थूल इन्द्रियोंके कारणरूपसे पुद्गलविशेषका ही निर्देश करता है जो जड़ द्रव्यविशेष ही है।

कर्णशष्कुली, अक्षिगोलककृष्णसार, त्रिपुटिका, जिह्वा और चर्मरूप जिन बाह्य आकारोंको साधारण लोग अनुक्रमसे कर्ण, नेत्र, घ्राण, रसन और त्वक् इन्द्रिय कहते हैं वे बाह्याकार सर्व दर्शनोंमें इन्द्रियाधिष्ठान[1] ही माने गए हैं—इंद्रियाँ नहीं। इंद्रियाँ तो उन आकारोंमें स्थित अतींद्रिय वस्तुरूपसे मानी गई हैं, चाहे वे भौतिक हों या आहङ्कारिक। जैन दर्शन उन पौद्गलिक अधिष्ठानोंको द्रव्येन्द्रिय कहकर भी वही भाव सूचित करता है कि—अधिष्ठान वस्तुतः इंद्रियाँ नहीं हैं। जैन दर्शनके अनुसार भी इंद्रियाँ अतींद्रिय हैं पर वे भौतिक या आभिमानिक जड़ द्रव्य न होकर चेतनशक्तिविशेषरूप हैं जिन्हें जैन दर्शन भावेंद्रिय–मुख्य इंद्रिय–कहता है। मन नामक षष्ठ इन्द्रिय सब दर्शनोंमें अंतरिन्द्रिय या अंतःकरण रूपसे मानी गई है। इस तरह छः बुद्धि इन्द्रियाँ तो सर्व-दर्शन साधारण हैं पर सिर्फ सांख्यदर्शन ऐसा है जो वाक्, पाणि, पादादि पाँच कर्मेन्द्रियोंको भी इन्द्रियरूपसे गिनकर उनकी ग्यारह संख्या (सांख्यका० २४) बतलाता है। जैसे वाचस्पति मिश्र और जयन्तने सांख्य-परिगणित कर्मेन्द्रियोंको इन्द्रिय माननेके विरुद्ध कहा[2] है वैसे ही आ० हेमचंद्रने

---

१. न्यायम० पृ० ४७७।

२. तात्पर्य० पृ० ५३१। न्यायम० पृ० ४८३।

भी कर्मेन्द्रियोंके इन्द्रियत्वका निरास करके अपने पूर्ववर्ती[1] पूज्यपादादि जैनाचार्योंका ही अनुसरण किया है।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि पूज्यपादादि प्राचीन जैनाचार्य तथा वाचस्पति, जयन्त आदि अन्य विद्वानोंने जब इन्द्रियोंकी सांख्यसम्मत ग्यारह संख्याका बलपूर्वक खण्डन किया है तब उन्होंने या और किसीने बौद्ध अभिधर्ममें[2] प्रसिद्ध इन्द्रियोंकी बाईस संख्याका प्रतिषेध या उल्लेख तक क्यों नहीं किया ?। यह माननेका कोई कारण नहीं है कि उन्होंने किसी संस्कृत अभिधर्म ग्रन्थको भी न देखा हो। जान पड़ता है बौद्ध अभिधर्मपरम्परामें प्रत्येक मानसशक्तिका इन्द्रियपदसे निर्देश करनेकी साधारण प्रथा है ऐसा विचार करके ही उन्होंने उस परम्पराका उल्लेख या खण्डन नहीं किया है।

छः इन्द्रियोंके शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि प्रतिनियत विषय ग्राह्य हैं। इसमें तो सभी दर्शन एकमत हैं पर न्याय-वैशेषिकका इन्द्रियोंके द्रव्यग्राहकत्वके संबन्धमें अन्य सबके साथ मतभेद है। इतर सभी दर्शन इन्द्रियोंको गुणग्राहक मानते हुए भी गुण-द्रव्यका अभेद होनेके कारण छहों इन्द्रियोंको द्रव्यग्राहक भी मानते हैं जब कि न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसक वैसा नहीं मानते। वे सिर्फ नेत्र, स्पर्शन और मनको द्रव्यग्राहक कहते हैं अन्यको नहीं (मुक्ता० का० ५३-५६)। इसी मतभेदको आ० हेमचन्द्रने स्पर्श आदि शब्दोंकी कर्म-भावप्रधान व्युत्पत्ति बतलाकर व्यक्त किया है और साथ ही अपने पूर्वगामी जैनाचार्योंका पदानुगमन भी।

इन्द्रिय-एकत्व और नानात्ववादकी चर्चा दर्शनपरम्पराओंमें बहुत पुरानी है—न्यायसू० ३. १. ५२। कोई इन्द्रियको एक ही मानकर नाना स्थानोंके द्वारा उसके नाना कार्योंका समर्थन करता है, जब कि सभी इन्द्रियनानात्ववादी उस मतका खण्डन करके सिर्फ नानात्ववादका ही समर्थन करते हैं। आ० हेमचन्द्रने इस संबन्धमें जैन प्रक्रिया-सुलभ अनेकान्त दृष्टिका आश्रय लेकर

---

१. तत्त्वार्थभा० २. १५। सर्वार्थ० २. १५।

२. 'कतमानि द्वाविंशतिः। चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियं घ्राणेन्द्रियं जिह्वेन्द्रियं कायेन्द्रियं मनइन्द्रियं स्त्रीन्द्रियं पुरुषेन्द्रियं जीवितेन्द्रियं सुखेन्द्रियं दुःखेन्द्रियं सौमनस्येन्द्रियं दौर्मनस्येन्द्रियं उपेक्षेन्द्रियं श्रद्धेन्द्रियं वीर्येन्द्रियं समाधीन्द्रियं प्रज्ञेन्द्रियं अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रियं आज्ञेन्द्रियं आज्ञातावीन्द्रियम्।'—स्फुटा० पृ० ६५। विसुद्धि० पृ० ४६१।

इन्द्रियोंमें पारस्परिक एकत्व-नानात्व उभयवादका समन्वय करके प्राचीन जैनाचार्योंका ही अनुसरण किया है और प्रत्येक एकान्तवादमें परस्पर दिये गए दूषणोंका परिहार भी किया है।

इन्द्रियोंके स्वामित्वकी चिन्ता भी दर्शनोंका एक खास विषय है। पर इस संबन्धमें जितनी अधिक और विस्तृत चर्चा जैनदर्शनोंमें पाई जाती है वैसी अन्य दर्शनोंमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। वह बौद्ध दर्शनमें है पर जैनदर्शनके मुकाबिलेमें अल्पमात्रा है। स्वामित्वकी इस चर्चाको आ० हेमचन्द्रने एकादश-अङ्गावलम्बी तत्त्वार्थसूत्र और भाष्यमेंसे अक्षरशः लेकर इस संबन्धमें सारा जैनमन्तव्य प्रदर्शित किया है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

मनोविचारणा

मनके स्वरूप, कारण, कार्य, धर्म और स्थान आदि अनेक विषयोंमें दार्शनिकोंका नानाविध मतभेद है जो संक्षेपमें इस प्रकार है। वैशेषिक (वै० सू० ७. १. २३), नैयायिक (न्यायसू० ३. २. ६१) और तदनुगामी पूर्व-मीमांसक (प्रकरणप० पृ० १५१) मनको परमाणुरूप अतएव नित्य–कारण-रहित मानते हैं। सांख्य-योग और तदनुगामी वेदान्त उसे परमाणुरूप नहीं फिर भी अणुरूप और जन्य मानकर उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक अहङ्कार तत्त्वसे[1] या अविद्यासे मानते हैं। बौद्ध और जैन परम्पराके अनुसार मन न तो व्यापक है और न परमाणुरूप। वे दोनों परम्पराएँ मनको मध्यम परिणामवाला और जन्य मानती हैं। बौद्ध परम्पराके[2] अनुसार मन विज्ञानात्मक है और वह उत्तर-वर्ती विज्ञानोंका समनन्तरकारण पूर्ववर्ती विज्ञानरूप है। जैन परम्पराके अनुसार पौद्गलिक मन तो एक खास प्रकारके सूक्ष्मतम मनोवर्गणा नामक जड़ द्रव्योंसे उत्पन्न होता[3] है और वह प्रतिक्षण शरीरकी तरह परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है जब कि भावमन ज्ञानशक्ति और ज्ञानरूप होनेसे चेतनद्रव्यजन्य है।

सभी दर्शनोंके मतानुसार मनका कार्य इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि गुणोंकी तथा उन गुणोंके अनुभवकी उत्पत्ति कराना है, चाहे वे गुण किसीके मतसे आत्मगत हों जैसे न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, जैन आदिके मतसे; या

---

१. 'यस्मात् कर्मेन्द्रियाणि बुद्धिन्द्रियाणि च सात्विकादहंकारादुत्पद्यन्ते मनोऽपि तस्मादेव उत्पद्यते।'—माठर का० २७।

२. 'विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः मन आयतनं च तत्। षण्णामनन्तराऽतीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः॥'—अभिधर्म० १. १६, १७। तत्त्वसं० का० ६३१।

३. 'यत् यत्समनन्तरनिरुद्धं विज्ञानं तत्तन्मनोधातुरिति। तद्यथा स एव पुत्रोऽन्यस्य पित्राख्यां लभते तदेव फलमन्यस्य बीजाख्याम्। तथेहापि स एव चक्षुरादिविज्ञानधातुरन्यस्याश्रय इति मनोधात्वाख्यां लभते। य एव षड् विज्ञान-धातव स एव मनोधातुः। य एव च मनोधातुस्त एव च षड् विज्ञानधातव इतीतरेतरान्तर्भावः.......योगाचारदर्शनेन तु षड्विज्ञानव्यतिरिक्तोऽप्यस्ति मनो-धातुः।'—स्फुटा० पृ० ४०, ४१।

अन्तःकरण—बुद्धि[1] के हों जैसे सांख्य-योग-वेदान्तादिके मतसे; या स्वगत ही हों जैसे बौद्धमतसे। बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञानकी उत्पत्तिमें भी मन निमित्त बनता है और बहिरिन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानादि गुणोंकी उत्पत्तिमें भी वह निमित्त बनता है। बौद्धमतके सिवाय किसीके भी मतसे इच्छा, द्वेष, ज्ञान, सुख, दुःख संस्कार आदि धर्म मनके नहीं हैं। वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक और जैनके अनुसार वे गुण आत्माके हैं पर सांख्य-योग-वेदान्तमतके अनुसार वे गुण बुद्धि —अन्तःकरण—के ही हैं। बौद्ध दर्शन आत्मतत्त्व अलग न मानकर उसके स्थानमें नाम—मन ही को मानता है अतएव उसके अनुसार इच्छा, द्वेष, ज्ञान, संस्कार आदि धर्म जो दर्शनभेदसे आत्मधर्म या अन्तःकरणधर्म कहे गए हैं वे सभी मनके ही धर्म हैं।

न्याय-वैशेषिक-बौद्ध[2] आदि कुछ दर्शनोंकी परम्परा मनको हृदयप्रदेशवर्ती मानती है। सांख्य आदि दर्शनोंकी परम्पराके अनुसार मनका स्थान केवल हृदय कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस परम्पराके अनुसार मन सूक्ष्म—लिङ्ग-शरीरमें, जो अष्टादश तत्त्वोंका विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है। और सूक्ष्म-शरीरका स्थान समग्र स्थूल शरीर ही मानना उचित जान पड़ता है अतएव उस परम्पराके अनुसार मनका स्थान समग्र स्थूल शरीर सिद्ध होता है। जैन परम्पराके अनुसार भावमनका स्थान आत्मा ही है। पर द्रव्यमनके बारेमें पक्ष-भेद देखे जाते हैं। दिगम्बर पक्ष द्रव्यमनको हृदयप्रदेशवर्ती मानता है जब कि श्वेताम्बर पक्षकी ऐसी मान्यताका कोई उल्लेख नहीं दिखता। जान पड़ता है श्वेताम्बर परम्पराको समग्र स्थूल शरीर ही द्रव्यमनका स्थान इष्ट है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

---

१. 'तस्माच्चित्तस्य धर्मा वृत्तयो नात्मनः'।—सर्वद० पात० पृ० ३५२।

२. 'ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रयं कल्पयन्ति।'—स्फुटा० पृ० ४१।

प्रमाणका विषय

विश्वके स्वरूप विषयक चिन्तनका मूल ऋग्वेदसे भी प्राचीन है[1]। इस चिन्तनके फलरूप विविध दर्शन क्रमशः विकसित और स्थापित हुए जो संक्षेपमें पाँच प्रकारमें समा जाते हैं—केवल नित्यवाद, केवल अनित्यवाद, परिणामी नित्यवाद, नित्यानित्य उभयवाद और नित्यानित्यात्मकवाद। केवल ब्रह्मवादी वेदान्ती केवल नित्यवादी हैं क्योंकि उनके मतसे अनित्यत्व आभासिक मात्र है। बौद्ध क्षणिकवादी होनेसे केवलानित्यवादी हैं। सांख्ययोगादि चेतनभिन्न जगत्को परिणामी नित्य माननेके कारण परिणामी नित्यवादी हैं। न्याय-वैशेषिक आदि कुछ पदार्थोंको मात्र नित्य और कुछको मात्र अनित्य माननेके कारण नित्यानित्य उभयवादी हैं। जैनदर्शन सभी पदार्थोंको नित्यानित्यात्मक माननेके कारण नित्यानित्यात्मकवादी है। नित्यानित्यत्व विषयक दार्शनिकोंके उक्त सिद्धांत श्रुति और आगमकालीन उनके अपने-अपने ग्रंथमें स्पष्टरूपसे वर्णित पाए जाते हैं और थोड़ा-बहुत विरोधी मंतव्योंका प्रतिवाद भी उनमें देखा जाता है—सूत्रकृ० १.१.१५–१८। इस तरह तर्कयुगके पहिले भी विश्वके स्वरूपके संबंधमें नाना दर्शन और उनमें पारस्परिक पक्ष-प्रतिपक्ष-भाव स्थापित हो गया था।

तर्कयुग अर्थात् करीब दो हजार वर्षके दर्शनसाहित्यमें उसी पारस्परिक पक्षप्रतिपक्ष भावके आधारपर वे दर्शन अपने-अपने मंतव्यका समर्थन और विरोधी मंतव्योंका खण्डन विशेष-विशेष युक्ति-तर्कके द्वारा करते हुए देखे जाते हैं। इसी तर्कयुद्धके फलस्वरूप तर्कप्रधान दर्शनग्रंथोंमें यह निरूपण सब दार्शनिकोंके वास्ते आवश्यक हो गया कि प्रमाणनिरूपणके बाद प्रमाणके विषयका स्वरूप अपनी अपनी दृष्टिसे बतलाना, अपने मंतव्यकी कोई कसौटी रखना और उस कसौटीको अपने ही पक्षमें लागू करके अपने पक्षकी यथार्थता साबित करना एवं विरोधी पक्षोंमें उस कसौटीका अभाव दिखाकर उनकी अवास्तविकता साबित करना।

आ० हेमचंद्रने इसी तर्कयुगकी शैलीका अनुसरण करके प्रस्तुत चार सूत्रोंमें

---

१. 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'—ऋग० अष्ट० २. अ० ३ व० २३. म० ४६। नासदीयसूक्त ऋग्० १०.१२९। हिरण्यगर्भसूक्त ऋग० १०.१२१।

[१.१.३०-३] प्रमाणके विषयरूपसे समस्त विश्वका जैनदर्शनसम्मत सिद्धांत, उसकी कसौटी और उस कसौटीका अपने ही पक्षमें सम्भव यह सब बतलाया है। वस्तुका स्वरूप द्रव्य-पर्यायात्मकत्व, नित्यानित्यत्व या सदसदात्मकत्वादिरूप जो आगमोंमें विशेष युक्ति, हेतु या कसौटीके सिवाय वर्णित पाया जाता है (भग० श० १. उ० ३; श० ६. उ० ३३) उसीको आ० हेमचंद्रने बतलाया है, पर तर्क और हेतुपूर्वक। तर्कयुगमें वस्तुस्वरूपकी निश्चायक जो विविध कसौटियाँ मानी जाती थीं जैसे कि न्यायसम्मत-सत्तायोगरूप सत्त्व, सांख्यसम्मत प्रमाणविषयत्वरूप सत्त्व तथा बौद्धसम्मत-अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्व इत्यादि—उनमेंसे अन्तिम अर्थात् अर्थक्रियाकारित्वको ही आ० हेमचंद्र कसौटी रूपसे स्वीकार करते हैं जो सम्भवतः पहिले पहल बौद्ध तार्किकोंके द्वारा (प्रमाणवा० ३. ३) ही उद्भावित हुई जान पड़ती है। जिस अर्थक्रियाकारित्वकी कसौटीको लागू करके बौद्ध तार्किकोंने वस्तुमात्रमें स्वाभिमत क्षणिकत्व सिद्ध किया है और जिस कसौटीके द्वारा ही उन्होंने केवल नित्यवाद (तत्त्वसं० का० ३९४ से) और जैन सम्मत नित्यानित्यात्मक वादादिका (तत्त्वसं० का० १७३८ से) विकट तर्क जालसे खण्डन किया है, आ० हेमचंद्रने उसी कसौटीको अपने पक्षमें लागू करके जैन सम्मत नित्यानित्यात्मकत्व अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मकत्ववादका सयुक्तिक समर्थन किया है और वेदांत आदिके केवल नित्यवाद तथा बौद्धोंके केवल अनित्यत्ववादका उसी कसौटीके द्वारा प्रबल खण्डन भी किया है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

द्रव्य-गुण-पर्याय

प्राकृत-पालि दव्व-दब्ब शब्द और संस्कृत द्रव्य शब्द बहुत प्राचीन है। लोकव्यवहारमें तथा काव्य, व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन आदि नाना शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न अर्थोंमें उसका प्रयोग भी बहुत प्राचीन एवं रूढ़ जान पड़ता है। उसके प्रयोग-प्रचारकी व्यापकताको देखकर पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें उसे स्थान देकर दो प्रकारसे उसकी व्युत्पत्ति बतलाई है जिसका अनुकरण पिछले सभी वैयाकरणोंने किया है। तद्धित प्रकरणमें द्रव्य शब्दके साधक खास जो दो सूत्र (५. ३. १०४; ४. ३ १६१) बनाये गए हैं उनके अलावा द्रव्य शब्द सिद्धिका एक तीसरा भी प्रकार कृत् प्रकरणमें है। तद्धितके अनुसार पहली व्युत्पत्ति यह है कि द्रु=वृक्ष या काष्ठ+य=विकार या अवयव अर्थात् वृक्ष या काष्ठका विकार तथा अवयव द्रव्य। दूसरी व्युत्पत्ति यों है—द्रु=काष्ठ + य = तुल्य अर्थात् जैसे सीधी और साफ सुथरी लकड़ी बनानेपर इष्ट आकार धारण कर सकती है वैसे ही जो राजपुत्र आदि शिक्षा दिये जानेपर राज योग्य गुण धारण करनेका पात्र है वह भावी गुणोंकी योग्यताके कारण द्रव्य कहलाता है। इसी प्रकार अनेक उपकारोंकी योग्यता रखनेके कारण धन भी द्रव्य कहा जाता है। कृदन्त प्रकरण के अनुसार गति-प्राप्ति अर्थवाले द्रु धातु से कर्मार्थक य प्रत्यय आने पर भी द्रव्य शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है प्राप्तियोग्य अर्थात् जिसे अनेक अवस्थाएँ प्राप्त होती है। वहाँ व्याकरणके नियमानुसार उक्त तीन प्रकारकी व्युत्पत्तिमें लोक-शास्त्र प्रसिद्ध द्रव्य शब्दके सभी अर्थोंका किसी न किसी प्रकारसे समावेश हो ही जाता है।

यद्यपि जैन साहित्यमें भी करीब-करीब उन्हीं सभी अर्थोंमें प्रयुक्त द्रव्य शब्द देखा जाता है तथापि द्रव्य शब्दकी जैन प्रयोग परिपाटी अनेक अंशोंमें अन्य सब शास्त्रोंसे भिन्न भी है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि निक्षेप (तत्त्वार्थ० १. ५) प्रसङ्गमें; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि प्रसङ्गमें (भग० श० २. उ० १); द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकरूप नयके प्रसङ्गमें (तत्त्वार्थभा० ५. ३१); द्रव्याचार्य (पञ्चाशक ६), भावाचार्य आदि प्रसङ्गमें; द्रव्यकर्म, भावकर्म आदि प्रसङ्गमें प्रयुक्त होनेवाला द्रव्य शब्द जैन परिभाषाके अनुसार खास-खास अर्थका बोधक है जो अर्थ तद्धित प्रकरणसाधित भव्य-योग अर्थवाले द्रव्य

शब्दके बहुत नजदीक हैं अर्थात् वे सभी अर्थ भव्य अर्थके भिन्न-भिन्न रूपान्तर हैं। विश्वके मौलिक पदार्थोंके अर्थमें भी द्रव्य शब्द जैन दर्शनमें पाया जाता है जैसे जीव, पुद्गल आदि छः द्रव्य।

न्याय वैशेषिक आदि दर्शनोंमें (वै० सू० १. १. १५) द्रव्य शब्द गुण-कर्माधार अर्थमें प्रसिद्ध है जैसे पृथ्वी जल आदि नव द्रव्य। इसी अर्थको लेकर भी उत्तराध्ययन (२८. ६) जैसे प्राचीन आगममें द्रव्य शब्द जैन दर्शन सम्मत छः द्रव्योंमें लागू किया गया देखा जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने (पात० महा० पृ० ५८) अनेक भिन्न-भिन्न स्थलोंमें द्रव्य शब्दके अर्थकी चर्चा की है। उन्होंने एक जगह कहा है कि घड़ेको तोड़कर कुण्डी और कुण्डीको तोड़कर घड़ा बनाया जाता है एवं कटक कुंडल आदि भिन्न-भिन्न अलङ्कार एक दूसरेको तोड़कर एक दूसरेके बदलेमें बनाये जाते हैं फिर भी उन सब भिन्न-भिन्न कालीन भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें जो मिट्टी या सुवर्ण नामक तत्त्व कायम रहता है वही अनेक भिन्न-भिन्न आकारोंमें स्थिर रहनेवाला तत्त्व द्रव्य कहलाता है। द्रव्य शब्दकी यह व्याख्या योगसूत्रके व्यासभाष्यमें (३. १३) भी ज्योंकी त्यों है और मीमांसक कुमारिलने भी वही (श्लोकवा० वन० श्लो० २१-२२) व्याख्या ली है। पतञ्जलिने दूसरी जगह (पात० महा० ४. १. ३; ५ १. ११९) गुणसमुदाय या गुण सन्द्रावको द्रव्य कहा है। यह व्याख्या बौद्ध प्रक्रियामें विशेष सङ्गत है। जुदे-जुदे गुणोंके प्रादुर्भाव होते रहनेपर भी अर्थात् जैन परिभाषाके अनुसार पर्यायोंके नवनवोत्पाद होते रहनेपर भी जिसके मौलिकत्वका नाश नहीं होता वह द्रव्य ऐसी भी संक्षिप्त व्याख्या पतञ्जलिके महाभाष्य (५. १. ११९) में है। महाभाष्यप्रसिद्ध और बादके व्यासभाष्य, श्लोकवार्तिक आदिमें समर्थित द्रव्य शब्दकी उक्त सभी व्याख्याएँ जैन परम्परामें उमास्वातिके सूत्र और भाष्यमें (५. २९, ३०, ३७) सबसे पहिले संगृहीत देखी जाती हैं। जिनभद्र क्षमाश्रमणने तो (विशेषा० गा० २८, अपने भाष्यमें अपने समयतक प्रचलित सभी व्याख्याओंका संग्रह करके द्रव्य शब्दका निर्वचन बतलाया है।

अकलङ्कके (लघी० २. १) ही शब्दोंमें विषयका स्वरूप बतलाते हुए आ० हेमचन्द्र ने द्रव्यका प्रयोग करके उसका आगमप्रसिद्ध और व्याकरण तथा दर्शनान्तरसम्मत ध्रुवभाव (शाश्वत, स्थिर) अर्थ ही बतलाया है। ऐसा अर्थ बतलाते समय उसकी जो व्युत्पत्ति दिखाई है वह कृत् प्रकरणानुसारी अर्थात् द्रु धातु + य प्रत्यय जनित है प्र० मी० पृ० २४।

प्रमाणविषयके स्वरूपकथनमें द्रव्यके साथ पर्यायशब्दका भी प्रयोग है।

संस्कृत, प्राकृत, पालि जैसी शास्त्रीय भाषाओंमें वह शब्द बहुत पुराना और प्रसिद्ध है पर जैन दर्शनमें उसका जो परिभाषिक अर्थ है वह अर्थ अन्य दर्शनों में नहीं देखा जाता। उत्पादविनाशशाली या आविर्भाव-तिरोभाववाले जो धर्म जो विशेष या जो अवस्थाएँ द्रव्यगत होती हैं वे ही पर्याय या परिणामके नाम से जैन दर्शनमें प्रसिद्ध हैं जिनके वास्ते न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनोंमें गुण शब्द प्रयुक्त होता है। गुण, क्रिया आदि सभी द्रव्यगत धर्मोंके अर्थमें आ० हेमचन्द्रने पर्यायशब्दका प्रयोग किया है। पर गुण तथा पर्याय शब्दके बारेमें जैन दर्शनका इतिहास खास ज्ञातव्य है।

भगवती आदि प्राचीनतर आगमोंमें गुण और पर्याय दोनों शब्द देखे जाते हैं। उत्तराध्ययन (२८. १३) में उनका अर्थभेद स्पष्ट है। कुन्दकुन्द, उमास्वति (तत्त्वार्थ० ५.३७) और पूज्यपादने भी उसी अर्थका कथन एवं समर्थन किया है। विद्यानन्दने भी अपने तर्कवादसे उसी भेदका समर्थन किया है पर विद्यानन्दके पूर्ववर्ती अकलङ्कने गुण और पर्यायके अर्थोंका भेदाभेद बतलाया है जिसका अनुकरण अमृतचन्द्रने भी किया है और वैसा ही भेदाभेद समर्थन तत्त्वार्थभाष्यकी टीकामें सिद्धसेनने भी किया है। इस बारेमें सिद्धसेन दिवाकरका एक नया प्रस्थान जैन तत्त्वज्ञानमें शुरू होता है जिसमें गुण और पर्याय दोनों शब्दोंको केवल एकार्थक ही स्थापित किया है और कहा है कि वे दोनों शब्द पर्याय मात्र हैं। दिवाकरकी अभेद समर्थक युक्ति यह है कि आगमोंमें गुणपदका यदि पर्याय पदसे भिन्न अर्थ अभिप्रेत होता तो जैसे भगवानने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो प्रकारसे देशना की है वैसे वे तीसरी गुणार्थिक देशना भी करते। जान पड़ता है इसी युक्तिका असर हरिभद्र पर पड़ा जिससे उसने भी अभेदवाद ही मान्य रक्खा। यद्यपि देवसूरिने गुण और पर्याय दोनोंके अर्थभेद बतलानेकी चेष्टा की (प्रमाणन० ५. ७, ८) है फिर भी जान पड़ता है उनके दिल पर भी अभेदका ही प्रभाव है। आ० हेमचन्द्रने तो विषयलक्षण सूत्रमें गुणपदको स्थान ही नहीं दिया और न गुण-पर्याय शब्दोंके अर्थविषयक भेदाभेदकी चर्चा ही की। इससे आ० हेमचन्द्रका इस बारेमें मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है कि वे भी अभेदके ही समर्थक हैं। उपाध्याय यशोविजयजीने भी इसी अभेद पक्षको स्थापित किया है। इस विस्तृत इतिहाससे इतना कहा जा सकता है कि आगम जैसे प्राचीन युगमें गुण-पर्याय दोनों शब्द प्रयुक्त होते रहे होंगे। तर्कयुग के आरम्भ और विकासके साथ ही साथ उनके अर्थविषयक भेद-अभेद की चर्चा शुरू हुई और

आगे बढ़ी। फलस्वरूप भिन्न-भिन्न आचार्योंने इस विषयमें अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दु प्रकट किया और स्थापित भी किया[1]।

इस प्रसङ्गमें गुण और पर्याय शब्दके अर्थविषयक पारस्परिक भेदाभेदकी तरह पर्याय-गुण और द्रव्य इन दोनोंके पारस्परिक भेदाभेद विषयक दार्शनिक चर्चा जानने योग्य है। न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन भेदवादी होनेसे प्रथमसे ही आज तक गुण, कर्म आदिका द्रव्यसे भेद मानते हैं। अभेदवादी सांख्य, वेदान्तादि उनका द्रव्यसे अभेद मानते आये हैं। ये भेदाभेदके पक्ष बहुत पुराने हैं क्योंकि खुद महाभाष्यकार पतञ्जलि इस बारेमें मनोरंजक और विशद चर्चा शुरू करते हैं। वे प्रश्न उठाते हैं कि द्रव्य, शब्द, स्पर्श आदि गुणों से अन्य है या अनन्य ?। दोनों पक्षोंको स्पष्ट करके फिर वे अन्तमें भेदपक्षका समर्थन करते हैं[2]।

जानने योग्य खास बात तो यह है कि गुण-द्रव्य या गुण-पर्यायके जिस भेदाभेदकी स्थापना एवं समर्थनके वास्ते सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैन तार्किकोंने अपनी कृतियोंमें खासा पुरुषार्थ किया है उसी भेदाभेदवादका समर्थन मीमांसकधुरीण कुमारिलने भी बड़ी स्पष्टता एवं तर्कवादसे किया है—श्लोकवा० आकृ० श्लो० ४-६४; वन० श्लो० २१-८०।

आ० हेमचन्द्रको द्रव्य-पर्यायका पारस्परिक भेदाभेद वाद ही सम्मत है जैसा अन्य जैनाचार्यों को।

१९३९ ई०] [प्रमाण मीमांसा

---

१ इस विषयके सभी प्रमाणके लिए देखो सन्मतिटी० पृ० ६३१. टि० ४।

२ 'किं पुनर्द्रव्यं के पुनर्गुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणास्ततोऽन्यद् द्रव्यम्। किं पुनरन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमाहोस्विदनन्यत्। गुणस्यायं भावात् द्रव्ये शब्दनिवेशं कुर्वन् ख्यापयत्यन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमिति। अनन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। न ह्यन्यदुपलभ्यते। पशोः खल्वपि विशसितस्य पर्णशते न्यस्तस्य नान्यच्छब्दादिभ्य उपलभ्यते। अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। तत् त्वनुमानगम्यम्। तद्यथा। ओषधिवनस्पतीनां वृद्धिह्रासौ। ज्योतिषां गतिरिति। कोसावनुमानः। इह समाने वर्ष्मणि परिणाहे च अन्यत्तुलाग्रं भवति लोहस्य अन्यत् कार्पासानां यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। तथा कश्चिदेकेनैव प्रहारेण व्यपवर्गं करोति कश्चित् द्वाभ्यामपि न करोति। यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। अथवा यस्य गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम्। किं पुनस्तत्त्वम्। तद्भावस्तत्त्वम्। तद्यथा। आमलकादिनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति। आमलकं बदरमित्येव भवति। अन्वर्थं खलु निर्वचनं गुणसंद्रावो द्रव्यमिति।' —पात० महा० ५. १. ११९।

वस्तुत्व की कसौटी

भारतीय दर्शनों में केवल नित्यत्व, केवल अनित्यत्व, नित्यानित्य—उभय, और परिणामिनित्यत्व इन चारों वादों के मूल भगवान् महावीर और बुद्ध के पहिले भी देखे जाते हैं पर इन वादोंकी विशेष स्पष्ट स्थापना और उस स्थापना के अनुकूल युक्तिवादका पता, उस पुराने समयके साहित्यमें नहीं चलता। बुद्धने प्राचीन अनित्यत्वकी भावनाके ऊपर इतना जोर दिया कि जिससे आगे जाकर क्रमशः दो परिणाम दर्शन क्षेत्रमें प्रकट हुए। एक तो यह कि अन्य सभी वाद उस अनित्यत्व अर्थात् क्षणिकत्ववादके विरुद्ध कमर कसकर खड़े हुए और सभी ने अपना स्थापन अपने ढङ्ग से करते हुए क्षणिकत्व के निरास का प्रबल प्रयत्न किया। दूसरा परिणाम यह आया कि खुद बौद्ध परम्परा में क्षणिकत्ववाद जो मूलमें वैराग्यपोषक भावनारूप होनेसे एक नैतिक या चारित्रीय वस्तुस्वरूप था उसने तत्त्वज्ञानका पूरा व्यापकरूप धारण किया। और वह उसके समर्थक तथा विरोधियोंकी दृष्टिमें अन्य तात्त्विक विषयोंकी तरह तात्त्विक-रूपसे ही चिन्ताका विषय बन गया।

बुद्ध, महावीरके समयसे लेकर अनेक शताब्दियों तकके दार्शनिक साहित्यमें हम देखते हैं कि प्रत्येक वादकी सत्यताकी कसौटी एकमात्र बन्धमोक्ष-व्यवस्था और कर्म-फलके कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी व्यवस्था रही है[1]। केवल अनित्यत्ववादी बौद्धोंकी अपने पक्षकी यथार्थताके बारेमें दलील यही रही कि आत्मा आदिको केवल नित्य माननेसे न तो बन्धमोक्षकी व्यवस्था ही घट सकती है और न कर्म-फलके कर्तृत्व-भोक्तृत्वका सामानाधिकरण्य ही। केवल नित्यत्ववादी औप-निषद आदि दार्शनिकोंकी भी (ब्र० शाङ्करभा० २. २. १९) बौद्धवादके विरुद्ध यही दलील रही। परिणामिनित्यत्ववादी जैनदर्शनने भी केवल नित्यत्व और केवल अनित्यत्व वादके विरुद्ध यही कहा कि आत्मा केवल नित्य या केवल अनित्य-मात्र हो तो संसार-मोक्षकी व्यवस्था, कर्मके कर्ताको ही कर्मफल मिलनेकी

---

१ 'तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते–सति च सत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे च अकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गः प्राप्नोति तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात्।'—न्यायभा० ३. १. ४।

व्यवस्था, मोक्षोपाय रूपसे दान आदि शुभ कर्मका विधान और दीक्षा आदिका उपादान ये सब घट नहीं सकते[1]।

भारतीय दर्शनोंकी तात्त्विक चिन्ताका उत्थान और खासकर उसका पोषण एवं विकास कर्मसिद्धान्त एवं संसारनिवृत्ति तथा मोक्षप्राप्तिकी भावनामेंसे फलित हुआ है। इससे शुरूमें यह स्वाभाविक था कि हर एक दर्शन अपने वादकी यथार्थतामें और दूसरे दर्शनोंके वादकी अयथार्थतामें उन्हीं कर्मसिद्धान्त आदिकी दुहाई दें। पर जैसे-जैसे अध्यात्ममूलक इस दार्शनिक क्षेत्रमें तर्कवाद का प्रवेश अधिकाधिक होने लगा और वह क्रमशः यहाँ तक बढ़ा कि शुद्ध तर्कवादके सामने आध्यात्मिकवाद एक तरहसे गौण-सा हो गया तब केवल नित्यत्वादि उक्त वादोंकी सत्यताकी कसौटी भी अन्य हो गई। तर्कने कहा कि जो अर्थक्रियाकारी है वही वस्तु सत् हो सकती है दूसरी नहीं। अर्थक्रिया-कारित्व की इस तार्किक कसौटीका श्रेय जहाँ तक ज्ञात है, बौद्ध परम्पराको है। इससे यह स्वाभाविक है कि बौद्ध दार्शनिक क्षणिकत्वके पक्षमें उस कसौटीका उपयोग करें और दूसरे वादोंके विरुद्ध। हम देखते हैं कि हुआ भी ऐसा ही। बौद्धोंने कहा कि जो क्षणिक नहीं वह अर्थक्रियाकारी हो नहीं सकता और जो अर्थक्रियाकारी नहीं वह सत् अर्थात् पारमार्थिक हो नहीं सकता—ऐसी व्याप्ति निर्मित करके उन्होंने केवल नित्यपक्षमें अर्थक्रियाकारित्वका असंभव दिखानेके वास्ते क्रम और यौगपद्यका जटिल विकल्पजाल रचा और उस विकल्पजालसे अन्तमें सिद्ध किया कि केवल नित्य पदार्थ अर्थक्रिया कर ही नहीं सकता अतएव वैसा पदार्थ पारमार्थिक हो नहीं सकता (वादन्याय पृ० ६)। बौद्धोंने केवलनित्यत्ववाद (तत्त्व सं० का० ३९४) की तरह जैनदर्शनसम्मत परिणामि-नित्यत्ववाद अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मकवाद या एक वस्तुको द्विरूप माननेवाले वादके निरासमें भी उसी अर्थक्रियाकारित्वकी कसौटीका उपयोग किया—(तत्त्व सं० का० १७३८)। उन्होंने कहा कि एक ही पदार्थ सत् असत् उभयरूप नहीं बन सकता। क्योंकि एक ही पदार्थ अर्थक्रियाका करनेवाला और नहीं करनेवाला कैसे कहा जा सकता है? इस तरह बौद्धों के प्रतिवादी दर्शन वैदिक और जैन दो विभाग में बँट जाते हैं।

---

१ 'दव्वट्ठियस्स जो चेव कुणइ सो चेव वेयए णियमा। अण्णो करेइ अण्णो परिभुजइ पज्जयणयस्स ॥'—सन्मति० १. ५२। 'न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ न संवृतिः सापि मृषास्वभावा। मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टो विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥'—युक्त्य० का० १५।

वैदिक परम्परामेंसे, जहाँ तक मालूम है, सबसे पहिले वाचस्पति मिश्र और जयन्तने उस बौद्धोद्भावित अर्थक्रियाकारित्व की कसौटीका प्रतिवाद किया। यद्यपि वाचस्पति और जयन्त दोनोंका लक्ष्य एक ही है और वह यह कि अक्षणिक एवं नित्य वस्तु सिद्ध करना, तो भी उन्होंने अर्थक्रियाकारित्व जिसे बौद्धोंने केवलनित्यपक्षमें असम्भव बतलाया था उसका बौद्ध-सम्मत क्षणिक-पक्षमें असम्भव बतलाते हुए भिन्न-भिन्न विचारसरणीका अनुसरण किया है। वाचस्पतिने सापेक्षत्व-अनपेक्षत्वका विकल्प करके क्षणिकमें अर्थक्रियाकारित्वका असम्भव साबित किया (तात्पर्य० पृ० ३५४-६), तो जयन्तने बौद्ध स्वीकृत क्रमयौगपद्यके विकल्पजालको ही लेकर बौद्धवादका खण्डन किया—(न्यायम० पृ० ४५३, ४६४)। भदन्त योगसेनने भी, जिनका पूर्वपक्षरूप से निर्देश कमलशीलने तत्त्वसंग्रहपंजिकामें किया है, बौद्धसम्मत क्षणिकत्ववादके विरुद्ध जो विकल्पजाल रचा है उसमें भी बौद्धस्वीकृत क्रमयौगपद्यविकल्पचक्रको ही बौद्धोंके विरुद्ध चलाया है (तत्वसं० का० ४२८ से)। यद्यपि भदन्त विशेषण होनेसे योगसेनके बौद्ध होनेकी सम्भावना की जाती है तथापि जहाँ तक बौद्ध परंपरामें नित्यत्व—स्थिरवाद पोषक पक्षके अस्तित्वका प्रामाणिक पता न चले तब तक यही कल्पना ठीक होगी कि शायद वह जैन, आजीवक या सांख्यपरिव्राजक हो। जो कुछ हो यह तो निश्चित ही है कि बौद्धोंकी अर्थक्रियाकारित्ववाली तार्किक कसौटीको लेकर ही बौद्धसम्मत क्षणिकत्ववादका खण्डन नित्यवादी वैदिक विद्वानोंने किया।

क्षणिकत्ववादके दूसरे प्रबल प्रतिवादी जैन रहे। उन्होंने भी तर्कयुगमें क्षणिकत्वका निरास उसी अर्थक्रियाकारित्ववाली बौद्धोद्भावित तार्किक कसौटीको लेकर ही किया। जहाँ तक मालूम है जैन परंपरामें सबसे पहिले इस कसौटीके द्वारा क्षणिकत्वका निरास करनेवाले अकलङ्क[1] हैं। उन्होंने उस कसौटीके द्वारा वैदिकसम्मत केवल नित्यत्ववादका खण्डन तो वैसे ही किया जैसा बौद्धोंने। और उसी कसौटीके द्वारा क्षणिकत्ववादका खण्डन भी वैसे ही किया जैसा भदन्त योगसेन और जयन्तने किया है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि नित्यत्व या क्षणिकत्वादि वादोंके खण्डन-मण्डनमें विविध विकल्पके साथ अर्थक्रियाकारित्व की कसौटीका प्रवेश तर्कयुगमें हुआ तब भी उक्त वादोंके

---

१ 'अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः। क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता॥'—लघी० २. १।

खण्डन-मण्डनमें काम लाई गई प्राचीन बन्धमोक्षव्यवस्था आदि कसौटीका उपयोग बिलकुल शून्य नहीं हुआ, वह गौणमात्र अवश्य हो गया।

एक ही वस्तुकी द्रव्य-पर्यायरूपसे या सदसद् एवं नित्यानित्यादि रूपसे जैन एवं जैमिनीय आदि दर्शनसम्मत द्विरूपताका बौद्धोंने जो खण्डन किया, (तत्वसं० का० २२२, ३११, ३१२) उसका जवाब बौद्धोंकी ही विकल्पजालजटिल अर्थक्रियाकारित्ववाली दलीलसे देना अकलङ्क आदि जैनाचार्योंने शुरू किया जिसका अनुसरण पिछले सभी जैन तार्किकोंने किया है। आ० हेमचन्द्र भी उसी मार्गका अवलम्बन करके पहिले केवलनित्यत्ववादका खण्डन बौद्धोंके ही शब्दोंमें करते हैं और केवलक्षणिकत्ववादका खण्डन भी भदन्त योगसेन या जयन्त आदिके शब्दोंमें करते हैं और साथ ही जैनदर्शनसम्मत द्रव्यपर्यायवादके समर्थनके वास्ते उसी कसौटीका उपयोग करके कहते हैं कि अर्थक्रियाकारित्व जैनवाद पक्षमें ही घट सकता है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

प्रमाणफल चर्चा

दार्शनिकक्षेत्रमें प्रमाण और उसके फलकी चर्चा भी एक खास स्थान रखती है। यों तो यह विषय तर्कयुगके पहिले श्रुति-आगम युगमें भी विचारप्रदेशमें आया है। उपनिषदों, पिटकों और आगमोंमें ज्ञान—सम्यग्ज्ञान—के फलका कथन है। उक्त युगमें वैदिक, बौद्ध, जैन सभी परम्परामें ज्ञानका फल अविद्या-नाश या वस्तुविषयक अधिगम कहा है पर वह आध्यात्मिक दृष्टिसे—अर्थात् मोक्ष लाभकी दृष्टिसे। उस अध्यात्म युगमें ज्ञान इसीलिए उपादेय समझा जाता था कि उसके द्वारा अविद्या—अज्ञान—का नाश होकर एवं वस्तुका वास्तविक बोध होकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त हो[1], पर तर्कयुगमें यह चर्चा व्यावहारिक दृष्टिसे भी होने लगी, अतएव हम तर्कयुगमें होनेवाली-प्रमाणफलविषयक चर्चामें अध्यात्मयुगीन अलौकिक दृष्टि और तर्कयुगीन लौकिक दृष्टि दोनों पाते हैं[2]। लौकिक दृष्टिमें केवल इसी भावको सामने रखकर प्रमाणके फलका विचार किया जाता है कि प्रमाणके द्वारा व्यवहारमें साक्षात् क्या सिद्ध होता है, और परम्परासे क्या, चाहे अन्तमें मोक्षलाभ होता हो या नहीं। क्योंकि लौकिक दृष्टिमें मोक्षानधिकारी पुरुषगत प्रमाणोंके फलकी चर्चाका भी समावेश होता है।

तीनों परम्पराकी तर्कयुगीन प्रमाणफलविषयक चर्चामें मुख्यतया विचारणीय अंश दो देखे जाते हैं—एक तो फल और प्रमाणका पारस्परिक भेद-अभेद और दूसरा फलका स्वरूप। न्याय, वैशेषिक, मीमांसक आदि वैदिक दर्शन फलको प्रमाणसे भिन्न ही मानते हैं[3]। बौद्ध दर्शन उसे अभिन्न कहता है[4] जब

---

१ 'सोऽविद्याग्रन्थिं विकरतीह सौम्य'—मुण्डको० २. १. १०। सांख्यका० ६७-६८। उत्त० २८. २, ३। 'तमेतं वुच्चति—यदा च ञत्वा सो धम्मं सच्चानि अभिसमेस्सति। तदा अविज्जूपसमा उपसन्तो चरिस्सति॥'—विसुद्धि० पृ० ५४४।

२ '...तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्'—वै० सू० १. १. ३। '...तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'—न्यायसू० १. १. १। 'यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्'—न्यायभा० १. १. ३।

३ श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ७४, ७५।

४ प्रमाणसमु० १. ६। न्यायबि० टी० १. २१।

कि जैन दर्शन अपनी अनेकान्त प्रकृतिके अनुसार फल-प्रमाणका भेदाभेद बतलाता है[1]।

फलके स्वरूपके विषय में वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक सभीका मन्तव्य एक-सा ही है[2]। वे सभी इन्द्रियव्यापारके बाद होनेवाले सन्निकर्षसे लेकर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि तकके क्रमिक फलोंकी परम्पराको फल कहते हुए भी उस परम्परामेंसे पूर्व पूर्व फलको उत्तर उत्तर फलकी अपेक्षासे प्रमाण भी कहते हैं अर्थात् उनके कथनानुसार इन्द्रिय तो प्रमाण ही है, फल नहीं और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि जो अन्तिम फल है वह फल ही है प्रमाण नहीं। पर बीचके सन्निकर्ष, निर्विकल्प और सविकल्प ये तीनों पूर्व प्रमाणकी अपेक्षासे फल और उत्तरफलकी अपेक्षासे प्रमाण भी हैं। इस मन्तव्यमें फल प्रमाण कहलाता है पर वह स्वभिन्न उत्तरफलकी अपेक्षासे। इस तरह इस मतमें प्रमाण-फलका भेद स्पष्ट ही है। वाचस्पति मिश्र ने इसी भेदको ध्यानमें रखकर सांख्य प्रक्रियामें भी प्रमाण और फलकी व्यवस्था अपनी कौमुदीमें की है[3]।

बौद्ध परम्परामें फलके स्वरूपके विषयमें दो मन्तव्य हैं—पहला विषयाधिगमको और दूसरा स्वसंवित्तिको फल कहता है। यद्यपि दिङ्नागसंगृहीत[4] इन दो मन्तव्योंमेंसे पहलेका ही कथन और विवरण धर्मकीर्त्ति[5] तथा उनके टीकाकार धर्मोत्तरने किया है तथापि शान्तरक्षितने उन दोनों बौद्ध मन्तव्योंका संग्रह करनेके अलावा उनका सयुक्तिक उपपादन और उनके पारस्परिक अन्तरका प्रतिपादन भी किया है। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशीलने यह स्पष्ट बतलाया है कि बाह्यार्थवाद, जिसे पार्थसारथि मिश्र ने सौत्रान्तिकका कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत विषयसारूप्य प्रमाण है और विषयाधिगति फल, जब कि विज्ञानवाद जिसे पार्थसारथिने योगाचारका कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत

---

१ 'करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत् नानात्वं च परश्वादिवत्'–अष्टश० अष्टस० पृ० २८३-२८४।

२ 'यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।'–न्यायभा० १. १. ३। श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ५६-७३। प्रकरणप० पृ० ६४। कन्दली पृ० १९८-९।

३ सांख्यत० का० ४।

४ प्रमाणसमु० १. १०-१२। श्लो० न्याय० पृ० १५८-१५९।

५ न्यायबि० १. १८-१९।

स्वसंवेदन ही फल है और ज्ञानगत तथाविध योग्यता ही प्रमाण है[1]। यह ध्यानमें रहे कि बौद्ध मतानुसार प्रमाण और फल दोनों ज्ञानगत धर्म हैं और उनमें भेद न माने जानेके कारण वे अभिन्न कहे गए हैं। कुमारिल ने इस बौद्धसम्मत अभेदवादका खण्डन (श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० ७४ से) करके जो वैशेषिक-नैयायिकके भेदवादका अभिमतरूपसे स्थापन किया है उसका जवाब शान्तरक्षितने अक्षरशः देकर बौद्धसम्मत अभेदभावकी युक्तियुक्तता दिखाई है—(तत्वसं० का० १३४० से)।

जैन परम्परामें सबसे पहिले तार्किक सिद्धसेन और समन्तभद्र ही हैं जिन्होंने लौकिक दृष्टिसे भी प्रमाणके फलका विचार जैन परम्पराके अनुसार व्यवस्थित किया है। उक्त दोनों आचार्योंका फलविषयक कथन शब्द और भावमें समान ही है—(न्याया० का० २८, आप्तमी० का० १०२)। दोनोंके कथनानुसार प्रमाणका साक्षात् फल तो अज्ञाननिवृत्ति ही है। पर व्यवहित फल यथासम्भव हानोपादानोपेक्षाबुद्धि है। सिद्धसेन और समन्तभद्रके कथनमें तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१—अज्ञानविनाशका फलरूपसे उल्लेख, जिसका वैदिक-बौद्ध परम्परामें निर्देश नहीं देखा जाता। २—वैदिक परम्परामें जो मध्यवर्ती फलोंका सापेक्ष भावसे प्रमाण और फल रूपसे कथन है उसके उल्लेखका अभाव, जैसा कि बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें भी है। ३—प्रमाण और फलके भेदाभेद विषयक कथनका अभाव। सिद्धसेन और समन्तभद्रके बाद अकलङ्क ही इस विषयमें मुख्य देखे जाते हैं जिन्होंने सिद्धसेन-समन्तभद्रदर्शित फलविषयक जैन मन्तव्यका संग्रह करते हुए उसमें अनिर्दिष्ट दोनों अंशोंकी स्पष्टतया पूर्ति की, अर्थात् अकलङ्कने प्रमाण और फलके भेदाभेदविषयक जैन मन्तव्यको स्पष्टतया कहा (अष्टश० अष्टस० पृ० २८३-४) और मध्यवर्ती फलोंको प्रमाण तथा फल उभयरूप कहनेकी वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसककी सापेक्ष शैलीको जैन प्रक्रियाके अनुसार घटाकर उसका स्पष्ट निर्देश किया[2]। माणिक्यनन्दी (परी० ५; १. से) और देवसूरिने (प्रमाणन० ६. ३ से) अपने-अपने सूत्रोंमें प्रमाणका फल बतलाते हुए सिर्फ वही बात कही

---

१ 'विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥'–तत्त्वसं० का० १३४४। श्लो० न्याय० पृ० १५८-१५६।

२ 'बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत् स्वसंविदाम्। पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् ॥'–लघी० १. ६।

है जो सिद्धसेन और समन्तभद्रने। अलबत्ता उन्होंने अकलङ्कनिर्दिष्ट प्रमाण-फलके भेदाभेदका जैन मन्तव्य सूत्रित किया है पर उन्होंने मध्यवर्ती फलोंको सापेक्षभावसे प्रमाण और फल कहनेकी अकलङ्कसूचित जैन-शैलीको सूत्रित नहीं किया। विद्यानन्दकी तीक्ष्ण दृष्टि अज्ञाननिवृत्ति और स्व-परव्यवसिति शब्दकी ओर गई। योगाचार और सौत्रान्तिक सिद्धान्तके अनुसार प्रमाणके फलरूपसे फलित होनेवाली स्व और पर व्यवसितिको ही विद्यानन्दने अज्ञाननिवृत्तिरूप बतलाया (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६८; प्रमाणप० पृ० ७६) जिसका अनुसरण प्रभाचन्द्रने मार्तण्डमें और देवसूरिने रत्नाकरमें किया। अब तकमें जैनतार्किकोंका एक स्थिर-सा मन्तव्य ही हो गया कि जिसे सिद्धसेन-समन्तभद्रने अज्ञाननिवृत्ति कहा है वह वस्तुतः स्व-परव्यवसिति ही है।

आ० हेमचन्द्रने प्रस्तुत चर्चामें पूर्ववर्ती सभी जैनतार्किकोंके मतोंका संग्रह तो किया ही है पर साथ ही उसमें अपनी विशेषता भी दिखाई है। उन्होंने प्रभाचन्द्र और देवसूरिकी तरह स्व-परव्यवसितिको ही अज्ञाननिवृत्ति न कहकर दोनोंको अलग-अलग फल माना है। प्रमाण और फलके अभेद पक्षमें कुमारिल ने बौद्धोंके ऊपर जो दोष दिये थे और जिनका निरास धर्मोत्तरकी न्यायबिन्दु-व्याख्या तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें है उन्हीं दोषोंका निवारण बौद्ध ढंगसे करते हुए भी आ० हेमचन्द्रने अपना वैयाकरणत्व आकर्षक तार्किकशैलीमें व्यक्त किया है। जैसे अनेक विषयोंमें आ० हेमचन्द्र अकलङ्कका खास अनुसरण करते हैं वैसे ही इस चर्चामें भी उन्होंने मध्यवर्ती फलोंको सापेक्षभावसे प्रमाण और फल कहनेवाली अकलङ्कस्थापित जैनशैलीको सूत्रमें शब्दशः स्थान दिया। इस तरह हम प्रमाण-फलके चर्चाविषयक प्रस्तुत सूत्रोंमें वैदिक, बौद्ध और जैन सभी परम्पराओंका यथासम्भव जैनमत रूपसे समन्वय एक ही जगह पाते हैं।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

प्रत्यक्ष विचार

प्रत्यक्षके संबन्धमें अन्य मुद्दों पर लिखनेके पहले यह जता देना जरूरी है कि प्राचीन समयमें लक्षणकार ऋषि प्रत्यक्ष लक्षणका लक्ष्य कितना समझते थे अर्थात् वे जन्य प्रत्यक्ष मात्रको लक्ष्य मानकर लक्षण रचते थे, या जन्य-नित्य-साधारण प्रत्यक्षको लक्ष्य मानकर लक्षण रचते थे जैसा कि उत्तरकालीन नैयायिकोंने आगे जाकर जन्य-नित्य साधारण प्रत्यक्षका लक्षण रचा है ? जहाँ तक देखा गया उससे यही जान पड़ता है कि प्राचीन समयके लक्षणकारोंमें से किसीने चाहे वह ईश्वराविरोधी नैयायिक वैशेषिक ही क्यों न हो जन्य-नित्य साधारण प्रत्यक्षका लक्षण बनाया नहीं है। ईश्वराविरोधी हो या ईश्वर-विरोधी सभी दर्शनकारोंके प्राचीन मूल ग्रन्थोंमें एक मात्र जन्यप्रत्यक्षका ही निरूपण है। नित्यप्रत्यक्षका किसीमें सम्भव भी है और सम्भव है तो वह ईश्वरमें ही होता है इस बातका किसी प्राचीन ग्रन्थमें सूचन तक नहीं[1]। अपौरुषेयत्वके द्वारा वेदके प्रामाण्यका समर्थन करनेवाले मीमांसकोंके विरुद्ध न्याय-वैशेषिक दर्शनने यह स्थापन तो शुरू कर दिया कि वेद शब्दात्मक और अनित्य होनेसे उसका प्रामाण्य अपौरुषेयत्व-मूलक नहीं किन्तु पौरुषेयत्व-मूलक ही है। फिर भी उस दर्शनके प्राचीन विद्वानोंने वेद-प्रणेतारूपसे कहीं ईश्वरका स्पष्ट स्थापन नहीं किया है। उन्होंने वेदको आप्त ऋषिप्रणीत कह कर ही उसका प्रामाण्य मीमांसक-सम्मत प्रक्रियासे भिन्न प्रक्रिया द्वारा स्थापित किया और साथ ही वेदाप्रामाण्यवादी जैन बौद्ध आदिको जवाब भी दे दिया कि वेद प्रमाण है क्योंकि उसके प्रणेता हमारे मान्य ऋषि आप्त ही रहे[2]। पिछले

---

१. वैशे० ३. १. १८। 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'—न्यायसू० १. १. ४। 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्'—सांख्यका० ५। सांख्यसू० १. ८९। योगभा० १. ७। 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणाम्........'—जैमि० १. १. ४। 'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थात् सन्निकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरूप्यते ॥'—चरकसं० ११. २०।

२. न्यायसू० १. १. ७; २. १. ६९। वैशे० ६. १. १।

व्याख्याकार नैयायिकोंने जैसे ईश्वरको जगत्स्रष्टा भी माना और वेद-प्रणेता भी, इसी तरह उन्होंने उसमें नित्यज्ञान की कल्पना भी की वैसे किसी भी प्राचीन वैदिक दर्शनसूत्रग्रन्थोंमें न तो ईश्वरका जगत्स्रष्टा रूपसे न वेदकर्त्ता रूपसे स्पष्ट स्थापन है और न कहीं भी उसमें नित्यज्ञानके अस्तित्वका उल्लेख भी है। अतएव यह सुनिश्चित है कि प्राचीन सभी प्रत्यक्ष लक्षणोंका लक्ष्य केवल जन्य प्रत्यक्ष ही है। इसी जन्य प्रत्यक्षको लेकर कुछ मुद्दों पर यहाँ विचार प्रस्तुत है।

१. **लौकिकालौकिकता**—प्राचीन समयमें लक्ष्यकोटिमें जन्यमात्र ही निविष्ट था फिर भी चार्वाक के सिवाय सभी दर्शनकारोंने जन्य प्रत्यक्षके लौकिक अलौकिक ऐसे दो प्रकार माने हैं। सभीने इन्द्रियजन्य और मनोमात्रजन्य वर्त्तमान संबद्ध-विषयक ज्ञानको लौकिक प्रत्यक्ष कहा है। अलौकिक प्रत्यक्षका वर्णन भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें भिन्न-भिन्न नामसे है। सांख्य-योग,[1] न्याय-वैशेषिक,[2] और बौद्ध[3] सभी अलौकिक प्रत्यक्षका योगि-प्रत्यक्ष या योगि-ज्ञान नामसे निरूपण करते हैं जो योगजन्य सामर्थ्य द्वारा जनित माना जाता है।

मीमांसक जो सर्वज्ञत्वका खासकर धर्माधर्मसाक्षात्कारका एकान्त विरोधी है वह भी मोक्षाङ्गभूत एक प्रकारके आत्मज्ञानका अस्तित्व मानता है जो वस्तुतः योगजन्य या अलौकिक ही है[4]।

वेदान्तमें जो ईश्वरसाक्षीचैतन्य है वही अलौकिक प्रत्यक्ष स्थानीय है।

जैन दर्शनकी आगमिक परम्परा ऐसे प्रत्यक्षको ही प्रत्यक्ष कहती है[5] क्योंकि उस परम्पराके अनुसार प्रत्यक्ष केवल वही माना जाता है जो इन्द्रिय-जन्य न हो। उस परम्पराके अनुसार तो दर्शनान्तरसंमत लौकिकप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं पर परोक्ष है[6] फिर भी जैन दर्शनकी तार्किक परम्परा प्रत्यक्षके दो प्रकार मानकर एकको जिसे दर्शनान्तरोंमें लौकिक प्रत्यक्ष कहा है सांव्यवहारिक

---

१. योगसू० ३. ५४। सांख्यका० ६४।

२. वैशे० ६. १. १३-१५।

३. न्यायबि० १. ११।

४. 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणात् ॥'—तन्त्रवा० पृ० २४०।

५. तत्त्वार्थ० १. १२।

६. तत्त्वार्थ० १. ११।

प्रत्यक्ष कहती है[1] और दूसरेको जो दर्शनान्तरोंमें अलौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहती है। तथा पारमार्थिक प्रत्यक्षके कारणरूपसे लब्धि या विशिष्ट आत्मशक्तिका वर्णन करती है, जो एक प्रकारसे जैन परिभाषामें योगज धर्म ही है।

२. **अलौकिकमें निर्विकल्पका स्थान**—अब प्रश्न यह है कि अलौकिक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होता है या सविकल्पक ही होता है, या उभयरूप? इसके उत्तरमें एकवाक्यता नहीं। तार्किक बौद्ध और शाङ्करवेदान्त[2] परम्पराके अनुसार तो अलौकिक प्रत्यक्ष निर्विकल्प ही संभवित है सविकल्पक कभी नहीं। रामानुजका मत[3] इससे बिलकुल उलटा है, तदनुसार लौकिक हो या अलौकिक कोई भी प्रत्यक्ष सर्वथा निर्विकल्पक संभव ही नहीं पर न्याय वैशेषिक आदि अन्य वैदिक दर्शनके अनुसार अलौकिक प्रत्यक्ष सविकल्पक निर्विकल्पक-उभय संभवित जान पड़ता है। यहाँ संभवित शब्दका प्रयोग इसलिए किया है कि भासर्वज्ञ (न्यायसार पृ० ४) जैसे प्रबल नैयायिकने उक्तरूपसे द्विविध योगि-प्रत्यक्षका स्पष्ट ही कथन किया है फिर भी कणादसूत्र और प्रशस्तपादभाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश नहीं। जैन परम्पराके अनुसार अलौकिक या पारमार्थिक प्रत्यक्ष उभयरूप है। क्योंकि जैन दर्शनमें जो अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन नामक सामान्यबोध माना जाता है वह अलौकिक निर्विकल्पक ही है। और जो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानरूप विशेषबोध है वही सविकल्पक है।

३. **प्रत्यक्षत्वका नियामक**—प्रश्न है कि प्रत्यक्षत्वका नियामक तत्त्व क्या है, जिसके कारण कोई भी बोध या ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है? इसका जवाब भी दर्शनोंमें एकविध नहीं। नव्य शाङ्कर वेदान्तके अनुसार प्रत्यक्षत्वका नियामक है प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्यका अभेद जैसा कि वेदान्तपरिभाषा (पृ० २३) में सविस्तर वर्णित है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध, मीमांसक दर्शनके अनुसार प्रत्यक्षत्वका नियामक है सन्निकर्षजन्यत्व, जो सन्निकर्ष से, चाहे वह सन्निकर्ष लौकिक हो या अलौकिक, जन्य है, वह सब प्रत्यक्ष। जैन दर्शनमें प्रत्यक्षके नियामक दो तत्त्व हैं। आगमिक परम्पराके अनुसार तो एक मात्र

---

१. टिप्पणी पृ० २२।

२. Indian Psychology : Perception. P. 352.

३. 'अतः प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निर्विशेषविषयत्वम्'—श्री भाष्य पृ० २१।

आत्ममात्र सापेक्षत्व ही प्रत्यक्षत्वका नियामक (सर्वार्थ १. १२) है। जब कि तार्किक परम्पराके अनुसार उसके अलावा इन्द्रियमनोजन्यत्व भी प्रत्यक्षत्वका नियामक फलित होता है। (प्रमाणमी० १.२०) वस्तुतः जैनतार्किक परम्परा न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनानुसारिणी ही है '

४. **प्रत्यक्षत्वका क्षेत्र**—प्रत्यक्षत्व केवल निर्विकल्पकमें ही मर्यादित है या वह सविकल्पक में भी है ? इसके जवाब में बौद्ध का कथन है कि वह मात्र निर्विकल्पकमें मर्यादित है। जब कि बौद्ध भिन्न सभी दर्शनोंका मन्तव्य निर्विकल्पक-सविकल्पक दोनोंमें प्रत्यक्षत्वके स्वीकारका है।

५. **जन्य-नित्यसाधारण प्रत्यक्ष**—अभीतक जन्यमात्रको लक्ष्य मानकर लक्षणकी चर्चा हुई पर मध्ययुगमें जब कि ईश्वरका जगत्कर्तृ रूपसे या वेदप्रणेतृ रूपसे न्याय-वैशेषिकादि दर्शनोंमें स्पष्ट स्थान निर्णीत हुआ तभीसे ईश्वरीय प्रत्यक्ष नित्य माने जानेके कारण जन्य-नित्य उभय साधारण प्रत्यक्ष लक्षण बनानेका प्रश्न ईश्वरवादियोंके सामने आया। जान पड़ता है ऐसे साधारण लक्षणका प्रयत्न भासर्वज्ञने सर्वप्रथम किया। उसने 'सम्यगपरोक्षानुभव' (न्यायसार पृ० २) को प्रत्यक्ष प्रमा कहकर जन्य-नित्य उभय-प्रत्यक्षका एक ही लक्षण बनाया। शालिकनाथ जो प्रभाकरका अनुगामी है उसने भी 'साक्षात्प्रतीति' (प्रकरणप० पृ० ५१) को प्रत्यक्ष कहकर दूसरे शब्दोंमें बाह्यविषयक इन्द्रियजन्य तथा आत्मा और ज्ञानग्राही इन्द्रियाजन्य ऐसे द्विविध प्रत्यक्ष (प्रकरणप० पृ० ५१) के साधारण लक्षणका प्रणयन किया। पर आगे जाकर नव्य नैयायिकोंने भासर्वज्ञके अपरोक्ष पद तथा शालिकनाथके साक्षात्प्रतीति पदका 'ज्ञानाकरणकज्ञान'-को जन्य-नित्य साधारण प्रत्यक्ष कहकर नव्य परिभाषामें स्पष्टीकरण किया (मुक्ता० ५२)। इधर जैनदर्शनके तार्किकोंमें भी साधारण-लक्षणप्रणयनका प्रश्न उपस्थित हुआ जान पड़ता है। जैन दर्शन नित्यप्रत्यक्ष तो मानता ही नहीं अतएव उसके सामने जन्य-नित्यसाधारण लक्षणका प्रश्न न था। पर सांव्यवहारिक, पारमार्थिक उभयविध प्रत्यक्षके साधारण लक्षणका प्रश्न था। जान पड़ता है इसका जवाब सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकरने ही दिया। उन्होंने अपरोक्षरूप ज्ञानको प्रत्यक्ष कहकर सांव्यवहारिक-पारमार्थिक उभयसाधारण अपरोक्षत्वको लक्षण बनाया (न्याया० ४)। यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धसेनके 'अपरोक्ष'पदके प्रयोगका प्रभाव भासर्वज्ञके लक्षणमें है या नहीं ? पर इतना तो निश्चित ही है कि जैन परम्परामें अपरोक्षत्वरूपसे साधारण लक्षणका प्रारंभ सिद्धसेनने ही किया।

६. दोषका निवारण—सिद्धसेनने अपरोक्षत्वको प्रत्यक्ष मात्रका साधारण लक्षण बनाया। पर उसमें एक त्रुटि है जो किसी भी सूक्ष्मप्रज्ञ तार्किकसे छिपी रह नहीं सकती। वह यह है कि अगर प्रत्यक्षका लक्षण अपरोक्ष है तो परोक्षका लक्षण क्या होगा? अगर यह कहा जाय कि परोक्षका लक्षण प्रत्यक्षभिन्नत्व या अप्रत्यक्षत्व है तो इसमें स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय है। जान पड़ता है इस दोषको दूर करनेका तथा अपरोक्षत्वके स्वरूपको स्फुट करनेका प्रयत्न सर्वप्रथम भट्टारक अकलङ्कने किया। उन्होंने बहुत ही प्राञ्जल शब्दोंमें कह दिया कि जो ज्ञान विशद है वही प्रत्यक्ष है—(लघी० १. ३)। उन्होंने इस वाक्यमें साधारण लक्षण तो गर्भित किया ही पर साथ ही उक्त अन्योन्याश्रय दोषको भी टाल दिया। क्योंकि अब अपरोक्षपद ही निकल गया, जो परोक्षत्वके निर्वचनकी अपेक्षा रखता था। अकलङ्क की लाक्षणिकताने, केवल इतना ही नहीं किया पर साथ ही वैशद्यका स्फोट भी कर दिया। वह स्फोट भी ऐसा कि जिससे सांव्यवहारिक पारमार्थिक दोनों प्रत्यक्षका संग्रह हो। उन्होंने कहा कि अनुमानादिकी अपेक्षा विशेष प्रतिभास करना ही वैशद्य है—(लघी० १. ४)। अकलङ्कका यह साधारण लक्षणका प्रयत्न और स्फोट ही उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर तार्किकोंके प्रत्यक्ष लक्षणमें प्रतिबिम्बित हुआ। किसी ने विशद पदके स्थानमें 'स्पष्ट'-पद (प्रमाणन० २.२) रखा तो किसीने उसी पदको ही रखा—(परी २. ३)।

आ० हेमचन्द्र जैसे अनेक स्थलोंमें अकलङ्कानुगामी हैं वैसे ही प्रत्यक्षके लक्षणके बारेमें भी अकलङ्कके ही अनुगामी हैं। यहाँ तक कि उन्होंने तो विशद पद और वैशद्यका विवरण अकलङ्कके समान ही रखा। अकलङ्ककी परिभाषा इतनी दृढ़मूल हो गई कि अन्तिम तार्किक उपाध्याय यशोविजयजीने भी प्रत्यक्षके लक्षणमें उसीका आश्रय किया—तर्कभाषा० पृ० १।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

———

बौद्धप्रत्यक्ष लक्षण

बौद्ध न्यायशास्त्रमें प्रत्यक्ष लक्षण की दो परम्पराएँ देखी जाती हैं—पहली अभ्रान्तपद रहित, दूसरी अभ्रान्तपद सहित। पहली परम्पराका पुरस्कर्ता दिङ्नाग और दूसरीका धर्मकीर्त्ति है। प्रमाणसमुच्चय (१.३) और न्यायप्रवेश (पृ० ७) में पहली परम्पराके अनुसार लक्षण और व्याख्यान है। न्यायबिन्दु (१.४) और उसकी धर्मोत्तरीय आदि वृत्तिमें दूसरी परम्पराके अनुसार लक्षण एवं व्याख्यान है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें (का० १२१४) धर्मकीर्तिकी दूसरी परम्पराका ही समर्थन किया है। जान पड़ता है शान्तरक्षितके समय तक बौद्ध तार्किकोंमें दो पक्ष स्पष्टरूपसे हो गए थे जिनमेंसे एक पक्ष अभ्रान्तपदके सिवाय ही प्रत्यक्षका पूर्ण लक्षण मानकर पीत शङ्खादि भ्रान्त ज्ञानोंमें भी (तत्त्वसं० का० १३२४ से) दिङ्नाग कथित प्रमाण लक्षण—घटानेका प्रयत्न करता था।

उस पक्षको जवाब देते हुए दिङ्नागके मतका तात्पर्य शान्तरक्षितने इस प्रकारसे बतलाया है कि जिससे दिङ्नागके अभ्रान्तपद रहित लक्षणवाक्यका समर्थन भी हो और अभ्रान्तपद सहित धर्मकीर्त्तीय परम्पराका वास्तविकत्व भी बना रहे। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील दोनोंकी दृष्टिमें दिङ्नाग तथा धर्मकीर्त्तिका समान स्थान था। इसीसे उन्होंने दोनों विरोधी बौद्ध तार्किक पक्षोंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया।

बौद्धेतर तर्क ग्रन्थोंमें उक्त दोनों बौद्ध परम्पराओंका खण्डन देखा जाता है। भामहके काव्यालङ्कार (५. ६ पृ० ३२) और उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें (१. १. ४. पृ० ४१) दिङ्नागीय प्रत्यक्ष लक्षणका ही उल्लेख पाया जाता है जब कि उद्योतकरके बादके वाचस्पति, (तात्पर्य० पृ० १५४) जयन्त (मञ्जरी पृ० ५२), श्रीधर (कन्दली पृ० १६०) और शालिकनाथ (प्रकरण प० पृ० ४७) आदि सभी प्रसिद्ध वैदिक विद्वानोंकी कृतियोंमें धर्मकीर्त्तीय प्रत्यक्ष लक्षणका पूर्वपक्ष रूपसे उल्लेख है।

जैन आचार्योंने जो बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष लक्षणका खण्डन किया है उसमें दिङ्नागीय और धर्मकीर्त्तीय दोनों लक्षणोंका निर्देश एवं प्रतिवाद पाया जाता है। सिद्धसेन दिवाकरकी कृति रूपसे माने जानेवाले न्यायावतारमें जैन परम्परा-

नुसारी प्रमाण लक्षणमें जो बाधवर्जितपद—(न्याया० १) है वह अक्षपादके (न्यायसू० १. १. ४) प्रत्यक्ष लक्षणगत अव्यभिचारिपदका प्रतिबिम्ब है या कुमारिल कर्तृक समझे जानेवाले 'तत्रापूर्वार्थविज्ञानं प्रमाणं बाधवर्जितम्' लक्षणगत बाधवर्जित पदकी अनुकृति है या धर्मकीर्त्तीय (न्यायबि० १.४) अभ्रान्तपदका रूपान्तर है या स्वयं दिवाकरका मौलिक उद्भावन है यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो कुछ हो पर यह तो निश्चित ही है कि आ० हेमचन्द्रका बौद्ध प्रत्यक्षलक्षण विषयक खण्डन धर्मकीर्त्तीय परम्पराको उद्देश्यमें रखकर ही है, दिङ्नागीय परम्पराको उद्देश्यमें रखकर नहीं—प्र० मी० पृ० २३।

बौद्ध लक्षणगत कल्पनाऽपोढ पदमें स्थित कल्पना शब्दके अर्थके संबंधमें खुद बौद्ध तार्किकोंमें अनेक भिन्न-भिन्न मत थे जिनका कुछ खयाल शान्तरक्षित (तत्वसं० का० १२१४ से) की इससे संबन्ध रखनेवाली विस्तृत चर्चासे आ सकता है, एवं अनेक वैदिक और जैन तार्किक जिन्होंने बौद्ध पक्षका खण्डन किया है उनके विस्तृत ऊहापोहात्मक खण्डन ग्रन्थसे भी कल्पना शब्दके माने जानेवाले अनेक अर्थोंका पता चलता है[1]। खासकर जब हम केवल खण्डन प्रधान तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ (पृ० ४१) देखते हैं तब तो कल्पना शब्दके प्रचलित और सम्भवित करीब-करीब सभी अर्थों या तद्विषयक मतोंका एक बड़ा भारी संग्रह हमारे सामने उपस्थित होता है।

ऐसा होने पर भी आ० हेमचन्द्रने तो सिर्फ धर्मकीर्त्ति अभिमत (न्यायबि० १. ५) कल्पना स्वरूपका—जिसका स्वीकार और समर्थन शान्तरक्षितने भी (तत्वसं० का० १२१४) किया है—ही उल्लेख अपने खण्डन ग्रन्थमें किया है अन्य कल्पनास्वरूपका नहीं।

ई० १६३६] [प्रमाण मीमांसा

---

१. न्यायवा० पृ० ४१। तात्पर्य० पृ० १५३। कंदली पृ० १६१। न्यायम० पृ० ६२–६५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५। प्रमेयक० पृ० १८. B.।

मीमांसक का प्रत्यक्ष लक्षण

मीमांसादर्शनमें प्रत्यक्ष प्रमाणके स्वरूपका निर्देश सर्वप्रथम जैमिनीय सूत्रमें (१. १. ४) ही मिलता है। इस सूत्रके ऊपर शाबरभाष्यके अलावा अन्य भी व्याख्याएँ और वृत्तियाँ थीं। उनमेंसे भवदासकी व्याख्या इस सूत्रको प्रत्यक्ष लक्षणका विधायक माननेवाली थी (श्लो० न्याय० प्रत्यक्ष० श्लो० १)। दूसरी कोई व्याख्या इस सूत्रको विधायक नहीं पर अनुवादक माननेवाली थी (श्लोकवा०प्रत्यक्ष० श्लो० १६)। कोई वृत्ति ऐसी भी थी (शाबरभा० १. १. ५) जो इस सूत्रके शाब्दिक विन्यासमें मतभेद रखकर पाठान्तर माननेवाली थी अर्थात् सूत्रमें जो सत् और तत् शब्दका क्रमिक स्थान है उसके बदले तत् और सत् शब्दका व्यत्यय मानती थी।

कुमारिलने इस सूत्रको लक्षणका विधान या स्वतन्त्र अनुवादरूप माननेवाले पूर्वमतोंका निरास करके अपने अनोखे ढङ्गसे अन्तमें उस सूत्रको अनुवादरूप ही स्थापित किया है और साथ ही उस पाठान्तर माननेवाले मतका भी निरास किया है (श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० १-३६) जैसा कि प्रभाकरने अपने बृहती ग्रन्थमें। प्रत्यक्षलक्षणपरक प्रस्तुत जैमिनीय सूत्रका खण्डन मीमांसकभिन्न वैदिक, बौद्ध और जैन सभी तार्किकोंने किया है। बौद्ध परम्परामें सबसे प्रथम खण्डन करनेवाले दिङ्नाग (प्रमाणसमु० १. ३७) जान पड़ते हैं। उसीका अनुसरण शान्तरक्षित आदिने किया है। वैदिक परम्परामें प्रथम खण्डन करनेवाले उद्योतकर ही (न्यायवा० पृ० ४३) जान पड़ते हैं। वाचस्पति तो उद्योतकरके ही टीकाकार हैं (तात्पर्य० पृ० १५५) पर जयन्तने (न्यायम० पृ० १००) इसके खण्डनमें विस्तार और स्वतन्त्रतासे काम लिया है। जैन परम्परामें इसके खण्डनकार सर्वप्रथम अकलङ्क या विद्यानन्द (तत्त्वार्थ श्लो० पृ० १८७ श्लो० ३७) जान पड़ते हैं। अभयदेव (सन्मति टी० पृ० ५३४) आदिने उन्हींका अनुगमन किया है। आ० हेमचन्द्रने (प्र० मी० पृ० २३.) अपने पूर्ववर्त्ती जैन तार्किकोंका इस जैमिनीय सूत्रके खण्डनमें जो अनुसरण किया है वह जयन्तके मंजरीगत (पृ० १००) खण्डन भागका ही प्रतिबिम्ब मात्र है जैसा कि अन्य जैन तार्किक ग्रन्थोंमें (स्याद्वादर० पृ० ३८१) है।

खण्डन करते समय आ० हेमचन्द्रने कुमारिल-सम्मत अनुवादभङ्गीका निर्देश किया है और उस व्यत्ययवाले पाठान्तरका भी।

सांख्यका प्रत्यक्ष लक्षण

सांख्य परम्परामें प्रत्यक्ष लक्षणके मुख्य तीन प्रकार हैं। पहिला प्रकार विन्ध्यवासीके लक्षणका है जिसे वाचस्पतिने वार्षगण्यके नामसे निर्दिष्ट किया है (तात्पर्य० पृ० १५५)। दूसरा प्रकार ईश्वरकृष्णके लक्षणका (सांख्यका० ५) और तीसरा सांख्यसूत्रगत (सांख्यसू० १. ८६) लक्षणका है।

बौद्धों, जैनों और नैयायिकोंने सांख्यके प्रत्यक्ष लक्षणका खण्डन किया है। ध्यान रखनेकी बात यह है कि विन्ध्यवासीके लक्षणका खण्डन तो सभीने किया है पर ईश्वरकृष्ण जैसे प्राचीन सांख्याचार्यके लक्षणका खण्डन सिर्फ जयन्त (पृ० ११६) ही ने किया है पर सांख्यसूत्रगत लक्षणका खण्डन तो किसी भी प्राचीन आचार्यने नहीं किया है।

बौद्धोंमें प्रथम खण्डनकार दिङ्नाग (प्रमाणसमु० १. २७), नैयायिकोंमें प्रथम खण्डनकार उद्योतकर (न्यायवा० पृ० ४३) और जैनोंमें प्रथम खण्डनकार अकलङ्क (न्यायवि० १. १६५) ही जान पड़ते हैं।

आ० हेमचन्द्रने सांख्यके लक्षण खण्डनमें (प्र० मी० पृ० २४)पूर्वाचार्योंका अनुसरण किया है पर उनका खण्डन खासकर जयन्तकृत (न्यायम० पृ० १०६) खण्डनानुसारी है। जयन्तने ही विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण दोनोंके लक्षणप्रकारका खण्डन किया है, हेमचन्द्रने भी उन्हींके शब्दोंमें दोनों ही के लक्षणका खण्डन किया है।

ई० १६३६] [प्रमाण मीमांसा

धारावाहिक ज्ञान

भारतीय प्रमाणशास्त्रोंमें 'स्मृति' के प्रामाण्य-अप्रामाण्यकी चर्चा प्रथमसे ही चली आती देखी जाती है पर धारावाहिक ज्ञानोंके प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा सम्भवतः बौद्ध परम्परासे धर्मकीर्त्तिके बाद दाखिल हुई। एक बार प्रमाणशास्त्रोंमें प्रवेश होनेके बाद तो फिर वह सर्वदर्शनव्यापी हो गई और इसके पक्ष-प्रतिपक्षमें युक्तियाँ तथा वाद स्थिर हो गए और खास-खास परम्पराएँ बन गईं।

वाचस्पति, श्रीधर, जयन्त, उदयन आदि सभी[1] न्याय-वैशेषिक दर्शनके विद्वानोंने 'धारावाहिक' ज्ञानोंको अधिगतार्थक कहकर भी प्रमाण ही माना है और उनमें 'सूक्ष्मकालकला'के भानका निषेध ही किया है। अतएव उन्होंने प्रमाण लक्षणमें 'अनधिगत' आदि पद नहीं रखे।

मीमांसककी प्रभाकरीय और कुमारिलीय दोनों परम्पराओंमें भी धारावाहिक ज्ञानोंका प्रामाण्य ही स्वीकार किया है। पर दोनोंने उसका समर्थन भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है। प्रभाकरानुगामी शालिकनाथ[2] 'कालकला' का भान बिना माने ही 'अनुभूति' होने मात्रसे उन्हें प्रमाण कहते हैं, जिस पर न्याय-वैशेषिक परम्पराकी छाप स्पष्ट है। कुमारिलानुगामी पार्थसारथि[3], 'सूक्ष्मकालकला' का

---

१ 'अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकविज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे। न च कालभेदेनानधिगतगोचरत्वं धारावाहिकानामिति युक्तम्। परमसूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां पिशितलोचनैरस्मादृशैरनाकलनात्। न चाद्येनैव विज्ञानेनोपदर्शितत्वादर्थस्य प्रवर्तितत्वात् पुरुषस्य प्रापितत्वाच्चोत्तरेषामप्रामाण्यमेव ज्ञानानामिति वाच्यम्। नहि विज्ञानस्यार्थप्रापणं प्रवर्तनादन्यद्, न च प्रवर्तनमर्थप्रदर्शनादन्यत्। तस्मादर्थप्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानं प्रवर्त्तकं प्रापकं च। प्रदर्शनं च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि ?।'–तात्पर्य० पृ० २१. कन्दली पृ० ६१. न्यायम० पृ० २२. न्यायकु० ४. १।

२ 'धारावाहिकेषु तह्यु त्तरविज्ञानानि स्मृतिप्रमोषादविशिष्टानि कथं प्रमाणानि ? तत्राह–अन्योन्यनिरपेक्षास्तु धारावाहिकबुद्धयः। व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलाप उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता।'– प्रकरणप० पृ० ४२-४३; बृहतीप० पृ० १०३.।

३ 'नन्वेवं धारावाहिकेषूत्तरेषां पूर्वगृहीतार्थविषयकत्वादप्रामाण्यं स्यात्। तस्मात् 'अनुभूतिः प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणम्। तस्मात् यथार्थमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणमिति वक्तव्यम्। धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बद्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम्। सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यत इति चेत्; अहो सूक्ष्मदर्शी देवानांप्रियः! यो हि समानविषयया विज्ञानधारया चिरमवस्थायोपरतः सोऽनन्तरक्षणसम्बन्धितयार्थं स्मरति। तथाहि–किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति–अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इति। तथा प्रातरारभ्यैतावत्कालं मयोपलब्ध इति। कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत्। तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः। तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्।'–शास्त्रदी० पृ० १२४–१२६.

भान मानकर ही उनमें प्रामाण्यका उपपादन करते हैं क्योंकि कुमारिलपरम्परामें प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व' पद होनेसे ऐसी कल्पना बिना किये 'धारावाहिक' ज्ञानों के प्रामाण्यका समर्थन किया नहीं जा सकता। इस पर बौद्ध और जैन कल्पनाकी छाप जान पड़ती है।

बौद्ध-परम्परामें यद्यपि धर्मोत्तर[1] ने स्पष्टतया 'धारावाहिक' का उल्लेख करके तो कुछ नहीं कहा है, फिर भी उसके सामान्य कथनसे उसका झुकाव 'धारावाहिक' को अप्रमाण माननेका ही जान पड़ता है। हेतुबिन्दुकी टीकामें अर्चट[2] ने 'धारावाहिक' के विषयमें अपना मन्तव्य प्रसंगवश स्पष्ट बतलाया है। उसने योगिगत 'धारावाहिक' ज्ञानोंको तो 'सूक्ष्म कालकला' का भान मानकर प्रमाण कहा है। पर साधारण प्रमाताओंके धारावाहिकोंको सूक्ष्मकाल-भेदग्राहक न होनेसे अप्रमाण ही कहा है। इस तरह बौद्ध परम्परामें प्रमाताके भेद से 'धारावाहिक' के प्रामाण्य-अप्रामाण्यका स्वीकार है।

जैन तर्कग्रन्थोंमें 'धारावाहिक' ज्ञानों के प्रामाण्य-अप्रामाण्यके विषयमें दो परम्पराएँ हैं—दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय। दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'धारावाहिक' ज्ञान तभी प्रमाण हैं जब वे क्षणभेदादि विशेष का भान करते हों और विशिष्टप्रमाजनक होते हों। जब वे ऐसा न करते हों तब प्रमाण नहीं हैं। इसी तरह उस परम्पराके अनुसार यह भी समझना चाहिए कि विशिष्ट-प्रमाजनक होते हुए भी 'धारावाहिक' ज्ञान जिस द्रव्यांशमें विशिष्टप्रमाजनक नहीं हैं उस अंशमें वे अप्रमाण और विशेषांशमें विशिष्टप्रमाजनक होनेके कारण प्रमाण हैं अर्थात् एक ज्ञान व्यक्तिमें भी विषय भेद की अपेक्षासे प्रामाण्या-

---

१ 'अत एव अनधिगतविषयं प्रमाणम्। येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेन अधिकं कार्यम्। ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम्।'—न्यायबि० टी०. पृ० ३.

२ 'यदैकस्मिन्नेव नीलादिवस्तुनि धारावाहीनीन्द्रियज्ञानान्युत्पद्यन्ते तदा पूर्वेणाभिन्नयोगक्षेमत्वात् उत्तरेषामिन्द्रियज्ञानानामप्रामाण्यप्रसङ्गः। न चैवम्, अतोऽनेकान्त इति प्रमाणसंप्लववादी दर्शयन्नाह—पूर्वप्रत्यक्षलक्षणेन इत्यादि। एतत् परिहरति—तद् यदि प्रतिक्षणं क्षणविवेकदर्शिनोऽधिकृत्योच्यते तदा भिन्नो-पयोगितया पृथक् प्रामाण्यात् नानेकान्तः। अथ सर्वपदार्थेष्वेकत्वाध्यवसायिनः सांव्यवहारिकान् पुरुषानभिप्रेत्योच्यते तदा सकलमेव नीलसन्तानमेकमर्थं स्थिररूपं तत्साध्यां चार्थक्रियामेकात्मिकामध्यवस्यन्तीति प्रामाण्यमप्युत्तरेषामनिष्टमेवेति कुतोऽनेकान्तः?'—हेतु० टी० पृ० ३७.

प्रामाण्य है। अकलङ्कके अनुगामी विद्यानन्द और माणिक्यनन्दीके अनुगामी प्रभाचन्द्रके टीकाग्रन्थोंका पूर्वापर अवलोकन उक्त नतीजे पर पहुँचाता[1] है। क्योंकि अन्य सभी जैनाचार्योंकी तरह निर्विवाद रूपसे 'स्मृतिप्रामाण्य' का समर्थन करनेवाले अकलङ्क और माणिक्यनन्दी अपने-अपने प्रमाण लक्षणमें जब बौद्ध और मीमांसकके समान 'अनधिगत' और 'अपूर्व' पद रखते हैं तब उन पदोंकी सार्थकता उक्त तात्पर्यके सिवाय और किसी प्रकारसे बतलाई ही नहीं जा सकती चाहे विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रका स्वतन्त्र मत कुछ भी रहा हो।

बौद्ध[2] विद्वान् विकल्प और स्मृति दोनोंमें, मीमांसक स्मृति मात्रमें स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं मानते। इसलिए उनके मतमें तो 'अनधिगत' और 'अपूर्व' पदका प्रयोजन स्पष्ट है। पर जैन परम्पराके अनुसार वह प्रयोजन नहीं है।

श्वेताम्बर परम्पराके सभी विद्वान् एक मतसे धारावाहिज्ञानको स्मृतिकी तरह प्रमाण माननेके ही पक्षमें हैं। अतएव किसीने अपने प्रमाणलक्षणमें 'अनधिगत' 'अपूर्व' आदि जैसे पदको स्थान ही नहीं दिया। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने स्पष्टरूपेण यह कह दिया कि चाहे ज्ञान गृहीतग्राहि हो तब भी वह अगृहीतग्राहिके समान ही प्रमाण है। उनके विचारानुसार गृहीतग्राहित्व प्रामाण्यका विघातक नहीं, अतएव उनके मतसे एक धारावाहिक ज्ञानव्यक्तिमें विषयभेदकी अपेक्षासे प्रामाण्य-अप्रामाण्य माननेकी जरूरत नहीं और न तो कभी किसीको अप्रमाण माननेकी जरूरत है।

श्वेताम्बर आचार्योंमें भी आ० हेमचन्द्रकी खास विशेषता है क्योंकि उन्होंने गृहीतग्राहि और ग्रहीष्यमाणग्राहि दोनोंका समत्व दिखाकर सभी धारावाहिज्ञानोंमें प्रामाण्यका जो समर्थन किया है वह खास मार्केका है—प्र० मी० पृ० ४।
ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

१. 'गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥'—तत्त्वार्थश्लो० १. १०. ७८। 'प्रमान्तराग्रहीतार्थप्रकाशित्वं प्रपञ्चतः। प्रामाण्यं च गृहीतार्थग्राहित्वेऽपि कथंचन ॥'—तत्त्वार्थश्लो० १.१३.६४। 'गृहीतग्रहणात् तत्र न स्मृतेश्चेत्प्रमाणता। धारावाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा ॥'–तत्त्वार्थश्लोक० १.१३.६५ 'नन्वेवमपि प्रमाणसंप्लववादिताव्याघातः प्रमाणप्रतिपन्नेऽर्थे प्रमाणान्तराप्रतिपत्तिरित्यचोद्यम्। अर्थपरिच्छित्तिविशेषसद्भावे तत्प्रवृत्तेरप्यभ्युपगमात्। प्रथमप्रमाणप्रतिपन्ने हि वस्तुन्याकारविशेषं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमपूर्वार्थमेव वृक्षो न्यग्रोध इत्यादिवत्।'—प्रमेयक० पृ० १९।

२. 'यद् गृहीतग्राहि ज्ञानं न तत्प्रमाणं, यथा स्मृतिः, गृहीतग्राही च प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः'—तत्त्वसं० प० का० १२९८।

स्मृति प्रामाण्य

स्मृतिको प्रमा—प्रमाण माननेके बारेमें मुख्य दो परम्पराएँ हैं—जैन और जैनेतर। जैन परम्परा उसे प्रमाण मानकर परोक्षके भेद रूपसे इसका वर्णन करती है। जैनेतर परम्परावाले वैदिक, बौद्ध, सभी दर्शन उसे प्रमाण नहीं मानते अतएव वे किसी प्रमाणरूपसे उसकी चर्चा नहीं करते। स्मृतिको प्रमाण न माननेवाले भी उसे अप्रमाण—मिथ्याज्ञान—नहीं कहते पर वे प्रमाण शब्दसे उसका केवल व्यवहार नहीं करते।

स्मृत्यात्मक ज्ञानमें प्रमाण शब्दका प्रयोग करने न करनेका जो मतभेद देखा जाता है इसका बीज धर्मशास्त्रके इतिहासमें है। वैदिक परम्परामें धर्मशास्त्र रूपसे वेद अर्थात् श्रुतिका ही मुख्य प्रामाण्य माना जाता है। मन्वादिस्मृतिरूप धर्मशास्त्र प्रमाण हैं सही पर उनका प्रामाण्य श्रुतिमूलक है। जो स्मृति श्रुतिमूलक है या श्रुतिसे अविरुद्ध है वही प्रमाण है अर्थात् स्मृतिका प्रामाण्य श्रुतिप्रामाण्य-तन्त्र है स्वतन्त्र नहीं[1]। धर्मशास्त्रके प्रामाण्य की इस व्यवस्थाका विचार बहुत पुराने समय से मीमांसादर्शन ने किया है। जान पड़ता है जब स्मृतिरूप धर्मशास्त्रको छोड़कर भी स्मृतिरूप ज्ञानमात्र के विषय में प्रामाण्यविषयक प्रश्न मीमांसकोंके सामने आया तब भी उन्होंने अपना धर्मशास्त्रविषयक उस सिद्धान्त का उपयोग करके एक साधारण ही नियम बाँध दिया कि स्मृतिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, उसका प्रामाण्य उसके कारणभूत अनुभवके प्रामाण्य पर निर्भर है अतएव वह मुख्य प्रमाणरूपसे गिनी जाने योग्य नहीं। सम्भवतः वैदिक धर्मजीवी मीमांसा दर्शन के इस धर्मशास्त्रीय या तत्त्वज्ञानीय निर्णयका प्रभाव सभी न्याय, वैशेषिक, सांख्य[2], योग आदि इतर वैदिक दर्शनों पर पड़ा है।

---

१. 'पारतन्त्र्यात् स्वतो नैषां प्रमाणत्वावधारणा। अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते॥ पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते। पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते॥'–तन्त्रवा० पृ० ६६।

२. 'एतदुक्तं भवति—सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तदूनविषया वा, न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्त्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति।'–तत्त्ववै० १.११।

अतएव वे अपने-अपने मन्तव्यकी पुष्टिमें चाहे युक्ति भिन्न-भिन्न बतलाएँ फिर भी वे सभी एक मतसे स्मृतिरूप ज्ञानमें प्रमाण शब्दका व्यवहार न करनेके ही पक्षमें हैं।

कुमारिल आदि मीमांसक कहते हैं कि स्मृतिज्ञान अनुभव द्वारा ज्ञात विषयको ही उपस्थित करके कृतकृत्य हो जानेके कारण किसी अपूर्व अर्थका प्रकाशक नहीं, वह केवल गृहीतग्राहि है और इसीसे वह प्रमाण नहीं[1]। प्रशस्तपादके अनुगामी श्रीधरने भी उसी मीमांसककी गृहीतग्राहित्ववाली युक्तिका अवलम्बन करके स्मृतिको प्रमाणबाह्य माना है (कन्दली पृ० २५७)। पर अक्षपादके अनुगामी जयन्तने दूसरी ही युक्ति बतलाई है। वे कहते हैं कि स्मृतिज्ञान विषयरूप अर्थके सिवाय ही उत्पन्न होनेके कारण अनर्थज होनेसे प्रमाण नहीं[2]। जयन्तकी इस युक्तिका निरास श्रीधरने[3] किया है। अक्षपादके ही अनुगामी वाचस्पति मिश्रने तीसरी युक्ति दी है। वे कहते हैं कि लोकव्यवहार स्मृतिको प्रमाण माननेके पक्षमें नहीं है अतएव उसे प्रमा कहना योग्य नहीं। वे प्रमाकी व्याख्या करते समय स्मृतिभिन्न ज्ञानको लेकर ही विचार करते हैं (तात्पर्य पृ० २०)। उदयनाचार्यने भी स्मृतिको प्रमाण न माननेवाले सभी पूर्ववर्ती तार्किकोंकी युक्तियोंका निरास करके अन्तमें वाचस्पति मिश्रके तात्पर्यका अनुसरण करते हुए यही कहा है कि अनपेक्ष होनेके कारण अनुभव ही प्रमाण कोटिमें गिना जाना चाहिए, स्मृति नहीं; क्योंकि वह अनुभवसापेक्ष है और ऐसा माननेका कारण लोकव्यवहार ही है[4]।

---

१. 'तत्र यत् पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थानमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता ॥'–श्लोकवा० अनु० श्लो० १६० । प्रकरणप० पृ० ४२ ।

२. 'न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्। अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ॥'–न्यायम० पृ० २३ ।

३. 'ये त्वनर्थजत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यमाहुः तेषामतीतानगतविषयस्यानुमानस्याप्रामाण्यं स्यादिति दूषणम् ॥'–कन्दली० पृ० २५७ ।

४. 'कथं तर्हि स्मृतेर्व्यवच्छेदः ? अननुभवत्वेनैव। यथार्थो ह्यनुभवः प्रमेति प्रामाणिकाः पश्यन्ति। 'तत्त्वज्ञानाद्' इति सूत्रणात्। अव्यभिचारि ज्ञानमिति च। ननु स्मृतिः प्रमैव किं न स्याद् यथार्थज्ञानत्वात् प्रत्यक्षाद्यनुभूतिवदिति चेत्। न। सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात्। न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम्, अव्यवस्थया लोकव्यवहारविप्लवप्रसङ्गात्। न च स्मृतिहेतौ प्रमाणाभियुक्तानां महर्षीणां प्रमाणव्यवहारोऽस्ति, पृथगनुपदेशात्।'–न्यायकु० ४.१

बौद्धदर्शन स्मृतिको प्रमाण नहीं मानता। उसकी युक्ति भी मीमांसक या वैशेषिक जैसी ही है अर्थात् स्मृति गृहीतग्राहिणी होनेसे ही प्रमाण नहीं (तत्त्वसं० प० का० १२६८)। फिर भी इस मन्तव्यके बारेमें जैसे न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों पर मीमांसा—धर्मशास्त्र—का प्रभाव कहा जा सकता है वैसे बौद्ध-दर्शन पर कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह वेदका ही प्रामाण्य नहीं मानता। विकल्पज्ञानमात्र[1]को प्रमाण न माननेके कारण बौद्ध दर्शनमें स्मृतिका प्रामाण्य प्रसक्त ही नहीं है।

जैन तार्किक स्मृतिको प्रमाण न माननेवाले भिन्न-भिन्न उपर्युक्त दर्शनोंकी गृहीतग्राहित्व, अनर्थजत्व, लोकव्यवहाराभाव आदि सभी[2] युक्तियोंका निरास करके केवल यही कहते हैं, कि जैसे संवादी होनेके कारण प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कहे जाते हैं वैसे ही स्मृतिको भी संवादी होने ही से प्रमाण कहना युक्त है। इस जैन मन्तव्यमें कोई मतभेद नहीं। आचार्य हेमचन्द्रने भी स्मृतिप्रामाण्यकी पूर्व जैन परम्पराका ही अनुसरण किया है—प्र० मी० पृ० २३।

स्मृतिज्ञानका अविसंवादित्व सभीको मान्य है। वस्तुस्थितिमें मतभेद न होने पर भी मतभेद केवल प्रमा शब्दसे स्मृतिज्ञानका व्यवहार करने न करनेमें है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

---

१. 'गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतं·····'–(सांवृतम्—विकल्पज्ञानम्–मनोरथ०) प्रमाणवा० २.५।

२. 'तथाहि—अमुष्याऽप्रामाण्यं कुतोऽयमाविष्कुर्वीत, किं गृहीतार्थग्राहित्वात्, परिच्छित्तिविशेषाभावात्, असत्यतीतेर्थे प्रवर्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसंवादकत्वात्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वात् वा।''—स्याद्वादर० ३.४।

प्रत्यभिज्ञा

प्रत्यभिज्ञाके विषयमें दो बातें ऐसी हैं जिनमें दार्शनिकोंका मतभेद रहा है—पहली प्रामाण्यकी और दूसरी स्वरूपकी। बौद्ध परम्परा प्रत्यभिज्ञाको प्रमाण नहीं मानती क्योंकि वह क्षणिकवादी होनेसे प्रत्यभिज्ञाका विषय माने जानेवाले स्थिरत्वको ही वास्तविक नहीं मानती। वह स्थिरत्वप्रतीतिको सादृश्यमूलक मानकर भ्रान्त ही समझती है[1]। पर बौद्धभिन्न जैन, वैदिक दोनों परम्पराके सभी दार्शनिक प्रत्यभिज्ञाको प्रमाण मानते हैं। वे प्रत्यभिज्ञाके प्रामाण्यके आधार पर ही बौद्धसम्मत क्षणभङ्गका निरास और नित्यत्व—स्थिरत्व—का समर्थन करते हैं। जैन परम्परा न्याय, वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनोंकी तरह एकान्त नित्यत्व किंवा कूटस्थ नित्यत्व नहीं मानती तथापि वह विभिन्न पूर्वापर अवस्थाओंमें ध्रुवत्वको वास्तविक रूपसे मानती है अतएव वह भी प्रत्यभिज्ञाके प्रामाण्यकी पक्षपातिनी है।

प्रत्यभिज्ञाके स्वरूपके संबन्धमें मुख्यतया तीन पक्ष हैं—बौद्ध, वैदिक और जैन। बौद्धपक्ष कहता है कि प्रत्यभिज्ञा नामक कोई एक ज्ञान नहीं है किन्तु स्मरण और प्रत्यक्ष ये समुचित दो ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा शब्दसे व्यवहृत होते हैं[2]। उसका 'तत्' अंश अतीत होने से परोक्षरूप होनेके कारण स्मरणग्राह्य है वह प्रत्यक्षग्राह्य हो ही नहीं सकता, जबकि 'इदम्' अंश वर्तमान होनेके कारण प्रत्यक्षग्राह्य है वह अप्रत्यक्षग्राह्य हो ही नहीं सकता। इस तरह विषयगत परोक्षा-परोक्षत्वके आधार पर दो ज्ञानके समुच्चयको प्रत्यभिज्ञा कहनेवाले बौद्धपक्षके विरुद्ध न्याय, मीमांसक आदि वैदिक दर्शन कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा यह प्रत्यक्ष रूप एक ज्ञान है प्रत्यक्ष-स्मरण दो नहीं। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें वर्तमान मात्र विषयकत्वका जो नियम है वह सामान्य नियम है अतएव सामग्रीविशेषदशामें वह नियम सापवाद बन जाता है। वाचस्पति मिश्र प्रत्यभिज्ञामें प्रत्यक्षत्वका उपपादन करते हुए कहते हैं कि संस्कार या स्मरणरूप सहकारीके बलसे वर्तमान-

---

१ प्रमाणवा० ३. ५०१–२। तत्त्वसं० का० ४४७।

२ '...तस्माद् द्वे एते ज्ञाने स इति स्मरणम् अयम् इत्यनुभवः'—न्यायम० पृ० ४४६।

मात्रग्राही भी इन्द्रिय, अतीतावस्थाविशिष्ट वर्तमानको ग्रहण कर सकनेके कारण प्रत्यभिज्ञाजनक हो सकती है[1]। जयन्त वाचस्पतिके उक्त कथनका अनुसरण करनेके अलावा भी एक नई युक्ति प्रदर्शित करते हैं। वे कहते हैं कि स्मरण-सहकृतइन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके बाद एक मानसज्ञान होता है जो प्रत्यभिज्ञा कहलाता[2] है। जयन्तका यह कथन पिछले नैयायिकोंके अलौकिकप्रत्यक्षवादकी कल्पनाका बीज मालूम होता है।

जैन तार्किक प्रत्यभिज्ञाको न तो बौद्धके समान ज्ञानसमुच्चय मानते हैं और न नैयायिकादिकी तरह बहिरिन्द्रियज प्रत्यक्ष। वे प्रत्यभिज्ञाको परोक्ष ज्ञान मानते हैं। और कहते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और स्मरणके बाद एक संकलनात्मक विजातीय मानस ज्ञान पैदा होता है वही प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। अकलङ्कोपज्ञ (लघी० ३. १. से) प्रत्यभिज्ञाकी यह व्यवस्था जो स्वरूपमें जयन्तकी मानसज्ञान की कल्पनाके समान है वह सभी जैन तार्किकोंके द्वारा निर्विवादरूपसे मान ली गई है। आचार्य हेमचन्द्र भी उसी व्यवस्थाके अनुसार प्रत्यभिज्ञाका स्वरूप मानकर परपक्षनिराकरण और स्वपक्षसमर्थन करते हैं—प्र० मी० पृ० ३४.।

मीमांसक (श्लोकवा० सू० ४. श्लो० २३२-२३७.), नैयायिक (न्यायसू० १. १. ६.) आदि उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं जो सादृश्य-वैसदृश्य विषयक है। उनके मतानुसार ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि विषयक अनेक सप्रतियोगिक ज्ञान ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष ही हैं। जैन तार्किकोंने प्रथमसे ही उन सबका समावेश, प्रत्यभिज्ञानको मतिज्ञानके प्रकारविशेषरूपसे स्वतन्त्र प्रमाण मानकर, उसीमें किया है, जो ऐकमत्यसे सर्वमान्य हो गया है

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

१ तात्पर्य० पृ० १३९।

२ 'एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय इति मानसी प्रत्यभिज्ञा।'—न्यायम० पृ० ४६१।

तर्क प्रमाण

भगवान् महावीर, बुद्ध और उपनिषद्के सैकड़ों वर्ष पूर्व भी ऊह् (ऋग० १०. १३१. १०) और तर्क (रामायण ३. २५. १२.) ये दो धातु तथा तज्जन्य रूप संस्कृत-प्राकृत भाषामें प्रचलित रहे[1]। आगम, पिटक और दर्शनसूत्रोंमें उनका प्रयोग विविध प्रसंगोंमें थोड़े-बहुत भेदके साथ विविध अर्थोंमें देखा जाता है[2]। सब अर्थोंमें सामान्य अंश एक ही है और वह यह कि विचारात्मक ज्ञानव्यापार। जैमिनीय सूत्र और उसके शाबरभाष्य आदि[3] व्याख्याग्रन्थोंमें उसी भावका द्योतक ऊह शब्द देखा जाता है, जिसको जयन्त ने मंजरीमें अनुमानात्मक या शब्दात्मक प्रमाण समझकर खण्डन किया है (न्यायम० पृ० ५८८)। न्यायसूत्र (१. १. ४०) में तर्कका लक्षण है जिसमें ऊह शब्द भी प्रयुक्त है और उसका अर्थ यह है कि तर्कात्मक विचार स्वयं प्रमाण नहीं किन्तु प्रमाणानुकूल मनोव्यापार मात्र है। पिछले नैयायिकोंने तर्कका अर्थविशेष स्थिर एवं स्पष्ट किया है। और निर्णय किया है कि तर्क कोई प्रमाणात्मक ज्ञान नहीं है किन्तु व्याप्तिज्ञानमें बाधक होनेवाली अप्रयोजकत्वशङ्काको निरस्त करनेवाला व्याप्यारोपपूर्वक व्यापकारोपस्वरूप आहार्य ज्ञान मात्र है जो उस व्यभिचारशङ्काको हटाकर व्याप्तिनिर्णयमें सहकारी या उपयोगी हो सकता है (चिन्ता० अनु० पृ० २१०; न्याय० वृ० १. १. ४०)। प्राचीन समयसे ही न्याय दर्शनमें तर्कका स्थान प्रमाणकोटिमें नहीं है[4]। न्यायदर्शनके विकासके साथ ही तर्कके अर्थ एवं उपयोगका इतना विशदीकरण हुआ है कि

---

१ 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः।'–पा० सू० ७. ४. २३। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'–कठ० २. ६।

२ 'तक्का जत्थ न विज्जइ'–आचा० सू० १७०। 'विहिंसा वितक्क'–मज्झि० सब्बासवसुत्त २. ६। 'तर्काप्रतिष्ठानात्'–ब्रह्मसू० २. १. ११। न्यायसू० १. १. ४०।

३ 'त्रिविधश्च ऊहः। मन्त्रसामसंस्कारविषयः।'—शाबरभा० ६. १. १। जैमिनीयन्या० अध्याय ६. पाद १. अधि० १।

४ न्यायसू० १. २. १।

इस विषय पर बड़े सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ग्रन्थ लिखे गए हैं जिनका आरम्भ गंगेश उपाध्यायसे होता है।

बौद्धतार्किक (हेतुवि० टी० पृ० १७) भी तर्कात्मक विकल्पज्ञानको व्याप्तिज्ञानोपयोगी मानते हुए भी प्रमाण नहीं मानते। इस तरह तर्कको प्रमाण-रूप माननेकी मीमांसक परम्परा और अप्रमाणरूप होकर भी प्रमाणानुग्राहक माननेकी नैयायिक और बौद्ध परम्परा है।

जैन परम्परामें प्रमाणरूपसे माने जानेवाले मतिज्ञानका द्वितीय प्रकार ईहा जो वस्तुतः गुणदोषविचारणात्मक ज्ञानव्यापार ही है उसके पर्यायरूपसे ऊह और तर्क दोनों शब्दोंका प्रयोग उमास्वातिने किया है (तत्त्वार्थभा० १. १५)। जब जैन परम्परामें तार्किक पद्धतिसे प्रमाणके भेद और लक्षण आदिकी व्यवस्था होने लगी तब सम्भवतः सर्वप्रथम अकलङ्कने ही तर्कका स्वरूप, विषय, उपयोग आदि स्थिर किया (लघी० स्ववि० ३. २.) जिसका अनुसरण पिछले सभी जैन तार्किकोंने किया है। जैन परम्परा मीमांसकोंकी तरह तर्क या ऊहको प्रमाणात्मक ज्ञान ही मानती आई है। जैन तार्किक कहते हैं कि व्याप्तिज्ञान ही तर्क या ऊह शब्दका अर्थ है। चिरायात आर्यपरम्पराके अति परिचित ऊह या तर्क शब्दको लेकर ही अकलङ्कने परोक्षप्रमाणके एकभेद रूपसे तर्कप्रमाण स्थिर किया। और वाचस्पति मिश्र आदि[1] नैयायिकोंने व्याप्तिज्ञानको कहीं मानसप्रत्यक्षरूप, कहीं लौकिकप्रत्यक्षरूप, कहीं अनुमिति आदि रूप माना है उसका निरास करके जैन तार्किक व्याप्तिज्ञानको एकरूप ही मानते आए हैं। वह रूप है उनकी परिभाषाके अनुसार तर्कपदप्रतिपाद्य। आचार्य हेमचन्द्र उसी पूर्वपरम्पराके समर्थक हैं—प्र० मी० पृ० ३६।

ई० १९३९] [प्रमाणमीमांसा

१ तात्पर्य० पृ० १५९-१६७। न्यायम० पृ० १२३।

अनुमान

अनुमान शब्दके अनुमिति और अनुमितिकरण ऐसे दो अर्थ हैं। जब अनुमान शब्द भाववाची हो तब अनुमिति और जब करणवाची हो तब अनुमितिकरण अर्थ निकलता है।

अनुमान शब्दमें अनु और मान ऐसे दो अंश हैं। अनुका अर्थ है पश्चात् और मानका अर्थ है ज्ञान अर्थात् जो किसी अन्य ज्ञानके बाद ही होता है वह अनुमान। परन्तु वह अन्य ज्ञान खास ज्ञान ही विवक्षित है, जो अनुमितिका कारण होता है। उस खास ज्ञान रूपसे व्याप्तिज्ञान—जिसे लिङ्गपरामर्श भी कहते हैं—इष्ट है। प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानमें मुख्य एक अन्तर यह भी है कि प्रत्यक्ष ज्ञान नियमसे ज्ञानकारणक नहीं होता, जब कि अनुमान नियमसे ज्ञानकारणक ही होता है। यही भाव अनुमान शब्दमें मौजूद 'अनु' अंशके द्वारा सूचित किया गया है। यद्यपि प्रत्यक्षभिन्न दूसरे भी ऐसे ज्ञान हैं जो अनुमान कोटिमें न गिने जाने पर भी नियमसे ज्ञानजन्य ही हैं, जैसे उपमान शाब्द, अर्थापत्ति आदि; तथापि दर असलमें जैसा कि वैशेषिक दर्शन तथा बौद्ध दर्शन में माना गया है—प्रमाण के प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो ही प्रकार हैं। बाकी के सब प्रमाण किसी न किसी तरह अनुमान प्रमाणमें समाए जा सकते हैं जैसा कि उक्त द्विप्रमाणवादी दर्शनोंने समाया भी है।

अनुमान किसी भी विषयका हो, वह किसी भी प्रकारके हेतुसे जन्य क्यों न हो पर इतना तो निश्चित है कि अनुमानके मूलमें कहीं न कहीं प्रत्यक्ष ज्ञानका अस्तित्व अवश्य होता है। मूलमें कहीं भी प्रत्यक्ष न हो ऐसा अनुमान हो ही नहीं सकता। जब कि प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें अनुमानकी अपेक्षा कदापि नहीं रखता तब अनुमान अपनी उत्पत्तिमें प्रत्यक्षकी अपेक्षा अवश्य रखता है। यही भाव न्यायसूत्रगत अनुमानके लक्षणमें[1] 'तत्पूर्वकम्' (१.१.५)

---

१. जैसे 'तत्पूर्वक' शब्द प्रत्यक्ष और अनुमानका पौर्वापर्य प्रदर्शित करता है वैसे ही जैन परम्परामें मति और श्रुतसंज्ञक दो ज्ञानोंका पौर्वापर्य बतलानेवाला 'मइपुव्वं जेण सुयं' (नन्दी सू० २४) यह शब्द है। विशेषा० गा० ८६, १०५, १०६।

शब्दसे ऋषिने व्यक्त किया है, जिसका अनुसरण सांख्यकारिका (का० ५) आदिके अनुमान लक्षणमें भी देखा जाता है।

अनुमानके स्वरूप और प्रकार निरूपण आदिका जो दार्शनिक विकास हमारे सामने है उसे तीन युगोंमें विभाजित करके हम ठीक-ठीक समझ सकते हैं १ वैदिक युग, २ बौद्ध युग और ३ नव्यन्याय युग।

१—विचार करनेसे जान पड़ता है कि अनुमान प्रमाणके लक्षण और प्रकार आदिका शास्त्रीय निरूपण वैदिक परम्परामें ही शुरू हुआ और उसीकी विविध शाखाओंमें विकसित होने लगा। इसका प्रारंभ कब हुआ, कहाँ हुआ, किसने किया, इसके प्राथमिक विकासने कितना समय लिया, वह किन किन प्रदेशोंमें सिद्ध हुआ इत्यादि प्रश्न शायद सदा ही निरुत्तर रहेंगे। फिर भी इतना तो निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि इसके प्राथमिक विकासका ग्रन्थन भी वैदिक परंपराके प्राचीन अन्य ग्रन्थमें देखा जाता है।

यह विकास वैदिकयुगीन इसलिए भी है कि इसके प्रारम्भ करनेमें जैन और बौद्ध परम्पराका हिस्सा तो है ही नहीं बल्कि इन दोनों परम्पराओंने वैदिक परम्परासे ही उक्त शास्त्रीय निरूपणको शुरूमें अक्षरशः अपनाया है। यह वैदिकयुगीन अनुमान निरूपण हमें दो वैदिक परम्पराओंमें थोड़े बहुत हेर-फेरके साथ देखनेको मिलता है।

(अ) वैशेषिक और मीमांसक परम्परा—इस परम्पराको स्पष्टतया व्यक्त करनेवाले इस समय हमारे सामने प्रशस्त और शाबर दो भाष्य हैं। दोनोंमें अनुमानके दो प्रकारोंका ही उल्लेख है[1] जो मूलमें किसी एक विचार परम्पराका सूचक है। मेरा निजी भी मानना है कि मूलमें वैशेषिक और मीमांसक दोनों परम्पराएँ कभी अभिन्न थीं[2], जो आगे जाकर क्रमशः जुदी हुईं और भिन्न-भिन्न मार्गसे विकास करती गईं।

(ब) दूसरी वैदिक परम्परामें न्याय, सांख्य और चरक इन तीन शास्त्रों-

---

१. 'तत्तु द्विविधम्—प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च'—शाबरभा० १. १. ५। एतत्तु द्विविधम्—दृष्टं सामान्यतो दृष्टं च'—प्रशस्त० पृ० २०५।

२. मीमांसा दर्शन 'अथातो धर्मजिज्ञासा'में धर्मसे ही शुरू होता है वैसे ही वैशेषिक दर्शन भी 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' सूत्रमें धर्मनिरूपणसे शुरू होता है। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' और 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' दोनोंका भाव समान है।

का समावेश है। इनमें अनुमानके तीन प्रकारोंका उल्लेख व वर्णन है[1]। वैशेषिक तथा मीमांसक दर्शनमें वर्णित दो प्रकारके बोधक शब्द करीब करीब समान हैं, जब कि न्याय आदि शास्त्रोंकी दूसरी परम्परामें पाये जानेवाले तीन प्रकारोंके बोधक शब्द एक ही हैं। अलबत्ता सब शास्त्रोंमें उदाहरण एकसे नहीं हैं।

जैन परम्परामें सबसे पहिले अनुमानके तीन प्रकार अनुयोगद्वारसूत्रमें—जो ई० स० पहली शताब्दीका है—ही पाये जाते हैं,[2] जिनके बोधक शब्द अक्षरशः न्यायदर्शनके अनुसार ही हैं। फिर भी अनुयोगद्वार वर्णित तीन प्रकारोंके उदाहरणोंमें इतनी विशेषता अवश्य है कि उनमें भेद-प्रतिभेद रूपसे वैशेषिक-मीमांसक दर्शनवाली द्विविध अनुमानकी परम्पराका भी समावेश हो ही गया है।

बौद्ध परम्परामें अनुमानके न्यायसूत्रवाले तीन प्रकारका ही वर्णन है जो एक मात्र उपायहृदय (पृ० १३) में अभी तक देखा जाता है। जैसा समझा जाता है, उपायहृदय अगर नागार्जुनकृत नहीं हो तो भी वह दिङ्नागका पूर्ववर्ती अवश्य होना चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि ईसाकी चौथी पाँचवीं शताब्दी तकके जैन-बौद्ध साहित्यमें वैदिक युगीन उक्त दो परम्पराओंके अनुमान वर्णनका ही संग्रह किया गया है। तब तकमें उक्त दोनों परम्पराएँ मुख्यतया प्रमाणके विषयमें खासकर अनुमान प्रणाल विषयमें वैदिक परम्पराका ही अनुसरण करती हुई देखी जाती हैं।

२–ई० स० की पाँचवीं शताब्दीसे इस विषयमें बौद्धयुग शुरू होता है। बौद्धयुग इसलिये कि अब तकमें जो अनुमान प्रणाली वैदिक परम्पराके अनुसार ही मान्य होती आई थी उसका पूर्ण बलसे प्रतिवाद करके दिङ्नागने अनुमान का लक्षण स्वतन्त्र भावसे रचा[3] और उसके प्रकार भी अपनी बौद्ध दृष्टिसे बतलाए। दिङ्नागके इस नये अनुमान प्रस्थानको सभी उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वानोंने

---

१ 'पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च' न्यायसू० १.१.५। माठर० का० ५। चरक० सूत्रस्थान श्लो० २८, २९।

२ 'तिविहे पण्णत्ते तंजहा—पुव्ववं, सेसवं, दिट्ठसाहम्मवं।'—अनुयो० पृ० २१२A।

३ प्रमाणसमु० २. १. Buddhist Logic. Vol. I. p. 236.

अपनाया[1] और उन्होंने दिङ्नागकी तरह ही न्याय आदि शास्त्र सम्मत वैदिक परम्पराके अनुमान लक्षण, प्रकार आदिका खण्डन किया[2] जो कि कभी प्रसिद्ध पूर्ववर्ती बौद्ध तार्किकोंने खुद ही स्वीकृत किया था। अबसे वैदिक और बौद्ध तार्किकोंके बीच खण्डन-मण्डनकी खास आमने-सामने छावनियाँ बन गईं। वात्स्यायनभाष्यके टीकानुटीकाकार उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र आदिने वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध तार्किकोंके अनुमानलक्षणप्रणयन आदिका जोर-शोरसे खण्डन किया जिसका[3] उत्तर क्रमिक बौद्ध तार्किक देते गए हैं।

बौद्धयुगका प्रभाव जैन परम्परा पर भी पड़ा। बौद्धतार्किकोंके द्वारा वैदिक परम्परासम्मत अनुमान लक्षण, भेद आदिका खण्डन होते और स्वतन्त्रभावसे लक्षणप्रणयन होते देखकर सिद्धसेन[4] जैसे जैन तार्किकोंने भी स्वतन्त्रभावसे अपनी दृष्टिके अनुसार अनुमानका लक्षणप्रणयन किया। भट्टारक अकलङ्कने उस सिद्धसेनीय लक्षणप्रणयन मात्रमें ही सन्तोष न माना। पर साथ ही बौद्ध-तार्किकोंकी तरह वैदिक परम्परा सम्मत अनुमानके भेद प्रभेदोंके खण्डनका सूत्रपात भी स्पष्ट किया[5] जिसे विद्यानन्द आदि उत्तरवर्ती दिगम्बरीय तार्किकोंने विस्तृत व पल्लवित किया[6]।

नए बौद्ध युग के दो परिणाम स्पष्ट देखे जाते हैं। पहिला तो यह कि बौद्ध और जैन परम्परामें स्वतन्त्र भावसे अनुमान लक्षण आदिका प्रणयन और अपने ही पूर्वाचार्योंके द्वारा कभी स्वीकृत वैदिक परम्परा सम्मत अनुमानलक्षण विभाग आदिका खण्डन। दूसरा परिणाम यह है कि सभी वैदिक विद्वानोंके द्वारा बौद्ध सम्मत अनुमानप्रणालीका खण्डन व अपने पूर्वाचार्य सम्मत अनुमान प्रणालीका स्थापन। पर इस दूसरे परिणाममें चाहे गौण रूपसे ही सही एक बात यह भी उल्लेख योग्य दाखिल है कि भासर्वज्ञ जैसे वैदिक परम्पराके किसी

---

१ 'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्'—न्यायप्र० पृ० ७। न्यायबि० २. ३। तत्त्वसं० का० १३६२।

२ प्रमाणसमु० परि० २। तत्त्वसं० का० १४४२। तात्पर्य० पृ० १८०।

३ न्यायवा० पृ० ४६। तात्पर्य० पृ० १८०।

४ 'साध्याविनाभुनो लिङ्गात्साध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानम्'—न्याया० ५।

५ न्यायवि० २. १७१, १७२।

६ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५। प्रमेयक० पृ० १०५।

तार्किकके लक्षण प्रणयनमें बौद्ध लक्षणका भी असर आ गया[1] जो जैन तार्किकोंके लक्षण प्रणयनमें तो बौद्धयुगके प्रारम्भसे ही आज तक एक-सा चला आया है[2]।

३—तीसरा नव्यन्याययुग उपाध्याय गंगेशसे शुरू होता है। उन्होंने अपने वैदिक पूर्वाचार्योंके अनुमानलक्षणको कायम रखकर भी उसमें सूक्ष्म परिष्कार[3] किया जिसका आदर उत्तरवर्ती सभी नव्य नैयायिकोंने ही नहीं बल्कि सभी वैदिक दर्शनके परिष्कारकोंने किया। इस नवीन परिष्कारके समयसे भारतवर्षमें बौद्ध तार्किक करीब-करीब नामशेष हो गए। इसलिए बौद्ध ग्रन्थोंमें इसके स्वीकार या खण्डनके पाये जानेका तो सम्भव ही नहीं पर जैन परम्पराके बारेमें ऐसा नहीं है। जैन परम्परा तो पूर्वकी तरह नव्यन्याययुगसे आज तक भारतवर्षमें चली आ रही है और यह भी नहीं कि नव्यन्याययुगके मर्मज्ञ कोई जैन तार्किक हुए भी नहीं। उपाध्याय यशोविजयजी जैसे तत्त्वचिन्तामणि और आलोक आदि नव्यन्यायके अभ्यासी सूक्ष्मप्रज्ञ तार्किक जैन परम्परामें हुए हैं फिर भी उनके तर्कभाषा जैसे ग्रन्थमें नव्यन्याययुगीन परिष्कृत अनुमान लक्षणका स्वीकार या खण्डन देखा नहीं जाता। उपाध्यायजीने भी अपने तर्कभाषा जैसे प्रमाण विषयक मुख्य ग्रन्थमें अनुमानका लक्षण वही रखा है जो सभी पूर्ववर्ती श्वेताम्बर दिगम्बर तार्किकोंके द्वारा मान्य किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्रने अनुमानका जो लक्षण किया है वह सिद्धसेन और अकलङ्क आदि प्राक्तन जैन तार्किकोंके द्वारा स्थापित और समर्थित ही रहा। इसमें उन्होंने कोई सुधार या न्यूनाधिकता नहीं की। फिर भी हेमचन्द्रीय अनुमान निरूपणमें एक ध्यान देने योग्य विशेषता है। वह यह कि पूर्ववर्त्ती सभी जैन तार्किकोंने—जिनमें अभयदेव, वादी देवसूरि आदि श्वेताम्बर तार्किकों का भी समावेश होता है—वैदिक परम्परा सम्मत त्रिविध अनुमान प्रणालीका साटोप खण्डन[4] किया था, उसे आ० हेमचन्द्र ने छोड़ दिया। यह हम नहीं

---

१ 'सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम्'—न्यायसार पृ० ५।

२ न्याया० ५। न्यायवि० २. १। प्रमाणप० पृ० ७०। परी० ३. १४।

३ 'अतीतानागतधूमादिज्ञानेऽप्यनुमितिदर्शनान्न लिङ्गं तद्धेतुः व्यापारपूर्ववर्त्तितयोरभावात्......किन्तु व्याप्तिज्ञानं करणं परामर्शो व्यापारः'—तत्त्वचि० परामर्श पृ० ५३६-५०।

४ सन्मतिटी० पृ० ५५६। स्याद्वादर० पृ० ५२७।

कह सकते कि हेमचन्द्रने संक्षेपरुचिकी दृष्टिसे उस खण्डनको जो पहिलेसे बराबर जैन ग्रन्थोंमें चला आ रहा था छोड़ा, कि पूर्वापर असंगतिकी दृष्टिसे। जो कुछ हो, पर आचार्य हेमचन्द्रके द्वारा वैदिक परम्परा सम्मत अनुमान त्रैविध्यके खण्डनका परित्याग होनेसे, जो जैन ग्रन्थोंमें खासकर श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें एक प्रकारकी असंगति आ गई थी वह दूर हो गई। इसका श्रेय आचार्य हेमचन्द्र को ही है।

असंगति यह थी कि आर्यरक्षित जैसे पूर्वधर समझे जानेवाले आगमधर जैन आचार्यने न्याय सम्मत अनुमानत्रैविध्यका बड़े विस्तारसे स्वीकार और समर्थन किया था जिसका उन्हींके उत्तराधिकारी अभयदेवादि श्वेताम्बर तार्किकोंने सावेश खण्डन किया था। दिगम्बर परम्परामें तो यह असंगति इसलिए नहीं मानी जा सकती कि वह आर्यरक्षितके अनुयोगद्वारको मानती ही नहीं। अतएव अगर दिगम्बरीय तार्किक अकलङ्क आदिने न्यायदर्शन सम्मत अनुमानत्रैविध्यका खण्डन किया तो वह अपने पूर्वाचार्योंके मार्गसे किसी भी प्रकार विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। पर श्वेताम्बरीय परम्पराकी बात दूसरी है। अभयदेव आदि श्वेताम्बरीय तार्किक जिन्होंने न्यायदर्शन सम्मत अनुमानत्रैविध्यका खण्डन किया, वे तो अनुमानत्रैविध्यके पक्षपाती आर्यरक्षितके अनुगामी थे। अतएव उनका वह खण्डन अपने पूर्वाचार्यके उस समर्थनसे स्पष्टतया मेल नहीं खाता।

आचार्य हेमचन्द्रने शायद सोचा कि श्वेताम्बरीय तार्किक अकलङ्क आदि दिगम्बर तार्किकोंका अनुसरण करते हुए एक स्वपरम्पराकी असंगतिमें पड़ गए हैं। इसी विचारसे उन्होंने शायद अपनी व्याख्यामें त्रिविध अनुमानके खण्डन-का परित्याग किया। सम्भव है इसी हेमचन्द्रोपज्ञ असंगति परिहारका आदर उपाध्याय यशोविजयजीने भी किया और अपने तर्कभाषा ग्रन्थमें वैदिक परम्परा सम्मत अनुमानत्रैविध्यका निरास नहीं किया, जब कि हेतु के न्यायसम्मत पाञ्चरूप्यका निरास अवश्य किया।

ई० १६३६] [प्रमाण मीमांसा

व्याप्ति विचार

प्र०मी० १.२.१०.में अविनाभावका लक्षण है जो वस्तुतः व्याप्ति ही है फिर भी तर्क लक्षणके बाद तर्कविषयरूपसे निर्दिष्ट व्याप्तिका लक्षण इस सूत्रके द्वारा आ० हेमचन्द्रने क्यों किया ऐसा प्रश्न यहाँ होता है। इसका खुलासा यह है कि हेतुबिन्दुविवरणमें अर्चटने प्रयोजन विशेष बतलानेके वास्ते व्याप्यधर्मरूपसे और व्यापकधर्मरूपसे भिन्न-भिन्न व्याप्तिस्वरूपका निदर्शन बड़े आकर्षक ढङ्गसे किया है जिसे देखकर आ० हेमचन्द्रकी चकोर दृष्टि उस अंशको अपनानेका लोभ संवृत कर न सकी। आ० हेमचन्द्रने अर्चटोक्त उस चर्चाको अक्षरशः लेकर प्रस्तुत सूत्र और उसकी वृत्तिमें व्यवस्थित कर दिया है।

अर्चटके सामने प्रश्न था कि व्याप्ति एक प्रकारका संबन्ध है, जो संयोग की तरह द्विष्ठ ही है फिर जैसे एक ही संयोगके दो संबन्धी 'क' और 'ख' अनियतरूपसे अनुयोगी-प्रतियोगी हो सकते हैं वैसे एक व्याप्तिसंबन्धके दो संबन्धी हेतु और साध्य अनियतरूपसे हेतुसाध्य क्यों न हों अर्थात् उनमेंसे अमुक ही गमक और अमुक ही गम्य ऐसा नियम क्यों? इस प्रश्नके आचार्योपनामक किसी तार्किक की ओरसे उठाए जानेका अर्चटने उल्लेख किया है। इसका जवाब अर्चटने, व्याप्तिको संयोगकी तरह एकरूप संबन्ध नहीं पर व्यापकधर्म और व्याप्यधर्मरूपसे विभिन्न स्वरूप बतलाकर, दिया है और कहा है कि अपनी विशिष्ट व्याप्तिके कारण व्याप्य ही गमक होता है तथा अपनी विशिष्ट व्याप्तिके कारण व्यापक ही गम्य होता है। गम्यगमकभाव सर्वत्र अनियत नहीं है जैसे आधाराधेयभाव।

उस पुराने समयमें हेतु-साध्यमें अनियतरूपसे गम्यगमकभावकी आपत्तिको टालनेके वास्ते अर्चट जैसे तार्किकोंने द्विविध व्याप्तिकी कल्पना की पर न्याय-शास्त्रके विकासके साथ ही इस आपत्तिका निराकरण हम दूसरे और विशेषयोग्य प्रकारसे देखते हैं। नव्यन्यायके सूत्रधार गंगेशने चिन्तामणिमें पूर्वपक्षीय और सिद्धान्तरूपसे अनेकविध व्याप्तियोंका निरूपण किया है (चिन्ता० गादा० पृ० १४१–३६०)। पूर्वपक्षीय व्याप्तियोंमें अव्यभिचरितत्वका परिष्कार[1] है जो वस्तुतः

---

१. 'न तावदव्यभिचरितत्वं तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वम्, साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वं......साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा।'—चिन्ता० गादा० पृ० १४१।

अविनाभाव या अर्चटोक्त व्याप्यधर्मरूप है। सिद्धान्तव्याप्तिमें जो व्यापकत्वका परिष्कारांश[1] है वही अर्चटोक्त व्यापकधर्मरूप व्याप्ति है। अर्थात् अर्चटने जिस व्यापकधर्मरूप व्याप्तिको गमकत्वानियामक कहा है उसे गंगेश व्याप्ति ही नहीं कहते, वे उसे व्यापकत्व मात्र कहते हैं और तथाविध व्यापकके सामानाधिकरण्यको ही व्याप्ति कहते हैं[2]। गंगेशका यह निरूपण विशेष सूक्ष्म है। गंगेश जैसे तार्किकोंके अव्यभिचरितत्व, व्यापकत्व आदि विषयक निरूपण आ० हेमचन्द्र की दृष्टिमें आए होते तो उनका भी उपयोग प्रस्तुत प्रकरणमें अवश्य देखा जाता।

व्याप्ति, अविनाभाव, नियतसाहचर्य ये पर्यायशब्द तर्कशास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। अविनाभावका रूप दिखाकर जो व्याप्तिका स्वरूप कहा जाता है वह तो माणिक्यनन्दी (परी० ३. १७, १८) आदि सभी जैनतार्किकोंके ग्रन्थोंमें देखा जाता है पर अर्चटोक्त नए विचारका संग्रह आ० हेमचन्द्रके सिवाय किसी अन्य जैन तार्किकके ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आया।

परार्थानुमान के अवयव

परार्थ अनुमान स्थलमें प्रयोगपरिपाटीके सम्बन्धमें मतभेद है। सांख्य तार्किक प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त इन तीन अवयवोंका ही प्रयोग मानते हैं (माठर० ५)। मीमांसक, वादिदेवके कथनानुसार, तीन अवयवोंका ही प्रयोग मानते हैं (स्याद्वादर० पृ० ५५६)। पर आ० हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्यके कथनानुसार वे चार अवयवोंका प्रयोग मानते हैं (प्रमेयर० ३. ३७)। शालिकनाथ, जो मीमांसक प्रभाकरके अनुगामी हैं उन्होंने प्रकरणपञ्चिकामें (पृ० ८३-८५), तथा पार्थसारथि मिश्रने श्लोकवार्तिककी व्याख्यामे (अनु० श्लो० ५४) मीमांसकसम्मत तीन अवयवोंका ही निदर्शन किया है। वादिदेवका कथन शालिकनाथ तथा पार्थसारथिके अनुसार ही है पर आ० हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्यका नहीं। अगर आ० हेमचन्द्र और अनन्तवीर्य दोनों मीमांसक-

---

१. 'प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति''—चिन्ता० गादा० पृ० ३६१।

२. 'तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।'—चिन्ता० गादा० पृ० ३६१।

सम्मत चतुरवयव कथनमें भ्रान्त नहीं हैं तो समझना चाहिए कि उनके सामने चतुरवयववादकी कोई मीमांसक परम्परा रही हो जिसका उन्होंने निर्देश किया है। नैयायिक पाँच अवयवोंका प्रयोग मानते हैं (१. १. ३२)। बौद्ध तार्किक, अधिक से अधिक हेतु-दृष्टान्त दो का ही प्रयोग मानते हैं (प्रमाणवा० १. २८; स्याद्वादर० पृ० ५५६) और कम से कम केवल हेतुका ही प्रयोग मानते हैं (प्रमाणवा० १. २८)। इस नाना प्रकारके मतभेदके बीच जैन तार्किकोंने अपना मत, जैसा अन्यत्र भी देखा जाता है, वैसे ही अनेकान्त दृष्टिके अनुसार निर्युक्ति-कालसे[१] ही स्थिर किया है। दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी जैनाचार्य अवयवप्रयोगमें किसी एक संख्याको न मानकर श्रोताकी न्यूनाधिक योग्यताके अनुसार न्यूनाधिक संख्याको मानते हैं।

माणिक्यनन्दीने कमसे कम प्रतिज्ञा-हेतु इन दो अवयवोंका प्रयोग स्वीकार करके विशिष्ट श्रोता की अपेक्षासे निगमन पर्यन्त पाँच अवययोंका भी प्रयोग स्वीकार किया है (परी० ३. ३७-४६)। आ० हेमचन्द्रके प्रस्तुत सूत्रोंके और उनकी स्वोपज्ञ वृत्तिके शब्दोंसे भी माणिक्यनन्दीकृत सूत्र और उनकी प्रभाचन्द्र आदि कृत वृत्तिका ही उक्त भाव फलित होता है अर्थात् आ० हेमचन्द्र भी कम से कम प्रतिज्ञाहेतु रूप अवयवद्वयको ही स्वीकार करके अन्तमें पाँच अवयवको भी स्वीकार करते हैं; परन्तु वादिदेवका मन्तव्य इससे जुदा है। वादिदेव सूरिने अपनी स्वोपज्ञ व्याख्यामें श्रोताकी विचित्रता बतलाते हुए यहाँ तक मान लिया है कि विशिष्ट अधिकारीके वास्ते केवल हेतुका ही प्रयोग पर्याप्त है (स्याद्वादर० पृ० ५४८), जैसा कि बौद्धोंने भी माना है। अधिकारी विशेषके वास्ते प्रतिज्ञा और हेतु दो, अन्यविध अधिकारीके वास्ते प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण तीन, इसी तरह अन्यके वास्ते सोपनय चार, या सनिगमन पाँच अवयवोंका प्रयोग स्वीकार किया है (स्याद्वादर० पृ० ५६४)।

इस जगह दिगम्बर परम्पराकी अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा की एक खास विशेषता ध्यान में रखनी चाहिए, जो ऐतिहासिक महत्त्व की है। वह यह है कि किसी भी दिगम्बर आचार्य ने उस अति प्राचीन भद्रबाहुकर्तृक मानी जाने

---

१ 'जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णए कत्थई उदाहरणं। आसज्ज उ सोया हेऊ वि कहिंञ्चि भण्णेज्जा ॥ कत्थइ पञ्चावयवं दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं न य पुण सव्वं भण्णई हंदी सविआरमक्खायं।' दश० नि० गा० ४९, ५०।

वाली नियुक्ति में निर्दिष्ट व वर्णित[1] दश अवयवों का, जो वात्स्यायन[2] कथित दश अवयवों से भिन्न हैं, उल्लेख तक नहीं किया है, जब कि सभी श्वेताम्बर तार्किकों (स्याद्वादर० पृ० ५५६) ने उत्कृष्टवाद कथा में अधिकारी विशेषके वास्ते पाँच अवयवों से आगे बढ़कर नियुक्तिगत दस अवयवों के प्रयोग का भी नियुक्ति के ही अनुसार वर्णन किया है। जान पड़ता है इस तफावत का कारण दिगम्बर परम्परा के द्वारा आगम आदि प्राचीन साहित्यका त्यक्त होना–यही है।

एक बात माणिक्यनन्दीने अपने सूत्रमें कही है वह मार्के की जान पड़ती है। सो यह है कि दो और पाँच अवयवोंका प्रयोगभेद प्रदेशकी अपेक्षा से समझना चाहिए अर्थात् वादप्रदेशमें तो दो अवयवोंका प्रयोग नियत है पर शास्त्रप्रदेशमें अधिकारीके अनुसार दो या पाँच अवयवोंका प्रयोग वैकल्पिक है। वादिदेवकी एक खास बात भी स्मरणमें रखने योग्य है। वह यह कि जैसा बौद्ध विशिष्ट विद्वानोंके वास्ते हेतु मात्रका प्रयोग मानते हैं वैसे ही वादिदेव भी विद्वान् अधिकारीके वास्ते एक हेतुमात्रका प्रयोग भी मान लेते हैं। ऐसा स्पष्ट स्वीकार आ० हेमचन्द्र ने नहीं किया है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

१ 'ते उ पइन्नविभत्ती हेउविभत्ती विवक्खपडिसेहो दिट्ठतो आसङ्का तप्पडिसेहो निगमणं च।'—दश० नि० गा० १३७।

२ 'दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते—जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति'—न्यायभा० १. १. ३२।

हेतु के रूप

हेतुके रूपके विषयमें दार्शनिकोंमें चार परम्पराएँ देखी जाती हैं—१—वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध; २—नैयायिक; ३—अज्ञातनामक; ४—जैन।

प्रथम परम्पराके अनुसार हेतुके पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व ये तीन रूप हैं। इस परम्पराके अनुगामी वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध तीन दर्शन हैं, जिनमें वैशेषिक और सांख्य ही प्राचीन जान पड़ते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान रूपसे प्रमाणद्वय विभागके विषयमें जैसे बौद्ध तार्किकोंके ऊपर कणाद दर्शनका प्रभाव स्पष्ट है वैसे ही हेतुके त्रैरूप्यके विषयमें भी वैशेषिक दर्शनका ही अनुसरण बौद्ध तार्किकोंने किया जान पड़ता है[1]। प्रशस्तपाद खुद भी लिङ्गके स्वरूपके वर्णनमें एक कारिकाका अवतरण देते हैं जिसमें त्रिरूप हेतुका काश्यप-कथित रूपसे निर्देश[2] है। माठर अपनी वृत्तिमें उन्हीं तीन रूपोंका निर्देश करते हैं (माठर० ५)। अभिधर्मकोश, प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश (पृ० १), न्यायबिन्दु (२. ५ से), हेतुबिन्दु (पृ० ४) और तत्त्वसंग्रह (का० १३६२) आदि सभी बौद्धग्रन्थोंमें उन्हीं तीन रूपोंको हेतु लक्षण मानकर त्रिरूप हेतुका ही समर्थन किया है। तीन रूपोंके स्वरूपवर्णन एवं समर्थन तथा परपक्षनिराकरणमें जितना विस्तार एवं विशदीकरण बौद्ध ग्रन्थोंमें देखा जाता है उतना किसी केवल वैशेषिक या सांख्य ग्रन्थमें नहीं।

नैयायिक उपर्युक्त तीन रूपोंके अलावा अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व ये दो रूप मानकर हेतुके पाञ्चरूप्यका समर्थन करते हैं। यह समर्थन सबसे पहले किसने शुरू किया यह निश्चय रूपसे अभी कहा नहीं जा सकता। पर सम्भवतः इसका प्रथम समर्थक उद्योतकर (न्यायवा० १. १. ५) होना चाहिए। हेतुबिन्दुके टीकाकार अर्चटने (पृ० २०५) तथा प्रशस्तपादानुगामी श्रीधरने नैयायिकोक्त पाञ्चरूप्यका त्रैरूप्यमें समावेश किया है। यद्यपि वाचस्पति

---

१ प्रो० चारबिट्स्कीके कथनानुसार इस त्रैरूप्यके विषयमें बौद्धोंका असर वैशेषिकोंके ऊपर है—Buddhist Logic vol. I P. 244.

२ 'यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते। तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥ विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्॥'—प्रशस्त० पृ० २००। कन्दली पृ० २०३।

(तात्पर्य० १. १. ५; १. १. ३६), जयन्त (न्यायम० पृ० ११०) आदि पिछले सभी नैयायिकोंने उक्त पाञ्चरूप्यका समर्थन एवं वर्णन किया है तथापि विचार-स्वतन्त्र न्यायपरम्परामें वह पाञ्चरूप्य मृतकमुष्टिकी तरह स्थिर नहीं रहा। गदाधर आदि नैयायिकोंने व्याप्ति और पक्षधर्मतारूपसे हेतुके गमकतोपयोगी तीन रूपका ही अवयवादिमें संसूचन किया है। इस तरह पाञ्चरूप्यका प्राथमिक नैयायिकाग्रह शिथिल होकर त्रैरूप्य तक आ गया। उक्त पाञ्चरूप्यके अलावा छठा अज्ञातत्व रूप गिनाकर षड्रूप हेतु माननेवाली भी कोई परम्परा थी जिसका निर्देश और खण्डन अर्चट[1] ने 'नैयायिक-मीमांसकादयः' ऐसा सामान्य कथन करके किया है। न्यायशास्त्रमें ज्ञायमान लिङ्गकी करणताका जो प्राचीन मत (ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि-मुक्ता० का० ६७) खण्डनीय रूपसे निर्दिष्ट है उसका मूल शायद उसी षड्रूप हेतुवादकी परम्परामें हो।

जैन परम्परा हेतुके एकरूपको ही मानती है और वह रूप है अविनाभाव-नियम। उसका कहना यह नहीं कि हेतुमें जो तीन या पाँच रूपादि माने जाते हैं वे असत् हैं। उसका कहना मात्र इतना ही है कि जब तीन या पाँच रूप न होने पर भी किन्हीं हेतुओंसे निर्विवाद सदनुमान होता है तब अविनाभाव-नियमके सिवाय सकलहेतुसाधारण दूसरा कोई लक्षण सरलतासे बनाया ही नहीं जा सकता। अतएव तीन या पाँच रूप अविनाभावनियमके यथासम्भव प्रपञ्चमात्र हैं। यद्यपि सिद्धसेनने न्यायावतारमें हेतुको साध्याविनाभावी कहा है फिर भी अविनाभावनियम ही हेतुका एकमात्र रूप है ऐसा समर्थन करनेवाले सम्भवतः सर्वप्रथम पात्रस्वामी हैं। तत्त्वसंग्रहमें शान्तरक्षितने जैनपरम्परासम्मत अविनाभावनियमरूप एक लक्षणका पात्रस्वामीके मन्तव्यरूपसे ही निर्देश करके खण्डन किया है[2]। जान पड़ता है पूर्ववर्ती अन्य जैनतार्किकोंने हेतुके स्वरूप

---

१ 'षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते। कानि पुनः षड्रूपाणि हेतोस्तैरिष्यन्ते इत्याह...त्रीणि चैतानि पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकाख्याणि, तथा अबाधितविषयत्वं चतुर्थं रूपम्,...तथा विवक्षितैकसंख्यत्वं रूपान्तरम्—एका संख्या यस्य हेतुद्रव्यस्य तदेकसंख्यं...यद्येकसंख्यावच्छिन्नायां प्रतिहेतुरहितायां हेतुव्यक्तौ हेतुत्वं तदा गमकत्वं न तु प्रतिहेतुसहितायामपि द्वित्वसंख्यायुक्तायाम्...तथा ज्ञातत्वं च ज्ञानविषयत्वं च, न ह्यज्ञातो हेतुः स्वसत्तामात्रेण गमको युक्त इति।'—हेतुबि० टी० पृ० २०५।

२. 'अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते—नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥'—तत्त्वसं० का० १३६४-६९'

रूपसे अविनाभावनियमका कथन सामान्यतः किया होगा। पर उसका सयुक्तिक समर्थन और बौद्धसम्मत त्रैरूप्यका खण्डन सर्वप्रथम पात्रस्वामीने ही किया होगा।

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥ न्यायवि० पृ० १७७

यह खण्डनकारिका अकलङ्क, विद्यानन्द (प्रमाणप० पृ० ७२) आदिने उद्धृत की है वह पात्रस्वामिकर्तृक होनी चाहिए। पात्रस्वामीके द्वारा जो परसम्मत त्रैरूप्यका खण्डन जैनपरम्परामें शुरू हुआ उसीका पिछले अकलङ्क (प्रमाणसं० पृ० ६६ A) आदि दिगम्बर श्वेताम्बर तार्किकोंने अनुसरण किया है। त्रैरूप्यखण्डनके बाद जैनपरम्परामें पाञ्चरूप्यका भी खण्डन शुरू हुआ। अतएव विद्यानन्द (प्रमाणप० पृ० ७२), प्रभाचन्द्र (प्रमेयक० पृ० १०३), वादी देवसूरि (स्याद्वादर० पृ० ५२१) आदिके दिगम्बरीय-श्वेताम्बरीय पिछले तर्कग्रन्थोंमें त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्यका साथ ही सविस्तर खण्डन देखा जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र उसी परम्पराको लेकर त्रैरूप्य तथा पाञ्चरूप्य दोनोंका निरास करते हैं। यद्यपि विषयदृष्टिसे आ० हेमचन्द्रका खण्डन विद्यानन्द आदि पूर्ववर्ती आचार्योंके खण्डनके समान ही है तथापि इनका शाब्दिक साम्य विशेषतः अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमालाके साथ है। अन्य सभी पूर्ववर्ती जैनतार्किकोंसे आ० हेमचन्द्र की एक विशेषता जो अनेक स्थलोंमें देखी जाती है वह यहाँ भी है। वह विशेषता—संक्षेपमें भी किसी न किसी नए विचारका जैनपरम्परामें संग्रहीकरणमात्र है। हम देखते हैं कि आ० हेमचन्द्रने बौद्धसम्मत त्रैरूप्यका पूर्वपक्ष रखते समय जो विस्तृत अवतरण न्यायबिन्दुकी धर्मोत्तरीय वृत्तिमेंसे अक्षरशः लिया है वह अन्य किसी पूर्ववर्ती जैन तर्कग्रन्थमें नहीं है। यद्यपि वह विचार बौद्धतार्किककृत है तथापि जैन तर्कशास्त्रके अभ्यासियोंके वास्ते चाहे पूर्वपक्ष रूपसे भी वह विचार खास ज्ञातव्य है।

ऊपर जिस 'अन्यथानुपपन्नत्व' कारिकाका उल्लेख किया है वह निःसन्देह तर्कसिद्ध होनेके कारण सर्वत्र जैनपरम्परामें प्रतिष्ठित हो गई है। यहाँ तक कि उसी कारिकाका अनुकरण करके विद्यानन्दने थोड़े हेर-फेरके साथ पाञ्चरूप्य-खण्डन विषयक भी कारिका बना डाली है—(प्रमाणप० पृ० ७२)। इस कारिकाकी प्रतिष्ठा तर्कबल पर और तर्कक्षेत्रमें ही रहनी चाहिए थी पर इसके प्रभावके कायल अतार्किक भक्तोंने इसकी प्रतिष्ठा मनगढ़न्त ढङ्गसे बढ़ाई। और यहाँ तक वह बढ़ी कि खुद तर्कग्रन्थलेखक आचार्य भी उस कल्पित ढङ्गके

शिकार बने। किसी ने कहा कि उस कारिकाके कर्त्ता और दाता मूलमें सीमन्धरस्वामी नामक तीर्थङ्कर हैं। किसीने कहा कि सीमन्धरस्वामीसे पद्मावती नामक देवता इस कारिकाको लाई और पात्रकेसरी स्वामीको उसने वह कारिका दी। इस तरह किसी भी तार्किक मनुष्यके मुखमें से निकलनेकी ऐकान्तिक योग्यता रखनेवाली इस कारिकाको सीमन्धरस्वामीके मुखमें से अन्धभक्तिके कारण जन्म लेना पड़ा—सन्मतिटी० पृ० ५६६ (७)। अस्तु। जो कुछ हो आ० हेमचन्द्र भी उस कारिकाका उपयोग करते हैं। इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि इस कारिकाके सम्भवतः उद्भावक पात्रस्वामी दिगम्बर परम्पराके ही हैं; क्योंकि भक्तिपूर्ण उन मनगढ़न्त कल्पनाओंकी सृष्टि केवल दिगम्बरीय परम्परा तक ही सीमित है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

हेतु के प्रकार

जैन तर्कपरम्परामें हेतुके प्रकारोंका वर्णन तो अकलङ्कके ग्रन्थों (प्रमाणसं० पृ० ६७-६८) में देखा जाता है पर उनका विधि या निषेधसाधक रूपसे स्पष्ट वर्गीकरण हम माणिक्यनन्दी. विद्यानन्द आदिके ग्रन्थोंमें ही पाते हैं। माणिक्यनन्दी, विद्यानन्द, देवसूरि और आ० हेमचन्द्र इन चारका किया हुआ ही वह वर्गीकरण ध्यान देने योग्य है। हेतुप्रकारोंके जैनग्रन्थगत वर्गीकरण मुख्यतया वैशेषिक सूत्र और धर्मकीर्त्तिके न्यायबिन्दु पर अवलम्बित हैं। वैशेषिकसूत्र (६.२.१) में कार्य, कारण, संयोगी, समवायी और विरोधी रूपसे पञ्चविध लिंगका स्पष्ट निर्देश है। न्यायबिन्दु (२.१२) में स्वभाव, कार्य और अनुपलम्भ रूपसे त्रिविध लिंगका वर्णन है तथा अनुपलब्धिके ग्यारह प्रकार[1] मात्र निषेधसाधक रूपसे वर्णित हैं, विधिसाधक रूपसे एक भी अनुपलब्धि नहीं बतलाई गई है। अकलङ्क और माणिक्यनन्दीने न्यायबिन्दुकी अनुपलब्धि तो स्वीकृत की पर उसमें बहुत कुछ सुधार और वृद्धि की। धर्मकीर्त्ति अनुलब्धि शब्दसे सभी अनुपलब्धियोंको या उपलब्धियोंको लेकर एकमात्र प्रतिषेधकी सिद्धि बतलाते हैं तब माणिक्यनन्दी अनुपलब्धिसे विधि और निषेध उभयकी सिद्धिका निरूपण करते हैं इतना ही नहीं बल्कि उपलब्धिको भी वे विधि-निषेध उभयसाधक बतलाते हैं[2]। विद्यानन्दका वर्गीकरण वैशेषिकसूत्रके आधार पर है। वैशेषिकसूत्रमे अभूत भूतका, भूत अभूतका और भूत-भूतका इस तरह

---

१ 'स्वभावानुपलब्धिर्यथा नाऽत्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति। कार्यानुपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात्। व्यापकानुलब्धिर्यथा नात्र शिंशपा वृक्षाभावात्। स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरिति। विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति। विरुद्धव्याप्तोलब्धिर्यथा न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशो हेत्वन्तरापेक्षणात्। कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति अग्नेरिति। व्यापकविरुद्धोलब्धिर्यथा नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरिति। कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात्। कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा नास्य रोमहर्षादिविशेषाः सन्निहित-दहनविशेषत्वादिति। कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा न रोमहर्षादिविशेषयुक्त-पुरुषवानयं प्रदेशो धूमादिति॥'—न्यायबि० २. ३२-४२।

२ परी० ३.५७-५६, ७८, ८६।

त्रिविधलिंग निर्दिष्ट है[1]। पर विद्यानन्दने उसमें अभूत अभूतका—यह एक प्रकार बढ़ाकर चार प्रकारोंके अन्तर्गत सभी विधिनिषेधसाधक उपलब्धियों तथा सभी विधिनिषेधसाधक अनुपलब्धियोंका समावेश किया है (प्रमाणप० पृ० ७२-७४)। इस विस्तृत समावेशकरणमें किन्हीं पूर्वाचार्योंकी संग्रहकारिकाओंको[2] उद्धृत करके उन्होंने सब प्रकारोंकी सब संख्याओंको निर्दिष्ट किया है मानो विद्यानन्दके वर्गीकरणमें वैशेषिक सूत्रके अलावा अकलङ्क या माणिक्यनन्दी जैसे किसी जैनतार्किकका या किसी बौद्ध तार्किकका आधार है।

देवसूरिने अपने वर्गीकरणमें परीक्षामुखके वर्गीकरणको ही आधार माना हुआ जान पड़ता है फिर भी देवसूरिने इतना सुधार अवश्य किया है कि जब परीक्षामुख विधिसाधक छः उपलब्धियों (३.५९) और तीन अनुपलब्धियों (३.८६) को वर्णित करते हैं तब प्रमाणनयतत्त्वालोक विधिसाधक छः उपलब्धियों (३.६४) का और पाँच अनुपलब्धियों (३.९९) का वर्णन करता है। निषेधसाधकरूपसे छः उपलब्धियों (३. ७१) का और सात अनुपलब्धियों (३.७८) का वर्णन परीक्षामुखमें है तब प्रमाणनयतत्त्वालोकमें निषेधसाधक अनुपलब्धि (३. ९०) और उपलब्धि (३. ७९) दोनों सात-सात प्रकार की हैं।

आचार्य हेमचन्द्र वैशेषिकसूत्र और न्यायबिन्दु दोनोंके आधार पर विद्यानन्दकी तरह वर्गीकरण करते हैं फिर भी विद्यानन्दसे विभिन्नता यह है कि आ० हेमचन्द्रके वर्गीकरणमें कोई भी अनुपलब्धि विधिसाधक रूपसे वर्णित नहीं है किन्तु न्यायबिन्दुकी तरह मात्र निषेधसाधकरूपसे वर्णित है। वर्गीकरणकी अनेकविधता तथा भेदोंकी संख्यामें न्यूनाधिकता होने पर भी तत्त्वतः सभी वर्गीकरणोंका सार एक ही है। वाचस्पति मिश्रने केवल बौद्धसम्मत वर्गीकरणका ही नहीं बल्कि वैशेषिकसूत्रगत वर्गीकरणका भी निरास किया है (तात्पर्य० पृ० १५८-१६४)।

---

१ 'विरोध्यभूतं भूतस्य। भूतमभूतस्य। भूतो भूतस्य।'—वै०सू० ३. ११-१३।

२ 'अत्र संग्रहश्लोकाः—स्यात्कार्यं कारणव्याप्यं प्राक्सहोत्तरचारि च। लिङ्गं तल्लक्षणव्याप्तेर्भूतं भूतस्य साधकं ॥ षोढा विरुद्धकार्यादि साक्षादेवोपवर्णितम्। लिङ्गं भूतमभूतस्य लिंगलक्षणयोगतः। पारम्पर्यात्तु कार्यं स्यात् कारणं व्याप्यमेव च। सहचारि च निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्विधम् ॥ कारणाद् द्विष्ठकार्यादिभेदेनोदाहृतं पुरा। यथा षोडशभेदं स्यात् द्वाविंशतिविधं ततः ॥ लिङ्गं समुदितं ज्ञेयमन्यथानुपपत्तिमत्। तथा भूतमभूतस्याप्यूह्यमन्यदपीदृशम् ॥ अभूतं भूतमुन्नीतं भूतस्यानेकधा बुधैः। तथाऽभूतमभूतस्य यथायोग्यमुदाहरेत् ॥ बहुधाप्येवमाख्यातं संक्षेपेण चतुर्विधम्। अतिसंक्षेपतो द्वेधोपलम्भानुपलम्भभृत् ॥'
—प्रमाणप० पृ० ७४–७५।

कारण और कार्यलिङ्ग

कार्यलिङ्गक अनुमानको तो सभी मानते हैं पर कारणलिंगक अनुमान माननेमें मतभेद है। बौद्धतार्किक खासकर धर्मकीर्त्ति कहीं भी कारणलिंगक अनुमानका स्वीकार नहीं करते पर वैशेषिक, नैयायिक दोनों कारणलिंगक अनुमान को प्रथमसे ही मानते आए हैं। अपने पूर्ववर्ती सभी जैनतार्किकोंने जैसे कारणलिंगक अनुमानका बड़े जोरोंसे उपपादन किया है वैसे ही आ० हेमचन्द्रने भी उसका उपपादन किया है। आ० हेमचन्द्र न्यायवादी शब्दसे धर्मकीर्त्तिको ही सूचित करते हैं। यद्यपि आ० हेमचन्द्र धर्मकीर्त्तिके मन्तव्यका निरसन करते हैं तथापि उनका धर्मकीर्त्तिके प्रति विशेष आदर है जो 'सूक्ष्मदर्शिनापि' इस शब्द से व्यक्त होता है—प्र० मी० पृ० ४२।

कार्यलिंगक अनुमानके माननेमें किसीका मतभेद नहीं फिर भी उसके किसी-किसी उदाहरणमें मतभेद खासा है। 'जीवत् शरीरं सात्मकम्, प्राणादिमत्त्वात्' इस अनुमानको बौद्ध सदनुमान नहीं मानते, वे उसे मिथ्यानुमान मानकर हेत्वाभासमें प्राणादिहेतुको गिनाते हैं (न्यायबि० ३. ९९)। बौद्ध लोग इतर दार्शनिकोंकी तरह शरीरमें वर्त्तमान नित्य आत्मतत्त्वको नहीं मानते इसीसे वे अन्य दार्शनिकसम्मत सात्मकत्वका प्राणादि द्वारा अनुमान नहीं मानते, जबकि वैशेषिक, नैयायिक, जैन आदि सभी पृथगात्मवादी दर्शन प्राणादि द्वारा शरीरमें आत्मसिद्धि मानकर उसे सदनुमान ही मानते हैं। अतएव आत्मवादी दार्शनिकोंके लिए यह सिद्धान्त आवश्यक है कि सपक्षवृत्तित्व रूप अन्वयको सद्धेतु का अनिवार्य रूप न मानना। केवल व्यतिरेकवाले अर्थात् अन्वयशून्य लिंगको भी वे अनुमितिप्रयोजक मानकर प्राणादिहेतुको सद्धेतु मानते हैं[1]। इसका समर्थन नैयायिकोंकी तरह जैनतार्किकोंने बड़े विस्तारसे किया है।

आ० हेमचन्द्र भी उसीका अनुसरण करते हैं, और कहते हैं कि अन्वयके अभावमें भी हेत्वाभास नहीं होता इसलिए अन्वयको हेतुका रूप मानना न चाहिए। बौद्धसम्मत खासकर धर्मकीर्त्तिनिर्दिष्ट अन्वयसन्देहका अनैकान्तिक-

---

१ 'केवलव्यतिरेकिणं त्वीदृशमात्मादिप्रसाधने परममस्त्रमुपेक्षितुं न शक्नुम इत्ययथाभाष्यमपि व्याख्यानं श्रेयः।'—न्यायम० पृ० ५७८। तात्पर्य० पृ० २८३। कन्दली पृ० २०४।

प्रयोजकत्वरूपसे खण्डन करते हुए आ० हेमचन्द्र कहते हैं कि व्यतिरेकाभावमात्र को ही विरुद्ध और अनैकान्तिक दोनोंका प्रयोजक मानना चाहिए। धर्मकीर्त्तिने न्यायबिन्दुमें व्यतिरेकाभावके साथ अन्वयसन्देहको भी अनैकान्तिकताका प्रयोजक कहा[1] है उसीका निषेध आ० हेमचन्द्र करते हैं। न्यायवादी धर्मकीर्त्तिके किसी उपलब्ध ग्रन्थमें, जैसा आ० हेमचन्द्र लिखते हैं, देखा नहीं जाता कि व्यतिरेकाभाव ही दोनों विरुद्ध और अनैकान्तिक या दोनों प्रकारके अनैकान्तिक का प्रयोजक हो। तब 'न्यायवादिनापि व्यतिरेकाभावादेव हेत्वाभासावुक्तौ' यह आ० हेमचन्द्रका कथन असंगत हो जाता है। धर्मकीर्त्तिके किसी ग्रन्थमें इस आ० हेमचन्द्रोक्त भावका उल्लेख न मिले तो आ० हेमचन्द्रके इस कथनका अर्थ थोड़ी खींचातानी करके यही करना चाहिए कि न्यायवादीने भी दो हेत्वाभास कहे हैं पर उनका प्रयोजकरूप जेसा हम मानते हैं वैसा व्यतिरेकाभाव ही माना जाय क्योंकि उस अंशमें किसीका विवाद नहीं अतएव निर्विवादरूपसे स्वीकृत व्यतिरेकाभावको ही उक्त हेत्वाभासद्वयका प्रयोजक मानना, अन्वयसन्देहको नहीं।

यहाँ एक बात खास लिख देनी चाहिए। वह यह कि बौद्ध तार्किक हेतुके त्रैरूप्यका समर्थन करते हुए अन्वयको आवश्यक इसलिए बतलाते हैं कि वे विपक्षासत्त्वरूप व्यतिरेकका सम्भव 'सपक्ष एव सत्त्व' रूप अन्वयके बिना नहीं मानते। वे कहते हैं कि अन्वय होनेसे ही व्यतिरेक फलित होता है चाहे वह किसी वस्तुमें फलित हो या अवस्तुमें। अगर अन्वय न हो तो व्यतिरेक भी सम्भव नहीं। अन्वय और व्यतिरेक दोनों रूप परस्पराश्रित होने पर भी बौद्ध तार्किकोंके मतसे भिन्न ही हैं। अतएव वे व्यतिरेक की तरह अन्वयके ऊपर भी समान ही भार देते हैं। जैनपरम्परा ऐसा नहीं मानती। उसके अनुसार विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक ही हेतुका मुख्य स्वरूप है। जैनपरम्पराके अनुसार उसी एक ही रूपके अन्वय या व्यतिरेक दो जुदे जुदे नाममात्र हैं। इसी सिद्धान्तका अनुसरण करके आ० हेमचन्द्रने अन्तमें कह दिया है कि 'सपक्ष एव सत्त्व' को अगर अन्वय कहते हो तब तो वह हमारा अभिप्रेत अन्यथानुपपत्तिरूप व्यतिरेक ही हुआ। सारांश यह है कि बौद्धतार्किक जिस तत्त्वको अन्वय और व्यतिरेक परस्पराश्रित रूपोंमें विभाजित करके दोनों ही रूपोंका हेतुलक्षणमें समावेश करते हैं, जैनतार्किक उसी तत्त्वको एकमात्र अन्यथानुपपत्ति या व्यतिरेकरूपसे स्वीकार करके उसकी दूसरी भावात्मक बाजूको लक्ष्यमें नहीं लेते।

---

१ 'अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः।'—न्यायबि० ३. ९८।

पक्षविचार

पक्ष के संबन्ध में यहाँ चार बातों पर विचार है—१-पक्ष का लक्षण—स्वरूप, २—लक्षणान्तर्गत विशेषण की व्यावृत्ति, ३—पक्ष के आकारनिर्देश, ४—उसके प्रकार।

१-बहुत पहिले से ही पक्ष का स्वरूप विचारपथ में आकर निश्चित सा हो गया था फिर भी प्रशस्तपाद ने प्रतिज्ञालक्षण करते समय उसका चित्रण स्पष्ट कर दिया है[1]। न्यायप्रवेश में[2] और न्यायबिन्दु में[3] तो यहाँ तक लक्षण की भाषा निश्चित हो गई है कि इसके बाद के सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने उसी बौद्ध भाषा का उन्हीं शब्दों से या पर्यायान्तर से अनुवाद करके ही अपने-अपने ग्रन्थों में पक्ष का स्वरूप बतलाया है जिसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं है।

२—लक्षण के इष्ट, असिद्ध, और अबाधित इन तीनों विशेषणों की व्यावृत्ति प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश में नहीं देखी जाती किन्तु अबाधित इस एक विशेषण की व्यावृत्ति उनमें स्पष्ट है[4]। न्यायबिन्दु में उक्त तीनों की व्यावृत्ति[5] है।

---

१ 'प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुं उद्देशमात्रं प्रतिज्ञा .. अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति'—प्रशस्त० पृ० २३४।

२ 'तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः। प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः। तद्यथा नित्यः शब्दोऽनित्यो वेति।'—न्यायप्र० पृ० १।

३ 'स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति।'—न्यायबि० ३. ४०।

४ 'यथाऽनुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्षविरोधी, घनमम्बरमिति अनुमानविरोधी, ब्राह्मणेन सुरा पेयेत्यागमविरोधी, वैशेषिकस्य सत्कार्यमिति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी, न शब्दोऽर्थप्रत्यायक इति स्ववचनविरोधी।'-प्रशस्त० पृ० २३४। 'साधयितुमिष्टोऽपि प्रत्यक्षादिविरुद्धः पक्षाभासः। तद्यथा—प्रत्यक्षविरुद्धः, अनुमानविरुद्धः, आगमविरुद्धः, लोकविरुद्धः, स्ववचनविरुद्धः, अप्रसिद्धविशेषणः, अप्रसिद्धविशेष्यः, अप्रसिद्धोभयः, प्रसिद्धसम्बन्धश्चेति।'—न्यायप्र० पृ० २।

५ 'स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः। स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनेष्टो न साधनत्वेनापि। यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः, शब्देऽसिद्धत्वात्साध्यम्, न पुनस्तदिह

जैनग्रन्थों में भी तीनों विशेषणों की व्यावृत्ति स्पष्टतया बतलाई गई है। अन्तर इतना ही है कि माणिक्यनन्दी (परी० ३. २०.) और देवसूरि ने (प्रमाणन० ३. १४-१७) तो सभी व्यावृत्तियाँ धर्मकीर्ति की तरह मूल सूत्र में ही दरसाई हैं जब कि आ० हेमचन्द्र ने दो विशेषणों की व्यावृत्तियों को वृत्ति में बतलाकर सिर्फ अबाध्य विशेषण की व्यावृत्ति को सूत्रबद्ध किया है। प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्ष-विरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, आगमविरुद्ध, स्वशास्त्रविरुद्ध और स्ववचनविरुद्ध रूप से पाँच बाधितपक्ष बतलाए हैं। न्यायप्रवेश में भी बाधितपक्ष तो पाँच ही हैं पर स्वशास्त्रविरुद्ध के स्थान में लोकविरुद्ध का समावेश है। न्यायबिन्दु में आगम और लोकविरुद्ध दोनों नहीं हैं पर प्रतीति-विरुद्ध का समावेश करके कुल प्रत्यक्ष, अनुमान, स्ववचन और प्रतीति-विरुद्ध रूप से चार बाधित बतलाए हैं। जान पड़ता है, बौद्ध परम्परागत आगमप्रामाण्य के अस्वीकार का विचार करके धर्मकीर्त्ति ने आगमविरुद्ध को हटा दिया है। पर साथ ही प्रतीतिविरुद्ध को बढ़ाया। माणिक्यनन्दी ने (परी० ६.१५) इस विषय में न्यायबिन्दु का नहीं पर न्यायप्रवेश का अनुसरण करके उसी के पाँच बाधित पक्ष मान लिये जिनको देवसूरि ने भी मान लिया। अलबत्ता देवसूरि ने (प्रमाणन० ६. ४०) माणिक्यनन्दी का और न्यायप्रवेश का अनुसरण करते हुए भी आदिपद रख दिया और अपनी व्याख्या रत्नाकर में स्मरणविरुद्ध, तर्कविरुद्ध रूप से अन्य बाधित पक्षों को भी दिखाया। आ० हेमचन्द्र ने न्यायबिन्दु का प्रतीतिविरुद्ध ले लिया, बाकी के पाँच न्यायप्रवेश और परीक्षामुख के लेकर कुल छः बाधित पक्षों को सूत्रबद्ध किया है। माठर (सांख्यका० ५) जो संभवतः न्यायप्रवेश से पुराने हैं उन्होंने पक्षाभासों की

साध्यत्वेनेष्टं साधनत्वेनाप्यभिधानात्। स्वयमिति वादिना। यस्तदा साधनमाह। एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः साधनमाह, तच्छास्त्रकारेण तस्मिन्धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपि, यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति। इष्ट इति यात्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनुक्तोऽपि वचनेन साध्यः। तदधिकरणत्वाद्विवादस्य। यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवद् इति, अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावप्यात्मार्थता साध्या, अनेन नोक्तमात्रमेव साध्यमित्युक्तं भवति। अनिराकृत इति एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम्।'— न्यायबि २. ४१-५०।

नव संख्या मात्र का निर्देश किया है, उदाहरण नहीं दिये। न्यायप्रवेश में सोदाहरण नव पक्षाभास निर्दिष्ट हैं।

३—आ० हेमचन्द्र ने साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी को और साध्यधर्म मात्र को पक्ष कहकर उसके दो आकार बतलाए हैं, जो उनके पूर्ववर्ती माणिक्यनन्दी (३. २५–२६, ३२) और देवसूरि ने (३. १६–१८) भी बतलाए हैं। धर्मकीर्त्ति ने सूत्र में तो एक ही आकार निर्दिष्ट किया है पर उसकी व्याख्या में धर्मोत्तर ने (२.८) केवल धर्मी, केवल धर्म और धर्मधर्मिसमुदाय रूप से पक्ष के तीन आकार बतलाए हैं। साथ ही उस प्रत्येक आकार का उपयोग किस-किस समय होता है यह भी बतलाया है जो कि अपूर्व है। वात्स्यायन ने (न्यायभा० १.१.३६) धर्मविशिष्ट धर्मी और धर्मिविशिष्ट धर्म रूप से पक्ष के दो आकारों का निर्देश किया है। पर आकार के उपयोगों का वर्णन धर्मोत्तर की उस व्याख्या के अलावा अन्यत्र पूर्व ग्रन्थों में नहीं देखा जाता। माणिक्यनन्दी ने इस धर्मोत्तरीय वस्तु को सूत्र में ही अपना लिया जिसका देवसूरि ने भी सूत्र द्वारा ही अनुकरण किया। आ० हेमचन्द्र ने उसका अनुकरण तो किया पर उसे सूत्रबद्ध न कर वृत्ति में ही कह दिया—प्र० मी० १.२. १३–१७।

४ – इतर सभी जैन तार्किकों की तरह आ० हेमचन्द्र ने भी प्रमाणसिद्ध, विकल्पसिद्ध और उभयसिद्ध रूप से पक्ष के तीन प्रकार बतलाए हैं। प्रमाणसिद्ध पक्ष मानने के बारे में तो किसी का मतभेद है ही नहीं, पर विकल्पसिद्ध और उभयसिद्ध पक्ष मानने में मतभेद है। विकल्पसिद्ध और प्रमाण-विकल्पसिद्ध पक्ष के विरुद्ध, जहाँ तक मालूम है, सबसे पहिले प्रश्न उठानेवाले धर्मकीर्त्ति ही हैं। यह अभी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि धर्मकीर्त्ति का वह आक्षेप मीमांसकों के ऊपर रहा या जैनों के ऊपर या दोनों के ऊपर। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि धर्मकीर्त्ति के उस आक्षेप का सविस्तर जवाब जैन तर्कग्रन्थों में ही देखा जाता है। जवाब की जैन प्रक्रिया में सभी ने धर्मकीर्त्ति के उस आक्षेपीय पद्य (प्रमाणवा० १.१९२) को उद्धृत भी किया है।

मणिकार गङ्गेश ने[१] पक्षता का जो अन्तिम और सूक्ष्मतम निरूपण

१ 'उच्यते–सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकप्रमाणाभावो यत्रास्ति स पक्षः, तेन सिषाधयिषाविरहसहकृतं साधकप्रमाणं यत्रास्ति स न पक्षः, यत्र साधकप्रमाणे सत्यसति वा सिषाधयिषा यत्र योभयाभावस्तत्र विशिष्टाभावात् पक्षत्वम्।'–चिन्ता० अनु० गादा० पृ० ४३१–३२।

किया है उसका आ० हेमचन्द्र की कृति में आने का सम्भव ही न था फिर भी प्राचीन और अर्वाचीन सभी पक्ष लक्षणों के तुलनात्मक विचार के बाद इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि गङ्गेश का वह परिष्कृत विचार सभी पूर्ववर्ती नैयायिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में पुरानी परिभाषा और पुराने ढङ्ग से पाया जाता है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

———

दृष्टान्त विचार

दृष्टान्त के विषय में इस जगह तीन बातें प्रस्तुत हैं–१–अनुमानाङ्गत्व का प्रश्न, २–लक्षण, ३–उपयोग।

१—धर्मकीर्ति ने हेतु का त्रैरूप्यकथन जो हेतुसमर्थन के नाम से प्रसिद्ध है उसमें ही दृष्टान्त का समावेश कर दिया है अतएव उनके मतानुसार दृष्टान्त हेतुसमर्थनघटक रूप से अनुमान का अङ्ग है और वह भी अविद्वानों के वास्ते। विद्वानों के वास्ते तो उक्त समर्थन के सिवाय हेतुमात्र ही कार्यसाधक होता है (प्रमाणवा० १. २८), इसलिए दृष्टान्त उनके लिए अनुमानाङ्ग नहीं। माणिक्यनन्दी (३ ३७-४२), देवसूरि (प्रमाणन० ३. २८, ३४–३८) और आ० हेमचन्द्र (प्र० मी० पृ० ४७) सभी ने दृष्टान्त को अनुमानाङ्ग नहीं माना है और विकल्प द्वारा अनुमान में उसकी उपयोगिता का खण्डन भी किया है, फिर भी उन सभी ने केवल मन्दमति शिष्यों के लिए परार्थानुमान में (प्रमाणन० ३. ४२, परी० ३. ४६) उसे व्याप्तिस्मारक बतलाया है तब प्रश्न होता है कि उनके अनुमानाङ्गत्व के खण्डन का अर्थ क्या है? इसका जवाब यही है कि इन्होंने जो दृष्टान्त की अनुमानाङ्गता का प्रतिषेध किया है वह सकलानुमान की दृष्टि से अर्थात् अनुमान मात्र में दृष्टान्त को वे अङ्ग नहीं मानते। सिद्धसेन ने भी यही भाव संक्षिप्त रूप में सूचित किया है (न्याया० २०)। अतएव विचार करने पर बौद्ध और जैन तात्पर्य में कोई खास अन्तर नजर नहीं आता।

२—दृष्टान्त का सामान्य लक्षण न्यायसूत्र (१.१.२५) में है पर बौद्ध ग्रन्थों में वह नहीं देखा जाता। माणिक्यनन्दी ने भी सामान्य लक्षण नहीं कहा

जैसा कि सिद्धसेन ने पर देवसूरि (प्रमाणन० ३.४०) और आ० हेमचन्द्र ने सामान्य लक्षण भी बतला दिया है। न्यायसूत्र का दृष्टान्तलक्षण इतना व्यापक है कि अनुमान से भिन्न सामान्य व्यवहार में भी वह लागू पड़ जाता है जब कि जैनों का सामान्य दृष्टान्तलक्षण मात्र अनुमानोपयोगी है। साधर्म्य वैधर्म्य रूप से दृष्टान्त के दो भेद और उनके अलग-अलग लक्षण न्यायप्रवेश (पृ० १, २), न्यायावतार (का० १७, १८) में वैसे ही देखे जाते हैं जैसे परीक्षामुख (३. ४७ से) आदि (प्रमाणन० ३. ४१ से) पिछले ग्रन्थों में।

३—दृष्टान्त के उपयोग के संबन्ध में जैन विचारसरणी ऐकान्तिक नहीं। जैन तार्किक परार्थानुमान में जहाँ श्रोता अव्युत्पन्न हो वहीं दृष्टान्त का सार्थक्य मानते हैं। स्वार्थानुमान स्थल में भी जो प्रमाता व्याप्ति संबन्ध को भूल गया हो उसी को उसकी याद दिलाने के वास्ते दृष्टान्त की चरितार्थता मानते हैं— (स्याद्वादर० ३. ४२)।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

हेत्वाभास

हेत्वाभास सामान्य के विभाग में तार्किकों की विप्रतिपत्ति है। अक्षपाद[1] पाँच हेत्वाभासों को मानते व वर्णन करते हैं। कणाद के सूत्र में[2] स्पष्टतया तीन हेत्वाभासों का निर्देश है, तथापि प्रशस्तपाद[3] उस सूत्र का आशय बतलाते हुए चार हेत्वाभासों का वर्णन करते हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक यह तीन तो अक्षपादकथित पाँच हेत्वाभासों में भी आते ही हैं। प्रशस्तपाद ने अनध्यवसित नामक चौथा हेत्वाभास बतलाया है जो न्यायसूत्र में नहीं है। अक्षपाद और कणाद उभय के अनुगामी भासर्वज्ञ ने[4] छः हेत्वाभास वर्णित किये हैं जो न्याय और वैशेषिक दोनों प्राचीन परम्पराओं का कुल जोड़ मात्र है।

दिङ्नाग कर्तृक माने जानेवाले न्यायप्रवेश में[5] असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीनों का ही संग्रह है। उत्तरवर्ती धर्मकीर्ति आदि सभी बौद्ध तार्किकों ने भी न्यायप्रवेश की ही मान्यता को दोहराया और स्पष्ट किया है। पुराने सांख्याचार्य माठर[6] ने भी उक्त तीन ही हेत्वाभासों का सूचन व संग्रह किया है। जान पड़ता है मूल में सांख्य और कणाद की हेत्वाभाससंख्या विषयक परम्परा एक ही रही है।

जैन परम्परा वस्तुतः कणाद, सांख्य और बौद्ध परम्परा के अनुसार तीन ही हेत्वाभासों को मानती है। सिद्धसेन[7] और वादिदेव ने (प्रमाणन० ६. ४७)

---

१ न्यायसू० १. २. ४।

२ 'अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् संदिग्धश्चानपदेशः।'–वै० सू० ३.१. १५।

३ 'एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धाध्यवसितवचनानाम् अनपदेशत्वमुक्तं भवति।' –प्रश० पृ० २३८।

४ 'असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः।' –न्यायसार पृ० ७।

५ 'असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः।'–न्यायप्र० पृ० ३।

६ 'अन्ये हेत्वाभासाः चतुर्दश असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः।'–माठर ५।

७ 'असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते। विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु॥'–न्याया० का० २३।

असिद्ध आदि तीनों का ही वर्णन किया है। आ० हेमचन्द्र भी उसी मार्ग के अनुगामी हैं। आ० हेमचन्द्र ने न्यायसूत्रोक्त कालातीत आदि दो हेत्वाभासों का निरास किया है पर प्रशस्तपाद और भासर्वज्ञकथित अनध्यवसित हेत्वाभास का निरास नहीं किया है। जैन परम्परा में भी इस जगह एक मतभेद है—वह यह कि अकलङ्क और उनके अनुगामी माणिक्यनन्दी आदि दिगम्बर तार्किकों ने चार हेत्वाभास बतलाए हैं[1] जिनमे तीन तो असिद्ध आदि साधारण ही हैं पर चौथा अकिञ्चित्कर नामक हेत्वाभास बिलकुल नया है जिसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। परन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी[2] में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नये हेत्वाभास को मानने का पूर्वपक्ष किया है जो वस्तुतः जयन्त के पहिले कभी से चला आता हुआ जान पड़ता है। अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर इन दो शब्दों में स्पष्ट भेद होने पर भी आपाततः उनके अर्थ में एकता का भास होता है। परन्तु जयन्त ने अप्रयोजक का जो अर्थ बतलाया है और अकिञ्चित्कर का जो अर्थ माणिक्यनन्दी के अनुयायी प्रभाचन्द्र ने[3] किया है उनमें बिलकुल अन्तर है, इससे यह कहना कठिन है कि अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर का विचार मूल में एक है; फिर भी यह प्रश्न हो ही जाता है कि पूर्ववर्ती बौद्ध या जैन न्यायग्रन्थों में अकिञ्चित्कर का नाम निर्देश नहीं तब अकलङ्क ने उसे स्थान कैसे दिया, अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध माननेवाले किसी पूर्ववर्त्ती तार्किक ग्रन्थ के आधार पर ही अकलङ्क ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास की अपने ढंग से नई सृष्टि की हो। इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का खण्डन केवल वादिदेव के सूत्र की व्याख्या (स्याद्वादर० पृ० १२३०) में देखा जाता है।

---

१ 'असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने। अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः॥ विरुद्धासिद्धसंदिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः।'—न्यायवि० २. १६५-६। परी० ६. २१।

२ 'अन्ये तु अन्यथासिद्धत्वं नाम तद्भेदमुदाहरन्ति यस्य हेतोर्धर्मिणि वृत्तिर्भवन्त्यपि साध्यधर्मप्रयुक्ता भवति न, सोऽन्यथासिद्धो यथा नित्या मनःपरमाणवो मूर्त्तत्वाद् घटवदिति........स चात्र प्रयोज्यप्रयोजकभावो नास्तीत्यत एवायमन्यथासिद्धोऽप्रयोजक इति कथ्यते। कथं पुनरस्याप्रयोजकत्वमवगतम्?'—न्यायम० पृ० ६०७।

३ 'सिद्धे निर्णीते प्रमाणान्तरात्साध्ये प्रत्यक्षादिबाधिते च हेतुर्न किञ्चित्करोति इति अकिञ्चित्करोऽनर्थकः।'—प्रमेयक० पृ० १६३ A।

ऊपर जो हेत्वाभाससंख्या विषयक नाना परम्पराएँ दिखाई गई हैं उन सब का मतभेद मुख्यतया संख्याविषयक है, तत्त्वविषयक नहीं। ऐसा नहीं है कि एक परम्परा जिसे अमुक हेत्वाभास रूप दोष कहती है अगर वह सचमुच दोष हो तो उसे दूसरी परम्परा स्वीकार न करती हो। ऐसे स्थल में दूसरी परम्परा या तो उस दोष को अपने अभिप्रेत किसी हेत्वाभास में अन्तर्भावित कर देती है या पक्षाभास आदि अन्य किसी दोष में या अपने अभिप्रेत हेत्वाभास के किसी न किसी प्रकार में।

आ० हेमचन्द्र ने हेत्वाभास (प्र० मी० २. १. १६) शब्द के प्रयोग का अनौचित्य बतलाते हुए भी साधनाभास अर्थ में उस शब्द के प्रयोग का समर्थन करने में एक तीर से दो पक्षी का वेध किया है—पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसरण का विवेक भी बतलाया और उनकी गलती भी दर्शाई। इसी तरह का विवेक माणिक्यनन्दी ने भी दर्शाया है। उन्होंने अपने पूज्य अकलङ्ककथित अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का वर्णन तो किया; पर उन्हें जब उस हेत्वाभास के अलग स्वीकार का औचित्य न दिखाई दिया तब उन्होंने एक सूत्र में इस ढङ्ग से उसका समर्थन किया कि समर्थन भी हो और उसके अलग स्वीकार का अनौचित्य भी व्यक्त हो–'लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्'-(परी० ६. ३६)।

असिद्ध हेत्वाभास

न्यायसूत्र (१.२.८) में असिद्ध का नाम साध्यसम है। केवल नाम के ही विषय में न्यायसूत्र का अन्य ग्रन्थों से वैलक्षण्य नहीं है किन्तु अन्य विषय में भी। वह अन्य विषय यह है कि जब अन्य सभी ग्रन्थ असिद्ध के कम या अधिक प्रकारों का लक्षण उदाहरण सहित वर्णन करते हैं तब न्यायसूत्र और उसका भाष्य ऐसा कुछ भी न करके केवल असिद्ध का सामान्य स्वरूप बतलाते हैं।

प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश में असिद्ध के चार प्रकारों का स्पष्ट और समानप्राय[1] वर्णन है। माठर (का० ५) भी उसके चार भेदों का निर्देश करते हैं जो सम्भवतः उनकी दृष्टि में वे ही रहे होंगे। न्यायबिन्दु में धर्मकीर्त्ति

---

१ 'उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः तद्भावासिद्धोऽनुमेयासिद्धश्चेति।'–प्रशस्त० पृ० २३८। 'उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः संदिग्धासिद्धः आश्रयासिद्धश्चेति।' –न्यायप्र० पृ० ३।

ने प्रशस्तपादादिकथित चार प्रकारों का तो वर्णन किया ही है पर उन्होंने प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेश की तरह आश्रयासिद्ध का एक उदाहरण न देकर उसके दो उदाहरण दिये हैं और इस तरह असिद्ध के चौथे प्रकार आश्रयासिद्ध के भी प्रभेद कर दिये हैं। धर्मकीर्ति का वर्णन वस्तुतः प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेशगत प्रस्तुत वर्णन का थोड़ा सा संशोधन मात्र है (न्यायबि० ३. ५८-६७)।

न्यायसार (पृ० ८) में असिद्ध के चौदह प्रकार सोदाहरण बतलाए गए हैं। न्यायमञ्जरी (पृ० ६०६) में भी उसी ढंग पर अनेक भेदों की सृष्टि का वर्णन है। माणिक्यनन्दी शब्द-रचना बदलते हैं (परी० ६. २२-२८) पर वस्तुतः वे असिद्ध के वर्णन में धर्मकीर्त्ति के ही अनुगामी हैं। प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख की टीका मार्तण्ड में (पृ० १६१ A) मूल सूत्र में न पाए जानेवाले असिद्ध के अनेक भेदों के नाम तथा उदाहरण दिये हैं जो न्यायसारगत ही हैं। आ० हेमचन्द्र के असिद्धविषयक सूत्रों की सृष्टि न्यायबिन्दु और परीक्षामुख का अनुसरण करनेवाली है। उनकी उदाहरणमाला में भी शब्दशः न्यायसार का अनुसरण है। धर्मकीर्त्ति और माणिक्यनन्दी का अक्षरशः अनुसरण न करने के कारण वादिदेव के असिद्धविषयक सामान्य लक्षण (प्रमाणन० ६. ४६) में आ० हेमचन्द्र के सामान्य लक्षण की अपेक्षा विशेष परिष्कृतता जान पड़ती है। वादिदेव के प्रस्तुत सूत्रों की व्याख्या रत्नाकरावतारिका में जो असिद्ध के भेदों की उदाहरणमाला है वह न्यायसार और न्यायमञ्जरी के उदाहरणों का अक्षरशः सङ्कलन मात्र है। इतना अन्तर अवश्य है कि कुछ उदाहरणों में वस्तुविन्यास वादी देवसूरि का अपना है।

विरुद्ध हेत्वाभास

जैसा प्रशस्तपाद में विरुद्ध के सामान्य स्वरूप का वर्णन है विशेष भेदों का नहीं, वैसे ही न्यायसूत्र और उसके भाष्य में भी विरुद्ध का सामान्य रूप से वर्णन है, विशेष रूप से नहीं। इतना साम्य होते हुए भी सभाष्यन्यायसूत्र और प्रशस्तपाद में उदाहरण एवं प्रतिपादन का भेद[1] स्पष्ट है।

---

१ 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।'–न्यायसू० १. २. ६। 'यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यते इत्येवं हेतुः–'व्यक्तेरपेतोपि विकारोस्ति' इत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते। यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते, अस्तित्वं चात्मलाभात्

जान पड़ता है न्यायसूत्र की और प्रशस्तपाद की विरुद्ध विषयक विचारपरम्परा एक नहीं है।

न्यायप्रवेश (पृ० ५) में विरुद्ध के चार भेद सोदाहरण बतलाए हैं। सम्भवतः माठर (का० ५) को भी वे ही अभिप्रेत हैं। न्यायबिन्दु (३.८३-८८) में विरुद्ध के प्रकार दो ही उदाहरणों में समाप्त किये गए हैं और तीसरे 'इष्टविघातकृत्' नामक अधिक भेद होने की आशङ्का (३. ८९-९४) करके उसका समावेश अभिप्रेत दो भेदों में ही कर दिया गया है। इष्टविघातकृत् नाम न्यायप्रवेश में नहीं है पर उस नाम से जो उदाहरण न्यायबिन्दु (३.९०) में दिया गया है वह न्यायप्रवेश (पृ० ५) में वर्तमान है। जान पड़ता है न्यायप्रवेश में जो 'परार्थाः चक्षुरादयः' यह धर्म्मविशेषविरुद्ध का उदाहरण है उसी को कोई इष्टविघातकृत् नाम से व्यवहृत करते होंगे जिसका निर्देश करके धर्मकीर्त्ति ने अन्तर्भाव किया है। जयन्त ने (न्यायम० पृ० ६००-६०१) गौतमसूत्र की ही व्याख्या करते हुए धर्म्मविशेषविरुद्ध और धर्म्मिविशेषविरुद्ध इन दो तीर्थान्तरीय विरुद्ध भेदों का स्पष्ट खण्डन किया है जो न्यायप्रवेशवाली परम्परा का ही खण्डन जान पड़ता है। न्यायसार (पृ० ९) में विरुद्ध के भेदों का वर्णन सबसे अधिक और जटिल भी है। उसमें सपक्ष के अस्तित्ववाले चार, नास्तित्ववाले चार ऐसे विरुद्ध के आठ भेद जिन उदाहरणों के साथ हैं, उन उदाहरणों के साथ वही आठ भेद प्रमाणनयतत्त्वालोक की व्याख्या में भी हैं (प्रमाणन० ६५२-५३)। यद्यपि परीक्षामुख की व्याख्या मार्तण्ड में (पृ० १९२ A) न्यायसारवाले वे ही आठ भेद हैं तथापि किसी-किसी उदाहरण में थोड़ा सा परिवर्त्तन हो गया है। आ० हेमचन्द्र ने तो प्रमाणनयतत्त्वालोक की व्याख्या की तरह अपनी वृत्ति में शब्दशः न्यायसार के आठ भेद सोदाहरण बतलाकर उनमें से चार विरुद्धों को असिद्ध एवं विरुद्ध दोनों नाम से व्यवहृत करने की न्यायमञ्जरी और न्यायसार की दलीलों को अपना लिया है।

प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति। सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते तमेव व्याहन्ति इति।'—न्ययभा० १. २. ६। 'यो ह्यनुमेयेऽविद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन्नास्ति तद्विपरीते चास्ति स विपरीतसाधनाद्विरुद्धः यथा यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति।'—प्रशस्त० पृ० २३८।

अनैकान्तिक हेत्वाभास

अनैकान्तिक हेत्वाभास के नाम के विषय में मुख्य दो परम्पराएँ प्राचीन हैं। पहली गौतम की और दूसरी कणाद की। गौतम अपने न्यायसूत्र में जिसे सव्यभिचार (१. २. ५.) कहते हैं उसी को कणाद अपने सूत्रों (३. १. १५) में सन्दिग्ध कहते हैं। इस नामभेद की परम्परा भी कुछ अर्थ रखती है और वह अर्थ अगले सब व्याख्याग्रन्थों से स्पष्ट हो जाता है। वह अर्थ यह है कि एक परम्परा अनैकान्तिकता को अर्थात् साध्य और उसके अभाव के साथ हेतु के साहचर्य को, सव्यभिचार हेत्वाभास का नियामक रूप मानती है संशयजनकत्व को नहीं जब दूसरी परम्परा संशयजनकत्व को तो अनैकान्तिक हेत्वाभासता का नियामक रूप मानती है साध्य-तदभावसाहचर्य को नहीं। पहली परम्परा के अनुसार जो हेतु साध्य-तदभावसहचरित है चाहे वह संशयजनक हो या नहीं–वही सव्यभिचार या अनैकान्तिक कहलाता है। दूसरी परम्परा के अनुसार जो हेतु संशयजनक है — चाहे वह साध्य-तदभावसहचरित हो या नहीं–वही अनैकान्तिक या सव्यभिचार कहलाता है। अनैकान्तिकता के इस नियामकभेदवाली दो उक्त परम्पराओं के अनुसार उदाहरणों में भी अन्तर पड़ जाता है। अतएव गौतम की परम्परा में असाधारण या विरुद्धाव्यभिचारी का अनैकान्तिक हेत्वाभास में स्थान सम्भव ही नहीं क्योंकि वे दोनों साध्याभावसहचरित नहीं। उक्त सार्थक-नामभेद वाली दोनों परम्पराओं के परस्पर भिन्न ऐसे दो दृष्टिकोण आगे भी चालू रहे पर उत्तरवर्ती सभी तर्कशास्त्रों में–चाहे वे वैदिक हों, बौद्ध हों, या जैन–नाम तो केवल गौतमीय परम्परा का अनैकान्तिक ही जारी रहा। कणादीय परम्परा का सन्दिग्ध नाम व्यवहार में नहीं रहा।

प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश इन दोनों का पौर्वापर्य अभी सुनिश्चित नहीं अतएव यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि अमुक एक का प्रभाव दूसरे पर है तथापि न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद इन दोनों की विचारसरणी का अभिन्नत्व और पारस्परिक महत्त्व का भेद खास ध्यान देने योग्य है। न्यायप्रवेश में यद्यपि नाम तो अनैकान्तिक है सन्दिग्ध नहीं, फिर भी उसमें अनैकान्तिकता का नियामक रूप प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकत्व को ही माना है। अतएव न्यायप्रवेशकार ने अनैकान्तिक के छः भेद बतलाते हुए उनके सभी उदाहरणों में संशयजनकत्व स्पष्ट बतलाया है[1]। प्रशस्तपाद न्यायप्रवेश की तरह संशय-

---

१ 'तत्र साधारणः–शब्दः प्रमेयत्वान्नित्य इति। तद्धि नित्यानित्यपक्षयोः

जनकत्व को तो अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानते हैं सही, पर वे न्यायप्रवेश में अनैकान्तिक रूप से उदाहृत किये गए असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी इन दो भेदों को अनैकान्तिक या सन्दिग्ध हेत्वाभास में नहीं गिनते बल्कि न्यायप्रवेशसम्मत उक्त दोनों हेत्वाभासों की सन्दिग्धता का यह कह करके खण्डन करते हैं कि असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी संशयजनक ही नहीं[1]। प्रशस्तपाद के खण्डनीय भागवाला कोई पूर्ववर्त्ती वैशेषिक ग्रन्थ या न्यायप्रवेश-भिन्न बौद्धग्रन्थ न मिले तब तक यह कहा जा सकता है कि शायद प्रशस्तपाद ने न्यायप्रवेश का ही खण्डन किया है। जो कुछ हो, यह तो निश्चित ही है कि प्रशस्तपाद ने असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को सन्दिग्ध या अनैकान्तिक मानने से इन्कार किया है। प्रशस्तपाद ने इस प्रश्न का, कि क्या तब असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी कोई हेत्वाभास ही नहीं?, जबाव भी बड़ी बुद्धिमानी से दिया है। प्रशस्तपाद कहते हैं कि असाधारण हेत्वाभास है सही पर वह संशयजनक न होने से अनैकान्तिक नहीं, किन्तु उसे अनध्यवसित कहना चाहिए। इसी तरह वे विरुद्धाव्यभिचारी को संशयजनक न मानकर या तो असाधारणरूप अनध्यवसित में गिनते हैं या उसे विरुद्धविशेष ही कहते (अयं तु विरुद्धभेद एव प्रश० पृ० २३६) हैं। कुछ भी हो पर वे किसी तरह असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को न्यायप्रवेश की तरह संशयजनक मानने को तैयार नहीं हैं फिर भी वे उन दोनों को किसी न किसी हेत्वाभास में सन्निविष्ट करते ही हैं। इस चर्चा के सम्बन्ध में प्रशस्तपाद की और भी दो बातें खास ध्यान देने योग्य हैं। पहली तो यह है कि अनध्यवसित नामक

साधारणत्वादनैकान्तिकम्। किम् घटवत् प्रमेयत्वादनित्यः शब्दः आहोस्विदाकाशवत्प्रमेयत्वान्नित्य इति।'-इत्यादि-न्यायप्र० पृ० ३।

१ 'असाधारणः-श्रावणत्वान्नित्य इति। तद्धि नित्यानित्यपक्षाभ्यां व्यावृत्तत्वान्नित्यानित्यविनिर्मुक्तस्य चान्यस्यासम्भवात् संशयहेतुः किम्भूतस्यास्य श्रावणत्वमिति।..... विरुद्धाव्यभिचारी यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्; नित्यशब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति। उभयोः संशयहेतुत्वात् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव।' न्यायप्र० पृ० ३, ४। 'एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः सन्निपाते सति संशयदर्शनादयमन्यः सन्दिग्ध इति केचित् यथा मूर्तत्वामूर्तत्वं प्रति मनसः क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वयोरिति। नन्वयमसाधारण एवाचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् संहतयोरन्यतरपक्षासम्भवात् ततश्चानध्यवसित इति वक्ष्यामः।'-प्रशस्त० पृ० २३८, २३९।

हेत्वाभास की कल्पना और दूसरी यह कि न्यायप्रवेशगत विरुद्धाव्यभिचारी के उदाहरण से विभिन्न उदाहरण को लेकर विरुद्धाव्यभिचारी को संशयजनक मानने न मानने का शास्त्रार्थ। यह कहा नहीं जा सकता कि कणादसूत्र में अविद्यमान अनध्यवसित पद पहिले पहल प्रशस्तपाद ने ही प्रयुक्त किया या उसके पहिले भी इसका प्रयोग अलग हेत्वाभास अर्थ में रहा। न्यायप्रवेश में विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण—'नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्; अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' यह है, जब कि प्रशस्तपाद में उदाहरण–'मनः मूर्त्तम् क्रियावत्त्वात्; मनः अमूर्त्तम् अस्पर्शवत्त्वात्'-यह है। प्रशस्तपाद का उदाहरण तो वैशेषिक प्रक्रिया अनुसार है ही, पर आश्चर्य की बात यह है कि बौद्ध न्यायप्रवेश का उदाहरण खुद बौद्ध प्रक्रिया के अनुसार न होकर एक तरह से वैदिक प्रक्रिया के अनुसार ही है क्योंकि जैसे वैशेषिक आदि वैदिक तार्किक शब्दत्व को जातिरूप मानते हैं वैसे बौद्ध तार्किक जाति को नित्य नहीं मानते। अस्तु, यह विवाद आगे भी चला।

तार्किकप्रवर धर्म्मकीर्त्ति ने हेत्वाभास की प्ररूपणा बौद्धसम्मत हेतुत्रैरूप्य के[1] आधार पर की, जो उनके पूर्ववर्त्ती बौद्ध ग्रन्थों में अभी तक देखने में नहीं आई। जान पड़ता है प्रशस्तपाद का अनैकान्तिक हेत्वाभास विषयक बौद्ध मन्तव्य का खण्डन बराबर धर्म्मकीर्त्ति के ध्यान में रहा। उन्होंने प्रशस्तपाद को जवाब देकर न्यायप्रवेश का बचाव किया। धर्म्मकीर्त्ति ने व्यभिचार को अनैकान्तिकता का नियामकरूप न्यायसूत्र की तरह माना फिर भी उन्होने न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकत्व को भी उसका नियामक रूप मान लिया। प्रशस्तपाद ने न्यायप्रवेशसम्मत असाधारण को अनैकान्तिक मानने का यह कहकर के खण्डन किया था कि वह संशयजनक नहीं है। इसका जवाब धर्म्मकीर्त्ति ने असाधारण का न्यायप्रवेश की अपेक्षा जुदा उदाहरण रचकर और उसकी संशयजनकता दिखाकर, दिया और बतलाया कि असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास ही है[2]। इतना करके ही धर्म्मकीर्त्ति सन्तुष्ट न रहे पर अपने मान्य

---

१ 'तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः। उक्तावप्यसिद्धौ सन्देहे वा प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः। एकस्य रूपस्य'.. .. इत्यादि —न्यायबि० ३. ५७ से।

२ 'अनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहेऽनैकान्तिकः। यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति।......अत एवान्वयव्यतिरेकयो: संदेहादनैकान्तिकः। साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात्।'—न्यायबि० ३. ९८-११०।

आचार्य दिङ्नाग की परम्परा को प्रतिष्ठित बनाए रखने का और भी प्रयत्न किया। प्रशस्तपाद ने विरुद्धाव्यभिचारी के खण्डन में जो दलील दी थी उसको स्वीकार करके भी प्रशस्तपाद के खण्डन के विरुद्ध उन्होंने विरुद्धाव्यभिचारी का समर्थन किया और वह भी इस ढंग से कि दिङ्नाग की प्रतिष्ठा भी बनी रहे और प्रशस्तपाद का जवाब भी हो। ऐसा करते समय धर्म्मकीर्त्ति ने विरुद्धाव्यभिचारी का जो उदाहरण दिया है वह न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के उदाहरण से जुदा है फिर भी वह उदाहरण वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार होने से प्रशस्तपाद को अग्राह्य नहीं हो सकता[1]। इस तरह बौद्ध और वैदिक तार्किकों की इस विषय में यहाँ तक चर्चा आई जिसका अन्त न्यायमञ्जरी में हुआ जान पड़ता है। जयन्त फिर अपने पूर्वाचार्यों का पक्ष लेकर न्यायप्रवेश और धर्म्मकीर्त्ति के न्यायबिन्दु का सामना करते हैं। वे असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को अनैकान्तिक न मानने का प्रशस्तपादगत मत का बड़े विस्तार से समर्थन करते हैं पर साथ ही वे संशयजनकत्व को अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानने से भी इन्कार करते हैं[2]।

भासर्वज्ञ ने बौद्ध, वैदिक तार्किकों के प्रस्तुत विवाद का स्पर्श न कर अनैकान्तिक हेत्वाभास के आठ उदाहरण दिये हैं (न्यायसार पृ० १०), और कहीं संशयजनकता का उल्लेख नहीं किया है। जान पड़ता है वह गौतमीय परम्परा का अनुगामी है।

---

१ 'विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। स इह कस्मान्नोक्तः।......अत्रोदाहरणं यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपदभिसम्बध्यते तत्सर्वगतं यथाऽऽकाशम्, अभिसम्बध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपत् सामान्यमिति।...... द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत् तत्रास्ति। तद्यथा क्वचिदविद्यमानो घटः। नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति। अयमनुपलम्भप्रयोगः स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनादेकत्र संशयं जनयतः।'—न्यायबि० ३. ११२-१२१।

२ 'असाधारणविरुद्धाव्यभिचारिणौ तु न संत्त एव हेत्वाभासाविति न व्याख्यायेते।........अपि च संशयजननमनैकान्तिकलक्षणमुच्यते चेत् काममसाधारणस्य विरुद्धाव्यभिचारिणो वा यथा तथा संशयहेतुतामधिरोप्य कथ्यतामनैकान्तिकता न तु संशयजनकत्वं तल्लक्षणम्...अपि तु पक्षद्वयवृत्तित्वमनैकान्तिकलक्षणम् .....'—न्यायम० पृ० ५९८-५९९।

जैन परम्परा में अनैकान्तिक और सन्दिग्ध यह दोनों ही नाम मिलते हैं। अकलङ्क (न्यायवि० २. १९६) सन्दिग्ध शब्द का प्रयोग करते हैं जब कि सिद्धसेन (न्याया० २३) आदि अन्य जैन तार्किक अनैकान्तिक पद का प्रयोग करते हैं। माणिक्यनन्दी की अनैकान्तिक निरूपण विषयक सूत्ररचना आ० हेमचन्द की सूत्ररचना की तरह ही वस्तुतः न्यायबिन्दु की सूत्ररचना की संक्षिप्त प्रतिच्छाया है। इस विषय में वादिदेव की सूत्ररचना वैसी परिमार्जित नहीं जैसी माणिक्यनन्दी और हेमचन्द्र की है, क्योंकि वादिदेव ने अनैकान्तिक के सामान्य लक्षण में ही जो 'सन्दिह्यते' का प्रयोग किया है वह जरूरी नहीं जान पड़ता। जो कुछ हो पर इस बारे में प्रभाचन्द्र, वादिदेव और हेमचन्द्र इन तीनों का एक ही मार्ग है कि वे सभी अपने-अपने ग्रन्थों में भासर्वज्ञ के आठ प्रकार के अनैकान्तिक को लेकर अपने-अपने लक्षण में समाविष्ट करते हैं। प्रभाचन्द्र के (प्रमेयक० पृ० १९२) सिवाय औरों के ग्रन्थों में तो आठ उदाहरण भी वे ही हैं जो न्यायसार में हैं। प्रभाचन्द्र ने कुछ उदाहरण बदले हैं।

यहाँ यह स्मरण रहे कि किसी जैनाचार्य ने साध्यसंदेहजनकत्व को या साध्यव्यभिचार को अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानने न मानने की बौद्ध-वैशेषिकग्रन्थगत चर्चा को नहीं लिया है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

दृष्टान्ताभास

परार्थ अनुमान प्रसङ्ग में हेत्वाभास का निरूपण बहुत प्राचीन है। कणादसूत्र (३.१.१५) और न्यायसूत्र[1] (१. २. ४-६) में वह स्पष्ट एवं विस्तृत है। पर दृष्टान्ताभास का निरूपण उतना प्राचीन नहीं जान पड़ता। अगर दृष्टान्ताभास का विचार भी हेत्वाभास जितना ही पुरातन होता तो उसका सूचन कणाद या न्यायसूत्र में थोड़ा बहुत जरूर पाया जाता। जो कुछ हो इतना तो निश्चित है कि हेत्वाभास की कल्पना के ऊपर से ही पीछे से कभी दृष्टान्ताभास, पक्षाभास आदि की कल्पना हुई और उनका निरूपण होने लगा। यह निरूपण पहिले वैदिक तार्किकों ने शुरू किया या बौद्ध तार्किकों ने, इस विषय में अभी कुछ भी निश्चित कहा नहीं जा सकता।

दिङ्नाग के माने जानेवाले न्यायप्रवेश में पाँच साधर्म्य और पाँच वैधर्म्य ऐसे दस दृष्टान्ताभास हैं[1]। यद्यपि मुख्यतया पाँच-पाँच ऐसे दो विभाग उसमें हैं तथापि उभयासिद्ध नामक दृष्टान्ताभास के अवान्तर दो प्रकार भी उसमें किये गए हैं जिससे वस्तुतः न्यायप्रवेश के अनुसार छः साधर्म्य दृष्टान्ताभास और छः वैधर्म्य दृष्टान्ताभास फलित होते हैं। प्रशस्तपाद ने भी इन्हीं छः-छः साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों का निरूपण किया है[2]। न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के निरूपण में उदाहरण और भाव एक से ही हैं अलबत्ता दोनों के नामकरण में अन्तर अवश्य है। प्रशस्तपाद दृष्टान्ताभास शब्द के बदले निदर्शनाभास शब्द का

---

१ 'दृष्टान्ताभासो द्विविधः साधर्म्येण वैधर्म्येण च......तत्र साधर्म्येण... तद्यथा साधनधर्मासिद्धः साध्यधर्मासिद्धः उभयधर्मासिद्धः अनन्वयः विपरीतान्वयश्चेति।..... वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभासः पञ्चप्रकारः तद्यथा साध्याव्यावृत्तः साधनाव्यावृत्तः उभयाव्यावृत्तः अव्यतिरेकः विपरीतव्यतिरेकश्चेति..........।' —न्यायप्र० पृ० ५—६।

२ 'अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति। तद्यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् यदमूर्तं दृष्टं तन्नित्यम् यथा परमाणुर्यथा कर्म यथा स्थाली यथा तमः अम्बरवदिति यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति च लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः। यदनित्य तन्मूर्तं दृष्टं यथा कर्म यथा परमाणुर्यथाकाशं यथा तमः घटवत् यन्निष्क्रियं तदद्रव्य चेति लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासा इति।'—प्रशस्त० पृ० २४७।

प्रयोग पसन्द करते हैं क्योंकि उनकी अभिमत न्यायवाक्य परिपाटी में उदाहरण का बोधक निदर्शन शब्द आता है। इस सामान्य नाम के सिवाय भी न्यायप्रवेश और प्रशस्तपादगत विशेष नामों में मात्र पर्याय भेद है। माठर (का० ५) भी निदर्शनाभास शब्द ही पसन्द करते हैं। जान पड़ता है वे प्रशस्तपाद के अनुगामी हैं। यद्यपि प्रशस्तपाद के अनुसार निदर्शनाभास की कुल संख्या बारह ही होती हैं और माठर दस संख्या का उल्लेख करते हैं, पर जान पड़ता है कि इस संख्याभेद का कारण–आश्रयासिद्ध नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास की माठर ने विवक्षा नहीं की—यही है।

जयन्त ने (न्यायम० पृ० ५८०) न्यायसूत्र की व्याख्या करते हुए पूर्ववर्त्ती बौद्ध-वैशेषिक आदि ग्रन्थगत दृष्टान्तभास का निरूपण देखकर न्यायसूत्र में इस निरूपण की कमी का अनुभव किया और उन्होंने न्यायप्रवेश वाले सभी दृष्टान्ताभासों को लेकर अपनाया एवं अपने मान्य ऋषि की निरूपण कमी को भारतीय टीकाकार शिष्यों के ढङ्ग से भक्त के तौर पर दूर किया। न्यायसार में (पृ० १३) उदाहरणाभास नाम से छः साधर्म्य के और छः वैधर्म्य के इस तरह बारह आभास वही हैं जो प्रशस्तपाद में हैं। इसके सिवाय न्यायसार में अन्य के नाम से चार साधर्म्य के विषय में सन्दिग्ध और चार वैधर्म्य के विषय में सन्दिग्ध ऐसे आठ सन्दिग्ध उदाहरणाभास भी दिये हैं[1]। सन्दिग्ध उदाहरणाभासों की सृष्टि न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के बाद की जान पड़ती है। धर्मकीर्ति ने साधर्म्य के नव और वैधर्म्य के नव ऐसे अठारह दृष्टान्ताभास सविस्तर वर्णन किये हैं। जान पड़ता है न्यायसार में अन्य के नाम से जो साधर्म्य और वैधर्म्य के चार-चार सन्दिग्ध उदाहरणाभास दिये हैं उन आठ सन्दिग्ध भेदों की किसी पूर्ववर्त्ती परम्परा का संशोधन करके धर्मकीर्त्ति ने साधर्म्य और वैधर्म्य के तीन-तीन ही सन्दिग्ध दृष्टान्ताभास रखे। दृष्टान्ताभासों की संख्या, उदाहरण और उनके पीछे के साम्प्रदायिक भाव इन सब बातों में उत्तरोत्तर विकास होता गया जो धर्मकीर्त्ति के बाद भी चालू रहा।

जैन परम्परा में जहाँ तक मालूम है सबसे पहिले दृष्टान्ताभास के निरूपक सिद्धसेन ही हैं; उन्होंने बौद्ध परम्परा के दृष्टान्ताभास शब्द को ही चुना न कि

---

१ 'अन्ये तु संदेहद्वारेणापरानष्टावुदाहरणभासान्वर्णयन्ति । सन्दिग्धसाध्यः .... सन्दिग्धसाधनः ..... सन्दिग्धोभयः .... सन्दिग्धाश्रयः. .... सन्दिग्धसाध्याव्यावृत्तः .....सन्दिग्धसाधनाव्यावृत्तः....सन्दिग्धोभयाव्यावृत्तः .. ...सन्दिग्धाश्रयः ....।'—न्यायसार पृ० १३-१४।

वैदिक परम्परा के निदर्शनाभास और उदाहरणाभास शब्द को। सिद्धसेन ने[1] अपने संक्षिप्त कथन में संख्या का निर्देश तो नहीं किया परन्तु जान पड़ता है कि वे इस विषय में धर्मकीर्ति के समान ही नव-नव दृष्टान्ताभासों को माननेवाले हैं। माणिक्यनन्दी ने तो पूर्ववर्ती सभी के विस्तार को कम करके साधर्म्य और वैधर्म्य के चार-चार ऐसे कुल आठ ही दृष्टान्ताभास दिखलाए हैं और (परी० ६. ४०–४५) कुछ उदाहरण भी बदलकर नए रचे हैं। वादी देवसूरि ने तो उदाहरण देने में माणिक्यनन्दी का अनुकरण किया, पर भेदों की संख्या, नाम आदि में अक्षरशः धर्मकीर्त्ति का ही अनुकरण किया है। इस स्थल में वादी देवसूरि ने एक बात नई जरूर की। वह यह कि धर्मकीर्त्ति ने उदाहरण देने में जो वैदिक ऋषि एवं जैन तीर्थंकरों का लघुत्व दिखाया था उसका बदला वादी देवसूरि ने सम्भवित उदाहरणों में तथागत बुद्ध का लघुत्व दिखाकर पूर्ण रूप से चुकाया। धर्मकीर्त्ति के द्वारा अपने पूज्य पुरुषों के ऊपर तर्कशास्त्र में की गई चोट को वादिदेव सह न सके, और उसका बदला तर्कशास्त्र में ही प्रतिबन्दी रूप से चुकाया[2]।

---

१ 'साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः॥ वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात्॥'–न्याय० २४-२५।

२ 'यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, कर्मवत् परमाणुवद् घटवदिति साध्यसाधनधर्मोभयविकलाः। तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च, यथा रागादिमानयं वचनाद्रथ्यापुरुषवत्, मरणधर्माऽयं पुरुषो रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत् असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत् इति। अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च, यथा यो वक्ता स रागादिमानिष्टपुरुषवत्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् इति। तथा विपरीतान्वयः, यदनित्यं तत् कृतकमिति। साधर्म्येण। वैधर्म्येणापि, परमाणुवत् कर्मवदाकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः। तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः, यथाऽसर्वज्ञाः कपिलादयोऽनाप्ता वा, अविद्यमानसर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति, अत्र वैधर्म्योदाहरणम्, यः सर्वज्ञः आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, तद्यथर्षभवर्धमानादिरिति, तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः। सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ग्राह्यवचनः कश्चित्पुरुषो रागादिमत्त्वादिति, अत्र वैधर्म्योदाहरणं ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तः तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः सन्दिग्धा। सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा, अवीतरागाः कपिलादयः

आ० हेमचन्द्र नाम तो पसन्द करते हैं दृष्टान्ताभास, पर उसे उदाहरणा-

---

परिग्रहाग्रहयोगादिति, अत्र वैधर्म्योदाहरणम्, यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहो यथर्षभादेरिति, ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः। अव्यतिरेको यथा, अवीतरागो वक्तृत्वात्, वैधर्म्योदाहरणम्, यत्रावीतरागत्वं नास्ति न स वक्ता, यथोपलखण्ड इति, यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं यो सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः। अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा, अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति। विपरीतव्यतिरेको यथा, यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति।'–न्यायबि० ३. १२५-१३६।

'तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वाद् दुःखवदिति साध्यधर्मविकल इति। तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकल इति। कलशवदिति उभयधर्मविकल इति। रागादिमानयं वक्तृत्वात् देवदत्तवदिति सन्दिग्धसाध्यधर्मेति। मरणधर्माऽयं रागादिमत्त्वान्मैत्रवदिति सन्दिग्धसाधनधर्मेति। नाऽयं सर्वदर्शी सरागत्वान्मुनिविशेषवदिति सन्दिग्धोभयधर्मेति। रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुषवदिति अनन्वयः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्यप्रदर्शितान्वय इति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् यदनित्यं तत्कृतकं घटवदिति विपरीतान्वय इति। वैधर्म्येणापि......। तेषु भ्रान्तमनुमानं प्रमाणत्वात् यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत्प्रमाणम्, यथा स्वप्नज्ञानमित्यसिद्धसाध्यव्यतिरेकः स्वप्नज्ञानात् भ्रान्तत्वस्यानिवृत्तेरिति। निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वात्, यत्तु सविकल्पकं न तत् प्रमाणम्, यथा लैङ्गिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेकः लैङ्गिकात्प्रमाणत्वस्यानिवृत्तेः। नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वात् यस्तु न नित्यानित्यः स न सन् तद्यथा स्तम्भ इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः, स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य चाव्यावृत्तेरिति। असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलः अक्षणिकैकान्तवादित्वात्, यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकैकान्तवादी यथा सुगत इति सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकः सुगतेऽसर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोर्व्यावृत्तेः सन्देहादिति। अनादेयवचनः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमत्त्वात् यः पुनरादेयवचनः स वीतरागः तद्यथा शौद्धोदनिरिति सन्दिग्धसाधनव्यतिरेकः शौद्धोदने रागादिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयादिति। न वीतरागः कपिलः करुणास्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वीतरागः स करुणास्पदेषु परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलस्तद्यथा तपनबन्धुरिति सन्दिग्धोभयव्यतिरेक इति तपनबन्धौ वीतरागत्वाभावस्य करुणास्पदेष्वपि परमकृपयानर्पितनिजपिशितशकलत्वस्य च व्यावृत्तेः सन्देहादिति। न वीतरागः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वात्, यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता यथोपलखण्ड इत्यव्यतिरेक इति।

भास के स्थान में क्यों पसन्द किया इसका युक्तिसिद्ध खुलासा भी कर देते हैं[1]। दृष्टान्ताभास के निरूपण में आ० हेमचन्द्र की ध्यान देने योग्य महत्त्व की तीन विशेषताएँ हैं जो उनकी प्रतिभा की सूचक हैं—१–उन्होंने सूत्ररचना, उदाहरण आदि में यद्यपि धर्मकीर्त्ति को आदर्श रखा है तथापि वादिदेव की तरह पूरा अनुकरण न करके धर्मकीर्त्ति के निरूपण में थोड़ा सा बुद्धिसिद्ध संशोधन भी किया है। धर्मकीर्त्ति ने अनन्वय और अव्यतिरेक ऐसे जो दो भेद दिखाए हैं उनको आ० हेमचन्द्र अलग न मानकर कहते हैं कि बाक़ी के आठ-आठ भेद ही अनन्वय और अव्यतिरेक रूप होने से उन दोनों का पार्थक्य अनावश्यक है (प्र० मी २. १. २७)। आ० हेमचन्द्र की यह दृष्टि ठीक है। २–आ० हेमचन्द्र ने धर्मकीर्त्ति के ही शब्दों में अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शित-व्यतिरेक ऐसे दो भेद अपने सोलह भेदों में दिखाए हैं (२. १. २७), पर इन दो भेदों के उदाहरणों में धर्मकीर्त्ति की अपेक्षा विचारपूर्वक संशोधन किया है। धर्मकीर्त्ति ने पूर्ववर्त्ती अनन्वय और अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास जो न्यायप्रवेश आदि में रहे[2] उनका निरूपण तो अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शित व्यतिरेक ऐसे नए दो अन्वर्थ स्पष्ट नाम रखकर किया[3] और न्यायप्रवेश आदि के अनन्वय और अव्यतिरेक शब्द को रख भी लिया तथा उन नामों से नये उदाहरण दिखाए[4] जो उन नामों के साथ मेल खा सकें और जो न्यायप्रवेश आदि में

अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेक इति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् यदकृतकं तन्नित्यं यथाकाशमिति विपरीतव्यतिरेक इति।'—प्रमाणन० ६. ६०–७६।

१ 'परार्थानुमानप्रस्तावादुदाहरणदोषा एवैते दृष्टान्तप्रभवत्वात्तु दृष्टान्तदोषा इत्युच्यन्ते।'—प्र० मी० २. १. २२।

२ 'अनन्वयो यत्र विनान्वयेन साध्यसाधनयोः सहभावः प्रदर्श्यते। यथा घटे कृतकत्वमनित्यत्वं च दृष्टमिति। अव्यतिरेको यत्र विना साध्यसाधननिवृत्त्या तद्विपक्षभावो निदर्श्यते। यथा घटे मूर्तत्वमनित्यत्वं च दृष्टमिति।''—न्यायप्र० पृ० ६–७। 'नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्.....अम्बरवदिति.. ....अननुगत.... ...घटवत्.... अव्यावृत्त....'—प्रशस्त० पृ० २४७।

३ 'अप्रदर्शितान्वयः.........अनित्यशब्दः कृतकत्वात् घटवत् इति। अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति।'—न्यायबि० ३. १२७, १३५।

४ 'अनन्वयो.........यथा यो वक्ता स रागादिमान् इष्टपुरुषवत्। अव्य-

नहीं भी थे। आ० हेमचन्द्र ने धर्म्मकीर्त्ति की ही संशोधित दृष्टि का उपयोग करके पूर्ववर्त्ती दिङ्नाग, प्रशस्तपाद और धर्म्मकीर्त्ति तक के सामने कहा कि अप्रदर्शितान्वय या अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभास तभी कहा जा सकता है जब उसमें प्रमाण अर्थात् दृष्टान्त ही न रहे; वीप्सा आदि पदों का अप्रयोग इन दोषों का नियामक ही नहीं केवल दृष्टान्त का अप्रदर्शन ही इन दोषों का नियामक है। पूर्ववर्त्ती सभी आचार्य इन दो दृष्टान्ताभासों के उदाहरणों में कम से कम–अम्बरवत् घटवत्—जितना प्रयोग अनिवार्य रूप से मानते थे। आ० हेमचन्द्र के अनुसार ऐसे दृष्टान्तबोधक 'वत्' प्रत्ययान्त किसी शब्दप्रयोग की जरूरत ही नहीं–इसी अपने भाव को उन्होंने प्रमाणमीमांसा (२. १. २७) सूत्र की वृत्ति में निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट किया है—'एतौ च प्रमाणस्य अनुपदर्शनाद्भवतो न तु वीप्सासर्वावधारणपदानामप्रयोगात्, सत्स्वपि तेषु, असति प्रमाणे तयोरसिद्धेरिति।'

३—आ० हेमचन्द्र की तीसरी विशेषता अनेक दृष्टियों से बड़े मार्के की है। उस साम्प्रदायिकता के समय में जब कि धर्म्मकीर्त्ति ने वैदिक और जैन सम्प्रदाय पर प्रबल चोट की और जब कि अपने ही पूज्य वादी देवसूरि तक ने 'शाठ्यं कुर्यात् शठं प्रति' इस नीति का आश्रय करके धर्म्मकीर्त्ति का बदला चुकाया तब आ० हेमचन्द्र ने इस स्थल में बुद्धिपूर्वक उदारता दिखाकर साम्प्रदायिक भाव के विष को कम करने की चेष्टा की। जान पड़ता है अपने व्याकरण की तरह[1] अपने प्रमाणग्रन्थ को भी सर्वपार्षद—सर्वसाधारण बनाने की आ० हेमचन्द्र की उदार इच्छा का ही यह परिणाम है। धर्मकीर्त्ति के द्वारा ऋषभ, वर्धमान आदि पर किये गए कटाक्ष और वादिदेव के द्वारा सुगत पर किये गए प्रतिकटाक्ष का तर्कशास्त्र में कितना अनौचित्य है, उससे कितना रुचिभङ्ग होता है, यह सब सोचकर आ० हेमचन्द्र ने ऐसे उदाहरण[2] रचे जिनसे सबका मतलब सिद्ध हो पर किसी को आघात न हो।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व की है। धर्म्मकीर्त्ति ने अपने उदाहरणों में कपिल आदि में असर्वज्ञत्व और

तिरेको यथा अवीतरागो वक्तृत्वात्, वैधर्म्योदाहरणम्, यत्रावीतरागत्वं नास्ति न स वक्ता यथोपलखण्ड इति।'–न्यायबि० ३. १२७, १३४।

१ 'सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम्।'–हैमश० १. १. २।

२ प्र० मी० २. १. २५।

अनाप्तत्व साधक जो अनुमान प्रयोग रखे हैं उनका स्वरूप तथा तदन्तर्गत हेतु का स्वरूप विचारते हुए जान पड़ता है कि सिद्धसेन के सन्मति जैसे और समन्तभद्र के आप्तमीमांसा जैसे कोई दूसरे ग्रन्थ धर्मकीर्त्ति के सामने अवश्य रहे हैं जिनमें जैन तार्किकों ने अन्य सांख्य आदि दर्शनमान्य कपिल आदि की सर्वज्ञता का और आप्तता का निराकरण किया होगा।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

दूषण दूषणाभास

परार्थानुमान का एक प्रकार कथा[1] भी है, जो पक्ष-प्रतिपक्षभाव के सिवाय कभी शुरू नहीं होती। इस कथा से संबन्ध रखनेवाले अनेक पदार्थों का निरूपण करनेवाला साहित्य विशाल परिमाण में इस देश में निर्मित हुआ है। यह साहित्य मुख्यतया दो परम्पराओं में विभाजित है—ब्राह्मण—वैदिक परम्परा और श्रमण—वैदिकेतर परम्परा। वैदिक परम्परा में न्याय तथा वैद्यक सम्प्रदाय का समावेश है। श्रमण परम्परा में बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय का समावेश है। वैदिक परम्परा के कथा संबन्धी इस वक्त उपलब्ध साहित्य में अक्षपाद के न्यायसूत्र तथा चरक का एक प्रकरण—विमानस्थान मुख्य एवं प्राचीन हैं। न्यायभाष्य, न्यायवार्त्तिक, तात्पर्यटीका, न्यायमञ्जरी आदि उनके टीकाग्रन्थ तथा न्यायकलिका भी उतने ही महत्त्व के हैं।

बौद्ध सम्प्रदाय के प्रस्तुत विषयक साहित्य में उपायहृदय, तर्कशास्त्र, प्रमाणसमुच्चय, न्यायमुख, न्यायबिन्दु, वादन्याय इत्यादि ग्रन्थ मुख्य एवं प्रतिष्ठित हैं।

जैन सम्प्रदाय के प्रस्तुत साहित्य में न्यायावतार, सिद्धिविनिश्चयटीका, न्यायविनिश्चय, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, प्रमाणनयतत्त्वालोक इत्यादि ग्रन्थ विशेष महत्त्व के हैं। उक्त सब परम्पराओं के ऊपर निर्दिष्ट साहित्य के आधार से यहाँ कथासम्बन्धी कतिपय पदार्थों के बारे में कुछ मुद्दों

---

१ पुरातत्त्व पु० ३, अङ्क ३रे में मेरा लिखा 'कथापद्धतिनुं स्वरूप अने तेना साहित्यनुं दिग्दर्शन' नामक लेख देखें।

पर लिखा जाता है जिनमें से सबसे पहले दूषण और दूषणाभास को लेकर विचार किया जाता है। दूषण और दूषणाभास के नीचे लिखे मुद्दों पर यहाँ विचार प्रस्तुत है—१. इतिहास, २. पर्याय—समानार्थक शब्द, ३. निरूपण-प्रयोजन, ४. प्रयोग की अनुमति या विरोध, ५. भेद-प्रभेद।

१—दूषण और दूषणाभास का शास्त्रीय निरूपण तथा कथा का इतिहास कितना पुराना है यह निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यवहार में तथा शास्त्र में कथा का स्वरूप निश्चित हो जाने के बाद बहुत ही जल्दी दूषण और दूषणाभास का स्वरूप तथा वर्गीकरण शास्त्रबद्ध हुआ होगा। दूषण और दूषणाभास के कमोबेश निरूपण का प्राथमिक यश ब्राह्मण परम्परा को है। बौद्ध परम्परा में उसका निरूपण ब्राह्मण परम्परा द्वारा ही दाखिल हुआ है। जैन परम्परा में उस निरूपण का प्रथम प्रवेश साक्षात् तो बौद्ध साहित्य के द्वारा ही हुआ जान पड़ता है। परम्परया न्याय साहित्य का भी इस पर प्रभाव अवश्य है। फिर भी इस बारे में वैद्यक साहित्य का जैन निरूपण पर कुछ भी प्रभाव पड़ा नहीं है जैसा कि इस विषय के बौद्ध साहित्य पर कुछ पड़ा हुआ जान पड़ता है। प्रस्तुत विषयक साहित्य का निर्माण ब्राह्मण परम्परा में ई० स० पूर्व दो या चार शताब्दियों में कभी प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है जब कि बौद्ध परम्परा में वह ईसवी सन् के बाद ही शुरू हुआ और जैनपरम्परा में तो और भी पीछे से शुरू हुआ है। बौद्ध परम्परा का वह प्रारम्भ ईसवी के बाद तीसरी शताब्दी से पुराना शायद ही हो और जैन परम्परा का वह प्रारम्भ ईसवी सन् के बाद पाँचवीं छठी शताब्दी से पुराना शायद ही हो।

२—उपालम्भ, प्रतिषेध, दूषण, खण्डन, उत्तर इत्यादि पर्याय शब्द हैं। इनमें से उपालम्भ, प्रतिषेध आदि शब्द न्यायसूत्र (१. २. १) में प्रयुक्त हैं, जब कि दूषण आदि शब्द उसके भाष्य में आते हैं। प्रस्तुतविषयक बौद्ध साहित्य में से तर्कशास्त्र, जो प्रो० टुयची द्वारा प्रतिसंस्कृत हुआ है उसमें खण्डन शब्द का बार-बार प्रयोग है जब कि दिङ्नाग, शङ्करस्वामी, धर्मकीर्त्ति आदि ने दूषण शब्द का ही प्रयोग किया है। (देखो—न्यायमुख का० १६, न्यायप्रवेश पृ० ८, न्यायबिन्दु० ३. १३८)। जैन साहित्य में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में उपालम्भ, दूषण आदि सभी पर्याय शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जाति, असदुत्तर, असम्यक् खण्डन, दूषणाभास आदि शब्द पर्यायभूत हैं जिनमें से जाति शब्द न्याय परम्परा के साहित्य में प्रधानतया प्रयुक्त देखा जाता है। बौद्ध साहित्य में असम्यक् खण्डन तथा जाति शब्द का प्रयोग कुछ प्राचीन ग्रन्थों में है, पर दिङ्नाग से लेकर सभी बौद्धतार्किकों के तर्कग्रन्थों में दूषणाभास शब्द के प्रयोग का प्राधान्य

हो गया है। जैन तर्कग्रन्थों में मिथ्योत्तर, जाति और दूषणाभास आदि शब्द प्रयुक्त पाये जाते हैं।

३—उद्देश विभाग और लक्षण आदि द्वारा दोषों तथा दोषाभासों के निरूपण का प्रयोजन सभी परम्पराओं में एक ही माना गया है और वह यह कि उनका यथार्थ ज्ञान किया जाए जिससे वादी स्वयं अपने स्थापनावाक्य में उन दोषों से बच जाय और प्रतिवादी के द्वारा उद्भावित दोषाभास का दोषाभासत्व दिखाकर अपने प्रयोग को निर्दोष साबित कर सके। इसी मुख्य प्रयोजन से प्रेरित होकर किसी ने अपने ग्रंथ में संक्षेप से तो किसी ने विस्तार से, किसी ने अमुक एक प्रकार के वर्गीकरण से तो किसी ने दूसरे प्रकार के वर्गीकरण से, उनका निरूपण किया है।

४—उक्त प्रयोजन के बारे में सब का ऐकमत्य होने पर भी एक विशिष्ट प्रयोजन के विषय में मतभेद अवश्य है जो खास ज्ञातव्य है। वह विशिष्ट प्रयोजन है—जाति, छल आदि रूप से असत्य उत्तर का भी प्रयोग करना। न्याय (न्यायसू० ४.२.५०) हो या वैद्यक (चरक–विमानस्थान पृ० २६४) दोनों ब्राह्मण परम्पराएँ असत्य उत्तर के प्रयोग का भी समर्थन पहले से अभी तक करती आई हैं। बौद्ध परम्परा के भी प्राचीन उपायहृदय आदि कुछ ग्रन्थ जात्युत्तर के प्रयोग का समर्थन ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों की तरह ही साफ-साफ करते हैं, जब कि उस परम्परा के पिछले ग्रन्थों में जात्युत्तरों का वर्णन होते हुए भी उनके प्रयोग का स्पष्ट व सबल निषेध है—वादन्याय पृ० ७०। जैन परम्परा के ग्रन्थों में तो प्रथम से ही लेकर मिथ्या उत्तरों के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया गया है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७३। उनके प्रयोग का समर्थन कभी नहीं किया गया। छल-जाति युक्त कथा कर्तव्य है या नहीं इस प्रश्न पर जब जब जैन तार्किकों ने जैनेतर तार्किकों के साथ चर्चा की तब तब उन्होंने अपनी एक मात्र राय यही प्रकट की कि वैसी कथा कर्तव्य नहीं त्याज्य[1] है। ब्राह्मण बौद्ध और जैन सभी भारतीय दर्शनों का अन्तिम व मुख्य उद्देश मोक्ष बतलाया गया है और मोक्ष की सिद्धि असत्य या मिथ्याज्ञान से शक्य ही नहीं जो ज्ञात्युत्तरों में अवश्य गर्भित है। तब केवल जैनदर्शन के अनुसार ही क्यों, बल्कि ब्राह्मण और बौद्ध दर्शन के अनुसार भी जात्युत्तरों का प्रयोग असंगत है। ऐसा होते हुए भी ब्राह्मण और बौद्ध तार्किक उनके प्रयोग का समर्थन करते हैं और जैन तार्किक नहीं करते इस अन्तर का बीज क्या है, यह प्रश्न अवश्य

---

१ देखो सिद्धसेनकृत वादद्वात्रिंशिका ; वादाष्टक ; न्यायवि० २. २१४।

पैदा होता है। इसका जवाब जैन और जैनेतर दर्शनों के अधिकारियों की प्रकृति में है। जैन दर्शन मुख्यतया त्यागप्रधान होने से उसके अधिकारियों में मुमुक्षु ही मुख्य हैं, गृहस्थ नहीं। जब कि ब्राह्मण परम्परा चातुराश्रमिक होने से उसके अधिकारियों में गृहस्थों का, खासकर विद्वान् ब्राह्मण गृहस्थो का, वही दर्जा है जो त्यागियों का होता है। गार्हस्थ्य की प्रधानता होने के कारण ब्राह्मण विद्वानों ने व्यावहारिक जीवन में सत्य, अहिंसा आदि नियमों पर उतना भार नहीं दिया जितना कि जैन त्यागियों ने उन पर दिया। गार्हस्थ्य के साथ अर्थलाभ, जयतृष्णा आदि का, त्यागजीवन की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। इन कारणों से ब्राह्मण परम्परा में मोक्ष का उद्देश होते हुए भी छल, जाति आदि के प्रयोग का समर्थन होना सहज था, जब कि जैन परम्परा के लिए वैसा करना सहज न था। क्या करना यह एक बार प्रकृति के अनुसार तय हो जाता है तब विद्वान् उसी कर्तव्य का सयुक्तिक समर्थन भी कर लेते हैं। कुशाग्रीयबुद्धि ब्राह्मण तार्किकों ने यही किया। उन्होंने कहा कि तत्त्वनिर्णय की रक्षा के वास्ते कभी-कभी छल, जाति आदि का प्रयोग भी उपकारक होने से उपादेय है, जैसा कि अङ्कुररक्षा के वास्ते सकण्टक बाड़ का उपयोग। इस दृष्टि से उन्होंने छल, जाति आदि के प्रयोग की भी मोक्ष के साथ सङ्गति बतलाई। उन्होंने अपने समर्थन में एक बात स्पष्ट कह दी कि छल, जाति आदि का प्रयोग भी तत्त्वज्ञान की रक्षा के सिवाय लाभ, ख्याति आदि अन्य किसी भौतिक उद्देश से कर्तव्य नहीं है। इस तरह अवस्थाविशेष में छल, जाति आदि के प्रयोग का समर्थन करके उसकी मोक्ष के साथ जो सङ्गति ब्राह्मण तार्किकों ने दिखाई वही बौद्ध तार्किकों ने अक्षरशः स्वीकार करके अपने पक्ष में भी लागू की। उपायहृदय के लेखक बौद्ध तार्किक ने—छल जाति आदि के प्रयोग की मोक्ष के साथ कैसी असङ्गति है—यह आशङ्का करके उसका समाधान अक्षपाद के ही शब्दों[1] में किया है कि आम्रफल की रक्षा आदि के वास्ते कण्टकिल बाड़ की तरह सद्धर्म की रक्षा के लिए छलादि भी प्रयोगयोग्य हैं। वादसम्बन्धी पदार्थों के प्रथम चिन्तन, वर्गीकरण और सङ्कलन का श्रेय ब्राह्मण परम्परा को है या बौद्ध परम्परा को, इस प्रश्न का सुनिश्चित जवाब

---

१ 'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।'—न्याय सू० ४.२.५०। 'यथाम्रफलपरिपुष्टिकामेन तत्(फल)परिरक्षणार्थं बहिर्बहुतीक्ष्णकण्टकनिकरविन्यासः क्रियते, वादारम्भोऽपि तथैवाधुना सद्धर्मरक्षणेच्छया न तु ख्यातिलाभाय।'—उपायहृदय पृ० ४।

छलादि के प्रयोग के उस समान समर्थन में से मिल जाता है। बौद्ध परम्परा मूल से ही जैन परम्परा की तरह त्यागिभिक्षुप्रधान रही है और उसने एकमात्र निर्वाण तथा उसके उपाय पर भार दिया है। वह अपनी प्रकृति के अनुसार शुरू में कभी छल आदि के प्रयोग को सङ्गत मान नहीं सकती जैसा कि ब्राह्मण परम्परा मान सकती है। अतएव इसमें सन्देह नहीं रहता कि बुद्ध के शान्त और अक्लेश धर्म की परम्परा के स्थापन व प्रचार में पड़ जाने के बाद भिक्षुकों को जब ब्राह्मण विद्वानों से लोहा लेना पड़ा तभी उन्होंने उनकी वादपद्धति का विशेष अभ्यास, प्रयोग व समर्थन शुरू किया। और जो जो ब्राह्मण, कुलागत संस्कृत तथा न्याय विद्या सीखकर बौद्ध परम्परा में दीक्षित हुए वे सभी अपने साथ कुलधर्म की वे ही दलीलें ले आए जो न्याय परम्परा में थीं। उन्होंने नवस्वीकृत बौद्ध परम्परा में उन्हीं वादपदार्थों के अभ्यास और प्रयोग आदि का प्रचार किया जो न्याय या वैद्यक आदि ब्राह्मण परम्परा में प्रसिद्ध रहे। इस तरह प्रकृति में जैन और बौद्ध परम्पराएँ तुल्य होने पर भी ब्राह्मण विद्वानों के प्रथम सम्पर्क और संघर्ष की प्रधानता के कारण से ही बौद्ध परम्परा में ब्राह्मण परम्परानुसारी छल आदि का समर्थन प्रथम किया गया। अगर इस बारे में ब्राह्मण परम्परा पर बौद्ध परम्परा का ही प्रथम प्रभाव होता तो किसी न किसी अति प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ में तथा बौद्ध ग्रन्थ में बौद्ध प्रकृति के अनुसार छलादि के वर्जन का ही ऐकान्तिक उपदेश होता। यद्यपि बौद्ध तार्किकों ने शुरू में छलादि के समर्थन को ब्राह्मण परम्परा में से अपनाया पर आगे जाकर उनको इस समर्थन की अपने धर्म की प्रकृति के साथ विशेष असंगति दिखाई दी, जिससे उन्होंने उनके प्रयोग का स्पष्ट व सयुक्तिक निषेध ही किया। परन्तु इस बारे में जैन परम्परा की स्थिति निराली रही। एक तो वह बौद्ध परम्परा की अपेक्षा त्याग और उदासीनता में विशेष प्रसिद्ध रही, दूसरे इसके निर्ग्रन्थ भिक्षुक शुरू में ब्राह्मण तार्किकों के सम्पर्क व संघर्ष में उतने न आये जितने बौद्ध भिक्षुक, तीसरे उस परम्परा में संस्कृत भाषा तथा तदाश्रित विद्याओं का प्रवेश बहुत धीरे से और पीछे से हुआ। जब यह हुआ तब भी जैन परम्परा की उत्कट त्याग की प्रकृति ने उसके विद्वानों को छल आदि के प्रयोग के समर्थन से बिलकुल ही रोका। यही कारण है कि, सब से प्राचीन और प्राथमिक जैन तर्क ग्रन्थों में छलादि के प्रयोग का स्पष्ट निषेध व परिहास[1] मात्र है। ऐसा होते हुए भी आगे जाकर जैन परम्परा को जब

---

१ देखो सिद्धसेनकृत वादद्वात्रिंशिका।

दूसरी परम्पराओं से बार बार वाद में भिड़ना पड़ा तब उसे अनुभव हुआ कि छल आदि के प्रयोग का ऐकान्तिक निषेध व्यवहार्य नहीं। इसी अनुभव के के कारण कुछ जैन तार्किकों ने छल आदि के प्रयोग का आपवादिक रूप से अवस्थाविशेष में समर्थन भी किया[1]। इस तरह अन्त में बौद्ध और जैन दोनों परम्पराएँ एक या दूसरे रूप से समान भूमिका पर आ गईं। बौद्ध विद्वानों ने पहले छलादि के प्रयोग का समर्थन करके फिर उसका निषेध किया, जब कि जैन विद्वान् पहले आत्यन्तिक विरोध करके अन्त में अंशतः उससे सहमत हुए। यह ध्यान में रहे कि छलादि के आपवादिक प्रयोग का भी समर्थन श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है पर ऐसा समर्थन दिगम्बर तार्किकों के द्वारा किया हुआ देखने में नहीं आता। इस अन्तर के दो कारण मालूम होते हैं। एक तो दिगम्बर परम्परा में औत्सर्गिक त्याग अंश का ही मुख्य विधान है और दूसरा ग्यारहवीं शताब्दि के बाद भी जैसा श्वेताम्बर परम्परा में विविध प्रकृतिगामी साहित्य बना वैसा दिगम्बर परम्परा में नहीं हुआ। ब्राह्मण परम्परा का छलादि के प्रयोग का समर्थन तथा निषेध प्रथम से ही अधिकारीविशेषानुसार वैकल्पिक होने से उसको अपनी दृष्टि बदलने की जरूरत ही न हुई।

५—अनुमान प्रयोग के पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि अवयव हैं। उनमें आनेवाले वास्तविक दोषों का उद्घाटन करना दूषण है और उन अवयवों के निर्दोष होने पर भी उनमें असत् दोषों का आरोपण करना दूषणाभास है। ब्राह्मण परम्परा के मौलिक ग्रन्थों में दोषों का, खासकर हेतु दोषों का ही वर्णन है। पक्ष, दृष्टान्त आदि के दोषों का स्पष्ट वैसा वर्णन नहीं है जैसा बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में दिङ्नाग से लेकर वर्णन है। दूषणाभास के छल, जाति रूप से भेद तथा उनके प्रभेदों का जितना विस्तृत व स्पष्ट वर्णन प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में है उतना प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नहीं है और पिछले बौद्ध ग्रन्थों में तो वह नाम-शेष मात्र हो गया है। जैन तर्कग्रन्थों में जो दूषण के भेद-प्रभेदों का वर्णन है वह मूलतः बौद्ध ग्रन्थानुसारी ही है और जो दूषणाभास का वर्णन है वह भी बौद्ध परम्परा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है[2]। इसमें जो ब्राह्मण परम्परानुसारी वर्णन खण्डनीयरूप से आया है वह खासकर न्यायसूत्र और उसके टीका, उप-टीका ग्रन्थों से आया है। यह अचरज की बात है कि ब्राह्मण परम्परा के वैद्यक

१ 'अयमेव विधेयस्तत् तत्त्वज्ञेन तपस्विना। देशाद्यपेक्षयाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम् ॥'—यशो० वादद्वा० श्लो० ८।

२ मिलाओ—न्यायमुख, न्यायप्रवेश और न्यायावतार।

ग्रन्थ में आनेवाले दूषणाभास का निर्देश जैन ग्रन्थों में खण्डनीय रूप से भी कहीं देखा नहीं जाता।

आ० हेमचन्द्र ने दो सूत्रों में क्रम से जो दूषण और दूषणाभास का लक्षण रचा है उसका अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा न्यायप्रवेश (पृ० ८) की शब्दरचना के साथ अधिक सादृश्य है। परन्तु उन्होंने सूत्र की व्याख्या में जो जात्युत्तर शब्द का अर्थप्रदर्शन किया है वह न्यायबिन्दु (३. १४०) की धर्मोत्तरीय व्याख्या से शब्दशः मिलता है। हेमचन्द्र ने दूषणाभासरूप से चौबीस जातियों का तथा तीन छलों का जो वर्णन किया है वह अक्षरशः जयन्त की न्यायकलिका (पृ० १६-२१) का अवतरणमात्र है।

आ० हेमचन्द्र ने छल को भी जाति की तरह असदुत्तर होने के कारण जात्युत्तर ही माना है। जाति हो या छल सबका प्रतिसमाधान सच्चे उत्तर से ही करने को कहा है, परन्तु प्रत्येक जाति का अलग-अलग उत्तर जैसा अक्षपाद ने स्वयं दिया है, वैसा उन्होंने नहीं दिया—प्र० मी० २. १. २८, २९।

कुछ ग्रन्थों के आधार पर जातिविषयक एक कोष्ठक नीचे दिया जाता है—

न्यायसूत्र।	वादविधि, प्रमाणसमुच्चय, न्यायमुख, तर्कशास्त्र।	उपायहृदय।
साधर्म्यसम	,,	,,
वैधर्म्यसम	,,	,,
उत्कर्षसम	...	,,
अपकर्षसम	...	,,
वर्ण्यसम	...	...
अवर्ण्यसम	...	...
विकल्पसम	,,	...
साध्यसम	...	...
प्राप्तिसम	,,	,,
अप्राप्तिसम	,,	,,
प्रसङ्गसम	,,	...
प्रतिदृष्टान्तसम	,,	,,
अनुत्पत्तिसम	,,	,,
संशयसम	,,	,,

प्रकरणसम	...	...
अहेतुसम	,,	कालसम
अर्थापत्तिसम	,,	...
अविशेषसम	,,	...
उपपत्तिसम	...	...
उपलब्धिसम	,,	...
अनुपलब्धिसम	...	...
नित्यसम	,,	...
अनित्यसम	...	...
कार्यसम	कार्यभेद	,,
	अनुक्ति	
	स्वार्थविरुद्ध	
		भेदाभेद, प्रश्नबाहुल्योत्तराल्पता, प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य, हेतुसम, व्याप्ति, अव्याप्तिसम, विरुद्ध, अविरुद्ध, असंशय, श्रुतिसम, श्रुतिभिन्न।
ई० १६३६]		[प्रमाण मीमांसा

वादविचार

प्रश्नोत्तर रूप से और खण्डन-मण्डन रूप से चर्चा दो प्रकार की है। खण्डन-मण्डन रूप चर्चा-अर्थ में सम्भाषा, कथा, वाद, आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। सम्भाषा शब्द चरक आदि वैद्यकीय ग्रन्थों में प्रसिद्ध है, जब कि कथा शब्द न्याय परम्परा में प्रसिद्ध है। वैद्यक परम्परा में सम्भाषा के सन्धायसम्भाषा और विगृह्यसम्भाषा ऐसे दो भेद किए हैं (चरकसं० पृ० २६३); जब कि न्याय परम्परा ने कथा के वाद, जल्प, वितण्डा ये तीन भेद किए हैं (न्यायवा० पृ० १४६)। वैद्यक परम्परा की सन्धायसम्भाषा ही न्याय परम्परा की वाद कथा है। क्योंकि वैद्यक परम्परा में सन्धायसम्भाषा के जो और जैसे अधिकारी बताए गए हैं (चरकसं० पृ० २६३) वे और वैसे ही अधिकारी वाद कथा के न्याय परम्परा (न्यायसू० ४. २. ४८) में माने गए हैं। सन्धायसम्भाषा और वाद कथा का प्रयोजन भी दोनों परम्पराओं में एक ही—तत्त्व-निर्णय है। वैद्यक परम्परा जिस चर्चा को विगृह्यसम्भाषा कहती है उसी को न्याय परम्परा जल्प और वितण्ड कथा कहती है। चरक ने विगृह्यसम्भाषा ऐसा सामान्य नाम रखकर फिर उसी के जल्प और वितण्डा ये दो भेद बताए हैं—(पृ० २६५)। न्याय परम्परा में इन दो भेदों के वास्ते 'विगृह्यसम्भाषा' शब्द प्रसिद्ध नहीं है, पर उसमें उक्त दोनों भेद विजिगीषुकथा शब्द से व्यवहृत होते हैं (न्यायवा० पृ० १४६)। अतएव वैद्यक परम्परा का 'विगृह्यसम्भाषा' और न्याय परम्परा का 'विजिगीषुकथा' ये दो शब्द बिलकुल समानार्थक हैं। न्याय परम्परा में यद्यपि विगृह्यसम्भाषा इस शब्द का खास व्यवहार नहीं है, तथापि उसका प्रतिबिम्बप्राय 'विगृह्यकथन' शब्द मूल न्यायसूत्र (४. २. ५१) में ही प्रयुक्त है। इस शाब्दिक और आर्थिक संक्षिप्त तुलना से इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि मूल में न्याय और वैद्यक दोनों परम्पराएँ एक ही विचार के दो भिन्न प्रवाह मात्र हैं। बौद्ध परम्परा में खास तौर से कथा अर्थ में वाद शब्द के प्रयोग की प्रधानता रही है। कथा के वाद, जल्प आदि अवान्तर भेदों के वास्ते उस परम्परा में प्रायः सद्-धर्मवाद, विवाद आदि शब्द प्रयुक्त किये गए हैं। जैन परम्परा में कथा अर्थ में क्वचित्[1] जल्प शब्द का प्रयोग है पर सामान्य

---

१ 'किं तत् जल्पं विदुः ? इत्याह-समर्थवचनम्' ।–सिद्धिवि० टी० पृ० २५४ B ।

रूप से सर्वत्र उस अर्थ में वाद शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। जैन परम्परा कथा के जल्प और वितण्डा दो प्रकारों को प्रयोगयोग्य नहीं मानती। अतएव उसके मत से वाद शब्द का वही अर्थ है जो वैद्यक परम्परा में सन्धायसम्भाषा शब्द का और न्याय परम्परा में वादकथा का है। बौद्ध तार्किकों ने भी आगे जाकर जल्प और वितण्डा कथा को त्याज्य बतलाकर केवल वादकथा को ही कर्त्तव्य रूप कहा है। अतएव इस पिछली बौद्ध मान्यता और जैन परम्परा के बीच वाद शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं रहता।

वैद्यकीय सन्धायसम्भाषा के अधिकारी को बतलाते हुए चरक ने महत्त्व का एक अनसूयक विशेषण दिया है, जिसका अर्थ है कि वह अधिकारी असूया-दोषमुक्त हो। अक्षपाद ने भी वादकथा के अधिकारियों के वर्णन में 'अनुसूयि' विशेषण दिया है। इससे सिद्ध है कि चरक और अक्षपाद दोनों के मत से वादकथा के अधिकारियों में कोई अन्तर नहीं। इसी भाव को पिछले नैयायिकों ने वाद का लक्षण करते हुए एक ही शब्द में व्यक्त कर दिया है कि—तत्त्व-बुभुत्सुकथा वाद है (केशव० तर्कभाषा पृ० १२६)। चरक के कथनानुसार विगृह्यसम्भाषा के अधिकारी जय-पराजयेच्छु और छलबलसम्पन्न सिद्ध होते हैं, न्यायपरम्परा के अनुसार जल्प-वितण्डा के वैसे ही अधिकारी माने जाते हैं। इसी भाव को नैयायिक 'विजिगीषुकथा—जल्प-वितण्डा' इस लक्षणवाक्य से व्यक्त करते हैं। वाद के अधिकारी तत्त्वबुभुत्सु किस-किस गुण से युक्त होने चाहिए और वे किस तरह अपना वाद चलाएँ इसका बहुत ही मनोहर व समान वर्णन चरक तथा न्यायभाष्य आदि में है।

न्याय परम्परा में जल्पवितण्डा कथा करनेवाले को विजिगीषु माना है जैसा कि चरक ने; पर वैसी कथा करते समय वह विजिगीषु प्रतिवादी और अपने बीच किन-किन गुण-दोषों की तुलना करे, अपने श्रेष्ठ, कनिष्ठ या बराबरी-वाले प्रतिवादी से किस-किस प्रकार की सभा और कैसे सभ्यों के बीच किस-किस प्रकार का बर्त्ताव करे, प्रतिवादी से आटोप के साथ कैसे बोले, कभी कैसा झिड़के इत्यादि बातों का जैसा विस्तृत व आँखोंदेखा वर्णन चरक (पृ० २६४) ने किया है वैसा न्याय परम्परा के ग्रन्थों में नहीं है। चरक के इस वर्णन से कुछ मिलता-जुलता वर्णन जैनाचार्य सिद्धसेन ने अपनी एक वादोपनिषद्द्वा-त्रिंशिका में किया है, जिसे चरक के वर्णन के साथ पढ़ना चाहिए। बौद्ध परम्परा जब तक न्याय परम्परा की तरह जल्पकथा को भी मानती रही तब तक उसके अनुसार भी वाद के अधिकारी तत्त्वबुभुत्सु और जल्पादि के अधिकारी विजिगीषु ही फलित होते हैं, जैसा कि न्यायपरम्परा में। उस प्राचीन समय का

बौद्ध विजिगीषु, नैयायिक विजिगीषु से भिन्न प्रकार का सम्भव नहीं, पर जब से बौद्ध परम्परा में छल आदि के प्रयोग का निषेध होने के कारण जल्पकथा नाम-शेष हो गई और वादकथा ही अवशिष्ट रही तब से उसमें अधिकारिद्वैविध्य का प्रश्न ही नहीं रहा, जैसा कि जैन परम्परा में।

जैन परम्परा के अनुसार चतुरङ्गवाद के अधिकारी विजिगीषु हैं। पर न्याय-वैद्यक-परम्परासम्मत विजगीषु और जैनपरम्परासम्मत विजिगीषु के अर्थ में बड़ा अन्तर है। क्योंकि न्याय-वैद्यक परम्परा के अनुसार विजिगीषु वही है जो न्याय से या अन्याय से, छल आदि का प्रयोग करके भी प्रतिवादी को परास्त करना चाहे, जब कि जैनपरम्परा विजिगीषु उसी को मानती है जो अपने पक्ष की सिद्धि करना चाहे, पर न्याय से; अन्याय से छलादि का प्रयोग करके कभी नहीं। इस दृष्टि से जैनपरम्परासम्मत विजिगीषु असूयावान् होकर भी न्यायमार्ग से ही अपना पक्ष सिद्ध करने का इच्छुक होने से करीब-करीब न्याय-परम्परासम्मत तत्त्वबुभुत्सु की कोटि का हो जाता है। जैन परम्परा ने विजय का अर्थ–अपने पक्ष की न्याय्य सिद्धि ही किया है, न्याय-वैद्यक परम्परा की तरह, किसी भी तरह से प्रतिवादी को मूक करना नहीं।

जैन परम्परा के प्राथमिक तार्किकों[1] ने, जो विजिगीषु नहीं हैं ऐसे वीतराग व्यक्तियों का भी वाद माना है। पर वह वाद चतुरङ्ग नहीं है। क्योंकि उसके अधिकारी भले ही पक्ष-प्रतिपक्ष लेकर प्रवृत्त हों पर वे असूयामुक्त होने के कारण किसी सभापति या सभ्यों के शासन की अपेक्षा नहीं रखते। वे आपस में ही तत्त्वबोध का विनिमय या स्वीकार कर लेते हैं। जैन परम्परा के विजिगीषु में और उसके पूर्वोक्त तत्त्वनिर्णिनीषु में अन्तर इतना ही है कि विजिगीषु न्यायमार्गसे चलनेवाले होने पर भी ऐसे असूयामुक्त नहीं होते जिससे वे बिना किसी के शासन के किसी बात को स्वतः मान लें जब कि तत्त्वनिर्णिनीषु न्याय-मार्ग से चलनेवाले होने के अलावा तत्त्वनिर्णय के स्वीकार में अन्य के शासन से निरपेक्ष होते हैं। इस प्रकार चतुरङ्गवाद के वादी प्रतिवादी दोनों विजिगीषु होने की पूर्व प्रथा रही[2], इसमें वादि देवसूरि ने (प्रमाणन० ८. १२-१४)

---

१ 'परार्थाधिगमस्तत्रानुद्भवद्रागगोचरः। जिगीषुगोचरश्चेति द्विधा शुद्धधियो विदुः॥ सत्यवाग्भिः विधातव्यः प्रथमस्तत्त्ववेदिभिः। यथाकथञ्चिदित्येष चतुरङ्गो न सम्मतः॥'–तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७७।

२ 'वादः सोऽयं जिगीषतोः।'–न्यायवि० २. २१२। 'समर्थवचनं वादः प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साक्षिसमक्षं जिगीषतोरेकत्र साधनदूषणवचनं वादः।'–

थोड़ा विचारभेद प्रकट किया कि, एकमात्र विजिगीषु वादी या प्रतिवादी के होने पर भी चतुरङ्ग कथा का सम्भव है। उन्होंने यह विचारभेद सम्भवतः अकलङ्क या विद्यानन्द आदि पूर्ववर्ती तार्किकों के सामने रखा है। इस विषय में आचार्य हेमचन्द्र का मानना अकलङ्क और विद्यानन्द के अनुसार ही जान पड़ता है—प्र० मी० पृ० ६३।

ब्राह्मण बौद्ध, और जैन सभी परम्पराओं के अनुसार कथा का मुख्य प्रयोजन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति या प्राप्त तत्त्वज्ञान की रक्षा ही है। साध्य में किसी का मतभेद न होने पर भी उसकी साधनप्रणाली में अन्तर अवश्य है, जो पहिले भी बताया जा चुका है। संक्षेप में वह अन्तर इतना ही है कि जैन और उत्तरवर्ती बौद्ध तार्किक छल, जाति आदि के प्रयोग को कभी उपादेय नहीं मानते।

वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति इन चारों अङ्गों के वर्णन में तीनों[1] परम्पराओं में कोई मतभेद नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने जो चारों अङ्गों के स्वरूप का संक्षिप्त निदर्शन किया है वह पूर्ववर्ती ग्रन्थों का सार मात्र है।

जैन परम्परा ने जब छलादि के प्रयोग का निषेध ही किया तब उसके अनुसार जल्प या वितण्डा नामक कथा वाद से भिन्न कोई न रही। इस तत्त्व को जैन तार्किकों ने विस्तृत चर्चा के द्वारा सिद्ध किया। इस विषय का सबसे पुराना ग्रन्थ शायद कथात्रयभङ्ग हो, जिसका निर्देश सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २८६ A) में है। उन्होंने अन्त में अपना मन्तव्य स्थिर किया कि—जल्प और वितण्डा नामक कोई वाद से भिन्न कथा ही नहीं, वह तो कथाभास मात्र है। इसी मन्तव्य के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपनी चर्चा में बतलाया कि वाद से भिन्न कोई जल्प नामक कथान्तर नहीं, जो ग्राह्य हो।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

———

प्रमाणसं० परि० ६। 'सिद्धो जिगीषतो वादः चतुरङ्गस्तथा सति।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७७।

१ देखो—चरकसं० पृ० २६४। न्यायप्र० पृ० १४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८०।

निग्रहस्थान

भारतीय तर्क साहित्य में निग्रहस्थान की प्राचीन विचारधारा ब्राह्मण परम्परा की ही है, जो न्याय तथा वैद्यक के ग्रन्थों में देखी जाती है। न्याय परम्परा में अक्षपाद ने जो संक्षेप में विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति रूप से द्विविध निग्रह स्थान को बतलाया और विस्तार से उसके बाईस भेद बतलाए वही वर्णन आजतक के सैकड़ों वर्षों में अनेक प्रकाण्ड नैयायिकों के होनेपर भी निर्विवाद रूप से स्वीकृत रहा है। चरक का निग्रहस्थानवर्णन अक्षरशः तो अक्षपाद के वर्णन जैसा नहीं है फिर भी उन दोनों के वर्णन की भित्ति एक ही है। बौद्ध परम्परा का निग्रहस्थानवर्णन दो प्रकार का है। एक ब्राह्मणपरम्परानुसारी और दूसरा स्वतन्त्र। पहिला वर्णन प्राचीन बौद्ध[१] तर्कग्रन्थों में है, जो लक्षण, संख्या, उदाहरण आदि अनेक बातों में बहुधा अक्षपाद के और कभी कभी चरक (पृ० २६६) के वर्णन से मिलता[२] है। ब्राह्मण परम्परा का विरोधी स्वतंत्र निग्रहस्थाननिरूपण बौद्ध परम्परा में सबसे पहिले किसने शुरू किया यह अभी निश्चित नहीं। तथापि इतना तो निश्चित ही है कि इस समय ऐसे स्वतन्त्र निरूपणवाला पूर्ण और अति महत्त्व का जो 'वादन्याय' ग्रन्थ हमारे सामने मौजूद है वह धर्मकीर्ति का होने से इस स्वतन्त्र निरूपण का श्रेय धर्मकीर्ति को अवश्य है। सम्भव है इसका कुछ बीजारोपण तार्किकप्रवर दिङ्नाग ने भी किया हो। जैन परम्परा में निग्रहस्थान के निरूपण का प्रारम्भ करनेवाले शायद पात्रकेसरी स्वामी हों। पर उनका कोई ग्रन्थ अभी लभ्य नहीं। अतएव मौजूदा साहित्य के आधार से तो भट्टारक अकलङ्क को ही इसका प्रारम्भक कहना होगा। पिछले सभी जैन तार्किकों ने अपने-अपने निग्रहस्थाननिरूपण में भट्टारक अकलङ्क के ही वचन[३] को उद्धृत किया है, जो हमारी उक्त सम्भावना का समर्थक है।

---

१ तर्कशास्त्र पृ० ३३। उपायहृदय पृ० १८।

२ Pre. Dignag Buddhist Logic P. XXII.

३ 'आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः। न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्त्तनम्।'—न्यायवि० २. २१३। 'कथं तर्हि वादपरिसमाप्तिः? निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तम्—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य

पहिले तो बौद्ध परम्परा ने न्याय परम्परा के ही निग्रहस्थानों को अपनाया। इसलिए उसके सामने कोई ऐसी निग्रहस्थानविषयक दूसरी विरोधी परम्परा न थी जिसका बौद्ध तार्किक खण्डन करते पर एक या दूसरे कारण से जब बौद्ध तार्किकों ने निग्रहस्थान का स्वतन्त्र निरूपण शुरू किया तब उनके सामने न्याय परम्परा वाले निग्रहस्थानों के खण्डन का प्रश्न स्वयं ही आ खड़ा हुआ। उन्होंने इस प्रश्न को बड़े विस्तार व बड़ी सूक्ष्मता से सुलझाया। धर्मकीर्ति ने वादन्याय नामक एक सारा ग्रन्थ इस विषय पर लिख डाला जिस पर शान्तरक्षित ने स्फुट व्याख्या भी लिखी। वादन्याय में धर्मकीर्ति ने निग्रहस्थान का लक्षण एक कारिका में स्वतन्त्र भाव से बाँधकर उस पर विस्तृत चर्चा की और अक्षपादसम्मत एवं वात्स्यायन तथा उद्योतकर के द्वारा व्याख्यात निग्रहस्थानों के लक्षणों का एक-एक शब्द लेकर विस्तार से खण्डन किया। इस धर्मकीर्ति की कृति से निग्रहस्थान की निरूपणपरम्परा स्पष्टतया विरोधी दो प्रवाहों में बँट गई। क़रीब-क़रीब धर्मकीर्त्ति के समय में या कुछ ही आगे पीछे जैन तार्किकों के सामने भी निग्रहस्थान के निरूपण का प्रश्न आया। किसी भी जैन तार्किक ने ब्राह्मण परम्परा के निग्रहस्थानों को अपनाया हो या स्वतन्त्र बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थाननिरूपण को अपनाया हो ऐसा मालूम नहीं होता। अतएव जैन परम्परा के सामने निग्रहस्थान का स्वतन्त्र भाव से निरूपण करने का ही प्रश्न रहा जिसको भट्टारक अकलङ्क ने सुलझाया[1]। उन्होंने निग्रहस्थान का लक्षण स्वतंत्र भाव से ही रचा और उसकी व्यवस्था बाँधी जिसका अक्षरशः अनुसरण उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है। अकलङ्ककृत स्वतन्त्र लक्षण का मात्र स्वीकार कर लेने से जैन तार्किकों का कर्तव्य पूरा हो नहीं सकता था जब तक कि वे अपनी पूर्ववर्त्ती और अपने सामने उपस्थित ब्राह्मण और बौद्ध दोनों परम्पराओं के निग्रहस्थान के विचार का खण्डन न करें। इसी दृष्टि से अकलङ्क के अनुगामी विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि ने विरोधी परम्पराओं के खण्डन का कार्य विशेष रूप से शुरू किया। हम उनके ग्रन्थों में[2]

निग्रहोऽन्यस्य वादिनः नाऽसाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः ॥ तथा तत्त्वार्थश्लोकेऽपि (पृ० २८१)–स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा। वस्त्वाश्रयत्वतो यद्वल्लौकिकार्थविचारणा।'–अष्टस० पृ० ८७।–प्रमेयक० पृ० २०३ A

१ दिगम्बर परम्परा में कुमारनन्दी आचार्य का भी एक वादन्याय ग्रन्थ रहा। 'कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्'–पत्रपरीक्षा पृ० ३।

२ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८३। प्रमेयक० पृ० २०० B।

पाते हैं कि पहिले तो उन्होंने न्याय परम्परा के निग्रहस्थानों का खण्डन किया और पीछे बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थान लक्षण का। जहाँ तक देखने में आया है उससे मालूम होता है कि धर्मकीर्त्ति के लक्षण का संक्षेप में स्वतन्त्र खण्डन करनेवाले सर्वप्रथम अकलङ्क हैं और विस्तृत खण्डन करनेवाले विद्यानन्द और तदुपजीवी प्रभाचन्द्र हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने निग्रहस्थाननिरूपण के प्रसङ्ग में मुख्यतया तीन बातें पाँच सूत्रों में निबद्ध की हैं। पहिले दो सूत्र (प्र० मी० २. १. ३१, ३२) में जय और पराजय की क्रमशः व्याख्या है और तीसरे २.१.३३ में निग्रह की व्यवस्था है जो अकलङ्करचित है और जो अन्य सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किक सम्मत भी है। चौथे २. १. ३४ सूत्र में न्यायपरम्परा के निग्रहस्थान-लक्षण का खण्डन किया है, जिसकी व्याख्या प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड का अधिकांश प्रतिबिम्ब मात्र है। इसके बाद अन्तिम २. १. ३५ सूत्र में हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति के स्वतन्त्र निग्रहस्थान लक्षण का खण्डन किया है जो अक्षरशः प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २०३ A) की ही नकल है।

इस तरह निग्रहस्थान की तीन परम्पराओं में से न्याय व बौद्धसम्मत दो परम्पराओं का खण्डन करके आचार्य हेमचन्द्र ने तीसरी जैन परम्परा का स्थापन किया है।

अन्त में जय-पराजय की व्यवस्था सम्बन्धी तीनों परम्पराओं के मन्तव्य का रहस्य संक्षेप में लिख देना जरूरी है। जो इस प्रकार है—ब्राह्मण परम्परा में छल, जाति आदि का प्रयोग किसी हद तक सम्मत होने के कारण छला आदि के द्वारा किसी को पराजित करने मात्र से भी छल आदि का प्रयोक्ता अपने पक्ष की सिद्धि बिना किए ही जयप्राप्त माना जाता है। अर्थात् ब्राह्मण परम्परा के अनुसार यह नियम नहीं कि जयलाभ के वास्ते पक्षसिद्धि करना अनिवार्य ही हो।

धर्मकीर्त्ति ने उक्त ब्राह्मण परम्परा के आधार पर ही कुठाराघात करके सत्यमूलक नियम बाँध दिया कि कोई छल आदि के प्रयोग से किसी को चुप करा देने मात्र से जीत नहीं सकता। क्योंकि छल आदि का प्रयोग सत्यमूलक न होने से वर्ज्य है[1]। अतएव धर्मकीर्त्ति के कथनानुसार[2] यह नियम नहीं कि किसी

१ 'तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्त्तव्यमेव छलादि विजिगीषुभिरिति चेत् नखचपेटशस्त्रप्रहारादीपनादिभिरपीति वक्तव्यम्। तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः।—वादन्याय पृ० ७१।

२ 'सदोषवत्त्वेऽपि प्रतिवादिनोऽज्ञानात् प्रतिपादनासामर्थ्याद्वा। न हि

एक का पराजय ही दूसरे का अवश्यम्भावी जय हो। ऐसा भी सम्भव है कि प्रतिवादी का पराजय माना जाए पर वादी का जय न माना जाए–उदाहरणार्थ वादी ने दुष्ट साधन का प्रयोग किया हो, इस पर प्रतिवादी ने सम्भवित दोषों का कथन न करके मिथ्यादोषों का कथन किया, तदनन्तर वादी ने प्रतिवादी के मिथ्यादोषों का उद्‌भावन किया–ऐसी दशा में प्रतिवादी का पराजय अवश्य माना जायगा। क्योंकि उसने अपने कर्त्तव्य रूप से यथार्थ दोषों का उद्भावन न करके मिथ्यादोषों का ही कथन किया जिसे वादी ने पकड़ लिया। इतना होने पर भी वादी का जय नहीं माना जाता क्योंकि वादी ने दुष्ट साधन का ही प्रयोग किया है। जब कि जय के वास्ते वादी का कर्तव्य है कि साधन के यथार्थ ज्ञान द्वारा निर्दोष साधन का ही प्रयोग करे। इस तरह धर्मकीर्त्ति ने जय-पराजय की ब्राह्मणसम्मत व्यवस्था में संशोधन किया। पर उन्होंने जो असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन द्वारा जय-पराजय की व्यवस्था की इसमें इतनी जटिलता और दुरूहता आ गई कि अनेक प्रसङ्गों में यह सरलता से निर्णय करना ही असम्भव हो गया कि असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन है या नहीं। इस जटिलता और दुरूहता से बचने एवं सरलता से निर्णय करने की दृष्टि से भट्टारक अकलङ्क ने धर्मकीर्त्तिकृत जय-पराजय व्यवस्था का भी संशोधन किया। अकलङ्क के संशोधन में धर्मकीर्त्तिसम्मत सत्य का तत्त्व तो निहित है ही, पर जान पड़ता है अकलङ्क की दृष्टि में इसके अलावा अहिंसा-समभाव का जैनप्रकृतिसुलभ भाव भी निहित है। अतएव अकलङ्क ने कह दिया कि[1] किसी एक पक्ष की सिद्धि ही उसका जय है और दूसरे पक्ष की असिद्धि ही उसका पराजय है। अकलङ्क का यह सुनिश्चित मत है कि किसी एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष की असिद्धि के बिना हो ही नहीं सकती। अतएव अकलङ्क के मतानुसार यह फलित हुआ कि जहाँ एक की सिद्धि होगी वहाँ दूसरे की असिद्धि अनिवार्य है, और जिस पक्ष की सिद्धि हो उसी की

दुष्टसाधनाभिधानेऽपि वादिनः प्रतिवादिनोऽप्रतिपादिते दोषे पराजयव्यवस्थापना युक्ता। तयोरेव परस्परसामर्थ्योपघातापेक्षया जयपराजयव्यवस्थापनात्। केवलं हेत्वाभासाद् भूतप्रतिपत्तेरभावादप्रतिपादकस्य जयोऽपि नास्त्येव।'-वादन्याय पृ० ७०।

१ 'निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तम्–स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः। नासाधनाङ्गवचनं नाऽदोषोद्भावनं द्वयोः॥'–अष्टश० अष्टस० पृ० ८७। 'तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलङ्कैः कथितो जयः। स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१।

जय। अतएव सिद्धि और असिद्धि अथवा दूसरे शब्दों में जय और पराजय समव्याप्तिक हैं। कोई पराजय जयशून्य नहीं और कोई जय पराजयशून्य नहीं। धर्मकीर्तिकृत व्यवस्था में अकलंक की सूक्ष्म अहिंसा प्रकृति ने एक त्रुटि देख ली जान पड़ती है। वह यह कि पूर्वोक्त उदाहरण में कर्त्तव्य पालन न करने मात्र से अगर प्रतिवादी को पराजित समझा जाए तो दुष्टसाधन के प्रयोग में सम्यक् साधन के प्रयोग रूप कर्त्तव्य का पालन न होने से वादी भी पराजित क्यों न समझा जाए ? अगर धर्मकीर्त्ति वादी को पराजित नहीं मानते तो फिर उन्हें प्रतिवादी को भी पराजित नहीं मानना चाहिए। इस तरह अकलङ्क ने पूर्वोक्त उदाहरण में केवल प्रतिवादी को पराजित मान लेने की व्यवस्था को एकदेशीय एवं अन्यायमूलक मानकर पूर्ण समभाव मूलक सीधा मार्ग बाँध दिया कि अपने पक्ष की सिद्धि करना ही जय है। और ऐसी सिद्धि में दूसरे पक्ष का निराकरण अवश्य गर्भित है। अकलङ्कोपज्ञ यह जय-पराजय व्यवस्था का मार्ग अन्तिम है, क्योंकि इसके ऊपर किसी बौद्धाचार्य ने या ब्राह्मण विद्वानों ने आपत्ति नहीं उठाई। जैन परम्परा में जय-पराजय व्यवस्था का यह एक ही मार्ग प्रचलित हैं, जिसका स्वीकार सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है और जिसके समर्थन में विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१), प्रभाचन्द्र (प्रमेयक० पृ० १६४), वादिराज (न्यायवि० टी० पृ० ५२७ B) आदि ने बड़े विस्तार से पूर्वकालीन और समकालीन मतान्तरों का निरास भी किया है। आचार्य हेमचन्द्र भी इस विषय में भट्टारक अकलङ्क के ही अनुगामी हैं।

सूत्र ३४ की वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने न्यायदर्शनानुसारी निग्रहस्थानों का पूर्वपक्षरूप से जो वर्णन किया है वह अक्षरशः जयन्त की न्यायकलिका (पृ० २१-२७) के अनुसार है और उन्हीं निग्रहस्थानों का जो खण्डन किया है वह अक्षरशः प्रमेयकमलमार्त्तण्डानुसारी (पृ० २०० B.-२०३ A) है। इसी तरह धर्मकीर्तिसम्मत (वादन्याय) निग्रहस्थानों का वर्णन और उसका खण्डन भी अक्षरशः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के अनुसार है। यद्यपि न्यायसम्मत निग्रहस्थानों का निर्देश तथा खण्डन तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २८३ से) में भी है तथा धर्मकीर्त्तिसम्मत निग्रहस्थानों का वर्णन तथा खंडन वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका (७०३ से) में, जयन्त ने न्यायमंजरी (पृ० ६४६) और विद्यानंद ने अष्टसहस्री (पृ० ८१) में किया है, पर हेमचन्द्रीय वर्णन और खंडन प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड से ही शब्दशः मिलता है।

ई० १९३९] [प्रमाण मीमांसा

———

योगविद्या

प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति अपरिमित शक्तियोंके तेजका पुञ्ज है, जैसा कि सूर्य। अतएव राष्ट्र तो मानों अनेक सूर्योंका मण्डल है। फिर भी जब कोई व्यक्ति या राष्ट्र असफलता या नैराश्यके भँवर में पड़ता है तब यह प्रश्न होना सहज है कि इसका कारण क्या है? बहुत विचार कर देखने से मालूम पड़ता है कि असफलता व नैराश्यका कारण योगका (स्थिरताका) अभाव है, क्योंकि योग न होनेसे बुद्धि संदेहशील बनी रहती है, और इससे प्रयत्नकी गति अनिश्चित हो जाने के कारण शक्तियां इधर उधर टकराकर आदमीको बरबाद कर देती हैं। इस कारण सब शक्तियोंको एक केन्द्रगामी बनाने तथा साध्यतक पहुँचाने के लिये अनिवार्य रूप से सभीको योगकी जरूरत है। यही कारण है कि प्रस्तुत[1] व्याख्यानमालामें योगका विषय रखा गया है।

इस विषयकी शास्त्रीय मीमांसा करनेका उद्देश यह है कि हमें अपने पूर्वजोंकी तथा अपनी सभ्यताकी प्रकृति ठीक मालूम हो, और तद्द्वारा आर्य-संस्कृतिके एक अंश का थोड़ा, पर निश्चित रहस्य विदित हो।

योगशब्दार्थ—

योगदर्शन यह सामासिक शब्द है। इसमें योग और दर्शन ये दो शब्द मौलिक हैं।

योग शब्द युज् धातु और घञ् प्रत्यय से सिद्ध हुआ है। युज् धातु दो हैं। एक का अर्थ है जोड़ना[2] और दूसरे का अर्थ है समाधि[3]—मनःस्थिरता। सामान्य रीति से योग का अर्थ संबंध करना तथा मानसिक स्थिरता करना इतना ही है, परंतु प्रसंग व प्रकरण के अनुसार उसके अनेक अर्थ हो जाने से वह बहुरूपी बन जाता है। इसी बहुरूपिता के कारण लोकमान्यको अपने गीतारहस्य में गीता का तात्पर्य दिखाने के लिए योगशब्दार्थनिर्णय की विस्तृत

---

१ गुजरात पुरातत्त्व मंदिर की ओर से होनेवाली आर्यविद्या व्याख्यानमाला में यह व्याख्यान पढ़ा गया था।

२ युजूंपी योगे गण ७ हेमचंद्र धातुपाठ।

३ युजिच् समाधौ गण ४ ,, ,,

भूमिका रचनी पड़ी है[1]। परंतु योगदर्शन में योग शब्द का अर्थ क्या है यह बतलाने के लिए उतनी गहराई में उतरने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि योगदर्शनविषयक सभी ग्रन्थों में जहाँ कहीं योग शब्द आया है वहाँ उसका एक ही अर्थ है, और उस अर्थ का स्पष्टीकरण उस-उस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने स्वयं ही कर दिया है। भगवान् पतंजलिने अपने योगसूत्र में[2] चित्तवृत्ति निरोध को ही योग कहा है, और उस ग्रन्थ में सर्वत्र योग शब्द का वही एकमात्र अर्थ विवक्षित है। श्रीमान् हरिभद्र सूरिने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थों[3] में मोक्ष प्राप्त कराने वाले धर्मव्यापार को ही योग कहा है। और उनके उक्त सभी ग्रन्थों में योग शब्द का वही एकमात्र अर्थ विवक्षित है। चित्तवृत्तिनिरोध और मोक्षप्रापक धर्मव्यापार इन दो वाक्यों के अर्थ में स्थूल दृष्टि से देखने पर बड़ी भिन्नता मालूम होती है, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनके अर्थ की अभिन्नता स्पष्ट मालूम हो जाती है, क्योंकि 'चित्तवृत्तिनिरोध' इस शब्द से वही क्रिया या व्यापार विवक्षित है जो मोक्ष के लिए अनुकूल हो और जिससे चित्तकी संसाराभिमुख वृत्तियां रुक जाती हों। 'मोक्षप्रापक धर्मव्यापार' इस शब्द से भी वही क्रिया विवक्षित है। अतएव प्रस्तुत विषयमें योग शब्द का अर्थ स्वाभाविक समस्त आत्मशक्तियोंका पूर्ण विकास करानेवाली क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुख चेष्टा इतना ही समझना[4] चाहिए। योगविषयक वैदिक, जैन और बौद्ध ग्रन्थों में योग, ध्यान, समाधि ये शब्द बहुधा समानार्थक देखे जाते हैं।

दर्शन शब्द का अर्थ—

नेत्रजन्यज्ञान[5], निर्विकल्प (निराकार) बोध[6], श्रद्धा[7],

---

१ देखो पृष्ठ ५५ से ६०

२ पा. १ सू. २—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

३ अध्यात्मं भावनाऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ योगबिन्दु श्लोक ३१।
योगविंशिका गाथा १।

४ लोर्ड एवेबरीने जो शिक्षा की पूर्ण व्याख्या की है वह इसी प्रकार की है—'Education is the harmonious development of all our faculties.'

५ दृशं प्रेक्षणे— गण १ हेमचन्द्र धातुपाठ।

६ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक अध्याय २ सूत्र ६।

७ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक अध्याय १ सूत्र २।

मत[1] आदि अनेक अर्थ दर्शन शब्द के देखे जाते हैं। पर प्रस्तुत विषय में दर्शन शब्द का अर्थ मत यह एक ही विवक्षित है।

योग के आविष्कार का श्रेय—

जितने देश और जितनी जातियों के आध्यात्मिक महान् पुरुषों की जीवन कथा तथा उनका साहित्य उपलब्ध है उसको देखने वाला कोई भी यह नहीं कह सकता है कि आध्यात्मिक विकास अमुक देश और अमुक जाति की ही बपौती है, क्योंकि सभी देश और सभी जातियों में न्यूनाधिक रूप से आध्यात्मिक विकास वाले महात्माओं के पाये जाने के प्रमाण मिलते हैं[2]। योगका संबन्ध आध्यात्मिक विकास से है। अतएव यह स्पष्ट है कि योगका अस्तित्व सभी देश और सभी जातियों में रहा है। तथापि कोई भी विचारशील मनुष्य इस बात को इनकार नहीं कर सकता है कि योग के आविष्कारका या योगको पराकाष्ठा तक पहुँचाने का श्रेय भारतवर्ष और आर्य-जातिको ही है। इसके सबूतमें मुख्यतया तीन बातें पेश की जा सकती हैं—१ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषों की बहुलता; २ साहित्य के आदर्श की एकरूपता; ३ लोकरुचि।

१. पहिले से आज तक भारतवर्ष में आध्यात्मिक व्यक्तियों की संख्या इतनी बड़ी रही है कि उसके सामने अन्य सब देश और जातियों के आध्यात्मिक व्यक्तियों की कुल संख्या इतनी अल्प जान पड़ती है जितनी कि गंगा के सामने एक छोटी सी नदी।

२. तत्त्वज्ञान, आचार, इतिहास, काव्य, नाटक आदि साहित्य का कोई भी भाग लीजिए उसका अन्तिम आदर्श बहुधा मोक्ष ही होगा। प्राकृतिक दृश्य और कर्मकाण्डके वर्णन ने वेद का बहुत बड़ा भाग रोका है सही, पर इसमें संदेह नहीं कि वह वर्णन वेद का शरीर मात्र है। उसकी आत्मा कुछ और ही है—वह है परमात्मचिंतन या आध्यात्मिक भावों का आविष्करण। उपनिषदोंका प्रासाद तो ब्रह्मचिन्तन की बुन्याद पर ही खड़ा है। प्रमाणविषयक, प्रमेयविषयक कोई भी तत्त्वज्ञान संबन्धी सूत्रग्रन्थ हो उसमें भी तत्त्वज्ञान के साध्यरूपसे मोक्षका ही वर्णन मिलेगा[3]। आचारविषयक सूत्र स्मृति आदि सभी ग्रन्थों में आचार पालन का

---

१ 'दर्शनानि षडेवात्र' षड्दर्शन समुच्चय--श्लोक २—इत्यादि।

२ उदाहरणार्थ जरथोस्त, इसु, महम्मद आदि।

३ वैशेषिकदर्शन अ० १ सू० ४—

'धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्'।

मुख्य उद्देश मोक्ष ही माना गया[1] है। रामायण, महाभारत आदि के मुख्य पात्रों की महिमा सिर्फ इसलिए नहीं कि वे एक बड़े राज्यके स्वामी थे पर वह इसलिए है कि अंतमें वे संन्यास या तपस्या के द्वारा मोक्ष के अनुष्ठान में ही लग जाते हैं। रामचन्द्रजी प्रथम ही अवस्थामें वसिष्ठ से योग और मोक्ष की शिक्षा पा लेते[2] हैं। युधिष्ठिर भी युद्ध रस लेकर बाण-शय्यापर सोये हुए भीष्मपितामह से शान्ति का ही पाठ पढ़ते[3] हैं। गीता तो रणांगण में भी मोक्ष के एकतम साधन योग का ही उपदेश देती है। कालिदास जैसे शृंगारप्रिय कहलाने वाले कवि भी अपने मुख्य पात्रोंकी महत्ता मोक्ष की ओर झुकने में ही देखते हैं[4]। जैन आगम और बौद्ध पिटक तो निवृत्ति प्रधान होने से मुख्यतया

न्यायदर्शन अ० १ सू० १—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥

सांख्यदर्शन अ० १—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

वेदान्तदर्शन अ० ४ पा० ४ सू० २२—

अनावृतिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥

जैनदर्शन—तत्त्वार्थ अ० १ सू० १—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥

१ याज्ञवल्क्यस्मृति अ० ३ यतिधर्मनिरूपणम्; मनुस्मृति अ० १२ श्लोक ८३

२ देखो योगवासिष्ठ।

३ देखो महाभारत—शान्तिपर्व।

४ कुमारसंभव—सर्ग ३ तथा ५ तपस्या वर्णनम्।

शाकुन्तल नाटक अंक ४ कण्वोक्ति—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी,
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं,
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम् यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ रघुवंश १. ८

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे,
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये,
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ रघुवंश ३. ७०

मोक्ष के सिवाय अन्य विषयों का वर्णन करने में बहुत ही सकुचाते हैं। शब्द शास्त्र में भी शब्द शुद्धि को तत्त्वज्ञान का द्वार मान कर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना[१] है। विशेष क्या? कामशास्त्र तक का भी आखिरी उद्देश्य मोक्ष है[२]। इस प्रकार भारतवर्षीय साहित्यका कोई भी स्रोत देखिए, उसकी गति समुद्र जैसे अपरिमेय एक चतुर्थ पुरुषार्थ की ओर ही होगी।

३. आध्यात्मिक विषय की चर्चावाला और खासकर योगविषयक कोई भी ग्रन्थ किसी ने भी लिखा कि लोगों ने उसे अपनाया। कंगाल और दीन हीन अवस्था में भी भारतवर्षीय लोगों की उक्त अभिरुचि यह सूचित करती है कि योग का संबन्ध उनके देश व उनकी जाति में पहले से ही चला आता है। इसी कारण से भारतवर्ष की सभ्यता अरण्य में उत्पन्न हुई कही जाती है[३]। इस पैतृक स्वभाव के कारण जब कभी भारतीय लोग तीर्थयात्रा या सफर के लिए पहाड़ों, जंगलों और अन्य तीर्थस्थानों में जाते हैं तब वे डेरा-तंबू डालने से पहले ही योगियों को, उनके मठों को और उनके चिह्नतक को भी ढूँढा करते हैं। योग की श्रद्धा का उद्रेक यहाँ तक देखा जाता है कि किसी नंगे बावेको गांजे की चिलम फूंकते या जटा बढ़ाते देखा कि उसके मुंह के धुंए में या उसकी जटा व भस्मलेप में योग का गन्ध आने लगता है। भारतवर्ष के पहाड़ जंगल और तीर्थस्थान भी बिलकुल योगिशून्य मिलना दुःसंभव है। ऐसी स्थिति अन्य देश और अन्य जाति में दुर्लभ है। इससे यह अनुमान करना सहज है कि योग को आविष्कृत करने का तथा पराकाष्ठा तक पहुँचाने का श्रेय बहुधा भारतवर्ष को और आर्यजाति को ही है। इस बात की पुष्टि मेक्समूलर जैसे विदेशी और भिन्न संस्कारी विद्वान् के कथन से भी अच्छी तरह होती है[४]।

---

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
व्याकरणात्पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥
श्रीहैमशब्दानुशासनम् अ० १ पा० १ सू० २ लघुन्यास।

२ 'स्थाविरे धर्मं मोक्षं च' कामसूत्र अ० २ पृ० ११ बम्बई संस्करण।

३ देखो कविवर टैगोर कृत 'साधना' पृष्ठ ४—
'Thus in India it was in the forests that our civilisation had its birth .....etc.'

४ 'This concentration of thought (एकाग्रता) or one-

आर्यसंस्कृति की जड़ और आर्यजाति का लक्षण—

ऊपर के कथन से आर्यसंस्कृति का मूल आधार क्या है यह स्पष्ट मालूम हो जाता है। शाश्वत जीवन की उपादेयता ही आर्यसंस्कृति की भित्ति है। इसी पर आर्यसंस्कृति के चित्रों का चित्रण किया गया है। वर्णविभाग जैसा सामाजिक संगठन और आश्रमव्यवस्था जैसा वैयक्तिक जीवनविभाग उस चित्रण का अनुपम उदाहरण है। विद्या, रक्षण, विनिमय और सेवा ये चार जो वर्णविभाग के उद्देश्य हैं, उनके प्रवाह गार्हस्थ्य जीवनरूप मैदान में अलग अलग बह कर भी वानप्रस्थ के मुहाने में मिलकर अंत में संन्यासाश्रम के अपरिमेय समुद्र में एकरूप हो जाते हैं। सारांश यह है कि सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी संस्कृतियों का निर्माण, स्थूलजीवन की परिणामविरसता और आध्यात्मिक जीवन की परिणामसुन्दरता के ऊपर ही किया गया है। अतएव जो विदेशी विद्वान् आर्यजाति का लक्षण स्थूलशरीर, उसके डीलडौल, व्यापार–व्यवसाय, भाषा, आदि में देखते हैं वे एकदेशीय मात्र हैं। खेतीबारी, जहाजखेना पशुओं को चराना आदि जो-जो अर्थ आर्य शब्द से निकाले गए है[1] वे आर्यजाति के असाधारण लक्षण नहीं हैं। आर्यजाति का असाधारण लक्षण परलोकमात्र की कल्पना भी नहीं है क्योंकि उसकी दृष्टि में वह लोक भी त्याज्य[2] है। उसका सच्चा और अन्तरंग लक्षण स्थूल जगत् के उस पार वर्तमान परमात्म तत्त्व की एकाग्रबुद्धि से उपासना करना यही[3] है। इस सर्वव्यापक उद्देश्य के कारण आर्यजाति अपने को अन्य सब जातियों से श्रेष्ठ समझती आई है।

ज्ञान और योग का संबंध तथा योग का दरजा—

व्यवहार हो या परमार्थ, किसी भी विषयका ज्ञान तभी परिपक्व समझा जा सकता है जब कि ज्ञानानुसार आचरण किया जाए। असल में यह आचरण

---

pointedness as the Hindus called it, is something to us almost unknown'. इत्यादि देखो पृष्ठ २३–भाग १–सेक्रेड बुक्स ओफ धि ईस्ट, मेक्समूलर–प्रस्तावना।

१ Biographies of Words & the Home of the Aryans by Max Muller page 50.

२ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ गीता अ० ९ श्लोक २१।

३ देखो Apte's Sanskrit to English Dictionary.

ही योग है। अतएव ज्ञान योग का कारण है। परन्तु योग के पूर्ववर्ती जो ज्ञान होता है वह अस्पष्ट होता[1] है। और योग के बाद होनेवाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट तथा परिपक्व होता है। इसीसे यह समझ लेना चाहिए कि स्पष्ट तथा परिपक्व ज्ञान की एकमात्र कुंजी योग ही है। आधिभौतिक या आध्यात्मिक कोई भी योग हो, पर वह जिस देश या जिस जाति में जितने प्रमाण में पुष्ट पाया जाता है उस देश या उस जाति का विकास उतना ही अधिक प्रमाण में होता है। सच्चा ज्ञानी वही है जो योगी[2] है। जिसमें योग या एकाग्रता नहीं होती वह योगवासिष्ठ की परिभाषा में ज्ञानबन्धु[3] है। योग के सिवाय किसी भी मनुष्य की उत्क्रान्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि मानसिक चंचलता के कारण उसकी सब शक्तियां एक ओर न बह कर भिन्न भिन्न विषयों में टकराती हैं, और क्षीण होकर यों ही नष्ट हो जाती हैं। इसलिए क्या किसान, क्या कारीगर, क्या लेखक, क्या शोधक, क्या त्यागी सभी को अपनी नाना शक्तियों को केन्द्रस्थ करने के लिए योग ही परम साधन है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक योग—

योग का कलेवर एकाग्रता है, और उसकी आत्मा अहंत्व ममत्वका त्याग है। जिसमें सिर्फ एकाग्रताका ही संबन्ध हो वह व्यावहारिक योग, और जिसमें एकाग्रता के साथ साथ अहंत्व ममत्वके त्यागका भी संबन्ध हो वह पारमार्थिक योग है। यदि योग का उक्त आत्मा किसी भी प्रवृत्ति में—चाहे वह दुनिया की दृष्टि में बाह्य ही क्यों न समझी जाती हो—वर्तमान हो तो उसे पारमार्थिक योग ही

---

१ इसी अभिप्राय से गीता योगी को ज्ञानी से अधिक कहती है।
गीता अ० ६. श्लोक ४६—
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन!

२ गीता अ० ५. श्लोक ५—
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

३ योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध सर्ग २१—
व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥
आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये।
सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः॥ इत्यादि

समझना चाहिए। इसके विपरीत स्थूल दृष्टिवाले जिस प्रवृत्तिको आध्यात्मिक समझते हों, उसमें भी यदि योग का उक्त आत्मा न हो तो उसे व्यावहारिक योग ही कहना चाहिए। यही बात गीता के साम्यगर्भित कर्मयोग में कही गई[1] है।

योग की दो धारायें—

व्यवहार में किसी भी वस्तु को परिपूर्ण स्वरूप में तैयार करने के लिए पहले दो बातों की आवश्यकता होती है। जिनमें एक ज्ञान और दूसरी क्रिया है। चितेरे को चित्र तैयार करने से पहले उसके स्वरूप का, उसके साधनों का और साधनों के उपयोग का ज्ञान होता है, और फिर वह ज्ञान के अनुसार क्रिया भी करता है तभी वह चित्र तैयार कर पाता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी मोक्ष के जिज्ञासु के लिए आत्माके बन्धमोक्ष, और बन्धमोक्ष के कारणों का तथा उनके परिहार-उपादान का ज्ञान होना जरूरी है। एवं ज्ञानानुसार प्रवृत्ति भी आवश्यक है। इसी से संक्षेप में यह कहा गया है कि 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः।' योग क्रियामार्ग का नाम है। इस मार्ग में प्रवृत्त होने से पहले अधिकारी, आत्मा आदि आध्यात्मिक विषयों का आरंभिक ज्ञान शास्त्र से, सत्संग से, या स्वयं प्रतिभा द्वारा कर लेता है। यह तत्त्वविषयक प्राथमिक ज्ञान प्रवर्तक ज्ञान कहलाता है। प्रवर्तक ज्ञान प्राथमिक दशा का ज्ञान होने से सबको एकाकार और एकसा नहीं हो सकता। इसीसे योगमार्ग में तथा उसके परिणामस्वरूप मोक्ष-स्वरूप में तात्त्विक भिन्नता न होने पर भी योगमार्ग के प्रवर्तक प्राथमिक ज्ञान में कुछ भिन्नता अनिवार्य है। इस प्रवर्तक ज्ञान का मुख्य विषय आत्माका अस्तित्व है। आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व मानने वालोंमें भी मुख्य दो मत हैं—पहला एकात्मवादी और दूसरा नानात्मवादी। नानात्मवादमें भी आत्मा की व्यापकता, अव्यापकता, परिणामिता, अपरिणामिता माननेवाले अनेक पक्ष हैं। पर इन वादों को एक तरफ रख कर मुख्य जो आत्मा की एकता और अनेकताके दो वाद हैं उनके आधार पर योगमार्ग की दो धाराएँ हो गई हैं। अतएव योग-विषयक साहित्य भी दो मार्गों में विभक्त हो जाता है। कुछ उपनिषदें[2], योगवासिष्ठ, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थ एकात्मवाद को लक्ष्य में रख कर रचे

---

१ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। अ० २ श्लोक ४८ ।

२ ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यान-बिन्दु, तेजोबिन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस ।

गए हैं। महाभारतगत योग प्रकरण, योगसूत्र तथा जैन और बौद्ध योगग्रन्थ नानात्मवादके आधार पर रचे गए हैं।

योग और उसके साहित्य के विकास का दिग्दर्शन—

आर्यसाहित्य का भाण्डागार मुख्यतया तीन भागों में विभक्त है—वैदिक, जैन और बौद्ध। वैदिक साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य है। तथापि उसमें आध्यात्मिक भाव अर्थात् परमात्म चिन्तन का अभाव नहीं है[1]। परमात्मचिन्तन का भाग उसमें थोड़ा है सही पर वह इतना अधिक स्पष्ट, सुन्दर और भावपूर्ण है कि उसको ध्यान पूर्वक देखने से यह साफ मालूम पड़ जाता है कि तत्कालीन लोगों की दृष्टि केवल बाह्य न[2]

---

१ देखो 'भागवताचा उपसंहार' पृष्ठ २५२।

२ उदाहरणार्थ कुछ सूक्त दिये जाते हैं—

ऋग्वेद मं० १ सू० १६४-४६—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः॥

भाषांतर—लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि कहते हैं। वह सुंदर पांखवाला दिव्य पक्षी है। एक ही सत् का विद्वान लोग अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। कोई उसे अग्नि यम या वायु भी कहते हैं।

ऋग्वेद मं० ६ सू० ९—

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।

वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये॥६॥

विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने! तमसि तस्थिवांसम्।

वैश्वानरोऽवतूतये नोऽमर्त्योऽवतूतये नः॥ ७॥

भाषांतर—मेरे कान विविध प्रकार की प्रवृत्ति करते हैं। मेरे नेत्र, मेरे हृदय में स्थित ज्योति और मेरा दूरवर्ती मन (भी) विविध प्रवृत्ति कर रहा है। मैं क्या कहूँ और क्या विचार करूँ?।६। अंधकारस्थित हे अग्नि! तुझको अंधकार से भय पानेवाले देव नमस्कार करते हैं। वैश्वानर हमारा रक्षण करे। अमर्त्य हमारा रक्षण करे।७।

पुरुषसूक्त मण्डल १० सू ९० ऋग्वेद—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १॥

थी इसके सिवा उसमें ज्ञान[1], श्रद्धा[2], उदारता[3], ब्रह्मचर्य[4] आदि

पुरुष एवेदं सर्वं यद्‌भूतं यच्च भव्यम्‌ ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।। २ ।।
एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।। ३ ।।

भाषांतर—(जो) हजार सिरवाला, हजार आँखवाला, हजार पाँववाला पुरुष (है) वह भूमिको चारों ओर से घेर कर (फिर भी) दस अंगुल बढ़ कर रहा है । १ । पुरुष ही यह सब कुछ है—जो भूत और जो भावि । (वह) अमृतत्व का ईश अन्न से बढ़ता है । २ । इतनी इसकी महिमा—इससे भी वह पुरुष अधिकतर है । सारे भूत उसके एक पाद मात्र हैं—उसके अमर तीन पाद स्वर्ग में हैं । ३ ।

ऋग्वेद मं० १० सू० १२१—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्‌ ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।१।।
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।२।।

भाषांतर—पहले हिरण्यगर्भ था । वही एक भूत मात्रका पति बना था । उसने पृथ्वी और इस आकाश को धारण किया । किस देवको हम हवि से पूजें ? । १ । जो आत्मा और बलको देने वाला है । जिसका विश्व है । जिसके शासन की देव उपासना करते हैं । अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है । किस देव को हम हवि से पूजें ? । २ ।

ऋग्वेद मं० १०–१२६–६ तथा ७—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ।।
इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ।।

भाषांतर—कौन जानता है—कौन कह सकता है कि यह विविध सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई ? देव इसके विविध सर्जन के बाद (हुए) हैं । कौन जान सकता है कि यह कहां से आई और स्थिति में है या नहीं है ? यह बात परम व्योम में जो इसका अध्यक्ष है वही जाने—कदाचित्‌ वह भी न जानता हो ।

१ ऋग्वेद मं० १० सू० ७१ । २ ऋग्वेद मं० १० सू० १५१ ।
३ ऋग्वेद मं० १० सू० ११७ । ४ ऋग्वेद मं० १० सू० १० ।

आध्यात्मिक उच्च मानसिक भावों के चित्र भी बड़ी खूबीवाले मिलते हैं। इससे यह अनुमान करना सहज है कि उस जमाने के लोगों का झुकाव आध्यात्मिक अवश्य था। यद्यपि ऋग्वेद में योगशब्द अनेक स्थानों[1] में आया है, पर सर्वत्र उसका अर्थ प्रायः जोड़ना इतना ही है, ध्यान या समाधि अर्थ नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि पिछले योग विषयक साहित्य में ध्यान, वैराग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि जो योगप्रक्रिया प्रसिद्ध शब्द पाये जाते हैं वे ऋग्वेद में बिलकुल नहीं हैं। ऐसा होने का कारण जो कुछ हो, पर यह निश्चित है कि तत्कालीन लोगों में ध्यान की भी रुचि थी। ऋग्वेद का ब्रह्मस्फुरण जैसे-जैसे विकसित होता गया और उपनिषद् के जमाने में उसने जैसे ही विस्तृत रूप धारण किया वैसे वैसे ध्यानमार्ग भी अधिक पुष्ट और साङ्गोपाङ्ग होता चला। यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदों में भी समाधि अर्थ में योग, ध्यान आदि शब्द पाये जाते हैं[2]। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो स्पष्ट रूप से योग तथा योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा आदि योगाङ्गों का वर्णन है[3]। मध्यकालीन और अर्वाचीन अनेक उपनिषदें[4] तो सिर्फ योगविषयक ही हैं, जिनमें योगशास्त्र की तरह सांगोपांग योगप्रक्रिया का वर्णन है। अथवा यह कहना चाहिए कि

---

१ मंडल १ सूक्त ३४ मंत्र ६। मं. १० सू. १६६ मं. ५। मं. १ सू. १८ मं. ७। मं. १ सू. ५ मं. ३। मं. २ सू. ८ मं. १। मं. ६ सू. ५८ मं. ३।

२ (क) तैत्तिरिय २-४। कठ २-६-११। श्वेताश्वतर २-११, ६-३। (ख) छान्दोग्य ७-६-१, ७-६-२, ७-७-१, ७-२६-१। श्वेताश्वतर १-१४। कौशीतकि ३-२, ३-३, ३-४, ३६।

३ श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय २—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥
प्राणान्प्रपीड्येह सयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥
समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

इत्यादि.

४ ब्रह्मविद्योपनिषद्, क्षुरिकोपनिषद्, चूलिकोपनिषद्, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु, योगशिखा, योगतत्त्व, हंस। देखो ड्युसेनकृत– 'Philosophy of the Upanishad's.'

ऋग्वेद में जो परमात्मचिन्तन अंकुरायमाण था वही उपनिषदों में पल्लवित पुष्पित होकर नाना शाखा प्रशाखाओं के साथ फल अवस्थाको प्राप्त हुआ। इससे उपनिषदकाल में योग मार्ग का पुष्ट रूपमें पाया जाना स्वाभाविक ही है।

उपनिषदों में जगत, जीव और परमात्मसंबन्धी जो तात्त्विक विचार है, उसको भिन्न-भिन्न ऋषियों ने अपनी दृष्टि से सूत्रों में ग्रथित किया, और इस तरह उस विचार को दर्शन का रूप मिला। सभी दर्शनकारोंका आखिरी उद्देश्य मोक्ष ही[1] रहा है, इससे उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से तत्त्व विचार करने के बाद भी संसार से छुट कर मोक्ष पाने के साधनों का निर्देश किया है। तत्त्वविचारणामें मतभेद हो सकता है, पर आचरण यानी चारित्र एक ऐसी वस्तु है जिसमें सभी विचारशील एकमत हो जाते हैं। बिना चारित्रका तत्त्वज्ञान कोरी बातें हैं। चारित्र यह योग का किंवा योगांगों का संक्षिप्त नाम है। अतएव सभी दर्शनकारों ने अपने अपने सूत्र ग्रन्थों में साधनरूपसे योगकी उपयोगिता अवश्य बतलाई है। यहाँ तक कि—न्याय दर्शन जिसमें प्रमाण पद्धतिका ही विचार मुख्य है उसमें भी महर्षि गौतम ने योग को स्थान दिया है[2]। महर्षि कणाद ने तो अपने वैशेषिक दर्शन में यम, नियम, शौच आदि योगांगों का भी महत्त्व गाया है[3]। सांख्यसूत्र में योग प्रक्रिया के वर्णन वाले कई

---

१ प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। गौ० सू० १-१-१। धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्॥ वै० सू० १–१–४॥ अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः सां० द० १–१। पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। यो० सू० ४–३३॥ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ४–४–२२ ब्र० सू०।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थ १–१ जैन० द०। बौद्ध दर्शन का तीसरा निरोध नामक आर्यसत्य ही मोक्ष है।

२ समाधिविशेषाभ्यासात् ४–२–३८। अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ४–२–४२। तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ४–२–४६॥

३. अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय। ६–२–२। अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते, नियमाभावाद्, विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य। ६–२–८।

सूत्र हैं[१]। ब्रह्मसूत्र में महर्षि बादरायण ने तो तीसरे अध्यायका नाम ही साधन अध्याय रक्खा है, और उसमें आसन ध्यान आदि योगांगों का वर्णन किया है[२]। योगदर्शन तो मुख्यतया योगविचार का ही ग्रन्थ ठहरा, अतएव उसमें सांगोपांग योगप्रक्रिया की मीमांसा का पाया जाना सहज ही है। योग के स्वरूप के संबन्ध में मतभेद न होने के कारण और उसके प्रतिपादन का उत्तरदायित्व खासकर योगदर्शन के ऊपर होने के कारण अन्य दर्शनकारों ने अपने अपने सूत्र ग्रन्थों में थोड़ा सा योग विचार करके विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासुओं को योगदर्शन देखने की सूचना दे दी[३] है। पूर्व मीमांसा में महर्षि जैमिनि ने योग का निर्देश तक नहीं किया है सो ठीक ही है, क्योंकि उसमें सकाम कर्मकाण्ड अर्थात् धूम-मार्ग की ही मीमांसा है। कर्मकाण्ड की पहुँच स्वर्ग तक ही है, मोक्ष उसका साध्य नहीं। और योग का उपयोग तो मोक्ष के लिये ही होता है।

जो योग उपनिषदों में सूचित और सूत्रों में सूत्रित है, उसी की महिमा गीता में अनेक रूप से गाई गई है। उसमें योग की तान कभी कर्म के साथ, कभी भक्ति के साथ और कभी ज्ञान के साथ सुनाई देती है[४]। उसके छठे और तेरहवें अध्याय में तो योग के मौलिक सब सिद्धान्त और योगकी सारी प्रक्रिया आ जाती है[५]। कृष्ण के द्वारा अर्जुन को गीता के रूप में योगशिक्षा

---

१ रागोपहतिर्ध्यानम् ३–३०। वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ३–३१। धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ३–३२। निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ३–३३। स्थिरसुखमासनम् ३–३४।

२ आसीनः संभवात् ४–१–७। ध्यानाच्च ४–१–८। अचलत्वं चापेक्ष्य ४–१–९। स्मरन्ति च ४–१–१०। यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ४–१–११।

३ योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। ४–२–४६ न्यायदर्शन भाष्य।

४ गीता के अठारह अध्याय में पहले छह अध्याय कर्मयोगप्रधान, बीच के छह अध्याय भक्तियोगप्रधान और अंतिम छह अध्याय ज्ञानयोग प्रधान हैं।

५ योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

दिला कर ही महाभारत[1] सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसके अथक स्वर को देखते हुए कहना पड़ता है कि ऐसा होना संभव भी न था। अतएव शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व में योगविषयक अनेक सर्ग वर्तमान हैं, जिनमें योग की अथेति प्रक्रिया का वर्णन पुनरुक्ति की परवा न करके किया गया है। उसमें बाणशय्या पर लेटे हुए भीष्म से बार बार पूछने में न तो युधिष्ठिर को ही कंटाला आता है, और न उस सुपात्र धार्मिक राजा को शिक्षा देने में भीष्म को ही थकावट मालूम होती है।

योगवासिष्ठ का विस्तृत महल तो योग की भूमिका पर खड़ा किया गया है। उसके छह[2] प्रकरण मानों उसके सुदीर्घ कमरे हैं, जिनमें योग से संबन्ध रखनेवाले सभी विषय रोचकतापूर्वक वर्णन किये गए हैं। योग की जो-जो बातें योगदर्शन में संक्षेप में कही गई हैं, उन्हीं का विविधरूप में विस्तार करके ग्रन्थकार ने योगवासिष्ठका कलेवर बहुत बढ़ा दिया है, जिससे यही कहना पड़ता है कि योगवासिष्ठ योग का ग्रन्थराज है।

पुराण में सिर्फ पुराणशिरोमणि भागवतको ही देखिए, उसमें योग का सुमधुर पद्यों में पूरा वर्णन[3] है।

योगविषयक विविध साहित्य से लोगों की रुचि इतनी परिमार्जित हो गई थी कि तान्त्रिक संप्रदायवालों ने भी तन्त्रग्रन्थों में योग को जगह दी, यहाँ तक कि योग तन्त्र का एक खासा अंग बन गया। अनेक तान्त्रिक ग्रन्थों में योग की चर्चा है, पर उन सब में महानिर्वाणतन्त्र, षट्चक्रनिरूपण आदि मुख्य हैं[4]।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥ अ० ६

१ शान्तिपर्व १६३, २१७, २४६, २५४ इत्यादि। अनुशासनपर्व ३६, २४६ इत्यादि।

२ वैराग्य, मुमुक्षुव्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण।

३ स्कन्ध ३ अध्याय २८। स्कन्ध ११. अ० १५, १६, २० आदि।

४ देखो महानिर्वाणतन्त्र ३ अध्याय। देखो Tantrik Texts में छपा हुआ षट्चक्रनिरूपण—

ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः।
शिवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिं परे विदुः ॥ पृष्ठ ८२

जब नदी में बाढ़ आती है तब वह चारों ओर से बहने लगती है। योग का यही हाल हुआ, और वह आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि बाह्य अंगों में प्रवाहित होने लगा। बाह्य अंगों का भेद प्रभेद पूर्वक इतना अधिक वर्णन किया गया और उस पर इतना अधिक जोर दिया गया कि जिससे वह योग की एक शाखा ही अलग बन गई, जो हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है।

हठयोग के अनेक ग्रन्थों में हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, गोरक्षपद्धति, गोरक्षशतक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुंभक, रेचक पूरक आदि बाह्य योगांगों का पेट भर भर के वर्णन किया है, और घेरण्डने तो चौरासी आसनों को चौरासी लाख तक पहुँचा दिया है।

उक्त हठयोगप्रधान ग्रन्थों में हठयोगप्रदीपिका ही मुख्य है, क्योंकि उसी का विषय अन्य ग्रन्थों में विस्तार रूप से वर्णन किया गया है। योगविषयक साहित्य के जिज्ञासुओं को योगतारावली, बिन्दुयोग, योगबीज और योगकल्पद्रुम का नाम भी भूलना न चाहिए। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में मैथिल पण्डित भवदेवद्वारा रचित योगनिबन्ध नामक हस्तलिखित ग्रन्थ भी देखने में आया है, जिसमें विष्णुपुराण आदि अनेक ग्रन्थों के हवाले देकर योगसंबन्धी प्रत्येक विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है।

संस्कृत भाषा में योग का वर्णन होने से सर्व साधारण की जिज्ञासा को शान्त न देख कर लोकभाषा के योगियों ने भी अपनी अपनी जबान में योग का आलाप करना शुरू कर दिया।

महाराष्ट्रीय भाषा में गीता की ज्ञानदेवकृत ज्ञानेश्वरी टीका प्रसिद्ध है, जिसके

समत्वभावनां नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समाधिमाहुर्मुनयः प्रोक्तमष्टाङ्गलक्षणम् ॥ पृ० ६१
यदत्र नात्र निर्भासः स्तिमितोदधिवत् स्मृतम्।
स्वरूपशून्यं यद् ध्यानं तत्समाधिर्विधीयते ॥ पृ० ६०
त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं।
तदन्तः शून्यं तत् सकलसुरगणैः सेवितं चातिगुप्तम् ॥ पृ० ६०
'आहारनिर्हारविहारयोगाः सुसंवृता धर्मविदा तु कार्याः'
पृ० ६१
ध्यै चिन्तायाम् स्मृतो धातुश्चिन्ता तत्त्वेन निश्चला।
एतद् ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा ॥ पृ० १३४

छठे अध्याय का भाग बड़ा ही हृदयहारी है। निःसन्देह ज्ञानेश्वरी द्वारा ज्ञानदेव ने अपने अनुभव और वाणी को अवन्ध्य कर दिया है। सुहीरोबा अंबिये रचित नाथसम्प्रदायानुसारी सिद्धान्तसंहिता भी योग के जिज्ञासुओं के लिए देखने की वस्तु है।

कबीर का बीजक ग्रन्थ योगसंबन्धी भाषासाहित्यका एक सुन्दर मणका है।

अन्य योगी सन्तों ने भी भाषा में अपने अपने योगानुभव की प्रसादी लोगों को चखाई है, जिससे जनता का बहुत बड़ा भाग योग के नाम मात्र से मुग्ध बन जाता है।

अतएव हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रसिद्ध प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में पातञ्जल योगशास्त्र का अनुवाद तथा विवेचन आदि अनेक छोटे बड़े ग्रन्थ बन गये हैं। अंग्रेजी आदि विदेशी भाषामें भी योगशास्त्र पर अनुवाद आदि बहुत कुछ बन गया[1] है, जिसमें वूडका भाष्यटीका सहित मूल पातञ्जल योगशास्त्र का अनुवाद ही विशिष्ट है।

जैन सम्प्रदाय निवृत्तिप्रधान है। उसके प्रवर्तक भगवान् महावीर ने बारह साल से अधिक समय तक मौन धारण करके सिर्फ आत्मचिन्तन द्वारा योगाभ्यास में ही मुख्यतया जीवन बिताया। उनके हजारों[2] शिष्य तो ऐसे थे जिन्होंने घरबार छोड़ कर योगाभ्यास द्वारा साधु जीवन बिताना ही पसंद किया था।

जैन सम्प्रदाय के मौलिक ग्रन्थ आगम कहलाते हैं। उनमें साधुचर्या का जो वर्णन है, उसको देखने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पांच यम; तप, स्वाध्याय आदि नियम; इन्द्रियजयरूप प्रत्याहार इत्यादि जो योग के खास अङ्ग हैं, उन्हींको साधु जीवन का एक मात्र प्राण माना[3] है।

जैन शास्त्रमें योग पर यहां तक भार दिया गया है कि पहले तो वह मुमुक्षुओं को आत्म चिन्तन के सिवाय दूसरे कार्यों में प्रवृत्ति करने की संमति ही नहीं देता, और अनिवार्य रूपसे प्रवृत्ति करनी आवश्यक हो तो वह निवृत्तिमय प्रवृत्ति करने को कहता है। इसी निवृत्तिमय प्रवृत्ति का नाम उसमें अष्टप्रवचन-

---

१ प्रो० राजेन्द्रलाल मित्र, स्वामी विवेकानन्द, श्रीयुत् रामप्रसाद आदि कृत।

२ 'चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसाहिं अज्जिआसाहस्सीहिं' उववाइसूत्र।

३ देखो आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, मूलाचार, आदि।

माता[1] है। साधु जीवन की दैनिक और रात्रिक चर्या में तीसरे प्रहर के सिवाय अन्य तीनों प्रहरों में मुख्यतया स्वाध्याय और ध्यान करने को ही कहा गया है[2]।

यह बात भूलनी न चाहिए कि जैन आगमों में योगअर्थ में प्रधानतया ध्यान शब्द प्रयुक्त है। ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदिका विस्तृत वर्णन अनेक जैन आगमों में[3] है। आगम के बाद निर्युक्ति का[4] नम्बर है। उसमें भी आगमगत ध्यान का ही स्पष्टीकरण है। वाचक उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ सूत्र में भी ध्यान का वर्णन[5] है, पर उसमें आगम और निर्युक्ति की अपेक्षा कोई अधिक बात नहीं है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का ध्यानशतक[6] आगमादि उक्त ग्रन्थों में वर्णित ध्यान का स्पष्टीकरण मात्र है, यहां तक के योगविषक जैन विचारो में आगमोक्त वर्णन की शैली ही प्रधान रही है। पर इस शैली को श्रीमान् हरिभद्र सूरि ने एकदम बदलकर तत्कालीन परिस्थिति व लोकरुचि के अनुसार नवीन परिभाषा देकर और वर्णन शैली अपूर्वसी बनाकर जैन योगसाहित्य में नया युग उपस्थित किया। इसके सबूत में उनके बनाये हुए योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुचय, योगविंशिका, योगशतक[7] और षोडशक ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में उन्होंने सिर्फ जैन-मार्गानुसार योग का वर्णन

---

१ देखो उत्तराध्ययन अ० २४।

२ दिवसस्स चउरो भाए, कुज्जा भिक्खु विअक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥ ११ ॥
पढमं पोरिसि सज्झायं, बिइअं झाणं झिआयइ।
तइआए गोअरकालं, पुणो चउत्थिए सज्झायं ॥ १२ ॥
रत्तिं पि चउरो भाए भिक्खु कुज्जा विअक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा राई भागेसु चउसु वि ॥ १७ ॥
पढमं पोरिसि सज्झायं बिइअं झाणं झिआयइ।
तइआए निद्दमोक्खं तु चउत्थिए भुज्जो वि सज्झायं ॥ १८ ॥
उत्तराध्ययन अ० २६।

३ देखो स्थानाङ्ग अ० ४ उद्देश्य १। समवायाङ्ग स० ४। भगवती शतक-२५, उद्देश्य ७। उत्तराध्ययन अ० ३०, श्लोक ३५।

४ देखो आवश्यकनिर्युक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन गा० १४६२-१४८६।

५ देखो अ० ६ सू० २७ से आगे।

६ देखो हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति प्रतिक्रमणाध्ययन पृ० ५८१।

७ यह ग्रन्थ जैन ग्रन्थावलि में उल्लिखित है पृ० ११३।

करके ही संतोष नहीं माना है, किन्तु पातञ्जल योगसूत्रमें वर्णित योग प्रक्रिया और उसकी खास परिभाषाओं के साथ जैन संकेतों का मिलान भी किया है[1]। योगदृष्टिसमुच्चय में योग की आठ दृष्टियों का जो वर्णन है[2], वह सारे योग साहित्य में एक नवीन दिशा है।

इन आठ दृष्टियों का स्वरूप, दृष्टान्त आदि विषय, योग जिज्ञासुओं के लिये देखने योग्य है। इसी विषय पर यशोविजयजीने २१, २२, २३, २४ ये चार द्वात्रिंशिकायें लिखी हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत न जानने वालोंके हितार्थ आठ दृष्टियों की सज्झाय भी गुजराती भाषा में बनाई है।

श्रीमान् हरिभद्रसूरि के योगविषयक ग्रन्थ उनकी योगाभिरुचि और योग विषयक व्यापक बुद्धि के खासे नमूने हैं।

इसके बाद श्रीमान् हेमचन्द्र सूरिकृत योग शास्त्र का नंबर आता है। उसमें पातञ्जल योगशास्त्र निर्दिष्ट आठ योगांगों के क्रम से साधु और गृहस्थ जीवन की आचार-प्रक्रिया का जैन शैली के अनुसार वर्णन है, जिसमें आसन तथा प्राणायाम से संबन्ध रखने वाली अनेक बातों का विस्तृत स्वरूप है; जिसको देखने से यह जान पड़ता है कि तत्कालीन लोगों में हठयोग-प्रक्रिया का कितना अधिक प्रचार था। हेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र में हरिभद्र सूरि के योगविषयक ग्रन्थों की नवीन परिभाषा और रोचक शैली का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, पर शुभचन्द्राचार्य के ज्ञानार्णवगत पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का विस्तृत व स्पष्ट वर्णन किया[3] है। अन्त में उन्होंने स्वानुभव से विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन ऐसे मनके चार भेदों का वर्णन करके नवीनता लाने का भी खास कौशल दिखाया[4] है। निस्सन्देह उनका योग शास्त्र जैन तत्वज्ञान और जैन आचार का एक पाठ्य ग्रन्थ है।

---

१ समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥४१८॥
असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ॥४२०॥ इत्यादि।
योगबिन्दु।

२ मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥ १३ ॥

३ देखो प्रकाश ७-१० तक।

४ १२ वाँ प्रकाश श्लोक २-४।

इसके बाद उपाध्याय-श्रीयशोविजयकृत योग ग्रन्थों पर नजर ठहरती है। उपाध्यायजी का शास्त्र ज्ञान, तर्क कौशल और योगानुभव बहुत गम्भीर था। इससे उन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्ममोपनिषद् तथा सटीक बत्तीस बत्तीसीयाँ योग संबन्धी विषयों पर लिखी हैं, जिनमें जैन मन्तव्यों की सूक्ष्म और रोचक मीमांसा करने के उपरान्त अन्य दर्शन और जैन दर्शन का मिलान भी किया[1] है। इसके सिवा उन्होंने हरिभद्र सूरिकृत योग विंशिका तथा षोडशक पर टीका लिख कर प्राचीन गूढ तत्त्वोंका स्पष्ट उद्घाटन भी किया है। इतना ही करके वे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने महर्षि पतञ्जलिकृत योग सूत्रों के उपर एक छोटी सी वृत्ति जैन प्रक्रिया के अनुसार लिखी है, इसलिये उसमें यथासंभव योग दर्शन की भित्तिस्वरूप सांख्य-प्रक्रिया का जैन प्रक्रिया के साथ मिलान भी किया है, और अनेक स्थलों में उसका सयुक्तिक प्रतिवाद भी किया है। उपाध्यायजी ने अपनी विवेचना में जो मध्यस्थता, गुणग्राहकता, सूक्ष्म समन्वय शक्ति और स्पष्टभाषिता दिखाई[2] है ऐसी दूसरे आचार्यों में बहुत कम नजर आती[3] है।

एक योगसार नामक ग्रन्थ भी श्वेताम्बर साहित्य में है। कर्ताका उल्लेख उसमें नही है, पर उसके दृष्टान्त आदि वर्णन से जान पड़ता है कि हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र के आधार पर किसी श्वेताम्बर आचार्य के द्वारा वह रचा गया है। दिगम्बर साहित्य में ज्ञानार्णव तो प्रसिद्ध ही है, पर ध्यानसार

---

१ अध्यात्मसार के योगाधिकार और ध्यानाधिकार में प्रधानतया भगवद्-गीता तथा पातञ्जल सूत्र का उपयोग करके अनेक जैनप्रक्रियाप्रसिद्ध ध्यान विषयों का उक्त दोनों ग्रन्थों के साथ समन्वय किया है, जो बहुत ध्यान पूर्वक देखने योग्य है। अध्यात्मोपनिषद् के शास्त्र, ज्ञान, क्रिया और साम्य इन चारों योगों में प्रधानतया योगवासिष्ठ तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के वाक्यों का अवतरण दे कर तात्त्विक ऐक्य बतलाया है। योगावतार बत्तीसी में खास कर पातञ्जल योग के पदार्थों का जैन प्रक्रिया के अनुसार स्पष्टीकरण किया है।

२ इसके लिये उनका ज्ञानसार जो उन्होंने अंतिम जीवन में लिखा मालूम होता है वह ध्यान पूर्वक देखना चाहिये। शास्त्रवार्तासमुच्चय की उनकी टीका (पृ० १०) भी देखनी आवश्यक है।

३ इसके लिये उनके शास्त्रवार्तासमुच्चयादि ग्रन्थ ध्यानपूर्वक देखने चाहिये, और खास कर उनकी पातञ्जल सूत्रवृत्ति मनन पूर्वक देखने से हमारा कथन अक्षरशः विश्वसनीय मालूम पड़ेगा।

और योगप्रदीप ये दो हस्तलिखित ग्रन्थ भी हमारे देखने में आये हैं, जो पद्यबन्ध और प्रमाण में छोटे हैं। इसके सिवाय श्वेताम्बर संप्रदाय के योगविषयक ग्रन्थों का कुछ विशेष परिचय जैन ग्रन्थावलि पृ० १०६ से भी मिल सकता है। बस यहाँ तक ही में जैन योगसाहित्य समाप्त हो जाता है।

बौद्ध सम्प्रदाय भी जैन सम्प्रदाय की तरह निवृत्ति प्रधान है। भगवान् गौतम बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त होने से पहले छह वर्ष तक मुख्यतया ध्यानद्वारा योगाभ्यास ही किया। उनके हजारों शिष्य भी उसी मार्ग पर चले। मौलिक बौद्धग्रन्थों में जैन आगमों के समान योग अर्थ में बहुधा ध्यान शब्द ही मिलता है, और उसमें ध्यान के चार भेद नजर आते हैं। उक्त चार भेद के नाम तथा भाव प्रायः वही हैं, जो जैनदर्शन तथा योगदर्शन की प्रक्रिया में हैं[1]। बौद्ध सम्प्रदाय में समाधिराज नामक ग्रन्थ भी है। वैदिक जैन और बौद्ध-संप्रदाय के योग विषयक साहित्य का हमने बहुत संक्षेप में अत्यावश्यक परिचय

---

१. सो खो अहं ब्राह्मण विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं संपसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; पीतिया च विरागा उपेक्खको च विहासिं; सतो च संपजानो सुखं च कायेन पटिसंवेदेसिं, यं तं अरिया आचिक्खन्ति–उपेक्खको सतिमा सुखविहारी ति ततियज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थंगमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासति पारिसुद्धिं चतुत्थज्झानं उपसंपज्ज विहासिं–मज्झिमनिकाये भयभेरवसुत्तं।

इन्हीं चार ध्यानों का वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त में है। देखो प्रो. सि. वि. राजवाडे कृत मराठी अनुवाद पृ. ७२।

वही विचार प्रो. धर्मानंद कौशाम्बीलिखित बुद्धलीलासार संग्रह में है। देखो पृ. १२८।

जैनसूत्र में शुक्लध्यान के भेदों का विचार है, उसमें उक्त सवितर्क आदि चार ध्यान जैसा ही वर्णन है। देखो तत्त्वार्थ अ० ६ सू० ४१–४४।

योगशास्त्र में संप्रज्ञात समाधि तथा समापत्तिओं का वर्णन है। उसमें भी उक्त सवितर्क निर्वितर्क आदि ध्यान जैसा ही विचार है। पा. सू. पा. १–१७, ४२, ४३, ४४।

कराया है, पर इसके विशेष परिचय के लिये— कॅट्लोगस् कॅट्लॉगॉरम्[1], वो० १ पृ० ४७७ से ४८१ पर जो योगविषयक ग्रन्थों की नामावलि है वह देखने योग्य है।

यहां एक बात खास ध्यान देने के योग्य है, वह यह कि यद्यपि वैदिक साहित्य में अनेक जगह हठयोग की प्रथा को अग्राह्य कहा[2] है, तथापि उसमें हठयोग की प्रधानतावाले अनेक ग्रन्थों का और मार्गों का निर्माण हुआ है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्य में हठयोगने स्थान नहीं पाया है, इतना ही नहीं, बल्कि उसमें हठयोग का स्पष्ट निषेध भी किया[3] है।

योगशास्त्र—

ऊपर के वर्णन से मालूम हो जाता है कि—योगप्रक्रिया का वर्णन करनेवाले छोटे बड़े अनेक ग्रन्थ हैं। इन सब उपलब्ध ग्रन्थों में महर्षि पतञ्जलिकृत

---

१ थिओडोरे आउफ्रटकृत लिप्झिग में प्रकाशित १८९१ की आवृत्ति।

२ उदाहरणार्थः –

सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥३७॥
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम्।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥३८॥
चित्तं चित्तस्य वाऽदूरं संस्थितं स्वशरीरकम्।
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान्हतान् विदुः ॥३९॥

योगवासिष्ठ–उपशम प्र० सर्ग ९२.

३ इसके उदाहरण में बौद्ध धर्म में बुद्ध भगवान् ने तो शुरू में कष्टप्रधान तपस्या का आरंभ करके अंत में मध्यमप्रतिपदा मार्ग का स्वीकार किया है— देखो बुद्धलीलाहारसंग्रह।

जैनशास्त्र में श्रीभद्रबाहुस्वामिने आवश्यकनिर्युक्ति में 'ऊसासं ण णिरुंभई' १५२० इत्यादि उक्ति से हठयोगका ही निराकरण किया है। श्रीहेमचन्द्राचार्य ने भी अपने योगशास्त्र में 'तन्नाप्नोति मनःस्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितं। प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यात् चित्तविप्लवः ॥' इत्यादि उक्ति से उसी बात को दोहराया है। श्रीयशोविजयजी ने भी पातञ्जलयोगसूत्र की अपनी वृत्ति में (१–३४) प्राणायाम को योग का अनिश्चित साधन कह कर हठयोग का ही निरसन किया है।

योगशास्त्र का आसन ऊंचा है। इसके तीन कारण हैं–१ ग्रन्थ की संक्षिप्तता तथा सरलता, २ विषय की स्पष्टता तथा पूर्णता, ३ मध्यस्थभाव तथा अनुभव-सिद्धता। यही करण है कि योगदर्शन यह नाम सुनते ही सहसा पातञ्जल योग-सूत्र का स्मरण हो आता है। श्रीशंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में योग-दर्शन का प्रतिवाद करते हुए जो 'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः' ऐसा उल्लेख किया[1] है, उससे इस बात में कोई संदेह नहीं रहता कि उनके सामने पातञ्जल योगशास्त्र से भिन्न दूसरा कोई योगशास्त्र रहा है क्यों कि पातञ्जल योगशास्त्र का आरम्भ 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्र से होता है, और उक्त भाष्योल्लिखित वाक्य में भी ग्रन्थारम्भसूचक अथशब्द है, यद्यपि उक्त भाष्य में अन्यत्र और भी योगसम्बन्धी दो[2] उल्लेख हैं, जिनमें एक तो पातञ्जल योगशास्त्र का संपूर्ण सूत्र ही है,[3] और दूसरा उसका अविकल सूत्र नहीं, किन्तु उसके सूत्र से मिलता जुलता[4] है। तथापि 'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः' इस उल्लेख की शब्द-रचना और स्वतन्त्रता की ओर ध्यान देनेसे यही कहना पड़ता है कि पिछले दो उल्लेख भी उसी भिन्न योगशास्त्र के होने चाहिये, जिसका कि अंश 'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः' यह वाक्य माना जाय। अस्तु, जो कुछ हो, आज हमारे सामने तो पतञ्जलि का ही योगशास्त्र उपस्थित है, और वह सर्वप्रिय है। इसलिये बहुत संक्षेप में भी उसका बाह्य तथा आन्तरिक परिचय कराना अनुपयुक्त न होगा।

इस योगशास्त्र के चार पाद और कुल सूत्र १९५ हैं। पहले पादका नाम समाधि, दूसरे का साधन, तीसरे का विभूति, और चौथे का कैवल्यपाद है। प्रथमपाद में मुख्यतया योग का स्वरूप, उसके उपाय और चित्तस्थिरता के

---

१ ब्रह्मसूत्र २–१–३ भाष्यगत।

२ "स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' ब्रह्मसूत्र १-३-३३ भाष्यगत। योगशास्त्र-प्रसिद्धाः मनसः पञ्च वृत्तयः परिगृह्यन्ते, 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः नाम' २–४–१२ भाष्यगत।

पं वासुदेव शास्त्री अभ्यंकरने अपने ब्रह्मसूत्र के मराठी अनुवाद के परिशिष्ट में उक्त दो उल्लेखों का योगसूत्ररूप से निर्देश किया है, पर 'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः' इस उल्लेख के संबंध में कहीं भी ऊहापोह नहीं किया है।

३ मिलाओ पा. २ सू. ४।

४ मिलाओ पा. १ सू. ६।

उपायों का वर्णन है। दूसरे पाद में क्रियायोग, आठ योगाङ्ग, उनके फल तथा चतुर्व्यूह[१] का मुख्य वर्णन है।

तीसरे पादमें योगजन्य विभूतियों के वर्णन की प्रधानता है। और चौथे पाद में परिणामवाद के स्थापन, विज्ञानवाद के निराकरण तथा कैवल्य अवस्था के स्वरूप का वर्णन मुख्य है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगशास्त्र की नींव सांख्यसिद्धान्त पर डाली है। इसलिये उसके प्रत्येक पाद के अन्त में 'योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने' इत्यादि उल्लेख मिलता है। 'सांख्यप्रवचने' इस विशेषण से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि सांख्य के सिवाय अन्यदर्शन के सिद्धांतों के आधार पर भी रचे हुए योगशास्त्र उस समय मौजुद थे या रचे जाते थे। इस योगशास्त्र के ऊपर अनेक छोटे बड़े टीका ग्रन्थ[२] हैं, पर व्यासकृत भाष्य और वाचस्पतिकृत टीका से उसकी उपादेयता बहुत बढ़ गई है।

सब दर्शनों के अन्तिम साध्य के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो उसके दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम पक्ष का अन्तिम साध्य शाश्वत सुख नहीं है। उसका मानना है कि मुक्ति में शाश्वत सुख नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, उसमें जो कुछ है वह दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही। दूसरा पक्ष शाश्वतिक सुखलाभको ही मोक्ष कहता है। ऐसा मोक्ष हो जानेपर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति आप ही आप हो जाती है। वैशेषिक, नैयायिक[३], सांख्य[४], योग[५] और बौद्धदर्शन[६] प्रथम पक्ष के अनुगामी हैं। वेदान्त[७] और जैनदर्शन[८], दूसरे पक्षके अनुगामी हैं।

---

१ हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय ये चतुर्व्यूह कहलाते हैं। इनका वर्णन सूत्र १६-२६ तक में है।

२ व्यासकृत भाष्य, वाचस्पतिकृत तत्त्ववैशारदी टीका, भोजदेवकृत राजमार्तंड, नागोजीभट्ट कृत वृत्ति, विज्ञानभिक्षु कृत वार्तिक, योगचन्द्रिका, मणिप्रभा, बालरामोदासीन कृत टिप्पण आदि।

३ 'तदत्यन्तविमोक्षोपवर्गः' न्यायदर्शन १-१-२२।

४ ईश्वरकृष्णकारिका १।

५ उसमें हानतत्त्व मान कर दुःख के आत्यन्तिक नाशको ही हान कहा है।

६ बुद्ध भगवान् के तीसरे निरोध नामक आर्यसत्य का मतलब दुःख नाश से है।

७ वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को सच्चिदानंदस्वरूप माना है, इसीलिये उसमें नित्यसुख की अभिव्यक्ति का नाम ही मोक्ष है।

८ जैन दर्शनमें भी आत्मा को सुखस्वरूप माना है, इसलिये मोक्ष में स्वाभाविक सुख की अभिव्यक्ति ही उस दर्शन को मान्य है।

योगशास्त्र का विषय-विभाग उसके अन्तिम साध्यानुसार ही है। उसमें गौण मुख्य रूप से अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, पर उन सबका संक्षेप में वर्गीकरण किया जाय तो उसके चार विभाग हो जाते हैं। १ हेय २ हेय-हेतु ३ हान ४ हानोपाय। यह वर्गीकरण स्वयं सूत्रकार ने किया है। और इसीसे भाष्यकार ने योगशास्त्र को चारव्यूहात्मक कहा[1] है। सांख्यसूत्र में भी यही वर्गीकरण है। बुद्ध भगवान् ने इसी चतुर्व्यूह को आर्यसत्य नाम से प्रसिद्ध किया है। और योगशास्त्र के आठ योगाङ्गों की तरह उन्होंने चौथे आर्य-सत्य के साधनरूप से आर्य अष्टाङ्गमार्ग[2] का उपदेश किया है।

दुःख हेय[3] है, अविद्या हेय[4] का कारण है, दुःख का आत्यन्तिक नाश हान[5] है, और विवेकख्याति हान का उपाय[6] है।

उक्त वर्गीकरण की अपेक्षा दूसरी रीति से भी योग शास्त्र का विषय-विभाग किया जा सकता है। जिससे कि उसके मन्तव्यों का ज्ञान विशेष स्पष्ट हो। यह विभाग इस प्रकार है–१ ज्ञाता २ ईश्वर ३ जगत् ४ संसार-मोक्षका स्वरूप, और उसके कारण।

१ ज्ञाता दुःख से छुटकारा पानेवाले द्रष्टा अर्थात् चेतन का नाम है। योग:शास्त्र में सांख्य[7] वैशेषिक[8], नैयायिक, बौद्ध, जैन[9] और पूर्णप्रज्ञ

---

१ यथा चिकित्साशास्त्रं च चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। पा० २ सू० १५ भाष्य।

२ सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्धलीलासार संग्रह, पृ० १५०।

३ 'दुःखं हेयमनागतम्' २–१६ यो. सू.।

४ 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः २–१७। 'तस्य हेतुरविद्या' २–२४ यो. सू.।

५ 'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्' २–२६ यो. सू.।

६ 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' २–२६. यो. सू.।

७ 'पुरुषबहुत्वं सिद्धं' ईश्वरकृष्ण कारिका १८।

८ 'व्यवस्थातो नाना'–३-२-२० वैशेषिक दर्शन।

९ 'पुद्गलजीवास्त्वनेकद्रव्याणि''–५-५ तत्त्वार्थ सूत्र–भाष्य।

(मध्व[१]) दर्शन के समान द्वैतवाद अर्थात् अनेक चेतन माने गये[२] हैं।

योग शास्त्र चेतन को जैन दर्शन की तरह[३] देह प्रमाण अर्थात् मध्यम-परिमाण वाला नहीं मानता, और मध्वसम्प्रदायकी तरह अणु प्रमाण भी नहीं मानता[४], किन्तु सांख्य[५], वैशेषिक[६], नैयायिक और शांकर वेदान्तकी तरह वह उसको व्यापक मानता है[८]।

इसी प्रकार वह चेतन को जैन दर्शनकी तरह[९] परिणामी नित्य नहीं मानता, और न बौद्ध दर्शन की तरह उसको क्षणिक-अनित्य ही मानता है, किन्तु सांख्य आदि उक्त शेष दर्शनों की तरह[१०] वह उसे कूटस्थ-नित्य मानता[११] है।

---

१ जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्॥
सर्वदर्शन संग्रह पूर्णप्रज्ञ दर्शन॥

२ 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्' २-२२ यो सू।

३ 'असंख्येयभागादिषु जीवानाम्'। १५। 'प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्' १६। तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५।

४ देखो 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्'। ब्रह्मसूत्र २-३-१८ पूर्णप्रज्ञ भाष्य। तथा मिलान करो अभ्यंकर शास्त्री कृत मराठी शांकरभाष्य अनुवाद भा० ४ पृ० १५३ टिप्पण ४६।

५ 'निष्क्रियस्य तदसम्भवात्' सां० सू० १-४६ निष्क्रियस्य-विभोः पुरुषस्य गत्यसम्भवात्-भाष्य विज्ञानभिक्षु।

६ 'विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा।' ७-१-२२- वै द।

७ देखो ब्र० सू २-३-२६ भाष्य।

८ इसलिये कि योगशास्त्र आत्मस्वरूप के विषय में सांख्य सिद्धान्तानुसारी है।

९ 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' ३। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' २९। 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' ३०—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५ भाष्य सहित।

१० देखो ई० कृ० कारिका ६३ सांख्यतत्त्व कौमुदी। देखो न्यायदर्शन ४-१-१०। देखो ब्रह्मसूत्र २-१-१४। ३-१-२७। शांकरभाष्य सहित।

११ देखो योगसूत्र 'सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्य अपरिणामित्वात्' ४-१८। 'चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाऽकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्' ४,२२। तथा

२ ईश्वर के सम्बन्ध में योगशास्त्र का मत सांख्य दर्शन से भिन्न है। सांख्य दर्शन नाना चेतनों के अतिरिक्त ईश्वर को नहीं मानता[१], पर योगशास्त्र मानता है। योगशास्त्र-सम्मत ईश्वर का स्वरूप नैयायिक, वैशेषिक आदि दर्शनों में माने गये ईश्वर स्वरूप से कुछ भिन्न है। योगशास्त्र ने ईश्वर को एक अलग व्यक्ति तथा शास्त्रोपदेशक माना है सही, पर उसने नैयायिक आदि की तरह ईश्वर में नित्यज्ञान, नित्य इच्छा और नित्यकृतिका सम्बन्ध न मान कर इसके स्थान में सत्त्वगुण का परमप्रकर्ष मान कर तद्द्वारा जगत् उद्धारादि की सब व्यवस्था घटा[२] दी है।

३ योगशास्त्र दृश्य जगत् को न तो जैन, वैशेषिक, नैयायिक दर्शनों की तरह परमाणु का परिणाम मानता है, न शांकरवेदान्त दर्शन की तरह ब्रह्मका विवर्त या ब्रह्म का परिणाम ही मानता है, और न बौद्ध दर्शन की तरह शून्य या विज्ञानात्मक ही मानता है, किन्तु सांख्य दर्शन की तरह वह उसको प्रकृतिका परिणाम तथा अनादि-अनन्त-प्रवाह स्वरूप मानता है।

४ योगशास्त्र में वासना, क्लेश और कर्मका नाम ही संसार तथा वासनादि का अभाव अर्थात् चेतन के स्वरूपावस्थान का नाम ही मोक्ष[३] है। उसमें संसार का मूल कारण अविद्या और मोक्ष का मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन अर्थात् योग-जन्य विवेकख्याति माना गया है।

महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता

यह पहले कहा जा चुका है कि सांख्य सिद्धांत और उसकी प्रक्रिया को ले कर पतञ्जलि ने अपना योगशास्त्र रचा है, तथापि उनमें एक ऐसी विशेषता अर्थात् दृष्टिविशालता नजर आती है जो अन्य दार्शनिक विद्वानों में बहुत कम पाई जाती है। इसी विशेषता के कारण उनका योगशास्त्र मानों सर्वदर्शन-

---

'द्वयी चेयं नित्यता, कूटस्थनित्यता, परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्' इत्यादि ४-३३ भाष्य।

१ देखो सांख्य सूत्र १-९२ आदि।

२ यद्यपि यह व्यवस्था मूल योग सूत्र में नहीं है, परन्तु भाष्यकार तथा टीकाकारने इसका उपपादन किया है। देखो पातञ्जल योग सू॰ पा १ सू २४ भाष्य तथा टीका।

३ तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थानम्। १-३ योग सूत्र।

समन्वय बन गया है। उदाहरणार्थ सांख्य का निरीश्वरवाद जब वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनों के द्वारा अच्छी तरह निरस्त हो गया और साधारण लोकस्वभावका झुकाव भी ईश्वरोपासना की ओर विशेष मालूम पड़ा, तब अधिकारिभेद तथा रुचिविचित्रता का विचार करके पतञ्जलि ने अपने योगमार्ग में ईश्वरोपासना को भी स्थान[1] दिया, और ईश्वर के स्वरूप का उन्होंने निष्पक्ष भाव से ऐसा निरूपण[2] किया है जो सबको मान्य हो सके।

पतञ्जलि ने सोचा कि उपासना करनेवाले सभी लोगों का साध्य एक ही है, फिर भी वे उपासना की भिन्नता और उपासना में उपयोगी होनेवाली प्रतीकों की भिन्नता के व्यामोह में अज्ञानवश आपस आपस में लड़ मरते हैं, और इस धार्मिक कलह में अपने साध्य को लोक भूल जाते हैं। लोगों को इस अज्ञान से हटा कर सत्पथ पर लाने के लिये उन्होंने कह दिया कि तुम्हारा मन जिसमें लगे उसी का ध्यान करो। जैसी प्रतीक तुम्हें पसन्द आवे वैसी प्रतीक[3] की ही उपासना करो, पर किसी भी तरह अपना मन एकाग्र व स्थिर करो। और तद्द्वारा परमात्मचिन्तन के सच्चे पात्र बनो। इस उदारता की मूर्तिस्वरूप मतभेदसहिष्णु आदेश के द्वारा पतञ्जलि ने सभी उपासकों को योगमार्ग में स्थान दिया, और ऐसा करके धर्म के नामसे होनेवाले कलहको कम करनेका उन्होंने सच्चा मार्ग लोगों को बतलाया। उनकी इस दृष्टि विशालता

---

१ 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' १–२३।

२ 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'। पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्'। १–२४, २५, २६।

३ 'यथाऽभिमतध्यानाद्वा' १–३९

इसी भाव की सूचक महाभारत में यह उक्ति है—

ध्यानमुत्पादयत्यत्र, संहिताबलसंश्रयात्।
यथाभिमतमन्त्रेण, प्रणवाद्यं जपेत्कृती॥

शान्तिपर्व अ० १९४ श्लोक. २०

और योगवासिष्ठ में कहा है—

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात्।
एकतत्त्वघनाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते।

उपशम प्रकरण सर्ग ७८ श्लो. १६।

का असर अन्य गुणग्राही आचार्यों पर भी पड़ा[1], और वे उस मतभेद-सहिष्णुता के तत्त्व का मर्म समझ गये।

---

१. पुष्पैश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः।
देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥
अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा।
गृहिणां माननीया यत्सर्वे देवा महात्मनाम् ॥
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥
चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः।
नान्यथात्रेष्टसिद्धिः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ॥
गुणाधिक्यपरिज्ञानाद्विशेषेऽप्येतदिष्यते।
अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथात्मनः ॥

योगबिन्दु श्लो १६-२०

जो विशेषदर्शी होते हैं, वे तो किसी प्रतीक विशेष या उपासना विशेष को स्वीकार करते हुए भी अन्य प्रकार की प्रतीक मानने वालों या अन्य प्रकार की उपासना करने वालों से द्वेष नहीं रखते, पर जो धर्माभिमानी प्रथमाधिकारी होते हैं वे प्रतीकभेद या उपासनाभेद के व्यामोह से ही आपस में लड़ मरते हैं। इस अनिष्ट तत्त्वको दूर करने के लिये ही श्रीमान् हरिभद्र सूरिने उक्त पद्यों में प्रथमाधिकारी के लिये सब देवों की उपासना को लाभदायक बतलाने का उदार प्रयत्न किया है। इस प्रयत्नका अनुकरण श्री यशोविजयजीने भी अपनी 'पूर्व-सेवाद्वात्रिंशिका' 'आठ दृष्टियों की सज्झाय' आदि ग्रन्थो में किया है। एकदेशीय-सम्प्रदायाभिनिवेशी लोगों को समजाने के लिये 'चारिसंजीवनीचार' न्याय का उपयोग उक्त दोनों आचार्यों ने किया है। यह न्याय बड़ा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है।

इस समभावसूचक दृष्टान्त का उपनय श्रीज्ञानविमलने आठ दृष्टि की सज्झाय पर किये हुए अपने गूजराती टबे में बहुत अच्छी तरह घटाया है, जो देखने योग्य है। इसका भाव संक्षेप में इस प्रकार है। किसी स्त्री ने अपनी सखी से कहा कि मेरा पति मेरे अधीन न होने से मुझे बड़ा कष्ट है, यह सुन कर उस आगन्तुक सखी ने कोई जड़ी खिला कर उस पुरुषको बैल बना दिया, और वह अपने स्थान को चली गई। पतिके बैल बन जाने से उसकी पत्नी दुःखित हुई, पर फिर वह पुरुष रूप बनाने का उपाय न जानने के कारण उस बैल रूप पतिको चराया

वैशेषिक, नैयायिक आदि की ईश्वर विषयक मान्यता का तथा साधारण लोगों की ईश्वर विषयक श्रद्धा का योगमार्ग में उपयोग करके ही पतञ्जलि चुप न रहे, पर उन्होने वैदिकेतर दर्शनों के सिद्धान्त तथा प्रक्रिया जो योगमार्ग के लिये सर्वथा उपयोगी जान पड़ी उसका भी अपने योगशास्त्र में बड़ी उदारता से संग्रह किया। यद्यपि बौद्ध विद्वान् नागार्जुन के विज्ञानवाद तथा आत्मपरिणामित्ववाद को युक्तिहीन समझ कर या योगमार्ग में अनुपयोगी समझ कर उसका निरसन चौथे पादमें किया[1] है, तथापि उन्होंने बुद्ध भगवान् के परमप्रिय चार आर्यसत्यों[2] का हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय रूपसे स्वीकार नि:संकोच भाव से अपने योगशास्त्र में किया है।

जैन दर्शन के साथ योगशास्त्र का सादृश्य तो अन्य सब दर्शनों की अपेक्षा अधिक ही देखने में आता है। यह बात स्पष्ट होने पर भी बहुतों को विदित ही नहीं है, इसका सबब यह है कि जैन दर्शन के खास अभ्यासी ऐसे बहुत कम हैं जो उदारता पूर्वक योगशास्त्र का अवलोकन करनेवाले हों, और योगशास्त्र के खास अभ्यासी भी ऐसे बहुत कम हैं जिन्होंने जैनदर्शन का बारीकी से ठीक ठीक अवलोकन किया हो। इसलिये इस विषय का विशेष खुलासा करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

करती थी, और उसकी सेवा किया करती थी। किसी समय अचानक एक विद्याधर के मुख से ऐसा सुना कि अगर बैल रूप पुरुष को संजीवनी नामक जड़ी चराई जाय तो वह फिर असली रूप धारण कर सकता है। विद्याधर से यह भी सुना कि वह जड़ी अमुक वृक्ष के नीचे है, पर उस वृक्ष के नीचे अनेक प्रकार की बनस्पति होने के कारण वह स्त्री संजीवनी को पहचानने में असमर्थ थी। इससे उस दु:खित स्त्री ने अपने बैलरूपधारी पतिको सब बनस्पतियाँ चरा दीं। जिनमें संजीवनी को भी वह बैल चर गया, और बैल रूप छोड़कर फिर मनुष्य बन गया। जैसे विशेष परीक्षा न होने के कारण उस स्त्री ने सब बनस्पतियों के साथ संजीवनी खिलाकर अपने पतिका कृत्रिम बैल रूप छुड़ाया, और असली मनुष्यत्व को प्राप्त कराया, वैसे ही विशेष परीक्षाविकल प्रथमाधिकारी भी सब देवों की समभाव से उपासना करते करते योगमार्ग में विकास करके इष्ट लाभ कर सकता है।

१ देखो सू० १५, १८।

२ दु:ख, समुदय, निरोध और मार्ग।

योगशास्त्र और जैनदर्शन का सादृश्य मुख्यतया तीन प्रकार का है। १ शब्द का, २ विषय का और ३ प्रक्रिया का।

१ मूल योगसूत्र में ही नहीं किन्तु उसके भाष्यतक में ऐसे अनेक शब्द हैं जो जैनेतर दर्शनों में प्रसिद्ध नहीं हैं, या बहुत कम प्रसिद्ध हैं, किन्तु जैन शास्त्र में खास प्रसिद्ध हैं। जैसे-भवप्रत्यय,[1] सवितर्क सविचार निर्विचार[2], महाव्रत,[3] कृत कारित अनुमोदित[4], प्रकाशावरण[5], सोपक्रम निरुपक्रम[6], वज्रसंहनन[7], केवली[8], कुशल,[9], ज्ञानावरणीयकर्म[10], सम्यग्ज्ञान[11],

---

१ "भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्" योगसू. १-१६। 'भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्' तत्त्वार्थ अ. १-२२।

२ ध्यानविशेषरूप अर्थ में ही जैनशास्त्र में ये शब्द इस प्रकार हैं 'एकाश्रये सवितर्के पूर्वे' (तत्त्वार्थ अ. ९-४३) 'तत्र सविचारं प्रथमम्' भाष्य 'अविचारं द्वितीयम्' तत्त्वा-अ ९-४४। योगसूत्र में ये शब्द इस प्रकार आये हैं—'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः' 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का' 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' १-४२, ४३, ४४।

३ जैनशास्त्र में मुनिसम्बन्धी पाँच यमों के लिये यह शब्द बहुत ही प्रसिद्ध है। 'सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति' तत्त्वार्थ अ० ७-२ भाष्य। यही शब्द उसी अर्थ में योगसूत्र २-३१ में है।

४ ये शब्द जिस भाव के लिये योगसूत्र २-३१ में प्रयुक्त हैं, उसी भाव में जैनशास्त्र में भी आते हैं, अन्तर सिर्फ इतना है कि जैनग्रन्थों में अनुमोदित के स्थान में बहुधा अनुमतशब्द प्रयुक्त होता है। देखो-तत्त्वार्थ, अ. ६-९।

५ यह शब्द योगसूत्र २-५२ तथा ३-४३ में है। इसके स्थान में जैन-शास्त्र में 'ज्ञानावरण' शब्द प्रसिद्ध है। देखो तत्त्वार्थ अ. ६-११ आदि।

६ ये शब्द योगसूत्र ३-२२ में हैं। जैन कर्मविषयक साहित्य में ये शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं। तत्त्वार्थ में भी इनका प्रयोग हुआ है, देखो-२-५२ भाष्य।

७ यह शब्द योगसूत्र (३-४६) में प्रयुक्त है। इसके स्थान में जैन ग्रन्थों में 'वज्रऋषभनाराचसंहनन' ऐसा शब्द मिलता है। देखो तत्त्वार्थ (अ० ८-१२) भाष्य।

८ योगसूत्र (२-२७) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० ६-१४)।

९ देखो योगसूत्र (२-२७) भाष्य, तथा दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा १८६।

१० देखो योगसूत्र (२-५१) भाष्य तथा आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ८९३।

११ योगसूत्र (२-२८) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १-१)।

सम्यग्दर्शन[1], सर्वज्ञ[2], क्षीणक्लेश[3], चरमदेह[4] आदि ।

२ प्रसुप्त, तनु आदि क्लेशावस्था[5], पाँच यम[6], योगजन्य[7] विभूति, सोपक्रम निरूपक्रम[8] कर्म का स्वरूप, तथा उसके दृष्टान्त, अनेक

---

१ योगसूत्र (४-१५) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० १-२) ।

२ योगसूत्र (३-४९) भाष्य, तत्त्वार्थ (३-४९) ।

३ योगसूत्र (१-४) भाष्य । जैन शास्त्र में बहुधा 'क्षीणमोह' 'क्षीणकषाय' शब्द मिलते हैं । देखो तत्त्वार्थ (अ० ९-३८) ।

४ योगसूत्र (२-४) भाष्य, तत्त्वार्थ (अ० २-५२) ।

५ प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार अवस्थाओं का योग (२-४) में वर्णन है । जैनशास्त्र में वही भाव मोहनीयकर्म की सत्ता, उपशम क्षयोपशम, विरोधिप्रकृति के उदयादिकृत व्यवधान और उदयावस्था के वर्णनरूप से वर्तमान है । देखो योगसूत्र (२-४) की यशोविजयकृत वृत्ति ।

६ पाँच यमोंका वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थो में है सही, पर उसकी परिपूर्णता "जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" (योगसूत्र २-३१) में तथा दशवैकालिक अध्ययन ४ आदि जैनशास्त्रप्रतिपादित महाव्रतों में देखने में आती है ।

७ योगसूत्र के तीसरे पाद में विभूतियों का वर्णन है, वे विभूतियाँ दो प्रकार की हैं । १ वैज्ञानिक २ शारीरिक । अतीताऽनागतज्ञान, सर्वभूतरुतज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, परचित्तज्ञान, भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, आदि ज्ञानविभूतियाँ हैं । अन्तर्धान, हस्तिबल, परकायप्रवेश, अणिमादि ऐश्वर्य तथा रूपलावण्यादि कायसंपत्, इत्यादि शारीरिक विभूतियाँ हैं । जैनशास्त्र में भी अवधिज्ञान, मनः-पर्यायज्ञान, जातिस्मरण, पूर्वज्ञान आदि ज्ञानलब्धियाँ हैं, और आमौषधि, विप्रुडौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि, जंघाचारण, विद्याचारण, वैक्रिय, आहारक आदि शारीरिक लब्धियाँ हैं । देखो आवश्यकनिर्युक्त (गा० ६९, ७०) लब्धि यह विभूतिका नामान्तर है ।

८ योगभाष्य और जैनग्रन्थों में सोपक्रम निरुपक्रम आयुष्कर्म का स्वरूप बिल्कुल एकसा है, इतना ही नहीं बल्कि उस स्वरूप को दिखाते हुए भाष्यकार ने यो. सू. ३-२२ के भाष्य में आर्द्र वस्त्र और तृणराशि के जो दो दृष्टान्त लिखे हैं, वे आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा-९५६) तथा विशेषावश्यक भाष्य (गाथा-३०६१) आदि जैनशास्त्र में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, पर तत्त्वार्थ (अ०-२. ५२) के भाष्य में दो दृष्टान्तों के उपरान्त एक तीसरा गणितविषयक दृष्टान्त भी लिखा

कार्योंका[1] निर्माण आदि।

३ परिणामि-नित्यता अर्थात् उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्यरूप से त्रिरूप वस्तु मान कर तदनुसार धर्मधर्मी का विवेचन[2] इत्यादि।

है। इस विषय में उक्त व्यासभाष्य और तत्त्वार्थभाष्यका शाब्दिक सादृश्य भी बहुत अधिक और अर्थसूचक है—

"यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येद् एवं निरुपक्रमम्। यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन वा समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्। यथा वा "स एवाऽग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम्" (योग. ३–२२) भाष्य। "यथा हि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति, तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशु दाहो भवति, तद्वत्। यथा वा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति, तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्त्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति॥ किं चान्यत्। यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहतश्चिरेण शोषमुपयाति। स एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति।" अ० २–५२ भाष्य।

१ योगबल से योगी जो अनेक शरीरों का निर्माण करता है, उसका वर्णन योगसूत्र (४–४) में है, यही विषय वैक्रिक–आहारक–लब्धिरूप से जैनग्रन्थों में वर्णित है।

२ जैनशास्त्र में वस्तु को द्रव्यपर्यायस्वरूप माना है। इसीलिये उसका लक्षण तत्त्वार्थ (अ० ५–२९) में "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" ऐसा किया है। योगसूत्र (३–१३, १४) में जो धर्मधर्मी का विचार है वह उक्त द्रव्यपर्याय-उभयरूपता किंवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिरूपता का ही चित्रण है। भिन्नता सिर्फ दोनों में इतनी ही है कि–योगसूत्र सांख्यसिद्धान्तानुसारी होने से "ऋते चितिशक्तेः परिणामिनो भावाः" यह सिद्धान्त मानकर परिणामवाद का अर्थात् धर्मलक्षणावस्थापरिणाम का उपयोग सिर्फ जडभाग में अर्थात् प्रकृति में करता है, चेतन में नहीं। और जैनदर्शन तो "सर्वे भावाः परिणामिनः" ऐसा सिद्धान्त मानकर परिणामवाद अर्थात् उत्पादव्ययरूप पर्यायका उपयोग जड़ चेतन

इसी विचारसमता के कारण श्रीमान् हरिभद्र जैसे जैनाचार्यों ने महर्षि पतञ्जलि के प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करके अपने योगविषयक ग्रन्थों में गुणग्राहकता का निर्भीक परिचय पूरे तौर से दिया[1] है। और जगह जगह पतञ्जलि के योगशास्त्रगत खास साङ्केतिक शब्दों का जैन सङ्केतों के साथ मिलान करके सङ्कीर्ण-दृष्टिवालों के लिये एकताका मार्ग खोल[2] दिया है। जैन विद्वान् यशोविजयवाचकने हरिभद्रसूरिसूचित एकता के मार्ग को विशेष विशाल बनाकर पतञ्जलि के योगसूत्र को जैन प्रक्रिया के अनुसार समझाने का थोड़ा किन्तु मार्मिक प्रयास किया[3] है। इतना ही नहीं बल्कि अपनी बत्तीसियों में उन्होंने पतञ्जलि के योगसूत्रगत कुछ विषयों पर खास बत्तीसियाँ भी रची[4] हैं। इन सब बातों को संक्षेप में बतलाने का उद्देश्य यही है कि महर्षि पतञ्जलि की दृष्टिविशालता इतनी अधिक थी कि सभी दार्शनिक व साम्प्रदायिक विद्वान् योगशास्त्र के पास आते ही अपना साम्प्रदायिक अभिनिवेश भूल गये और एकरूपताका अनुभव करने लगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि-महर्षि पतञ्जलि की दृष्टिविशालता उनके विशिष्ट योगानुभव का ही फल है, क्योंकि-जब कोई भी मनुष्य शब्दज्ञान की प्राथमिक भूमिका से आगे बढ़ता है तब वह शब्द की पूंछ न खींचकर चिन्ताज्ञान तथा भावनाज्ञान[5] के उत्तरोत्तर अधिकाधिक एकता वाले प्रदेश में अभेद आनन्द का अनुभव करता है।

दोनों में करना है। इतनी भिन्नता होने पर भी परिणामवाद की प्रक्रिया दोनों में एक सी है।

१ उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः।

भावियोगहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः॥ योग. बि. श्लो. ६६।

टीका—'उक्तं च निरूपितं पुनः योगमार्गज्ञैरध्यात्मविद्भिः पतञ्जलि-प्रभृतिभिः'॥ "एतत्प्रधानः सच्छ्राद्धः शीलवान् योगतत्परः जानात्यतीन्द्रियानर्थांस्तथा चाह महामतिः"॥ योगदृष्टिसमुच्चय श्लो. १००। टीका 'तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः'। ऐसा ही भाव गुणग्राही श्रीयशोविजयजी ने अपनी योगावतारद्वात्रिंशिका में प्रकाशित किया है। देखो-श्लो. २० टीका।

२ देखो योगबिन्दु श्लोक ४१८, ४२०।

३ देखो उनकी बनाई हुई पातञ्जलसूत्रवृत्ति।

४ देखो पातञ्जलयोगलक्षणविचार, योगावतार, क्लेशहानोपाय और योगमाहात्म्य द्वात्रिंशिका।

५ शब्द, चिन्ता तथा भावनाज्ञान का स्वरूप श्रीयशोविजयजी ने अध्यात्मो-

आ० हरिभद्र की योगमर्ग में नवीन दिशा—

श्रीहरिभद्र प्रसिद्ध जैनाचार्यों में एक हुए। उनकी बहुश्रुतता, सर्वतोमुखी प्रतिभा, मध्यस्थता और समन्वयशक्ति का पूरा परिचय कराने का यहाँ प्रसंग नहीं है। इसके लिये जिज्ञासु महाशय उनकी कृतियों को देख लेवें। हरिभद्रसूरि की शतमुखी प्रतिभा के स्रोत उनके बनाये हुए चार अनुयोगविषयक[1] ग्रन्थों में ही नहीं बल्कि जैन न्याय तथा भारतवर्षीय तत्कालीन समग्र दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चावाले[2] ग्रन्थों में भी बहे हुए हैं। इतना करके ही उनकी प्रतिभा मौन न हुई, उसने योगमार्ग में एक ऐसी दिशा दिखाई जो केवल जैन योगसाहित्य में ही नहीं बल्कि आर्यजातीय संपूर्ण योगविषयक साहित्य में एक नई वस्तु है। जैनशास्त्र में आध्यात्मिक विकास के क्रम का प्राचीन वर्णन चौदह गुणस्थानरूप से, चार ध्यान रूप से और बहिरात्म आदि तीन अवस्थाओं के रूप से मिलता है। हरिभद्रसूरि ने उसी आध्यात्मिक विकास के क्रम का योगरूप से वर्णन किया है। पर उसमें उन्होंने जो शैली रक्खी है वह अभीतक उपलब्ध योगविषयक साहित्य में से किसी भी ग्रंथ में कम से कम हमारे देखने में तो नहीं आई है। हरिभद्रसूरि अपने ग्रन्थों में अनेक[3] योगियों का नामनिर्देश करते हैं। एवं योग-विषयक[4] ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं जो अभी प्राप्त नहीं हैं। संभव है उन अप्राप्य ग्रन्थों में उनके वर्णन की सी शैली रही हो, पर हमारे लिये तो यह वर्णनशैली और योग विषयक वस्तु बिल्कुल अपूर्व है। इस समय हरिभद्रसूरि के योगविषयक चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जो हमारे देखने में आये हैं। उनमें से षोडशक और योगविंशिका के योगवर्णन की शैली और योगवस्तु एक ही है। योगबिन्दु की विचारसरणी और वस्तु योगविंशिका से जुदा है। योगदृष्टिसमुच्चय की विचार-

---

पनिषद् में लिखा है, जो आध्यात्मिक लोगों को देखने योग्य है—अध्यात्मोपनिषद् श्लो० ६५, ७४।

१ द्रव्यानुयोगविषयक—धर्मसंग्रहणी आदि १, गणितानुयोगविषयक—क्षेत्रसमास टीका आदि २, चरणकरणानुयोगविषयक—पञ्चवस्तु, धर्मबिन्दु आदि ३, धर्मकथानुयोगविषयक—समराइच्चकहा आदि ४ ग्रन्थ मुख्य हैं।

२ अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय आदि।

३ गोपेन्द्र (योगबिन्दु श्लोक, २००) कालातीत (योगबिन्दु श्लोक ३००) पतञ्जलि, भदन्तभास्करबन्धु, भगवदन्त (त्त) वादी (योगदृष्टि० श्लोक १६ टीका)।

४ योगनिर्णय आदि (योगदृष्टि० श्लोक १ टीका)।

धारा और वस्तु योगबिंदु से भी जुदा है। इस प्रकार देखने से यह कहना पड़ता है कि हरिभद्रसूरि ने एक ही अध्यात्मिक विकास के क्रम का चित्र भिन्न भिन्न ग्रन्थों में भिन्न भिन्न वस्तु का उपयोग करके तीन प्रकार से खींचा है।

काल की अपरिमित लंबी नदी में वासनारूप संसार का गहरा प्रवाह बहता है, जिसका पहला छोर (मूल) तो अनादि है, पर दूसरा (उत्तर) छोर सान्त है। इस लिये मुमुक्षुओं के वास्ते सब से पहले यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है कि उक्त अनादि प्रवाह में आध्यात्मिक विकास का आरम्भ कब से होता है? और उस आरंभ के समय आत्मा के लक्षण कैसे हो जाते हैं? जिनसे कि आरंभिक आध्यात्मिक विकास जाना जा सके। इस प्रश्न का उत्तर आचार्य ने योगबिंदु में दिया है। वे कहते हैं कि—"जब आत्मा के ऊपर मोह का प्रभाव घटने का आरंभ होता है, तभी से आध्यात्मिक विकास का सूत्रपात हो जाता है। इस सूत्रपात का पूर्ववर्ती समय जो आध्यात्मिकविकासरहित होता है, वह जैनशास्त्र में अचरमपुद्गलपरावर्त के नाम से प्रसिद्ध है। और उत्तरवर्ती समय जो आध्यात्मिक विकास के क्रमवाला होता है, वह चरम पुद्गलपरावर्त के नाम से प्रसिद्ध है। अचरमपुद्गलपरावर्त और चरमपुद्गलपरावर्तनकाल के परिमाण के बीच सिंधु[1] और बिंदु का सा अन्तर होता है। जिन आत्मा का संसारप्रवाह चरमपुद्गलपरावर्त्तपरिमाण शेष रहता है उसको जैन परिभाषा में 'अपुनर्बंधक' और सांख्यपरिभाषा में 'निवृत्ताधिकार प्रकृति' कहते हैं[2]। अपुनर्बन्धक या निवृत्ताधिकारप्रकृति आत्मा का आन्तरिक परिचय इतना ही है कि उसके ऊपर मोह का दबाव कम होकर उलटे मोह के ऊपर उस आत्मा का दबाव शुरू होता है। यही आध्यात्मिक विकास का बीजारोपण है। यहीं से योगमार्ग का आरम्भ हो जाने के कारण उस आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति में सरलता, नम्रता, उदारता, परोपकारपरायणता आदि सदाचार वास्तविकरूप में दिखाई देते हैं। जो उस विकासोन्मुख आत्मा का बाह्य परिचय है"। इतना उत्तर देकर आचार्य ने योग के आरंभ से लेकर योग की पराकाष्ठा तक के आध्यात्मिक विकास की क्रमिक वृद्धि को स्पष्ट समझाने के लिये उसको पाँच भूमिकाओं में विभक्त करके हर एक भूमिका के लक्षण बहुत स्पष्ट दिखाये[3] हैं। और जगह जगह जैन परिभाषा के

---

१ देखो मुक्त्यद्वेषद्वात्रिंशिका २८।

२ देखो योगबिन्दु १७८, २०१।

३ योगबिन्दु, ३१, ३५७, ३५६, ३६१, ३६३, ३६५।

साथ बौद्ध तथा योगदर्शन की परिभाषा का मिलान कर[1] के परिभाषाभेद की दिवार को तोड़कर उसकी ओट में छिपी हुई योगवस्तु की भिन्नभिन्नदर्शनसम्मत एकरूपताका स्फुट प्रदर्शन कराया है। अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय ये योगमार्ग की पाँच मूमिकायें हैं। इनमें से पहली चार को पतंजलि संप्रज्ञात, और अन्तिम भूमिका को असंप्रज्ञात कहते हैं[2]। यही संक्षेप में योगबिंदु की वस्तु है।

योगदृष्टिसमुच्चय में आध्यात्मिक विकास के क्रमका वर्णन योगबिन्दु की अपेक्षा दूसरे ढंग से है। उसमें आध्यात्मिक विकास के प्रारंभ के पहले की स्थितिको अर्थात् अचरमपुद्गलपरावर्त्तपरिमाण संसारकालीन आत्मा की स्थिति को ओघदृष्टि कहकर उसके तरतमभाव को अनेक दृष्टांत द्वारा समझाया है[3], और पीछे आध्यात्मिक विकास के आरंभ से लेकर उसके अंत तक में पाई जानेवाली योगावस्था को योगदृष्टि कहा है। इस योगावस्था की क्रमिक वृद्धि को समझाने के लिये संक्षेप में उसे आठ भूमिकाओं में बाँट दिया है। वे आठ भूमिकायें उस ग्रन्थ में आठ योगदृष्टि के नाम से प्रसिद्ध हैं[4]। इन आठ दृष्टिओं का विभाग पातंजलयोगदर्शनप्रसिद्ध यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योगांगों के आधार पर किया गया है, अर्थात् एक एक दृष्टि में एक एक योगांगका सम्बन्ध मुख्यतया बतलाया है। पहली चार दृष्टियाँ योग की प्रारम्भिक अवस्था रूप होने से उनमें अविद्या का अल्प अंश रहता है। जिसको प्रस्तुत में अवेद्यसंवेद्यपद कहा है[5]। अगली चार दृष्टिओं में अविद्या का अंश बिल्कुल नहीं रहता। इस भाव को आचार्य ने वेद्यसंवेद्यपद शब्द से बताया[6] है। इसके सिवाय प्रस्तुत ग्रंथ में पिछली चार दृष्टियों के समय पाये जानेवाले विशिष्ट

---

१ "यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि॥ १७३॥
वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद्यो भविष्यति।
तथाभव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः" ॥ २७४ ॥—योगबिन्दु।

२ देखो योगबिंदु ४२८, ४२०।

३ देखो—योगदृष्टिसमुच्चय १४।

४ ,, ,, १३।

५ ,, ,, ७५।

६ ,, ,, ७३।

आध्यात्मिक विकास को इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग ऐसी तीन योगभूमिकाओं में विभाजित करके उक्त तीनों योगभूमिकाओं का बहुत रोचक वर्णन किया है[1]।

आचार्य ने अन्त में चार प्रकार के योगियों का वर्णन करके योगशास्त्र के अधिकारी कौन हो सकते हैं, यह भी बतला दिया है। यही योगदृष्टिसमुच्चय की बहुत संक्षिप्त वस्तु है।

योगविंशिका में आध्यात्मिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन नहीं है, किन्तु उसकी पुष्ट अवस्थाओं का ही वर्णन है। इसी से उसमें मुख्यतया योग के अधिकारी त्यागी ही माने गए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में त्यागी गृहस्थ और साधुकी आवश्यक क्रिया को ही योगरूप बतला कर उसके द्वारा आध्यात्मिक विकास की क्रमिक वृद्धिका वर्णन किया है। और उस आवश्यक क्रिया के द्वारा योग को पाँच भूमिकाओं में विभाजित किया गया है। ये पाँच भूमिकाएँ उसमें स्थान, शब्द, अर्थ, सालंबन और निरालंबन नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पाँच भूमिकाओं में कर्मयोग और ज्ञानयोग की घटना करते हुए आचार्य ने पहली दो भूमिकाओं को कर्मयोग कहा है। इसके सिवाय प्रत्येक भूमिकाओं में इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धिरूप से आध्यात्मिक विकास के तरतमभाव का प्रदर्शन कराया है। और उस प्रत्येक भूमिका तथा इच्छा, प्रवृत्ति आदि अवान्तर स्थिति का लक्षण बहुत स्पष्ट रूप से वर्णन किया है[2]। इस प्रकार उक्त पाँच भूमिकाओं की अन्तर्गत भिन्न भिन्न स्थितिओं का वर्णन करके योग के अस्सी भेद किए हैं। और उन सबके लक्षण बतलाए हैं, जिनको ध्यान-पूर्वक देखनेवाला यह जान सकता है कि मैं विकास की किस सीढ़ी पर खड़ा हूँ। यही योगविंशिका की संक्षिप्त वस्तु है।

उपसंहार—

विषय की गहराई और अपनी अपूर्णता का खयाल होते हुए भी यह प्रयास इस लिए किया गया है कि अबतक का अवलोकन और स्मरण संक्षेप में भी लिपिबद्ध हो जाय, जिससे भविष्य में विशेष प्रगति करना हो तो इस विषय का प्रथम सोपान तैयार रहे। इस प्रवृत्ति में कई मित्र मेरे सहायक हुए है जिनके नामोल्लेख मात्र से कृतज्ञता प्रकाशित करना नहीं चाहता। उनकी आदरणीय स्मृति मेरे हृदय में अखण्ड रहेगी।

---

१ देखो योगदृष्टिसमुच्चय २–१२।

२ योगविंशिका गा० ५, ६।

पाठकों के प्रति एक मेरी सूचना है। वह यह कि इस निबन्ध में अनेक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द आए हैं। खास कर अन्तिम भाग में जैन पारिभाषिक शब्द अधिक हैं, जो बहुतों को कम विदित होंगे। उनका मैंने विशेष खुलासा नहीं किया है। पर खुलासा वाले उन ग्रंथों के उपयोगी स्थल का निर्देश कर दिया है। जिससे विशेष जिज्ञासु मूलग्रंथ द्वारा ही ऐसे कठिन शब्दों का खुलासा कर सकेंगे। अगर यह संक्षिप्त निबन्ध न होकर खास पुस्तक होती तो इसमें विशेष खुलासों का भी अवकाश रहता।

इस प्रवृत्ति के लिए मुझ को उत्साहित करने वाले गुजरात पुरातत्त्व संशोधन मन्दिर के मंत्री परीख रसिकलाल छोटालाल हैं जिनके विद्याप्रेम को मैं भूल नहीं सकता।

ई० १९२२] [योगदर्शन-योगबिंदु भूमिका

———

प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन दिवाकर

भारतीय दर्शन अध्यात्मलक्ष्य हैं। पश्चिमीय दर्शनों की तरह वे मात्र बुद्धि प्रधान नहीं हैं। उनका उद्‌गम ही आत्मशुद्धि की दृष्टि से हुआ है। वे आत्म-तत्त्व को और उसकी शुद्धि को लक्ष्य में रख कर ही बाह्य जगत का भी विचार करते हैं। इसलिए सभी आस्तिक भारतीय दर्शनों के मौलिक तत्त्व एक से ही हैं।

जैन दर्शन का स्रोत भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के पहले से ही किसी न किसी रूप में चला आ रहा है यह वस्तु इतिहाससिद्ध है। जैन दर्शन की दिशा चारित्र-प्रधान है जो कि मूल आधार आत्म-शुद्धि की दृष्टि से विशेष संगत है। उसमें ज्ञान, भक्ति आदि तत्त्वों का स्थान अवश्य है पर वे सभी तत्त्व चारित्र-पर्यवसायी हों तभी जैनत्व के साथ संगत हैं। केवल जैन परंपरा में ही नहीं बल्कि वैदिक, बौद्ध आदि सभी परंपराओं में जब तक आध्यात्मिकता का प्राधान्य रहा या वस्तुतः उनमें आध्यात्मिकता जीवित रही तब तक उन दर्शनों में तर्क और वाद का स्थान होते हुए भी उसका प्राधान्य न रहा। इसीलिए हम सभी परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में उतना तर्क और वादताण्डव नहीं पाते हैं जितना उत्तरकालीन ग्रन्थों में।

आध्यात्मिकता और त्याग की सर्वसाधारण में निःसीम प्रतिष्ठा जम चुकी थी। अतएव उस उस आध्यात्मिक पुरुष के आसपास सम्प्रदाय भी अपने आप जमने लगते थे। जहाँ सम्प्रदाय बने कि फिर उनमें मूल तत्त्व में भेद न होने पर भी छोटी छोटी बातों में और अवान्तर प्रश्नों में मतभेद और तज्जन्य विवादों का होता रहना स्वाभाविक है। जैसे जैसे सम्प्रदायों की नींव गहरी होती गई और वे फैलने लगे वैसे वैसे उनमें परस्पर विचार-संघर्ष भी बढ़ता चला। जैसे अनेक छोटे बड़े राज्यों के बीच चढ़ा-ऊतरी का संघर्ष होता रहता है। राजकीय संघर्षों ने यदि लोकजीवन में क्षोभ किया है तो उतना ही क्षोभ बल्कि उससे भी अधिक क्षोभ साम्प्रदायिक संघर्ष ने किया है। इस संघर्ष में पड़ने के कारण सभी आध्यात्मिक दर्शन तर्कप्रधान बनने लगे। कोई आगे तो कोई पीछे पर सभी दर्शनों में तर्क और न्याय का बोलबाला शुरु हुआ। प्राचीन समय में जो आन्वीक्षिकी एक सर्वसाधारण खास विद्या थी उसका आधार लेकर धीरे धीरे सभी सम्प्रदायों ने अपने दर्शन के अनुकूल आन्वीक्षिकी की रचना की। मूल आन्वीक्षिकी विद्या वैशेषिक दर्शन के साथ घुल मिल गई पर उसके आधार से कभी बौद्ध-परम्परा ने तो कभी मीमांसकों ने, कभी सांख्य ने तो कभी

जैनों ने, कभी अद्वैत वेदान्त ने तो कभी अन्य वेदान्त परम्पराओं ने अपनी स्वतन्त्र आन्वीक्षिकी की रचना शुरू कर दी। इस तरह इस देश में प्रत्येक प्रधान दर्शन के साथ एक या दूसरे रूप में तर्कविद्या का सम्बन्ध अनिवार्य हो गया।

जब प्राचीन आन्वीक्षिकी का विशेष बल देखा तब बौद्धों ने संभवतः सर्व प्रथम अलग स्वानुकूल आन्वीक्षिकी का खाका तैयार करना शुरू किया। संभवतः फिर मीमांसक ऐसा करने लगे। जैन सम्प्रदाय अपनी मूल प्रकृति के अनुसार अधिकतर संयम, त्याग, तपस्या आदि पर विशेष भार देता आ रहा था; पर आसपास के वातावरण ने उसे भी तर्कविद्या की ओर झुकाया। जहाँ तक हम जान पाये हैं, उससे मालूम पड़ता है कि विक्रम की ५ वीं शताब्दी तक जैन दर्शन का खास झुकाव स्वतंत्र तर्क विद्या की ओर न था। उसमें जैसे जैसे संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रबल होता गया वैसे वैसे तर्क विद्या का आकर्षण भी बढ़ता गया। पांचवीं शताब्दी के पहले के जैन वाङ्मय और इसके बाद के जैन वाङ्मय में हम स्पष्ट भेद देखते हैं। अब देखना यह है कि जैन वाङ्मय के इस परिवर्तन का आदि सूत्रधार कौन है? और उसका स्थान भारतीय विद्वानों में कैसा है?

आदि जैन तार्किक—

जहाँ तक मैं जानता हूँ, जैन परम्परा में तर्क विद्या का और तर्क प्रधान संस्कृत वाङ्मय का आदि प्रणेता है सिद्धसेन दिवाकर। मैंने दिवाकर के जीवन और कार्यों के सम्बन्ध में अन्यत्र[१] विस्तृत ऊहापोह किया है; यहाँ तो यथासंभव संक्षेप में उनके व्यक्तित्व का सोदाहरण परिचय कराना है।

सिद्धसेन का सम्बन्ध उनके जीवनकथानकों के अनुसार उज्जैनी और उसके अधिप विक्रम के साथ अवश्य रहा है, पर वह विक्रम कौन सा यह एक विचारणीय प्रश्न है। अभी तक के निश्चित प्रमाणों से जो सिद्धसेन का समय विक्रम की पाँचवीं और छट्टी शताब्दी का मध्य जान पड़ता है, उसे देखते हुए अधिक संभव यह है कि उज्जैनी का वह राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय या उसका पौत्र स्कन्दगुप्त होगा। जो कि विक्रमादित्य रूप से प्रसिद्ध रहे।

सभी नये पुराने उल्लेख यही कहते हैं कि सिद्धसेन जन्म से ब्राह्मण थे। यह कथन बिल्कुल सत्य जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने प्राकृत जैन वाङ्मयको

---

१ देखिए गुजरात विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित सन्मतितर्क का गुजराती भाषान्तर, भाग ६, तथा उसका इंग्लिश भाषान्तर, श्वेताम्बर जैन कोन्फ्रन्स, पायधुनी, बम्बे, द्वारा प्रकाशित।

संस्कृत में रूपान्तरित करने का जो विचार निर्भयता से सर्व प्रथम प्रकट किया वह ब्राह्मण-सुलभ शक्ति और रुचि का ही द्योतक है। उन्होंने उस युग में जैन दर्शन तथा दूसरे दर्शनों को लक्ष्य करके जो अत्यन्त चमत्कारपूर्ण संस्कृत पद्यबद्ध कृतियों की देन दी है वह भी जन्मसिद्ध ब्राह्मणत्व की ही द्योतक है। उनकी जो कुछ थोड़ी बहुत कृतियाँ प्राप्य हैं उनका एक एक पद और वाक्य उनकी कवित्व विषयक, तर्क विषयक, और समग्र भारतीय दर्शन विषयक तलस्पर्शी प्रतिभा को व्यक्त करता है।

आदि जैन कवि एवं आदि जैन स्तुतिकार—

हम जब उनका कवित्व देखते है तब अश्वघोष, कालिदास आदि याद आते हैं। ब्राह्मण-धर्म में प्रतिष्ठित आश्रम व्यवस्था के अनुगामी कालिदास ने लग्नभावना का औचित्य बतलाने के लिए लग्नकालीन नगर प्रवेश का प्रसंग लेकर उस प्रसंग से हर्षोत्सुक स्त्रियों के अवलोकन कौतुक का जो मार्मिक शब्द-चित्र खींचा है वैसा चित्र अश्वघोष के काव्य में और सिद्धसेन की स्तुति में भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि अश्वघोष और सिद्धसेन दोनों श्रमणधर्म में प्रतिष्ठित एकमात्र त्यागाश्रम के अनुगामी हैं इसलिए उनका वह चित्र वैराग्य और गृहत्याग के साथ मेल खाए ऐसा है। अतः उसमें बुद्ध और महावीर के गृहत्याग से खिन्न और उदास स्त्रियों की शोकजनित चेष्टाओं का वर्णन है नही कि हर्षोत्सुक स्त्रियों की चेष्टाओं का। तुलना के लिए नीचे के पद्यों को देखिए—

अपूर्वशोकोपतनक्लमानि नेत्रोदकक्लिन्नविशेषकाणि।
विविक्तशोभान्यबलाननानि विलापदाक्षिण्यपरायणानि ॥
मुग्धोन्मुखान्यागण्युपदिष्टवाक्यसंदिग्धजल्पानि पुरःसराणि।
बालानि मार्गाचरणक्रियाणि प्रलंबवस्त्रान्तविकर्षणानि ॥
अकृत्रिमस्नेहमयप्रदीपदीनेक्षणाः साश्रुमुखाश्च पौराः।
संसारसात्म्यज्ञजनैकबन्धो न भावशुद्धं जगृहुर्मनस्ते ॥

—सिद्ध० ५-१०, ११, १२।

अतिप्रहर्षादथ शोकमूर्छिताः कुमारसंदर्शनलोललोचनाः।
गृहाद्विनिश्चक्रमुराशया स्त्रियः शरत्पयोदादिव विद्युतश्चलाः ॥
विलम्बकेश्यो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्बाष्पहतेक्षणैर्मुखैः।
स्त्रियो न रेजुर्मृजया विनाकृता दिवीव तारा रजनीक्षयारुणाः ॥
अरक्तताम्रैश्चरणैरनूपुरैरकुण्डलैरार्जवकन्धरैर्मुखैः।
स्वभावपीनैर्जघनैरमेखलैरहारयोक्त्रैर्मुषितैरिव स्तनैः ॥

—अश्व० बुद्ध० सर्ग ८-२०, २१, २२

तस्मिन् मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५६ ॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ५९ ॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ६२ ॥
(कालि० कुमार० सर्ग ७.)

सिद्धसेन ने गद्य में कुछ लिखा हो तो पता नहीं है। उन्होंने संस्कृत में बत्तीस बत्तीसियाँ रची थीं, जिनमें से इक्कीस अभी लभ्य हैं। उनका प्राकृत में रचा 'सम्मति प्रकरण' जैनदृष्टि और जैन मन्तव्यों को तर्क शैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करनेवाला जैन वाङ्मय में सर्व प्रथम ग्रन्थ है। जिसका आश्रय उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर दिगम्बर विद्वानों ने लिया है।

संस्कृत बत्तीसियों में शुरू की पांच और ग्यारहवीं स्तुतिरूप हैं। प्रथम की पाँच में महावीर की स्तुति है जब कि ग्याहरवीं में किसी पराक्रमी और विजेता राजा की स्तुति है। ये स्तुतियाँ अश्वघोष समकालीन बौद्ध स्तुतिकार मातृचेट के 'अध्यर्धशतक,' 'चतुःशतक' तथा पश्चाद्वर्ती आर्यदेव के चतुःशतक की शैली की याद दिलाती हैं। सिद्धसेन ही जैन परम्परा का आद्य संस्कृत स्तुतिकार है। आचार्य हेमचन्द्र ने जो कहा है 'क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा' वह बिलकुल सही है। स्वामी समन्तभद्र का 'स्वयंभूस्तोत्र' जो एक हृदयहारिणी स्तुति है और 'युक्त्यनुशासन' नामक दो दार्शनिक स्तुतियाँ ये सिद्धसेन की कृतियों का अनुकरण जान पड़ती हैं। हेमचन्द्र ने भी उन दोनों का अपनी दो बत्तीसियों के द्वारा अनुकरण किया है।

बारहवीं सदी के आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में उदाहरणरूप में लिखा है कि 'अनुसिद्धसेनं कवयः'। इसका भाव यदि यह हो कि जैन परम्परा के संस्कृत कवियों में सिद्धसेन का स्थान सर्व प्रथम है (समय की दृष्टि से और गुणवत्ता की दृष्टि से अन्य सभी जैन कवियों का स्थान सिद्धसेन के बाद आता है) तो वह कथन आज तक के जैनवाङ्मय की दृष्टि से अक्षरशः सत्य है। उनकी स्तुति और कविता के कुछ नमूने देखिये—

स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोकमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥
समन्तसर्वाक्षगुणं निरक्षं स्वयंप्रभं सर्वगतावभासम् ।
अतीतसंख्यानमनंतकल्पमचिन्त्यमाहात्म्यमलोकलोकम् ॥

कुहेतुतर्कोपरतप्रपञ्चसद्भावशुद्धाप्रतिवादवादम् ।
प्रणम्य सच्छासनवर्धमानं स्तोष्ये यतीन्द्रं जिनवर्धमानम् ॥

स्तुति का यह प्रारम्भ उपनिषद् की भाषा और परिभाषा में विरोधालङ्कार-गर्भित है ।

एकान्तनिर्गुणभवान्तमुपेत्य सन्तो यत्नार्जितानपि गुणान् जहति क्षणेन ।
क्लीबादरस्त्वयि पुनर्व्यसनोल्बणानि भुंक्ते चिरं गुणफलानि हितापनष्टः ॥

इसमें सांख्य परिभाषा के द्वारा विरोधाभास गर्भित स्तुति है ।

क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः,
स्वभावनियताः प्रजाः समयतंत्रवृत्ताः क्वचित् ।
स्वयं कृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
र्नवा विषदवाददोषमलिनोऽस्यहो विस्मयः ॥

इसमें श्वेताश्वर उपनिषद् के भिन्न भिन्न कारणवाद के समन्वय द्वारा वीर के लोकोत्तरत्वका सूचन है ।

कुलिशेन सहस्रलोचनः सविता चांशुसहस्रलोचनः ।
न विदारयितुं यदीश्वरो जगतस्तद्भवता हतं तमः ॥

इसमें इन्द्र और सूर्य से उत्कृष्टत्व दिखाकर वीर के लोकोत्तरत्व का व्यंजन किया है ।

न सदःसु वदन्नशिक्षितो लभते वक्तृविशेषगौरवम् ।
अनुपास्य गुरुं त्वया पुनर्जगदाचार्यकमेव निर्जितम् ॥

इसमें व्यतिरेक के द्वारा स्तुति की है कि हे भगवन्! आपने गुरुसेवा के बिना किये भी जगत का आचार्य पद पाया है जो दूसरों के लिए संभव नहीं।

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः ।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

इसमें सरिता और समुद्र की उपमा के द्वारा भगवान् में सब दृष्टियों के अस्तित्व का कथन है जो अनेकान्तवाद की जड़ है ।

गतिमानथ चाक्रियः पुमान् कुरुते कर्म फलैर्न युज्यते ।
फलभुक् च न चार्जनक्षमो विदितो यैर्विदितोऽसि तैर्मुने ॥

इसमें विभावना, विशेषोक्ति के द्वारा आत्म-विषयक जैन मन्तव्य प्रकट किया है ।

किसी पराक्रमी और विजेता नृपति के गुणों की समग्र स्तुति लोकोत्तर कवित्वपूर्ण है । एक ही उदाहरण देखिए—

एकां दिशं व्रजति यद्गतिमद्गतं च तत्रस्थमेव च विभाति दिगन्तरेषु।
यातं कथं दशदिगन्तविभक्तमूर्ति युज्येत वक्तुमुत वा न गतं यशस्ते ॥

आद्य जैन वादी—

दिवाकर आद्य जैन वादी हैं। वे वादविद्या के संपूर्ण विशारद जान पड़ते हैं, क्यों कि एक तरफ से उन्होंने सातवीं वादोपनिषद् बत्तीसी में वादकालीन सब नियमोपनियमों का वर्णन करके कैसे विजय पाना यह बतलाया है तो दूसरी तरफ से आठवीं बत्तीसी में वाद का पुरा परिहास भी किया है।

दिवाकर आध्यात्मिक पथ के त्यागी पथिक थे और वाद कथा के भी रसिक थे। इसलिए उन्हें अपने अनुभव से जो आध्यात्मिकता और वाद-विवाद में असंगति दिख पड़ी उसका मार्मिक चित्रण खींचा है। वे एक मांस-पिण्ड में लुब्ध और लड़नेवाले दो कुत्तों में तो कभी मैत्री की संभावना कहते हैं; पर दो सहोदर भी वादियों में कभी सख्य का संभव नहीं देखते। इस भाव का उनका चमत्कारी उद्गार देखिए—

ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसंभजातमत्सरयोः।
स्यात् सख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात् ॥ ८, १.

वे स्पष्ट कहते हैं कि कल्याण का मार्ग अन्य है और वादीका मार्ग अन्य; क्यों कि किसी मुनि ने वाग्युद्ध को शिव का उपाय नहीं कहा है—

अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्संरंभं क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥

आद्य जैन दार्शनिक व आद्य सर्वदर्शनसंग्राहक—

दिवाकर आद्य जैन दार्शनिक तो है ही, पर साथ ही वे आद्य सर्व भारतीय दर्शनों के संग्राहक भी हैं। सिद्धसेन के पहले किसी भी अन्य भारतीय विद्वान् ने संक्षेप में सभी भारतीय दर्शनों का वास्तविक निरूपण यदि किया हो तो उसका पता अभीतक इतिहास को नहीं है। एक बार सिद्धसेन के द्वारा सब दर्शनों के वर्णन की प्रथा प्रारम्भ हुई कि फिर आगे उसका अनुकरण किया जाने लगा। आठवीं सदी के हरिभद्र ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' लिखा, चौदहवीं सदी के माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' लिखा; जो सिद्धसेन के द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रथा का विकास है। जान पड़ता है सिद्धसेन ने चार्वाक, मीमांसक आदि प्रत्येक दर्शन का वर्णन किया होगा, परन्तु अभी जो बत्तीसियां लभ्य हैं उनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, आजीवक और जैन दर्शन की निरूपक बत्तीसियां ही हैं। जैन दर्शन का निरूपण तो एकाधिक बत्तीसियों में हुआ है। पर किसी

भी जैन जैनेतर विद्वान् को आश्चर्य चकित करने वाली सिद्धसेन की प्रतिभा का स्पष्ट दर्शन तब होता है जब हम उनकी पुरातनत्व समालोचना विषयक और वेदान्त विषयक दो बत्तीसियों को पढ़ते हैं। यदि स्थान होता तो उन दोनों ही बत्तीसियों को मैं यहाँ पूर्ण रूपेण देता। मैं नहीं जानता कि भारत में ऐसा कोई विद्वान् हुआ हो जिसने पुरातनत्व और नवीनत्व की इतनी क्रान्तिकारिणी तथा हृदयहारिणी एवं तलस्पर्शिनी निर्भय समालोचना की हो। मैं ऐसे विद्वान् को भी नहीं जानता कि जिस अकेले ने एक बत्तीसी में प्राचीन सब उपनिषदों तथा गीता का सार वैदिक और औपनिषद भाषा में ही शाब्दिक और आर्थिक अलङ्कार युक्त चमत्कारकारिणी सरणी से वर्णित किया हो। जैन परम्परा में तो सिद्धसेन के पहले और पीछे आज तक ऐसा कोई विद्वान् हुआ ही नहीं है जो इतना गहरा उपनिषदों का अभ्यासी रहा हो और औपनिषद भाषा में ही औपनिषद तत्त्व का वर्णन भी कर सके। पर जिस परम्परा में सदा एक मात्र उपनिषदों की तथा गीता की प्रतिष्ठा है उस वेदान्त परम्परा के विद्वान् भी यदि सिद्धसेन की उक्त बत्तीसी को देखेंगे तब उनकी प्रतिभा के कायल होकर यही कह उठेंगे कि आज तक यह ग्रन्थरत्न दृष्टिपथ में आने से क्यों रह गया। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत बत्तीसी की ओर किसी भी तीक्ष्ण-प्रज्ञ वैदिक विद्वान् का ध्यान जाता तो वह उस पर कुछ न कुछ बिना लिखे न रहता। मेरा यह भी विश्वास है कि यदि कोई मूल उपनिषदों का साम्नाय अध्येता जैन विद्वान् होता तो भी उस पर कुछ न कुछ लिखता। जो कुछ हो, मैं तो यहाँ सिद्धसेन की प्रतिभा के निदर्शक रूप से प्रथम के कुछ पद्य भाव सहित देता हूँ।

कभी कभी सम्प्रदायाभिनिवेश वश अपढ़ व्यक्ति भी, आजही की तरह उस समय भी विद्वानों के सम्मुख चर्चा करने की धृष्टता करते होंगे। इस स्थिति का मजाक करते हुए सिद्धसेन कहते हैं कि बिना ही पढ़े पण्डितंमन्य व्यक्ति विद्वानों के सामने बोलने की इच्छा करता है फिर भी उसी क्षण वह नहीं फट पड़ता तो प्रश्न होता है कि क्या कोई देवताएँ दुनियाँ पर शासन करने वाली हैं भी सही ? अर्थात् यदि कोई न्यायकारी देव होता तो ऐसे व्यक्तिको तत्क्षण ही सीधा क्यों नहीं करता—

यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रतः।
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगतः किं प्रभवन्ति देवताः॥ (६. १)

विरोधी बढ़ जाने के भय से सच्ची बात भी कहने में बहुत समालोचक हिचकिचाते हैं। इस भीरु मनोदशा का जवाब देते हुए दिवाकर कहते हैं कि-

पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था स्थिर की है क्या वह सोचने पर वैसी ही सिद्ध होगी? अर्थात् सोचने पर उसमें भी त्रुटि दिखेगी तब केवल उन मृत पुरुखों की जमी प्रतिष्ठा के कारण हाँ में हाँ मिलाने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है। यदि विद्वेषी बढ़ते हों तो बढ़ें—

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहन्न जातः प्रथयन्तु विद्विषः॥ (६. ३)

हमेशा पुरातन प्रेमी, परस्पर विरुद्ध अनेक व्यवहारों को देखते हुए भी अपने इष्ट किसी एक को यथार्थ और बाकी को अयथार्थ करार देते हैं। इस दशा से ऊब कर दिवाकर कहते हैं कि—सिद्धान्त और व्यवहार अनेक प्रकार के हैं, वे परस्पर विरुद्ध भी देखे जाते हैं। फिर उनमें से किसी एक की सिद्धि का निर्णय जल्दी कैसे हो सकता है? तथापि यही मर्यादा है दूसरी नहीं—ऐसा एक तरफ निर्णय कर लेना यह तो पुरातन प्रेम से जड़ बने हुए व्यक्ति को ही शोभा देता है, मुझ जैसे को नहीं—

बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातनप्रेमजलस्य युज्यते॥ (६. ४)

जब कोई नई चीज आई तो चट से सनातन संस्कारी कह देते हैं कि, यह तो पुराना नहीं है। इसी तरह किसी पुरातन बात की कोई योग्य समीक्षा करे तब भी वे कह देते हैं कि यह तो बहुत पुराना है, इसकी टीका न कीजिए। इस अविवेकी मानस को देख कर मालविकाग्निमित्र में कालिदास को कहना पड़ता है कि—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

ठीक इसी तरह दिवाकर ने भी भाष्यरूप से कहा है कि—यह जीवित वर्तमान व्यक्ति भी मरने पर आगे की पिढ़ी की दृष्टि से पुराना होगा; तब वह भी पुरातनों की ही गिनती में आ जायगा। जब इस तरह पुरातनता अनवस्थित है अर्थात् नवीन भी कभी पुरातन है और पुराने भी कभी नवीन रहे; तब फिर अमुक वचन पुरातन कथित है ऐसा मान कर परीक्षा बिना किए उस पर कौन विश्वास करेगा?

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्॥ (६. ५)

पुरातन प्रेम के कारण परीक्षा करने में आलसी बन कर कई लोग ज्यों ज्यों सम्यग् निश्चय कर नहीं पाते हैं त्यों त्यों वे उलटे मानों सम्यग् निश्चय कर

लिया हो इतने प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि पुराने गुरु जन मिथ्याभाषी थोड़े हो सकते हैं ? मैं खुद मन्दमति हूँ उनका आशय नहीं समझता तो क्या हुआ ? ऐसा सोचने वालों को लक्ष्य में रख कर दिवाकर कहते हैं कि वैसे लोग आत्मनाश की ओर ही दौड़ते हैं—

विनिश्चयं नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवत्प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥

शास्त्र और पुराणों में दैवी चमत्कारों और असम्बद्ध घटनाओं को देख कर जब कोई उनकी समीक्षा करता है तब अन्धश्रद्धालु कह देते हैं, कि भाई ! हम ठहरे मनुष्य, और शास्त्र तो देव रचित हैं; फिर उनमें हमारी गति हो क्या ? इस सर्व सम्प्रदाय साधारण अनुभव को लक्ष्य में रख कर दिवाकर कहते हैं, कि हम जैसे मनुष्यरूपधारियों ने ही मनुष्यों के ही चरित, मनुष्य अधिकारी के ही निमित्त ग्रथित किये हैं । वे परीक्षा में असमर्थ पुरुषों के लिए अपार और गहन भले ही हों पर कोई हृदयवान् विद्वान् उन्हें अगाध मान कर कैसे मान लेगा ? वह तो परीक्षापूर्वक ही उनका स्वीकार-अस्वीकार करेगा—

मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणैर्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम् ।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवानगाधपाराणि कथं ग्रहीष्यति ॥ (६. ७)

हम सभी का यह अनुभव है कि कोई सुसंगत अद्यतन मानवकृति हुई तो उसे पुराणप्रेमी नहीं छुते जब कि वे किसी अस्त-व्यस्त और असंबद्ध तथा समझ में न आ सके ऐसे विचारवाले शास्त्र के प्राचीनों के द्वारा कहे जाने के कारण प्रशंसा करते नहीं अघाते । इस अनुभव के लिए दिवाकर इतना ही कहते हैं कि वह मात्र स्मृतिमोह है, उसमें कोई विवेकपटुता नहीं—

यदेव किंचिद्विषमप्रकल्पितं पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताऽप्यद्यमनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत्स्मृतिमोह एव सः ॥ (६-८)

हम अंत में इस परीक्षा-प्रधान बत्तीसीका एक ही पद्य भावसहित देते हैं—

न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः ।
गुणावबोधप्रभवं हि गौरवं कुलांगनावृत्तमतोऽन्यथा भवेत् ॥ (६-२८)

भाव यह है कि लोग किसी न किसी प्रकार के बड़प्पन के आवेश से, प्रस्तुत में क्या युक्त है और क्या अयुक्त है, इसे तत्त्वतः नहीं देखते । परन्तु सत्य बात तो यह है कि बड़प्पन गुणदृष्टि में ही है । इसके सिवाय का बड़प्पन निरा कुलांगना का चरित है । कोई अङ्गना मात्र अपने खानदान के नाम पर सद्वृत्त सिद्ध नहीं हो सकती ।

अन्त में यहां मैं सारी उस वेदान्त विषयक द्वात्रिंशिका को मूल मात्र दिए देता हूँ। यद्यपि इसका अर्थ द्वैतसांख्य और वेदान्त उभय दृष्टि से होता है तथापि इसकी खूबी मुझे यह भी जान पड़ती है कि उसमें औपनिषद भाव जैन तत्त्वज्ञान भी अबाधित रूप से कहा गया है। शब्दों का सेतु पार करके यदि कोई सूक्ष्मप्रज्ञ अर्थ गाम्भीर्य का स्पर्श करेगा तो इसमें से बौद्ध दर्शन का भाव भी पकड़ सकेगा। अतएव इसके अर्थ का विचार मैं स्थान संकोच के कारण पाठकों के ऊपर ही छोड़ देता हूँ। प्राच्य उपनिषदों के तथा गीता के विचारों और वाक्यों के साथ इसकी तुलना करने की मेरी इच्छा है, पर इसके लिए अन्य स्थान उपयुक्त होगा।

अजः पतंगः शबलो विश्वमयो धत्ते गर्भमचरं चरं च।
योऽस्याध्यक्षमकलं सर्वधान्यं वेदातीतं वेद वेद्यं स वेद ॥ १ ॥
स एवैतद्विश्वमधितिष्ठत्येकस्तमेवैनं विश्वमधितिष्ठत्येकम्।
स एवैतद्वेद यदिहास्ति वेद्यं तमेवैतद्वेद यदिहास्ति वेद्यम् ॥ २ ॥
स एवैतद्भुवनं सृजति विश्वरूपस्तमेवैतत्सृजति भुवनं विश्वरूपम्।
न चैवैनं सृजति कश्चिन्नित्यजातं न चासौ सृजति भुवनं नित्यजातम् ॥
एकायनशतात्मानमेकं विश्वात्मानममृतं जायमानम्।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति यस्तं च वेद किमृचा करिष्यति ॥४॥
सर्वद्वारा निभृत(ता) मृत्युपाशैः स्वयंप्रभानेकसहस्रपर्वा।
यस्या वेदाः शेरते यज्ञगर्भाः सैषा गुहा गूहते सर्वमेतत् ॥५॥
भावोभावो निःसतत्त्वो [सतत्त्वो] नारजना [रंजनो] यः प्रकारः।
गुणात्मको निर्गुणो निष्प्रभावो विश्वेश्वरः सर्वमयो न सर्वः ॥ ६ ॥
सृष्ट्वा सृष्ट्वा स्वयमेवोपभुंक्ते सर्वश्चायं भूतसर्गो यतश्च।
न चास्यान्यत्कारणं सर्गसिद्धौ न चात्मानं सृजते नापि चान्यान् ॥ ७ ॥
निरिन्द्रियचक्षुषा वेत्ति शब्दान् श्रोत्रेण रूपं जिघ्रति जिह्वया च।
पादैर्ब्रवीति शिरसा याति तिष्ठन् सर्वेण सर्वं कुरुते मन्यते च ॥ ८ ॥
शब्दातीतः कथ्यते वावदूकैर्ज्ञानातीतो ज्ञायते ज्ञानवद्भिः।
बन्धातीतो बध्यते क्लेशपाशैर्मोक्षातीतो मुच्यते निर्विकल्पः ॥ ९ ॥
नायं ब्रह्मा न कपर्दी न विष्णुर्ब्रह्मा चायं शंकरश्चाच्युतश्च।
अस्मिन् मूढाः प्रतिमाः कल्पयन्तो(न्ते) ज्ञानश्चायं न च भूयो नमोऽस्ति ॥
आपो वह्निर्मातरिश्वा हुताशः सत्यं मिथ्या वसुधा मेघयानम्।
ब्रह्मा कीटः शंकरस्तार्क्ष(र्क्ष्य)केतुः सर्वः सर्वथा सर्वतोऽयम् ॥११॥

स एवायं निभृता येन सत्त्वाः शश्वद्दुःखा दुःखमेवापियन्ति ।
स एवायमृषयो यं विदित्वा व्यतीत्य नाकममृतं स्वादयन्ति ॥१२॥
विद्याविद्ये यत्र नो संभवेते यन्नासन्नं नो दवीयो न गम्यम् ।
यस्मिन्मृत्युर्नेहते नो तु कामा(कामः) स सोऽक्षरः परमं ब्रह्म वेद्यम् ॥१३॥
ओतप्रोताः पशवो येन सर्वे ओतप्रोतः पशुभिश्चैव सर्वैः ।
सर्वे चेमे पशवस्तस्य होम्यं तेषां चायमीश्वरः संवरेण्यः ॥१४॥
तस्यैवैता रश्मयः कामधेनोर्याः पाप्मानमदुहानाः क्षरन्ति ।
येनाध्याताः पंच जनाः स्वपन्ति [प्रोद्बुद्धास्ते] स्वं परिवर्तमानाः ॥१५ ॥
तमेवाश्वत्थमृषयो वामनन्ति हिरण्मयं व्यस्तसहस्रशीर्षम् ।
मनःशयं शतशाखप्रशाखं यस्मिन् बीजं विश्वमोतं प्रजानाम् ॥१६॥
स गीयते वीयते चाध्वरेषु मन्त्रान्तरात्मा ऋग्यजुःसामशाखः ।
अधःशयो विततांगो गुहाध्यक्षः स विश्वयोनिः पुरुषो नैकवर्णः ॥१७॥
तेनैवैतद्विततं ब्रह्मजालं दुराचरं दृष्ट्युपसर्गपाशम् ।
अस्मिन्मग्ना मानवा मानशल्यैर्विवेष्यन्ते पशवो जायमानाः ॥१८॥
अयमेवान्तश्चरति देवतानामस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
अयमुद्दण्डः प्राणभुक् प्रेतयानैरेष त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥१९॥
अपां गर्भः सविता वह्निरेष हिरण्मयश्चान्तरात्मा देवयानः ।
एतेन स्तंभिता सुभगा द्यौर्नभश्च गुर्वी चोर्वी सप्त च भीमयादसः ॥२०॥
मनः सोमः सविता चक्षुरस्य घ्राणं प्राणो मुखमस्याज्यपिवः ।
दिशः श्रोत्रं नाभिरंभ्रमव्दयानं पादाविलाः सुरसाः सर्वमापः ॥२१॥
विष्णुर्बीजमंभोजगर्भः शंभुश्चायं कारणं लोकसृष्टौ ।
नैनं देवा विद्रते नो मनुष्या देवाश्चैनं विदुरितरेतराश्च ॥ २२ ॥
अस्मिन्नुदेति सविता लोकचक्षुरस्मिन्नस्तं गच्छति चांशुगर्भः
एषोऽजस्रं वर्तते कालचक्रमेतेनायं जीवते जीवलोकः ॥२३॥
अस्मिन् प्राणाः प्रतिबद्धाः प्रजानामस्मिन्नस्ता रथनाभाविवाराः ।
अस्मिन् प्रीते शीर्णमूलाः पतन्ति प्राणाशंसाः फलमिव मुक्तवृन्तम् ॥२४॥
अस्मिन्नेकशतं निहितं मस्तकानामस्मिन् सर्वा भूतयश्चेतयश्च ।
महान्तमेनं पुरुषं वेद वेद्यं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥२५॥
विद्वानज्ञश्चेतनोऽचेतनो वा स्रष्टा निरीहः स ह पुनानात्मतन्त्रः ।
क्षराकारः सततं चाक्षरात्मा विशीर्यन्ते वाचो युक्तयेऽस्मिन् ॥२६॥
बुद्धिबोद्धा बोधनीयोऽन्तरात्मा बाह्यश्चायं स परात्मा दुरात्मा ।
नासावेकं नापृथक् नाभि नोभौ सर्वे चैतत्पशवो य द्विषन्ति ॥२७॥

सर्वात्मकं सर्वगतं परीतमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ।
बालं कुमारमजरं च वृद्धं य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२८॥
नास्मिन् ज्ञाते ब्रह्मणि ब्रह्मचर्यं नेज्या जापः स्वस्तयो नो पवित्रम् ।
नाहं नान्यो नो महान्नो कनीयान्निःसामान्यो जायते निर्विशेषः ॥२९॥
नैनं मत्वा शोचते नाभ्युपैति नाप्याशास्ते म्रियते जायते वा ।
नास्मिंल्लोके गृह्यते नो परस्मिंल्लोकातीतो वर्तते लोक एव ॥३०॥
यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥३१॥
नानाकल्पं पश्यतो जीवलोकं नित्यासक्ता व्याधयश्चाधयश्च ।
यस्मिन्नेवं सर्वतः सर्वतत्त्वं दृष्टे देवे नो पुनस्तापमेति ॥३२॥[1]

उपसंहार—

उपसंहार में सिद्धसेन का एक पद्य उद्धृत करता हूँ जिसमें उन्होंने धाष्ट्र्यपूर्ण वक्तृत्व या पाण्डित्य का उपहास किया है—

दैवखातं च वदनं आत्मायत्तं च वाङ्मयम् ।
श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पण्डितः ॥

सारांश यह है, कि मुख का गड्ढा तो दैवने ही खोद रखा है, प्रयत्न यह अपने हाथ की बात है और सुननेवाले सर्वत्र सुलभ हैं; इसलिए वक्ता या पण्डित बनने के निमित्त यदि जरूरत है तो केवल निर्लज्जताकी है। एक बार धृष्ट बन कर बोलिए फिर सब कुछ सरल है।

ई० १९४५] [भारतीय विद्या

---

१ इस बत्तीसी का विवेचन श्री पंडित सुखलाल जी ने ही किया है, जो भारतीय विद्याभवन बंबई के द्वारा ई० १९४५ में प्रकाशित है। —सं०

सूची

द्वितीय खण्ड

जैन धर्म और दर्शन

भगवान् पार्श्वनाथ की विरासत ।

[एक ऐतिहासिक अध्ययन]

वर्तमान जैन परंपरा भगवान् महावीर की विरासत है । उनके आचार-विचार की छाप इसमें अनेक रूप से प्रकट होती है, इस बारे में तो किसी ऐतिहासिक को सन्देह था ही नहीं । पर महावीर की आचार-विचार की परंपरा उनकी निजी निर्मित है—जैसे कि बौद्ध परंपरा तथागत बुद्ध की निजी निर्मित है—या वह पूर्ववर्ती किसी तपस्वी की परंपरागत विरासत है ? इस विषय में पाश्चात्य ऐतिहासिक बुद्धि चुप न थी । जैन परंपरा के लिये श्रद्धा के कारण जो बात असन्दिग्ध थी उसी के विषय में वैज्ञानिक दृष्टि से एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करनेवाले तटस्थ पाश्चात्य विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया कि, पार्श्वनाथ आदि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के अस्तित्व में क्या कोई ऐतिहासिक प्रमाण है ? इस प्रश्न का माकूल जवाब तो देना चाहिए था जैन विद्वानों को, पर वे वैसा कर न सके । आखिर को डॉ० याकोबी जैसे पाश्चात्य ऐतिहासिक ही आगे आए, और उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन करके अकाट्य प्रमाणों के आधार पर बतलाया कि, कम से कम पार्श्वनाथ तो ऐतिहासिक हैं ही[1] । इस विषय में याकोबी महाशय ने जो प्रमाण बतलाए उनमें जैन आगमों के अतिरिक्त बौद्ध पिटक का भी समावेश होता है । बौद्ध पिटकगत उल्लेखों से जैन आगमगत वर्णनों का मेल बिठाया गया तब ऐतिहासिकों की प्रतीति दृढ़तर हुई कि, महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ अवश्य हुए हैं । जैन आगमों में पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती बाईस तीर्थंकरों का वर्णन आता है । पर उसका बहुत बड़ा हिस्सा मात्र पौराणिक है । उसमें ऐतिहासिक प्रमाणों की कोई गति अभी तो नहीं दिखती ।

---

१. डॉ० याकोबी : "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable."

—Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction, pp. XXI—XXXIII

याकोबी द्वारा पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता स्थापित होते ही विचारक और गवेषक को उपलब्ध जैन आगम अनेक बातों के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के जान पड़े और वैसे लोग इस दृष्टि से भी आगमों का अध्ययन-विवेचन करने लगे। फलतः कतिपय भारतीय विचारकों ने और विशेषतः पाश्चात्य विद्वानों ने उपलब्ध जैन आगम के आधार पर अनेकविध ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठी की और उसका यत्र-तत्र प्रकाशन भी होने लगा। अब तो धीरे-धीरे रूढ़ और श्रद्धालु जैन वर्ग का भी ध्यान ऐतिहासिक दृष्टि से श्रुत का अध्ययन करने की ओर जाने लगा है। यह एक सन्तोष की बात है।

प्रस्तुत लेख में उसी ऐतिहासिक दृष्टि का आश्रय लेकर विचार करना है कि, भगवान् महावीर को जो आचार-विचार की आध्यात्मिक विरासत मिली वह किस-किस रूप में मिली और किस परंपरा से मिली? इस प्रश्न का संक्षेप में निश्चित उत्तर देने के बाद उसका स्पष्टीकरण क्रमशः किया जाएगा। उत्तर यह है कि, महावीर को जो आध्यात्मिक विरासत मिली है, वह पार्श्वनाथ की परंपरागत देन है। वह विरासत मुख्यतया तीन प्रकार की है—(१) संघ (२) आचार और (३) श्रुत।

यद्यपि उपलब्ध आगमों में कई आगम ऐसे हैं कि जिनमें किसी न किसी रूप में पार्श्वनाथ या उनकी परंपरा का सूचन हुआ है। परन्तु इस लेख में मुख्यतया पाँच[२] आगम, जो कि इस विषय में अधिक महत्त्व रखते हैं, और जिनमें अनेक पुरानी बातें किसी न किसी प्रकार से यथार्थ रूप में सुरक्षित रह गई हैं, उनका उपयोग किया जाएगा। साथ ही बौद्ध पिटक में पाए जानेवाले संवादी उल्लेखों का तथा नई खोज करनेवालों के द्वारा उपस्थित की गई सामग्री में से उपयोगी अंश का भी उपयोग किया जाएगा।

दिगंबर-श्वेतांबर दोनों के ग्रंथों में वर्णित है कि, पार्श्वनाथ का जन्म काशी—बनारस में हुआ और उनका निर्वाण सम्मेतशिखर वर्तमान पार्श्वनाथ पहाड़—पर हुआ। दोनों के चरित्र-विषयक साहित्य से इतना तो निर्विवाद मालूम होता है कि पार्श्वनाथ का धर्म-प्रचार-क्षेत्र पूर्व भारत—खास कर गंगा के उत्तर और दक्षिण भाग—में रहा। खुद पार्श्वनाथ की विहार भूमि की सीमा का निश्चित निर्देश करना अभी संभव नहीं, परन्तु उनकी शिष्य परंपरा, जो पार्श्वापत्यिक कहलाती है, उसके विहार क्षेत्र की सीमा जैन और बौद्ध ग्रंथों के आधार पर, अस्पष्ट रूप में भी निर्दिष्ट की जा सकती है। अंगुत्तरनिकाय नामक

---

२. आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती और उत्तराध्ययन।

बौद्ध ग्रन्थ में बतलाया है कि, वप्प नाम का शाक्य निर्ग्रन्थश्रावक था।[3] इसी मूल सुत्त की अट्ठकथा में वप्प को गौतम बुद्ध का चाचा कहा है। वप्प बुद्ध का समकालीन कपिलवस्तु का निवासी शाक्य था। कपिलवस्तु नेपाल की तराई में है। नीचे की ओर रावती नदी—जो बौद्ध ग्रन्थों में अचिरावती नाम से प्रसिद्ध है, जो इरावती भी कहलाती है—उसके तट पर श्रावस्ती नामक प्रसिद्ध शहर था, जो आजकल सहटमहट[4] कहलाता है। श्रावस्ती में पार्श्वनाथ की परंपरा का एक निर्ग्रन्थ केशी था, जो महावीर के मुख्य शिष्य गौतम से मिला था[5]। उसी केशी ने पएसी नामक राजा को और उसके सारथि को धर्म प्राप्त कराया था[6]। जैन आगमगत सेयविया[7] ही बौद्ध पिटकों की सेतव्या जान पड़ती है, जो श्रावस्ती से दूर नहीं। वैशाली, जो मुजफ्फरपुर जिले का आजकल का बसाढ़[8] है, और क्षत्रियकुण्ड जो वासुकुण्ड[9] कहलाता है तथा वाणिज्य-ग्राम,[10] जो बनिया कहलाता है, उसमें भी पार्श्वापत्यिक मौजूद थे, जब कि महावीर का जीवनकाल आता है। महावीर के माता-पिता भी पार्श्वापत्यिक कहे गए हैं[11]। उनके नाना चेटक तथा बड़े भाई नन्दीवर्धन आदि पार्श्वापत्यिक रहे हों तो आश्चर्य नहीं। गंगा के दक्षिण राजगृही था, जो आजकल का राजगिर है। उसमें जब महावीर धर्मोपदेश करते हुए आते हैं तब तुंगियानिवासी पार्श्वापत्यिक श्रावकों और पार्श्वापत्यिक थेरों के बीच हुई धर्म चर्चा की बात गौतम के द्वारा

---

३. एकं समयं भगवा सक्केसुं विहरति कपिलवत्थुस्मिं अथ खो वप्पो सक्को निगण्ठसावगो इ० ॥—अंगुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात, वग्ग ५।

The Dictionary of Pali Proper Names, Vol II, P. 832.

४. श्री नन्दलाल डे : The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India, P. 189.

५. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २३।

६. रायपसेणइय (पं० बेचरदासजी संपादित), पृ० ३३० आदि।

७. देखो उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० २७४।

८, ९, १० देखो—वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९२; आ० विजय-कल्याणसूरि कृत श्रमणभगवानमहावीर में विहारस्थलनाम-कोष; The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India.

११. समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जसमणोवासगा यावि होत्था।—आचारांग, २, भावचूलिका ३, सूत्र ४०१।

सुनते हैं[१२]। तुंगिया राजगृह के नजदीक में ही कोई नगर होना चाहिये, जिसकी पहचान आचार्य विजयकल्याणसूरि आधुनिक तुंगी गाम से कराते हैं[१३]।

बचे-खुचे ऊपर के अति अल्प वर्णनों से भी इतना तो निष्कर्ष हम निर्विवाद रूप से निकाल सकते हैं कि, महावीर के भ्रमण और धर्मोपदेश के वर्णन में पाए जाने वाले गंगा के उत्तर दक्षिण के कई गाँव-नगर पार्श्वनाथ की परम्परा के निर्ग्रंथों के भी विहार-क्षेत्र एवं धर्मप्रचार-क्षेत्र रहे। इसी से हम जैन आगमों में यत्र-तत्र यह भी पाते हैं कि, राजगृही आदि में महावीर की पार्श्वापत्यिकों से भेंट हुई।

खुद बुद्ध अपनी बुद्धत्व के पहले की तपश्चर्या और चर्या का जो वर्णन करते हैं उसके साथ तत्कालीन निर्ग्रंथ आचार[१४] का हम जब मिलान करते हैं, कपिलवस्तु के निर्ग्रंथ श्रावक वप्प शाक्य का निर्देश सामने रखते हैं तथा बौद्ध पिटकों में पाए जाने वाले खास आचार और तत्त्वज्ञान संबन्धी कुछ पारिभाषिक शब्द[१५], जो केवल निर्ग्रंथ प्रवचन में ही पाए जाते हैं—इन सब पर विचार करते हैं तो ऐसा मानने में कोई खास सन्देह नहीं रहता कि, बुद्ध ने भले थोड़े

---

१२. भगवती, २, ५।

१३. श्रमणभगवान्महावीर, पृ० ३७१।

१४. तुलना—दशवैकालिक, अ० ३, ५-१ और मज्झिमनिकाय, महासिंहनादसुत्त।

१५. पुग्गल, आसव, संवर, उपोसथ, सावक, उपासग इत्यादि।

'पुग्गल' शब्द बौद्ध पिटक में पहले ही से जीव-व्यक्ति का बोधक रहा है। (मज्झिमनिकाय ११४)। जैन परम्परा में वह शब्द सामान्य रूप से जड़ परमाणुओं के अर्थ में रूढ हो गया है। तो भी भगवती, दशवैकालिक के प्राचीन स्तरों में उसका बौद्ध पिटक स्वीकृत अर्थ भी सुरक्षित रहा है। भगवती के ८-१०-३६१ में गौतम के प्रश्न के उत्तर में महावीर के मुख से कहलाया है कि, जीव 'पोग्गली' भी है और 'पोग्गल' भी। इसी तरह भगवती के २०-२ में जीवतत्त्व के अभिवचन—पर्यायरूप से 'पुग्गल' पद आया है। दशवैकालिक ५-१-७३ में 'पोग्गल' शब्द 'मांस' अर्थ में प्रयुक्त है, जो जीवनधारी के शरीर से संबंध रखता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह शब्द जैन-बौद्ध श्रुत से भिन्न किसी भी प्राचीन उपलब्ध श्रुत में देखा नहीं जाता।

'आसव' और 'संवर' ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्धार्थक हैं। आसव चित्त या आत्मा के क्लेश का बोधक है, जब कि संवर उसके निवारण एवं निवारणोपायका। ये दोनों शब्द पहले से जैन-आगम और बौद्ध पिटक में समान

ही समय के लिये हो, पार्श्वनाथ की परंपरा को स्वीकार किया था। अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी अपनी अन्तिम पुस्तक 'पार्श्वनाथाचा चातुर्याम धर्म' (पृ० २४, २६) में ऐसी ही मान्यता सूचित की है।

बुद्ध महावीर से प्रथम पैदा हुए और प्रथम ही निर्वाण प्राप्त किया। बुद्ध ने निर्ग्रंथों के तप:प्रधान आचारों की अवहेलना[१६] की है, और पूर्व-पूर्व गुरुओं की चर्या तथा तत्त्वज्ञान का मार्ग छोड़ कर अपने अनुभव से एक नए विशिष्ट मार्ग की स्थापना की है, गृहस्थ और त्यागी संघ का नया निर्माण किया है; जब कि महावीर ने ऐसा कुछ नहीं किया। महावीर का पितृधर्म पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथों का है। उन्होंने कहीं भी उन निर्गंथों के मौलिक आचार एवं तत्त्वज्ञान की जरा भी अवहेलना नहीं की है; प्रत्युत निर्ग्रंथों के परम्परागत उन्हीं आचार-विचारों को अपनाकर अपने जीवन के द्वारा उनका संशोधन, परिवर्धन एवं प्रचार किया है। इससे हमें मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि, महावीर पार्श्वनाथ की

अर्थ में ही प्रयुक्त देखे जाते हैं (तत्त्वार्थाधिगम सूत्र ६–१, २,; ८–१ ; ६–१ ; स्थानांगसूत्र १ स्थान ; समवायांगसूत्र ५ समवाय ; मज्झिमनिकाय २ ।

'उपोसथ' शब्द गृहस्थों के उपव्रत-विशेष का बोधक है, जो पिटकों में आता है (दीघनिकाय २६) । उसी का एक रूप पोसह या पोसध भी है, जो आगमों में पहले ही से प्रयुक्त देखा जाता है (उवासगदसाओ) ।

'सावग' तथा 'उवासग' ये दोनों शब्द किसी-न-किसी रूप में पिटक (दीघनिकाय ४) तथा आगमों में पहले ही से प्रचलित रहे हैं। यद्यपि बौद्ध परम्परा में 'सावग' का अर्थ है 'बुद्ध के साक्षात् भिक्षु-शिष्य' (मज्झिमनिकाय ३), जब कि जैन परम्परा में वह 'उपासक' की तरह गृहस्थ अनुयायी अर्थ में ही प्रचलित रहा है।

कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रम का त्याग कर भिक्षु बनता है तब उस अर्थ में एक वाक्य रूढ है, जो पिटक तथा आगम दोनों में पाया जाता है। वह वाक्य है "अगारस्मा अनगारियं पव्वजन्ति" (महावग्ग), तथा "अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए" (भगवती ११–१२–४३१) ।

यहाँ केवल नमूने के तौर पर थोड़े से शब्दों की तुलना की है, पर इसके विस्तार के लिए और भी पर्याप्त गुंजाइश है। ऊपर सूचित शब्द और अर्थ का सादृश्य खासा पुराना है। वह अकस्मात् हो ही नहीं सकता। अतएव इसके मूल में कहीं-न-कहीं जाकर एकता खोजनी होगी, जो संभवतः पार्श्वनाथ की परम्परा का ही संकेत करती है।

१६. मज्झिमनिकाय, महासिंहनादसुत्त ।

परम्परा में ही दीक्षित हुए—फिर भले ही वे एक विशिष्ट नेता बने। महावीर तत्कालीन पार्श्वापत्यिक परंपरा में ही हुए, इसी कारण से उनको पार्श्वनाथ के परंपरागत संघ, पार्श्वनाथ के परंपरागत आचार-विचार तथा पार्श्वनाथ का परम्परागत श्रुत विरासत में मिले, जिसका समर्थन नीचे लिखे प्रमाणों से होता है।

संघ—

भगवती १–६–७६ में कालासवेसी नामक पार्श्वापत्यिक का वर्णन है, जिसमें कहा गया है कि, वह किन्हीं स्थविरों से मिला और उसने सामायिक, संयम, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, विवेक आदि चरित्र संबन्धी मुद्दों पर प्रश्न किए। स्थविरों ने उन प्रश्नों का जो जवाब दिया, जिस परिभाषा में दिया, और कालासवेसी ने जो प्रश्न जिस परिभाषा में किए हैं, इस पर विचार करें तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि, वे प्रश्न और परिभाषाएँ सब जैन परिभाषा से ही सम्बद्ध हैं। थेरों के उत्तर से कालासवेसी का समाधान होता है तब वह महावीर के द्वारा नवसशोधित पंचमहाव्रत और प्रतिक्रमणधर्म को स्वीकार करता है। अर्थात् वह महावीर के संघ का एक सभ्य बनता है।

भगवती ५–६–२२६ में कतिपय थेरों का वर्णन है। वे राजगृही में महावीर के पास मर्यादा के साथ जाते हैं, उनसे इस परिमित लोक में अनन्त रात-दिन और परिमित रात-दिन के बारे में प्रश्न पूछते हैं। महावीर पार्श्वनाथ का हवाला देते हुए जवाब देते हैं कि, पुरिसादाणीय पार्श्व ने लोक का स्वरूप परिमित ही कहा है। फिर वे अपेक्षाभेद से रात-दिन की अनन्त और परिमित संख्या का खुलासा करते हैं। खुलासा सुनकर थेरों को महावीर की सर्वज्ञता के विषय में प्रतीति होती है, तब वे वन्दन-नमस्कारपूर्वक उनका शिष्यत्व स्वीकार करते हैं, अर्थात् पंच महाव्रतों और सप्रतिक्रमणधर्म के अंगीकार द्वारा महावीर के संघ के अंग बनते हैं।

भगवती ६–३२–३७८, ३७६ में गांगेय नामक पार्श्वापत्यिक का वर्णन है। वह वाणिज्यग्राम में महावीर के पास जाकर उनसे जीवों की उत्पत्ति-च्युति आदि के बारे में प्रश्न करता है। महावीर जवाब देते हुए प्रथम ही कहते हैं कि, पुरिसादाणीय पार्श्व ने लोक का स्वरूप शाश्वत कहा है। इसी से मैं उत्पत्ति-च्युति आदि का खुलासा अमुक प्रकार से करता हूँ। गांगेय पुनः प्रश्न करता है कि, आप जो कहते हैं वह किसी से सुनकर या स्वयं जानकर? महावीर के मुख से यहाँ कहलाया गया है कि, मैं केवली हूँ, स्वयं ही जानता हूँ। गांगेय को सर्वज्ञता की प्रतीति हुई, फिर वह चातुर्यामिक धर्म से पंचमहाव्रत स्वीकारने की अपनी

इच्छा प्रकट करता है और वह अन्त में सप्रतिक्रमण पंच महाव्रत स्वीकार करके महावीर के संघ का अंग बनता है।

सूत्रकृतांग के नालंदीया अध्ययन (२-७-७१, ७२, ८१) में पार्श्वापत्यिक उदक पेढाल का वर्णन है, जिसमें कहा गया है कि, नालंदा के एक श्रावक लेप की उदकशाला में जब गौतम थे तब उनके पास वह पार्श्वापत्यिक आया और उसने गौतम से कई प्रश्न पूछे। एक प्रश्न यह था कि, तुम्हारे कुमार-पुत्र आदि निर्ग्रंथ जब गृहस्थों को स्थूल व्रत स्वीकार कराते हैं तो यह क्या सिद्ध नहीं होता कि निषिद्ध हिंसा के सिवाय अन्य हिंसक प्रवृत्तियों में स्थूल व्रत देनेवाले निर्ग्रंथों की अनुमति है ? अमुक हिंसा न करो, ऐसी प्रतिज्ञा कराने से यह अपने आप फलित होता है कि, बाकी की हिंसा में हम अनुमत हैं—इत्यादि प्रश्नों का जवाब गौतम ने विस्तार से दिया है। जब उदक पेढाल को प्रतीति हुई कि गौतम का उत्तर सयुक्तिक है तब उसने चतुर्यामधर्म से पंचमहाव्रत स्वीकारने की इच्छा प्रकट की। फिर गौतम उसको अपने नायक ज्ञातपुत्र महावीर के पास ले जाते हैं। वहीं उदक पेढाल पंचमहाव्रत सप्रतिक्रमणधर्म को अंगीकार करके महावीर के संघ में सम्मिलित होता है। गौतम और उदक पेढाल के बीच हुई विस्तृत चर्चा मनोरंजक है।

उत्तराध्ययन के २३ वें अध्ययन में पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथ केशी और महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति—दोनों के श्रावस्ती में मिलने की और आचार-विचार के कुछ मुद्दों पर संवाद होने की बात कही गई है। केशी पार्श्वापत्यिक प्रभावशाली निर्ग्रंथ रूप से निर्दिष्ट हैं; इन्द्रभूति तो महावीर के प्रधान और साक्षात् शिष्य ही हैं। उनके बीच की चर्चा के विषय कई हैं, पर यहाँ प्रस्तुत दो हैं। केशी गौतम से पूछते हैं कि, पार्श्वनाथ ने चार याम का उपदेश दिया, जब कि वर्धमान—महावीर ने पाँच याम—महाव्रत का, सो क्यों ? इसी तरह पार्श्वनाथ ने सचेल—सवस्त्र धर्म बतलाया, जब कि महावीर ने अचेल—अवसन धर्म, सो क्यों ? इसके जवाब में इन्द्रभूति ने कहा कि, [१७] तत्त्वदृष्टि से चार याम और पाँच महाव्रत में कोई अन्तर नहीं है, केवल वर्तमान युग की कम और उलटी समझ देखकर ही महावीर ने विशेष शुद्धि की दृष्टि से चार के स्थान में पाँच महाव्रत का उपदेश किया है। और मोक्ष का वास्तविक कारण तो आन्तर ज्ञान, दर्शन और शुद्ध चारित्र ही है, वस्त्र का होना, न होना, यह तो लोकदृष्टि है। इन्द्रभूति के मूलगामी जवाब की यथार्थता देखकर केशी पंचमहाव्रत स्वीकार करते हैं; और इस तरह महावीर के संघ के एक अंग बनते हैं।

---

१७ उत्तराध्ययन. अ० २३, श्लोक २३-३२।

ऊपर के थोड़े से उद्धरण इतना समझने के लिए पर्याप्त हैं कि महावीर और उनके शिष्य इन्द्रभूति का कई स्थानों में पार्श्वापत्यिकों से मिलन होता है। इन्द्रभूति के अलावा अन्य भी महावीर-शिष्य पार्श्वापत्यिकों से मिलते हैं। मिलाप के समय आपस में चर्चा होती है। चर्चा मुख्य रूप से संयम के जुदे-जुदे अंग के अर्थ के बारे में एवं तत्त्वज्ञान के कुछ मन्तव्यों के बारे में होती है। महावीर जवाब देते समय पार्श्वनाथ के मन्तव्य का आधार भी लेते हैं और पार्श्वनाथ को 'पुरिसादाणीय' अर्थात् 'पुरुषों में आदेय' जैसा सम्मानसूचक विशेषण देकर उनके प्रति हार्दिक सम्मान सूचित करते हैं। और पार्श्व के प्रति निष्ठा रखनेवाले उनकी परंपरा के निर्ग्रंथों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। पार्श्वापत्यिक भी महावीर को अपनी परीक्षा में खरे उतरे देखकर उनके संघ में दाखिल होते हैं अर्थात् वे पार्श्वनाथ के परंपरागत संघ और महावीर के नवस्थापित संघ—दोनों के संधान में एक कड़ी बनते हैं। इससे यह मानना पड़ता है कि, महावीर ने जो संघ रचा उसकी भित्ति पार्श्वनाथ की संघ-परंपरा है।

यद्यपि कई पार्श्वापत्यिक महावीर के संघ में प्रविष्ट हुए, तो भी कुछ पार्श्वापत्यिक ऐसे भी देखे जाते हैं, जिनका महावीर के संघ में सम्मिलित होना निर्दिष्ट नहीं है। इसका एक उदाहरण भगवती २-५ में यों है—तुंगीया नामक नगर में ५०० पार्श्वापत्यिक श्रमण पधारते हैं। वहाँ के तत्त्वज्ञ श्रमणोपासक उनसे उपदेश सुनते हैं। पार्श्वापत्यिक स्थविर उनको चार याम आदि का उपदेश करते हैं। श्रावक उपदेश से प्रसन्न होते हैं और धर्म में स्थिर होते हैं। वे स्थविरों से संयम, तप आदि के विषय में तथा उसके फल के विषय में प्रश्न करते हैं। पार्श्वापत्यिक स्थविरों में से कालियपुत्त, मेहिल, आनन्दरक्खिय और कासव ये—चार स्थविर अपनी-अपनी दृष्टि से जवाब देते हैं। पार्श्वापत्यिक स्थविर और पार्श्वापत्यिक श्रमणोपासक के बीच तुंगीया में हुए इस प्रश्नोत्तर का हाल इन्द्रभूति राजगृही में सुनते हैं और फिर महावीर से पूछते हैं कि—"क्या ये पार्श्वापत्यिक स्थविर प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं?" महावीर स्पष्टतया कहते हैं कि—"वे समर्थ हैं। उन्होंने जो जवाब दिया वह सच है; मैं भी वही जवाब देता।" इस संवादकथा में ऐसा कोई निर्देश नहीं कि, तुंगीयावाले पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथ या श्रमणोपासक महावीर के संघ में प्रविष्ट हुए। यदि वे प्रविष्ट होते तो इतने बड़े पार्श्वापत्यिक संघ के महावीर के संघ में सम्मिलित होने की बात समकालीन या उत्तरकालीन आचार्य शायद ही भूलते।

यहाँ एक बात खास ध्यान देने योग्य है कि, पार्श्वापत्यिक श्रमण न तो

महावीर के पास आए हैं, न उनके संघ में प्रविष्ट हुए हैं, फिर भी महावीर उनके उत्तर की सचाई और क्षमता को स्पष्ट स्वीकार ही करते हैं।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि, जो पार्श्वापत्यिक महावीर के संघ में आए, वे भी महावीर की सर्वज्ञता के बारे में पूरी प्रतीति कर लेने के पश्चात् ही उनको विधिवत् वन्दन-नमस्कार - 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वन्दामि'—करते हैं; उसके पहले तो वे केवल उनके पास शिष्टता के साथ आते हैं—'अदूर-सामंते ठिच्चा'।

पार्श्वनाथ की परंपरा के त्यागी और गृहस्थ व्यक्तियों से संबन्ध रखने वाली, उपलब्ध आगमों में जो कुछ सामग्री है, उसको योग्य रूप में सकलित एवं व्यवस्थित करके पार्श्वनाथ के महावीर-कालीन संघ का सारा चित्र पं० दलसुख मालवणिया ने अपने एक अभ्यासपूर्ण लेख में, बीस वर्ष पहले खींचा है जो इस प्रसंग में खास द्रष्टव्य है। यह लेख 'जैन प्रकाश' के 'उत्थान-महावीरांक' में छपा है।

आचार—

अब हम आचार की विरासत के प्रश्न पर आते हैं। पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथों का आचार बाह्य-आभ्यन्तर दो रूप में देखने में आता है। अनगारत्व, निर्ग्रंथत्व, सचेलत्व, शीत, आतप आदि परिषह-सहन, नाना प्रकार के उपवास व्रत और भिक्षाविधि के कठोर नियम इत्यादि बाह्य आचार हैं। सामायिक समत्व या समभाव, पचक्खाण—त्याग, संयम—इन्द्रियनियमन, संवर—कषायनिरोध, विवेक - अलिप्तता या सदसद्विवेक, व्युत्सर्ग—ममत्वत्याग, हिंसा असत्य अदत्तादान और बहिद्धादाण से विरति इत्यादि आभ्यन्तर आचार में सम्मिलित हैं।

पहले कहा जा चुका है कि, बुद्ध ने गृहत्याग के बाद निर्ग्रंथ आचारों का भी पालन किया था। बुद्ध ने अपने द्वारा आचरण किए गए निर्ग्रंथ आचारों का जो संक्षेप में संकेत किया है उसका पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथों की चर्या के उपलब्ध वर्णन के साथ मिलान करते हैं[१८] एवं महावीर के द्वारा आचरित बाह्य चर्या के साथ मिलान करते हैं[१९] तो सन्देह नहीं रहता कि, महावीर को निर्ग्रंथ या अनगार धर्म की बाह्य चर्या पार्श्वापत्यिक परंपरा से मिली है—भले ही उन्होंने उसमें देशकालानुसारी थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया हो। आभ्यन्तर आचार भी भगवान् महावीर का वही है जो पार्श्वापत्यिकों में प्रचलित था। कालासवेसीपुत्त

१८. देखो—नोट नं० १४।

१९. आचारांग, अ० ९।

जैसे पार्श्वापत्यिक आभ्यन्तर चरित्र से संबद्ध पारिभाषिक शब्दों का जब अर्थ पूछते हैं तब महावीर के अनुयायी स्थविर वही जवाब देते हैं, जो पार्श्वापत्यिक परंपरा में भी प्रचलित था।

निर्ग्रंथों के बाह्य-आभ्यंतर आचार-चारित्र के पार्श्वपरंपरा से विरासत में मिलने पर भी महावीर ने उसमें जो सुधार किया है वह भी आगमों के विश्वसनीय प्राचीन स्तर में सुरक्षित है। पहले संघ की विरासतवाले वर्णन में हमने सूचित किया ही है कि, जिन-जिन पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथों ने महावीर का नेतृत्व माना उन्होंने सप्रतिक्रमण पाँच महाव्रत स्वीकार किए। पार्श्वनाथ की परंपरा में चार याम थे, इसलिए पार्श्वनाथ का निर्ग्रंथधर्म चातुर्याम कहलाता था। इस बात का समर्थन बौद्ध पिटक दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में आए हुए निर्ग्रंथ के 'चातु-याम-संवर-संवुतो' इस विशेषण से होता है। यद्यपि उस सूत्र में ज्ञातपुत्र महावीर के मुख से चातुर्याम धर्म का वर्णन बौद्ध पिटक-संग्राहकों ने कराया है, पर इस अंश में वे भ्रान्त जान पड़ते हैं। पार्श्वापत्यिक परंपरा बुद्ध के समय में विद्यमान भी थी और उससे बुद्ध का तथा उनके कुछ अनुयायियों का परिचय भी था, इसलिये वे चातुर्याम के बारे में ही जानते थे। चातुर्याम के स्थान में पाँच यम या पाँच महाव्रत का परिवर्तन महावीर ने किया, जो पार्श्वापत्यिकों में से ही एक थे। यह परिवर्तन पार्श्वापत्यिक परंपरा की दृष्टि से भले ही विशेष महत्त्व रखता हो, पर निर्ग्रन्थ-भिन्न इतर समकालीन बौद्ध जैसी श्रमण परंपराओं के लिए कोई खास ध्यान देने योग्य बात न थी। जो परिवर्तन किसी एक फिरके की आन्तरिक वस्तु होती है उसकी जानकारी इतर परम्पराओं में बहुधा तुरन्त नहीं होती। बुद्ध के सामने समर्थ पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र महावीर ही रहे, इसलिए बौद्ध ग्रंथ में पार्श्वापत्यिक परंपरा का चातुर्याम धर्म महावीर के मुख से कहलाया जाए तो यह स्वाभाविक है। परन्तु इस वर्णन के ऊपर से इतनी बात निर्विवाद साबित होती है कि, पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ पहले चातुर्याम धर्म के अनुयायी थे, और महावीर के संबन्ध से उस परंपरा में पंच यम दाखिल हुए। दूसरा सुधार महावीर ने सप्रतिक्रमण धर्म दाखिल करके किया है, जो एक निर्ग्रन्थ परम्परा का आन्तरिक सुधार है। सम्भवतः इसीलिए बौद्ध ग्रन्थों में इसका कोई निर्देश नहीं।

बौद्ध ग्रन्थों में[२०] पूरणकाश्यप के द्वारा कराए गए निर्ग्रन्थ के वर्णन में 'एकशाटक' विशेषण आता है; 'अचेल' विशेषण आजीवक के साथ आता है। निर्ग्रन्थ का 'एकशाटक' विशेषण मुख्यतया पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ की ओर

---

२०. अंगुत्तरनिकाय, छक्कनिपात, २–१।

ही संकेत करता है। हम आचारांग में वर्णित और सबसे अधिक विश्वसनीय महावीर के जीवन-अंश से यह तो जानते ही हैं कि महावीर ने गृहत्याग किया तब एक वस्त्र—चेल धारण किया था। क्रमशः उन्होंने उसका हमेशा के वास्ते त्याग किया, और पूर्णतया अचेलत्व स्वीकार किया[२१]। उनकी यह अचेलत्व भावना मूलगत रूप से हो या पारिपार्श्विक परिस्थिति में से ग्रहण कर आत्मसात् की हो, यह प्रश्न यहाँ प्रस्तुत नहीं ; प्रस्तुत इतना ही है कि, महावीर ने सचेलत्व में से अचेलत्व की ओर कदम बढ़ाया। इस प्रकाश में हम बौद्धग्रन्थों में आए हुए निर्ग्रन्थ के विशेषण 'एकशाटक' का तात्पर्य सरलता से निकाल सकते हैं। वह यह कि, पार्श्वापत्यिक परंपरा में निर्ग्रन्थों के लिये मर्यादित वस्त्रधारण वर्जित न था, जब कि महावीर ने वस्त्रधारण के बारे में अनेकान्तदृष्टि से काम लिया। उन्होंने सचेलत्व और अचेलत्व दोनों को निर्ग्रन्थ संघ के लिए यथाशक्ति और यथारुचि स्थान दिया। अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी अपने 'पार्श्वनाथाचा चातुर्याम धर्म' (पृ० २०) में ऐसा ही मत दरसाया है। इसी से हम उत्तराध्ययन के केशी-गौतम-संवाद में अचेल और सचेल धर्म के बीच समन्वय पाते हैं। उसमें खास तौर से कहा गया है कि, मोक्ष के लिये तो मुख्य और पारमार्थिक लिंग—साधन ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप आध्यात्मिक सम्पत्ति ही है। अचेलत्व या सचेलत्व यह तो लौकिक—बाह्य लिंगमात्र है, पारमार्थिक नहीं।

इस तात्पर्य का समर्थन भगवती आदि में वर्णित पार्श्वापत्यिकों के परिवर्तन से स्पष्ट होता है। महावीर के संघ में दाखिल होनेवाले किसी भी पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथ के परिवर्तन के बारे में यह उल्लेख नहीं है कि, उसने सचेलत्व के स्थान में अचेलत्व स्वीकार किया; जब कि उन सभी परिवर्तन करनेवाले निर्ग्रंथों के लिए निश्चित रूप से कहा गया है कि उन्होंने चार याम के स्थान में पाँच महाव्रत और प्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया।

महावीर के व्यक्तित्व, उनकी आध्यात्मिक दृष्टि और अनेकान्त वृत्ति को देखते हुए ऊपर वर्णन की हुई सारी घटना का मेल सुसंगत बैठ जाता है। महाव्रत और प्रतिक्रमण का सुधार, यह अन्तःशुद्धि का सुधार है इसलिए महावीर ने उस पर पूरा भार दिया, जब कि स्वयं स्वीकार किए हुए अचेलत्व पर एकान्त भार

---

२१. णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते।
से पारए आवकहाए एयं खु अणुधम्मियं तस्स ॥२॥
संवच्छरं साहियं मासं जं न रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए तओ चाइ तं वोसिज्ज वत्थमणगारे ॥४॥
—आचारांग, १-६-१।

नहीं दिया। उन्होंने सोचा होगा कि, आखिर अचेलत्व या सचेलत्व, यह कोई जीवन-शुद्धि की अन्तिम कसौटी नहीं है। इसीलिए उनके निर्ग्रंथ संघ में सचेल और अचेल दोनों निर्ग्रंथ अपनी-अपनी रुचि एवं शक्ति का विचार करके ईमानदारी के साथ परस्पर उदार भाव से रहे होंगे। उत्तराध्ययन का वह संवाद उस समय की सूचना देता है, जब कि कभी निर्ग्रन्थों के बीच सचेलत्व के बारे में सारासार के तारतम्य की विचारणा चली होगी। पर उस समन्वय के मूल में अनेकान्त दृष्टि का जो यथार्थ प्राण स्पन्दित होता है वह महावीर के विचार की देन है।

पार्श्वापत्यिक परंपरा में जो चार याम थे उनके नाम स्थानांगसूत्र में यों आते हैं; (१) सर्वप्राणातिपात—(२) सर्वमृषावाद—(३) सर्वअदत्तादान—और (४) सर्वबहिद्धादाण—से विरमण [२२]। इनमें से 'बहिद्धादाण' का अर्थ जानना यहाँ प्राप्त है। नवांगीटीकाकार अभयदेव ने 'बहिद्धादाण' शब्द का अर्थ 'परिग्रह' सूचित किया है। 'परिग्रह से विरति' यह पार्श्वापत्यिकों का चौथा याम था, जिसमें अब्रह्म का वर्जन अवश्य अभिप्रेत था [२३]। पर जब मनुष्यसुलभ दुर्बलता के कारण अब्रह्मविरमण में शिथिलता आई और परिग्रह-विरति के अर्थ में स्पष्टता करने की जरूरत मालूम हुई तब महावीर ने अब्रह्मविरमण को परिग्रहविरमण से अलग स्वतंत्र यम रूप में स्वीकार करके पाँच महाव्रतों की भीष्मप्रतिज्ञा निर्ग्रंथों के लिए रखी और स्वयं उस प्रतिज्ञा-पालन के पुरस्कर्ता हुए। इतना ही नहीं बल्कि क्षण-क्षण के जीवनक्रम में बदलनेवाली मनोवृत्तियों के कारण होनेवाले मानसिक, वाचिक, कायिक दोष भी महावीर को निर्ग्रंथ-जीवन के लिए अत्यन्त अखरने लगे, इससे उन्होंने निर्ग्रंथ-जीवन में सतत जागृति रखने की दृष्टि से प्रतिक्रमण धर्म को नियत स्थान दिया, जिससे कि प्रत्येक निर्ग्रंथ सायं-प्रातः अपने जीवन की त्रुटियों का निरीक्षण करे और लगे

---

२२. मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति, तं०—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं १।—स्थानांग, सूत्र २६६, पत्र २०१ अ।

२३. "बहिद्धादाणाओ" त्ति बहिद्धा—मैथुनं परिग्रहविशेषः आदानं च परिग्रहस्तयोर्द्वन्द्वैकत्वमथवा आदीयत इत्यादानं परिग्राह्यं वस्तु तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह—बहिस्तात्-धर्मोपकरणाद् बहिर्यदिति। इह च मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यत इति।—स्थानांग, २६६ सूत्रवृत्ति, पत्र २०१ ब।

दोषों की आलोचनापूर्वक आयंदा दोषों से बचने के लिए शुद्ध संकल्प को दृढ़ करे। महावीर की जीवनचर्या और उनके उपदेशों से यह भली-भाँति जान पड़ता है कि, उन्होंने स्वीकृत प्रतिज्ञा की शुद्धि और अन्तर्जागृति पर जितना भार दिया है उतना अन्य चीजों पर नहीं। यही कारण है कि तत्कालीन अनेक पार्श्वापत्यिकों के रहते हुए भी उन्हीं में से एक ज्ञातपुत्र महावीर ही निर्ग्रंथ संघ के अगुवा रूप से या तीर्थंकर रूप से माने जाने लगे। महावीर के उपदेशों में जितना भार कषायविजय पर है—जो कि निर्ग्रन्थ-जीवन का मुख्य साध्य है—उतना भार अन्य किसी विषय पर नहीं है। उनके इस कठोर प्रयत्न के कारण ही चार याम का नाम स्मृतिशेष बन गया व पाँच महाव्रत संयमधर्म के जीवित अंग बने।

महावीर के द्वारा पंच महाव्रत-धर्म के नए सुधार के बारे में तो श्वेताम्बर-दिगम्बर एकमत हैं, पर पाँच महाव्रत से क्या अभिप्रेत है, इस बारे में विचारभेद अवश्य है। दिगंबराचार्य वट्टकेर का एक 'मूलाचार' नामक ग्रन्थ है—जो संग्रहात्मक है—उसमें उन्होंने पाँच महाव्रत का अर्थ पाँच यम न बतलाकर केवल जैन-परंपरा परिचित पाँच चारित्र बतलाया है। उनका कहना है कि, महावीर के पहले मात्र सामायिक चारित्र था, पर महावीर ने छेदोपस्थापन दाखिल करके सामायिक के ही विस्तार रूप से अन्य चार चारित्र बतलाए, जिससे महावीर पंच महाव्रत-धर्म के उपदेशक माने जाते हैं। आचार्य वट्टकेर की तरह पूज्यपाद, अकलंक, आशाधर आदि लगभग सभी दिगंबराचार्य और दिगंबर विद्वानों का वह एक ही अभिप्राय है[२४]। निःसन्देह श्वेतांबर-परंपरा के पंच महाव्रतधर्म के खुलासे से दिगंबर परंपरा का तत्संबन्धी खुलासा जुदा पड़ता है। भद्रबाहुकर्तृक मानी जानेवाली निर्युक्ति में भी छेदोपस्थापना चारित्र को दाखिल करके पाँच चारित्र महावीरशासन में प्रचलित किए जाने की कथा निर्दिष्ट है, पर यह कथा केवल चारित्रपरिणाम की तीव्रता, तीव्रतरता और तीव्रतमता के तारतम्य पर एवं भिन्न-भिन्न दीक्षित व्यक्ति के अधिकार पर प्रकाश डालती है, न कि समग्र निर्ग्रंथों के लिए अवश्य स्वीकार्य पंच महाव्रतों के ऊपर। जब कि महावीर का पंच महाव्रत-धर्म-विषयक सुधार निर्ग्रंथ दीक्षा लेनेवाले सभी के लिए एक-सा रहा, ऐसा भगवती आदि ग्रंथों से तथा बौद्ध पिटक निर्दिष्ट 'चातु-याम-संवर-संवुतो'[२५] इस विशेषण से फलित होता है। इसके समर्थन में प्रतिक्रमण धर्म का उदाहरण पर्याप्त है। महावीर ने प्रतिक्रमण धर्म भी सभी निर्ग्रन्थों

---

२४. देखो—पं० जुगल किशोर जी मुख्तार कृत—जैनाचार्यों का शासनभेद, परिशिष्ट 'क'।

२५. "चातु-याम-संवर-संवुतो" इस विशेषण के बाद 'सव्व-वारि-वारितो' इत्यादि

के लिए समान रूप से अनुशासित किया। इस प्रकाश में पंच महाव्रत धर्म का अनुशासन भी सभी निर्ग्रन्थों के लिये रहा हो, यही मानना पड़ता है। मूलाचार आदि दिगंबर परंपरा में जो विचारभेद सुरक्षित है वह साधार अवश्य है, क्योंकि, श्वेतांबरीय सभी ग्रन्थ छेदोपस्थान सहित पाँच चारित्र का प्रवेश महावीर के शासन में बतलाते हैं। पाँच महाव्रत और पाँच चारित्र ये एक नहीं। दोनों में पाँच की संख्या समान होने से मूलाचार आदि ग्रन्थों में एक विचार सुरक्षित रहा तो श्वेताम्बर ग्रन्थों में दूसरा भी विचार सुरक्षित है। कुछ भी हो, दोनों परंपराएँ पंच महाव्रत धर्म के सुधार के बारे में एक-सी सम्मत हैं।

वस्तुतः पाँच महाव्रत यह पार्श्वापत्यिक चातुर्याम का स्पष्टीकरण ही है। इससे यह कहने में कोई बाधा नहीं कि, महावीर को संयम या चारित्र की विरासत भी पार्श्वनाथ की परंपरा से मिली है।

हम योगपरंपरा के आठ योगांग से परिचित हैं। उनमें से प्रथम अंग यम है। पातंजल योगशास्त्र (२–३०, ३१ में अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम गिनाए हैं; साथ ही इन्हीं पाँच यमों को महाव्रत भी कहा है—जब कि वे पाँच यम परिपूर्ण या जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्न हों। मेरा खयाल है कि, महावीर के द्वारा पाँच यमों पर अत्यन्त भार देने एवं उनको महाव्रत के रूप से मान लेने के कारण ही 'महाव्रत' शब्द पाँच यमों के लिए विशेष प्रसिद्धि में आया। आज तो यम या याम शब्द पुराने जैनश्रुत में, बौद्ध पिटकों में और उपलब्ध योगसूत्र में मुख्यतया सुरक्षित है। 'यम' शब्द का उतना प्रचार अब नहीं है, जितना प्रचार 'महाव्रत' शब्द का।

विशेषण ज्ञातपुत्र महावीर के लिए आते हैं। इनमें से 'सव्व-वारि-वारितो' का अर्थ अट्ठकथा के अनुसार श्री राहुल जी आदि ने किया है कि—"निगण्ठ (निर्ग्रन्थ) जल के व्यवहार का वारण करता है (जिससे जल के जीव न मारे जाएँ)।" (दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० २१) पर यह अर्थ भ्रमपूर्ण है। जलबोधक "वारि" शब्द होने से तथा निर्ग्रन्थ सचित्त जल का उपयोग नहीं करते. इस वस्तुस्थिति के दर्शन से भ्रम हुआ जान पड़ता है। वस्तुतः "सव्व-वारि-वारितो" का अर्थ यही है कि—सब अर्थात् हिंसा आदि चारों पापकर्म के वारि अर्थात् वारण याने निषेध के कारण वारित अर्थात् विरत; याने हिंसा आदि सब पापकर्मों के निवारण के कारण उन दोषों से विरत। यही अर्थ अगले 'सव्व-वारि-युतो', 'सव्व-वारि-धुतो' इत्यादि विशेषण में स्पष्ट किया गया है। वस्तुतः सभी विशेषण एक ही अर्थ को भिन्न-भिन्न भंगी से दरसाते हैं।

जब चार याम में से महावीर के पाँच महाव्रत और बुद्ध के पाँच शील के विकास पर विचार करते हैं तब कहना पड़ता है कि, पार्श्वनाथ के चार याम की परंपरा का ज्ञातपुत्र ने अपनी दृष्टि के अनुसार और शाक्यपुत्र ने अपनी दृष्टि के अनुसार विकास किया है[२६], जो अभी जैन और बौद्ध परंपरा में विरासतरूप से विद्यमान है।

श्रुत—

अब हम अन्तिम विरासत—श्रुतसम्पत्ति—पर आते हैं। श्वेतांबर-दिगंबर दोनों के वाङ्मय में जैन श्रुत का द्वादशांगी रूप से निर्देश है।[२७] आचारांग आदि ग्यारह अंग और बारहवें दृष्टिवाद अंग का एक भाग चौदह पूर्व, ये विशेष प्रसिद्ध हैं। आगमों के प्राचीन समझे जाने वाले भागों में जहाँ-जहाँ किसी के अनगार धर्म स्वीकार करने की कथा है वहाँ या तो ऐसा कहा गया है कि वह सामायिक आदि ग्यारह अंग पढ़ता है या वह चतुर्दश पूर्व पढ़ता है।[२८] हमें इन उल्लेखों के ऊपर से विचार यह करना है कि, महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ या उनकी परंपरा की श्रुत-सम्पत्ति क्या थी? और इसमें से महावीर को विरासत मिली या नहीं? एवं मिली तो किस रूप में?

शास्त्रों में यह तो स्पष्ट ही कहा गया है कि, आचारांग आदि ग्यारह अंगों

---

२६. अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने अन्त में जो "पार्श्वनाथ चा चातुर्याम धर्म" नामक पुस्तक लिखी है उसका मुख्य उद्देश ही यह है कि, शाक्यपुत्र ने पार्श्वनाथ के चातुर्यामधर्म की परंपरा का विकास किस-किस तरह से किया, यह बतलाना।

२७. षट्खण्डागम (धवला टीका), खण्ड १, पृष्ठ ६ : बारह अंगगिज्झा। समवायांग, पत्र १०६, सूत्र १३६ : दुवालसंगे गणिपिडगे। नन्दीसूत्र (विजयदानसूरि संशोधित) पत्र ९४ : अंगपविठ्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं।

२८ ग्यारह अंग पढ़ने का उल्लेख - भगवती २ १; ११–९ ज्ञाता धर्मकथा, अ० १२। चौदह पूर्व पढ़ने का उल्लेख—भगवती ११–११–४३२, १७–२–६१७; ज्ञाताधर्म-कथा, अ० ५। ज्ञाता० अ० १६ में पाण्डवों के चौदह पूर्व पढ़ने का व द्रौपदी के ग्यारह अंग पढ़ने का उल्लेख है। इसी तरह ज्ञाता० २–१ में काली साध्वी बन कर ग्यारह अंग पढ़ती है, ऐसा वर्णन है।

की रचना महावीर के अनुगामी गणधरों ने की। [२९] यद्यपि नन्दीसूत्र की पुरानी व्याख्या—चूर्णि—जो विक्रम की आठवीं सदी से अर्वाचीन नहीं—उसमें 'पूर्व' शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि, महावीर ने प्रथम उपदेश दिया इसलिए 'पूर्व' कहलाए [३०], इसी तरह विक्रम की नवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य वीरसेन ने धवला में 'पूर्वगत' का अर्थ बतलाते हुए कहा कि जो पूर्वों को प्राप्त हो या जो पूर्व स्वरूप प्राप्त हो वह 'पूर्वगत' [३१]; परन्तु चूर्णिकार एवं उत्तरकालीन वीरसेन, हरिभद्र, मलयगिरि आदि व्याख्याकारों का वह कथन केवल 'पूर्व' और 'पूर्वगत' शब्द का अर्थ घटन करने के अभिप्राय से हुआ जान पड़ता है। जब भगवती में कई जगह महावीर के मुख से यह कहलाया गया है कि, अमुक वस्तु पुरुषादानीय पार्श्वनाथ ने वही कही है जिसको मैं भी कहता हूँ, और जब हम सारे श्वेतांबर-दिगंबर श्रुत के द्वारा यह भी देखते हैं कि, महावीर का तत्त्वज्ञान वही है जो पार्श्वापत्यिक परम्परा से चला आता है, तब हमें 'पूर्व' शब्द का अर्थ समझने में कोई दिक्कत नहीं होती। पूर्व श्रुत का अर्थ स्पष्टतः यही है कि, जो श्रुत महावीर के पूर्व से पार्श्वापत्यिक परम्परा द्वारा चला आता था, और जो किसी न किसी रूप में महावीर को भी प्राप्त हुआ। प्रो॰ याकोबी आदि का भी ऐसा ही मत है। [३२] जैन श्रुत के मुख्य विषय नवतत्त्व, पंच अस्तिकाय, आत्मा और कर्म का संबन्ध, उसके कारण, उनकी निवृत्ति के उपाय, कर्म का स्वरूप इत्यादि हैं। इन्हीं विषयों को महावीर और उनके शिष्यों ने संक्षेप से विस्तार और विस्तार से संक्षेप कर भले ही कहा हो, पर वे सब विषय पार्श्वापत्यिक परम्परा के पूर्ववर्ती श्रुत में किसी-न-किसी रूप

२९–३०. जम्हा तित्थकरो तित्थपवत्तणकाले गणधराणं सव्वसुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगतसुत्तत्थं भासति तम्हा पुव्वं ति भणिता, गणधरा पुण सुत्तरयणं करेन्ता आयाराइकमेण रएंति ठवेंति य।

—नन्दीसूत्र (विजयदानसूरिसंशोधित) चूर्णि, पृ॰ १११ अ।

३१. पुव्वाणं गयं पत्त-पुव्वसरूवं वा पुव्वगयमिदि गणणामं।

—षट्खंडागम (धवला टीका), पुस्तक १, पृ॰ ११४।

2. The name (पूर्व) itself testifies to the fact that the Purvas were superseded by a new canon, for Purva means former, earlier……

—Sacred Books of the East, Vol XXII Introduction, P. XLIV

में निरूपित थे, इस विषय में कोई सन्देह नहीं। एक भी स्थान में महावीर या उनके शिष्यों में से किसी ने ऐसा नहीं कहा कि, जो महावीर का श्रुत है वह अपूर्व अर्थात् सर्वथा नवोत्पन्न है। चौदह पूर्व के विषयों की एवं उनके भेद प्रभेदों की जो टूटी-फूटी यादी नन्दी सूत्र[33] में तथा धवला[34] में मिलती है उसका आचारांग आदि ग्यारह अंगों में तथा अन्य उपांग आदि शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों के साथ मिलान करते हैं तो, इसमें सन्देह ही नहीं रहता कि, जैन परंपरा के आचार-विचार विषयक मुख्य मुद्दों की चर्चा, पार्श्वापत्यिक परंपरा के पूर्वश्रुत और महावीर की परंपरा के अंगोपांग श्रुत में समान ही है। इससे मैं अभी तक निम्नलिखित निष्कर्ष पर आया हूँ—

(१) पार्श्वनाथीय परंपरा का पूर्वश्रुत महावीर को किसी-न-किसी रूप में प्राप्त हुआ। उसी में प्रतिपादित विषयों पर ही अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार आचारांग आदि ग्रंथों की जुदे जुदे हाथों से रचना हुई है।

(२) महावीरशासित संघ में पूर्वश्रुत और आचारांग आदि श्रुत—दोनों की बड़ी प्रतिष्ठा रही। फिर भी पूर्वश्रुत की महिमा अधिक ही की जाती रही है। इसी से हम दिगम्बर-श्वेतांबर दोनों परम्परा के साहित्य में आचार्यों का ऐसा प्रयत्न पाते हैं, जिसमें वे अपने-अपने कर्म विषयक तथा ज्ञान आदि विषयक इतर पुरातन ग्रन्थों का संबन्ध उस विषय के पूर्वनामक ग्रन्थ से जोड़ते हैं, इतना ही नहीं पर दोनों परम्परा में पूर्वश्रुत का क्रमिक ह्रास लगभग एक-सा वर्णित होने पर भी कमीवेश प्रमाण में पूर्वज्ञान को धारण करनेवाले आचार्यों के प्रति विशेष बहुमान दरसाया गया है। दोनों परंपरा के वर्णन से इतना निश्चित मालूम पड़ता है कि, सारी निर्ग्रन्थ परम्परा अपने वर्तमान श्रुत का मूल पूर्व में मानती आई है।

(३) पूर्वश्रुत में जिस-जिस देश-काल का एव जिन-जिन व्यक्तियों के जीवन का प्रतिबिंब था उससे आचारांग आदि अंगों में भिन्न देशकाल एवं भिन्न व्यक्तियों के जीवन का प्रतिबिंब पड़ा यह स्वाभाविक है; फिर भी आचार एवं तत्वज्ञान के मुख्य मुद्दों के स्वरूप में दोनों में कोई खास अन्तर नहीं पड़ा।

उपसंहार—

महावीर के जीवन तथा धर्मशासन से सम्बद्ध अनेक प्रश्न ऐसे हैं, जिनकी गवेषणा आवश्यक है; जैसे कि आजीवक परंपरा से महावीर का संबन्ध तथा

---

३३. नन्दीसूत्र, पत्र १०९ अ से।

३४ षट्खंडागम (धवला टीका), पुस्तक १, पृ० ११४ से।

इतर समकालीन तापस, परिव्राजक और बौद्ध आदि परंपराओं से उनका संबन्ध— ऐसे संबन्ध जिन्होंने महावीर के प्रवृत्ति क्षेत्र पर कुछ असर डाला हो या महावीर की धर्म प्रवृत्ति ने उन परम्पराओं पर कुछ-न-कुछ असर डाला हो।

इसी तरह पार्श्वनाथ की जो परम्परा महावीर के संघ में सम्मिलित होने से तटस्थ रही उसका अस्तित्व कब तक, किस-किस रूप में और कहाँ-कहाँ रहा अर्थात् उसका भावी क्या हुआ—यह प्रश्न भी विचारणीय है। खारवेल, जो अद्यतन संशोधन के अनुसार जैन परम्परा का अनुगामी समझा जाता है, उसका दिगम्बर या श्वेताम्बर श्रुत में कहीं भी निर्देश नहीं इसका क्या कारण? क्या महावीर की परम्परा में सम्मिलित नहीं हुए ऐसे पार्श्वापत्यिकों की परम्परा के साथ तो उसका सम्बन्ध रहा न हो? इत्यादि प्रश्न भी विचारणीय हैं।

प्रो० याकोबी ने कल्पसूत्र की प्रस्तावना में गौतम और बौधायन धर्मसूत्र के साथ निर्ग्रन्थों के व्रत-उपव्रत की तुलना करते हुए सूचित किया है कि, निर्ग्रन्थों के सामने वैदिक संन्यासी धर्म का आदर्श रहा है इत्यादि। परन्तु इस प्रश्न को भी अब नए दृष्टिकोण से विचारना होगा कि, वैदिक परम्परा, जो मूल में एकमात्र गृहस्थाश्रम प्रधान रही जान पड़ती है, उसमें संन्यास धर्म का प्रवेश कब कैसे और किन बलों से हुआ और अन्त में वह संन्यास धर्म वैदिक परंपरा का एक आवश्यक अंग कैसे बन गया? इस प्रश्न की मीमांसा से महावीर पूर्ववर्ती निर्ग्रन्थ परम्परा और परिव्राजक परम्परा के संबन्ध पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

परन्तु उन सब प्रश्नों को भावी विचारकों पर छोड़कर प्रस्तुत लेख में मात्र पार्श्वनाथ और महावीर के धार्मिक संबन्ध का ही संक्षेप में विचार किया है।

परिशिष्ट।

तेणं काले णं तेणं समए णं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति २ त्ता थेरे भगवंते एवं वयासी—थेरा सामाइयं ण जाणंति थेरा सामाइयस्स अट्ठं ण याणंति थेरा पच्चक्खाणं ण याणंति थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संजमं ण याणंति थेरा संजमस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संवरं ण याणंति थेरा संवरस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विवेगं ण याणंति थेरा विवेगस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गं ण याणंति थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं ण याणंति ६। तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—जाणामो णं अज्जो! सामाइयं जाणामो णं अज्जो! सामाइयस्स अट्ठं जाव जाणामो णं अज्जो! विउस्सगस्स अट्ठं। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी—जति णं अज्जो! तुब्भे जाणह सामाइयं जाणह सामाइयस्स अट्ठं जाव जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठ, के भे अज्जो! सामाइए के भे अज्जो सामाइयस्स अट्ठे जाव के भे विउस्सगस्स अट्ठे? तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—आया णे अज्जो! सामाइए आया णे अज्जो! सामाइयस्स अट्ठे जाव विउस्सग्गस्स अट्ठे।

एत्थ णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे संबुद्धे थेरे भगवंते वंदति णमंसति २ त्ता एवं वयासी—एएसि णं भंते! पयाणं पुव्वि अण्णाणयाए असवणयाए अबोहियाए...

णो रोइए इयाणिं भंते! एतेसिं पयाणं जाणयाए...

रोएमि एवमेयं से जहेयं तुब्भे वदह,

तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक १ उद्देश ६। सू० ७६

तेणं कालेणं २ पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति २ समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वदासी से नूणं भंते! असंखेज्जे लोए अणंता रातिंदिया उप्पज्जिसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा विगच्छिसु वा विगच्छंति वा विगच्छिस्संति वा परित्ता

रातिंदिया उप्पज्जिंसु वा३ विगच्छिसु वा ३ ? हंता अज्जो ! असंखेज्जे लोए अणंता रातिंदिया तं चेव। से केणट्ठेणं जाव विगच्छिस्संति वा ? से नूणं भंते अज्जो पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं सासए लोए बुइए…

जे लोक्कइ से लोए ? हंता भगवं ! से तेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चइ असंखेज्जे तं चेव। तप्पभितिं च णं ते पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणंति सव्वन्नू सव्वदरिसी तए णं ते थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति २, एवं वदासि — इच्छामि णं भते ! तुब्मे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सप्पडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।

व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक ५ उद्देश ६। सू० २२७

तेणं कालेणं तेणं समए णं वाणियगामे नगरे होत्था।…

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे गंगेए नामं अणगारे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—संतरं भंते ! नेरइया उववज्जंति निरन्तरं नेरइया उववज्जंति ? गंगेया ! संतरं पि नेरइया उववज्जंति निरंतरं पि नेरइया उववज्जंति। (सू० ३७१)

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सतो नेरइया उववज्जंति नो असतो नेरइया उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया चयंति नो असओ वेमाणिया चयंति ? से नूणं भंते ! गंगेया ! पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं सासए लोए बुइए…।

सयं भते ! एवं जाणह उदाहु असयं असोच्चा एते एवं जाणह उदाहु सोच्चा सतो नेरइया उववज्जंति नो असतो नेरइया उववज्जंति…।

गंगेया ! सयं एते एवं जणामि नो असयं, (सू० ३७८)

तप्पभिइं च णं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणइ सव्वन्नू सव्वदरिसी।

इच्छामि णं भंते ! तुज्झं अंतियं चाउज्जामाओ धम्मओ पंचमहव्वइयं

व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक ६ उद्देश ३२। सू० ३७६

तेणं कालेणं २ तुंगिया नामं नगरी होत्था…… (सू० १०७)

तेणं कालेणं २ पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना………विहरंति ॥ (सूत्र १०८)

तए णं ते थेरा भगवतो तेसिं समणोवासयाणं तीसे य महतिमहालियाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेंति……

तए णं ते समणोवासया थेरे भगवंते एवं वदासी-जति णं भंते ! संजमे

अणण्हयफले तवे वोदाणफले किं पत्तियं णं भंते ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ? तत्थ णं कालियपुत्ते नामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी—पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति। तत्थ णं मेहिले नामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी–पुव्वसंजमेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति। तत्थ णं आणंदरक्खिए णामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी–कम्मियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति। तत्थ णं कासवे णामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी–संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति। पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति। सच्चे णं एस अट्ठे नो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए। तए णं ते समणोवासया थेरेहिं भगवंतेहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा थेरे भगवंते वंदंति नमंसंति······(सू० ११०)

तए णं से भगवं गोयमे रायगिहे नगरे जाव अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ–एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुंगियाए नगरीए बहिया पुप्फवतीए चेइए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइ एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया—संजमे णं भंते ! किंफले ? तवे णं भंते ? किंफले ? तए णं ते थेरा भगवंतो ते समणोवासए एवं वदासी—संजमे णं अज्जो—अणण्हयफले तवे वोदाणफले तं चेव जाव पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति, सच्चे णं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए ॥ से कहमेयं मण्णे एवं ? तए णं समणे० गोयमे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे······

समणं भ० महावीरं जाव एवं वयासी—एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे रायगिहे नगरे उच्चनीयमज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेमि एवं खलु देवा० तुंगियाये नगरीए बहिया पुप्फवईए चेइए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंता समणोवासएहिं इयाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया—संजए णं भंते ! किंफले ? तवे किंफले ? तं चेव जाव सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए। तं पभू णं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए उदाहु अप्पभू ?

पभू णं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए,

अहं पि य णं गोयमा ! एवमाइक्खामि······ (सू० १११)

व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक २ उद्देश ५।

रायगिहे नामं नयरे होत्था। (सू० ६८)

तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई होत्था।

से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था। (सू० ६९)

लेवस्स गाहावइस्स नालंदाए बाहिरियाए······ उदगसाला······

तस्सिं च णं गिहपदेसंमि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो ! गोयमा अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च आउसो ! अहासुयं अहादरिसुयं मे वियागरेहि सवायं, भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—अवियाइ आउसो ! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो सवायं, उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी ॥ (सू० ७१)

आउसो ! गोयमा अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति - णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइ, चोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवं ण्हं पच्चक्खंताणं दुपच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियव्वं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरति सयं पतिण्णं। (सू० ७२)

एतेसिं णं भंते ! पदाणं एण्हिं जाणियाए सवणयाए बोहिए जाव उवहारणयाए एयमठ्ठं सद्दहामि...

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं रापडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए॥ (सू० ८१)

श्रुत्रस्कंध २ श्रुस ७ नालंदीयाध्ययन ७।

चाउज्जामो अ जो धम्मो जो इमो पंच सिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेणं पासेण य महामुणी ! ॥ २३ ॥
एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥ २४ ॥
तओ केसिं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी।
पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं ॥ २५ ॥
पुरिमा उज्जु जड्डा उ वक्कजड्डा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ तेन धम्मे दुहा कए॥ २६ ॥
पुरिमाणं दुव्विसुज्झो उ चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसुज्झो सुपालओ ॥ २७ ॥
साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ २८ ॥

अचेलओ अ जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेणं: पासेण य महामुणी ॥ २९ ॥
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ? ।
लिंगे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥ ३० ॥
केसिं एवं बुवाणं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ॥ ३१ ॥
पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविकप्पणं ।
जत्तत्थ गहणत्थं च, लोगे लिंगपओअणं । ३२ ॥

उत्तराध्ययन केशीगौतमीयाध्ययन २३ ।

— — —

दीर्घ तपस्वी महावीर

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहिले जब भगवान महावीर का जन्म नहीं हुआ था, भारत की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति ऐसी थी जो एक विशिष्ट आदर्श की अपेक्षा रखती थी। देश में ऐसे अनेक मठ थे, जहाँ आजकल के बाबाओं की तरह झुण्ड के झुण्ड रहते थे और तरह-तरह की तामसिक तपस्याएँ करते थे। अनेक ऐसे आश्रम थे, जहाँ दुनियादार आदमी की तरह ममत्व रखकर आजकल के महन्तों के सदृश बड़े-बड़े धर्मगुरु रहते थे। कितनी ही संस्थाएँ ऐसी थीं जहाँ विद्या की अपेक्षा कर्मकाण्ड की, खास करके यज्ञ की प्रधानता थी और उन कर्मकाण्डों में पशुओं का बलिदान धर्म माना जाता था। समाज में एक ऐसा बड़ा दल था, जो पूर्वज के परिश्रमपूर्वक उपार्जित गुरुपद को अपने जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्थापित करता था। उस वर्ग में पवित्रता की, उच्चता की और विद्या की ऐसी कृत्रिम अस्मिता रूढ़ हो गई थी कि जिसकी बदौलत वह दूसरे कितने ही लोगों को अपवित्र मानकर अपने से नीच समझता और उन्हें घृणायोग्य समझता, उनकी छाया के स्पर्श तक को पाप मानता, तथा ग्रन्थों के अर्थहीन पठनमात्र में पाण्डित्य मानकर दूसरों पर अपनी गुरुसत्ता चलाता। शास्त्र और उसकी व्याख्याएँ विद्वद्गम्य भाषा में होती थीं, इससे जनसाधारण उस समय उन शास्त्रों से यथेष्ट लाभ न उठा पाता था। स्त्रियों, शूद्रों और खास करके अतिशूद्रों को किसी भी बात में आगे बढ़ने का पूरा मौका नहीं मिलता था। उनकी आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षाओं के जाग्रत होने का, अथवा जाग्रत होने के बाद उनके पुष्ट रखने का कोई खास आलंबन न था। पहिले से प्रचलित जैन गुरुओं की परम्परा में भी बड़ी शिथिलता आ गई थी। राजनैतिक स्थिति में किसी प्रकार की एकता नहीं थी। गण-सत्ताक अथवा राज-सत्ताक राज्य इधर-उधर बिखरे हुए थे। यह सब कलह में जितना अनुराग रखते, उतना मेल मिलाप में नहीं। हर एक दूसरे को कुचलकर अपने राज्य के विस्तार करने का प्रयत्न करता था।

ऐसी परिस्थिति को देखकर उस काल के कितने ही विचारशील और दयालु व्यक्तियों का व्याकुल होना स्वाभाविक है। उस दशा को सुधारने की इच्छा कितने ही लोगों को होती है। वह सुधारने का प्रयत्न भी करते हैं और ऐसे साधारण प्रयत्न कर सकने वाले नेता की अपेक्षा रखते हैं। ऐसे समय में बुद्ध और महावीर जैसों का जन्म होता है।

महावीर के वर्धमान, विदेहदिन्न और श्रमण भगवान यह तीन नाम और हैं। विदेहदिन्न नाम मातृ पक्ष का सूचक है, वर्धमान नाम सबसे पहिले पड़ा। त्यागी जीवन में उत्कट तप के कारण महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए और उपदेशक जीवन में श्रमण भगवान कहलाए। इससे हम भी गृह जीवन, साधक जीवन और उपदेशक जीवन इन तीन भागों में क्रमशः वर्धमान, महावीर और श्रमण भगवान इन तीन नामों का प्रयोग करेंगे।

महावीर की जन्मभूमि गंगा के दक्षिण विदेह (वर्तमान विहार-प्रान्त) है, वहाँ क्षत्रियकुण्ड नाम का एक कस्बा था। जैन लोग उसे महावीर के जन्मस्थान के कारण तीर्थभूमि मानते हैं।

जाति और वंश—

श्री महावीर की जाति क्षत्रिय थी और उनका वंश नाथ (ज्ञात) नाम से प्रसिद्ध था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ था, उन्हें श्रेयांस और यशांस भी कहते थे। चाचा का नाम सुपार्श्व था और माता के त्रिशला, विदेहदिन्ना तथा प्रियकारिणी यह तीन नाम थे। महावीर के एक बड़ा भाई और एक बड़ी बहिन थी। बड़े भाई नन्दीवर्धन का विवाह उनके मामा तथा वैशाली नगरी के अधिपति महाराज चेटक की पुत्री के साथ हुआ था। बड़ी बहिन सुनन्दा की शादी क्षत्रियकुण्ड में हुई थी और उसके जमाली नाम का एक पुत्र था। महावीर स्वामी की प्रियदर्शना नामक पुत्री से उसका विवाह हुआ था। आगे चलकर जमाली ने अपनी स्त्री-सहित भगवान महावीर से दीक्षा भी अंगीकार कर ली थी। श्वेताम्बरों की धारणा के अनुसार महावीर ने विवाह किया था, उनके एक ही पत्नी थी और उनका नाम था यशोदा। इनके सिर्फ एक ही कन्या होने का उल्लेख मिलता है।

ज्ञात क्षत्रिय सिद्धार्थ की राजकीय सत्ता साधारण ही होगी, परन्तु वैभव और कुलीनता ऊँचे दर्जे की होनी चाहिए। क्योंकि उसके बिना वैशाली के अधिपति चेटक की बहिन के साथ वैवाहिक संबन्ध होना संभव नहीं था।

गृह-जीवन—

वर्धमान का बाल्यकाल बहुतांश में क्रीड़ाओं में व्यतीत होता है। परन्तु जब वह अपनी उम्र में आते हैं और विवाहकाल प्राप्त होता है तब वह वैवाहिक जीवन की ओर अरुचि प्रकट करते हैं। इससे तथा भावी तीव्र वैराग्यमय जीवन से यह स्पष्ट दिखलाई देता है कि उनके हृदय में त्याग के बीज जन्मसिद्ध थे। उनके माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के अनुयायी थे। यह परम्परा निर्ग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध थी और साधारण तौर पर इस परम्परा में त्याग और

तप की भावना प्रबल थी। भगवान् का अपने कुलधर्म के परिचय में आना और उस धर्म के आदर्शों का उसके सुसंस्कृत मन को आकर्षित करना सर्वथा संभव है। एक ओर जन्मसिद्ध वैराग्य के बीच और दूसरी ओर कुलधर्म के त्याग और तपस्या के आदर्शों का प्रभाव, इन दोनों कारणों से योग्य अवस्था को प्राप्त होते ही वर्धमान ने अपने जीवन का कुछ तो ध्येय निश्चित किया ही होगा। और वह ध्येय भी कौनसा ? 'धार्मिक जीवन'। इस कारण यदि विवाह की ओर अरुचि हुई हो तो वह साहजिक है। फिर भी जब माता-पिता विवाह के लिए बहुत आग्रह करते हैं, तब वर्धमान अपना निश्चय शिथिल कर देते हैं और केवल माता-पिता के चित्त को सन्तोष देने के लिए वैवाहिक संबन्ध को स्वीकार कर लेते हैं। इस घटना से तथा बड़े भाई को प्रसन्न रखने के लिए गृहवास की अवधि बढ़ा देने की घटना से वर्धमान के स्वभाव के दो तत्त्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। एक तो बड़े-बूढ़ों के प्रति बहुमान और दूसरे मौके को देखकर मूल सिद्धान्त में बाधा न पड़ने देते हुए, समझौता कर लेने का औदार्य्य। यह दूसरा तत्त्व साधक और उपदेशक जीवन में किस प्रकार काम करता है, यह हम आगे चलकर देखेंगे। जब माता-पिता का स्वर्गवास हुआ, तब वर्धमान की उम्र २८ वर्ष की थी। विवाह के समय की अवस्था का उल्लेख नहीं मिलता। माता-पिता के स्वर्गवास के बाद वर्धमान ने गृहत्याग की पूरी तैयारी कर ली थी, परन्तु इससे ज्येष्ठ बन्धु को कष्ट होते देख गृहजीवन को दो वर्ष और बढ़ा दिया। परन्तु इसलिए कि त्याग का निश्चय कायम रहे, गृहवासी होते हुए भी आपने दो वर्ष तक त्यागियों की भाँति ही जीवन व्यतीत किया।

साधक जीवन

तीस वर्ष का तरुण क्षत्रिय-पुत्र वर्धमान जब गृह त्याग करता है, तब उसके आन्तर और बाह्य दोनों जीवन एकदम बदल जाते हैं। वह सुकुमार राजपुत्र अपने हाथों केश का लुंचन करता है और तमाम वैभवों को छोड़कर एकाकी जीवन और लघुता स्वीकार करता है। उसके साथ ही यावज्जीवन सामायिक चारित्र (आजीवन समभाव से रहने का नियम) अंगीकार करता है; और इसका सोलहों आने पालन करने के लिए भीषण प्रतिज्ञा करता है—

"चाहे दैविक, मानुषिक अथवा तिर्यक् जातीय, किसी भी प्रकार की विघ्न-बाधाएं क्यों न आएँ, मैं सबको बिना किसी दूसरे की मदद लिए, समभाव से सहन करूँगा।"

इस प्रतिज्ञा से कुमार के वीरत्व और उसके परिपूर्ण निर्वाह से उसके महान् वीरत्व का परिचय मिलता है। इसी से वह साधक जीवन में 'महावीर' की

ख्याति को प्राप्त करता है। महावीर के साधना विषयक आचारांग के प्राचीन और प्रामाणिक वर्णन से, उनके जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओं से तथा अब तक उनके नाम से प्रचलित सम्प्रदाय की विशेषता से, यह जानना कठिन नहीं है कि महावीर को किस तत्त्व की साधना करनी थी, और उस साधना के लिए उन्होंने मुख्यतः कौन से साधन पसन्द किए थे। महावीर अहिंसा-तत्त्व की साधना करना चाहते थे, उसके लिए संयम और तप यह दो साधन उन्होंने पसन्द किए। उन्होंने यह विचार किया कि संसार में जो बलवान् होता है, वह निर्बल के सुख और साधन, एक डाकू की तरह छीन लेता है। यह अपहरण करने की वृत्ति अपने माने हुए सुख के राग से, खास करके कायिक सुख-शीलता से पैदा होती है। यह वृत्ति ही ऐसी है कि इससे शान्ति और समभाव का वायु-मण्डल कलुषित हुए बिना नहीं रहता है। प्रत्येक मनुष्य को अपना सुख और अपनी सुविधा इतने कीमती मालूम होते हैं कि उसकी दृष्टि में दूसरे अनेक जीवधारियों की सुविधा का कुछ मूल्य ही नहीं होता। इसलिए प्रत्येक मनुष्य यह प्रमाणित करने की कोशिश करता है कि जीव, जीव का भक्षण है 'जीवो जीवस्य जीवनम्।' निर्बल को बलवान् का पोषण करके अपनी उपयोगिता सिद्ध करनी चाहिए। सुख के राग से ही बलवान् लोग निर्बल प्राणियों के जीवन की आहुति देकर उसके द्वारा अपने परलोक का उत्कृष्ट मार्ग तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार सुख की मिथ्या भावना और संकुचित वृत्ति के ही कारण व्यक्तियों और समूहों में अन्तर बढ़ता है, शत्रुता की नींव पड़ती है और इसके फलस्वरूप निर्बल बलवान् होकर बदला लेने का निश्चय तथा प्रयत्न करते हैं और बदला लेते भी हैं। इस तरह हिंसा और प्रतिहिंसा का ऐसा मलीन वायुमण्डल तैयार हो जाता है कि लोग संसार के सुख को स्वयं ही नर्क बना देते हैं। हिंसा के इस भयानक स्वरूप के विचार से महावीर ने अहिंसा-तत्त्व में ही समस्त धर्मों का, समस्त कर्त्तव्यों का, प्राणीमात्र की शान्ति का मूल देखा। उन्हें स्पष्ट रूप से दिखाई दिया कि यदि अहिंसा-तत्त्व सिद्ध किया जा सके, तो ही जगत् में सच्ची शान्ति फैलाई जा सकती है। यह विचार कर उन्होंने कायिक सुख की समता से वैर-भाव को रोकने के लिए तप प्रारम्भ किया, और अधैर्य जैसे मानसिक दोष से होने वाली हिंसा को रोकने के लिए संयम का अवलम्बन किया।

संयम का संबन्ध मुख्यतः मन और वचन के साथ होने के कारण उसमें ध्यान और मौन का समावेश होता है। महावीर के समस्त साधक जीवन में संयम और तप यही दो बातें मुख्य हैं और उन्हें सिद्ध करने के लिए उन्होंने कोई १२ वर्षों तक जो प्रयत्न किया और उसमें जिस तत्परता और अप्रमाद का परि-

चय दिया, वैसा आज तक की तपस्या के इतिहास में किसी व्यक्ति ने दिया हो यह नहीं दिखाई देता। कितने लोग महावीर के तप को देह-दुःख और देह-दमन कह कर उसकी अवहेलना करते हैं। परन्तु यदि वे सत्य तथा न्याय के लिए महावीर के जीवन पर गहरा विचार करेंगे तो यह मालूम हुए बिना न रहेगा कि, महावीर का तप शुष्क देह-दमन नहीं था। वह संयम और तप दोनों पर समान रूप से जोर देते थे। वह जानते थे कि यदि तप के अभाव से सहन-शीलता कम हुई तो दूसरों की सुख सुविधा की आहुति देकर अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने की लालसा बढ़ेगी और उसका फल यह होगा कि संयम न रह पाएगा। इसी प्रकार संयम के अभाव में कोरा तप भी, पराधीन प्राणी पर अनिच्छापूर्वक आ पड़े देह-कष्ट की तरह निरर्थक है।

ज्यों-ज्यों संयम और तप की उत्कटता से महावीर अहिंसा तत्त्व के अधिकाधिक निकट पहुँचते गए, त्यों-त्यों उनकी गम्भीर शान्ति बढ़ने लगी और उसका प्रभाव आसपास के लोगों पर अपने-आप होने लगा। मानस-शास्त्र के नियम के अनुसार एक व्यक्ति के अन्दर बलवान् होने वाली वृत्ति का प्रभाव आस-पास के लोगों पर जान-अनजान में हुए बिना नहीं रहता।

इस साधक जीवन में एक उल्लेख-योग्य ऐतिहासिक घटना घटती है। वह यह है कि महावीर की साधना के साथ गोशालक नामक एक व्यक्ति प्रायः ६ वर्ष व्यतीत करता है और फिर उनसे अलग हो जाता है। आगे चल कर यह उनका प्रतिपक्षी होता है और आजीवक सम्प्रदाय का नायक बनता है। आज यह कहना कठिन है कि दोनों किस हेतु से साथ हुए और क्यों अलग हुए, परन्तु एक प्रसिद्ध आजीवक सम्प्रदाय के नायक और तपस्वी महावीर का दीर्घ काल तक साहचर्य सत्यशोधकों के लिए अर्थसूचक अवश्य है। १२ वर्ष की कठोर और दीर्घ साधना के पश्चात् जब उन्हें अपने अहिंसा तत्त्व के सिद्ध हो जाने की पूर्ण प्रतीति हुई, तब वे अपना जीवन-क्रम बदलते हैं। अहिंसा का सार्वभौम धर्म उस दीर्घ-तपस्वी में परिप्लुत हो गया था, अब उनके सार्वजनिक जीवन से कितनी ही भव्य आत्माओं में परिवर्तन हो जाने की पूर्ण सम्भावना थी। मगध और विदेह देश का पूर्वकालीन मलीन वायु-मण्डल धीरे-धीरे शुद्ध होने लगा था, क्योंकि उसमें उस समय अनेक तपस्वी और विचारक लोक-हित की आकांक्षा से प्रकाश में आने लगे थे। इसी समय दीर्घ तपस्वी भी प्रकाश में आए।

उपदेशक जीवन—

श्रमण भगवान का ४३ से ७२ वर्ष तक का यह दीर्घ जीवन सार्वजनिक

सेवा में व्यतीत होता है। इस समय में उनके द्वारा किए गए मुख्य कामों की नामावली इस प्रकार है —

(१) जाति-पाँति का तनिक भी भेद रखे बिना हर एक के लिए, शूद्रों के लिए भी, भिक्षु-पद और गुरु-पद का रास्ता खुला करना। श्रेष्ठता का आधार जन्म नहीं बल्कि गुण, और गुणों में भी पवित्र जीवन की महत्ता स्थापित करना।

(२) पुरुषों की तरह स्त्रियों के विकास के लिए भी पूरी स्वतन्त्रता और विद्या तथा आचार दोनों में स्त्रियों की पूर्ण योग्यता को मानना। उनके लिए गुरु-पद का आध्यात्मिक मार्ग खोल देना।

(३) लोक-भाषा में तत्त्वज्ञान और आचार का उपदेश करके केवल विद्व-द्गम्य संस्कृत भाषा का मोह घटाना और योग्य अधिकारी के लिए ज्ञान-प्राप्ति में भाषा का अन्तराय दूर करना।

(४) ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिए होने वाले यज्ञ आदि कर्म-काण्डों की अपेक्षा संयम तथा तपस्या के स्वावलंबी तथा पुरुषार्थ-प्रधान मार्ग की महत्ता स्थापित करना और अहिंसा-धर्म में प्रीति उत्पन्न करना।

(५) त्याग और तपस्या के नाम पर रूढ़ शिथिलाचार के स्थान पर सच्चे त्याग और सच्ची तपस्या की प्रतिष्ठा करके भोग की जगह योग के महत्त्व का वायु-मंडल चारों ओर उत्पन्न करना।

श्रमण भगवान् के शिष्यों के त्यागी और गृहस्थ यह दो भाग थे। उनके त्यागी भिक्षुक शिष्य १४००० और भिक्षुक शिष्याएँ ३६००० होने का उल्लेख मिलता है। इसके सिवाय लाखों की संख्या में गृहस्थ शिष्यों के होने का भी उल्लेख है। त्यागी और गृहस्थ इन दोनों वर्गों में चारों वर्णों के स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। इन्द्रभूति आदि ११ गणधर ब्राह्मण थे। उदायी, मेघकुमार आदि अनेक क्षत्रिय भी भगवान् के शिष्य हुए थे। शालिभद्र इत्यादि वैश्य और महतारज तथा हरिकेशी जैसे अतिशूद्र भी भगवान् की पवित्र दीक्षा का पालन कर उच्च पथ को पहुँचे थे। साध्वियों में चन्दनबाला क्षत्रिय-पुत्री थीं, देवानन्दा ब्राह्मणी थीं। गृहस्थों में उनके मामा वैशालीपति चेटक, राजगृही के महाराजा श्रेणिक (बिम्बसार) और उनका पुत्र कोणिक (अजातशत्रु) आदि अनेक क्षत्रिय भूपति थे। आनन्द, कामदेव आदि प्रधान दस श्रावकों में शकडाल कुम्हार जाति का था और शेष ६ वैश्य खेती और पशु-पालन पर निर्वाह करने वाले थे। ढंक कुम्हार होते हुए भी भगवान का समझदार और दृढ़ उपासक था। खन्दक, अम्बड़ आदि अनेक परिव्राजक तथा सोमील आदि अनेक विद्वान् ब्राह्मणों ने श्रमण भगवान् का अनुसरण किया था। गृहस्थ उपासिकाओं में

रेवती, सुलसा और जयन्ती के नाम प्रख्यात हैं। जयन्ती जैसी भक्त थी वैसी ही विदुषी भी थी। आज़ादी के साथ भगवान् से प्रश्न करती और उत्तर सुनती थी। भगवान् ने उस समय स्त्रियों की योग्यता किस प्रकार आँकी, उसका यह उदाहरण है। महावीर के समकालीन धर्म-प्रवर्त्तकों में आजकल कुछ थोड़े ही लोगों के नाम मिलते हैं—तथागत गौतमबुद्ध, पूर्ण कश्यप, संजय वेलट्ठिपुत्त, पकुध कच्चायन, अजित केसकम्बलि और मंखली गोशालक।

समझौता—

श्रमण भगवान् के पूर्व से ही जैन-सम्प्रदाय चला आ रहा था, जो निर्ग्रन्थ के नाम से विशेष प्रसिद्ध था उस समय प्रधान निर्ग्रन्थ केशीकुमार आदि थे। वे सब अपने को श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी मानते थे। वे कपड़े पहिनते थे और सो भी तरह-तरह के रंग के। इस प्रकार वह चातुर्याम धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार महाव्रतों का पालन करते थे। श्रमण भगवान् ने इस परम्परा के खिलाफ अपने व्यवहार से दो बातें नई प्रचलित कीं—एक अचेल धर्म, दूसरी ब्रह्मचर्य (स्त्री-विरमण)। पहिले की परम्परा में वस्त्र और स्त्री के संबन्ध में अवश्य शिथिलता आ गई होगी और उसे दूर करने के लिये अचेल धर्म और स्त्री-विरमण को निर्ग्रन्थत्व में स्थान दिया गया। अपरिग्रह व्रत से स्त्री-विरमण को अलग करके चार के बदले पाँच महाव्रतों के पालन करने का नियम बनाया। श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के सुयोग्य नेताओं ने इस संशोधन को स्वीकृत किया और प्राचीन तथा नवीन दोनों भिक्षुओं का सम्मेलन हुआ। कितने ही विद्वानों का यह मत है कि इस समझौते में वस्त्र रखने तथा न रखने का जो मतभेद शान्त हुआ था वह आगे चलकर फिर पक्षपात का रूप धारण करके श्वेताम्बर, दिगम्बर सम्प्रदाय के रूप में धधक उठा। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाले विद्वानों को श्वेताम्बर, दिगम्बर में कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं जान पड़ता; परन्तु आजकल तो सम्प्रदाय-भेद की अस्मिता ने दोनों शाखाओं में नाशकारिणी अग्नि उत्पन्न कर दी है। इतना ही नहीं बल्कि थोड़े-थोड़े अभिनिवेश के कारण आज दूसरे भी अनेक छोटे-बड़े भेद भगवान् के अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) के नीचे खड़े हो गए हैं।

उपदेश का रहस्य—

श्रमण भगवान् के समग्र जीवन और उपदेश का संक्षिप्त रहस्य दो बातों में आ जाता है। आचार में पूर्ण अहिंसा और तत्वज्ञान में अनेकान्त। उनके संप्रदाय के आचार को और शास्त्र के विचार को इन तत्वों का ही भाष्य समझिए। वर्त्तमानकाल के विद्वानों का यही निष्पक्ष मत है।

विपक्षी—

श्रमण भगवान् के शिष्यों में उनसे अलग होकर उनके खिलाफ विरोधी पन्थ प्रचलित करने वाले उनके जामाता क्षत्रिय-पुत्र जमाली थे। इस समय तो उनकी स्मृतिमात्र जैन ग्रन्थों में है। दूसरे प्रतिपक्षी उनके पूर्व सहचर गोशालक थे। उनका आजीवक पन्थ रूपान्तर पाकर आज भी हिन्दुस्तान में मौजूद है। भगवान् महावीर के जीवन का मुख्य भाग विदेह और मगध में व्यतीत हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि वे अधिक से अधिक यमुना के किनारे तक आए होंगे। श्रावस्ती, कोशांबी, ताम्रलिप्त, चम्पा और राजगृही इन शहरों में वह बार-बार आते-जाते और रहते थे।

उपसंहार—

श्रमण भगवान् महावीर की तपस्या और उनके शान्तिपूर्ण दीर्घ-जीवन और उपदेश से उस समय मगध, विदेह, काशी कोशल और दूसरे कितने ही प्रदेशों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में बड़ी क्रान्ति हो गई थी। उसका प्रमाण केवल शास्त्र के पन्नों में ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान के मानसिक जगत् में अब तक जाग्रत अहिंसा और तप का स्वाभाविक अनुराग है। आज से २४५६ वर्ष पूर्व राजगृही के पास पावापुरी नामक पवित्र स्थान में कार्त्तिक कृष्णा अमावस की रात को इस तपस्वी का ऐहिक जीवन पूरा हुआ (निर्वाण हुआ) और उनके स्थापित संघ का भार उनके प्रधान शिष्य सुधर्मा स्वामी पर आ पड़ा।

ई. स. १९३३]

भगवान् महावीर का जीवन

[एक ऐतिहासिक दृष्टिपात]

वीर-जयंती और निर्वाणतिथि हर साल आती है। इसके उपलक्ष्य में लगभग सभी जैन-पत्र भगवान् के जीवन पर कुछ न कुछ लिखने का प्रयत्न करते हैं। कोई-कोई पत्र महावीराङ्क रूप से विशेष अङ्क निकालने की भी योजना करते हैं। यह सिलसिला पिछले अनेक वर्षों से अन्य सम्प्रदायों की देखादेखी जैन परम्परा में भी चालू है और संभवतः आगे भी चालू रहेगा।

सामयिक पत्र पत्रिकाओं के अलावा भी भगवान् के जीवन के बारे में छोटी बड़ी पुस्तकें लिखने का क्रम वैसा ही जारी है जैसे कि उसकी माँग है। पुराने समय से इस विषय पर लिखा जाता रहा है। प्राकृत और संस्कृत भाषा में जुदे-जुदे समय में जुदे-जुदे स्थानों पर जुदी-जुदी दृष्टि वाले जुदे-जुदे अनेक लेखकों के द्वारा भगवान् का जीवन लिखा गया है और वह बहुतायत से उपलब्ध भी है। नए युग की पिछली एक शताब्दी में तो यह जीवन अनेक भाषाओं में देशी-विदेशी, साम्प्रदायिक-असाम्प्रदायिक लेखकों के द्वारा लिखा गया है। जर्मन-अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती, बंगला और मराठी आदि भाषाओं में इस जीवन विषयक छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें प्रसिद्ध हुई हैं और मिलती भी हैं। यह सब होते हुए भी नए वर्ष की नई जयंती या निर्वाणतिथि के उपलक्ष्य में महावीर जीवन पर कुछ नया लिखने की भारपूर्वक माँग हो रही है। इसका क्या कारण है ? सो खासकर समझने की बात है। इस कारण को समझने से यह हम ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि पुराने समय से आज तक की महावीर जीवन विषयक उपलब्ध इतनी लिखित मुद्रित सामग्री हमारी जिज्ञासा को तृप्त करने में समर्थ क्यों नहीं होती ?

भगवान् महावीर एक ही थे। उनका जीवन जैसा कुछ रहा हो सुनिश्चित अमुक रूप का ही रहा होगा। तद्विषयक जो सामग्री अभी शेष है उससे अधिक समर्थ समकालीन सामग्री अभी मिलने की कोई संभावना नहीं। जो सामग्री उपलब्ध है उसका उपयोग आज तक के लिखित जीवनों में हुआ ही है तो फिर नया क्या बाकी है जिसकी माँग हर साल जयंती या निर्वाणतिथि के अवसर पर बनी रहती है और खास तौर से संपूर्ण महावीर जीवन विषयक पुस्तक की माँग तो

हमेशा बनी हुई रहती ही है। ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका वास्तविक उत्तर बिना समझे महावीर जीवन पर कुछ सोचना, लिखना या ऐसे जीवन की लेखकों से माँग करना यह निरा वार्षिक जयंती कालीन व्यसन मात्र सिद्ध होगा या पुनरावृत्ति का चक्र मात्र होगा जिससे हमें बचना चाहिए।

पुराने समय से आज तक की जीवन विषयक सब पुस्तकें और छोटे-बड़े सब लेख प्रायः साम्प्रदायिक भक्तों के द्वारा ही लिखे गए हैं। जैसे राम, कृष्ण, क्राइस्ट, मुहम्मद आदि महान् पुरुषों के बारे में उस सम्प्रदाय के विद्वानों और भक्तों ने लिखा है। हाँ, कुछ थोड़े लेख और विरल पुस्तकें असाम्प्रदायिक जैनेतर विद्वानों द्वारा भी लिखी हुई हैं। इन दोनों प्रकार के जीवन-लेखों में एक खास गुण है तो दूसरी खास त्रुटि भी है। खास गुण तो यह है कि साम्प्रदायिक विद्वानों और भक्तों के द्वारा जो कुछ लिखा गया है उसमें परम्परागत अनेक यथार्थ बातें भी सरलता से आ गई हैं, जैसी असाम्प्रदायिक और दूरवर्ती विद्वानों के द्वारा लिखे गए जीवन-लेखों में कभी-कभी आ नहीं पातीं। परन्तु त्रुटि और बड़ी भारी त्रुटि यह है कि साम्प्रदायिक विद्वानों और भक्तों का दृष्टिकोण हमेशा ऐसा रहा है कि येन केन प्रकारेण अपने इष्ट देव को सबसे ऊँचा और असाधारण दिखाई देने वाला चित्रित किया जाए। सभी सम्प्रदायों में पाई जाने वाली इस अतिरंजक साम्प्रदायिक दृष्टि के कारण महावीर, मानव महावीर न रहकर कल्पित देव-से बन गए हैं जैसा कि बौद्ध परम्परा में बुद्ध और पौराणिक परम्परा में राम-कृष्ण तथा क्रिश्च्यानिटी में क्राइस्ट मानव मिट कर देव या देवांश बन गए हैं।

इस युग की खास विशेषता वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। विज्ञान और इतिहास सत्य के उपासक हैं। वे सत्य के सामने और सब बातों को वृथा समझते हैं। यह सत्यगवेषक वृत्ति ही विज्ञान और इतिहास की प्रतिष्ठा का आधार है। इसलिए इन दोनों की लोगों के मन के ऊपर इतनी अधिक प्रभावशाली छाप पड़ी है कि वे वैज्ञानिक दृष्टि से अप्रमाणित और इतिहास से असिद्ध ऐसी किसी वस्तु को मानने के लिए तैयार नहीं। यहाँ तक कि हजारों वर्षों से चली आने वाली और मानस में स्थिर बनी हुई प्राणप्रिय मान्यताओं को भी (यदि वे विज्ञान और इतिहास से विरुद्ध हैं तो) छोड़ने में नहीं हिचकिचाते, प्रत्युत वे ऐसा करने में अपनी कृतार्थता समझते हैं। वर्तमान युग भूतकालीन ज्ञान की विरासत को थोड़ा भी बर्बाद करना नहीं चाहता। उसके एक अंश को वह प्रमाण से भी अधिक मानता है; पर साथ ही वह उस विरासत के विज्ञान और इतिहास से असिद्ध अंश को एक क्षण भर के लिए भी मानने को तैयार नहीं। नए युग के इस लक्षण के कारण वस्तु-स्थिति बदल गई है। महावीर

जीवन विषयक लेख पुस्तक आदि कितनी ही सामग्री प्रस्तुत क्यों न हो पर आज का जिज्ञासु उस सामग्री के बड़े ढेर मात्र से सन्तुष्ट नहीं। वह तो यह देखना चाहता है कि इसमें कितना तर्क बुद्धि-सिद्ध और कितना इतिहास-सिद्ध है? जब इस वृत्ति से वह आज तक के महावीर-जीवनविषयक लेखों को पढ़ता है, सोचता है तब उसे पूरा संतोष नहीं होता। वह देखता है कि इसमें सत्य के साथ कल्पित भी बहुत मिला है। वह यदि भक्त हो तो किसी तरह से अपने मन को मना ले सकता है; पर वह दूसरे तटस्थ जिज्ञासुओं का पूरा समाधान कर नहीं पाता। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण का प्रभाव इतना अधिक गहरा पड़ा है कि खुद महावीर के परम्परागत अनुयायियों को भी अपनी नई पीढ़ी का हर बात में समाधान करना मुश्किल हो गया है। यही एक मात्र वजह है कि चारों ओर से महावीर के ऐतिहासिक जीवन लिखे जाने की मांग हो रही है और कहीं-कहीं तदर्थ तैयारियाँ भी हो रही हैं।

आज का कोई तटस्थ लेखक ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर जीवन लिखेगा तो उसी सामग्री के आधार से लिख सकता है कि जिस सामग्री के आधार से पहले से आज तक के लेखकों ने लिखा है। फर्क यदि है या हो सकता है तो दृष्टिकोण का। दृष्टिकोण ही सचाई या गैर-सचाई का एक मात्र प्राण है और प्रतिष्ठा का आधार है। उदाहरणार्थ महावीर का दो माता और दो पिता के पुत्र रूप से प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन है। इसे साम्प्रदायिक दृष्टि वाला भी लेता है और ऐतिहासिक दृष्टि वाला भी। पर इस असंगत और अमानवीय दिखाई देने वाली घटना का खुलासा साम्प्रदायिक व्यक्ति एक तरह से करता है और ऐतिहासिक व्यक्ति दूसरा तरह से। हजारों वर्ष से माना जाने वाला उस असंगति का साम्प्रदायिक खुलासा लोक-मानस में इतना घर कर गया है कि दूसरा खुलासा सुनते ही वह मानस भड़क उठता है। फिर भी नई ऐतिहासिक दृष्टि ने ऐसी स्थिति पैदा की है कि उस चिर परिचित खुलासे से लोक-मन का अन्तस्तल जरा भी सन्तुष्ट नहीं। वह तो कोई नया बुद्धिगम्य खुलासा पाना चाहता है या उस दो माता, दो पिता की घटना को ही असंगत कह कर जीवन में से सर्वथा निकाल देना चाहता है। यही बात तत्कालजात शिशु महावीर के अंगुष्ठ के द्वारा मेरु-कम्पन के बारे में है या पद-पद पर महावीर के आसपास उपस्थित होने वाले लाखों-करोड़ों देव-देवियों के वर्णन के बारे में है। कोई भी तर्क और बुद्धि से मानव-जीवन पर विचार करने वाला ऐसा नहीं होगा जो यह मानने को तैयार हो कि एक तत्काल पैदा हुआ बालक या मल्लकुस्ती किया हुआ जवान अपने अँगूठे से पर्वत तो क्या एक महती शिला को भी कँपा सके! कोई भी ऐतिहासिक

यह मान नहीं सकता और साबित नहीं कर सकता कि देवसृष्टि कहीं दूर है और उसके दिव्य सत्त्व किसी तपस्वी की सेवा में सदा हाजिर रहते हैं। ये और इनकी जैसी दूसरी अनेक घटनाएँ महावीर जीवन में वैसे ही आती हैं जैसे अन्य महापुरुषों के जीवन में। साम्प्रदायिक व्यक्ति उन घटनाओं को जीवनी लिखते समय न तो छोड़ सकता है और न उनका चालू अर्थ से दूसरा अर्थ ही लगा सकता है। इस कारण से वह महावीर की जीवनी को नई पीढ़ी के लिए प्रतीतिकर नहीं बना सकता। जब कि ऐतिहासिक व्यक्ति कितनी ही असंगत दिखाई देने वाली पुरानी घटनाओं को या तो जीवनी में स्थान ही नहीं देगा या उनका प्रतीतिकर अर्थ लगाएगा जिसे सामान्य बुद्धि भी समझ और मान सके। इतनी चर्चा से यह भलीभांति जाना जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण असंगत दिखाई देने वाली जीवन घटनाओं को ज्यों का त्यों मानने को तैयार नहीं, पर वह उन्हें बुद्धिग्राह्य कसौटी से कस कर सचाई की भूमिका पर लाने का प्रयत्न करेगा। यही सबब है कि वर्तमान युग उसी पुरानी सामग्री के आधार से, पर ऐतिहासिक दृष्टि से लिखे गए महावीर जीवन को ही पढ़ना-सुनना चाहता है। यही समय की माँग है।

महावीर की जीवनी में आनेवाली जिन असंगत तीन बातों का उल्लेख मैंने किया है उनका ऐतिहासिक खुलासा किस प्रकार किया जा सकता है इसे यहाँ बतला देना भी जरूरी है—

मानव-वंश के तो क्या पर समग्र प्राणी-वंश के इतिहास में भी आज तक ऐसी कोई घटना बनी हुई विदित नहीं है जिसमें एक संतान की दो जनक माताएँ हों। एक सन्तान के जनक दो-दो पिताओं की घटना कल्पनातीत नहीं है पर दो जनक माताओं की घटना का तो कल्पना में भी आना मुश्किल है। तिस पर भी जैन आगमों में महावीर की जनक रूप से दो माताओं का वर्णन है। एक तो क्षत्रियाणी सिद्धार्थपत्नी त्रिशला और दूसरी ब्राह्मणी ऋषभदत्तपत्नी देवानन्दा। पहिले तो एक बालक की दो जननियाँ ही असम्भव तिस पर दोनों जननियों का भिन्न-भिन्न पुरुषों की पत्नियों के रूप से होना तो और भी असम्भव है। आगम के पुराने भागों में महावीर के जो नाम मिलते हैं उनमें ऐसा एक भी नाम नहीं है जो देवानन्दा के साथ उनके माता-पुत्र के संबन्ध का सूचक हो फिर भी भगवती[1] जैसे महत्त्वपूर्ण आगम में ही अपने मुख्य गणधर इन्द्रभूति को संबोधित करके खुद भगवान् के द्वारा ऐसा कहलाया गया है कि—यह

१. भगवती शतक ९ उद्देश ६।

देवानन्दा मेरी जननी है इसी से मुझे देखकर उसके थन दूध से भर गए हैं और हर्ष-रोमाञ्च हो आए हैं। भगवती[1] में दूसरी जगह देवों की गर्भापहरण-शक्ति का महावीर ने इन्द्रभूति को लक्षित करके वर्णन किया है पर उस जगह उन्होंने अपने गर्भापहरण का कोई निर्देश तक नहीं किया है। हाँ, महावीर के गर्भापहरण का वर्णन आचारांग के अन्तिम भाग में है पर वह भाग आचार्य हेमचन्द्र के कथनानुसार ही कम से कम महावीर के अनन्तर दो सौ वर्ष के बाद का तो है ही। ऐसी स्थिति में किसी भी समझदार के मन में यह प्रश्न हुए बिना रह नहीं सकता कि जब एक सन्तान की एक ही माता सम्भव है तब जननी रूप से महावीर की दो माताओं का वर्णन शास्त्र में आया कैसे ? और इस असंगत दिखाई देने वाली घटना को संगत बनाने के गर्भ-संक्रमण—जैसे बिल्कुल अशक्य कार्य को देव के हस्तक्षेप से शक्य बनाने की कल्पना तक को शास्त्र में स्थान क्यों दिया गया ? इस प्रश्न के और भी उत्तर या खुलासे हो सकते हैं पर मुझे जो खुलासे संभवनीय दिखते हैं उनमें से मुख्य ये हैं—

१—महावीर की जननी तो ब्राह्मणी देवानन्दा ही है, क्षत्रियाणी त्रिशला नहीं।

२—त्रिशला जननी तो नहीं है पर वह भगवान् को गोद लेने वाली या अपने घर पर रख कर संवर्धन करने वाली माता अवश्य है।

अगर वास्तव में ऐसा ही हो तो परम्परा में उस बात का विपर्यास क्यों हुआ और शास्त्र में अन्यथा बात क्यों लिखी गई ?—यह प्रश्न होना स्वाभाविक है।

मैं इस प्रश्न के दो खुलासे सूचित करता हूँ—

१—पहिला तो यह कि त्रिशला सिद्धार्थ की अन्यतम पत्नी होगी जिसे अपना कोई औरस पुत्र न था। स्त्रीसुलभ पुत्रवासना की पूर्ति उसने देवानन्दा के औरस पुत्र को अपना बना कर की होगी। महावीर का रूप, शील और स्वभाव ऐसा आकर्षक होना चाहिए कि जिसके कारण त्रिशला ने अपने जीते जी उन्हें उनकी सहज वृत्ति के अनुसार दीक्षा लेने की अनुमति दी न होगी। भगवान् ने भी त्रिशला का अनुसरण करना ही कर्त्तव्य समझा होगा।

२—दूसरा यह भी संभव है कि महावीर छोटी उम्र से ही उस समय ब्राह्मण-परंपरा में अतिरूढ़ हिंसक यज्ञ और दूसरे निरर्थक क्रिया-काण्डों वाले कुलधर्म से विरुद्ध संस्कार वाले—त्याग प्रकृति के थे। उनको छोटी उम्र में ही किसी निर्ग्रन्थ-

---

१. भगवती शतक ५ उद्देश ४।

परम्परा के त्यागी भिक्षु के संसर्ग में आने का मौका मिला होगा और उस निर्ग्रन्थ संस्कार से साहजिक त्यागवृत्ति की पुष्टि हुई होगी।

महावीर के त्यागाभिमुख संस्कार, होनहार के योग्य शुभ लक्षण और निर्भयता आदि गुण देखकर उस निर्ग्रन्थ गुरु ने अपने पक्के अनुयायी सिद्धार्थ और त्रिशला के यहाँ उनको संवर्धन के लिए रखा होगा जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र को छोटी उम्र से ही गुरु देवचन्द्र ने अपने भक्त उदयन मन्त्री के यहाँ संवर्धन के लिए रखा था। महावीर के सद्गुणों से त्रिशला इतनी आकृष्ट हुई होगी कि उसने अपना ही पुत्र मानकर उनका संवर्धन किया। महावीर भी त्रिशला के सद्भाव और प्रेम के इतने अधिक कायल होंगे कि वे उसे अपनी माता ही समझते और कहते थे। यह संबन्ध ऐसा पनपा कि त्रिशला ने महावीर के त्याग-संस्कार की पुष्टि की पर उन्हें अपने जीते जी निर्ग्रन्थ बनने की अनुमति न दी। भगवान् ने भी माता की इच्छा का अनुसरण किया होगा। खुलासा कोई भी हो— हर हालत में महावीर, त्रिशला और देवानन्दा अपना पारस्परिक संबन्ध तो जानते ही थे। कुछ दूसरे लोग भी इस जानकारी से वंचित न थे। आगे जाकर जब महावीर उग्र-साधना के द्वारा महापुरुष बने तब त्रिशला का स्वर्गवास हो चुका था। महावीर स्वयं सत्यवादी सन्त थे इसलिए प्रसंग आने पर मूल बात को नहीं जाननेवाले अपने शिष्यों को अपनी असली माता कौन है इसका हाल बतला दिया। हाल बतलाने का निमित्त इसलिए उपस्थित हुआ होगा कि अब भगवान् एक मामूली व्यक्ति न रहकर बड़े भारी धर्मसंघ के मुखिया बन गए थे और आस-पास के लोगों में बहुतायत से यही बात प्रसिद्ध थी कि महावीर तो त्रिशलापुत्र हैं। जब इने-गिने लोग कहते थे कि नहीं, महावीर तो देवानन्दा ब्राह्मणी के पुत्र हैं। यह विरोधी चर्चा जब भगवान् के कानों तक पहुँची तब उन्होंने सच्ची बात कह दी कि मैं तो देवानन्दा का पुत्र हूँ। भगवान् का यही कथन भगवती के नवम शतक में सुरक्षित है। और त्रिशलापुत्र रूप से उनकी जो लोकप्रसिद्धि थी वह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में सुरक्षित है। उस समय तो विरोध का समाधान भी ठीक-ठीक हो गया—दोनों प्रचलित बातें परम्परा में सुरक्षित रहीं और एक बात एक आगम में तो दूसरी दूसरे आगम में निर्दिष्ट भी हुई। महावीर के निर्वाण के बाद सौ चार सौ वर्ष में जब साधु-संघ में एक या दूसरे कारण से अनेक मतान्तर और पक्षभेद हुए तब आगम-प्रामाण्य का प्रश्न उपस्थित हुआ। जिसने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को तो पूरा प्रमाण मान लिया पर दूसरे आगमों के बारे में संशय उपस्थित किया, उस परम्परा में तो भगवान् की एक मात्र त्रिशलापुत्र रूप से प्रसिद्धि रह गई और आगे जाकर उसने देवानन्दा के

पुत्र होने की बात को बिल्कुल काल्पनिक कह कर छोड़ दिया। यही परम्परा आगे जाकर दिगम्बर परम्परा में समा गई। परन्तु जिस परम्परा ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की तरह दूसरे आगमों को भी अक्षरशः सत्य मान कर प्रमाण रूप से मान रखा था उसके सामने विरोध उपस्थित हुआ, क्योंकि शास्त्रों में कहीं भगवान् की माता का त्रिशला रूप से तो कहीं देवानन्दा के रूप से सूचन था। उस परम्परा के लिए एक बात को स्वीकार और दूसरे को इन्कार करना तो शक्य ही न रह गया था। समाधान कैसे किया जाए? यह प्रश्न आचार्यों के सामने आया। असली रहस्य तो अनेक शताब्दियों के गर्भ में छिप ही गया था।

वसुदेव की पत्नी देवकी के गर्भ को सातवें महीने में दिव्यशक्ति के द्वारा दूसरी पत्नी रोहिणी के गर्भ में रखे जाने की जो बात साधारण लोगों में व पौराणिक आख्यानों में प्रचलित थी उसने तथा देवसृष्टि की पुरानी मान्यता ने किसी विचक्षण आचार्य को नई कल्पना करने को प्रेरित किया जिसने गर्भापहरण की अद्भुत घटना को एक आश्चर्य कह कर शास्त्र में स्थान दे दिया। फिर तो अक्षरशः शास्त्र के प्रामाण्य को मानने वाले अनुयायियों के लिए कोई शंका या तर्क के लिए गुन्जाइश ही न रह गई कि वे असली बात जानने का प्रयत्न करें। देव के हस्तक्षेप के द्वारा गर्भापहरण की जो कल्पना शास्त्रारूढ हो गई उसकी असंगति तो महाविदेह के सीमंधर स्वामी के साथ संबन्ध जोड़कर टाली गई फिर भी कर्मवाद के अनुसार यह तो प्रश्न था ही कि जब जैन सिद्धान्त जन्मगत जातिभेद या जातिगत ऊँच-नीच भाव को नहीं मानता और केवल गुण-कर्मानुसार ही जातिभेद की कल्पना को मान्य रखता है तो उसे महावीर के ब्राह्मणत्व पर क्षत्रियत्व स्थापित करने का आग्रह क्यों रखना चाहिए? अगर ब्राह्मण-कुल तुच्छ और अनधिकारी ही होता तो इन्द्रभूति आदि सभी ब्राह्मण गणधर बन कर केवली कैसे हुए? अगर क्षत्रिय ही उच्च कुल के हों तो फिर महावीर के अनन्य भक्त श्रेणिक आदि क्षत्रिय नरक में क्यों कर गए? स्पष्ट है कि जैनसिद्धान्त ऐसी जातिगत कोई ऊँच-नीचता की कल्पना को नहीं मानता पर जब गर्भापहरण के द्वारा त्रिशलापुत्ररूप से महावीर की फैली हुई प्रसिद्धि के समाधान का प्रयत्न हुआ तब ब्राह्मण-कुल के तुच्छत्वादि दोषों की असंगत कल्पना को भी शास्त्र में स्थान मिला और उस असंगति को संगत बनाने के काल्पनिक प्रयत्न में से मरीचि के जन्म में नीचगोत्र बाँधने तक की कल्पना कथा-शास्त्र में आ गई। किसी ने यह नहीं सोचा कि ये मिथ्या कल्पनाएँ उत्तरोत्तर कितनी असंगतियाँ पैदा करती जाती हैं और कर्म-सिद्धान्त का ही खून करती हैं? मेरी उपर्युक्त धारणा के विरुद्ध यह भी दलील हो

सकती है कि भगवान की जननी त्रिशला ही क्यों न हो और देवानन्दा उनकी धातृमाता हो। इस पर मेरा जवाब यह है कि देवानन्दा धातृमाता होती तो उसका उस रूप से कथन करना कोई लाघव की बात न थी। क्षत्रिय के घर पर धातृमाता कोई भी हो सकती है। देवानन्दा का धातृमाता रूप से स्वाभाविक उल्लेख न करके उसे मात्र माता रूप से निर्दिष्ट किया है और गर्भापहरण की असत् कल्पना तक जाना पड़ा है सो धातृपक्ष में कुछ भी करना न पड़ता और सहज वर्णन आ जाता।

अब हम सुमेरुकम्पन की घटना पर विचार करें। उसकी असंगति तो स्पष्ट है फिर भी इस घटना को पढ़ने वाले के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि आगमों में गर्भापहरण जैसी घटना ने महावीर की जीवनी में स्थान पाया है तो जन्म-काल में अंगुष्ठ मात्र से किए गए सुमेरु के कम्पन जैसी अद्भुत घटना को आगमों में ही स्थान क्यों नहीं दिया है? इतना ही नहीं बल्कि आगमकाल के अनेक शताब्दियों के बाद रची गई निर्युक्ति व चूर्णि जिसमें कि भगवान का जीवन निर्दिष्ट है उसमें भी उस घटना का कोई जिक्र नहीं है। महावीर के पश्चात् कम से कम हजार बारह सौ वर्ष तक में रचे गए और संग्रह किए गए वाङ्मय में जिस घटना का कोई जिक्र नहीं है वह एकाएक सबसे पहिले 'पउम चरियं' में कैसे आ गई? यह प्रश्न कम कुतूहलवर्धक नहीं है। हम जब इसके खुलासे के लिए आस-पास के साहित्य को देखते हैं तो हमें किसी हद तक सच्चा जवाब भी मिल जाता है।

वाल्मीकि रामायण में दो प्रसङ्ग हैं—पहिला प्रसङ्ग युद्धकांड में और दूसरा उत्तरकांड में आता है। युद्धकांड में हनुमान के द्वारा समूचा कैलास-शिखर उठाकर रणाङ्गण में—जहाँ कि घायल लक्ष्मण पड़ा था—ले जाकर रखने का वर्णन है जब कि उत्तर-कांड में रावण के द्वारा समूचे हिमालय को हाथ में तौलने का तथा महादेव के द्वारा अङ्गुष्ठ मात्र से रावण के हाथ में तौले हुए उस हिमालय को दबाने का वर्णन है। इस तरह हरिवंश आदि प्राचीन पुराणों में कृष्ण के द्वारा सात रोज तक गोवर्धन पर्वत को उठाए रखने का भी वर्णन है। पौराणिक व्यास राम और कृष्ण जैसे अवतारी पुरुषों की कथा सुननेवालों का मनोरञ्जन उक्त प्रकार की अद्भुत कल्पनाओं के द्वारा कर रहे हों तब उस वातावरण के बीच रहनेवाले और महावीर का जीवन सुनानेवाले जैन-ग्रन्थकार स्थूल भूमिका वाले अपने साधारण भक्तों का मनोरञ्जन पौराणिक व्यास की तरह ही कल्पित चमत्कारों से करें तो यह मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल ही है। मैं समझता हूँ कि अपने-अपने पूज्य पुरुषों की महत्तासूचक घटनाओं के वर्णन की होड़ा-होड़ी में

(स्पर्धा में) पड़कर सभी महापुरुषों की जीवनी लिखने वालों ने सत्यासत्य का विवेक कमोवेश रूप से खो दिया है। इसी दोष के कारण सुमेरुकम्पन का प्रसङ्ग महावीर की जीवनी में आ गया है।

तीसरी बात देवसृष्टि की है। श्रमण-परम्परा में मानवीय चरित्र और पुरुषार्थ का ही महत्त्व है। बुद्ध की तरह महावीर का महत्त्व अपने चरित्र-शुद्धि के असाधारण पुरुषार्थ में है। पर जब शुद्ध आध्यात्मिक धर्म ने समाज का रूप धारण किया और उसमें देव-देवियों की मान्यता रखनेवाली जातियाँ दाखिल हुई तब उनके देवविषयक वहमों की तुष्टि और पुष्टि के लिए किसी-न-किसी प्रकार से मानवीय जीवन में देवकृत चमत्कारों का वर्णन अनिवार्य हो गया। यही कारण है कि महावस्तु और ललितविस्तर जैसे ग्रन्थों में बुद्ध की गर्भावस्था में उनकी स्तुति करने देवगण आते हैं और लुम्बिनी-वन में (जहाँ कि बुद्ध का जन्म हुआ) देव-देवियाँ जाकर पहिले से सब तैयारियाँ करती हैं। ऐसे दैवी चमत्कारों से भरे ग्रन्थों का प्रचार जिस स्थान में हो उस स्थान में रहनेवाले महावीर के अनुयायी उनकी जीवनी को बिना दैवी चमत्कारों के सुनना पसंद करें यह संभव ही नहीं है। मैं समझता हूँ इसी कारण से महावीर की सारी सहज जीवनी में देवसृष्टि की कल्पित छाँट आ गई है।

पुरानी जीवन-सामग्री का उपयोग करने में साम्प्रदायिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण में दूसरा भी एक महान फर्क है, जिसके कारण साम्प्रदायिक भाव से लिखी गई कोई भी जीवनी सार्वजनिक प्रतिष्ठा पा नहीं सकती। वह फर्क यह है कि महावीर जैसे आध्यात्मिक पुरुष के नाम पर चलने वाला सम्प्रदाय अनेक छोटे-बड़े फिरकों में स्थूल और मामूली मतभेदों को तात्त्विक और बड़ा तूल देकर बँट गया है। प्रत्येक फिरका अपनी मान्यता को पुरानी और मौलिक साबित करने के लिए उसका संबंध किसी भी तरह महावीर से जोड़ना चाहता है। फल यह होता है कि अपनी कोई मान्यता यदि किसी भी तरह से महावीर के जीवन से संबद्ध नहीं होती तो वह फिरका अपनी मान्यता के विरुद्ध जानेवाले महावीर-जीवन के उस भाग के निरूपक ग्रन्थों तक को (चाहे वह कितने ही पुराने क्यों न हों) छोड़ देता है, जब कि दूसरे फिरके भी अपनी-अपनी मान्यता के लिए वैसी ही खींचातानी करते हैं। फल यह होता है कि जीवनी की पुरानी सामग्री का उपयोग करने में भी सारा जैन-संप्रदाय एकमत नहीं। ऐतिहासिक का प्रश्न वैसा नहीं है। उसे किसी फिरके से कोई खास नाता या बेनाता नहीं होता है। वह तटस्थ भाव से सारी जीवन-सामग्री का जीवनी लिखने में विवेक-दृष्टि से उपयोग करता है। वह न तो किसी फिरके की खुशामद करता है और न किसी को नाराज करने की कोशिश

करता है। चाहे कोई फिरका उसकी बात माने या न माने वह अपनी बात विवेक, निष्पक्षता और निर्भयता से कहेगा व लिखेगा। इस तरह ऐतिहासिक का प्रयत्न सत्यमुखी और व्यापक बन जाता है। यही कारण है कि नवयुग इसी का आदर करता है।

अब हम संक्षेप में यह देखेंगे कि ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर-जीवन लिखने की क्या-क्या सामग्री है?

सामग्री के मुख्य तीन स्रोत हैं। साहित्यिक, भौगोलिक तथा परंपरागत आचार व जीवन। साहित्य में वैदिक, बौद्ध और जैन प्राचीन वाङ्मय का समावेश होता है। भौगोलिक में उपलब्ध वे ग्राम, नदी, नगर, पर्वत आदि प्रदेश हैं जिनका संबंध महावीर के जीवन में प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर आता है। परंपरा से प्राप्त वह आचार और जीवन भी जीवनी लिखने में उपयोगी हैं जिनका एक या दूसरे रूप से महावीर के जीवन तथा उपदेश के साथ एवं महावीर की पूर्व परंपरा के और समकालीन परंपरा के साथ संबन्ध है, चाहे वह उस पुराने रूप में भले ही आज न हो और परिवर्तित एवं विकृत हो गया हो। ऐतिहासिक दृष्टि उक्त सामग्री के किसी भी अंश की उपेक्षा नहीं कर सकती और इसके अलावा भी कोई अन्य स्रोत मालूम हो जाए तो वह उसका भी स्वागत करेगी।

ऊपर जिस सामग्री का निर्देश किया है, उसका उपयोग ऐतिहासिक दृष्टि से जीवनी लिखने में किस-किस तरह किया जा सकता है इस पर भी यहाँ थोड़े में प्रकाश डालना जरूरी है। किसी भी महान् पुरुष की जीवनी को जब हम पढ़ते हैं तब उसके लेखक बहुधा इष्ट पुरुषों की लोगों के मन पर पड़ी हुई महत्ता की छाप को कायम रखने और उसे और भी पुष्ट करने के लिए सामान्य जन-समाज में प्रचलित ऐसी महत्तासूचक कसौटियों पर अधिकतर भार देते हैं और वे महत्ता की असली जड़ को बिल्कुल भुला न दें तो भी उसे गौण तो कर ही देते हैं अर्थात् उस पुरुष की महत्ता की असली चाबी पर उतना भार वे नहीं देते जितना भार साधारण लोगों की मानी हुई महत्ता की कसौटियों का वर्णन करने पर देते हैं। इसका फल यह होता है कि जहाँ एक तरफ से महत्ता का मापदण्ड बनावटी हो जाता है वहाँ दूसरी तरफ से उस पुरुष की महत्ता की असली चाबी का मूल्यांकन भी धीरे-धीरे लोगों की दृष्टि में ओझल हो जाता है। सभी महान् पुरुषों की जीवनियों में यह दोष कमोबेश देखा जाता है। भगवान् महावीर की जीवनी को उस दोष से बचाना हो तो हमें साधारण लोगों की रूढ़ रुचि की पुष्टि का विचार बिना किए ही असली वस्तु का विचार करना होगा।

भगवान् के जीवन के मुख्य दो अंश हैं—एक तो आत्मलक्षी—जिसमें

अपनी आत्मशुद्धि के लिए किए गए भगवान् के समग्र पुरुषार्थ का समावेश होता है। दूसरा अंश वह है जिसमें भगवान् ने परलक्षी आध्यात्मिक प्रवृत्ति की है। जीवनी के पहिले अंश का पूरा वर्णन तो कहीं भी लिखा नहीं मिलता फिर भी उसका थोड़ा-सा पर प्रामाणिक और अतिरंजनरहित प्राचीन वर्णन भाग्यवश आचारांग प्रथम श्रुत स्कंध के नवम अध्ययन में अभी तक सुरक्षित है। इससे अधिक पुराना और अधिक प्रामाणिक कोई वर्णन अगर किसी ने लिखा होगा तो वह आज सुरक्षित नहीं है। इसलिए प्रत्येक ऐतिहासिक लेखक को भगवान् की साधनाकालीन स्थिति का चित्रण करने में मुख्य रूप से वह एक ही अध्ययन उपयोगी हो सकता है। भले ही वह लेखक इस अध्ययन में वर्णित साधना की पुष्टि के लिए अन्य-अन्य आगमिक भागों से सहारा ले; पर उसे, भगवान् की साधना कैसी थी इसका वर्णन करने के लिए उक्त अध्ययन को ही केन्द्रस्थान में रखना होगा।

यद्यपि वैदिक परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में भगवान् के नाम तक का निर्देश नहीं है फिर भी जब तक हम प्राचीन[1] शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ और आपस्तम्ब, कात्यायन आदि श्रौत-सूत्र न देखें तब तक हम भगवान् की धार्मिक-प्रवृत्ति का न तो ठीक-ठीक मूल्य आँक सकते हैं और न ऐसी प्रवृत्ति का वर्णन करने वाले आगमिक भागों की प्राचीनता और महत्ता को ही समझ सकते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के जीवन में विविध यज्ञों का धर्मरूप से कैसा स्थान था और उनमें से अनेक यज्ञों में गाय, घोड़े, भेड़, बकरे आदि पशुओं का तथा मनुष्य तक का कैसा धार्मिक वध होता था एवं अतिथि के लिए भी प्राणियों का वध कैसा धर्म्य माना जाता था—इस बात की आज हमें कोई कल्पना तक नहीं हो सकती है जब कि हजारों वर्ष से देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पुरानी यज्ञप्रथा ही बंद हो गई है और कहीं-कहीं व कभी-कभी कोई यज्ञ करते भी हैं तो वे यज्ञ बिल्कुल ही अहिंसक होते हैं।

धर्मरूप से अवश्य कर्त्तव्य माने जानेवाले पशुवध का विरोध करके उसे आम तौर से रोकने का काम उस समय उतना कठिन तो अवश्य था जितना

---

१. शतपथ ब्राह्मण का० ३; अ० ७, ८, ६। का० ४; अ० ६। का० ५; अ० १, २, ५। का० ६; अ० २। का० ११; अ० ७, ८। का० १२; अ० ७। का० १३; अ० १, २, ५ इत्यादि।
कात्यायन श्रौतसूत्र—अच्युत ग्रन्थमाला भूमिकागत यज्ञों का वर्णन।

कठिन आज के कत्लखानों में होने वाले पशुवध को बन्द कराना है। भगवान् ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन महान् सन्तों की तरह इस कठिन कार्य को करने में कोर-कसर उठा रखी न थी। उत्तराध्ययन के यज्ञीय अध्ययन में जो यज्ञीय हिंसा का आत्यन्तिक विरोध है वह भगवान् की धार्मिक प्रवृत्ति का सूचक है। यज्ञीय हिंसा का निषेध करने वाली भगवान् की धार्मिक-प्रवृत्ति का महत्त्व और अगले जमाने पर पड़े हुए उसके असर को समझने के लिए जीवनी लिखने वाले को ऊपर सूचित वैदिक-ग्रन्थों का अध्ययन करना ही होगा।

धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मण आदि तीन वर्णों का आदर तो एक-सा ही था। तीनों वर्ण वाले यज्ञ के अधिकारी थे। इसलिए वर्ण की जुदाई होते हुए भी इनमें छुआछूत का भाव न था पर विकट सवाल तो शूद्रों का था। धर्मक्षेत्र में प्रवेश की बात[1] तो दूर रही पर उनका दर्शन तक कैसा अमंगल माना जाता था, इसका वर्णन हमें पुराने ब्राह्मण-ग्रन्थों में स्पष्ट मिलता है। शूद्रों को अस्पृश्य मानने का भाव वैदिक परम्परा में इतना गहरा था कि धार्मिक पशुवध का भाव इतना गहरा न था। यही कारण है कि बुद्ध-महावीर जैसे सन्तों के प्रयत्नों से धार्मिक पशुवध तो बन्द हुआ पर उनके हजार प्रयत्न करने पर भी अस्पृश्यता का भाव उसी पुराने युग की तरह आज भी मौजूद है। इतना ही नहीं बल्कि ब्राह्मण-परम्परा में रूढ़ हुए उस जातिगत अस्पृश्यता के भाव का खुद महावीर के अनुयायियों पर भी ऐसा असर पड़ा है कि वे भगवान् महावीर की महत्ता को तो अस्पृश्यता-निवारण के धार्मिक-प्रयत्न से आँकते और गाते हैं फिर भी वे खुद ही ब्राह्मण-परम्परा के प्रभाव में आकर शूद्रों की अस्पृश्यता को अपने जीवन-व्यवहार में स्थान दिए हुए हैं। ऐसी गहरी जड़वाले छुआ-छूत के भाव को दूर करने के लिए भगवान् ने निन्दा-स्तुति की परवाह बिना किए प्रबल पुरुषार्थ किया था और वह भी धार्मिक-क्षेत्र में। ब्राह्मण-परम्परा अपने सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-धर्म में शूद्रों का दर्शन तक सहन करती न थी तब बुद्ध आदि अन्य सन्तों की तरह महावीर चाण्डाल जैसे अति शूद्रों को भी अपने साधुसंघ में वैसा ही स्थान देते थे जैसा कि ब्राह्मण आदि अन्य वर्णों को। जैसे गांधीजी ने अस्पृश्यता को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए शूद्रों को धर्ममन्दिर में स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है वैसे ही महावीर ने अस्पृश्यता को उखाड़ फेंकने के लिए शूद्रों को मूर्धन्यरूप अपने साधुसंघ में स्थान दिया था। महावीर के बाद ऐसे किसी जैन आचार्य या गृहस्थ का इतिहास नहीं मिलता कि जिसमें उसके द्वारा अति शूद्रों को साधु-संघ

१ शतपथ ब्राह्मण का० ३, अ० १ आ० १।

में स्थान दिए जाने के सबूत हों। दूसरी तरफ से सारा जैन समाज अस्पृश्यता के बारे में ब्राह्मण-परम्परा के प्रभाव से मुक्त नहीं है। ऐसी स्थिति में उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन ग्रन्थ में एक चांडाल को जैन दीक्षा दिए जाने की जो घटना वर्णित है[1] और अगले जैन तर्क-ग्रन्थों[2] में जातिवाद का जो प्रबल खण्डन है उसका क्या अर्थ है? ऐसा प्रश्न हुए बिना नहीं रहता। इस प्रश्न का इसके सिवाय दूसरा कोई खुलासा ही नहीं है कि भगवान् महावीर ने जातिवाद[3] का जो प्रबल विरोध किया था वह किसी न किसी रूप में पुराने आगमों में सुरक्षित रह गया है। भगवान् के द्वारा किए गए इस जातिवाद के विरोध के तथा उस विरोध के सूचक आगमिक भागों के महत्त्व का मूल्यांकन ठीक-ठीक करना हो तो भगवान् की जीवनी लिखने वाले को जातिवाद के समर्थक प्राचीन ब्राह्मण-ग्रंथों को देखना ही होगा।

महावीर ने बिल्कुल नई धर्म-परम्परा को चलाया नहीं है किन्तु उन्होंने पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ की धर्म-परम्परा को ही पुनरुज्जीवित किया है। वह पार्श्वनाथ की परम्परा कैसी थी, उसका क्या नाम था इसमें महावीर ने क्या सुधार या परिवर्तन किया, पुरानी परम्परावालों के साथ संघर्ष होने के बाद उनके साथ महावीर के सुधार का कैसे समन्वय हुआ, महावीर का निज व्यक्तित्व मुख्यतया किस बात पर अवलम्बित था, महावीर के प्रतिस्पर्धी मुख्य कौन-कौन थे, उनके साथ महावीर का मतभेद किस-किस बात में था, महावीर आचार के किस अँश पर अधिक भार देते थे, कौन-कौन राजे-महाराजे आदि महावीर को मानते थे, महावीर किस कुल में हुए इत्यादि प्रश्नों का जवाब किसी न किसी रूप में भिन्न-भिन्न जैन-आगम-भागों में सुरक्षित है। परन्तु वह जवाब ऐतिहासिक जीवनी का आधार तभी बन सकता है जब कि उसकी सच्चाई और प्राचीनता बाहरी सबूतों से भी साबित हो। इस बारे में बौद्ध-पिटक के पुराने अंश सीधे तौर से बहुत मदद करते हैं क्योंकि जैसा जैनागमों में पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का वर्णन है[4] ठीक वैसा ही चातुर्याम निर्ग्रंथ धर्म का निर्देश बौद्ध पिटकों में भी है[5]। इस बौद्ध उल्लेख से महावीर के पञ्चयाम धर्म के सुधार की जैन शास्त्र में

---

१. अध्ययन १२।

२. सन्मतिटीका पृ० ६९७। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७६७, इत्यादि।

३. उत्तराध्ययन अ० २५ गाथा ३३।

४. उत्तराध्ययन अ० २३। भगवती श० २. उ० ५ इत्यादि।

५. दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त।

वर्णित घटना की ऐतिहासिकता साबित हो जाती है। महावीर खुद नग्न-अचेल थे फिर भी परिमित व जीर्ण वस्त्र रखनेवाले साधुओं को अपने संघ में स्थान देते थे ऐसा जो वर्णन आचारांग-उत्तराध्ययन में है उसकी ऐतिहासिकता भी बौद्ध ग्रन्थों से साबित हो जाती है क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों में अचेल और एकसाटकधर[1] श्रमणों का जो वर्णन है वह महावीर के अचेल और सचेल साधुओं को लागू होता है। जैन आगमों में महावीर का कुल ज्ञात कहा गया है, बौद्ध पिटकों में भी उनका वही कुल[2] निर्दिष्ट है। महावीर के नाम के साथ निर्ग्रन्थ विशेषण बौद्ध ग्रन्थों में आता है जो जैन वर्णन की सचाई को साबित करता है। श्रेणिक-कोणिकादि राजे महावीर को मानते थे या उनका आदर करते थे ऐसा जैनागम में जो वर्णन है वह बौद्ध पिटकों के वर्णन से भी खरा उतरता है। महावीर के व्यक्तित्व का सूचक दीर्घतपस्याका वर्णन जैनागमों में है उसकी ऐतिहासिकता भी बौद्ध ग्रन्थों से साबित होती है। क्योंकि भगवान् महावीर के शिष्यों का दीर्घतपस्वी रूप से निर्देश उनमें आता है[3]। जैनागमों में महावीर के विहारक्षेत्र का जो आभास मिलता है वह बौद्ध पिटकों के साथ मिलान करने से खरा ही उतरता है। जैनागमों में महावीर के बड़े प्रतिस्पर्द्धी गोशालक का जो वर्णन है वह भी बौद्ध पिटकों के संवाद से सच्चा ही साबित होता है। इस तरह महावीर की जीवनी के महत्त्व के अंशों को ऐतिहासिक बतलाने के लिए लेखक को बौद्ध पिटकों का सहारा लेना ही होगा।

बुद्ध और महावीर समकालीन और समान क्षेत्रविहारी तो थे ही पर ऐतिहासिकों के सामने एक सवाल यह पड़ा है कि दोनों में पहिले किसका निर्वाण हुआ? प्रोफेसर याकोबी ने बौद्ध और जैन ग्रन्थों की ऐतिहासिक दृष्टि से तुलना करके अन्तिम निष्कर्ष निकाला है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध-निर्वाण के पीछे ही अमुक समय के बाद ही हुआ है[4]। याकोबी ने अपनी गहरी छानबीन से यह स्पष्ट कर दिया है कि वज्जि-लिच्छिवियों का कोणिक के साथ जो युद्ध हुआ था वह बुद्ध-निर्वाण के बाद और महावीर के जीवनकाल में ही हुआ। वज्जि-

---

१. अंगुत्तर भाग. १. १५१। भाग. २, १९८। सुमङ्गलाविलासिनी पृ० १४४

२. दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त इत्यादि इत्यादि।

३. जैसी तपस्या स्वयं उन्होंने की वैसी ही तपस्या का उपदेश उन्होंने अपने शिष्यों को दिया था। अतएव उनके शिष्यों को बौद्ध ग्रन्थ में जो दीर्घ-तपस्वी विशेषण दिया गया है उससे भगवान् भी दीर्घतपस्वी थे ऐसा सूचित होता है। देखो मज्झिमनिकाय-उपालिसुत्त ५६।

४. 'भारतीय विद्या' सिंघी स्मारक अङ्क पृ० १७७।

लिच्छिवी-गण का वर्णन तो बौद्ध और जैन दोनों ग्रन्थों में आता है पर इनके युद्ध का वर्णन बौद्धग्रन्थों में नहीं आता है जब कि जैनग्रन्थों में आता है। याकोबी का यह ऐतिहासिक निष्कर्ष महावीर की जीवनी लिखने में जैसा-तैसा उपयोगी नहीं है। इससे ऐतिहासिक लेखक का ध्यान इस तत्त्व की ओर भी अपने आप जाता है कि भगवान् की जीवनी लिखने में आगमवर्णित छोटी बड़ी सब घटनाओं की बड़ी सावधानी से जाँच करके उनका उपयोग करना चाहिए।

महावीर की जीवनी का निरूपण करने वाले कल्पसूत्र आदि अनेक दूसरे भी ग्रन्थ हैं जिन्हें श्रद्धालु लोग अक्षरशः सच्चा मान कर सुनते आए हैं पर इनकी भी ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन करने पर मालूम हो जाता है कि उनमें कई बातें पीछे से औरों की देखादेखी लोकरुचि की पुष्टि के लिए जोड़ी गई हैं। बौद्ध महायान परम्परा के महावस्तु, ललितविस्तर जैसे ग्रन्थों के साथ कल्पसूत्र की तुलना बिना किए ऐतिहासिक लेखक अपना काम ठीक तौर से नहीं कर सकता। वह जब ऐसी तुलना करता है तब उसे मालूम पड़ जाता है कि भगवान् की जीवनी में आनेवाले चौदह स्वप्नों का विस्तृत वर्णन तथा जन्मकाल में और कुमारावस्था में अनेक देवों के गमनागमन का वर्णन क्यों और कैसे काल्पनिक तथा पौराणिक है।

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्मस्थान तो वाराणसी था, पर उनका भ्रमण और उपदेश-क्षेत्र दूर-दूर तक विस्तीर्ण था। इसी क्षेत्र में वैशाली नामक सुप्रसिद्ध शहर भी आता है जहाँ भगवान् महावीर जन्मे। जन्म से निर्वाण तक में भगवान् की पादचर्या से अनेक छोटे-बड़े शहर, कस्बे, गाँव, नदी, नाले, पर्वत, उपवन आदि पवित्र हुए, जिनमें से अनेकों के नाम व वर्णन आगमिक साहित्य में सुरक्षित हैं। अगर ऐतिहासिक जीवनी लिखनी हो तो हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम उन सभी स्थानों का आँखों से निरीक्षण करें। महावीर के बाद ऐसे कोई असाधारण और मौलिक परिवर्तन नहीं हुए हैं जिनसे उन सब स्थानों का नामोनिशान मिट गया हो। ढाई हजार वर्षों के परिवर्तनों के बावजूद भी अनेक शहर, गाँव, नदी, नाले, पर्वत आदि आज तक उन्हीं नामों से या थोड़े बहुत अपभ्रष्ट नामों से पुकारे जाते हैं। जब हम महावीर की जीवनचर्या में आने वाले उन स्थानों का प्रत्यक्ष निरीक्षण करेंगे तब हमें आगमिक वर्णनों की सच्चाई के तारतम्य की भी एक बहुमूल्य कसौटी मिल जाएगी, जिससे हम न केवल ऐतिहासिक जीवन को ही तादृश चित्रित कर सकेंगे बल्कि अनेक उलझी गुत्थियों को भी सुलझा सकेंगे। इसलिए मेरी राय में ऐतिहासिक लेखक के लिए कम से कम भौगोलिक भाग का प्रत्यक्ष परिचय घूम-घूम कर करना जरूरी है।

ऐतिहासिक जीवनी लिखने का तीसरा महत्त्वपूर्ण साधन परम्परागत आचार-विचार है। भारत की जनता पर खास कर जैनधर्म के प्रचारवाले भागों की जनता पर महावीर के जीवन का सूक्ष्म-सूक्ष्मतर प्रभाव देखा जा सकता है; पर उसकी अमिट और स्पष्ट छाप तो जैन-परम्परा के अनुयायी गृहस्थ और त्यागी के आचार-विचारों में देखी जा सकती है। समय के हेर-फेर से, बाहरी प्रभावों से और अधिकार-भेद से आज के जैन-समाज का आचार-विचार कितना ही क्यों न बदला हो; पर यह अपने उपास्य देव महावीर के आचार-विचार के वास्तविक रूप की आज भी झाँकी करा सकता है। अलबत्ता इसमें छानबीन करने की शक्ति आवश्यक है। इस तरह हम ऊपर सूचित किए हुए तीनों साधनों का गहराई के साथ अध्ययन करके महावीर की ऐतिहासिक जीवनी तैयार कर सकते हैं, जो समय की माँग है।

ई० १९४७]

निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय

श्रमण निर्ग्रन्थ धर्म का परिचय

ब्राह्मण या वैदिक धर्मानुयायी संप्रदाय का विरोधी संप्रदाय श्रमण संप्रदाय कहलाता है, जो भारत में सम्भवतः वैदिक संप्रदाय का प्रवेश होनेके पहले ही किसी न किसी रूप में और किसी न किसी प्रदेश में अवश्य मौजूद था। श्रमण सम्प्रदाय की शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ अनेक थीं, जिनमें सांख्य, जैन, बौद्ध, आजीवक आदि नाम सुविदित हैं। पुरानी अनेक श्रमण संप्रदाय की शाखाएँ एवं प्रतिशाखाएँ जो पहले तो वैदिक संप्रदाय की विरोधिनी रहीं पर वे एक या दूसरे कारण से धीरे धीरे बिलकुल वैदिक-संप्रदाय में घुलमिल गयी हैं। उदाहरण के तौर पर हम वैष्णव और शैव-संप्रदाय का सूचन कर सकते हैं। पुराने वैष्णव और शैव आगम केवल वैदिक-संप्रदाय से भिन्न ही न थे पर उसका विरोध भी करते थे। और इस कारण से वैदिक संप्रदाय के समर्थक आचार्य भी पुराने वैष्णव और शैव आगमों को वेदविरोधी मानकर उन्हें वेदबाह्य मानते थे। पर आज हम देख सकते हैं कि वे ही वैष्णव और शैव संप्रदाय तथा उनकी अनेक शाखाएँ बिलकुल वैदिक सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गई हैं। यही स्थिति सांख्य संप्रदाय की है जो पहले अवैदिक माना जाता था, पर आज वैदिक माना जाता है। ऐसा होते हुए भी कुछ श्रमण संप्रदाय अभी ऐसे हैं जो खुद अपने को अ-वैदिक ही मानते-मनवाते हैं और वैदिक विद्वान् भी उन सम्प्रदायों को अवैदिक ही मानते आए हैं। ऐसा क्यों हुआ? यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। पर इसकी विशेष चर्चा का यह स्थान नहीं है। यहाँ तो इतना ही प्रस्तुत है कि पहले से अभी तक बिलकुल अवैदिक रहने और कहलाने वाले संप्रदाय अभी जीवित हैं। इन सम्प्रदायों में जैन और बौद्ध मुख्य हैं। यद्यपि इस जगह आजीवक संप्रदाय का भी नाम दिया जा सकता है, पर उसका साहित्य और इतिहास स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध न

होने के कारण तथा सातवीं सदी से इधर उसका प्रवाह अन्य नामों और स्वरूप में बदल जाने के कारण हम यहाँ उसका निर्देश नहीं करते हैं।

जैन और बौद्ध संप्रदाय अनेक परिवर्तनशील परिस्थितियों में से गुजरते हुए भी वैसे ही जीवित हैं जैसे वैदिक-संप्रदाय तथा जरथोस्त्, यहूदी, क्रिश्चियन आदि धर्ममत जीवित हैं। जैन-मत का पूरा इतिहास तो अनेक पुस्तकों में ही लिखा जा सकता है। इस जगह हमारा उद्देश्य जैन-संप्रदाय के प्राचीन स्वरूप पर थोड़ा सा ऐतिहासिक प्रकाश डालना मात्र है। प्राचीन से हमारा अभिप्राय स्थूलरूप में भ० पार्श्वनाथ (ई० स० पूर्व ८००) के समय से लेकर करीब-करीब अशोक के समय तक का है।

प्राचीन शब्द से ऊपर सूचित करीब पांच सौ वर्ष दरम्यान भी निर्ग्रन्थ परम्परा के इतिहास में समावेश पाने वाली सब बातों पर विचार करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है क्योंकि यह काम भी इस छोटे से लेख के द्वारा पूरा नहीं हो सकता। यहाँ हम जैन-संप्रदाय से संबन्ध रखनेवाली इनी-गिनी उन्हीं बातों पर विचार करेंगे जो बौद्ध पिटकों में एक या दूसरे रूप में मिलती हैं, और जिनका समर्थन किसी न किसी रूप में प्राचीन निर्ग्रन्थ आगमों से भी होता है।

श्रमण संप्रदाय की सामान्य और संक्षिप्त पहचान यह है कि वह न तो अपौरुषेय-अनादिरूप से या ईश्वर रचितरूप से वेदों का प्रामाण्य ही मानता है और न ब्राह्मणवर्ग का जातीय या पुरोहित के नाते गुरुपद स्वीकार करता है, जैसा कि वैदिक-संप्रदाय वेदों और ब्राह्मण पुरोहितों के बारे में मानता व स्वीकार करता है। सभी श्रमण-संप्रदाय अपने-अपने सम्प्रदाय के पुरस्कर्तारूप से किसी न किसी योग्यतम पुरुष को मानकर उसके वचनों को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं और जाति की अपेक्षा गुण की प्रतिष्ठा करते हुए संन्यासी या गृहत्यागी वर्ग का ही गुरुपद स्वीकार करते हैं।

प्राचीनकाल से श्रमण-सम्प्रदायकी सभी शाखा-प्रतिशाखाओं में गुरु या त्यागी वर्ग के लिए निम्नलिखित शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होते थे। श्रमण, भिक्षु, अनगार, यति, साधु, तपस्वी, परिव्राजक, अर्हत्, जिन, तीर्थंकर आदि। बौद्ध और आजीवक आदि संप्रदायों की तरह जैन-संप्रदाय भी अपने गुरुवर्ग के लिए उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग पहले से ही करता आया है तथापि एक शब्द ऐसा है कि जिसका प्रयोग जैन संप्रदाय ही अपने सारे इतिहास में पहले से आज तक अपने गुरुवर्ग के लिए करता आया है। यह शब्द है "निर्ग्रन्थ" (निग्गन्थ)[1]। जैन आगमों के

---

१. आचारांग १. ३. १. १०८।

अनुसार निग्गन्थ और बौद्धपिटकों के अनुसार निग्गंठ। जहाँ तक हम जानते हैं, ऐतिहासिक साधनों के आधार पर कह सकते हैं, कि जैन-परंपरा को छोड़कर और किसी परंपरा में गुरुवर्ग के लिए निर्ग्रन्थ शब्द सुप्रचलित और रूढ हुआ नहीं मिलता। इसी कारण से जैन शास्त्र "निग्गंथ पावयण" अर्थात् 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' कहा गया है[१]। किसी अन्य-संप्रदाय का शास्त्र निर्ग्रन्थ प्रवचन नहीं कहा जाता।

स्व पर मान्यताएँ और ऐतिहासिक दृष्टि

प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय वाले भिन्न-भिन्न प्रश्नों और विषयों के सम्बन्ध में अमुक-अमुक मान्यताएँ रखते हुए देखे जाते हैं। वे मान्यताएँ उनके दिलों में इतनी गहरी जड़ जमाए हुए होती हैं कि उन्हें अपनी वैसी मान्यताओं के बारे में कोई सन्देह तक नहीं होता। अगर कोई सन्देह प्रकट करें तो उन्हें जान जाने से भी अधिक चोट आती है। सचमुच उन मान्यताओं में अनेक मान्यताएँ बिलकुल सही होती हैं, भले वैसी मान्यताओं के धारण करनेवाले लोग उनका समर्थन कर भी न सकें और समर्थन के साधन मौजूद होते हुए भी उनका उपयोग करना न जानें। ऐसी मान्यताओं को हम अक्षरशः मानकर अपने तईं संतोष धारण कर सकते हैं, तथा उनके द्वारा हम अपना जीवनविकास भी शायद कर सकते हैं। उदाहरणार्थ जैन लोग ज्ञातपुत्र महावीर के बारे में और बौद्ध लोग तथागत बुद्ध के बारे में अपने-अपने परंपरागत संस्कारों के तथा मान्यताओं के आधार पर बिलकुल ऐतिहासिक तथ्योंकी जाँच बिना किए भी उनकी भक्ति-उपासना तथा उनकी जीवन-उत्क्रांति के अनुसरण के द्वारा अपना आध्यात्मिक विकास साध सकते हैं। फिर भी जब दूसरों के सामने अपनी मान्यताओं के रखने का तथा अपने विचारों को सही साबित करने का प्रश्न उपस्थित होता है तब मात्र इतना कहने से काम नहीं चलता कि 'आप मेरे कथन को मान लीजिए, मुझपर भरोसा रखिए'। हमें दूसरों के सम्मुख अपनी बातें या मान्यताएँ प्रतीतिकर रूप से या विश्वस्त रूप से रखना हो तो इसका सीधा-सादा और सर्वमान्य तरीका यही है कि हम ऐतिहासिक दृष्टि के द्वारा उनके सम्मुख अपनी बातों का तथ्य साबित करें। कोई भी भिन्न अभिप्राय रखनेवाला ऐतिहासिक व्यक्ति तथ्य का कायल हो ही जाता है। यही न्याय खुद हमारे अपने विषय में भी लागू होता है। दूसरों के बारे में हमारा कैसा भी पूर्वग्रह क्यों न हो पर जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से अपने पूर्वग्रह की जाँच करेंगे तो हम सत्य-पथ पर सरलता से आ सकेंगे। अज्ञान, भ्रम और वहम जो भिन्न-भिन्न जातियों और सम्प्रदायों में लम्बी-चौड़ी खाई पैदा करते हैं अर्थात् उनके

---

१. भगवती ९. ६. ३८३

दिलों को एक दूसरे से दूर रखते हैं उनका सरलता से नाश करके दिलों की खाई पाटने का एक मात्र साधन ऐतिहासिक दृष्टि का उपयोग है। इस कारण से यहाँ हम निर्ग्रन्थ संप्रदाय से संबंध रखने वाली कुछ बातों की ऐतिहासिक दृष्टि से जांच करके उनका ऐतिहासिक मूल्य प्रकट करना चाहते हैं।

जिन इने-गिने मुद्दों और प्रश्नों के बारे में जैन-सम्प्रदाय को पहले कभी संदेह न था उन प्रश्नों के बारे में विदेशी विद्वानों की रायने केवल औरों के दिल में ही नहीं बल्कि परंपरागत जैन संस्कारवालों के दिल में भी थोड़ा बहुत संदेह पैदा कर दिया था। यहाँ हमें यह विचार करना चाहिए कि आखिर में ऐसा होता क्यों है? विदेशी विद्वान् एक अंत पर थे तो हम दूसरे अंत पर थे। विदेशी विद्वानों की संशोधक वृत्ति और सत्य दृष्टि ने नवयुग पर इतना प्रभाव जमा दिया था कि कोई उनकी राय के खिलाफ बलपूर्वक और दलील के साथ अपना मत प्रतिपादित नहीं कर सकता था। हमारे पास अपनी मान्यता के पोषक अकाट्य ऐतिहासिक साधन होते हुए भी हम न साधनों का अपने पक्ष में यथार्थ रूप से पूरा उपयोग करना जानते न थे। इसलिए हमारे सामने शुरू में दो ही रास्ते थे। या तो हम विदेशी विद्वानों की राय को बिना दलील किए झूठ कह कर अमान्य करें, या अपने पक्ष की दलील के अभाव से ऐतिहासिकों की वैज्ञानिक दृष्टि के प्रभाव में आकर हम अपनी सत्य बात को भी नासमझी से छोड़कर विदेशी विद्वानों की खोजों को मान लें। हमारे पास परम्परा के संस्कारों के अलावा अपनी-अपनी मान्यता के समर्थक अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद थे। हम केवल उनका उपयोग करना नहीं जानते थे। जब कि विदेशी विद्वान् ऐतिहासिक साधनों का उपयोग करना तो जानते थे पर शुरू-शुरू में उनके पास ऐतिहासिक साधन पूरे न थे। इसलिए अधूरे साधनों से वे किसी बात पर एक निर्णय प्रकट करते थे तो हम साधनों के होते हुए भी उनका उपयोग बिना किए ही बिलकुल उस बात पर विरोधी निर्णय रखते थे। इस तरह एक ही बात पर या एक ही मुद्दे पर दो परस्पर विरोधी निर्णयों के सामने आने से नवयुग का व्यक्ति अपने आप संदेहशील हो जाए तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हम उपर्युक्त विचार को एक आध उदाहरण से समझाने की चेष्टा करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि का मूल्याङ्कन

जैन-परम्परा, बौद्ध परम्परा से पुरानी है और उसके अंतिम पुरस्कर्ता महावीर बुद्ध से भिन्न व्यक्ति हैं इस विषय में किसी भी जैन व्यक्ति को कभी संदेह न था। ऐसी सत्य और असंदिग्ध वस्तु के खिलाफ भी विदेशी विद्वानों की रायें प्रकट होने

लगीं। शुरू में प्रो० लासेन ने[3] लिखा कि 'बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति हैं क्योंकि जैन और बुद्ध-परम्परा की मान्यताओं में अनेकविध समानता है।' थोड़े वर्षों के बाद अधिक साधनों की उपलब्धि तथा अध्ययन के बल पर प्रो० वेबर[4] आदि विद्वानों ने यह मत प्रकट किया कि 'जैनधर्म बौद्धधर्म की एक शाखा है। वह उससे स्वतंत्र नहीं है।' आगे जाकर विशेष साधनों की उपलब्धि और विशेष परीक्षा के बल पर प्रो० याकोबी ने[5] उपर्युक्त दोनों मतों का निराकरण करके यह स्थापित किया कि 'जैन और बौद्ध सम्प्रदाय दोनों स्वतन्त्र हैं इतना ही नहीं बल्कि जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से पुराना भी है और ज्ञातपुत्र महावीर तो उस सम्प्रदाय के अंतिम पुरस्कर्ता मात्र हैं।' करीब सवा सौ वर्ष जितने परिमित काल में एक ही मुद्दे पर ऐतिहासिकों की राय बदलती रही पर इस बीच में किसी जैन ने अपनी यथार्थ बात को भी उस ऐतिहासिक ढंग से दुनिया के समक्ष न रखा जिस ढंग से प्रो० याकोबी ने अंत में रखा। याकोबी के निकट अधिकतर साधन वे ही थे जो प्रत्येक जैन विद्वान् के पास अनायास ही उपलब्ध रहते हैं। याकोबी ने केवल यही किया कि जैन ग्रन्थों में आने वाली हकीकतों का बौद्ध आदि वाङ्मय में वर्णित हकीकतों के साथ मिलान करके ऐतिहासिक दृष्टि से परीक्षा की और अंत में जैनसम्प्रदाय की मान्यता की सचाई पर मुहर लगा दी। जो बात हम जैन लोग मानते थे उसमें याकोबी ने कोई वृद्धि नहीं की फिर भी जैन सम्प्रदाय की बौद्ध सम्प्रदाय से प्राचीनता और भगवान् महावीर का तथागत बुद्ध की अपेक्षा स्वतन्त्र व्यक्तित्व इन दो मुद्दों पर हमारे साम्प्रदायिक जैन विद्वानों के अभिप्राय का वह सार्वजनिक मूल्य नहीं है जो याकोबी के अभिप्राय का है। पाठक इस अंतर का रहस्य स्वयमेव समझ सकते हैं कि याकोबी उपलब्ध ऐतिहासिक साधनों के बलाबल की परीक्षा करके कहते हैं जब कि साम्प्रदायिक जैन विद्वान् केवल साम्प्रदायिक मान्यता को किसी भी प्रकार की परीक्षा बिना किए ही प्रकट करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सार्वजनिक मानस परीक्षित सत्य को जितना मानता है उतना अपरीक्षित सत्य को नहीं मानता। इसलिए हम इस लेख में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय से संबन्ध रखने वाली कुछ बातों पर ऐतिहासिक परीक्षा के द्वारा प्रकाश डालना चाहते हैं, जिससे पाठक यह जान सकेंगे कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के बारे में जो मन्तव्य जैन सम्प्रदाय में प्रचलित हैं वे कहाँ तक सत्य हैं और उन्हें कितना ऐतिहासिक आधार है।

३. S. B. E. Vol. 22 Introduction P. 19
४. वही P. 18
५. वही

आगमिक साहित्य का ऐतिहासिक स्थान

निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के आचार और तत्त्वज्ञान से संबन्ध रखने वाले जिन मुद्दों पर हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना चाहते हैं वे मुद्दे जैन आगमिक साहित्य में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं तो फिर उसी आगमिक साहित्य के आधार पर उन्हें यथार्थ मानकर क्यों संतोष धारण न किया जाए? यह प्रश्न किसी भी श्रद्धालु जैन के दिल में पैदा हो सकता है। इसलिये यहाँ यह भी बतलाना जरूरी हो जाता है कि हम जैन आगमिक साहित्य में कही हुई बातों की जाँच-पड़ताल क्यों करते हैं? हमारे सम्मुख मुख्यतया दो वर्ग मौजूद हैं—एक तो ऐसा है जो मात्र प्राचीन आगमों को ही नहीं पर उनकी टीका-अनुटीका आदि बाद के साहित्य को भी अक्षरशः सर्वज्ञप्रणीत या तत्सदृश मानकर ही अपनी राय को बनाता है। दूसरा वर्ग वह है जो या तो आगमों को और बाद की व्याख्याओं को अंशतः मानता है या बिलकुल नहीं मानता है। ऐसी दशा में आगमिक साहित्य के आधार पर निर्विवाद रूप से सब के सम्मुख कोई बात रखनी हो तो यह जरूरी हो जाता है कि प्राचीन आगमों और उनकी व्याख्याओं में कही हुई बातों की यथार्थता बाहरी साधनों से जाँची जाए। अगर बाहरी साधन आगम-वर्णित वस्तुओं का समर्थन करता है तो मानना पड़ेगा कि आगमभाग अवश्य प्रमाणभूत है। बाहरी साधनों से पूरा समर्थन पानेवाले आगमभागों को फिर हम एक या दूसरे कारण से कृत्रिम कहकर फेंक नहीं दे सकते। इस तरह ऐतिहासिक परीक्षा जहाँ एक ओर आगमिक साहित्य को अर्वाचीन या कृत्रिम कहकर बिलकुल नहीं मानने वाले को उसका सापेक्ष प्रामाण्य मानने के लिए बाधित करती है वहाँ दूसरी ओर वह परीक्षा आगम साहित्य को बिलकुल सर्वज्ञप्रणीत मान कर ज्यों का त्यों मानने वाले को उसका प्रामाण्य विवेकपूर्वक मानने की भी शिक्षा देती है। अब हम देखेंगे कि ऐसा बाहरी साधन कौन है जो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के आगम कथित प्राचीन स्वरूप का सीधा प्रबल समर्थन करता हो।

जैनागम और बौद्धागम का संबन्ध

यद्यपि प्राचीन बौद्धपिटक और प्राचीन वैदिक-पौराणिक साहित्य ये दोनों प्रस्तुत परीक्षा में सहायकारी हैं, तो भी आगम कथित निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साथ जितना और जैसा सीधा संबन्ध बौद्ध पिटकों का है उतना और वैसा संबंध वैदिक या पौराणिक साहित्य का नहीं है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

एक तो—जैन संप्रदाय और बौद्ध सम्प्रदाय—दोनों ही श्रमण संप्रदाय हैं। अतएव इनका संबंध भ्रातृभाव जैसा है।

दूसरा—बौद्ध संप्रदाय के स्थापक गौतम बुद्ध तथा निर्ग्रन्थ संप्रदाय के अन्तिम-पुरस्कर्ता ज्ञातपुत्र महावीर दोनों समकालीन थे। वे केवल समकालीन ही नहीं बल्कि समान या एक ही क्षेत्र में जीवन-यापन करनेवाले रहे। दोनों की प्रवृत्ति का धाम एक प्रदेश ही नहीं बल्कि एक ही शहर, एक ही मुहल्ला, और एक ही कुटुम्ब भी रहा। दोनों के अनुयायी भी आपस में मिलते और अपने-अपने पूज्य पुरुष के उपदेशों तथा आचारों पर मित्रभाव से या प्रतिस्पर्द्धिभाव से चर्चा भी करते थे। इतना ही नहीं बल्कि अनेक अनुयायी ऐसे भी हुए जो दोनों महापुरुषों को समान भाव से मानते थे। कुछ ऐसे भी अनुयायी थे जो पहले किसी एक के अनुयायी रहे पर बाद में दूसरे के अनुयायी हुए, मानों महावीर और बुद्ध के अनुयायी ऐसे पड़ौसी या ऐसे कुटुम्बी थे जिनका सामाजिक संबन्ध बहुत निकट का था। कहना तो ऐसा चाहिए कि मानों एक ही कुटुम्ब के अनेक सदस्य भिन्न-भिन्न मान्यताएँ रखते थे जैसे आज भी देखे जाते हैं।[६]

तीसरा – निर्ग्रन्थ संप्रदाय की अनेक बातों का बुद्ध ने तथा उनके समकालीन शिष्यों ने आँखों देखा-सा वर्णन किया है, भले ही वह खण्डनदृष्टि से किया हो या प्रासंगिक रूप से।[७]

बौद्ध-पिटकों के जिस-जिस भाग में निर्ग्रन्थ संप्रदाय से संबन्ध रखनेवाली बातों का निर्देश है वह सब भाग खुद बुद्ध का साक्षात् शब्द है ऐसा माना नहीं जा सकता, फिर भी ऐसे भागों में अमुक अंश ऐसा अवश्य है जो बुद्ध के या उनके समकालीन शिष्यों के या तो शब्द हैं या उनके निजी भावों के संग्रहमात्र हैं। आगे बौद्ध भिक्षुओं ने जो निर्ग्रन्थ संप्रदाय के भिन्न-भिन्न आचारों या मंतव्यों पर टीका या समालोचना जारी रखी है वह दर असल कोई नई वस्तु न होकर तथागत बुद्ध की निर्ग्रन्थ आचार-विचार के प्रति जो दृष्टि थी उसका नाना रूप में विस्तार मात्र है। खुद बुद्ध द्वारा की हुई निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय की समालोचना समकालीन और उत्तर-कालीन भिक्षुओं के सामने न होती तो वे निर्ग्रन्थ संप्रदाय के भिन्न-भिन्न पहलुओं के ऊपर पुनरुक्ति का और पिष्टपेषण का भय बिना रखे इतना अधिक विस्तार चालू न रखते। उपलब्ध बौद्ध पिटक का बहुत बड़ा हिस्सा अशोक के समय तक में सुनिश्चित और स्थिर हो गया माना जाता है। बुद्ध के जीवन से लेकर अशोक के समय तक के करीब ढ़ाई सौ वर्ष में बौद्ध पिटकों का उपलब्ध स्वरूप और परिमाण रचित, ग्रथित और संकलित हुआ है। इन ढ़ाई सौ वर्षों के दरम्यान नए-नए

६ उपासकदशांग अ० ८। इत्यादि

७ मज्झिमनिकाय—सुत्त १४, ५६। दीघनिकाय सुत्त २६, ३३।

स्तर आते गए हैं। पर उनमें बुद्ध के समकालीन पुराने स्तर—चाहे भाषा और रचना के परिवर्तन के साथ ही सही—भी अवश्य हैं। आगे के स्तर बहुधा पुराने स्तरों के ढाँचे और पुराने स्तरों के विषयों पर ही बनते और बढ़ते गए हैं। इसलिए बौद्ध पिटकों में पाया जानेवाला निर्ग्रन्थ संप्रदाय के आचार-विचार का निर्देश ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत मूल्यवान् है। फिर हम जब बौद्ध फिरकागत निर्ग्रन्थ संप्रदाय के निर्देशों को खुद निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप से उपलब्ध आगमिक साहित्य के निर्देशों के साथ शब्द और भाव की दृष्टि से मिलाते हैं तो इसमें संदेह नहीं रह जाता कि दोनों निर्देश प्रमाणभूत हैं; भले ही दोनों बाजुओं में वादि-प्रतिवादि भाव रहा हो। जैसे बौद्ध पिटकों की रचना और संकलना की स्थिति है करीब-करीब वैसी ही स्थिति प्राचीन निर्ग्रन्थ आगमों की है।

बुद्ध और महावीर

बुद्ध और महावीर समकालीन थे। दोनों श्रमण संप्रदाय के समर्थक थे, फिर भी दोनों का अंतर बिना जाने हम किसी नतीजे पर पहुँच नहीं सकते। पहला अंतर तो यह है कि बुद्धने महाभिनिष्क्रमण से लेकर अपना नया मार्ग—धर्मचक्र-प्रवर्तन किया, तब तक के छः वर्षों में उस समय प्रचलित भिन्न-भिन्न तपस्वी और योगी संप्रदायों को एक-एक करके स्वीकार-परित्याग किया। और अन्त में अपने अनुभव के बल पर नया ही मार्ग प्रस्थापित किया। जब कि महावीर को कुल परंपरा से जो धर्ममार्ग प्राप्त था उसको स्वीकार करके वे आगे बढ़े और उस कुल-धर्म में अपनी सूझ और शक्ति के अनुसार सुधार या शुद्धि की। एक का मार्ग पुराने पंथों के त्याग के बाद नया धर्म-स्थापन था तो दूसरे का मार्ग कुलधर्म का संशोधन मात्र था। इसीलिए हम देखते हैं कि बुद्ध जगह-जगह पूर्व स्वीकृत और अस्वीकृत अनेक पंथों की समालोचना करते हैं और कहते हैं कि अमुक पंथ का अमुक नायक अमुक मानता है, दूसरा अमुक मानता है पर मैं इसमें सम्मत नहीं, मैं तो ऐसा मानता हूँ इत्यादि[८] बुद्ध ने पिटक भर में ऐसा कहीं नहीं कहा कि मैं जो कहता हूँ वह मात्र पुराना है, मैं तो उसका प्रचारक मात्र हूँ। बुद्ध के सारे कथन के पीछे एक ही भाव है और वह यह है कि मेरा मार्ग खुद अपनी खोज का फल है। जब कि महावीर ऐसा नहीं कहते। क्योंकि एक बार पार्श्वापत्यिकों ने महावीर से कुछ प्रश्न किए तो उन्होंने पार्श्वापत्यिकों को पार्श्वनाथ के ही वचन की साक्षी देकर अपने पक्ष में किया है।[९] यही सबब है कि बुद्ध ने अपने मत के साथ दूसरे

---

८ मज्झिम० ५६। अंगुत्तर Vol. I. P. 206 Vol. III P. 383

९. भगवती ५. ९. २२५

किसी समकालीन या पूर्वकालीन मत का समन्वय नहीं किया है। उन्होंने केवल अपने मत की विशेषताओं को दिखाया है। जबकि महावीर ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने पार्श्वनाथ के तत्कालीन संप्रदाय के अनुयायियों के साथ अपने सुधार का या परिवर्तनों का समन्वय किया है[१०]। इसलिए महावीर का मार्ग पार्श्वनाथ के संप्रदाय के साथ उनकी समन्वयवृत्ति का सूचक है।

निग्रन्थ-परंपरा का बुद्ध पर प्रभाव

बुद्ध और महावीर के बीच लक्ष्य देने योग्य दूसरा अंतर जीवनकाल का है। बुद्ध ८० वर्ष के होकर निर्वाण को प्राप्त हुए जब कि महावीर ७२ वर्ष के होकर। अब तो यह साबित-सा हो गया है कि बुद्ध का निर्वाण पहले और महावीर का पीछे हुआ है।[११] इस तरह महावीर की अपेक्षा बुद्ध कुछ वृद्ध अवश्य थे। इतना ही नहीं पर महावीर ने स्वतंत्र रूप से धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया इसके पहले ही बुद्ध ने अपना मार्ग स्थापित करना शुरू कर दिया था। बुद्ध को अपने मार्ग में नए-नए अनुयायियों को जुटा कर ही बल बढ़ाना था, जब कि महावीर को नए अनुयायियों को बनाने के सिवाय पार्श्व के पुराने अनुयायियों को भी अपने प्रभाव में और आसपास जमाए रखना था। तत्कालीन अन्य सब पन्थों के मंतव्यों की पूरी चिकित्सा या खंडन विना किए बुद्ध अपनी संघ-रचना में सफल नहीं हो सकते थे। जब कि महावीर का प्रश्न कुछ निराला था। क्योंकि अपने चारित्र व तेजोबल से पार्श्वनाथ के तत्कालीन अनुयायियों का मन जीत लेने मात्र से वे महावीरके अनुयायी बन ही जाते थे, इसलिए नए-नए अनुयायियों की भरती का सवाल उनके सामने इतना तीव्र न था जितना बुद्ध के सामने था। इसलिए हम देखते हैं कि बुद्ध का सारा उपदेश दूसरों की आलोचनापूर्वक ही देखा जाता है।

बुद्ध ने अपना मार्ग शुरू करने के पहले जिन पन्थों को एक-एक करके छोड़ा उनमें एक निर्ग्रन्थ पंथ भी आता है। बुद्ध ने अपनी पूर्व-जीवनी का जो हाल कहा है[१२] उसको पढ़ने और उसका जैन आगमों में वर्णित आचारों के साथ मिलान करने से यह निःसंदेह रूप से जान पड़ता है कि बुद्ध ने अन्य पन्थों की तरह निर्ग्रन्थ पन्थ में भी ठीक-ठीक जीवन बिताया था, भले ही वह स्वल्पकालीन ही रहा हो। बुद्ध के साधनाकालीन प्रारम्भिक वर्षों में महावीर ने तो अपना मार्ग शुरू किया ही न था और उस समय पूर्व प्रदेश में पार्श्वनाथ के सिवाय दूसरा कोई

---

१०. उत्तराध्ययन अ० २३

११. वीरसंवत् और जैन कालगणना। 'भारतीय विद्या' तृतीय भाग पृ० १७७।

१२. मज्झिम० सु० २६। प्रो० कोशांबीकृत बुद्धचरित (गुजराती)

निर्ग्रन्थ पन्थ न था। अतएव सिद्ध है कि बुद्ध ने थोड़े ही समय के लिए क्यों न हो पर पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ-संप्रदाय का जीवन व्यतीत किया था। यही सबब है कि बुद्ध जब निर्ग्रन्थ संप्रदाय के आचार-विचारों की समालोचना करते हैं तब निर्ग्रन्थ संप्रदाय में प्रतिष्ठित ऐसे तप के ऊपर तीव्र प्रहार करते हैं। और यही सबब है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के आचार और विचार का ठीक-ठीक उसी सम्प्रदाय की परिभाषा में वर्णन करके वे उसका प्रतिवाद करते हैं। महावीर और बुद्ध दोनों का उपदेश काल अमुक समय तक अवश्य ही एक पड़ता है। इतना ही नहीं पर वे दोनों अनेक स्थानों में बिना मिले भी साथ-साथ विचरते हैं, इसलिए हम यह भी देखते हैं कि पिटकों में 'नातपुत्त निग्गंठ' रूप से महावीर का निर्देश आता है।[१३]

प्राचीन आचार-विचार के कुछ मुद्दे

ऊपर की विचार भूमिका को ध्यान में रखने से ही आगे की चर्चा का वास्तविकत्व सरलता से समझ में आ सकता है। बौद्ध पिटकों में आई हुई चर्चाओं के ऊपर से निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के बाहरी और भीतरी स्वरूप के बारे में नीचे लिखे मुद्दे मुख्यतया फलित होते हैं—

१—सामिष-निरामिष-आहार–[खाद्याखाद्य-विवेक]
२—अचेलत्व–सचेलत्व
३—तप
४—आचार-विचार
५—चतुर्याम
६—उपोसथ–पौषध
७—भाषा-विचार
८—त्रिदण्ड
९—लेश्या-विचार
१०—सर्वज्ञत्व

इन्हीं पर यहाँ हम ऐतिहासिक दृष्टि से ऊहापोह करना चाहते हैं।

---

१३. दीघ० सु० २।

(१)

सामिष-निरामिष-आहार

[खाद्याखाद्यविवेक]

सब से पहले हम बौद्ध, वैदिक और जैन ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर निर्ग्रन्थ परम्परा के खाद्याखाद्य-विवेक के विषय में कुछ विचार करना चाहते हैं। खाद्याखाद्य से हमारा मुख्य मतलब यहाँ माँस-मत्स्यादि वस्तुओं से है।

जैन-समाज में क्षोभ व आन्दोलन

थोड़े ही दिन हुए जब कि जैन-समाज में इस विषय पर उग्र ऊहापोह शुरू हुआ था। अध्यापक कौसांबीजी ने बुद्ध चरित में लिखा है कि प्राचीन जैन श्रमण भी माँस-मत्स्यादि ग्रहण करते थे। उनके इस लेख ने सारे जैन समाज में एक व्यापक क्षोभ और आन्दोलन पैदा किया था जो अभी शायद ही पूरा शान्त हुआ हो। करीबन् ५० वर्ष हुए इसी विषय को लेकर एक महान क्षोभ व आन्दोलन शुरू हुआ था जब कि जर्मन विद्वान याकोबी ने आचाराङ्ग के अंग्रेजी अनुवाद में अमुक सूत्रों का अर्थ माँस-मत्स्यादि परक किया था। हमें यह नहीं समझना चाहिए कि अमुक सूत्रों का ऐसा अर्थ करने से जैन समाज में जो क्षोभ व आन्दोलन हुआ वह इस नए युग की पाश्चात्य-शिक्षा का ही परिणाम है।

जब हम १२००–१३०० वर्ष के पहले खुद जैनाचार्यों के द्वारा लिखी हुई प्राकृत-संस्कृत टीकाओं को देखते हैं तब भी पाते हैं कि उन्होंने अमुक सूत्रों का अर्थ माँस-मत्स्यादि भी लिखा है। उस जमाने में भी कुछ क्षोभ व आन्दोलन हुआ होगा इसकी प्रतीति भी हमें अन्य साधनों से हो जाती है।

प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र के ऊपर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका लिखी है उसमें उन्होंने आगमों को लक्ष्य करके जो बात कही है वह सूचित करती है कि उस छठी सदी में भी अमुक सूत्रों का माँस-मत्स्यादि परक अर्थ करने के कारण जैन-समाज का एक बड़ा भाग क्षुब्ध हो उठा था।

पूज्यपाद ने कर्मबन्ध के कारणों के विवेचन में लिखा है कि माँसादि का प्रतिपादन करना यह श्रुतावर्णवाद है[१४]। निःसन्देह पूज्यपादकृत श्रुतावर्णवाद का आक्षेप उपलब्ध आचारांगादि आगमों को लक्ष्य करके ही है; क्योंकि माँसादि के ग्रहण का प्रतिपादन करने वाले जैनेतर श्रुत को तो भगवान् महावीर के पहले से ही निर्ग्रन्थ-परम्परा ने छोड़ ही दिया था। इतने अवलोकन से हम इतना निर्विवाद कह सकते हैं कि आचाराङ्गादि आगमों के कुछ सूत्रों का माँस-मत्स्यादि परक अर्थ है—यह मान्यता कोई नई नहीं है और ऐसी मान्यता प्रगट करने पर जैन-समाज में क्षोभ पैदा होने की बात भी कोई नई नहीं है। यहाँ प्रसंगवश एक बात पर ध्यान देना भी योग्य है। वह यह कि तत्त्वार्थसूत्र के जिस अंश का व्याख्यान करते समय पूज्यपाद देवनन्दी ने श्वेताम्बरीय आगमों को लक्ष्य करके श्रुतावर्णवाद-दोष बतलाया है उसी अंश का व्याख्यान करते समय सूत्रकार उमास्वातिने अपने स्वोपज्ञ भाष्य में पूज्यपाद की तरह श्रुतावर्णवाद-दोष का निरूपण नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि जिन आगमों के अर्थ को लक्ष्य करके पूज्यपाद ने श्रुतावर्णवाद दोष का लाञ्छन लगाया है उन आगमों के उस अर्थ के बारे में उमास्वाति का कोई आक्षेप न था। यदि वे उस माँसादि परक अर्थ से पूज्यपाद की तरह सर्वथा असहमत या विरुद्ध होते तो वे भी श्रुतावर्णवाद का अर्थ पूज्यपाद जैसा करते और आगमों के विरुद्ध कुछ-न-कुछ जरूर कहते।

माँस-मत्स्यादि की अखाद्यता और पक्षभेद

आज का सारा जैन-समाज, जिसमें श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी सभी छोटे-बड़े फिरके आ जाते हैं, जैसा नख से शिखा तक माँस-मत्स्य आदि से परहेज करने वाला है और हो सके वहाँ तक माँस-मत्स्य आदि वस्तुओं को अखाद्य सिद्ध करके दूसरों से ऐसी चीजों का त्याग कराने में धर्म पालन मानता है और तदर्थ समाज के त्यागी-गृहस्थ सभी यथासम्भव प्रयत्न करते हैं वैसा ही उस समय का जैन-समाज भी था और माँस-मत्स्य आदि के त्याग का प्रचार करने में दत्तचित्त था जब कि चूर्णिकार, आचार्य हरिभद्र और आचार्य अभयदेव ने आगमगत अमुक वाक्यों का माँस-मत्स्यादि परक अर्थ भी अपनी-अपनी आगमिक व्याख्याओं में लिखा। इसी तरह पूज्यपाद देवनन्दी और उमास्वाति के समय का जैन-समाज भी ऐसा ही था, उसमें भले ही श्वेताम्बर-दिगम्बर जैसे फिरके मौजूद हों पर माँस-मत्स्य आदि को अखाद्य मान कर चालू जीवन-व्यवहार में से

---

१४. सर्वार्थसिद्धि ६. १३.

उसका सर्वथा त्याग करने के विषय में तो सभी फिरके वाले एक ही भूमिका पर थे। कहना तो यह चाहिए कि श्वेताम्बर-दिगम्बर जैसा फिरकाभेद उत्पन्न होने के पहले ही से माँस-मत्स्यादि वस्तुओं को अखाद्य मानकर उनका त्याग करने की पक्की भूमिका जैन-समाज की सिद्ध हो चुकी थी। जब ऐसा था तब सहज ही में प्रश्न होता है कि आगमगत अमुक सूत्रों का माँस-मत्स्यादि अर्थ करने वाला एक पक्ष और उस अर्थ का विरोध करने वाला दूसरा पक्ष ऐसे परस्पर विरोधी दो पक्ष जैन-समाज में क्यों पैदा हुए? क्योंकि दोनों के वर्तमान जीवन-धोरण में तो कोई खाद्याखाद्य के बारे में अंतर था ही नहीं। यह प्रश्न हमें इतिहास के सदा परिवर्त्तनशील चक्र की गति तथा मानव-स्वभाव के विविध पहलुओं को देखने का संकेत करता है।

इतिहास का अंगुलिनिर्देश

इतिहास पद-पद पर अंगुलि उठा कर हमें कहता रहता है कि तुम भले ही अपने को पूर्वजों के साथ सर्वथा एक रूप बने रहने का दावा करो, या ढोंग करो पर मैं तुमको या किसी को एक रूप न रहने देता हूँ और न किसी को एक रूप देखता भी हूँ। इतिहास की आदि से मानव-जाति का कोई भी दल एक ही प्रकार के देशकाल, संयोगों या वातावरण में न रहा, न रहता है। एक दल एक ही स्थान में रहता हुआ भी कभी कालकृत और अन्य संयोगकृत विविध परिस्थितियों में से गुजरता है, तो कभी एक ही समय में मौजूद ऐसे जुदे-जुदे मानवदल देशकृत तथा अन्य संयोग-कृत विविध परिस्थितियों में से गुजरते देखे जाते हैं। यह स्थिति जैसी आज है वैसी ही पहले भी थी। इस तरह परिवर्त्तन के अनेक ऐतिहासिक सोपानों में से गुजरता हुआ जैन समाज भी आज तक चला आ रहा है। उसके अनेक आचार-विचार जो आज देखे जाते हैं वे सदा वैसे ही थे ऐसा मानने का कोई आधार जैन वाङ्मय में नहीं है। मामूली फर्क होते रहने पर भी जब तक आचार-विचार की समता बहुतायत से रहती है तब तक सामान्य व्यक्ति यही समझता है कि हम और हमारे पूर्वज एक ही आचार-विचार के पालक-पोषक हैं। पर यह फर्क जब एक या दूसरे कारण से बहुत बड़ा हो जाता है तब वह सामान्य मनुष्य के थोड़ा सा ध्यान में आता है, और वह सोचने लग जाता है कि हमारे अमुक आचार-विचार खुद हमारे पूर्वजों से ही भिन्न हो गए हैं। आचार-विचार का सामान्य अंतर साधारण व्यक्ति के ध्यान पर नहीं आता, पर विशेषज्ञ के ध्यानसे वह ओझल नहीं होता। जैन समाज के आचार-विचार के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो ऊपर कही हुई सभी बातें जानने को मिलती हैं।

मानव-स्वभाव के दो विरोधी पहलू

मनुष्य स्वभाव का एक पहलू तो यह है कि वर्तमान समय में जिस आचार-विचार की प्रतिष्ठा बँधी हो और जिसका वह आत्यंतिक समर्थन करता हो उसके ही खिलाफ उसी के पूर्वजों के आचार-विचार यदि वह सुनता है या अपने इतिहास में से वैसी बात पाता है तो पुराने आचार-विचार के सूचक ऐतिहासिक दस्तावेज जैसे शास्त्रीय वाक्यों को भी तोड़-मरोड़ कर उनका अर्थ वर्तमान काल में प्रतिष्ठित ऐसे आचार-विचार की भूमिका पर करने का प्रयत्न करता है। वह चारों ओर उच्च और प्रतिष्ठित समझे जानेवाले अपने मौजूदा आचार-विचार से बिलकुल विरुद्ध ऐसे पूर्वजों के आचार-विचार को सुनकर या जानकर उन्हें ज्यों-का-त्यों मानकर उनके और अपने बीच में आचार-विचार की खाई का अंतर समझने में तथा उनका वास्तविक समन्वय करने में असमर्थ होता है। यही कारण है कि वह पुराने आचार-विचार सूचक वाक्यों को अपने ही आचार-विचार के ढाँचे में ढालने का प्रयत्न पूरे बल से करता है। यह हुआ मानव स्वभाव के पहलू का एक अन्त।

अब हम उसका दूसरा अन्त भी देखें। दूसरा अन्त ऐसा है कि वह वर्तमान आचार-विचार की भूमिका पर कायम रहते हुए भी उससे जुदी पड़नेवाली और कभी-कभी बिलकुल विरुद्ध जानेवाली पूर्वजों की आचार-विचार विषयक भूमिका को मान लेने में नहीं हिचकिचाता। इतिहास में पूर्वजों के भिन्न और विरुद्ध ऐसे आचार-विचारों की यदि नोंध रही तो उस नोंध को वह वफादारी से चिपके रहता है। ऐसा करने में वह अपने विरोधी पक्ष के द्वारा की जानेवाली निन्दा या आक्षेप की लेश भी परवाह नहीं करता। वह शास्त्र-वाक्यों के पुराने, प्रचलित और कभी सम्भावित ऐसे अर्थों का, प्रतिष्ठा जाने के डर से त्याग नहीं करता। वह भले ही कभी-कभी वर्तमान लोकमत के वश होकर उन वाक्यों का नया भी अर्थ करे तब भी वह अन्ततः विकल्प रूप से पुराने प्रचलित और कभी सम्भावित अर्थ को भी व्याख्याओं में सुरक्षित रखता है। यह हुआ मानव-स्वभाव के पहलू का दूसरा अन्त।

ऐतिहासिक तुलना

उपर्युक्त दोनों अन्त बिलकुल आमने-सामने व परस्पर विरोधी हैं। इन दोनों अन्तों में से केवल जैन समाज ही नहीं बल्कि बौद्ध और वैदिक समाज भी गुजरे हुए देखे जाते हैं। जब भारत में अहिंसामूलक खान-पान की व्यापक और प्रबल प्रतिष्ठा जमी तब मांस-मत्स्य जैसी वस्तुओं का आत्यन्तिक विरोध न करनेवाले बौद्ध

सम्प्रदाय में भी एक पक्ष ऐसा पैदा हुआ कि जिसने बौद्ध सम्प्रदाय में मांस-मत्स्यादि के त्याग का यहाँ तक समर्थन किया कि ऐसा मांस त्याग तो खुद बुद्ध के समय में और बुद्ध के जीवन में भी था।[१५] इस पक्ष ने अपने समय में जमी हुई खाद्याखाद्य विवेक की प्रतिष्ठा के आधार पर ही पुराने बौद्ध सूत्रों के अर्थ करने का प्रयास किया है जब कि बौद्ध सम्प्रदाय में पहले ही से एक सनातन-मानस दूसरा पक्ष भी चला आता रहा है जो खाद्याखाद्य विषयक पुराने सूत्रों को तोड़-मरोड़ कर उनके अर्थों को वर्तमान ढाँचे में बैठाने का आग्रह नहीं रखता। यही स्थिति वैदिक सम्प्रदाय के इतिहास में भी रही है। वैष्णव, आर्य समाज आदि अनेक शाखाओं ने पुराने वैदिक विधानों के अर्थ बदलने की कोशिश की है तब भी सनातन-मानस मीमांसक सम्प्रदाय ज्यों का त्यों स्थिर रहकर अपने पुराने अर्थों से टस से मस नहीं होता हालाँकि जीवन-व्यवहार में मीमांसक भी मांसादि को वैसा ही अखाद्य समझते हैं जैसे वैष्णव और आर्य समाज आदि वैदिक फिरके। इस विषय में बौद्ध और वैदिक सम्प्रदाय का ऐतिहासिक अवलोकन हम अन्त में करेंगे जिससे जैन सम्प्रदाय की स्थिति बराबर समझी जा सके।

विरोध-ताण्डव

ऊपर सूचित दो पहलुओं के अन्तों का परस्पर विरोध-तांडव जैन-समाज की रंगभूमि पर भी हजारों वर्षों से खेला जाता रहा है। पूज्यपाद जैसे दिगंबराचार्य अमुक सूत्रों का मांस मत्स्यादि अर्थ करने के कारण ऐसे सूत्रवाले सारे ग्रन्थों को छोड़ देने की या तो सूचना करते हैं या ऐसा अर्थ करनेवालों को श्रुतनिन्दक कह कर अपने पक्ष को उनसे ऊँचा साबित करने की सूचना करते हैं। दिगंबर संप्रदाय द्वारा श्वेताम्बर स्वीकृत आगमों को छोड़ देने का असली कारण तो और ही था और वह असली कारण आगमों में मर्यादित वस्त्र के विधान करनेवाले वाक्यों का भी होना है। पर जब आगमों को छोड़ना ही हो तब सम्भव हो इतने दूसरे दोष लोगों के समक्ष रखे जाएँ तो पुराने प्रचलित आगमों को छोड़ देने की बात ज्यादा न्यायसंगत साबित की जा सकती है। इसी मनोदशा के वशीभूत होकर जानते या अनजानते ऐतिहासिक स्थिति का विचार बिना किए, एक सम्प्रदाय ने सारे आगमों को एक साथ छोड़ तो दिया पर उसने आखिर को यह भी नहीं सोचा कि जो संप्रदाय आगमों को मान्य रखने का आग्रह रखता है वह भी तो उसके समान माँस-मत्स्य आदि की अखाद्यता को जीवन-व्यवहार में

१५ देखिये—लंकावतार-मांस परिवर्त परिच्छेद

एक-सा स्थान देता है। इतना ही नहीं बल्कि वह श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय भी दिगंबर संप्रदाय के जितना ही मांस-मत्स्यादि की अखाद्यता का प्रचार व समर्थन करता है; और अहिंसा सिद्धान्त की प्ररूपणा व प्रचार में वह दिगम्बर परम्परा से आगे नहीं तो समकक्ष तो अवश्य है। ऐसा होते हुए भी श्वेताम्बर परम्परा के व्याख्याकार आगमों के अमुक सूत्रों का माँस मत्स्यादि परक अर्थ करते हैं सो क्या केवल अन्य परम्परा को चिढ़ाने के लिए? या अपने पूर्वजों के ऊपर अखाद्य खाने का आक्षेप जैनेतर संप्रदायों के द्वारा तथा समानतंत्री संप्रदाय के द्वारा कराने के लिए?

प्राचीन अर्थ की रक्षा—

पूज्यपाद के करीब आठ सौ वर्ष के बाद एक नया फिरका जैन संप्रदाय में पैदा हुआ, जो आज स्थानकवासी नाम से प्रसिद्ध है। उस फिरके के व्याख्याकारों ने आगमगत मांस-मत्स्यादिसूचक सूत्रों का अर्थ अपनी वर्तमान जीवन प्रणाली के अनुसार वनस्पतिपरक करने का आग्रह किया और श्वेताम्बरीय आगमों को मानते हुए भी उनकी पुरानी श्वेताम्बरीय व्याख्याओं को मानने का आग्रह न रखा। इस तरह स्थानकवासी सम्प्रदाय ने यह सूचित किया कि आगमों में जहाँ कहीं मांस-मत्स्यादि सूचक सूत्र हैं वहाँ सर्वत्र वनस्पति परक ही अर्थ विवक्षित है और मांस-मत्स्यादिरूप अर्थ जो पुराने टीकाकारों ने किया है वह अहिंसा सिद्धान्त के साथ असंगत होने के कारण गलत है। स्थानकवासी फिरके और दिगम्बर फिरके के दृष्टिकोण में इतनी तो समानता है ही कि मांस-मत्स्यादिपरक अर्थ करना यह मात्र काल्पनिक है और अहिंसक सिद्धान्त के साथ बेमेल है, पर दोनों में एक बड़ा फर्क भी है। दिगम्बर संप्रदाय को अन्य कारणों से ही सही श्वेताम्बर आगमों का सपरिवार बहिष्कार करना था जब कि स्थानकवासी परंपरा को आगमों का आत्यन्तिक बहिष्कार इष्ट न था; उसको वे ही आगम सर्वथा प्रमाण इष्ट नहीं हैं जिनमें मूर्ति का संकेत स्पष्ट हो। इसलिए स्थानकवासी संप्रदाय के सामने आगमगत खाद्याखाद्य विषयक सूत्र के अर्थ बदलने का एक ही मार्ग खुला था जिसको उसने अपनाया भी। इस तरह हम सारे इतिहास काल में देखते हैं कि अहिंसा की व्याख्या और उसकी प्रतिष्ठा व प्रचार में तथा वर्तमान जीवन धोरण में दिगंबर एवं स्थानकवासी फिरके से किसी भी तरह नहीं ऊतरते हुए भी श्वेताम्बर संप्रदाय के व्याख्याकारों ने खाद्याखाद्य विषयक सूत्रों का मांस-मत्स्यपरक पुराना अर्थ अपनाए रखने में अपना गौरव ही समझा। भले ही ऐसा करने में उनको जैनेतर समाज की तरफ से तथा समानबन्धु फिरकों की तरफ से हजार-हजार आक्षेप सुनने व सहने पड़े।

अर्थभेद की मीमांसा

पहले हम दो प्रश्नों पर कुछ विचार कर लें तो अच्छा होगा। एक तो यह कि अखाद्यसूचक समझे जानेवाले सूत्रों के वनस्पति और मांस-मत्स्यादि ऐसे जो दो अर्थ पुराने समय से व्याख्याओं में देखे जाते हैं उनमें से कौन-सा अर्थ है जो पीछे से किया जाने लगा ? दूसरा प्रश्न यह है कि किसी भी पहले अर्थ के रहते हुए क्या ऐसी स्थिति पैदा हुई कि जिससे दूसरा अर्थ करने की आवश्यकता पड़ी या ऐसा अर्थ करने की ओर तत्कालीन व्याख्याकारों को ध्यान देना पड़ा ?

कोई भी बुद्धिमान यह तो सोच ही नहीं सकता कि सूत्रों की रचना के समय रचनाकार को वनस्पति और मांस आदि दोनों अर्थ अभिप्रेत होने चाहिए। निश्चित अर्थ के बोधक सूत्र परस्पर विरोधी ऐसे दो अर्थों का बोध कराएँ और जिज्ञासुओं को संशय या भ्रम में डालें यह संभव ही नहीं है तब यही मानना पड़ता है कि रचना के समय उन सूत्रों का कोई एक ही अर्थ सूत्रकार को अभिप्रेत था। कौन-सा अर्थ अभिप्रेत था इतना विचारना भर बाकी रहता है। अगर हम मान लें कि रचना के समय सूत्रों का वनस्पतिपरक अर्थ था तो हमें यह अगत्या मानना पड़ता है कि मांस-मत्स्यादिरूप अर्थ पीछे से किया जाने लगा। ऐसी स्थिति में निर्ग्रन्थ-संघ के विषय में यह भी सोचना पड़ेगा कि क्या कोई ऐसी अवस्था आई थी जब कि आपत्ति-वश निर्ग्रन्थ-संघ मांस-मत्स्यादि का भी ग्रहण करने लगा हो और उसका समर्थन उन्हीं सूत्रों से करता हो। इतिहास कहता है कि निर्ग्रन्थ-संघ में कोई भी ऐसा छोटा-बड़ा दल नहीं हुआ जिसने आपत्ति काल में किये गए मांस-मत्स्यादि के ग्रहण का समर्थन वनस्पतिबोधक सूत्रों का मांस-मत्स्यादि अर्थ करके किया हो। अलबत्ता निर्ग्रन्थ संघ के लम्बे इतिहास में आपत्ति और अपवाद के हजारों प्रसङ्ग आए हैं पर किसी निर्ग्रन्थ-दल ने आपवादिक स्थिति का समर्थन करने के लिए अपने मूल सिद्धान्त—अहिंसा से दूर जाकर सूत्रों का बिलकुल विरुद्ध अर्थ नहीं किया है। सभी निर्ग्रन्थ अपवाद का अपवादरूप से जुदा ही वर्णन करते रहे हैं। जिसकी साक्षी छेदसूत्रों में पद-पद पर है। निर्ग्रन्थ-संघ का बंधारण भी ऐसा रहा है कि कोई ऐसे विकृत अर्थ को सूत्रों की व्याख्या में पीछे स्थान दे तो वह निर्ग्रन्थ सङ्घ का अङ्ग रह ही नहीं सकता। तब यही मानना पड़ता है कि रचनाकाल में सूत्रों का असली अर्थ तो मांस-मत्स्य ही था और पीछे-से वनस्पति-अर्थ भी किया जाने लगा। ऐसा क्यों किया जाने लगा ? यही दूसरा प्रश्न अब हमारे सामने आता है।

संघ की निर्माण-प्रक्रिया

निर्ग्रन्थ-संघ के निर्माण की प्रक्रिया तो अनेक शताब्दी पहले से भारतवर्ष

में धीरे-धीरे पर सतत चालू थी। इस प्रक्रिया का मुख्य आधार अहिंसा, संयम और तप ही पहले से रहा है। अनेक छोटी-बड़ी जातियाँ और छिटपुट व्यक्तियाँ उसी आधार से आकृष्ट होकर निर्ग्रन्थ-संघ में सम्मिलित होती रही हैं। जब कोई नया दल या नई व्यक्ति संघमें प्रवेश करते हैं तब उसके लिए वह संक्रम-काल होता है। संघ में स्थिर हुए दल तथा व्यक्ति और संघ में नया प्रवेश करने वाले दल तथा व्यक्ति के बीच अमुक समय तक आहार-विहारादि में थोड़ा-बहुत अंतर रहना अनिवार्य है। माँस-मत्स्य आदि का व्यवहार करने वाली जातियाँ या व्यक्तियाँ यकायक निर्ग्रन्थ-संघ में शामिल होते ही अपना सारा पुराना संस्कार बदल दें यह सर्वत्र संभव नहीं। प्रचारक निर्ग्रन्थ तपस्वी भी संघ में भर्ती होने वाली नई जातियों तथा व्यक्तियों का संस्कार उनकी रुचि और शक्ति के अनुसार ही बदलना ठीक समझते थे जैसे आजकल के प्रचारक भी अपने-अपने उद्देश्य के लिए वैसा ही करते हैं। एक बार निर्ग्रन्थ संघ में दाखिल हुए और उसके सिद्धान्तानुसार जीवन-व्यवहार बना लेने वालों की जो संतति होती है उसको तो निर्ग्रन्थ संघानुकूल संस्कार जन्मसिद्ध होता है पर संघ में नए भर्ती होने वालों के निर्ग्रन्थ संघानुकूल संस्कार जन्मसिद्ध न होकर प्रयत्नसाध्य होते हैं। जन्मसिद्ध और प्रयत्नसाध्य संस्कारों के बीच अंतर यह होता है कि एक तो बिना प्रयत्न और बिना विशेष तालीम के ही जन्म से चला आता है जब कि दूसरा बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से धीरे-धीरे आता है। दूसरे संस्कार की अवस्था ही संक्रम-काल है। कोई यह न समझे कि निर्ग्रन्थ-संघ के सभी अनुयायी अनादि-कालसे जन्मसिद्ध संस्कार लेकर ही चलते आ रहे हैं।

निर्ग्रन्थ-संघ का इतिहास कहता है कि इस संघ ने अनेक जातियों और व्यक्तियों को निर्ग्रन्थ सङ्घ की दीक्षा दी। यही कारण है कि मध्य काल की तरह प्राचीन काल में हम एक ही कुटुम्ब में निर्ग्रन्थ संघ के अनुयायी और इतर बौद्ध आदि श्रमण तथा ब्राह्मण-संप्रदाय के अनुयायी पाते हैं। विशेष क्या हम इतिहास से यह भी जानते हैं कि पति निर्ग्रन्थ संघ का अंग है तो पत्नी इतर धर्म की अनुयायिनी है[१६]। जैसा आज का निर्ग्रन्थ-संघ मात्र जन्मसिद्ध देखा जाता है वैसा मध्यकाल और प्राचीन काल में न था। उस समय प्रचारक निर्ग्रन्थ अपने संघ की वृद्धि और विस्तार में लगे थे इससे उस समय यह संभव था कि एक ही कुटुम्ब में कोई निरामिषभोजी निर्ग्रन्थ उपासक हो तो सामिषभोजी अन्य

---

१६. उपासकदशांग अ० ८।

धर्मानुयायी भी हो। एक ही कुटुम्ब की ऐसी निरामिष-सामिष-भोजन की मिश्रित व्यवस्था में भी निर्ग्रन्थों को भिक्षा के लिए जाना पड़ता था।

आपवादिक स्थिति

इसके सिवाय कोई कोई साहसिक निर्ग्रन्थ प्रचारक नए-नए प्रदेश में अपना निरामिष-भोजन का तथा अहिंसा-प्रचार का ध्येय लेकर जाते थे जहाँ कि उनको पक्के अनुयायी मिलने के पहले मौजूदा खान-पान की व्यवस्था में से भिक्षा लेकर गुजर-बसर करना पड़ता था। कभी-कभी ऐसे भी रोगादि सङ्कट उपस्थिति होते थे जब कि सुवैद्यों की सलाह के अनुसार निर्ग्रन्थों को खान-पान में अपवाद मार्ग का भी अवलंबन करना पड़ता था। ये और इनके जैसी अनेक परिस्थितियाँ पुराने निर्ग्रन्थ-सङ्घ के इतिहास में वर्णित हैं। इन परिस्थितियों में निरामिष-भोजन और अहिंसा-प्रचार के ध्येय का आत्यन्तिक ध्यान रखते हुए भी कभी-कभी निर्ग्रन्थ अपनी एषणीय और कल्प्य आहार की मर्यादा को सख्त रूप से पालते हुए माँस-मत्स्यादि का ग्रहण करते हों तो कोई अचरज की बात नहीं। हम जब आचारांग और दशवैकालिकादि आगमों के सामिष-आहार-सूचक सूत्र[१७] देखते हैं और उन सूत्रों में वर्णित मर्यादाओं पर विचार करते हैं तब स्पष्ट प्रतीत होता है कि सामिष आहार का विधान बिलकुल आपवादिक और अपरिहार्य स्थिति का है।

'अहिंसा-संयम-तप' का मुद्रालेख

ऊपर सूचित आपवादिक स्थिति का ठीक-ठीक समय और देश विषयक निर्णय करना सरल नहीं है फिर भी हम इतना कह सकते हैं कि जब निर्ग्रन्थ संघ प्रधानतया बिहार में था और अंग-वंग-कलिंग आदि में नए प्रचार के लिए जाने लगा था तब की यह स्थिति होनी चाहिए। क्योंकि उन दिनों में आज से भी कहीं अधिक सामिष-भोजन उक्त प्रदेशों में प्रचलित था। कुछ भी हो पर एक बात तो निश्चित है कि निर्ग्रन्थ-संघ अपने अहिंसा-संयम-तप के मूल मुद्रालेख के आधार पर निरामिष भोजन और अन्य व्यसन-त्याग के प्रचार कार्य में उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता और सफल होता गया है। इस संघ ने अनेक सामिषभोजी राजों-महाराजों को तथा अनेक दूसरे क्षत्रियादि गणों को अपने संघ में मिलाकर धीरे-धीरे उनको निरामिष भोजन की ओर अग्रसर किया है। संघ निर्माण की यह प्रक्रिया पिछली शताब्दियों में बिलकुल बंद-सी हो गई है पर पहले यह स्थिति न थी।

---

१७. आचारांग २. १. २७४, २८१, दशवैकालिक अ० ५. ७३, ७४

अहिंसा, संयम और तप के उग्र प्रचार का सामान्य जनता पर ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ इतिहास में देखा जाता है कि जिससे बाधित होकर निरामिष-भोजन का अत्यन्त आग्रह नहीं रखने वाले बौद्ध तथा वैदिक सम्प्रदाय को निर्ग्रन्थ संघ का कई अंश में अनुकरण करना पड़ा है।[१८]

विरोधी प्रश्न और समाधान

निःसंदेह भारत में अहिंसा की प्रतिष्ठा जमाने में अनेक पंथों का हाथ रहा है पर उसमें जितना हाथ निर्ग्रन्थ संघ का रहा है उतना शायद ही किसी का रहा हो। अहिंसा-संयम-तपका आत्यन्तिक आग्रह रखकर प्रचार करने वाले निर्ग्रन्थों के लिए जब जन्म सिद्ध अनुयायी-दल ठीक-ठीक प्रमाण में करीब-करीब चारों ओर मिल गया तब निर्ग्रन्थ-संघ की स्थिति बिलकुल बदल गई। अहिंसा की व्यापक प्रतिष्ठा इतनी हुई थी कि निर्ग्रन्थों के सामने बाहर और भीतर से विविध आक्रमण होने लगे। विरोधी पंथ के अनुयायी तो निर्ग्रन्थों को यह कहकर कोसते थे कि अगर तुम त्यागी अहिंसा का आत्यन्तिक आग्रह रखते हो तो तुम जीवन ही धारण नहीं कर सकते हो क्योंकि आखिर को जीवन धारण करने में कुछ भी तो हिंसा संभव है ही। इसी तरह वे यह भी उलाहना देते थे कि तुम निरामिष-भोजन का इतना आग्रह रखते हो पर तुम्हारे पूर्वज निर्ग्रन्थ तो सामिष-आहार भी ग्रहण करते थे। इसी तरह जन्मसिद्ध निरामिष-भोजन के संस्कार वाले स्थिर निर्ग्रन्थ

---

१८. हम विनयपिटक में देखते हैं कि बौद्ध भिक्षुओं के लिए अनेक प्रकार के मांसों के खाने का स्पष्ट निषेध है और अपने निमित्त से बने माँस लेने का भी विशेष निषेध है। इतना ही नहीं बल्कि बौद्ध भिक्षुओं को जमीन खोदने-खुदवाने तथा वनस्पति को काटने-कटवाने का भी निषेध किया है। घास आदि जन्तुओं की हिंसा से बचने के लिए वर्षावास का भी विधान है। पाठक आचारांग में वर्णित निर्ग्रन्थों के आचार के साथ तुलना करेंगे तो कम से कम इतना तो जान सकेंगे कि अमुक अंशों में निर्ग्रन्थ आचारों का ही बौद्ध आचार पर प्रभाव पड़ा है क्योंकि निर्ग्रन्थ परम्परा के आचार पहले से स्थिर थे और बहुत सख्त भी थे जब कि बौद्ध भिक्षुओं के लिए ऐसे आचारों का विधान लोकनिंदा के भय से पीछे से किया हुआ है।—विनयपिटक पृ० २३, २४, १७०, २३१, २४५ (हिन्दी आवृत्ति)

जहाँ-जहाँ निर्ग्रन्थ परंपरा का प्राधान्य रहा है वहाँ के वैष्णव ही नहीं, शैव शाक्तादि फिरके-जो माँस से परहेज नहीं करते—वे भी माँस-मत्स्यादि खाने से परहेज करते हैं।

संघ के भीतर से भी आचार्यों के सामने प्रश्न आए। प्रश्नकर्त्ता स्वयं तो जन्म से निरामिष-भोजी और अहिंसा के आत्यन्तिक समर्थक थे पर वे पुराने शास्त्रों में से सामिष-भोजन का प्रसंग भी सुनते थे इसलिए उनके मनमें दुविधा पैदा होती थी कि जब हमारे आचार्य अहिंसा, संयम और तप का इतना उच्च आदर्श हमारे सामने रखते हैं तब इसके साथ पुराने निग्रन्थों के द्वारा सामिष-भोजन लिए जाने के शास्त्रीय वर्णन का मेल कैसे बैठ सकता है ? जब किसी तत्त्व का आत्यन्तिक आग्रहपूर्वक प्रचार किया जाता है तब विरोधी पक्षों की ओर से तथा अपने दल के भीतर से भी अनेक विरोधी प्रश्न उपस्थित होते ही हैं। पुराने निर्ग्रन्थ-आचार्यों के सामने भी यही स्थिति आई।

उस स्थिति का समाधान बिना किए अब चारा नहीं था अतएव कुछ आचार्यों ने तो आमिषसूचक सूत्रों का अर्थ ही अपनी वर्त्तमान जीवन स्थिति के अनुकूल वनस्पति किया। पर कुछ निर्ग्रन्थ आचार्य ऐसे भी दृढ़ निकले कि उन्होंने ऐसे सूत्रों का अर्थ न बदल करके केवल वही बात कह दी जो इतिहास में कभी घटित हुई थी अर्थात् उन्होंने कह दिया कि ऐसे सूत्रों का अर्थ तो माँस-मत्स्यादि ही है पर उसका ग्रहण निग्रन्थों के लिए औत्सर्गिक नहीं मात्र आपवादिक स्थिति है।

नया अर्थ करने वाला एक सम्प्रदाय और पुराना अर्थ मानने वाला दूसरा सम्प्रदाय—ये दोनों परस्पर समाधान पूर्वक निर्ग्रन्थ-संघ में अमुक समय तक चलते रहे क्योंकि दोनों का उद्देश्य अपने-अपने ढंग से निर्ग्रन्थों के स्थापित निरामिष भोजन का बचाव और पोषण ही करना था। जब आगमों के साथ व्याख्याएँ भी लिखी जाने लगीं तब उन विवादास्पद सूत्रों के दोनों अर्थ भी लिख लिये गए जिससे दोनों अर्थ करने वालों में वैमनस्य न हो।

पर दुर्दैव से निग्रन्थ संघ के तख्ते पर नया ही ताण्डव होने वाला था। वह ऐसा कि दो दलों में वस्त्र न रखने और रखने के मुद्दे पर आत्यंतिक विरोध की नौबत आई। फलतः एक पक्ष ने आगमों को यह कहकर छोड़ दिया कि ये तो काल्पनिक हैं जब कि दूसरे पक्ष ने उन आगमों को ज्यों का त्यों मान लिया और उनमें आने वाले माँसादि-ग्रहण विषयक सूत्रों के वनस्पति और माँस—ऐसे दो अर्थों को भी मान्य रखा।

हम ऊपर की चर्चा से नीचे लिखे परिणाम पर पहुँचते हैं :—

१—निग्रन्थ-संघ की निर्माण-प्रक्रिया के जमाने में तथा अन्य आपवादिक प्रसंगों में निग्रन्थ भी सामिष आहार लेते थे जिसका पुराना अवशेष आगमों में रह गया है।

२—जन्म से ही निरामिषभोजी निर्ग्रन्थ-संघ के स्थापित हो जाने पर वह आपवादिक स्थिति न रही और सर्वत्र निरामिष आहार सुलभ हो गया पर इस काल के निरामिष आहार-ग्रहण करने के आत्यन्तिक आग्रह के साथ पुराने सामिष आहार सूचक सूत्र बेमेल जँचने लगे।

३—इसी बेमेल का निवारण करने की सद्वृत्ति में से दूसरा वनस्पति परक अर्थ किया जाने लगा और पुराने तथा नए अर्थ साथ ही साथ स्वीकृत हुए।

४—जब इतर कारणों से निर्ग्रन्थ-दलों में फूट हुई तब एक दल ने आगमों के बहिष्कार में सामिष आहार सूचक सूत्रों की दलील भी दूसरे दल के सामने तथा सामान्य जनता के सामने रखी।

एक वृन्त में अनेक फल

हम पहले बतला आए हैं कि परिवर्तन व विकासक्रम के अनुसार समाज में आचार-विचार की भूमिका पुराने आचार-विचारों से बदल जाती है तब नई परिस्थिति के कुछ व्याख्याकार पुराने आचार-विचारों पर होने वाले आक्षेपों से बचने के लिए पुराने ही वाक्यों में से अपनी परिस्थिति के अनुकूल अर्थ निकाल कर उन आक्षेपों के परिहार का प्रयत्न करते हैं जब कि दूसरे व्याख्याकार नई परिस्थिति के आचार-विचारों को अपनाते हुए भी उनसे बिलकुल विरुद्ध पुराने आचार-विचारों के सूचक वाक्यों को तोड़-मरोड़ कर नया अर्थ निकालने के बदले पुराना ही अर्थ कायम रखते हैं और इस तरह प्रत्येक विकासगामी धर्म-समाज में पुराने शास्त्रों के अर्थ करने में दो पक्ष पड़ जाते हैं। जैसे वैदिक और बौद्ध संप्रदाय का इतिहास हमारे उक्त कथन का सबूत है वैसे ही निर्ग्रन्थ संप्रदाय का इतिहास भी हमारे मन्तव्य की साक्षी दे रहा है। हम निरामिष और सामिष आहार-ग्रहण के बारे में अपना उक्त विधान स्पष्ट कर चुके हैं फिर भी यहाँ निर्ग्रन्थ-संप्रदाय के बारे में प्रधानतया कुछ वर्णन करना है इसलिए हम उस विधान को दूसरी एक वैसी ही ऐतिहासिक घटना से स्पष्ट करें तो यह उपयुक्त ही होगा।

भारत में मूर्ति पूजा या प्रतीक-उपासना बहुत पुरानी और व्यापक भी है। निर्ग्रन्थ-परम्परा का इतिहास भी मूर्ति और प्रतीक की उपासना-पूजा से भरा पड़ा है। पर इस देश में मूर्तिविरोधी और मूर्तिभंजक इस्लाम के आने के बाद मूर्तिपूजा की विरोधी अनेक परम्पराओं ने जन्म लिया। निर्ग्रन्थ-परम्परा भी इस प्रतिक्रिया से न बची। १५ वीं सदी में लौंकाशाह नामक एक व्यक्ति गुजरात में पैदा हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा और उस निमित्त होनेवाले आडम्बरों का सक्रिय

विरोध शुरू किया जो क्रमशः एक मूर्तिविरोधी फिरके में परिणत हो गया। नया आन्दोलन या विचार कोई भी हो पर सम्प्रदाय में वह तभी स्थान पाता और सफल होता है जब उसको शास्त्रों का आधार हो। ऐसा आधार जब तक न हो तब तक नया फिरका पनप नहीं सकता। तिस पर भी यदि पुराने शास्त्रों में नए आन्दोलन के खिलाफ प्रमाण भरे पड़े हों तब तो नए आन्दोलन को आगे कूच करने में बड़ी रुकावटों का सामना करना पड़ता है। पुराने निर्ग्रन्थ आगमों में तथा उत्तरकालीन अन्य साहित्य में मूर्तिपूजा और प्रतीकोपासना के सूचक अनेक उल्लेख मौजूद हैं—ऐसी स्थिति में विरुद्ध उल्लेखवाले आगमों को मानकर मूर्तिपूजा के विरोध का समर्थन कैसे किया जा सकता था? मूर्तिपूजा का विरोध परिस्थिति में आ गया था, आन्दोलन चालू था, पुराने विरुद्ध उल्लेख बाधक हो रहे थे—इस कठिनाई को हल करने के लिए नए मूर्तिपूजा विरोधी फिरके ने उसी ऐतिहासिक मार्ग का अवलम्बन लिया जिसका कि सामिष-निरामिष भोजन के विरोध का परिहार करने में पहले भी निर्ग्रन्थ मुनि ले चुके थे। अर्थात् मूर्त्तिपूजा के विरोधियों ने चैत्य, प्रतिमा, जिन-गृह आदि मूर्तिसूचक पाठों का अर्थ ही बदलना शुरू कर दिया। इस तरह हम निर्ग्रन्थ-परम्परा के श्वेताम्बर फिरके में ही देखते हैं कि एक फिरका जिन पाठों का मूर्तिपरक अर्थ करता है, दूसरा फिरका उन्हीं पाठों का अन्यान्य अर्थ करके मूर्तिपूजा के विरोधवाले अपने पक्ष का समर्थन करता है। पाठक सरलता से समझ सके होंगे कि पुराने पाठरूप एक ही डण्ठल में—वृन्त में परिस्थिति भेद से कैसे अनेक फल लगते हैं।

आगमों की प्राचीनता

सामिष-आहार सूचक पाठों का वनस्पतिपरक अर्थ करनेवालों का आशय तो बुरा न था। हाँ, उत्सर्ग-अपवाद के स्वरूप का ज्ञान तथा ऐतिहासिकता की वफादारी उनमें अवश्य कम थी। असली अर्थ को चिपके रहने वालों का मानस सनातन और रूढ़िगामी अवश्य था पर साथ ही उसमें उत्सर्ग-अपवाद के स्वरूप का विस्तृत ज्ञान तथा ऐतिहासिकता की वफादरी दोनों पर्याप्त थे। इस चर्चा पर से यह सरलता से ही जाना जा सकता है कि आगमों का कलेवर कितना पुराना है? अगर आगम, भगवान् महावीर से अनेक शताब्दियों के बाद किसी एक फिरके के द्वारा नए रचे गए होते तो उनमें ऐसे सामिष आहार ग्रहण सूचक सूत्र आने का कोई सबब ही न था। क्योंकि उस जमाने के पहले ही से सारी निर्ग्रन्थ-परम्परा निरपवादरूप से निरामिषभोजी बन चुकी थी और माँस मत्स्यादि का त्याग कुलधर्म

ही हो गया था। भला ऐसा कौन होगा जो वर्तमान निरामिष भोजन की निरपवाद अवस्था में ऐसे सामिष-आहार-सूचक सूत्र बनाकर आगमों में घुसेड़ दे और अपनी परम्परा के अहिंसामूलक जीवन-व्यवहार का मखौल कराने की स्थिति जान-बूझ कर पैदा करे। सारे भारतवर्ष के जुदे-जुदे असली मानवदलों का और समय-समय पर आकर बस जानेवाले नए-नए मानवदलों का इतिहास हम देखते हैं तो एक बात निर्विवाद रूप से पाते हैं कि भारतवासी हर-एक धर्म-सम्प्रदाय निरामिष भोजन की ओर कुछ-न-कुछ अग्रसर हुआ है। इस इतिहास के पृष्ठ जितने पुराने उतना ही सामिष-आहार और धर्म्य पशुवध अधिक देखने को मिलता है। ऐसी स्थिति में आगमों में आने वाले सामिष-आहार सूचक सूत्र निर्ग्रन्थ परम्परा के पुराने स्तर को ही सूचित करते हैं जो किसी-न-किसी तरह से आगमों में सुरक्षित रह गया है। केवल इस आधार से भी आगमों की प्राचीनता अनायास ही ध्यान में आती है।

उत्सर्ग-अपवाद की चर्चा

हम यहाँ प्रसंग वश उत्सर्ग-अपवाद की चर्चा भी संक्षेप में कर देना चाहते हैं जिससे प्रस्तुत विषय पर कुछ प्रकाश पड़ सके। निर्ग्रन्थ-परम्परा का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति है। उसी को सिद्ध करने के लिए उसने अहिंसा का आश्रय लिया है। पूर्ण और उच्च कोटि की अहिंसा तभी सिद्ध हो सकती है जब जीवन में कायिक-वाचिक-मानसिक असत् प्रवृत्तियों का नियंत्रण हो और सत्प्रवृत्तियों को वेग दिया जाए। तथा भौतिक सुख की लालसा घटाने के उद्देश्य से कठोर जीवन-मार्ग या इन्द्रिय-दमन मार्ग का अवलम्बन लिया जाए। इसी दृष्टि से निर्ग्रन्थ-परम्परा ने समय और तप पर अधिक भार दिया है। अहिंसालक्षी संयम और तपोमय जीवन ही निर्ग्रन्थ परम्परा का औत्सर्गिक विधान है जो आध्यात्मिक सुख-प्राप्ति की अनिवार्य गारण्टी है। पर जब कोई आध्यात्मिक धर्म समुदाय-गामी बनने लगता है तब अपवादों का प्रवेश अनिवार्य रूप से आवश्यक बन जाता है। अपवाद वही है जो तत्त्वतः औत्सर्गिक मार्ग का पोषक ही हो, कभी घातक न बने। आपवादिक विधान की मदद से ही औत्सर्गिक मार्ग विकास कर सकता है और दोनों मिलकर ही मूल ध्येय को सिद्ध कर सकते है। हम व्यवहार में देखते हैं कि भोजन-पान जीवन की रक्षा और पुष्टि के लिए ही है, पर हम यह भी देखते हैं कि कभी-कभी भोजन-पान का त्याग ही जीवन को बचा लेता है। इसी तरह ऊपर-ऊपर से आपस में विरुद्ध दिखाई देनेवाले भी दो प्रकार के जीवन व्यवहार जब एक लक्ष्यगामी हों तब वे उत्सर्ग-अपवाद की कोटि में आते हैं।

नाथ का स्थान है। उनकी जीवनी कह रही है कि उन्होंने अहिंसा की भावना को विकसित करने के लिए एक दूसरा ही कदम उठाया। पञ्चाग्नि जैसी तामस तपस्याओं में सूक्ष्म-स्थूल प्राणियों का विचार बिना किए ही आग जलाने की प्रथा थी जिससे कभी-कभी ईंधन के साथ अन्य प्राणी भी जल जाते थे। काशीराज अश्वपति के पुत्र पार्श्वनाथ ने ऐसी हिंसाजनक तपस्या का घोर विरोध किया और धर्म-क्षेत्र में अविवेक से होने वाली हिंसा के त्याग की ओर लोकमत तैयार किया। पार्श्वनाथ के द्वारा पुष्ट की गई अहिंसा की भावना निर्ग्रन्थनाथ ज्ञातपुत्र महावीर को विरासत में मिली। उन्होंने यज्ञ यागादि जैसे धर्म के जुदे-जुदे क्षेत्रों में होने वाली हिंसा का तथागत बुद्ध की तरह आत्यन्तिक विरोध किया और धर्म-के प्रदेश में अहिंसा की इतनी अधिक प्रतिष्ठा की कि इसके बाद तो अहिंसा ही भारतीय धर्मों का प्राण बन गई। भगवान् महावीर की उग्र अहिंसा परायण जीवन यात्रा तथा एकाग्र तपस्या ने तत्कालीन अनेक प्रभावशाली ब्राह्मण व क्षत्रियों को अहिंसा-भावना की ओर खींचा। फलतः जनता में सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों में अहिंसा की भावना ने जड़ जमाई, जिसके ऊपर आगे की निर्ग्रन्थ-परंपरा की अगली पीढ़ियों की कारगुजारी का महल खड़ा हुआ है। अशोक के पौत्र संप्रति ने अपने पितामह के अहिंसक संस्कार की विरासत को आर्य-सुहस्ति की छत्रछाया में और भी समृद्ध किया। संप्रति ने केवल अपने अधीन राज्य-प्रदेशों में ही नहीं बल्कि अपने राज्य की सीमा के बाहर भी—जहाँ अहिंसा-मूलक जीवन-व्यवहार का नाम भी न था—अहिंसा भावना का फैलाव किया। अहिंसा-भावना के उस स्रोत की बाढ़ में अनेक का हाथ अवश्य है पर निर्ग्रन्थ अनगारों का तो इसके सिवाय और कोई ध्येय ही नहीं रहा है। वे भारत में पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जहाँ-जहाँ गए वहाँ उन्होंने अहिंसा की भावना का ही विस्तार किया और हिंसामूलक अनेक व्यसनों के त्याग की जनता को शिक्षा देने में ही निर्ग्रन्थ-धर्म की कृतकृत्यता का अनुभव किया। जैसे शंकराचार्य ने भारत के चारों कोनों पर मठ स्थापित करके ब्रह्माद्वैत का विजय-स्तम्भ रोपा है वैसे ही महावीर के अनुयायी अनगार निर्ग्रन्थों ने भारत जैसे विशाल देश के चारों कोनों में अहिंसाद्वैत की भावना के विजय-स्तम्भ रोप दिए हैं—ऐसा कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। लोकमान्य तिलक ने इस बात को यों कहा था कि गुजरात की अहिंसा भावना जैनों की ही देन है पर इतिहास हमें कहता है कि वैष्णवादि अनेक वैदिक परम्पराओं की अहिंसामूलक धर्मवृत्ति में निर्ग्रन्थ संप्रदाय का थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य काम कर रहा है। उन वैदिक सम्प्रदायों के प्रत्येक जीवन व्यवहार की छानबीन करने से कोई भी विचारक यह सरलता से जान सकता है

कि इसमें निर्ग्रन्थों की अहिंसा-भावना का पुट अवश्य है। आज भारत में हिंसामूलक यज्ञ-यागादि धर्म-विधि का समर्थक भी यह साहस नहीं कर सकता है कि वह यजमानों को पशुवध के लिए प्रेरित करे।

आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जरपति परम माहेश्वर सिद्धराज तक को बहुत अंशों में अहिंसा की भावना से प्रभावित किया। इसका फल अनेक दिशाओं में अच्छा आया। अनेक देव-देवियों के सामने खास-खास पर्वों पर होने वाली हिंसा रुक गई। और ऐसी हिंसा को रोकने के व्यापक आन्दोलन की एक नींव पड़ गई। सिद्धराज का उत्तराधिकारी गुर्जरपति कुमारपाल तो परमार्हत ही था। वह सच्चे अर्थ में परमार्हत इसलिए माना गया कि उसने जैसी और जितनी अहिंसा की भावना पुष्ट की और जैसा उसका विस्तार किया वह इतिहास में बेजोड़ है। कुमारपाल की 'अमारि घोषणा' इतनी लोक-प्रिय बनी कि आगे के अनेक निर्ग्रन्थ और उनके अनेक गृहस्थ-शिष्य अमारि-घोषणा को अपने जीवन का ध्येय बनाकर ही काम करने लगे। आचार्य हेमचन्द्र के पहले कई निर्ग्रन्थों ने माँसाशी जातियों को अहिंसा की दीक्षा दी थी और निर्ग्रन्थ-संघ में ओसवाल-पोरवाल आदि वर्ग स्थापित किए थे। शक आदि विदेशी जातियाँ भी अहिंसा के चेप से बच न सकीं। हीरविजयसूरि ने अकबर जैसे भारत-सम्राट् से भिक्षा में इतना ही माँगा कि वह हमेशा के लिए नहीं तो कुछ खास-खास तिथियों पर अमारि-घोषणा जारी करे। अकबर के उस पथ पर जहाँगीर आदि उनके वंशज भी चले। जो जन्म से ही माँसाशी थे उन मुगल सम्राटों के द्वारा अहिंसा का इतना विस्तार कराना यह आज भी सरल नहीं है।

आज भी हम देखते हैं कि जैन-समाज ही ऐसा है जो जहाँ तक संभव हो विविध क्षेत्रों में होने वाली पशु-पक्षी आदि की हिंसा को रोकने का सतत प्रयत्न करता है। इस विशाल देश में जुदे-जुदे संस्कार वाली अनेक जातियाँ पड़ोस-पड़ोस में बसती हैं। अनेक जन्म से ही मांसाशी भी हैं। फिर भी जहाँ देखो वहाँ अहिंसा के प्रति लोक रुचि तो है ही। मध्यकाल में ऐसे अनेक सन्त और फकीर हुए जिन्होंने एक मात्र अहिंसा और दया का ही उपदेश दिया है जो भारत की आत्मा में अहिंसा की गहरी जड़ की साक्षी है।

महात्मा गाँधीजी ने भारत में नव-जीवन का प्राण प्रस्पंदित करने का संकल्प किया तो वह केवल अहिंसा की भूमिका के ऊपर ही। यदि उनको अहिंसा की भावना का ऐसा तैयार क्षेत्र न मिलता तो वे शायद ही इतने सफल होते।

यहाँ साम्प्रदायिक दृष्टि से केवल यह नहीं कहना है कि अहिंसा वृत्ति के पोषण का सारा यश निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को ही है पर वक्तव्य इतना ही है कि

भारतव्यापी अहिंसा की भावना में निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय का बहुत बड़ा हिस्सा हजारों वर्ष से रहा है। इतना बतलाने का उद्देश्य केवल यही है कि निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय का अहिंसालक्षी मूल ध्येय कहाँ तक एक रूप रहा है और उसने सारे इतिहास काल में कैसा-कैसा काम किया है।

अगर हमारा यह वक्तव्य ठीक है तो सामिष-आहारग्रहण सूचक सूत्रों के असली अर्थ के बारे में हमने अपना जो अभिप्राय प्रकट किया है वह ठीक तरह से ध्यान में आ सकेगा और उसके साथ निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय की अहिंसा-भावना का कोई विरोध नहीं है यह बात भी समझ में आ सकेगी।

निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय में सामिष-आहार ग्रहण अगर आपवादिक या पुरानी सामाजिक परिस्थिति का परिणाम न होता तो निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय अहिंसा-सिद्धान्त के ऊपर इतना भार ही न दे सकता और वह भार देता भी तो उसका असर जनता पर न पड़ता। बौद्ध भिक्षु अहिंसा के पक्षपाती रहे पर वे जहाँ गए वहाँ की भोजन-व्यवस्था के अधीन हो गए और बहुधा मांस-मत्स्यादि ग्रहण से न बच सके। सो क्यों? जवाब स्पष्ट है—उनके लिए मांस-मत्स्यादि का ग्रहण निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय जितना सख्त आपवादिक और लाचारी रूप न था। निर्ग्रन्थ-अनगार बौद्ध अनगार की तरह धर्म-प्रचार का ही ध्येय रखते थे फिर भी वे बौद्धों की तरह भारत के बाहर जाने में असमर्थ रहे और भारत में भी बौद्धों की तरह हर एक दल को अपने सम्प्रदाय में मिलाने में असमर्थ रहे इसका क्या कारण? जवाब स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय ने पहले ही से माँसादि के त्याग पर इतना अधिक भार दिया था कि निर्ग्रन्थ अनगार न तो सरलता से मांसाशी जाति वाले देश में जा सकते थे और न मांस-मत्स्यादि का त्याग न करने वाली जातियों को ज्यों की त्यों अपने संघ में बौद्ध भिक्षुओं की तरह ले सकते थे। यही कारण है कि निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय न केवल भारत में ही सीमित है पर उसका कोई भी ऐसा गृहस्थ या साधु अनुयायी नहीं है जो हजार प्रलोभन होने पर भी मांस-मत्स्यादि का ग्रहण करना पसंद करे। ऐसे दृढ़ संस्कार के पीछे हजारों वर्ष से स्थिर कोई पुरानी औत्सर्गिक भावना ही काम कर रही है ऐसा समझना चाहिए।

इसी आधार पर हम कहते है कि जैन इतिहास में सामिष-आहार सूचक जो भी उल्लेख हैं और उनका जो भी असली अर्थ हो उससे जैनों को कभी घबड़ाने की या क्षुब्ध होने की जरूरत नहीं है उल्टे यह तो निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय की एक विजय है कि जिसने उन आपवादिक प्रसंग वाले युग से पार होकर आगे अपने मूल ध्येय को सर्वत्र प्रतिष्ठित और विकसित किया है।

बौद्ध-परम्परा में माँस के ग्रहण-अग्रहण का ऊहापोह

जैन-परम्परा अहिंसा-सिद्धान्त का अन्तिम हद तक समर्थन करने वाली है इसलिए उसके प्रमाणभूत ग्रन्थों में कहीं भी भिक्षुओं के द्वारा मांस-मत्स्यादि के लिये जाने की थोड़ी सी बात आ जाए तो उस परम्परा की अहिंसा भावना के विरुद्ध होने के कारण उसमें परम्परा में मतभेद या क्षोभ हो जाए तो यह कोई अचरज की बात नहीं है। पर अचरज की बात तो यह है कि जिस परम्परा में अहिंसा के आचरण का मर्यादित विधान है और जिसके अनुयायी आज भी मांस-मत्स्यादि का ग्रहण ही नहीं बल्कि समर्थन भी करते हैं उस बौद्ध तथा वैदिक परम्परा के शास्त्रों में भी अमुक सूत्र तथा वाक्य मांस-मत्स्यादिपरक हैं या नहीं इस मुद्दे पर गरमा-गरम चर्चा प्राचीन काल से आज तक चली आती है।

बौद्ध-पिटकों में जहाँ बुद्ध के निर्वाण की चर्चा है वहाँ कहा गया है कि चुन्द नामक एक व्यक्ति ने बुद्ध को भिक्षा में सूकर-मांस दिया था[१६] जिसके खाने से बुद्ध को उग्र शूल पैदा हुआ और वही मृत्यु का कारण हुआ। बौद्ध-पिटकों में अनेक जगह ऐसा वर्णन आता है जिससे असंदिग्ध रूप से माना जाता है कि बौद्ध भिक्षु अपने निमित्त से मारे नहीं गए ऐसे पशु का मांस ग्रहण करते थे[२०]। जब बुद्ध की मौजूदगी में उन्हीं का भिक्षुसंघ मांस-मत्स्यादि ग्रहण करता था तब चुन्द के द्वारा बुद्ध को दी गई सूकर-मांस की भिक्षा के अर्थ के बारे में मतभेद या खींचा-तानी क्यों हुई? यह एक समस्या है।

बुद्ध की मृत्यु का कारण समझ कर कोई चुन्द को अपमानित या तिरस्कृत न करें इस उदात्त भावना से खुद बुद्ध ने ही चुन्द का बचाव किया है और संघ को कहा है कि कोई चुन्द को दूषित न मानें। बौद्ध पिटक के इस वर्णन से यह तो स्पष्ट ही है कि सूकर मांस जैसी गरिष्ठ वस्तु की भिक्षा देने के कारण बौद्ध-संघ चुन्द का तिरस्कार करने पर उतारू था उसी को बुद्ध ने सावध किया है। जब बुद्ध की मौजूदगी में बौद्धभिक्षु मांस जैसी वस्तु ग्रहण करते थे और खुद बुद्ध के द्वारा भी चुन्द के उपरान्त उग्र गृहपति की दी हुई सूकर-मांस की भिक्षा लिये जाने का अंगुत्तरनिकाय पंचम निपात में साफ कथन है; तब बौद्ध परम्परा में आगे जाकर सूकर-मांस अर्थ के सूचक सूत्र के अर्थ पर बौद्ध विद्वानों का मतभेद क्यों हुआ? यह कम कुतूहल का विषय नहीं है।

---

१६. दीघ० महापरिनिब्बाणसुत्त १६

२०. अंगुत्तर Vol II. P. 187 मज्झिमनिकाय सु० ५५ विनयपिटक-पृ० २४५ (हिन्दी)

बुद्ध के निर्वाण के करीब १००० वर्ष के बाद बुद्धघोष ने पिटकों के ऊपर व्याख्याएँ लिखी हैं। उसने दीघनिकाय की अट्ठकथा में पाली शब्द 'सूकर मद्दव' के जुदे जुदे व्याख्याताओं के द्वारा किये जाने वाले तीन अर्थों का निर्देश किया है। उदान की अट्ठकथा में और नए दो अर्थों की वृद्धि देखी जाती है। इतना ही नहीं बल्कि चीनी भाषा में उपलब्ध एक ग्रन्थ में 'सूकर मद्दव' का बिलकुल नया ही अर्थ किया हुआ मिलता है। सूकर-मांस यह अर्थ तो प्रसिद्ध ही था पर उससे जुदा होकर अनेक व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी कल्पना से मूल 'सूकर-मद्दव' शब्द के नए-नए अर्थ किए हैं। इन सब-नए नए अर्थों के[२१] करनेवालों का तात्पर्य इतना ही है कि सूकर-मद्दव शब्द सूकर-माँस का बोधक नहीं है और चुन्द ने बुद्ध को भिक्षा में सूकर-माँस नहीं दिया था।

२१—संक्षेप में वे अर्थ इस प्रकार हैं—

१—स्निग्ध और मृदु सूकर माँस।

२—पञ्चगोरस में से तैयार किया हुआ एक प्रकार का एक कोमल अन्न।

३—एक प्रकार का रसायन।

ये तीन अर्थ महापरिनिर्वाण सूत्र की अट्ठकथा में हैं।

४—सूकर के द्वारा मर्दित बाँस का अंकुर।

५—वर्षा में ऊगनेवाला बिल्ली का टोप—अहिच्छत्र।

ये दो अर्थ उदान-अट्ठकथा में हैं।

६—शर्करा का बना हुआ सूकर के आकार का खिलौना।

यह अर्थ किसी चीनी ग्रन्थ में है जिसे मैंने देखा नहीं है पर अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बीजी के द्वारा ज्ञात हुआ है।

व्याधि की निवृत्ति के लिए भगवान् महावीर के वास्ते श्राविका रेवती के द्वारा दी गई भिक्षा का भगवती में शतक १५ में वर्णन है। उस भिक्षा-वस्तु के भी दो अर्थ पूर्व काल से चले आए हैं। जिनको टीकाकार अभयदेव ने निर्दिष्ट किया है। एक अर्थ माँस-परक है जब कि दूसरा वनस्पतिपरक है। अपने-अपने सम्प्रदाय के नायक बुद्ध और महावीर के द्वारा ली गई भिक्षा वस्तु के सूचक सूत्रों का माँसपरक तथा निर्मांस-परक अर्थ दोनों परम्परा में किया गया है यह वस्तु ऐतिहासिकों के लिए विचारप्रेरक है। दोनों में फर्क यह है कि एक परम्परा में माँस के अतिरिक्त अनेक अर्थों की सृष्टि हुई है जब कि दूसरी परम्परा में माँस के अतिरिक्त मात्र वनस्पति ही अर्थ किया गया है।

बुद्धघोष आदि लेखकों ने जिन अनेक अर्थों की अपने अपने ग्रन्थों में नोंध की है और जो एक अजीब अर्थ उस पुराने चीनी ग्रन्थ में भी मिलता है—यह सब केवल उस समय की ही कल्पनासृष्टि नहीं है पर जान पड़ता है कि बुद्धघोष आदि के पहले ही कई शताब्दियों से बौद्ध-परम्परा में बुद्ध ने सूकर-माँस खाया था या नहीं, इस मुद्दे पर प्रबल मतभेद हो गया था और जुदे-जुदे व्याख्याकार अपनी-अपनी कल्पना से अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते थे। बुद्धघोष आदि ने तो उन्हीं सब पक्षों की यादी भर की है।

बौद्ध परम्परा के ऊपरसूचित दोनों पक्षों का लम्बा इतिहास बौद्ध वाङ्मय में है। हम तो यहाँ प्रस्तुतोपयोगी कुछ संकेत करना ही उचित समझते हैं। पालि-पिटकों पर मदार रखनेवाला बौद्ध-पक्ष स्थविरवाद कहलाता है जब कि पालि-पिटकों के ऊपर से बने संस्कृत पिटकों के ऊपर मदार बाँधनेवाला पक्ष महायान कहलाता है[1]। महायान-परम्परा का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है लंकावतार जो ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में कभी रचा गया है। लंकावतार के आठवें 'मांस भक्षण परिवर्त' नामक प्रकरण में महामति बोधिसत्त्व ने बुद्ध के प्रति प्रश्न किया है कि आप माँसभक्षण के गुणदोष का निरूपण कीजिए। बहुत लोग बुद्धशासन पर आक्षेप करते हैं कि बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुकों के लिए माँस-ग्रहण की अनुज्ञा दी है और खुद ने भी माँस भक्षण किया है। भविष्यत् में हम कैसा उपदेश करें यह आप कहिए। इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने उस बोधिसत्त्व को कहा है कि भला, सब प्राणियों में मैत्री-भावना रखनेवाला मैं किस प्रकार माँस खाने की अनुज्ञा दे सकता हूँ और खुद भी खा सकता हूँ? अलबत्ता भविष्य में ऐसे माँसलोलुप कुतर्कवादी होंगे जो मुझ पर झूठा लाञ्छन लगाकर अपनी माँसलोलुपता की तृप्ति करेंगे और विनय-पिटक के कल्पित अर्थ करके लोगों को भ्रम में डालेंगे। मैं तो सर्वथा सब प्रकार के माँस का त्याग करने को ही कहता हूँ। इस मतलब का जो उपदेश लंकावतारकार ने बुद्ध के मुख से कराया है वह इतना अधिक युक्तिपूर्ण और मनोरंजक है कि जिसको पढ़कर कोई भी अभ्यासी सहज ही में यह जान सकता है कि महायान-परम्परा में माँस-भोजन विरुद्ध कैसा प्रबल आन्दोलन शुरू हुआ था और उसके सामने दूसरा पक्ष कितने बल से विनय-पिटकादि शास्त्रों के आधार पर माँस-ग्रहण का समर्थन करता था।

करीब ई० सन् छठी शताब्दी में शान्तिदेव नामक बौद्ध विद्वान् हुए, जो महायान-परम्परा के ही अनुगामी थे। उन्होंने 'शिक्षा-समुच्चय' नामक अपने ग्रन्थ में माँस के लेने-न-लेने की शास्त्रीय चर्चा की है। उनके सामने माँस-ग्रहण

---

१ देखिए अन्त में परिशिष्ट

का समर्थन करनेवाली स्थविरवादी परम्परा के अलावा कुछ महायानी ग्रन्थकार भी ऐसे थे जो माँस-ग्रहण का समर्थन करते थे। शान्तिदेव ने अपने समय तक के प्रायः सभी पक्ष-विपक्ष के शास्त्रों को देखकर उनका आपसी विरोध दूर करने का तथा अपना स्पष्ट अभिप्राय प्रगट करने का प्रयत्न किया है। शान्तिदेव का सुझाव तो लंकावतार सूत्रकार की तरह माँसनिषेध की ओर ही है, फिर भी लंकावतार सूत्रकार की अपेक्षा उनके सामने विपक्ष का साहित्य और विपक्ष की दलीलें बहुत अधिक थीं जिन सबको वे टाल नहीं सकते थे। इसलिए लंकावतार सूत्र के आधार पर माँसनिषेध का समर्थन करते हुए भी शान्तिदेव ने कुछ ऐसे अपवाद-स्थान बतलाए हैं जिनमें भिक्षु माँस भी ले सकता है। उन्होंने कहा है कि अगर कोई ऐसा समर्थ भिक्षु हो कि जिसकी मृत्यु से समाधि-मार्ग का लोप हो जाता हो और औषध के तौर पर माँस ग्रहण करने से उसका बच जाना संभव हो तो ऐसे भिक्षु के लिये माँस भी भैषज्य के तौर पर कल्प्य है।

यद्यपि शान्तिदेव ने बुद्ध का नाम लेकर भैषज्य के तौर पर माँसग्रहण करने की बात नहीं कही है फिर भी जान पड़ता है कि जो माँस-ग्रहण के पक्षपाती बुद्ध के द्वारा लिये गए सूकर माँस की बात आगे करके अपने पक्ष का समर्थन करते थे उन्हीं को यह जवाब दिया गया है। शान्तिदेव ने विनय-पिटक में विहित त्रिकोटि-शुद्ध माँस और सहज मृत्यु से मृत प्राणी के माँससूचक अनेक सूत्रों का तात्पर्य माँस-निषेध की दृष्टि से बतलाया है। शान्तिदेव का प्रयत्न माँसनिषेधगामी होने पर भी अपवादसहिष्णु है।

बुद्धघोष, लंकावतारकार और शान्तिदेव के बीच हुए हैं। और वे स्थविरवादी भी हैं। इसलिए उन्होंने पालि-पिटकों की तथा विनय की प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखने का भरसक प्रयत्न किया है। इस संक्षिप्त विवरण से पाठक समझ सकेंगे कि माँस के ग्रहण और अग्रहण के विषय में बौद्ध परम्परा में कैसा ऊहापोह शरू हुआ था।

वैदिक शास्त्रों में हिंसा-अहिंसा दृष्टि से अर्थभेद का इतिहास

सुविदित है कि वैदिक-परम्परा माँस-मत्स्यादि को अखाद्य मानने में उतनी सख्त नहीं है जितनी कि बौद्ध और जैन परम्परा। वैदिक यज्ञ-यागों में पशुवध को धर्म्य माने जाने का विधान आज भी शास्त्रों में है ही। इतना ही नहीं बल्कि भारत-व्यापी वैदिक परम्परा के अनुयायी कहलाने वाले अनेक जाति-दल ऐसे हैं जो ब्राह्मण होते हुए भी माँस-मत्स्यादि को अन्न की तरह खाद्य रूप से व्यवहृत करते हैं और धार्मिक क्रियाओं में तो उसे धर्म्य रूप से स्थापित भी करते हैं।

वैदिक परम्परा की ऐसी स्थिति होने पर भी हम देखते हैं कि उसकी कट्टर अनुयायी अनेक शाखाओं और उपशाखाओं ने हिंसासूचक शास्त्रीय वाक्यों का अहिंसा-परक अर्थ किया है और धार्मिक अनुष्ठानों में से तथा सामान्य जीवन-व्यवहार में से माँस-मत्स्यादि को अखाद्य करार करके बहिष्कृत किया है। किसी अति विस्तृत परम्परा के करोड़ों अनुयायियों में से कोई माँस को अखाद्य और अग्राह्य समझे—यह स्वाभाविक है, पर अचरज तो तब होता है कि जब वे उन्हीं धर्म शास्त्र के वाक्यों का अहिंसापरक अर्थ करते हैं जिनका कि हिंसापरक अर्थ उसी परम्परा के प्रामाणिक और पुराने दल करते हैं। सनातन परम्परा के प्राचीन सभी मीमांसक व्याख्यानकार यज्ञ-यागादि में गो, अज, आदि के वध को धर्म्य स्थापित करते हैं जब कि वैष्णव, आर्य समाज, स्वामी नारायण आदि जैसी अनेक वैदिक परम्पराएँ उन वाक्यों का या तो बिलकुल जुदा अहिंसापरक अर्थ करती हैं या ऐसा संभव न हो वहाँ ऐसे वाक्यों को प्रक्षिप्त कह कर प्रतिष्ठित शास्त्रों में स्थान देना नहीं चाहती। मीमांसक जैसे पुरानी वैदिक परम्परा के अनुगामी और प्रामाणिक व्याख्याकार शब्दों का यथावत् अर्थ करके हिंसा-प्रथा से बचने के लिए इतना ही कह कर छुट्टी पा लेते हैं कि कलियुग में वैसे यज्ञ-यागादि विधेय नहीं तब वैष्णव, आर्य-समाज[1] आदि वैदिक शाखाएँ उन शब्दों का अर्थ ही अहिंसापरक करती हैं या उन्हें प्रक्षिप्त मानती हैं। सारांश यह है कि अतिविस्तृत और अनेकविध आचार-विचार वाली वैदिक परम्परा भी अनेक स्थलों में शास्त्रीय वाक्यों का हिंसा-परक अर्थ करना या अहिंसापरक—इस मुद्दे पर पर्याप्त मतभेद रखती है।

शतपथ, तैत्तिरीय जैसे पुराने और प्रतिष्ठित ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ सोमयाग का विस्तृत वर्णन है वहाँ, अज, गो, अश्व आदि पशुओं का संज्ञपन—वध करके उनके माँसादि से यजन करने का शास्त्रीय विधान है। इसी तरह पारस्करीय गृह्य-

---

१ एक प्रश्न के उत्तर में स्वामी दयानन्द ने जो सत्यार्थ प्रकाश में कहा है और जो 'दयानन्द सिद्धान्त भास्कर' पृ. ११३ में उद्धृत है उसे हम नीचे देते हैं जिससे यह भलीभाँति जाना जा सकता है कि स्वामीजी ने शब्दों को कैसा तोड़-मरोड़ कर अहिंसा दृष्टि से नया अर्थ किया है—

"राजा न्याय-धर्म से प्रजा का पालन करे, विद्यादिका दान देनेवाले यजमान और अग्नि में, घी आदि का होम करना अश्वमेध; अन्न, इन्द्रियाँ, किरण (और) पृथिवी आदि को पवित्र रखना गोमेध, जब मनुष्य मर जाए तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना नरमेध कहाता है।"—सत्यार्थ प्रकाश स० ११

सूत्र आदि में देखते हैं कि जहाँ अष्टका श्राद्ध,[२२] शूलगव कर्म[२३] और अन्त्येष्टि संस्कार का[२४] वर्णन है वहाँ गाय, बकरा जैसे पशुओं के माँस-चर्बी आदि द्रव्य से क्रिया सम्पन्न करने का निःसंदेह विधान है। कहना न होगा कि ऐसे माँसादि प्रधान यज्ञ और संस्कार उस समय की याद दिलाते हैं जब कि क्षत्रिय और वैश्य के ही नहीं बल्कि ब्राह्मण तक के जीवन-व्यवहार में माँस का उपयोग साधारण वस्तु थी पर आगे जाकर स्थिति बदल जाती है।

वैदिक-परम्परा में ही एक ऐसा प्रबल पक्ष पैदा हुआ जिसने यज्ञ तथा श्राद्ध आदि कर्मों में धर्म्य रूप से अनिवार्य मानी जाने वाली हिंसा का जोरों से प्रतिवाद शुरू किया। श्रमण जैसी अवैदिक परंपराएँ तो हिंसक याग-संस्कार आदि का प्रबल विरोध करती ही थीं पर जब घर में ही आग लगी तब वैदिक परम्परा की पुरानी शास्त्रीय मान्यताओं की जड़ हिल गई और वैदिक परम्परा में दो पक्ष पड़ गए। एक पक्ष ने धर्म्य माने जाने वाले हिंसक याग-संस्कार आदि का पुराने शास्त्रीय वाक्यों के आधार पर ही समर्थन जारी रखा जब कि दूसरे पक्ष ने उन्हीं वाक्यों का या तो अर्थ बदल दिया या अर्थ बिना बदले ही कह दिया कि ऐसे हिंसा-प्रधान याग तथा संस्कार कलियुग में वर्ज्य हैं। इन दोनों पक्षों की दलील-बाजी एवं विचारसरणी की बोधप्रद तथा मनोरंजक कुश्ती हमें महाभारत में जगह-जगह देखने को मिलती है।

अनुशासन[२५] और अश्वमेधीय[२६] पर्व इसके लिए खास देखने योग्य हैं। महाभारत के अलावा मत्स्य[२७] और भागवत[२८] आदि पुराण भी हिंसक याग विरोधी वैदिक पक्ष की विजय की साक्षी देते हैं। कलियुग में वर्ज्य वस्तुओं का वर्णन करने वाले अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें से आदित्यपुराण,[२९] बृहन्नारदीय

२२—काण्ड ३, अ० ८—९;

२३—काण्ड ६ प्रपाठक ३

२४—काण्ड ३, ४—८

२५—अनुशासन पर्व—११७ श्लो० २३

२६—अश्वमेधीय पर्व—अ० ९१ से ९५; नकुलाख्यान अ० ९४ अगस्त्यकृत-बीजमय यज्ञ

२७—मत्स्य-पुराण श्लो० १२१

२८—भागवत-पुराण-स्कंध ७, अ० १५, श्लो० ७—११

२९—आदित्य पुराण जैसा कि हेमाद्रि ने उद्धृत किया है—

स्मृति,[३०] वीर मित्रोदय[३१] तथा ब्रह्मपुराण[३२] में अन्यान्य वस्तुओं के साथ यज्ञीय गोवध, पशुवध तथा ब्राह्मण के हाथ से किया जाने वाला पशु मारण भी वर्ज्य बतलाया गया है। मनुस्मृति[३३] तथा महाभारत[३४] में वह भी कहा गया है कि घृतमय या पिष्टमय अज आदि पशु से यज्ञ संपन्न करे पर वृथा पशु-हिंसा न करे।

हिंसक यागसूचक वाक्यों का पुराना अर्थ ज्यों का त्यों मानकर उनका समर्थन करने वाली सनातनमानस मीमांसक परंपरा हो या उन वाक्यों का अर्थ बदलने वाली वैष्णव, आर्यसमाज आदि नई परम्परा हो पर वे दोनों परम्पराएँ बहुधा अपने जीवन-व्यवहार में माँस-मत्स्य आदि से परहेज करती ही हैं। दोनों का अन्तर मुख्यतया पुराने शास्त्रीय वाक्यों के अर्थ करने ही में है। सनानत-मानस और नवमानस ऐसी दो परम्पराओं की परस्पर विरोधी चर्चा का आपस में एक दूसरे पर भी असर देखा जाता है। उदाहरणार्थ हम वैष्णव परम्परा को लें। यद्यपि यह परम्परा मुख्यतया अहिंसक यागका ही पक्ष करती रही है फिर भी उसकी विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजीय शाखा और द्वैतवादी माध्वशाखा में बड़ा अन्तर है। माध्वशाखा अज का पिष्टमय अज ऐसा अर्थ करके ही धर्म्य आचारों का निर्वाह करती है जब कि रामानुज शाखा एकान्त रूप से वैसा मानने वाली नहीं है। रामानुज शाखा में तेंगलै और वडगलै जैसे दो भेद हैं। द्रविडियन तेंगलै शब्द का अर्थ है दाक्षिणात्य विद्या और वडगलै शब्द का अर्थ है संस्कृत विद्या। तेंगलै शाखा वाले रामानुजी किसी भी प्रकार के पशुवध से सम्मत नहीं। इसलिए वे स्वभाव से ही गो, अज आदि का अर्थ बदल देंगे या ऐसे यज्ञों को कलियुग वर्ज्य कोटि में डाल देंगे जब कि वडगलै शाखा वाले रामानुजी वैष्णव होते हुए भी हिंसक याग से सम्मत हैं। इस तरह हमने संक्षेप में देखा कि बौद्ध और वैदिक दोनों परम्पराओं में अहिंसा सिद्धान्त के आधार पर माँस जैसी वस्तुओं की खाद्याखाद्यता का इतिहास अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाओं से रंगा हुआ है।

'महाप्रस्थानगमनं गोसंज्ञप्तिश्च गोसवे।
सौत्रामण्यामपि सुराग्रहणस्य च संग्रहः॥'

३०—बृहन्नारदीय स्मृति अ० २२, श्लो० १२-१६

३१—वीरमित्रोदय संस्कार प्रकरण पृ० ६६

३२—स्मृतिचन्द्रिका संस्कार—काण्ड पृ० २८

३३—मनुस्मृति—५, ३७

३४—अनुशासन पर्व १७७ श्लो० ५४

सामिष-निरामिष-आहार का परिशिष्ट

हीनयान और महायान

स्थविरवाद और महायान—ये दोनों एक ही तथागत बुद्ध को और उनके उपदेशों को मानने वाले हैं फिर भी दोनों के बीच इतना अधिक और तीव्र विरोध कभी हुआ है जैसा दो सपत्नियों में होता है। ऐसी ही मानसिक कटुता, एक ही भगवान् महावीर को और उनके उपदेशों को मानने वाले श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि फिरकों के बीच भी इतिहास में पाई जाती है। यों तो भारत धर्मभूमि कहा जाता है और वस्तुतः है भी तथापि वह जैसा धर्मभूमि रहा है वैसा धर्मयुद्धभूमि भी रहा है। हम इतिहास में धर्मकलह दो प्रकार का पाते हैं। एक तो वह है जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच परस्पर रहा है, दूसरा वह है जो एक ही सम्प्रदाय के अवान्तर—भीतरी फिरकों के बीच परस्पर रहा है। पहले का उदाहरण है वैदिक और अवैदिक—श्रमणों का पारस्परिक संघर्ष जो दोनों के धर्म और दर्शन-शास्त्र में निर्दिष्ट है। दूसरे का उदाहरण है एक ही औपनिषद परम्परा के अवान्तर भेद शाङ्कर, रामानुजीय, माध्व, वल्लभीय आदि फिरकों के बीच की उग्र मानसिक कटुता। इसी तरह बौद्ध और जैन जैसी दोनों श्रमण परम्पराओं के बीच जो मानसिक कटुता परस्पर उग्र हुई उसने अन्त में एक ही सम्प्रदाय के अवान्तर फिरकों में भी अपना पाँव फैलाया। इसी का फल स्थविरवाद और महायान के बीच का तथा श्वेताम्बर और दिगम्बर के बीच का उग्र विरोध है।

बुद्ध-निर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली में जो संगीति हुई उसमें स्थविरवाद और महासंघिक ऐसे दो पक्ष तो पड़ ही गए थे। आगे तीसरी संगीति के समय अशोक के द्वारा जब दोनों पक्षों के बीच समाधान न हुआ तो विरोध की खाई चौड़ी होने लगी। स्थविरवादियों ने महासंघिकों को 'अधर्मवादी' तथा 'पापभिक्षु' कह कर बहिष्कृत किया। महासंघिकों ने भी इसका बदला चुकाना शुरू किया। क्रमशः महासंघिकों में से ही महायान का विकास हुआ। महायान के प्रबल पुरस्कर्त्ता नागार्जुन ने अपने 'दशभूमि विभाषा' शास्त्र में लिखा है कि जो श्रावकयान और प्रत्येकयान में अर्थात् स्थविरवाद में प्रवेश करता है वह सारे लाभ को नष्ट कर देता है फिर कभी बोधिसत्त्व हो नहीं पाता। नागार्जुन का कहना है कि

नरक में जाना भयप्रद नहीं है पर हीनयान में प्रवेश करना अवश्य भयप्रद है। नागार्जुन के अनुगामी स्थिरमति (ई० सन् २००–३०० के बीच) ने अपने 'महायानावतारक शास्त्र' में लिखा है कि जो महायान की निन्दा करता है वह पापभागी व नरकगामी होता है।

वसुबन्धु ने (चौथी शताब्दी) अपने 'बोधि–चित्तोत्पादन–शास्त्र' में लिखा है कि जो महायान के तत्त्व में दोष देखता है वह चार में से एक महान् अपराध–पाप करता है और जो महायान के ऊपर श्रद्धा रखता है वह चारों विघ्नों को पार करता है। ऊपर जो बौद्ध हीनयान-महायान जैसे फिरकों के बीच हुई मानसिक-कटुता का उल्लेख हमने किया है वह जैन फिरकों के बीच हुई वैसी ही मानसिक कटुता के साथ तुलनीय है। जब समय, स्थान और वातावरण की समानता का ऐतिहासक दृष्टि से विचार करते हैं तब जान पड़ता है कि धर्म विषयक मानसिक कटुता एक चेपी रोग की तरह फैली हुई थी।

१—चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पाटलिपुत्र में हुई वाचना के समय जैन संघ में पूर्ण ऐकमत्य का अभाव, बौद्ध वैशाली संगीति की याद दिलाता है।

२—ई० सन् दूसरी शताब्दी के अंत में श्वेताम्बर–दिगम्बर फिरकों का पारस्परिक अन्तर इतना हो गया कि एक ने दूसरे को 'निह्नव' तो दूसरे ने पहले को 'जैनाभास' तक कह डाला। यह घटना हमें स्थविरवादी और महासंघिकों के बीच होने वाली परस्पर भर्त्सना की याद दिलाती है जिसमें एक ने दूसरे को अधर्मवादी तथा दूसरे ने पहले को हीनयानी कहा।

३—हमने पहले (पृ० ६१ में) जिस श्रुतावर्णवाद–दोष के लाञ्छन का निर्देश किया है वह हमें ऊपर सूचित स्थिरमति और वसुबन्धु आदि के द्वारा हीनयानियों के ऊपर किये गए तीव्र प्रहारों की याद दिलाता है।

विशेष विवरण के लिए देखिए—

A Historical study of the terms Hinayana and Mahayana Buddhism: By Prof. Ryukan Kimura, Published by Calcutta University

(२)

अचेलत्व-सचेलत्व

बौद्ध-पिटकों में जगह-जगह किसी न किसी प्रसंग में 'निगंठो नातपुत्तो'[1] जैसे शब्द आते हैं । तथा 'निगंठा एकसाटका'[2] जैसे शब्द भी आते हैं। जैन आगमों को जानने वालों के लिए उक्त शब्दों का अर्थ किसी भी तरह कठिन नहीं है। भ० महावीर ही सूत्रकृतांग[3] जैसे प्राचीन आगमों में 'नायपुत्त' रूप से निर्दिष्ट हैं । इसी तरह आचारांग के अति प्राचीन प्रथम श्रुतस्कन्ध में अचेलक और एक वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ-कल्प की भी बात आती है[4] । खुद महावीर के जीवन की चर्चा करने वाले आचारांग के नवम अध्ययन में भी महावीर के गृहाभिनिष्क्रमण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्होंने शुरू में एक वस्त्र धारण किया था पर अमुक समय के बाद उसको उन्होंने छोड़ दिया और वे अचेलक बने ।[5] बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णित 'एक शाटक निर्ग्रन्थ' पार्श्वनाथ या महावीर की परंपरा के ही हो सकते हैं, दूसरे कोई नहीं। क्योंकि आज की तरह उस युग में तथा उससे भी पुराने युग में निर्ग्रन्थ परंपरा के अलावा भी दूसरी अवधूत आदि अनेक ऐसी परंपराएँ थीं, जिनमें नग्न और सवसन त्यागी होते थे। परन्तु जब एक शाटक के साथ 'निगंठ' विशेषण आता है तब निःसंदेह रूप से बौद्ध ग्रन्थ निर्ग्रन्थ परंपरा के एक शाटक का ही निर्देश करते हैं ऐसा मानना चाहिए। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि निर्ग्रन्थ-परंपरा में अचेलत्व

---

१. मज्झिम० सुत्त ५६
२. अंगुत्तर Vol. 3. P. 383
३. सूत्रकृतांग १. २. ३. २२ ।
४. आचारांग-विमोहाध्ययन
५. आचारांग अ० ६

और सचेलत्व ये दोनों महावीर के जीवनकाल में ही विद्यमान थे या उनसे भी पूर्वकाल में प्रचलित पार्श्वापत्यिक परंपरा में भी थे ? महावीर ने पार्श्वापत्यिक परंपरा में ही दीक्षा ली थी और शुरू में एक वस्त्र धारण किया था। इससे यह तो जान पड़ता है कि पार्श्वापत्यिक परंपरा में सचेलत्व चला आता था। पर हमें जानना तो यह है कि अचेलत्व भ० महावीर ने ही निर्ग्रन्थ-परंपरा में पहले पहल दाखिल किया या पूर्ववर्ती पार्श्वापत्यिक-परंपरा में भी था, जिसको कि महावीर ने क्रमशः स्वीकार किया। आचारांग, उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन ग्रन्थों में भ० महावीर की कुछ ऐसी विशेषताएँ बतलाई हैं जो पूर्ववर्ती पार्श्वापत्यिक परंपरा में न थीं, उनको भ० महावीर ने ही शुरू किया। भ० महावीर की जीवनी में तो इतना ही कहा गया है कि वे स्वीकृत वस्त्र का त्याग करके सर्वथा अचेल बने। पर उत्तराध्ययन सूत्र में केशि-गौतम-संवाद में पार्श्वापत्यिक-परंपरा के प्रतिनिधि केशी के द्वारा महावीर के मुख्य शिष्य गौतम के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित कराया गया है[1] कि भ० महावीर ने तो अचेलक धर्म कहा है और पार्श्वनाथ ने सचेल धर्म कहा है। जब कि दोनों का उद्देश्य एक ही है तब दोनों जिनों के उपदेश में अन्तर क्यों? इस प्रश्न से स्पष्ट है कि प्रश्न-कर्त्ता केशी और उत्तरदाता गौतम दोनों इस बात में एकमत थे कि निर्ग्रन्थ-परंपरा में अचेल धर्म भ० महावीर ने ही चलाया। जब ऐसा है तब इतिहास भी यही कहता है कि भ० महावीर के पहले ऐतिहासिक युग में निर्ग्रन्थ-परंपरा का केवल सचेल स्वरूप था।

भ० महावीर ने अचेलता दाखिल की तो उनके बाह्य आध्यात्मिक व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर अनेक पार्श्वापत्यिक और नए निर्ग्रन्थ अचेलक भी बने। तो भी पार्श्वापत्यिक-परंपरा में एक वर्ग ऐसा भी था जो महावीर के शासन में आना तो चाहता था पर उसे सर्वथा अचेलत्व अपनी शक्ति के बाहर जँचता था। उस वर्ग की शक्ति, अशक्ति और प्रामाणिकता का विचार करके भ० महावीर ने अचेलत्व का आदर्श रखते हुए भी सचेलत्व का मर्यादित विधान किया और अपने संघ को पार्श्वापत्यिक परंपरा के साथ जोड़ने का रास्ता खोल दिया। इसी मर्यादा में भगवान् ने तीन से दो और दो से एक वस्त्र रखने को भी कहा है।[2] एक वस्त्र रखनेवाले के लिए आचारांग में [3] एक शाटक ही

---

१. उत्त० २३ १३.

२. देखो पृ० ८८. टि० ४.

३. आचारांग ७. ४. २०६

शब्द है जैसा बौद्ध पिटकों में[1] भी है। इस तरह बौद्ध पिटकों के उल्लेखों और जैन आगमों के वर्णनों का मिलान करते हैं तो यह मानना ही पड़ता है कि पिटक और आगमों का वर्णन सचमुच ऐतिहासिक है। यद्यपि भ० महावीर के बाद उत्तरोत्तर सचेलता की ओर निर्ग्रन्थों की प्रवृत्ति बढ़ती गई है तो भी उसमें अचेलत्व रहा है और उसी की प्रतिष्ठा मुख्य रही है। इतनी ऐतिहासिक चर्चा से हम निम्नलिखित नतीजे पर निर्विवाद रूप से पहुँचते हैं—

१—भ० महावीर के पहले इतिहासयुग में निर्ग्रन्थ-परंपरा सचेल ही थी।

२—भ० महावीर ने अपने जीवन के द्वारा ही निर्ग्रन्थ-परंपरा में अचेलत्व दाखिल किया। और वही निर्ग्रन्थों का आदर्श स्वरूप माना जाने लगा तो भी पार्श्वापत्यिक-परंपरा के निर्ग्रन्थों को अपनी नई परंपरा में मिलाने की दृष्टि से निर्ग्रन्थों के मर्यादित सचेलत्व को भी स्थान दिया गया, जिससे भ० महावीर के समय में निर्ग्रन्थ-परंपरा के सचेल और अचेल दोनों रूप स्थिर हुए और सचेल में भी एकशाटक ही उत्कृष्ट आचार माना गया।

३—भ० महावीर के समय में या कुछ समय बाद सचेलत्व और अचेलत्व के पक्षपातियों में कुछ खींचातानी या प्राचीनता-अर्वाचीनता को लेकर वाद-विवाद होने लगा, तब भ० महावीर ने या उनके समकालीन शिष्यों ने समाधान किया कि अधिकार भेद से दोनों आचार ठीक हैं, यद्यपि प्राचीनता की दृष्टि से तो सचेलता ही मुख्य है, पर अचेलता नवीन होने पर भी गुणदृष्टि से मुख्य है।

सचेलता और अचेलता के बीच जो सामंजस्य हुआ था वह भी महावीर के बाद करीब दो सौ—ढाई सौ साल तक बराबर चलता रहा। आगे दोनों पक्षों के अभिनिवेश और खींचातानी के कारण निर्ग्रन्थ-परंपरा में ऐसी विकृतियाँ आईं कि जिनके कारण उत्तरकालीन निर्ग्रन्थ-वाङ्मय भी उस मुद्दे पर विकृत-सा हो गया है।

(३)

तप

बौद्ध-पिटकों में अनेक जगह 'निगंठ' के साथ 'तपस्सी', 'दीघ तपस्सी' ऐसे विशेषण आते हैं, इस तरह कई बौद्ध सुत्तों में राजगृही आदि जैसे स्थानों में तपस्या करते हुए निर्ग्रन्थों का वर्णन है, और खुद तथागत बुद्ध के द्वारा की गई

---

१. देखो पृ० ८८, टि० २

निर्ग्रन्थों की तपस्या की समालोचना भी आती है[1]। इसी तरह जहाँ बुद्ध ने अपनी पूर्व-जीवनी शिष्यों से कही वहाँ भी उन्होंने अपने साधना-काल में की गई कुछ ऐसी तपस्याओं का[2] वर्णन किया है जो एक मात्र निर्ग्रन्थ-परंपरा की ही कही जा सकती हैं और जो इस समय उपलब्ध जैन आगमों में वर्णन की गई निर्ग्रन्थ-तपस्याओं के साथ अक्षरशः मिलती हैं। अब हमें देखना यह है कि बौद्ध पिटकों में आनेवाला निर्ग्रन्थ-तपस्या का वर्णन कहाँ तक ऐतिहासिक है।

खुद ज्ञातपुत्र महावीर का जीवन ही केवल उग्र तपस्या का मूर्त्त स्वरूप है, जो आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में मिलता है। इसके सिवाय आगमों के सभी पुराने स्तरों में जहाँ कहीं किसी के प्रव्रज्या लेने का वर्णन आता है वहाँ शुरू में ही हम देखते हैं कि वह दीक्षित निर्ग्रन्थ तपःकर्म[3] का आचरण करता है। एक तरह से महावीर के साधुसंघ की सारी चर्या ही तपोमय मिलती है। अनुत्तरोववाई आदि आगमों में अनेक ऐसे मुनियों का वर्णन है जिन्होंने उत्कट तप से अपने देह को केवल पंजर बना दिया[4] है। इसके सिवाय आज तक की जैन-परंपरा का शास्त्र तथा साधु-गृहस्थों का आचार देखने से भी हम यही कह सकते हैं कि महावीर के शासन में तप की महिमा अधिक रही है और उनके उत्कट तप का असर संघ पर ऐसा पड़ा है कि जैनत्व तप का दूसरा पर्याय ही बन गया है। महावीर के विहार के स्थानों में अंग-मगध, काशी-कोशल स्थान मुख्य हैं। जिस राजगृही आदि स्थान में तपस्या करनेवाले निर्ग्रन्थों का निर्देश बौद्ध ग्रन्थों में आता है वह राजगृही आदि स्थान तो महावीर के साधना और उपदेश-समय के मुख्य धाम रहे हैं और उन स्थानों में महावीर का निर्ग्रन्थ-संघ प्रधान रूप से रहा है। इस तरह हम बौद्धपिटकों और आगमों के मिलान से नीचे लिखे परिणाम पर पहुँचते हैं—

१—खुद महावीर और उनका निर्ग्रन्थ-संघ तपोमय जीवन के ऊपर अधिक भार देते थे।

२—अङ्ग-मगध के राजगृही आदि और काशी-कोशल के श्रावस्ती आदि शहरों में तपस्या करनेवाले निर्ग्रन्थ बहुतायत से विचरते और पाए जाते थे।

---

१. मज्झिम सु० ५६ और १४।

२ देखो पृ० ५८, टि० १२

३. भगवती ६. ३३। २. १.। ६. ६।

४. भगवती २. १।

ऊपर के कथन से महावीर के समकालीन और उत्तरकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा की तपस्या-प्रधान वृत्ति में तो कोई संदेह रहता ही नहीं, पर अब विचारना यह है कि महावीर के पहले भी निर्ग्रन्थ-परंपरा तपस्या-प्रधान थी या नहीं?

इसका उत्तर हमें 'हाँ' में ही मिल जाता है। क्योंकि भ० महावीर ने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा में ही दीक्षा ली थी। और दीक्षा के प्रारम्भ से ही तप की ओर झुके थे। इससे पार्श्वापत्यिक-परंपरा का तप की ओर कैसा झुकाव था इसका हमें पता चल जाता है। भ० पार्श्वनाथ का जो जीवन जैन ग्रन्थों में वर्णित है उसको देखने से भी हम यही कह सकते हैं कि पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ-परंपरा तपश्चर्या-प्रधान रही। उस परंपरा में भ० महावीर ने शुद्धि या विकास का तत्त्व अपने जीवन के द्वारा भले ही दाखिल किया हो पर उन्होंने पहले से चली आने वाली पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा में तपोमार्ग का नया प्रवेश तो नहीं किया। इसका सबूत हमें दूसरी तरह से भी मिल जाता है। जहाँ बुद्ध ने अपनी पूर्व-जीवनी का वर्णन करते हुए अनेकविध तपस्याओं की निःसारता[1] अपने शिष्यों के सामने कही है वहाँ निर्ग्रन्थ तपस्या का भी निर्देश किया है। बुद्ध ने ज्ञातपुत्र महावीर के पहले ही जन्म लिया था और गृहत्याग करके तपस्वी-मार्ग स्वीकार किया था। उस समय में प्रचलित अन्यान्य पंथों की तरह बुद्ध ने निर्ग्रन्थ पंथ को भी थोड़े समय के लिए स्वीकार किया था और अपने समय में प्रचलित निर्ग्रन्थ-तपस्या का आचरण भी किया था। इसीलिए जब बुद्ध अपनी पूर्वाचरित तपस्याओं का वर्णन करते हैं, तब उसमें हूबहू निर्ग्रन्थ-तपस्याओं का स्वरूप भी आता है जो अभी जैन ग्रन्थों और जैन-परंपरा के सिवाय अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। महावीर के पहले जिस निर्ग्रन्थ-तपस्या का बुद्ध ने अनुष्ठान किया वह तपस्या पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा के सिवाय अन्य किसी निर्ग्रन्थ-परंपरा की सम्भव नहीं है। क्योंकि महावीर तो अभी मौजूद ही नहीं थे और बुद्ध के जन्म-स्थान कपिलवस्तु से लेकर उनके साधनास्थल राजगृही, गया, काशी आदि में पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा का निर्विवाद अस्तित्व और प्राधान्य था। जहाँ बुद्ध ने सर्व प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन किया वह सारनाथ भी काशी का ही एक भाग है, और वह काशी पार्श्वनाथ की जन्मभूमि तथा तपस्याभूमि रही है। अपनी साधना के समय जो बुद्ध के साथ पाँच दूसरे भिक्षु थे वे बुद्ध को छोड़कर सारनाथ-इसिपत्तन में ही आकर अपना तप करते थे। आश्चर्य नहीं कि वे पाँच भिक्षु निर्ग्रन्थ-परपरा के ही अनुगामी हों। कुछ भी हो, पर बुद्ध ने निर्ग्रन्थ तपस्या का,

---

१. देखो पृ० ५८, टि० १२

भले ही थोड़े समय के लिए, आचरण किया था इसमें कोई संदेह ही नहीं है। और वह तपस्या पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा की ही हो सकती है। इससे हम यह मान सकते हैं कि ज्ञातपुत्र महावीर के पहले भी निर्ग्रन्थ-परंपरा का स्वरूप तपस्या-प्रधान ही था।

ऊपर की चर्चा से निर्ग्रन्थ-परंपरा की तपस्या संबंधी ऐतिहासिक स्थिति यह फलित होती है कि कम से कम पार्श्वनाथ से लेकर निर्ग्रन्थ-परंपरा तपःप्रधान रही है और उसके तप के झुकाव को महावीर ने और भी वेग दिया है। यहाँ हमारे सामने ऐतिहासिक दृष्टि से दो प्रश्न हैं। एक तो यह कि बुद्ध ने बार-बार निर्ग्रन्थ-तपस्याओं का जो प्रतिवाद या खंडन किया है वह कहाँ तक सही है और उसके खंडन का आधार क्या है? और दूसरा यह है कि महावीर ने पूर्व प्रचलित निर्ग्रन्थ-तपस्या में कोई विशेषता लाने का प्रयत्न किया है या नहीं और किया है तो क्या?

१—निर्ग्रन्थ-तपस्या के खंडन करने के पीछे बुद्ध की दृष्टि मुख्य यही रही है कि तप यह कायक्लेश है, देहदमन मात्र है। उसके द्वारा दुःखसहन का तो अभ्यास बढ़ता है लेकिन उससे कोई आध्यात्मिक सुख या चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं[१] होती। बुद्ध की उस दृष्टि का हम निर्ग्रन्थ दृष्टि के साथ मिलान करें तो कहना होगा कि निर्ग्रन्थ-परंपरा की दृष्टि और बुद्ध की दृष्टि में तात्त्विक अंतर कोई नहीं है। क्योंकि खुद महावीर और उनके उपदेश को माननेवाली सारी निर्ग्रन्थ-परंपरा का वाङ्मय दोनों एक स्वर से यही कहते हैं[२] कि कितना ही देहदमन या काय-क्लेश उग्र क्यों न हो पर यदि उसका उपयोग आध्यात्मिक शुद्धि और चित्तक्लेश के निवारण में नहीं होता तो वह देहदमन या कायक्लेश मिथ्या है। इसका मतलब तो यही हुआ कि निर्ग्रन्थ-परंपरा भी देहदमन या कायक्लेश को तभी तक सार्थक मानती है जब तक उसका संबन्ध आध्यात्मिक शुद्धि के साथ हो। तब बुद्ध ने प्रतिवाद क्यों किया? यह प्रश्न सहज ही होता है। इसका खुलासा बुद्ध के जीवन के झुकाव से तथा उनके उपदेशों से मिलता है। बुद्ध की प्रकृति विशेष परिवर्तनशील और विशेष तर्कशील रही है। उनकी प्रकृति को जब उग्र देहदमन से संतोष नहीं हुआ तब उन्होंने उसे एक अन्त कह कर छोड़ दिया और ध्यानमार्ग, नैतिक जीवन तथा प्रज्ञा पर ही मुख्य भार दिया। उनको इसी के

---

१. देखो पृ० ५८, टि० १२

२. दशवै० ६. ४–४; भग० ३–१

द्वारा आध्यात्मिक सुख प्राप्त हुआ और उसी तत्त्व पर अपना नया संघ स्थापित किया। नए संघ को स्थापित करनेवाले के लिए यह अनिवार्य रूप से जरूरी हो जाता है कि वह अपने आचार-विचार संबन्धी नए झुकाव को अधिक से अधिक लोकग्राह्य बनाने के लिए प्रयत्न करे और पूर्वकालीन तथा समकालीन अन्य सम्प्रदायों के मन्तव्यों की उग्र आलोचना करे। ऐसा किए बिना कोई अपने नए संघ में अनुयायियों को न तो एकत्र कर सकता है और न एकत्र हुए अनुयायियों को स्थिर रख सकता है। बुद्ध के नए संघ की प्रतिस्पर्द्धी अनेक परंपराएँ मौजूद थीं जिनमें निर्ग्रन्थ-परंपरा का प्राधान्य जैसा-तैसा न था। सामान्य जनता स्थूल-दर्शी होने के कारण बाह्य उग्र तप और देहदमन से सरलता से तपस्वियों की ओर आकृष्ट होती है, यह अनुभव सनातन है। एक तो, पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा के अनुयायियों को तपस्या-संस्कार जन्मसिद्ध था और दूसरे, महावीर के तथा उनके निर्ग्रन्थ-संघ के उग्र तपश्चरण के द्वारा साधारण जनता अनायास ही निर्ग्रन्थों के प्रति झुकती ही थी और तपोनुष्ठान के प्रति बुद्ध का शिथिल रूख देखकर उनके सामने प्रश्न कर बैठती थी कि आप तप को क्यों नहीं मानते[1] जब कि सब श्रमण तप पर भार देते हैं? तब बुद्ध को अपने पक्ष की सफाई भी करनी थी और साधारण जनता तथा अधिकारी एवं राजा-महाराजाओं को अपने मंतव्यों की ओर खींचना भी था। इसलिए उनके लिए यह अनिवार्य हो जाता था कि वह तप की उग्र समालोचना करें। उन्होंने किया भी ऐसा ही। वे तप की समालोचना में सफल तभी हो सकते थे जब वे यह बतलाएँ कि तप केवल कष्ट मात्र है। उस समय अनेक तपस्वी-मार्ग ऐसे भी थे जो केवल बाह्य विविध क्लेशों में ही तप की इतिश्री समझने थे। उन बाह्य तपोमार्गों की निःसारता का जहाँ तक संबन्ध है वहाँ तक तो बुद्ध का तपस्या का खंडन यथार्थ है, पर जब आध्यात्मिक शुद्धि के साथ संबन्ध रखनेवाली तपस्याओं के प्रतिवाद का सवाल आता है तब वह प्रतिवाद न्यायपूत नहीं मालूम होता। फिर भी बुद्ध ने निर्ग्रन्थ-तपस्याओं का खुल्लमखुल्ला अनेक बार विरोध किया है तो इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि बुद्ध ने निर्ग्रन्थ-परम्परा के दृष्टिकोण को पूर्णतया लक्ष्य में न लेकर केवल उनके बाह्य तप की ओर ध्यान दिया और दूसरी परंपराओं के खंडन के साथ निर्ग्रन्थ-परम्परा के तप को भी घसीटा। निर्ग्रन्थ-परम्परा का तात्त्विक दृष्टिकोण कुछ भी क्यों न रहा हो पर मनुष्य-स्वभाव को देखते हुए तथा जैन ग्रन्थों में आनेवाले[2]

---

१ अंगुत्तर Vol. I. P. 220

२ उत्तरा० अ० १७

कतिपय वर्णनों के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि सभी निर्ग्रन्थ-तपस्वी ऐसे नहीं थे जो अपने तप या देहदमन को केवल आध्यात्मिक शुद्धि में ही चरितार्थ करते हों। ऐसी स्थिति में यदि बुद्ध ने तथा उनके शिष्यों ने निर्ग्रन्थ-तपस्या का प्रतिवाद किया तो वह अंशतः सत्य भी कहा जा सकता है।

२—दूसरे प्रश्न का जवाब हमें जैन आगमों से ही मिल जाता है। बुद्ध की तरह महावीर भी केवल देहदमन को जीवन का लक्ष्य समझते न थे। क्योंकि ऐसे अनेक-विध घोर देहदमन करनेवालों को भ० महावीर ने तापस या मिथ्या तप करनेवाला कहा है[1]। तपस्या के विषय में भी पार्श्वनाथ की दृष्टि मात्र देहदमन या कायक्लेश प्रधान न होकर आध्यात्मिक शुद्धिलक्षी थी। पर इसमें तो संदेह ही नहीं है कि निर्ग्रन्थ-परम्परा भी काल के प्रवाह में पड़कर और मानव-स्वभाव की निर्बलता के अधीन होकर आज की महावीर की परंपरा की तरह मुख्यतया देहदमन की ओर ही झुक गई थी और आध्यात्मिक लक्ष्य एक ओर रह गया था। भ० महावीर ने किया सो तो इतना ही है कि उस परंपरागत स्थूल तप का संबंध आध्यात्मिक शुद्धि के साथ अनिवार्य रूप से जोड़ दिया और कह दिया कि सब प्रकार के कायक्लेश, उपवास आदि शरीरेन्द्रियदमन तप हैं पर वे बाह्य तप हैं, आंतरिक तप नहीं[2]। आन्तरिक व आध्यात्मिक तप तो अन्य ही हैं, जो आत्म-शुद्धि से अनिवार्य संबन्ध रखते हैं और ध्यान-ज्ञान आदि रूप हैं। महावीर ने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा में चले आनेवाले बाह्य तप को स्वीकार तो किया पर उसे ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया बल्कि कुछ अंश में अपने जीवन के द्वारा उसमें उग्रता ला करके भी उस देहदमन का संबन्ध आभ्यन्तर तप के साथ जोड़ा और स्पष्ट रूप से कह दिया कि तप की पूर्णता तो आध्यात्मिक शुद्धि की प्राप्ति से ही हो सकती है। खुद आचरण से अपने कथन को सिद्ध करके जहाँ एक ओर महावीर ने निर्ग्रन्थ-परंपरा के पूर्व प्रचलित शुष्क देहदमन में सुधार किया वहाँ दूसरी ओर अन्य श्रमण-परंपराओं में प्रचलित विविध देहदमनों को भी अपूर्ण तप और मिथ्या तप बतलाया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि तपोमार्ग में महावीर की देन खास है और वह यह कि केवल शरीर और इन्द्रियदमन में समा जानेवाले तप शब्द के अर्थ को आध्यात्मिक शुद्धि में उपयोगी ऐसे सभी उपायों तक विस्तृत किया। यही कारण है कि जैन आगमों में पद-पद पर आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के तपों का साथ-साथ निर्देश आता है।

---

१. भगवती ३. १। ११. ६।
२ उत्तरा० ३०

बुद्ध को तप की पूर्व परंपरा छोड़कर ध्यान-समाधि की परंपरा पर ही अधिक भार देना था जब कि महावीर को तप की पूर्व परंपरा बिना छोड़े भी उसके साथ आध्यात्मिक शुद्धि का संबन्ध जोड़कर ही ध्यान-समाधि के मार्ग पर भार देना था। यही दोनों की प्रवृत्ति और प्ररूपणा का मुख्य अन्तर था। महावीर के और उनके शिष्यों के तपस्वी-जीवन का जो समकालीन जनता के ऊपर असर पड़ता था उससे बाधित होकर के बुद्ध को अपने भिक्षुसङ्घ में अनेक कड़े नियम दाखिल करने पड़े जो बौद्ध विनय-पिटक को देखने से मालूम हो जाता है[1]। तो भी बुद्ध ने कभी बाह्य-तप का पक्षपात नहीं किया बल्कि जहाँ प्रसंग आया वहाँ उसका परिहास ही किया। खुद बुद्ध की इस शैली को उत्तरकालीन सभी बौद्ध लेखकों ने अपनाया है फलतः आज हम यह देखते हैं कि बुद्ध का देहदमन-विरोध बौद्ध संघ में सुकुमारता में परिणत हो गया है, जब कि महावीर का बाह्य तपोजीवन जैन-परंपरा में केवल देहदमन में परिणत हो गया है जो कि दोनों सामुदायिक प्रकृति के स्वाभाविक दोष हैं, न कि मूलपुरुषों के आदर्श के दोष।

(४)

आचार-विचार

तथागत बुद्ध ने अपने पूर्व-जीवन का वर्णन करते हुए अनेकविध आचारों का वर्णन किया है, जिनको कि उन्होंने खुद पाला था। उन आचारों में अनेक आचार ऐसे हैं जो केवल निर्ग्रन्थ-परंपरा में ही प्रसिद्ध हैं और इस समय भी वे आचार आचारांग, दशवैकालिक आदि प्राचीन सूत्रों में निर्ग्रन्थ के आचार रूप से वर्णित हैं। वे आचार संक्षेप में ये हैं—नग्नत्व—वस्त्रधारण न करना, 'आइए भदन्त!' 'खड़े रहिये भदन्त!' ऐसा कोई कहे तो उसे सुना-अनसुना कर देना, सामने लाकर दी हुई भिक्षा का, अपने उद्देश्य से बनाई हुई भिक्षा का, और दिये गए निमन्त्रण का अस्वीकार; जिस बर्तन में रसोई पकी हो उसमें से सीधी दी गई भिक्षा का तथा खल आदि में से दी गई भिक्षा का अस्वीकार; जीमते हुए दो में से उठकर एक के द्वारा दी जाने वाली भिक्षा का, गर्भिणी स्त्री के द्वारा दी हुई भिक्षा का और पुरुषों के साथ एकान्त में स्थित ऐसी स्त्री के द्वारा दी जानेवाली भिक्षा का, बच्चों को दूध पिलाती हुई स्त्री के द्वारा दी जानेवाली भिक्षा का अस्वीकार; उत्सव, मेले और यात्रादि में जहाँ सामूहिक भोजन बना हो वहाँ से भिक्षा का

---

१. उदाहरणार्थ—वनस्पति आदि के जन्तुओं की हिंसा से बचने के लिए चतुर्मास का नियम—बौद्ध संघनो परिचय पृ० २२।

अस्वीकार; जहाँ बीच में कुत्ता जैसा प्राणी खड़ा हो, मक्खियाँ भिनभिनाती हों वहाँ से भिक्षा का अस्वीकार; मत्स्य माँस [1]शराब आदि का अस्वीकार; कभी एक घर से एक कोर, कभी दो घर से दो कोर आदि की भिक्षा लेना, तो कभी एक उपवास, कभी दो उपवास आदि करते हुए पन्द्रह उपवास तक भी करना; दाढ़ी-मूछों का लुंचन करना, खड़े होकर और उक्कडु आसन पर बैठकर तप करना; स्नान का सर्वथा त्याग करके शरीर पर मल धारण करना, इतनी सावधानी से जाना-आना कि जलबिंदुगत या अन्य किसी सूक्ष्म जन्तु का घात न हो, सख्त शीत में खुले रहना अज्ञ और अशिष्ट लोगों के थूके जाने, धूल फेंकने, कान में सलाई घुसड़ने आदि पर रुष्ट न होना[2]।

बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित उक्त आचारों के साथ जैन आगमों में वर्णन किये गए निर्ग्रन्थ-आचारों का मिलान करते हैं तो इसमें संदेह नहीं रहता कि बुद्ध की समकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा के वे ही आचार थे जो आज भी अक्षरशः स्थूल रूप में जैन-परंपरा में देखे जाते हैं। तब क्या आश्चर्य है कि महावीर की पूर्वकालीन पार्श्वापत्यिक-परंपरा भी उसी आचार का पालन करती हो। आचार का कलेवर भले ही निष्प्राण हो जाए पर उसे धार्मिक जीवन में से च्युत करना और उसके स्थान में नई आचारप्रणाली स्थापित करना यह काम सर्वथा विकट है। ऐसी स्थिति में भ० महावीर ने जो बाह्याचार निर्ग्रन्थ-परंपरा के लिये अपनाया वह पूर्वकालीन निर्ग्रन्थ परंपरा का ही था, ऐसा मानें तो कोई अत्युक्ति न होगी; अतएव सिद्ध होता है कि कम से कम पार्श्वनाथ से लेकर सारी निर्ग्रन्थ-परंपरा के आचार एक से ही चले आए हैं।

(५)

चतुर्याम

बौद्ध पिटकान्तर्गत 'दीघनिकाय' और 'संयुत्त निकाय' में निर्ग्रन्थों के महाव्रत की चर्चा आती है।[3] दीघनिकाय' के 'सामञ्ञफलसुत्त' में श्रेणिक—बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु—कुणिक ने ज्ञातपुत्र महावीर के साथ हुई अपनी मुलाकात का वर्णन बुद्ध के समक्ष किया है, जिसमें ज्ञातपुत्र महावीर के मुख से

१. सूत्रकृताङ्ग २-२-२३ में निर्ग्रन्थ भिक्षु का स्वरूप वर्णित है। उसमें उन्हें 'अमज्जमंसासिणो'—अर्थात् मद्य-माँस का सेवन न करने वाला—कहा है। निस्संदेह निर्ग्रन्थ का यह औत्सर्गिक स्वरूप है जो बुद्ध के उक्त कथन से तुलनीय है।

२. दीघ० महासीहनाद सुत्त० ८। दशवै० अ० ५.; आचा० २. १.

३. दीघ० सु० २। संयुत्तनिकाय Vol 1. p. 66

कहलाया है कि निर्ग्रन्थ चतुर्यामसंवर से संयत होता है, ऐसा ही निर्ग्रन्थ यतात्मा और स्थितात्मा होता है। इसी तरह संयुत्तनिकाय के 'देवदत्त संयुत्त' में निंक नामक व्यक्ति ज्ञातपुत्र महावीर को लक्ष्य में रख कर बुद्ध के सम्मुख कहता है कि वह ज्ञातपुत्र महावीर दयालु, कुशल और चतुर्यामयुक्त हैं। इन बौद्ध उल्लेखों के आधार से हम इतना जान सकते हैं कि खुद बुद्ध के समय में और इसके बाद भी (बौद्ध पिटकों ने अन्तिम स्वरूप प्राप्त किया तब तक भी) बौद्ध परंपरा महावीर को और महावीर के अन्य निर्ग्रन्थों को चतुर्यामयुक्त समझती रही। पाठक यह बात जान लें कि याम का मतलब महाव्रत है जो योगशास्त्र (२. ३०) के अनुसार यम भी कहलाता है। महावीर की निर्ग्रन्थ-परंपरा आज तक पाँच महाव्रतधारी रही है और पाँच महाव्रती रूप से ही शास्त्र में तथा व्यवहार में प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में बौद्ध-ग्रन्थों में महावीर और अन्य निर्ग्रन्थों का चतुर्महाव्रतधारी रूप से जो कथन है उसका क्या अर्थ है? यह प्रश्न अपने आप ही पैदा होता है।

इसका उत्तर हमें उपलब्ध जैन आगमों से मिल जाता है। उपलब्ध आगमों में भाग्यवश अनेक ऐसे प्राचीन स्तर सुरक्षित रह गए हैं जो केवल महावीर-समकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा की स्थिति पर ही नहीं बल्कि पूर्ववती पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा की स्थिति पर भी स्पष्ट प्रकाश डालते हैं। 'भगवती' और 'उत्तराध्ययन' जैसे आगमों में [1] वर्णन मिलता है कि पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ—जो चार महाव्रतयुक्त थे उनमें से अनेकों ने महावीर का शासन स्वीकार करके उनके द्वारा उपदिष्ट पाँच महाव्रतोंको धारण किया और पुरानी चतुर्महाव्रत की परंपराको बदल दिया। जब कि कुछ ऐसे भी पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ रहे जिन्होंने अपनी चतुर्महाव्रत की परंपरा को ही कायम रखा[2]। चार के स्थान में पाँच महाव्रतों की स्थापना महावीर ने क्यों की—और कब की यह भी ऐतिहासिक सवाल है। क्यों की—इस प्रश्न का जवाब तो जैन ग्रन्थ देते हैं, पर कब की—इसका जवाब वे नहीं देते। अहिंसा, सत्य, असत्य, अपरिग्रह इन चार यामों—महाव्रतों की प्रतिष्ठा भ० पार्श्वनाथ के द्वारा हुई थी पर निर्ग्रन्थ परंपरा में क्रमशः ऐसा शैथिल्य आ गया कि कुछ निर्ग्रन्थ अपरिग्रह का अर्थ संग्रह न करना इतना ही करके स्त्रियों का संग्रह या परिग्रह बिना किए भी उनके सम्पर्क से अपरिग्रह का भंग समझते नहीं थे। इस शिथिलता को दूर करने के लिए भ० महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अपरिग्रह से अलग स्थापित किया और चतुर्थ व्रत में शुद्धि लाने का

१. 'उत्थान' महावीरांक (स्था० जैन कॉन्फरेन्स, मुंबई) पृ० ४६।
२. वही

प्रयत्न किया। महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत की अपरिग्रह से पृथक् स्थापना अपने तीस वर्ष के लम्बे उपदेश काल में कब की यह तो कहा नहीं जा सकता पर उन्होंने यह स्थापना ऐसी बलपूर्वक की कि जिसके कारण अगली सारी निर्ग्रन्थ-परंपरा पंच महाव्रत की ही प्रतिष्ठा करने लगी, और जो इने-गिने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ महावीर के पंच महाव्रत-शासन से अलग रहे उनका आगे कोई अस्तित्व ही न रहा। अगर बौद्ध पिटकों में और जैन-आगमों में चार महाव्रत का निर्देश व वर्णन न आता तो आज यह पता भी न चलता कि पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा कभी चार महाव्रत वाली भी थी।

ऊपर की चर्चा से यह तो अपने आप विदित हो जाता है कि पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा में दीक्षा लेनेवाले ज्ञातपुत्र महावीर ने खुद भी शुरू में चार ही महाव्रत धारण किये थे, पर साम्प्रदायिक स्थिति देखकर उन्होंने उस विषय में कभी न कभी सुधार किया। इस सुधार के विरुद्ध पुरानी निर्ग्रन्थ-परंपरा में कैसी चर्चा या तर्क-वितर्क होते थे इसका आभास हमें उत्तराध्ययन के केशि-गौतम संवाद से मिल जाता है, जिसमें कहा गया है कि कुछ पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थों में ऐसा वितर्क होने लगा कि जब पार्श्वनाथ और महावीर का ध्येय एक मात्र मोक्ष ही है तब दोनों के महाव्रत विषयक उपदेशों में अन्तर क्यों?[1] इस उधेड़-बुन को केशी ने गौतम के सामने रखा और गौतम ने इसका खुलासा किया। केशी प्रसन्न हुए और महावीर के शासन को उन्होंने मान लिया। इतनी चर्चा से हम निम्नलिखित नतीजे पर सरलता से आ सकते हैं—

१ - महावीर के पहले, कम से कम पार्श्वनाथ से लेकर निर्ग्रन्थ-परंपरा में चार महाव्रतों की ही प्रथा थी, जिसको भ० महावीर ने कभी न कभी बदला और पाँच महाव्रत रूप में विकसित किया। वही विकसित रूप आज तक के सभी जैन फिरकों में निर्विवादरूप से मान्य है और चार महाव्रत की पुरानी प्रथा केवल ग्रन्थों में ही सुरक्षित है।

२—खुद बुद्ध और उनके समकालीन या उत्तरकालीन सभी बौद्ध भिक्षु निर्ग्रन्थ-परंपरा को एक मात्र चतुर्महाव्रतयुक्त ही समझते थे और महावीर के पंच-महाव्रतसंबन्धी आंतरिक सुधार से वे परिचित न थे। जो एक बार बुद्ध ने कहा और जो सामान्य जनता में प्रसिद्धि थी उसी को वे अपनी रचनाओं में दोहराते गए।

बुद्ध ने अपने संघ के लिए पाँच शील या व्रत मुख्य बतलाए हैं, जो संख्या की दृष्टि से तो निर्ग्रन्थ-परंपरा के यमों के साथ मिलते हैं पर दोनों में थोड़ा

---

१. उत्तरा० २३. ११–१३, २३–२७, इत्यादि।

अन्तर है। अन्तर यह है कि निर्ग्रन्थ-परंपरा में अपरिग्रह पंचम व्रत है जब कि बौद्ध परंपरा में मद्यादि का त्याग पाँचवाँ शील है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी होता है कि क्या खुद महावीर ने ब्रह्मचर्य रूप से नए व्रत की सृष्टि की या अन्य किसी परंपरा में प्रचलित उस व्रत को अपनी निर्ग्रन्थ-परंपरा में स्वतंत्र स्थान दिया? सांख्य-योग-परंपरा के पुराने से पुराने स्तरों में तथा स्मृति आदि ग्रन्थों में हम अहिंसा आदि पांच-यमों का ही वर्णन पाते हैं। इसलिए निर्णयपूर्वक तो कहा नहीं जा सकता कि पहले किसने पाँच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य को स्थान दिया?

यद्यपि बौद्ध ग्रन्थों में बार-बार चतुर्याम का निर्देश आता है पर मूल पिटकों में तथा उनकी अट्ठकथाओं में चतुर्याम का जो अर्थ किया गया है वह गलत तथा अस्पष्ट है।[1] ऐसा क्यों हुआ होगा? यह प्रश्न आए बिना नहीं रहता। निर्ग्रन्थ-परंपरा जैसी अपनी पड़ोसी समकालीन और अति प्रसिद्ध परंपरा के चार यमों के बारे में बौद्ध ग्रन्थकार इतने अनजान हों या अस्पष्ट हों यह देखकर शुरू-शुरू में आश्चर्य होता है पर हम जब साम्प्रदायिक स्थिति पर विचार करते हैं तब वह अचरज गायब हो जाता है। हर एक सम्प्रदाय ने दूसरे के प्रति पूरा न्याय नहीं किया है। यह भी सम्भव है कि मूल में बुद्ध तथा उनके समकालीन शिष्य चतुर्याम का पूरा और सच्चा अर्थ जानते हों। वह अर्थ सर्वत्र प्रसिद्ध भी था इसलिए उन्होंने उसको बतलाने की आवश्यकता समझी न हो पर पिटकों की ज्यों-ज्यों संकलना होती गई त्यों-त्यों चतुर्याम के अर्थ स्पष्ट करने की आवश्यकता मालूम हुई। किसी बौद्ध भिक्षु ने कल्पना से उसके अर्थ की पूर्ति की, वही आगे ज्यों की त्यों पिटकों में चली आई और किसी ने यह नहीं सोचा कि चतुर्याम का यह अर्थ निर्ग्रन्थ-परंपरा को सम्मत है या नहीं? बौद्धों के बारे में भी ऐसा विपर्यास जैनों के द्वारा हुआ कहीं-कहीं देखा जाता है।[2] किसी सम्प्रदाय के मन्तव्य का पूर्ण सच्चा स्वरूप तो उसके ग्रन्थों और उसकी परंपरा से जाना जा सकता है।

(६)

उपोसथ-पोषध

इस समय जैन परंपरा में पौषध-व्रत का आचरण प्रचलित है। इसका प्राचीन इतिहास जानने के पहले हमें इसका वर्तमान स्वरूप संक्षेप में जान लेना चाहिए। पौषधव्रत गृहस्थों का व्रत है। उसे स्त्री और पुरुष दोनों ग्रहण करते हैं। जो

---

१ दीघ० सु० २। दीघ० सुमंगला पृ० १६७

२. सूत्रकृतांग १ २ २ २४–२८

पौषधव्रत का ग्रहण करता है वह किसी एकान्त स्थान में या धर्म-स्थान में अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार एक, दो या तीन रोज आदि की समय मर्यादा बाँध करके दुन्यवी सब प्रवृत्तियों को छोड़कर मात्र धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करता है। वह चाहे तो दिन में एक बार भिक्षा के तौर पर अशन-पान लाकर खा-पी सकता है या सर्वथा उपवास भी कर सकता है। वह गृहस्थ-योग्य वेषभूषा का त्याग करके साधु-योग्य परिधान धारण करता है। संक्षेप में यों कहना चाहिए कि पौषधव्रत लेनेवाला उतने समय के लिए साधु-जीवन का उम्मेदवार बन जाता है।

गृहस्थों के अंगीकार करने योग्य बारह व्रतों में से पौषध यह एक व्रत है जो ग्यारहवाँ व्रत कहलाता है। आगम से लेकर अभी तक के समग्र जैनशास्त्र में पौषधव्रत का निरूपण अवश्य आता है। उसके आचरण व आसेवन की प्रथा भी बहुत प्रचलित है। कुछ भी हो हमें तो यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से पौषधव्रत के संबन्ध में निम्नलिखित प्रश्नों पर क्रमशः एक-एक करके विचार करना है—

(१) भ० महावीर की समकालीन और पूर्वकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा में पौषध-व्रत प्रचलित था या नहीं? और प्रचलित था तो उसका स्वरूप कैसा रहा?

(२) बौद्ध और दूसरी श्रमण परंपराओं में पौषध का स्थान क्या था? और वे पौषध के विषय में परस्पर क्या सोचते थे?

(३) पौषधव्रत की उत्पत्ति का मूल क्या है? और मूल में उसका बोधक शब्द कैसा था?

(१) उपासकदशा नामक अंगसूत्र जिसमें महावीर के दस मुख्य श्रावकों का जीवनवृत्त है उसमें आनन्द आदि सभी श्रावकों के द्वारा पौषधशाला में पौषध लिये जानेका वर्णन है इसी तरह भगवती-शतक १२, उद्देश्य १ में शंख श्रावक का जीवनवृत्त है। शंख को भ० महावीर का पक्का श्रावक बतलाया है और उसमें कहा है कि शंख ने पौषधशाला में अशन आदि छोड़कर ही पौषध लिया था जब कि शंख के दूसरे साथियों ने अशन सहित पौषध लिया था। इससे इतना तो स्पष्ट है कि पुराने समय में भी खान-पान सहित और खान-पान रहित पौषध लेने की प्रथा थी। उपर्युक्त वर्णन ठीक भ० महावीर के समय का है या बाद का इसका निर्णय करना सहज नहीं है। तो भी इसमें बौद्ध ग्रन्थों से ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि बुद्ध के समय में निर्ग्रन्थ-परंपरा में पौषध व्रत लेने की प्रथा थी और सो भी आज के जैसी और भगवती आदि में वर्णित शंख आदि के पौषध जैसी थी क्योंकि अंगुत्तर निकाय में[1] बुद्ध ने स्वयं

१ अंगुत्तरनिकाव Vol. I. P, 206

विशाखा नाम की अपनी परम उपासिका के सम्मुख तीन प्रकार के उपोसथ का वर्णन किया है—उपोसथ शब्द निर्ग्रन्थ-परंपरा के पौषध शब्द का पर्याय मात्र है—१. गोपालक-उपोसथ, २ निगंठ उपोसथ और ३ आर्य उपोसथ।

इनमें से जो दूसरा 'निगंठ उपोसथ' है वही निर्ग्रन्थ-परम्परा का पौषध है। यद्यपि बुद्ध ने तीन प्रकार के उपोसथ में से आर्य उपोसथ को ही सर्वोत्तम बतलाया है, जो उनको अपने संघ में अभिमत था, तो भी जब 'निगंठ उपोसथ' का परिहास किया है, उसकी त्रुटि बतलाई है तो इतने मात्र से हम यह वस्तुस्थिति जान सकते हैं कि बुद्ध के समय में निर्ग्रन्थ-परंपरा में भी पौषध—उपोषथ की प्रथा प्रचलित थी। 'अंगुत्तर निकाय' के उपोसथ वाले शब्द बुद्ध के मुँह से कहलाये गए हैं वे चाहे बुद्ध के शब्द न भी हों तब भी इतना तो कहा जा सकता है कि 'अंगुत्तर निकाय' की वर्तमान रचना के समय निर्ग्रन्थ उपोषथ अवश्य प्रचलित था और समाज में उसका खासा स्थान था। पिटक की वर्तमान रचना अशोक से अर्वाचीन नहीं है तब यह तो स्वयं सिद्ध है कि निर्ग्रन्थ-परंपरा का उपोषथ उतना पुराना तो अवश्य है। निर्ग्रन्थ-परम्परा के उपोपथ की प्रतिष्ठा धार्मिक जगत् में इतनी अवश्य जमी हुई थी कि जिसके कारण बौद्ध लेखकों को उसका प्रतिवाद करके अपनी परम्परा में भी उपोपथ का अस्तित्व है ऐसा बतलाना पड़ा। बौद्धों ने अपनी परंपरा में उपोपथ का मात्र अस्तित्व ही नहीं बतलाया है पर उन्होंने उसे 'आर्य उपोसथ' कह कर उत्कृष्ट रूप से भी प्रतिपादन किया है और साथ ही निर्ग्रन्थ-परंपरा के उपोषथों को त्रुटिपूर्ण भी बतलाया है। बौद्ध-परंपरा में उपोषथ व्रत का प्रवेश आकस्मिक नहीं है बल्कि उसका आधार पुराना है। महावीर-समकालीन और पूर्वकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा में उपोपथ या पौपध व्रत की बड़ी महिमा थी जिसे बुद्ध ने अपने ढंग से अपनी परंपरा में भी स्थान दिया और बतलाया कि दूसरे सम्प्रदायवाले जो उपोपथ करते हैं वह आर्य नहीं है पर मैं जो उपोषथ कहता हूँ वही आर्य है। इसलिए 'भगवती' और 'उपासकदशा' की पौषध विषयक हकीक़त को किसी तरह अर्वाचीन या पीछे की नहीं मान सकते।

(२) यद्यपि आजीवक-परंपरा में भी पौषध का स्थान होने की सम्भावना होती है तो भी उस परंपरा का साहित्य हमारे सामने वैसा नहीं है जैसा बौद्ध और निर्ग्रन्थ-परंपरा का साहित्य हमारे सामने है। इसलिए पौपध के अस्तित्व के बारे में बौद्ध और निर्ग्रन्थ-परम्परा के विषय में ही निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकता है। हम जिस 'अंगुत्तर निकाय' का ऊपर निर्देश कर आए हैं उसमें उपोषथ के संबन्ध में विस्तृत वर्णन है उसका संक्षिप्त सार यों है—

"श्रावस्ती नगरी में कभी विशाखा नाम की उपासिका उपोषथ लेकर बुद्ध के पास आई और एक ओर बैठ गई तब उस विशाखा को संबोधित करके बुद्ध कहते हैं कि "हे विशाखे ! पहला उपोषथ गोपालक कहलाता है। जैसे सायंकाल में ग्वाले गायों को चराकर उनके मालिकों को वापस सौंपते हैं तब कहते हैं कि आज अमुक जगह में गायें चरीं, अमुक जगह में पानी पिया और कल अमुक-अमुक स्थान में चरेंगी और पानी पिएँगी इत्यादि। वैसे ही जो लोग उपोषथ ले करके खान-पान की चर्चा करते हैं कि आज हमने अमुक खाया, अमुक पिया और कल अमुक चीज खायेंगे, अमुक पान करेंगे इत्यादि। ऐसा कहनेवालों का अर्थात् उपोषथ लेकर उस दिन की तथा अगले दिन की खान-पान विषयक चर्चा करने वालों का उपोषथ गोपालक उपोषथ कहलाता है।

"निर्ग्रन्थ श्रमण अपने-अपने श्रावकों को बुलाकर कहते हैं कि हर एक दिशा में इतने योजन से आगे जो प्राणी हैं उनका दंड—हिंसक व्यापार-छोड़ो तथा सब कपड़ों को त्याग कर कहो कि मैं किसी का नहीं हूँ और मेरा कोई नहीं है इत्यादि। देखो विशाखे ! वे निर्ग्रन्थ-श्रावक अमुक योजन के बाद न जाने का निश्चय करते हैं और उतने योजन के बाद के प्राणियों की हिंसा को त्यागते हैं तब साथ ही वे मर्यादित योजन के अन्दर आनेवाले प्राणियों की हिंसा का त्याग नहीं करते इससे वे प्राणातिपात से नहीं बचते हैं। अतएव हे विशाखे ! मैं उन निर्ग्रन्थ-श्रावकों के उपोषथ को प्राणातिपातयुक्त कहता हूँ। इसी तरह, जब वे श्रावक कहते हैं कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं किसी का नहीं हूँ तब वे यह तो निश्चय ही जानते हैं कि अमुक मेरे माता-पिता हैं, अमुक मेरी स्त्री है, अमुक पुत्र आदि परिवार है। वे जब मन में अपने माता-पिता आदि को जानते हैं और साथ ही कहते हैं कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं, तब स्पष्ट ही, हे विशाखे ! वे उपोषथ में मृषा बोलते हैं। इस तरह गोपालक और निर्ग्रन्थ दोनों उपोषथ कोई विशेष लाभदायक नहीं हैं। परन्तु मैं जिस उपोषथ को करने के लिए उपदेश करता हूँ वह आर्य उपोषथ है और अधिक लाभदायक होता है। क्योंकि मैं उपोषथ में बुद्ध, धर्म और संघ, शील आदि की भावना करने को कहता हूँ जिससे चित्त के क्लेश- क्षीण होते हैं। उपोपथ करनेवाला अपने सामने अर्हत् का आदर्श रख करके केवल एक रात, एक दिवस तक परिमित त्याग करता है और महान् आदर्शों की स्मृति रखता है। इस प्रयत्न से उसके मन के दोष अपने आप दूर हो जाते हैं। इसलिए वह आर्य उपोषथ है और महाफलदायी भी है।

'अंगुत्तर निकाय' के उपर्युक्त सार से हम इतना मतलब तो निकाल ही

सकते हैं कि उसमें बुद्ध के मुख से बौद्ध परंपरा में प्रचलित उपोषथ के स्वरूप की तो प्रशंसा कराई गई है और बाकी के उपोषथों की निन्दा कराई गई है। यहाँ हमें ऐतिहासिक दृष्टि से देखना मात्र इतना ही है कि बुद्ध ने जिस गोपालक उपोषथ और निर्ग्रन्थ उपोषथ का परिहास किया है वह उपोषथ किस-किस परंपरा के थे ? निर्ग्रन्थ उपोषथ रूप से तो निःसंदेह निर्ग्रन्थ-परंपरा का ही उपोषथ लिया गया है पर गोपालक उपोषथ रूप से किस परम्परा का उपोषथ लिया है ? यही प्रश्न है। इसका उत्तर जैन-परंपरा में प्रचलित पौषध-विधि और पौषध के प्रकारों को जानने से भलि-भाँति मिल जाता है। जैन श्रावक पौषध के दिन भोजन करते भी हैं इसी को लक्ष्य में रखकर बुद्ध ने उस साशन पौषध को गोपालक उपोषथ कहकर उसका परिहास किया है। जैन श्रावक अशनत्याग पूर्वक भी पौषध करते हैं और मर्यादित समय के लिए वस्त्र-अलंकार, कुटुम्ब-संबन्ध आदि का त्याग करते हैं तथा अमुक हद से आगे न जाने का संकल्प भी करते हैं इस बात को लक्ष्य में रखकर बुद्ध ने उसे निर्ग्रन्थ उपोषथ कहकर उसका मखौल किया है। कुछ भी हो पर बौद्ध और जैन ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से एक बात तो निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि पौषध व उपोषथ की प्रथा जैसी निर्ग्रन्थ-परंपरा में थी वैसी बुद्ध के समय में भी बौद्ध-परम्परा में थी और यह प्रथा दोनों परम्परा में आज तक चली आती है।

भगवती शतक ८, उद्देश ५ में गौतम ने महावीर से प्रश्न किया है कि गोशालक के शिष्य आजीवकों ने कुछ स्थविरों (जैन-भिक्षुओं) से पूछा कि उपाश्रय में सामयिक लेकर बैठे हुए श्रावक जब अपने वस्त्रादिका त्याग करते हैं और स्त्री का भी त्याग करते हैं तब उनके वस्त्राभरण आदिको कोई उठा ले जाए और उनकी स्त्री से कोई संसर्ग करे फिर सामायिक पूरा होने के बाद वे श्रावक अगर अपने कपड़े-अलंकार आदि को खोजते हैं तो क्या अपनी ही वस्तु खोजते हैं कि औरों की ? इसी तरह जिसने उस सामायिक वाले श्रावकों की त्यक्त स्त्री का संग किया उसने उन सामायिक वाले श्रावकों की ही स्त्री का संग किया या अन्य की स्त्री का ?

इस प्रश्न का महावीर ने उत्तर यह दिया है कि सामायिक का समय पूरा होने के बाद चुराए वस्त्रादिको खोजनेवाले श्रावक अपने ही वस्त्र आदि खोजते हैं, दूसरे के नहीं। इसी तरह स्त्री संग करनेवाले ने भी उस सामायिकधारी श्रावक की ही स्त्री का संग किया है ऐसा मानना चाहिए, नहीं कि अन्य की स्त्री का। क्योंकि श्रावक ने मर्यादित समय के लिए वस्त्र-आभूषण-आदि का मर्यादित त्याग किया था; मन से बिलकुल ममत्व छोड़ा न था। इस गौतम-महावीर के

प्रश्नोत्तर से इतना तो स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ-श्रावक के सामायिक व्रत के विषय में (जो पौषध व्रत का ही प्राथमिक रूप है) जो आजीवकों के द्वारा परिहासमय पूर्वपक्ष भग० श० ८, उ० ५ में देखा जाता है वही दूसरे रूप में ऊपर वर्णन किये गए अंगुत्तरनिकाय गत गोशालक और निर्ग्रन्थ उपोसथ में प्रतिबिंबित हुआ जान पड़ता है। यह भी हो सकता है कि गोशालक के शिष्यों की तरफ से भी निर्ग्रन्थ श्रावकों के सामायिकादि व्रत के प्रति आक्षेप होता रहा हो और उसका उत्तर भगवती में महावीर के द्वारा दिलाया गया हो। आज हमारे सामने गोशालक की आजीवक-परम्परा का साहित्य नहीं है पर वह एक श्रमण-परम्परा थी और अपने समय में प्रबल भी थी तथा इन परम्पराओं के आचार-विचारों में अनेक बातें बिलकुल समान थीं। यह सब देखते हुए ऐसा भी मानने का मन हो जाता है कि गोशालक की परम्परा में भी सामायिक-उपोषथादिक व्रत प्रचलित रहे होंगे। इसीलिए गोशालक ने या उसके अनुयायियों ने बुद्ध के अनुयायियों की तरह निर्ग्रन्थ-परम्परा के सामायिक-पौषध आदि व्रतों को निःसार बताने की दृष्टि से उनका मखौल किया होगा। कुछ भी हो पर हम देखते हैं कि महावीर के मुख से जो जवाब दिलाया गया है वह बिलकुल जैन मंतव्य की यथार्थता को प्रकट करता है। इतनी चर्चा से यह बात सरलता से समझ में आ जाती है कि श्रमण-परंपरा की प्रसिद्ध तीनों शाखाओं में पौषध या उपोषथ का स्थान अवश्य था और वे परंपराएँ आपस में एक दूसरे की प्रथा को कटाक्ष-दृष्टि से देखती थीं और अपनी प्रथा का श्रेष्ठत्व स्थापित करती थीं।

(३) संस्कृत शब्द 'उपवसथ' है, उसका पालि रूप उपोसथ है और प्राकृत रूप पोसह तथा पोसध है। उपोसथ और पोसह दोनों शब्दों का मूल तो उपवसथ शब्द ही है। एक में व का उ होने से उपोसथ रूप की निष्पत्ति हुई है, जब कि दूसरे में उ का लोप और थ का ह तथा ध होने से पोसह और पोसध शब्द बने हैं। आगे पालि के उपर से अर्ध संस्कृत जैसा उपोषथ शब्द व्यवहार में आया जब कि पोसह तथा पोसध शब्द संस्कृत के ढाँचे में ढलकर अनुक्रम से पौषध और प्रौषध रूप से व्यवहार में आये। संस्कृत प्रधान वैदिक-परम्परा में, यद्यपि उपवसथ शब्द शास्त्रों में प्रसिद्ध है तथापि पालि उपोसथ के उपर से बना हुआ उपोषथ शब्द भी वैदिक लोक-व्यवहार में व्यवहृत होता है। जैन-परम्परा जब तक मात्र प्राकृत का व्यवहार करती थी तब तक पोसह तथा पोसध शब्द ही व्यवहार में रहे पर संस्कृत में व्याख्याएँ लिखी जाने के समय से श्वेताम्बरीय व्याख्याकारों ने पोसह शब्द का मूल बिना जाने ही उसे पौषध रूप से संस्कृत

किया। जो दिगम्बर व्याख्याकार हुए उन्होंने पौषध ऐसा संस्कृत रूप न अपनाकर पोसध का प्रौषध ही संस्कृत रूप व्यवहृत किया। इस तरह हम देखते हैं कि एक ही उपवसथ शब्द जुदे-जुदे लौकिक प्रवाहों में पड़कर उपोषथ, पोसह, पोसध, पौषध, प्रौषध ऐसे अनेक रूपों को धारण करने लगा। वे सभी रूप एक ही कुटुम्ब के हैं।

पोसह आदि शब्दों का मात्र मूल ही एक नहीं है पर उसके विभिन्न अर्थों के पीछे रहा हुआ भाव भी एक ही है। इसी भाव में से पोसह या उपोसथ व्रत की उत्पत्ति हुई है। वैदिक-परंपरा यज्ञ-यागादिको मानने वाली अतएव देवों का यजन करने वाली है। ऐसे खास-खास यजनों में वह उपवास व्रत को भी स्थान देती है। अमावास्या और पौर्णमासी को वह 'उपवसथ' शब्द से व्यवहृत करती है। क्योंकि उन तिथियों में वह दर्शपौर्णमास नाम के यज्ञों का विधान करती है[1] तथा उसमें उपवास जैसे व्रत का भी विधान करती है। सम्भवतः इसलिए वैदिक परंपरा में अमावस्या और पौर्णमासी-उपवसथ कहलाती हैं। श्रमण-परंपरा वैदिक परंपरा की तरह यज्ञ-याग या देवयजन को नहीं मानती। जहाँ वैदिक परंपरा यज्ञ-यागादि व देवयजन द्वारा आध्यात्मिक प्रगति बतलाती है, वहाँ श्रमण-परंपरा आध्यात्मिक प्रगति के लिए एक मात्र आत्मशोधन तथा स्वरूप-चिन्तन का विधान करती है। इसके लिए श्रमण-परंपरा ने भी मास की वे ही तिथियाँ नियत कीं जो वैदिक-परंपरा में यज्ञ के लिए नियत थीं। इस तरह श्रमण-परंपरा ने अमावास्या और पौर्णमासी के दिन उपवास करने का विधान किया। जान पड़ता है कि पन्द्रह रोज के अन्तर को धार्मिक दृष्टि से लम्बा समझकर उसने बीच में अष्टमी को भी उपवास पूर्वक धर्मचिन्तन करने का विधान किया। इससे श्रमण-परंपरा में अष्टमी तथा पूर्णिमा और अष्टमी तथा अमावास्या में उपवास-पूर्वक आत्मचिन्तन करने की प्रथा चल पड़ी[2]। यही प्रथा बौद्ध-परंपरा में 'उपोसथ' और जैनधर्म परम्परा में 'पोसह' रूप से चली आती है। परम्परा कोई भी हो सभी अपनी-अपनी दृष्टि से आत्म-शान्ति और प्रगति के लिए ही उपवास-व्रत का विधान करती है। इस तरह हम दूर तक सोचते हैं तो जान पड़ता है कि पौषध व्रत की उत्पत्ति का मूल असल में आध्यात्मिक प्रगति मात्र है। उसी मूल से कहीं एक रूप में तो कहीं दूसरे रूप में उपवसथ ने स्थान प्राप्त किया है।

---

१. कात्यायन श्रौतसूत्र ४. १५. ३५.।

२. उपासकदशांग अ० १. 'पोसहोववासस्स' शब्द की टीका.

अब भी एक प्रश्न तो बाकी रह ही जाता है कि क्या वैदिक-परंपरा में से श्रमण-परंपरा में उपोसथ या पोसह व्रत आया या श्रमण परंपरा के ऊपर से वैदिक परंपरा ने उपवसथ का आयोजन किया ? इसका उत्तर देना किसी तरह सहज नहीं है। हजारों वर्षों के पहले किस प्रवाह ने किसके ऊपर असर किया इसे निश्चित रूप से जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। फिर भी हम इतना तो कह ही सकते हैं कि वैदिक-परंपरा का उपवसथ प्रेय का साधन माना गया है, जब कि श्रमण-परंपरा का उपोसथ या पोसह श्रेय का साधन माना गया है। विकास क्रम की दृष्टि से देखा जाए तो मनुष्य-जाति में प्रेय के बाद श्रेय की कल्पना आई है। यदि यह सच हो तो श्रमण-परंपरा के उपवास या पोसह की प्रथा कितनी ही प्राचीन क्यों न हो, पर उसके ऊपर वैदिक परंपरा के उपवसथ यज्ञ की छाप है।

(७)

भाषा-विचार

महावीर समकालीन और पूर्वकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा से संबन्ध रखनेवाली अनेक बातों में भाषा-प्रयोग, त्रिदंड और हिंसा आदि से विरति का भी समावेश होता है। बौद्ध-पिटकों और जैन-आगमों के तुलनात्मक अध्ययन से उन मुद्दों पर काफी प्रकाश पड़ता है। हम यहाँ उन मुद्दों में से एक-एक लेकर उस पर विचार करते हैं:—

'मज्झिम निकाय के 'अभयराज सुत्त' में भाषा-प्रयोग सम्बन्धी चर्चा है। उसका संक्षिप्त सार यों है—कभी अभयराज कुमार से ज्ञातपुत्र महावीर ने कहा कि तुम तथागत बुद्ध के पास जाओ और प्रश्न करो कि तथागत अप्रिय वचन बोल सकते हैं या नहीं ? यदि बुद्ध हाँ कहें तो वह हार जाएँगे, क्योंकि अप्रिय-भाषी बुद्ध कैसे ? यदि ना कहें तो पूछना कि तो फिर भदन्त ! आपने देवदत्त के बारे में अप्रिय कथन क्यों किया है कि देवदत्त दुर्गतिगामी और नहीं सुधरने योग्य है ?

ज्ञातपुत्र की शिक्षा के अनुसार अभयराज कुमार ने बुद्ध से प्रश्न किया तो बुद्ध ने उस कुमार को उत्तर दिया कि बुद्ध अप्रिय कथन करेंगे या नहीं यह बात एकान्त रूप से नहीं कही जा सकती। बुद्ध ने अपने जवाब में एकान्त रूप से अप्रिय कथन करने का स्वीकार या अस्वीकार नहीं करते हुए यही बतलाया कि अगर अप्रिय भी हितकर हो तो बुद्ध बोल सकते हैं परन्तु जो अहितकर होगा वह भले ही सत्य हो उसे बुद्ध नहीं बोलेंगे। बुद्ध ने वचन का

विवेक करते हुए बतलाया है कि जो वचन असत्य हो वह प्रिय हो या अप्रिय, बुद्ध नहीं बोलते। जो वचन सत्य हो पर अहितकर हो तो उसे भी नहीं बोलते। परन्तु जो वचन सत्य हो वह प्रिय या अप्रिय होते हुए भी हितदृष्टि से बोलना हो तो उसे बुद्ध बोलते हैं। ऐसा वचन-विवेक सुन कर अभयराज कुमार बुद्ध का उपासक बनता है।

ज्ञातपुत्र महावीर ने अभयराज कुमार को बुद्ध के पास चर्चा के लिए भेजा होगा या नहीं यह कहा नहीं जा सकता, पर मज्झिमनिकाय के उक्त सूत्र के आधार पर हम इतना तो निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि जब देवदत्त बुद्ध का विरोधी बन गया और चारों ओर यह बात फैली कि बुद्ध ने देवदत्त को बहुत कुछ अप्रिय कहा है जो कि बुद्ध के लिए शोभा नहीं देता, तब बुद्ध के समकालीन या उत्तरकालीन शिष्यों ने बुद्ध को देवदत्त की निन्दा के अपवाद से मुक्त करने के लिए 'अभयराज कुमारसुत्त' की रचना की। जो कुछ हो, पर हमारा प्रस्तुत प्रश्न तो निर्ग्रन्थ-परंपरा संबन्धी भाषा-प्रयोग का है।

निर्ग्रन्थ-परंपरा में साधुओं की भाषा-समिति सुप्रसिद्ध है। भाषा कैसी और किस दृष्टि से बोलनी चाहिए इसका विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन जैन आगमों में भी आता है। हम उत्तराध्ययन और दशवैकालिक आदि आगमों में आई हुई भाषा-समिति की चर्चा को उपर्युक्त अभयराजकुमारसुत्त की चर्चा के साथ मिलाते हैं तो दोनों में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं पाते। अब प्रश्न यह है कि जैन-आगमों में आनेवाली भाषा-समिति की चर्चा भाव-विचार रूप से महावीर की समकालीन और पूर्वकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा में थी या नहीं? हम यह तो जानते ही हैं कि महावीर के सम्मुख एक पुरानी व्यवस्थित निर्ग्रन्थ-परम्परा थी जिसके कि वे नेता हुए। उस निर्ग्रन्थ-परम्परा का श्रुत-साहित्य भी था जो 'पूर्व' के नाम से प्रसिद्ध है। श्रमणत्व का मुख्य अंग भाषा-व्यवहारमूलक जीवन-व्यवहार है। इसलिए उसमें भाषा के नियम स्थिर हो जाएँ यह स्वाभाविक है। इस विषय में महावीर ने कोई सुधार नहीं किया है। और दशवैकालिक आदि आगमों की रचना महावीर के थोड़े समय बाद हुई है। यह सब देखते हुए इसमें संदेह नहीं रहता कि भाषा-समिति की शाब्दिक रचना भले ही बाद की हो पर उसके नियम-प्रतिनियम निर्ग्रन्थ-परंपरा के खास महत्त्व के अंग थे। और वे सब महावीर के समय में और उनके पहले भी निर्ग्रन्थ-परम्परा में स्थिर हो गए थे। कम से कम हम इतना तो कह ही सकते हैं कि जैन-आगमों में वर्णित भाषा-समिति का स्वरूप बौद्धग्रन्थों से उधार लिया हुआ नहीं है। वह पुरानी निर्ग्रन्थ-परंपरा के भाषा-समिति विषयक मन्तव्यों का निदर्शक मात्र है।

(८)

त्रिदण्ड

बुद्ध ने तथा उनके शिष्यों ने कायकर्म, वचन कर्म और मनःकर्म ऐसे त्रिविध कर्मों का बन्धन रूप से प्रतिपादन किया है। इसी तरह उन्होंने प्राणातिपात, मृषावाद आदि दोषों को अनर्थ रूप कहकर उनकी विरति को लाभलायक प्रतिपादित किया है तथा संवर अर्थात् पापनिरोध और निर्जरा अर्थात् कर्मक्षय को भी चारित्र के अंगरूप से स्वीकार किया है। कोई भी चारित्रलक्षी धर्मोपदेशक उपर्युक्त मन्तव्यों को बिना माने अपना आध्यात्मिक मन्तव्य लोगों को समझा नहीं सकता। इसलिए अन्य श्रमणों की तरह बुद्ध ने भी उपर्युक्त मंतव्यों का स्वीकार व प्रतिपादन किया हो तो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु हम देखते हैं कि बौद्ध पिटकों में बुद्ध ने या बौद्ध-भिक्षुओं ने अपने उपर्युक्त मंतव्यों को सीधे तौर से न बतलाकर द्रविड-प्राणायाम किया है। क्योंकि उन्होंने अपना मंतव्य बतलाने के पहले निर्ग्रन्थ परंपरा की परिभाषाओं का और परिभाषाओं के पीछे रहे हुए भावों का प्रतिवाद किया है और उनके स्थान में कहीं तो मात्र नई परिभाषा बतलाई है और कहीं तो निर्ग्रन्थ-परंपरा की अपेक्षा अपने जुदा भाव व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ-निर्ग्रन्थ-परंपरा त्रिविधकर्म के लिए कायदंड, वचनदंड और मनोदंड[1] जैसी परिभाषा का प्रयोग करती थी और आज भी करती है। उस परिभाषा के स्थान में बुद्ध इतना ही कहते हैं कि मैं कायदंड, वचनदंड और मनोदंड के बदले कायकर्म, वचनकर्म और मनःकर्म कहता हूँ। और निर्ग्रन्थों की तरह कायकर्म की नहीं पर मन की प्रधानता मानता हूँ।[2] इसी तरह बुद्ध कहते हैं कि महाप्राणातिपात और मृषावाद आदि दोषों को मैं भी दोष मानता हूँ पर उसके कुफल से बचने का रास्ता जो मैं बतलाता हूँ वह निर्ग्रन्थों के बतलाए रास्ते से बहुत अच्छा है। बुद्ध संवर और निर्जरा को मान्य रखते हुए मात्र इतना ही कहते हैं कि मैं भी उन दोनों तत्त्वों को मानता हूँ पर मैं निर्ग्रन्थों की तरह निर्जरा के साधन रूप से तप का स्वीकार न करके उसके साधन रूप से शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान करता हूँ।[3]

जुदे-जुदे बौद्ध-ग्रन्थों में आये हुए उपर्युक्त भाव के कथनों के ऊपर से यह बात सरलता से समझ में आ सकती है कि जब कोई नया सुधारक या विचारक

---

१ स्थानांग-तृतीय स्थान सू० २२०

२. मज्झिमनिकाय सु० ५६।

३. अंगुत्तर vol. I. p. २२०.

अपना स्वतंत्र मार्ग स्थापित करता है तब उसको या तो पुरानी परिभाषाओं के स्थान में कुछ नई-सी परिभाषाएँ गढ़नी पड़ती हैं या पुरानी परिभाषाओं के पीछे रहे हुए पुरानी परंपराओं के भावों के स्थान में नया भाव बतलाना पड़ता है। ऐसा करते समय जाने या अनजाने वह कभी-कभी पुराने मतों की समीक्षा करता है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण और यज्ञ जैसे शब्द वैदिक-परंपरा में अमुक भावों के साथ प्रसिद्ध थे। जब बौद्ध, जैन आदि श्रमण-परपराओं ने अपना सुधार स्थापित किया तब उन्हें ब्राह्मण और यज्ञ जैसे शब्दों को लेकर भी उनका भाव अपने सिद्धान्तानुसार बतलाना पड़ा।[1] इससे ऐतिहासिक तथ्य इतना तो निर्विवाद रूप से फलित होता है कि जिन परिभाषाओं और मन्तव्यों की समालोचना नया सुधारक या विचारक करता है, वे परिभाषाएँ और वे मन्तव्य जनता में प्रतिष्ठित और गहरी जड़ जमाए हुए होते हैं; ऐसा बिना हुए नये सुधारक या विचारक को उन पुरानी परिभाषाओं का आश्रय लेने की या उनके अन्दर रहे हुए रूढ़ पुराने भावों की समालोचना करने की कोई जरूरत ही नहीं होती।

यदि यह विचारसरणी ठीक है तो हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि कायदंड आदि त्रिविध दंडों की, महान् प्राणातिपात आदि दोषों से दुर्गतिरूप फल पाने की तथा उन दोषों की विरति से सुफल पाने की और तप के द्वारा निर्जरा होने की तथा संवर के द्वारा नया कर्म न आने की मान्यताएँ निर्ग्रन्थ-परंपरा में बहुत रूढ़ हो गयी थीं, जिनका कि बौद्ध भिक्षु सच्चा-झूठा प्रतिवाद करते हैं।

निर्ग्रन्थ-परंपरा की उपर्युक्त परिभाषाएँ और मान्यताएँ मात्र महावीर के द्वारा पहले पहल चलाई हुई या स्थापित हुई होतीं तो बौद्धों को इतना प्रबल सच-झूठ प्रतिवाद करना न पड़ता। स्पष्ट है कि त्रिदंड की परिभाषा और सँवर-निर्जरा आदि मंतव्य, पूर्वकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा में से ही महावीर को विरासत में मिले थे।

हम बौद्ध-ग्रन्थों के साथ जैन आगमों की तुलनात्मक चर्चा से यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि जैन आगमों में जो कायदंड आदि तीन दंडों के नाम आते हैं और तीन दंडो की निवृत्ति का अनुक्रम से कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति रूप से विधान आता है तथा नवतत्त्वों में संवर-निर्जरा का जो वर्णन है तथा तप को निर्जरा का साधन माना गया है और महाप्राणातिपात, मृषावाद आदि दोषों से बड़े अपाय का कथन आता है वह सब निर्ग्रन्थ-परंपरा की परिभाषा और विचार विषयक प्राचीन सम्पत्ति है।

---

१ उत्तराध्ययन अ० २५; अ० १२ ४१, ४२, ४४; धम्मपद वर्ग २६।

बौद्ध-पिटकों तथा जैन-ग्रन्थों को पढ़नेवाला सामान्य अभ्यासी केवल यही जान पाता है कि निर्ग्रन्थ-परंपरा ही तप को निर्जरा का साधन माननेवाली है परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। जब हम सांख्य-योग-परंपरा को देखते हैं तब मालूम पड़ता है कि योग-परंपरा भी निर्जरा के साधन रूप से तप पर उतना ही भार देती आई है जितना भार निर्ग्रन्थ-परंपरा उस पर देती है। यही कारण है कि उपलब्ध योग-सूत्र के रचयिता पतंजलि ने अन्य साधनों के साथ तप को भी क्रिया-योग रूप से गिनाया है (२-१) इतना ही नहीं बल्कि पतञ्जलि ने क्रिया-योग में तप को ही प्रथम स्थान दिया है।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास ने सांख्य-योग्य-परंपरा का पूरा अभिप्राय प्रगट कर दिया है। व्यास कहते हैं कि जो योगी तपस्वी नहीं होता वह पुरानी चित्र-विचित्र कर्म-वासानाओं के जाल को तोड़ नहीं सकता। व्यास का पुरानी वासनाओं के भेदक रूप से तप का वर्णन और निर्ग्रंथ-परंपरा का पुराण कर्मों की निर्जरा के साधन रूप से तप का निरूपण-ये दोनों श्रमण-परंपरा की तप संबन्धी प्राचीनतम मान्यता का वास्तविक स्वरूप प्रगट करते हैं। बुद्ध को छोड़कर सभी श्रमण-परंपराओं ने तप का अति महत्त्व स्वीकार किया है। इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि ये परंपराएँ श्रमण क्यों कहलाईं ? मूलक में श्रमण का अर्थ ही तप करनेवाला है। जर्मन विद्वान् विन्टरनित्स् ठीक कहता है कि श्रामणिक-साहित्य वैदिक-साहित्य से भी पुराना है जो जुदे-जुदे रूपों में महाभारत, जैनागम तथा बौद्ध-पिटकों में सुरक्षित है। मेरा निजी विचार है कि सांख्य-योग-परंपरा अपने विशाल तथा मूल अर्थ में सभी श्रमण-शाखाओं का संग्रह कर लेती है। श्रमण-परंपरा के तप का भारतीय-जीवन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि वह किसी भी प्रान्त में, किसी भी जाति में और किसी भी फिरके में सरलता से देखा जा सकता है। यही कारण है कि बुद्ध तप का प्रतिवाद करते हुए भी 'तप' शब्द को छोड़ न सके। उन्होंने केवल उस शब्द का अर्थ भर अपने अभिप्रायानुकूल किया है।

(६)

लेश्या-विचार

वैदिक-परंपरा में चार वर्णों की मान्यता धीरे-धीरे जन्म के आधार पर स्थिर हो गई थी। जब वह मान्यता इतनी सख्त हो गई कि आन्तरिक योग्यता रखता हुआ भी एक वर्ण का व्यक्ति अन्य वर्ण में या अन्य वर्णयोग्य धर्मकार्य में प्रविष्ट

हो नहीं सकता था। तब जन्मसिद्ध चार वर्णों की मान्यता के विरुद्ध गुणकर्मसिद्ध चार वर्ण की मान्यता का उपदेश व प्रचार श्रमण वर्ग ने बड़े जोरों से किया, यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है।

बुद्ध और महावीर दोनों कहते हैं कि जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है, न शूद्र है। ब्राह्मणादि चारों कर्म से ही माने जाने चाहिए इत्यादि [1]। श्रमण-धर्म के पुरस्कर्ताओं ने ब्राह्मण-परंपरा प्रचलित चतुर्विध वर्ण-विभाग को गुण-कर्म के आधार पर स्थापित तो किया पर वे इतने मात्र से संतुष्ट न हुए। अच्छे-बुरे गुण-कर्म की भी अनेक कक्षाएँ होती हैं। इसलिए तदनुसार भी मनुष्य जाति का वर्गीकरण करना आवश्यक हो जाता है। श्रमण-परंपरा के नायकों ने कभी ऐसा वर्गीकरण किया भी है। पहले किसने किया सो तो मालूम नहीं पड़ता पर बौद्ध-ग्रन्थों में दो नामों के साथ ऐसे वर्गीकरण की चर्चा आती है। 'दीघ-निकाय' में आजीवक मंखलि गोशालक के नाम के साथ ऐसे वर्गीकरण को छः अभिजाति रूप से निर्दिष्ट किया है, जब कि अंगुत्तर निकाय में पुरणकस्सप के मन्तव्य रूप से ऐसे वर्गीकरण का छः अभिजाति रूप से कथन है [2]। ये छः अभिजातियां अथवा मनुष्यजाति के कर्मानुसार कक्षाएँ इस प्रकार हैं—कृष्ण, नील, लोहित-रक्त, हरिद्र-पीत, शुक्ल, परम शुक्ल। इन छः प्रकारों में सारी मनुष्यजाति का अच्छे-बुरे कर्म की तीव्रता-मन्दता के अनुसार समावेश कर दिया है।

आजीवक परंपरा और पुरणकस्सप की परंपरा के नाम से उपर्युक्त छः अभिजातियों का निर्देश तो बौद्ध-ग्रन्थ में आता है पर उस विषयक निर्ग्रन्थ-परंपरा संबन्धी मन्तव्य का कोई निर्देश बौद्ध-ग्रन्थ में नहीं है जब कि पुराने से पुराने जैन ग्रन्थों में [3] निर्ग्रन्थ-परंपरा का मन्तव्य सुरक्षित है। निर्ग्रन्थ-परंपरा छः अभिजातियों को लेश्या शब्द से व्यवहृत करती आई है। वह कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल ऐसी छः लेश्याओं को मान कर उनमें केवल मनुष्यजाति का ही नहीं बल्कि समग्र प्राणी जाति का गुण-कर्मानुसार समावेश करती है। लेश्या का अर्थ है विचार, अध्यवसाय व परिणाम। क्रूर और क्रूरतम विचार कृष्ण लेश्या है और शुभ और शुभतर विचार शुक्ल लेश्या है। बीच की लेश्याएँ विचारगत अशुभता और शुभता का विविध मिश्रण मात्र है।

---

१. उत्तराध्ययन २५. ३३। धम्मपद २६. ११। सुत्तनिपात ७. २१

२. अंगुत्तर निकाय vol. III p.383

३. भगवती १. २. २२। उत्तराध्ययन अ० ३४।

बुद्ध ने पुरणकस्सप की छः अभिजातियों का वर्णन आनन्द से सुनकर कहा है कि मैं छः अभिजातियों को तो मानता हूँ पर मेरा मन्तव्य दूसरों से जुदा है। ऐसा कह करके उन्होंने कृष्ण और शुक्ल ऐसे दो भेदों में मनुष्यजाति को विभाजित किया है। कृष्ण अर्थात् नीच, दरिद्र, दुर्भग और शुक्ल अर्थात् उच्च, सम्पन्न, सुभग। और पीछे कृष्ण प्रकार वाले मनुष्यों को तथा शुक्ल प्रकार वाले मनुष्यों को तीन-तीन विभागों में कर्मानुसार बांटा है। उन्होंने कहा है कि रंग-वर्ण कृष्ण हो या शुक्ल दोनों में अच्छे-बुरे गुण-कर्म वाले पाए जाते हैं। जो बिलकुल क्रूर हैं वे कृष्ण हैं, जो अच्छे कर्म वाले हैं वे शुक्ल हैं और जो अच्छे-बुरे से परे हैं वे अशुक्ल-अकृष्ण हैं। बुद्ध ने अच्छे-बुरे कर्मानुसार छः प्रकार तो मान लिए पर उनकी व्याख्या कुछ पुरानी परंपरा से अलग की है जैसी कि योगशास्त्र में पाई जाती है। जैन-ग्रन्थों में ऊपर वर्णित छः लेश्याओं का वर्णन तो है ही जो कि आजीवक और पुरणकस्सप के मन्तव्यों के साथ विशेष साम्य रखता है पर साथ ही बुद्ध के वर्गीकरण से या योग-शास्त्र के वर्गीकरण से मिलता-जुलता दूसरा वर्गीकरण भी जैन-ग्रन्थों में आता है। [1]

उपर्युक्त चर्चा के ऊपर से हम निश्चयपूर्वक इस नतीजे पर नहीं आ सकते कि लेश्याओं का मंतव्य निर्ग्रन्थ-परंपरा में बहुत पुराना होगा। पर केवल जैन-ग्रन्थों के आधार पर विचार करें और उनमें आनेवाली द्रव्य तथा भाव लेश्या की अनेक विधि प्ररूपणाओं को देखें तो हमें यह मानने के लिए बाधित होना पड़ता है कि भले ही एक या दूसरे कारण से निर्ग्रन्थ-सम्मत लेश्याओं का वर्गीकरण बौद्ध-ग्रन्थों में आया न हो पर निर्ग्रन्थ-परंपरा आजीवक और पुरणकस्सप की तरह अपने ढंग से गुण कर्मानुसार छः प्रकार का वर्गीकरण मानती थी। यह सम्भव है कि निर्ग्रन्थ-परम्परा की पुरानी लेश्या विषयक मान्यता का अगले निर्ग्रन्थों ने विशेष विकास व स्पष्टीकरण किया हो और मूल में गुण-कर्म रूप लेश्या जो भाव लेश्या कही जाती है उसका संबन्ध द्रव्यलेश्या के साथ पीछे से जोड़ा गया हो; जैसा कि भाव-कर्म का संबन्ध द्रव्यकर्म के साथ जोड़ा जाता है। और यह भी सम्भव है कि आजीवक आदि अन्य पुरानी श्रमण-परंपराओं की छः अभिजाति विषयक मान्यता को महावीर ने या अन्य निर्ग्रन्थों ने अपना कर लेश्यारूप से प्रतिपादित किया हो और उसका कुछ परिवर्तन और उसका कुछ शाब्दिक परिवर्तन एवं अर्थ विकास भी किया हो।

---

१. भगवती २६. १. । योगशास्त्र ४. ७.

(५०)

सर्वज्ञत्व

तत्त्वज्ञान की विचारधाराओं में सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व का भी एक प्रश्न है। यह प्रश्न भारतीय तत्त्वज्ञान जितना ही पुराना है। इस विषय में निर्ग्रन्थ-परम्परा की इतिहासकाल से कैसी धारणा रही है इस बात को जानने के लिए हमारे पास तीन साधन हैं। एक तो प्राचीन जैन आगम, दूसरा उत्तरकालीन जैन वाङ्मय और तीसरा बौद्ध ग्रन्थ। उत्तरकालीन वाङ्मय में कभी कोई ऐसा पक्षकार नहीं हुआ जो सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व की सम्भवनीयता मानता न हो और जो महावीर आदि तीर्थकरों में सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व का उपचरित या मात्र श्रद्धाजनित व्यवहार करता हो। आगमों में भी यही वस्तु स्थापित-सी वर्णित है। महावीर आदि अरिहंतों को जैन आगम निःशंकतया सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वर्णित करते हैं। और सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व की शक्यता का स्थापन भी करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि जैन आगम उत्तरकालीन वाङ्मय की तरह अन्य सम्प्रदाय के नायकों के सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व का विरोध भी करते हैं। उदाहरणार्थ जैन आगमकार महावीर के निजी शिष्य परन्तु उनसे अलग होकर अपनी जमात जमानेवाले जमालि के सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व का परिहास करते हैं। इसी तरह वे महावीर के समकालीन उनके सहसाधक गोशालक के सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व को भी नहीं मानते।[१] जब कि जमालि और गोशालक को उनके अनुयायी जिन, अरिहंत और सर्वज्ञ मानते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में भी अन्यतीर्थिक प्रधान पुरुषों के वर्णन में उनके नाम के साथ सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्वसूचक विशेषण अक्सर पाए जाते हैं। केवल ज्ञातपुत्र महावीर के नाम के साथ ही नहीं बल्कि पुरणकस्सप, गोशालक आदि अन्य तीर्थकरों के नाम के साथ भी सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व सूचक विशेषण उन ग्रन्थों में देखे जाते हैं।[२] इन सब साधनों के आधार से हम विचार करें तो नीचे लिखे परिणाम पर आते हैं—

१—जैसे आज हर एक श्रद्धालु अपने मुख्य गद्दीधर को जगद्गुरु, आचार्य, आदि रूप से बिना माने-मनवाए संतुष्ट नहीं होता अथवा जैसे आधुनिक शिक्षणक्षेत्र में डॉक्टर आदि पदवियों की प्रतिष्ठा है वैसे ही पुराने समय में हर एक सम्प्रदाय अपने मुखिया को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बिना माने-मनवाए संतुष्ट होता न था।

---

१. भगवती ६. ३२; ३७६; ९. ३३; १५.।

२. अंगुत्तर• Vol. IV, P. 429

२—जहाँ तक सम्भव हो हर एक सम्प्रदायानुयायी अन्य सम्प्रदाय के मुखियों में सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व का निषेध करने की कोशिश करता था।

३—सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व की मान्यता की पुरानी साम्प्रदायिक कसौटी मुख्यतया साम्प्रदायिक श्रद्धा थी।

उपर्युक्त ऐतिहासिक परिणामों से यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि खुद महावीर के समय में ही महावीर निर्ग्रन्थ-परंपरा में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी माने जाते थे। परन्तु प्रश्न तो यह है कि महावीर के पहले सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व के विषय में निर्ग्रन्थ-परंपरा की क्या स्थिति, क्या मान्यता रही होगी? जैन-आगमों में ऐसा वर्णन है कि अमुक पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थों ने महावीर का शासन तब स्वीकार किया जब उन्हें महावीर की सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता में सन्देह न रहा[1]। इससे स्पष्ट है कि महावीर के पहले भी पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परंपरा की मनोवृत्ति सर्वज्ञ-सर्वदर्शी को ही तीर्थंकर मानने की थी, जो उत्तरकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा में भी कभी खण्डित नहीं हुई।

सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व का सम्भव है या नहीं इसकी तर्कदृष्टि से परीक्षा करने का कोई उद्देश्य यहाँ नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही बतलाना है कि पुराने ऐतिहासिक युग में उस विषय में साम्प्रदायिकों की खासकर निर्ग्रन्थ-परंपरा की मनोवृत्ति कैसी थी? हजारों वर्षों से चली आनेवाली सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व विषयक श्रद्धा की मनोवृत्ति का अगर किसी ने पूरे बल से सामना किया है तो वह बुद्ध ही हैं।

बुद्ध खुद अपने लिए कभी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने का दावा करते न थे। और ऐसा दावा कोई उनके लिये करे तो भी उन्हें वह पसंद न था। अन्य सम्प्रदाय के जो अनुयायी अपने-अपने पुरस्कर्ताओं को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मानते थे उनकी उस मान्यता का किसी न किसी तार्किक सरणी से बुद्ध खंडन भी करते थे[2]। बुद्ध के द्वारा किये गए इस प्रतिवाद से भी उस समय की सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व विषयक मनोवृत्ति का पता चल जाता है।

[ई० १०४७]

———

१. भगवती ९. ३२. ३७९

२. देखो, पृ० ११४, टि० २। मज्झिम० सु० ६३।

जैनधर्म का प्राण

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा—

अभी जैनधर्म नाम से जो आचार-विचार पहचाना जाता है वह भगवान् पार्श्वनाथ के समय में खास कर महावीर के समय में निग्गंठ धम्म—निर्ग्रन्थ धर्म नाम से भी पहचाना जाता था, परन्तु वह श्रमण धर्म भी कहलाता है। अंतर है तो इतना ही है कि एकमात्र जैनधर्म ही श्रमण धर्म नहीं है, श्रमण धर्म की और भी अनेक शाखाएँ भूतकाल में थीं और अब भी बौद्ध आदि कुछ शाखाएँ जीवित हैं। निर्ग्रन्थ धर्म या जैनधर्म में श्रमण धर्म के सामान्य लक्षणों के होते हुए भी आचार-विचार की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसको श्रमण धर्म की अन्य शाखाओं से पृथक् करती हैं। जैन धर्म के आचार-विचार की ऐसी विशेषताओं को जानने के पूर्व अच्छा यह होगा कि हम प्रारंभ में ही श्रमण धर्म की विशेषता को भलीभाँति जान लें जो उसे ब्राह्मण धर्म से अलग करती हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पट अनेक व विविधरंगी है, जिसमें अनेक धर्म परंपराओं के रङ्ग मिश्रित हैं। इसमें मुख्यतया ध्यान में आनेवाली दो धर्म परम्पराएँ हैं—(१) ब्राह्मण (२) श्रमण। इन दो परम्पराओं के पौर्वापर्य तथा स्थान आदि विवादास्पद प्रश्नों को न उठाकर, केवल ऐसे मुद्दों पर थोड़ी सी चर्चा की जाती है, जो सर्व संमत जैसे हैं तथा जिनसे श्रमण धर्म की मूल भित्ती को पहचानना और उसके द्वारा निर्ग्रन्थ या जैनधर्म को समझना सरल हो जाता है।

वैषम्य और साम्य दृष्टि—

ब्राह्मण और श्रमण परम्पराओं के बीच छोटे-बड़े अनेक विषयों में मौलिक अंतर है, पर उस अंतर को संक्षेप में कहना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण–वैदिक परम्परा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है, जब कि श्रमण परम्परा साम्य पर प्रतिष्ठित है। यह वैषम्य और साम्य मुख्यतया तीन बातों में देखा जाता है—(१) समाजविषयक (२) साध्यविषयक और (३) प्राणी जगत् के प्रति दृष्टि विषयक। समाज विषयक वैषम्य का अर्थ है कि समाज रचना में तथा धर्माधि-

कार में वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व व मुख्यत्व तथा इतर वर्णों का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व व गौणत्व। ब्राह्मण धर्म का वास्तविक साध्य है अभ्युदय, जो ऐहिक समृद्धि, राज्य और पुत्र, पशु आदि के नानाविध लाभों में तथा इन्द्रपद, स्वर्गीय सुख आदि नानाविध पारलौकिक फलों के लाभों में समाता है। अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म अर्थात् नानाविध यज्ञ हैं।[1] इस धर्म में पशु-पक्षी आदि की बलि अनिवार्य मानी गई है और कहा गया है कि वेदविहित हिंसा धर्म का ही हेतु है। इस विधान में बलि किये जानेवाले निरपराध पशु-पक्षी आदि के प्रति स्पष्टतया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् आत्मवैषम्य की दृष्टि है। इसके विपरीत उक्त तीनों बातों में श्रमण धर्म का साम्य इस प्रकार है। श्रमण धर्म समाज में किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मानकर गुण-कर्मकृत ही श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है, इसलिए वह समाज रचना तथा धर्माधिकार में जन्मसिद्ध वर्ण भेद का आदर न करके गुण कर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अतएव उसकी दृष्टि में सद्गुणी शूद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण आदि से श्रेष्ठ है, और धार्मिक क्षेत्र में योग्यता के आधार पर हर एक वर्ण का पुरुष या स्त्री समान रूप से उच्च पद का अधिकारी है। श्रमण धर्म का अंतिम साध्य ब्राह्मण धर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस है। निःश्रेयस का अर्थ है कि ऐहिक पारलौकिक नानाविध सब लाभों का त्याग सिद्ध करनेवाली ऐसी स्थिति, जिसमें पूर्ण साम्य प्रकट होता है और कोई किसी से कम योग्य या अधिक योग्य रहने नहीं पाता। जीव जगत् के प्रति श्रमण धर्म की दृष्टि पूर्ण आत्म साम्य की है, जिसमें न केवल पशु-पक्षी आदि या कीट-पतंग आदि जन्तु का ही समावेश होता है किन्तु वनस्पति जैसे अति क्षुद्र जीव वर्ग का भी समावेश होता है। इसमें किसी भी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जानेवाला वध आत्मवध जैसा ही माना गया है और वध मात्र को अधर्म का हेतु माना है।

ब्राह्मण परम्परा मूल में 'ब्रह्मन्' के आसपास शुरू और विकसित हुई है, जब कि श्रमण परम्परा 'सम' साम्य, शम और श्रम के आसपास शुरू एवं विकसित हुई है। ब्रह्मन् के अनेक अर्थों में से प्राचीन दो अर्थ इस जगह ध्यान देने योग्य हैं।

---

१ "कर्मफलबाहुल्याच्च पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात् तत्प्रति च पुरुषाणां कामबाहुल्यात् तदर्थः श्रुतेरपि को यत्नः कर्मसूपपद्यते।"—तैत्ति० १–११। शांकरभाष्य (पूना आष्टेकर कं०) पृ० ३५३। यही बात "परिणामतापसंस्कारैः गुणवृत्तिविरोधात्" इत्यादि योगसूत्र तथा उसके भाष्य में कही है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी है जो मूल कारिका का स्पष्टीकरण मात्र है।

(१) स्तुति, प्रार्थना, (२) यज्ञ यागादि कर्म। वैदिक मंत्रों एवं सूक्तों के द्वारा जो नानाविध स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ की जाती हैं वह ब्रह्मन् कहलाता है। इसी तरह वैदिक मंत्रों के विनियोग वाला यज्ञ यागादि कर्म भी ब्रह्मन् कहलाता है। वैदिक मंत्रों और सूक्तों का पाठ करनेवाला पुरोहित वर्ग और यज्ञ यागादि करानेवाला पुरोहित वर्ग ही ब्राह्मण है। वैदिक मंत्रों के द्वारा की जानेवाली स्तुति–प्रार्थना एवं यज्ञ यागादि कर्म की अति प्रतिष्ठा के साथ ही साथ पुरोहित वर्ग का समाज में एवं तत्कालीन धर्म में ऐसा प्राधान्य स्थिर हुआ कि जिससे वह ब्राह्मण वर्ग अपने आपको जन्म से ही श्रेष्ठ मानने लगा और समाज में भी बहुधा वही मान्यता स्थिर हुई जिसके आधार पर वर्ग भेद की मान्यता रूढ़ हुई और कहा गया कि समाजपुरुष का मुख ब्राह्मण है और इतर वर्ण अन्य अंग हैं। इसके विपरीत श्रमण धर्म यह मानता मनवाता था कि सभी सामाजिक स्त्री-पुरुष सत्कर्म एवं धर्मपद के समान रूप से अधिकारी हैं। जो प्रयत्नपूर्वक योग्यता लाभ करता है वह वर्ग एवं लिंगभेद के बिना ही गुरुपद का अधिकारी बन सकता है। यह सामाजिक एवं धार्मिक समता की मान्यता जिस तरह ब्राह्मण धर्म की मान्यता से बिलकुल विरुद्ध थी उसी तरह साध्यविषयक दोनों की मान्यता भी परस्पर विरुद्ध रही। श्रमण धर्म ऐहिक या पारलौकिक अभ्युदय को सर्वथा हेय मान कर निःश्रेयस को ही एक मात्र उपादेय मानने की ओर अग्रसर था और इसीलिए वह साध्य की तरह साधनगत साम्य पर भी उतना ही भार देने लगा। निःश्रेयस के साधनों में मुख्य है अहिंसा। किसी भी प्राणी की किसी भी प्रकार से हिंसा न करना यही निःश्रेयस का मुख्य साधन है, जिसमें अन्य सब साधनों का समावेश हो जाता है। यह साधनगत साम्यदृष्टि हिंसाप्रधान यज्ञ यागादि कर्म की दृष्टि से बिलकुल विरुद्ध है। इस तरह ब्राह्मण और श्रमण धर्म का वैषम्य और साम्यमूलक इतना विरोध है कि जिससे दोनों धर्मों के बीच पद-पद पर संघर्ष की संभावना है, जो सहस्रों वर्षों के इतिहास में लिपिबद्ध है। यह पुराना विरोध ब्राह्मण काल में भी था और बुद्ध एवं महावीर के समय में तथा इसके बाद भी। इसी चिरंतन विरोध के प्रवाह को महाभाष्यकार पतंजलि ने अपनी वाणी में व्यक्त किया है। वैयाकरण पाणिनि ने सूत्र में शाश्वत विरोध का निर्देश किया है। पतंजलि 'शाश्वत' —जन्म सिद्ध विरोध वाले अहि-नकुल, गोव्याघ्र जैसे द्वन्द्वों के उदाहरण देते हुए साथ-साथ ब्राह्मण-श्रमण का भी उदाहरण देते हैं[१]। यह ठीक है कि हजार प्रयत्न करने पर भी अहि-नकुल या गो-व्याघ्र का विरोध निर्मूल नहीं हो सकता, जब कि

१. महाभाष्य २.४.६।

प्रयत्न करने पर ब्राह्मण और श्रमण का विरोध निर्मूल हो जाना संभव है और इतिहास में कुछ उदाहरण ऐसे उपलब्ध भी हुए हैं जिनमें ब्राह्मण और श्रमण के बीच किसी भी प्रकार का वैमनस्य या विरोध देखा नहीं जाता। परन्तु पतंजलि का ब्राह्मण-श्रमण का शाश्वत विरोध विषयक कथन व्यक्तिपरक न होकर वर्गपरक है। कुछ व्यक्तियाँ ऐसी संभव हैं जो ऐसे विरोध से परे हुई हैं या हो सकती हैं परन्तु सारा ब्राह्मण वर्ग या सारा श्रमण वर्ग मौलिक विरोध से परे नहीं है यही पतंजलि का तात्पर्य है। 'शाश्वत' शब्द का अर्थ अविचल न होकर प्रावाहिक इतना ही अभिप्रेत है। पतंजलि से अनेक शताब्दियों के बाद होनेवाले जैन आचार्य हेमचंद्र ने भी ब्राह्मण-श्रमण उदाहरण देकर पतंजलि के अनुभव की यथार्थता पर मुहर लगाई है[1]। आज इस समाजवादी युग में भी हम यह नहीं कह सकते कि ब्राह्मण और श्रमण वर्ग के बीच विरोध का बीज निर्मूल हुआ है। इस सारे विरोध की जड़ ऊपर सूचित वैषम्य और साम्य की दृष्टि का पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर ही है।

परस्पर प्रभाव और समन्वय—

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा परस्पर एक दूसरे के प्रभाव से बिलकुल अछूती नहीं है। छोटी-मोटी बातों में एक का प्रभाव दूसरे पर न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा हुआ देखा जाता है। उदाहरणार्थ श्रमण धर्म की साम्यदृष्टिमूलक अहिंसा भावना का ब्राह्मण परम्परा पर क्रमशः इतना प्रभाव पड़ा है कि जिससे यज्ञीय हिंसा का समर्थन केवल पुरानी शास्त्रीय चर्चाओं का विषय मात्र रह गया है, व्यवहार में यज्ञीय हिंसा लुप्त सी हो गई है। अहिंसा व "सर्वभूतहिते रतः" सिद्धांत का पूरा आग्रह रखनेवाली सांख्य, योग, औपनिषद, अवधूत, सात्वत आदि जिन परम्पराओं ने ब्राह्मण परम्परा के प्राणभूत वेद विषयक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के पुरोहित व गुरु पद का आत्यंतिक विरोध नहीं किया वे परम्पराएँ क्रमशः ब्राह्मण धर्म के सर्वसंग्राहक क्षेत्र में एक या दूसरे रूप में मिल गई हैं। इसके विपरीत जैन बौद्ध आदि जिन परम्पराओं ने वैदिक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के गुरु पद के विरुद्ध आत्यतिक आग्रह रखा वे परम्पराएँ यद्यपि सदा के लिए ब्राह्मण धर्म से अलग ही रही हैं फिर भी उनके शास्त्र एवं निवृत्ति धर्म पर ब्राह्मण परम्परा की लोकसंग्राहक वृत्ति का एक या दूसरे रूप में प्रभाव अवश्य पड़ा है।

श्रमण परंपरा के प्रवर्तक—

श्रमण धर्म के मूल प्रवर्तक कौन-कौन थे, वे कहाँ-कहाँ और कब हुए इसका

---

१. सिद्धहैम० ३. १. १४१।

यथार्थ और पूरा इतिहास अद्यावधि अज्ञात है पर हम उपलब्ध साहित्य के आधार से इतना तो निःशंक कह सकते हैं कि नाभिपुत्र ऋषभ तथा आदि विद्वान् कपिल ये साम्य धर्म के पुराने और प्रबल समर्थक थे। यही कारण है कि उनका पूरा इतिहास अंधकार-ग्रस्त होने पर भी पौराणिक परम्परा में से उनका नाम लुप्त नहीं हुआ है। ब्राह्मण-पुराण ग्रन्थों में ऋषभ का उल्लेख उग्र तपस्वी के रूप में है सही पर उनकी पूरी प्रतिष्ठा तो केवल जैन परम्परा में ही है, जब कि कपिल का ऋषि रूप से निर्देश जैन कथा साहित्य में है फिर भी उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा तो सांख्य परंपरा में तथा सांख्यमूलक पुराण ग्रंथों में ही है। ऋषभ और कपिल आदि द्वारा जिस आत्मौपम्य भावना की और तन्मूलक अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा जमी थी उस भावना और धर्म की पोषक अनेक शाखा-प्रशाखाएँ थीं जिनमें से कोई बाह्य तप पर, तो कोई ध्यान पर, तो कोई मात्र चित्त-शुद्धि या असंगता पर अधिक भार देती थी। पर साम्य या समता सबका समान ध्येय था।

जिस शाखा ने साम्यसिद्धि मूलक अहिंसा को सिद्ध करने के लिए अपरिग्रह पर अधिक भार दिया और उसी में से अगार—गृह—ग्रन्थ या अपरिग्रह बंधन के त्याग पर अधिक भार दिया और कहा कि जब तक परिवार एवं परिग्रह का बंधन हो तब तक कभी पूर्ण अहिंसा या पूर्ण साम्य सिद्ध नहीं हो सकता, श्रमण धर्म की वही शाखा निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके प्रधान प्रवर्तक नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ ही जान पड़ते हैं।

वीतरागता का आग्रह—

अहिंसा की भावना के साथ साथ तप और त्याग की भावना अनिवार्य रूप से निर्ग्रन्थ धर्म में ग्रथित तो हो ही गई थी परन्तु साधकों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि बाह्य त्याग पर अधिक भार देने से क्या आत्मशुद्धि या साम्य पूर्णतया सिद्ध होना संभव है ? इसी के उत्तर में से यह विचार फलित हुआ कि राग द्वेष आदि मलिन वृत्तियों पर विजय पाना ही मुख्य साध्य है। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग से न हो सके वह अहिंसा, तप या त्याग कैसा ही क्यों न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। इसी विचार के प्रवर्तक 'जिन' कहलाने लगे। ऐसे जिन अनेक हुए हैं। सच्चक, बुद्ध, गोशालक और महावीर ये सब अपनी-अपनी परम्परा में जिन रूप से प्रसिद्ध रहे हैं परंतु आज जिनकथित जैनधर्म कहने से मुख्यतया महावीर के धर्म का ही बोध होता है जो राग-द्वेष के विजय पर ही मुख्यतया भार देता है।

धर्म विकास का इतिहास कहता है कि उत्तरोत्तर उदय में आनेवाली नई-नई धर्म की अवस्थाओं में उस उस धर्म की पुरानी अविरोधी अवस्थाओं का समावेश अवश्य रहता है। यही कारण है कि जैनधर्म निर्ग्रन्थ धर्म भी है और श्रमण धर्म भी है।

श्रमण धर्म की साम्यदृष्टि—

अब हमें देखना यह है कि श्रमण धर्म की प्राणभूत साम्य भावना का जैन परम्परा में क्या स्थान है? जैन श्रुत रूप से प्रसिद्ध द्वादशांगी या चतुर्दश पूर्व में 'सामाइय'—'सामायिक' का स्थान प्रथम है, जो आचारांग सूत्र कहलाता है। जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर के आचार-विचार का सीधा और स्पष्ट प्रतिबिम्ब मुख्यतया उसी सूत्र में देखने को मिलता है। इसमें जो कुछ कहा गया है उस सब में साम्य, समता या सम पर ही पूर्णतया भार दिया गया है। 'सामाइय' इस प्राकृत या मागधी शब्द का संबंध साम्य, समता या सम से है। साम्यदृष्टिमूलक और साम्यदृष्टिपोषक जो-जो आचार-विचार हों वे सब सामाइय–सामायिक रूप से जैन परम्परा में स्थान पाते हैं। जैसे ब्राह्मण परम्परा में संध्या एक आवश्यक कर्म है वैसे ही जैन परम्परा में भी गृहस्थ और त्यागी सब के लिए छः आवश्यक कर्म बतलाए हैं जिनमें मुख्य सामाइय है। अगर सामाइय न हो तो और कोई आवश्यक सार्थक नहीं है। गृहस्थ या त्यागी अपने-अपने अधिकारानुसार जब-जब धार्मिक जीवन को स्वीकार करता है तब-तब वह 'करेमि भंते! सामाइयं' ऐसी प्रतिज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि हे भगवन्! मैं समता या समभाव को स्वीकार करता हूँ। इस समता का विशेष स्पष्टीकरण आगे के दूसरे पद में किया गया है। उसमें कहा है कि मैं सावद्ययोग अर्थात् पाप व्यापार का यथाशक्ति त्याग करता हूँ। 'सामाइय' की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण सातवीं सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उस पर विशेषावश्यकभाष्य नामक अति विस्तृत ग्रन्थ लिखकर बतलाया है कि धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही सामाइय हैं।

सच्ची वीरता के विषय में जैनधर्म, गीता और गांधीजी—

सांख्य, योग और भागवत जैसी अन्य परंपराओं में पूर्वकाल से साम्यदृष्टि की जो प्रतिष्ठा थी उसी का आधार लेकर भगवद्गीताकार ने गीता की रचना की है। यही कारण है कि हम गीता में स्थान-स्थान पर समदर्शी, साम्य, समता जैसे शब्दों के द्वारा साम्यदृष्टि का ही समर्थन पाते हैं। गीता और आचारांग की साम्य भावना मूल में एक ही है, फिर भी वह परंपराभेद से

अन्यान्य भावनाओं के साथ मिलकर भिन्न हो गई है। अर्जुन को साम्य भावना के प्रबल आवेग के समय भी भैक्ष्य जीवन स्वीकार करने से गीता रोकती है और शस्त्रयुद्ध का आदेश करती है, जब कि आचारांग सूत्र अर्जुन को ऐसा आदेश न करके यही कहेगा कि अगर तुम सचमुच क्षत्रिय वीर हो तो साम्यदृष्टि आने पर हिंसक शस्त्रयुद्ध नहीं कर सकते बल्कि भैक्ष्यजीवनपूर्वक आध्यात्मिक शत्रु के साथ युद्ध के द्वारा ही सच्चा क्षत्रियत्व सिद्ध कर सकते हो।[१] इस कथन की द्योतक भरत-बाहुबली की कथा जैन साहित्य में प्रसिद्ध है, जिसमें कहा गया है कि सहोदर भरत के द्वारा उग्र प्रहार पाने के बाद बाहुबली ने जब प्रतिकार के लिए हाथ उठाया तभी समभाव की वृत्ति प्रकट हुई। उस वृत्ति के आवेग में बाहुबली ने भैक्ष्य जीवन स्वीकार किया पर प्रतिप्रहार करके न तो भरत का बदला चुकाया और न उससे अपना न्यायोचित राज्यभाग लेने का सोचा। गांधीजी ने गीता और आचारांग आदि में प्रतिपादित साम्य भाव को अपने जीवन में यथार्थ रूप से विकसित किया और उसके बल पर कहा कि मानवसंहारक युद्ध तो छोड़ो, पर साम्य या चित्तशुद्धि के बल पर ही अन्याय के प्रतिकार का मार्ग भी ग्रहण करो। पुराने संन्यास या त्यागी जीवन का ऐसा अर्थ विकास गांधीजी ने समाज में प्रतिष्ठित किया है।

साम्यदृष्टि और अनेकान्तवाद

जैन परंपरा का साम्य दृष्टि पर इतना अधिक भार है कि उसने साम्य दृष्टि को ही ब्राह्मण परंपरा में लब्धप्रतिष्ठ ब्रह्म कहकर साम्यदृष्टिपोषक सारे आचार विचार को 'ब्रह्मचर्य'–'बम्भचेराइं' कहा है, जैसा कि बौद्ध परंपरा ने मैत्री आदि भावनाओं को ब्रह्मविहार कहा है। इतना ही नहीं पर धम्मपद[२] और शांति पर्व की तरह जैन ग्रन्थ[३] में भी समत्व धारण करनेवाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच का अंतर मिटाने का प्रयत्न किया है।

साम्यदृष्टि जैन परम्परा में मुख्यतया दो प्रकार से व्यक्त हुई है–(१) आचार में और (२) विचार में। जैन धर्म का बाह्य-आभ्यन्तर, स्थूल-सूक्ष्म सब आचार साम्य दृष्टि मूलक अहिंसा के केन्द्र के आसपास ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न होती हो ऐसे किसी भी आचार को जैन परम्परा मान्य नहीं रखती। यद्यपि सब धार्मिक परम्पराओं ने अहिंसा तत्त्व पर

१. आचारांग १-५-३।
२. ब्राह्मण वर्ग २६।
३. उत्तराध्ययन २५।

न्यूनाधिक भार दिया है पर जैन परम्परा ने उस तत्त्व पर जितना भार दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है, उतना भार और उतनी व्यापकता अन्य धर्म परम्परा में देखी नहीं जाती। मनुष्य, पशु-पक्षी कीट-पतंग, और वनस्पति ही नहीं बल्कि पार्थिव जलीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओं तक की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा गया है।

विचार में साम्य दृष्टि की भावना पर जो भार दिया गया है उसी में से अनेकान्त दृष्टि या विभज्यवाद का जन्म हुआ है। केवल अपनी दृष्टि या विचार सरणी को ही पूर्ण अन्तिम सत्य मानकर उस पर आग्रह रखना यह साम्य दृष्टि के लिए घातक है। इसलिए कहा गया है कि दूसरों की दृष्टि का भी उतना ही आदर करना जितना अपनी दृष्टि का। यही साम्य दृष्टि अनेकान्तवाद की भूमिका है। इस भूमिका में से ही भाषा प्रधान स्याद्वाद और विचारप्रधान नयवाद का क्रमशः विकास हुआ है। यह नहीं है कि अन्यान्य परम्पराओं में अनेकान्त दृष्टि का स्थान ही न हो। मीमांसक और कपिल दर्शन के उपरांत न्याय दर्शन में भी अनेकान्तवाद का स्थान है। बुद्ध भगवान् का विभज्यवाद और मध्यममार्ग भी अनेकान्त दृष्टि के ही फल हैं; फिर भी जैन परम्परा ने जैसे अहिंसा पर अत्यधिक भार दिया है वैसे ही उसने अनेकान्त दृष्टि पर भी अत्यधिक भार दिया है। इसलिए जैन परम्परा में आचार या विचार का कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर अनेकान्त दृष्टि लागू न की गई हो या जो अनेकान्त दृष्टि की मर्यादा से बाहर हो। यही कारण है कि अन्यान्य परम्पराओं के विद्वानों ने अनेकांत दृष्टि को मानते हुए भी उस पर स्वतंत्र साहित्य रचा नहीं है, जब कि जैन परम्परा के विद्वानों ने उसके अंगभूत स्याद्वाद, नयवाद आदि के बोधक और समर्थक विपुल स्वतंत्र साहित्य का निर्माण किया है।

अहिंसा—

हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। यह विचार तब तक पूरा समझ में आ नहीं सकता जब तक यह न बतलाया जाए कि हिंसा किस की होती है तथा हिंसा कौन व किस कारण से करता है और उसका परिणाम क्या है। इसी प्रश्न को स्पष्ट समझाने की दृष्टि से मुख्यतया चार विद्याएँ जैन परम्परा में फलित हुई हैं-(१) आत्मविद्या (२) कर्मविद्या (३) चरित्रविद्या और (४) लोकविद्या। इसी तरह अनेकांत दृष्टि के द्वारा मुख्यतया श्रुतविद्या और प्रमाण विद्या का निर्माण व पोषण हुआ है। इस प्रकार अहिंसा, अनेकांत और तन्मूलक विद्यायें ही जैनधर्म का प्राण है जिस पर आगे संक्षेप में विचार किया जाता है।

आत्मविद्या और उत्क्रान्तिवाद—

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीगत, जलगत या वनस्पतिगत हो या कीट-पतंग पशु-पक्षी रूप हो या मानव रूप हो वह सब तात्त्विक दृष्टि से समान है। यही जैन आत्मविद्या का सार है। समानता के इस सैद्धान्तिक विचार को अमल में लाना—उसे यथासंभव जीवन के व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में उतारने का अप्रमत्त भाव से प्रयत्न करना यही अहिंसा है। आत्मविद्या कहती कि यदि जीवन-व्यवहार में साम्य का अनुभव न हो तो आत्मसाम्य का सिद्धान्त कोरा वाद मात्र है। समानता के सिद्धान्त को अमली बनाने के लिए ही आचारांग सूत्र के अध्ययन में कहा गया है कि जैसे तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो वैसा ही पर दुःख का अनुभव करो। अर्थात् अन्य के दुःख का आत्मीय दुःख रूप से संवेदन न हो तो अहिंसा सिद्ध होना संभव नहीं।

जैसे आत्म समानता के तात्त्विक विचार में से अहिंसा के आचार का समर्थन किया गया है वैसे ही उसी विचार में से जैन परम्परा में यह भी आध्यात्मिक मंतव्य फलित हुआ है कि जीवगत शारीरिक, मानसिक आदि वैषम्य कितना ही क्यों न हो पर आगंतुक है—कर्ममूलक है, वास्तविक नहीं है। अतएव क्षुद्र से क्षुद्र अवस्था में पड़ा हुआ जीव भी कभी मानवकोटि में आ सकता है और मानव-कोटिगत जीव भी क्षुद्रतम वनस्पति अवस्था में जा सकता है, इतना ही नहीं बल्कि वनस्पति जीव विकास के द्वारा मनुष्य की तरह कभी सर्वथा बंधनमुक्त हो सकता है। ऊँच-नीच गति या योनि का एवं सर्वथा मुक्ति का आधार एक मात्र कर्म है। जैसा कर्म, जैसा संस्कार या जैसी वासना वैसी ही आत्मा की अवस्था, पर तात्त्विक रूप से सब आत्माओं का स्वरूप सर्वथा एक-सा है जो नैष्कर्म्य अवस्था में पूर्ण रूप से प्रकट होता है। यही आत्मसाम्यमूलक उत्क्रान्तिवाद है।

सांख्य, योग, बौद्ध आदि द्वैतवादी अहिंसा समर्थक परम्पराओं का और और बातों में जैन परम्परा के साथ जो कुछ मतभेद हो पर अहिंसाप्रधान आचार तथा उत्क्रान्तिवाद के विषय में सब का पूर्ण ऐकमत्य है। आत्माद्वैतवादी औपनिषद परम्परा अहिंसा का समर्थन समानता के सिद्धान्त पर नहीं पर अद्वैत के सिद्धान्त पर करती है। वह कहती है कि तत्त्व रूप से जैसे तुम वैसे ही अन्य सभी जीव शुद्ध ब्रह्म—एक ब्रह्मरूप हैं। जो जीवों का पारस्परिक भेद देखा जाता है वह वास्तवित न होकर अविद्यामूलक है। इसलिए अन्य जीवों को अपने से अभिन्न ही समझना चाहिए और अन्य के दुःख को अपना दुःख समझ कर हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

द्वैतवादी जैन आदि परम्पराओं के और अद्वैतवादी परम्परा के बीच अंतर केवल इतना ही है कि पहली परंपराएँ प्रत्येक जीवात्मा का वास्तविक भेद मान कर भी उन सब में तात्त्विक रूप से समानता स्वीकार करके अहिंसा का उद्बोधन करती हैं, जब कि अद्वैत परम्परा जीवात्माओं के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मानकर उनमें तात्त्विक रूप से पूर्ण अभेद मानकर उसके आधार पर अहिंसा का उद्बोधन करती हैं। अद्वैत परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि और भिन्न-भिन्न गतिवाले जीवों में दिखाई देनेवाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखंड ब्रह्म हैं, जब कि जैन जैसी द्वैतवादी परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्त्व रूप से स्वतंत्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परम्परा के अनुसार अखंड एक ब्रह्म में से नानाजीव की सृष्टि हुई है जब कि दूसरी परम्पराओं के अनुसार जुदे-जुदे स्वतंत्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव हैं. द्वैतमूलक समानता के सिद्धान्त में से ही अद्वैतमूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमशः विकसित हुआ जान पड़ता है परन्तु अहिंसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद में भी द्वैतवाद के विचार के अनुसार ही घटाया गया है। वाद कोई भी हो पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।

कर्मविद्या और बंध-मोक्ष—

जब तत्त्वतः सब जीवात्मा समान हैं तो फिर उनमें परस्पर वैषम्य क्यों, तथा एक ही जीवात्मा में काल भेद से वैषम्य क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में से ही कर्म-विद्या का जन्म हुआ है। जैसा कर्म वैसी अवस्था यह मान्यता वैषम्य का स्पष्टीकरण तो कर देती है, पर साथ ही साथ यह भी कहती है कि अच्छा या बुरा कर्म करने एवं न करने में जीव ही स्वतंत्र है, जैसा वह चाहे वैसा सत् या असत् पुरुषार्थ कर सकता है और वही अपने वर्तमान और भावी का निर्माता है। कर्म-वाद कहता है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर और भविष्य का निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। तीनों काल की पारस्परिक संगति कर्म-वाद पर ही अवलंबित है। यही पुनर्जन्म के विचार का आधार है।

वस्तुतः अज्ञान और राग-द्वेष ही कर्म है। अपने पराये की वास्तविक प्रतीति न होना अज्ञान या जैन परम्परा के अनुसार दर्शन मोह है। इसी को सांख्य, बौद्ध आदि अन्य परम्पराओं में अविद्या कहा है। अज्ञान-जनित इष्टानिष्ट की कल्पनाओं के कारण जो-जो वृत्तियाँ, या जो-जो विकार पैदा होते हैं वही संक्षेप में राग-द्वेष कहे गए हैं। यद्यपि राग-द्वेष ही हिंसा के प्रेरक हैं पर वस्तुतः सब की

जड़ अज्ञान–दर्शन मोह या अविद्या ही है, इसलिए हिंसा की असली जड़ अज्ञान ही है। इस विषय में आत्मवादी सब परपराएँ एकमत हैं।

ऊपर जो कर्म का स्वरूप बतलाया है वह जैन परिभाषा में भाव कर्म है और वह आत्मगत संस्कार विशेष है। यह भावकर्म आत्मा के इर्दगिर्द सदा वर्तमान ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को आकृष्ट करता है और उसे विशिष्ट रूप अर्पित करता है। विशिष्ट रूप प्राप्त यह भौतिक परमाणु पुंज ही द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहलाता है जो जन्मान्तर में जीव के साथ जाता है और स्थूल शरीर के निर्माण की भूमिका बनता है। ऊपर-ऊपर से देखने पर मालूम होता है कि द्रव्यकर्म का विचार जैन परंपरा की कर्मविद्या में है, पर अन्य परंपरा की कर्मविद्या में वह नहीं है, परन्तु सूक्ष्मता से देखनेवाला जान सकता है कि वस्तुतः ऐसा नहीं है। साँख्य-योग, वेदान्त आदि परंपराओं में जन्मजन्मान्तर-गामी सूक्ष्म या लिंग शरीर का वर्णन है। यह शरीर अन्तःकरण, अभिमान मन आदि प्राकृत या मायिक तत्त्वों का बना हुआ माना गया है जो वास्तव में जैन परंपरासंमत भौतिक कार्मण शरीर के ही स्थान में है। सूक्ष्म या कार्मण शरीर की मूल कल्पना एक ही है। अन्तर है तो उसके वर्णन प्रकार में और न्यूनाधिक विस्तार में एवं वर्गीकरण में जो हजारों वर्ष से जुदा-जुदा विचार-चिंतन करने वाली परंपराओं में होना स्वाभाविक है। इस तरह हम देखते हैं तो आत्मवादी सब परंपराओं में पुनर्जन्म के कारण रूप से कर्मतत्त्व का स्वीकार है और जन्म-जन्मान्तरगामी भौतिक शरीररूप द्रव्यकर्म का भी स्वीकार है। न्याय वैशेषिक परंपरा जिसमें ऐसे सूक्ष्म शरीर का कोई खास स्वीकार नहीं है उसने भी जन्मजन्मान्तरगामी अणुरूप मन को स्वीकार करके द्रव्य कर्म के विचार को अपनाया है।

पुनर्जन्म और कर्म की मान्यता के बाद जब मोक्ष की कल्पना भी तत्त्वचिंतन में स्थिर हुई तब से अभी तक की बंध-मोक्षवादी भारतीय तत्त्वचिंतकों की आत्म-स्वरूप-विषयक मान्यताएँ कैसी-कैसी हैं और उनमें विकासक्रम की दृष्टि से जैन मन्तव्य के स्वरूप का क्या स्थान है इसे समझने के लिए संक्षेप में बंधमोक्षवादी मुख्य-मुख्य सभी परंपराओं के मन्तव्यों को नीचे दिया जाता है। (१) जैन परंपरा के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर में जुदा-जुदा है। वह स्वयं शुभाशुभ कर्म का कर्ता और कर्म के फल—सुख-दुःख आदि का भोक्ता है। वह जन्मान्तर के समय स्थानान्तर को जाता है और स्थूल देह के अनुसार संकोच विस्तार धारण करता है। वही मुक्ति पाता है और मुक्तिकाल में सांसारिक सुख-दुःख ज्ञान-अज्ञान आदि शुभाशुभ कर्म आदि भावों से सर्वथा छूट जाता है।

(२) सांख्य योग परंपरा के अनुसार आत्मा भिन्न-भिन्न है पर वह कूटस्थ एवं व्यापक होने से न कर्म का कर्ता भोक्ता, जन्मान्तरगामी, गतिशील है और न तो मुक्तिगामी ही है। उस परंपरा के अनुसार तो प्राकृत बुद्धि या अन्तःकरण ही कर्म का कर्ता भोक्ता जन्मान्तरगामी संकोच विस्तारशील ज्ञान-अज्ञान आदि भावों का आश्रय और मुक्ति-काल में उन भावों से रहित है। सांख्य योग परंपरा अन्तःकरण के बंधमोक्ष को ही उपचार से पुरुष के मान लेती है। (३) न्यायवैशेषिक परंपरा के अनुसार आत्मा अनेक हैं, वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक माना गया है फिर भी वह जैन परंपरा की तरह वास्तविक रूप से कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त भी माना गया है। (४) अद्वैतवादी वेदान्त के अनुसार आत्मा वास्तव में नाना नहीं पर एक ही है। वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक है अतएव न तो वास्तव में बद्ध है और न मुक्त। उसमें अन्तःकरण का बंधमोक्ष ही उपचार से माना गया है। (५) बौद्धमत के अनुसार आत्मा या चित्त नाना है; वही कर्ता, भोक्ता, बंध और निर्वाण का आश्रय है। वह न तो कूटस्थ है, न व्यापक, वह केवल ज्ञानक्षणपरंपरा रूप है जो हृदय इन्द्रिय जैसे अनेक केन्द्रों में एक साथ या क्रमशः निमित्तानुसार उत्पन्न व नष्ट होता रहता है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि जैन परंपरा संमत आत्मस्वरूप बंधमोक्ष के तत्त्वचिंतकों की कल्पना का अनुभवमूलक पुराना रूप है। सांख्ययोग संमत आत्मस्वरूप उन तत्त्वचिंतकों की कल्पना की दूसरी भूमिका है। अद्वैतवाद संमत आत्मस्वरूप सांख्ययोग की बहुत्वविषयक कल्पना का एकस्वरूप में परिमार्जनमात्र है, जब कि न्यायवैशेषिक संमत आत्मस्वरूप जैन और सांख्ययोग की कल्पना का मिश्रणमात्र है। बौद्ध संमत आत्मस्वरूप जैन कल्पना का ही तर्कशोधित रूप है।

एकत्वरूप चारित्रविद्या—

आत्मा और कर्म के स्वरूप को जानने के बाद ही यह जाना जा सकता है कि आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में चारित्र का क्या स्थान है। मोक्षतत्त्वचिंतकों के अनुसार चारित्र का उद्देश्य आत्मा को कर्म से मुक्त करना ही है। चारित्र के द्वारा कर्म से मुक्ति मान लेने पर भी यह प्रश्न रहता ही है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मा के साथ पहले-पहल कर्म का संबंध कब और क्यों हुआ या ऐसा संबंध किसने किया? इसी तरह यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मतत्त्व के साथ यदि किसी न किसी तरह से कर्म का संबन्ध हुआ माना जाए तो चारित्र

के द्वारा मुक्ति सिद्ध होने के बाद भी फिर कर्म संबंध क्यों नहीं होगा ? इन दो प्रश्नों का उत्तर आध्यात्मिक सभी चिंतकों ने लगभग एक सा ही दिया है । सांख्ययोग हो या वेदान्त, न्यायवैशेषिक हो या बौद्ध इन सभी दर्शनों की तरह जैन दर्शन का भी यही मंतव्य है कि कर्म और आत्मा का संबंध अनादि है क्योंकि उस संबंध का आदिक्षण सर्वथा ज्ञानसीमा के बाहर है । सभी ने यह माना है कि आत्मा के साथ कर्म–अविद्या या माया का संबंध प्रवाह रूप से अनादि है फिर भी व्यक्ति रूप से वह संबंध सादि है क्योंकि हम सबका ऐसा अनुभव है कि अज्ञान और राग-द्वेष से ही कर्मवासना की उत्पत्ति जीवन में होती रहती है । सर्वथा कर्म छूट जाने पर जो आत्मा का पूर्ण शुद्ध रूप प्रकट होता है उसमें पुनः कर्म या वासना उत्पन्न क्यों नहीं होती इसका खुलासा तर्कवादी आध्यात्मिक चिंतकों ने यों किया है कि आत्मा स्वभावतः शुद्धि-पक्षपाती है । शुद्धि के द्वारा चेतना आदि स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास होने के बाद अज्ञान या राग-द्वेष जैसे दोष जड़ से ही उच्छिन्न हो जाते हैं अर्थात् वे प्रयत्नपूर्वक शुद्धि को प्राप्त ऐसे आत्मतत्त्व में अपना स्थान पाने के लिए सर्वथा निर्बल हो जाते हैं ।

चारित्र का कार्य जीवनगत वैषम्य के कारणों को दूर करना है, जो जैन परिभाषा में 'संवर' कहलाता है । वैषम्य के मूल कारण अज्ञान का निवारण आत्मा की सम्यक् प्रतीति से होता है और राग-द्वेष जैसे क्लेशों का निवारण माध्यस्थ्य की सिद्धि से । इसलिए आन्तर चारित्र में दो ही बातें आती हैं । (१) आत्म-ज्ञान–विवेक-ख्याति (२) माध्यस्थ्य या राग-द्वेष आदि क्लेशों का जय । ध्यान, व्रत, नियम, तप, आदि जो-जो उपाय आन्तर चारित्र के पोषक होते हैं वे ही बाह्य चारित्र रूप से साधक के लिए उपादेय माने गए हैं ।

आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रान्ति आन्तर चारित्र के विकासक्रम पर अवलंबित है । इस विकासक्रम का गुणस्थान रूप से जैन परम्परा में अत्यंत विशद और विस्तृत वर्णन है । आध्यात्मिक उत्क्रान्ति क्रम के जिज्ञासुओं के लिए योगशास्त्र-प्रसिद्ध मधुमती आदि भूमिकाओं का, बौद्धशास्त्रप्रसिद्ध सोतापन्न आदि भूमिकाओं का, योगवासिष्ठप्रसिद्ध अज्ञान और ज्ञानभूमिकाओं का, आजीवक-परंपराप्रसिद्ध मंद-भूमि आदि भूमिकाओं का और जैन परंपरा प्रसिद्ध गुणस्थानों का तथा योग दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन बहुत रसप्रद एवं उपयोगी है, जिसका वर्णन यहाँ संभव नहीं । जिज्ञासु अन्यत्र प्रसिद्ध [1] लेखों से जान सकता है ।

---

१. "भारतीय दर्शनोमां आध्यात्मिक विकासक्रम—पुरातत्त्व १-पृ० १४६ ।

मैं यहाँ उन चौदह गुणस्थानों का वर्णन न करके संक्षेप में तीन भूमिकाओं का ही परिचय दिये देता हूँ, जिनमें-गुणस्थानों का समावेश हो जाता है। पहली भूमिका है बहिरात्म, जिसमें आत्मज्ञान या विवेकख्याति का उदय ही नहीं होता। दूसरी भूमिका अन्तरात्म है, जिसमें आत्मज्ञान का उदय तो होता है पर राग-द्वेष आदि क्लेश मंद होकर भी अपना प्रभाव दिखलाते रहते हैं। तीसरी भूमिका है परमात्मा। इसमें राग-द्वेष का पूर्ण उच्छेद होकर वीतरागत्व प्रकट होता है।

लोकविद्या—

लोकविद्या में लोक के स्वरूप का वर्णन है। जीव–चेतन और अजीव–अचेतन या जड़ इन दो तत्त्वों का सहचार ही लोक है। चेतन-अचेतन दोनों तत्त्व न तो किसी के द्वारा कभी पैदा हुए हैं और न कभी नाश पाते हैं फिर भी स्वभाव से परिणामान्तर पाते रहते हैं। संसार काल में चेतन के ऊपर अधिक प्रभाव डालनेवाला द्रव्य एक मात्र जड़-परमाणुपुंज पुद्गल है, जो नानारूप से चेतन के संबंध में आता है और उसकी शक्तियों को मर्यादित भी करता है। चेतन तत्त्व की साहजिक और मौलिक शक्तियाँ ऐसी हैं जो योग्य दिशा पाकर कभी न कभी उन जड़ द्रव्यों के प्रभाव से उसे मुक्त भी कर देती हैं। जड़ और चेतन के पारस्परिक प्रभाव का क्षेत्र ही लोक है और उस प्रभाव से छुटकारा पाना ही लोकान्त है। जैन परंपरा की लोकक्षेत्र-विषयक कल्पना सांख्य-योग, पुराण और बौद्ध आदि परंपराओं की कल्पना से अनेक अंशों में मिलती-जुलती है।

जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह परमाणुवादी है, सांख्ययोग की तरह प्रकृतिवादी नहीं है तथापि जैन परंपरा सम्मत परमाणु का स्वरूप सांख्य-परंपरा सम्मत प्रकृति के स्वरूप के साथ जैसा मिलता है वैसा न्यायवैशेषिकसम्मत परमाणु स्वरूप के साथ नहीं मिलता, क्योंकि जैन सम्मत परमाणु सांख्यसम्मत प्रकृति की तरह परिणामी है, न्यायवैशेषिक सम्मत परमाणु की तरह कूटस्थ नहीं है। इसीलिए जैसे एक ही सांख्यसंमत प्रकृति पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि अनेक भौतिक सृष्टियों का उपादान बनती है वैसे ही जैन सम्मत एक ही परमाणु पृथ्वी, जल, तेज आदि नानारूप में परिणत होता है। जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह यह नहीं मानती कि पार्थिव, जलीय आदि भौतिक परमाणु मूल में ही सदा भिन्न जातीय हैं। इसके सिवाय और भी एक अन्तर ध्यान देने योग्य है। वह यह कि जैनसम्मत परमाणु वैशेषिक सम्मत परमाणु की अपेक्षा इतना अधिक सूक्ष्म है कि अन्त में वह सांख्यसम्मत प्रकृति जैसा ही अव्यक्त बन जाता है। जैन

परंपरा का अनंत परमाणुवाद प्राचीन सांख्यसम्मत पुरुषबहुत्वानुरूप प्रकृति-बहुत्ववाद[1] से दूर नहीं है।

जैनमत और ईश्वर

जैन परंपरा सांख्ययोग मीमांसक आदि परंपराओं की तरह लोक को प्रवाह रूप से अनादि और अनंत ही मानती है। वह पौराणिक या वैशेषिक मत की तरह उसका सृष्टिसंहार नहीं मानती. अतएव जैन परंपरा में कर्ता संहर्ता रूप से ईश्वर जैसी स्वतंत्र व्यक्ति का कोई स्थान ही नहीं है। जैन सिद्धांत कहता है कि प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टि का आप ही कर्ता है। उसके अनुसार तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वर भाव है जो मुक्ति के समय प्रकट होता है। जिसका ईश्वर भाव प्रकट हुआ है वही साधारण लोगों के लिए उपास्य बनता है। योग-शास्त्रसंमत ईश्वर भी मात्र उपास्य है, कर्ता संहर्ता नहीं, पर जैन और योगशास्त्र की कल्पना में अन्तर है। वह यह कि योगशास्त्र सम्मत ईश्वर सदा मुक्त होने के कारण अन्य पुरुषों से भिन्न कोटि का है; जब कि जैनशास्त्र संमत ईश्वर वैसा नहीं है। जैनशास्त्र कहता है कि प्रयत्न साध्य होने के कारण हर कोई योग्य साधक ईश्वरत्व लाभ करता है और सभी मुक्त समान भाव से ईश्वर रूप से उपास्य हैं।

श्रुतविद्या और प्रमाणविद्या—

पुराने और अपने समय तक में ज्ञात ऐसे अन्य विचारकों के विचारों का तथा स्वानुभवमूलक अपने विचारों का सत्यलक्षी संग्रह ही श्रुतविद्या है। श्रुतविद्या का ध्येय यह है कि सत्यस्पर्शी किसी भी विचार या विचारसरणी की अवगणना या उपेक्षा न हो। इसी कारण से जैन परंपरा की श्रुतिविद्या नव-नव विद्याओं के विकास के साथ विकसित होती रही है। यही कारण है कि श्रुत-विद्या में संग्रहनयरूप से जहाँ प्रथम सांख्यसम्मत सदद्वैत लिया गया वहीं ब्रह्मा-द्वैत के विचार विकास के बाद संग्रहनय रूप से ब्रह्माद्वैत विचार ने भी स्थान प्राप्त किया है। इसी तरह जहाँ ऋजुसूत्र नयरूप से प्राचीन बौद्ध क्षणिकवाद संग्रहीत हुआ है वहीं आगे के महायानी विकास के बाद ऋजुसूत्र नयरूप से

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका-पृ०-९९—"मौलिकसांख्या हि आत्मान-मात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वपि एकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः।"

वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन चारों प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओं का संग्रह हुआ है।

अनेकान्त दृष्टि का कार्यप्रदेश इतना अधिक व्यापक है कि इसमें मानव-जीवन की हितावह ऐसी सभी लौकिक लोकोत्तर विद्याएँ अपना-अपना योग्य स्थान प्राप्त कर लेती हैं। यही कारण है कि जैन श्रुतविद्या में लोकोत्तर विद्याओं के अलावा लौकिक विद्याओं ने भी स्थान प्राप्त किया है।

प्रमाणविद्या में प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि ज्ञान के सब प्रकारों का, उनके साधनों का तथा उनके बलाबल का विस्तृत विवरण आता है। इसमें भी अनेकान्त दृष्टि का ऐसा उपयोग किया गया है कि जिससे किसी भी तत्त्वचिंतक के यथार्थ विचार की अवगणना या उपेक्षा नहीं होती, प्रत्युत ज्ञान और उसके साधन से संबंध रखनेवाले सभी ज्ञान विचारों का यथावत् विनियोग किया गया है।

यहाँ तक का वर्णन जैन परंपरा के प्राणभूत अहिंसा और अनेकान्त से संबंध रखता है। जैसे शरीर के बिना प्राण की स्थिति असंभव है वैसे ही धर्मशरीर के सिवाय धर्म प्राण की स्थिति भी असंभव है। जैन परंपरा का धर्मशरीर भी संघ-रचना, साहित्य, तीर्थ, मन्दिर आदि धर्मस्थान, शिल्पस्थापत्य, उपासनाविधि, ग्रंथसंग्राहक भांडार आदि अनेक रूप से विद्यमान है। यद्यपि भारतीय संस्कृति की विरासत के अविकल अध्ययन की दृष्टि से जैनधर्म के ऊपर सूचित अंगों का तात्त्विक एवं ऐतिहासिक वर्णन आवश्यक एवं रसप्रद भी है तथापि वह प्रस्तुत निबंध की मर्यादा के बाहर है। अतएव जिज्ञासुओं को अन्य साधनों के द्वारा अपनी जिज्ञासा को तृप्त करना चाहिए।

ई० १९४९]

——:o:——

जैन-संस्कृति का हृदय

संस्कृति का स्रोत—

संस्कृति का स्रोत नदी के ऐसे प्रवाह के समान है जो अपने प्रभवस्थान से अन्त तक अनेक दूसरे छोटे-मोटे जल-स्रोतों से मिश्रित, परिवर्धित और परिवर्तित होकर अनेक दूसरे मिश्रणों से भी युक्त होता रहता है और उद्गम-स्थान में पाए जानेवाले रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद आदि में कुछ-न-कुछ परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है। जैन कहलाने वाली संस्कृति भी उस संस्कृति-सामान्य के नियम का अपवाद नहीं है। जिस संस्कृति को आज हम जैन-संस्कृति के नाम से पहचानते हैं उसके सर्वप्रथम, आविर्भावक कौन थे और उनसे वह पहिले-पहल किस स्वरूप में उद्गत हुई इसका पूरा-पूरा सही वर्णन करना इतिहास की सीमा के बाहर है। फिर भी उस पुरातन प्रवाह का जो और जैसा स्रोत हमारे सामने है तथा वह जिन आधारों के पट पर बहता चला आया है, उस स्रोत तथा उन साधनों के ऊपर विचार करते हुए हम जैन-संस्कृति का हृदय थोड़ा-बहुत पहिचान पाते हैं।

जैन-संस्कृति के दो रूप—

जैन-संस्कृति के भी, दूसरी संस्कृतियों की तरह, दो रूप हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तर। बाह्य रूप वह है जिसे उस संस्कृति के अलावा दूसरे लोग भी आंख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों से जान सकते हैं। पर संस्कृति का आन्तर स्वरूप ऐसा नहीं होता। क्योंकि किसी भी संस्कृति के आन्तर स्वरूप का साक्षात् आकलन तो सिर्फ उसी को होता है जो उसे अपने जीवन में तन्मय कर ले। दूसरे लोग उसे जानना चाहें तो साक्षात् दर्शन कर नहीं सकते। पर उस आन्तर संस्कृतिमय जीवन बितानेवाले पुरुष या पुरुषों के जीवन-व्यवहारों से तथा आस-पास के वातावरण पर पड़नेवाले उनके असरों से वे किसी भी आन्तर संस्कृति का अन्दाजा लगा सकते हैं। यहां मुझे मुख्यतया जैन-संस्कृति के उस आन्तर रूप का या हृदय का ही परिचय देना है, जो बहुधा अभ्यासजनित कल्पना तथा अनुमान पर ही निर्भर है।

जैन-संस्कृति का बाह्य स्वरूप—

जैन संस्कृति के बाहरी स्वरूप में, अन्य संस्कृतियों के बाहरी स्वरूप की तरह अनेक वस्तुओं का समावेश होता है। शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उसका स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमें काम आनेवाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खानपान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयों का जैन समाज के साथ एक निराला संबन्ध है और प्रत्येक विषय अपना खास इतिहास भी रखता है। ये सभी बातें बाह्यसंस्कृति की अंग हैं पर यह कोई नियम नहीं है कि जहाँ-जहाँ और जब ये तथा ऐसे दूसरे अंग मौजूद हों वहाँ और तब उसका हृदय भी अवश्य होना ही चाहिए। बाह्य अगों के होते हुए भी कभी हृदय नहीं रहता और बाह्य अंगों के अभाव में भी संस्कृति का हृदय संभव है। इस दृष्टि को सामने रखकर विचार करनेवाला कोई भी व्यक्ति भलीभांति समझ सकेगा कि जैन-संस्कृति का हृदय, जिसका वर्णन मैं यहाँ करने जा रहा हूं वह केवल जैन समाजजात और जैन कहलाने वाले व्यक्तियों में ही संभव है ऐसी कोई बात नहीं है। सामान्य लोग जिन्हें जैन समझते हैं, या जो अपने को जैन कहते हैं, उनमें अगर आन्तरिक योग्यता न हो तो वह हृदय संभव नहीं और जैन नहीं कहलाने वाले व्यक्तियों में भी अगर वास्तविक योग्यता हो तो वह हृदय संभव है। इस तरह जब संस्कृति का बाह्य रूप समाज तक ही सीमित होने के कारण अन्य समाज में सुलभ नहीं होता तब संस्कृति का हृदय उस समाज के अनुयायियों की तरह इतर समाज के अनुयायियों में भी संभव होता है। सच तो यह है कि संस्कृति का हृदय या उसकी आत्मा इतनी व्यापक और स्वतन्त्र होती है कि उसे देश, काल, जात-पांत, भाषा और रीति-रस्म आदि न तो सीमित कर सकते हैं और न अपने साथ बांध सकते हैं।

जैन-संस्कृति का हृदय—निवर्त्तक धर्म—

अब प्रश्न यह है कि जैन-संस्कृति का हृदय क्या चीज है? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि निवर्त्तक धर्म जैन संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति कराने वाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश कराने वाला हो या उस निवृत्ति के साधन रूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्तक धर्म कहलाता है। इसका असली अर्थ समझने के लिए हमें प्राचीन किन्तु समकालीन इतर धर्म-स्वरूपों के बारे में थोड़ा सा विचार करना होगा।

धर्मों का वर्गीकरण—

इस समय जितने भी धर्म दुनियां में जीवित हैं या जिनका थोड़ा-बहुत इतिहास मिलता है, उन सब के आन्तरिक स्वरूप का अगर वर्गीकरण किया जाय तो वह मुख्यतया तीन भागों में विभाजित होता है।

१—पहला वह है, जो मौजूदा जन्म का ही विचार करता है।

२—दूसरा वह है जो मौजूदा जन्म के अलावा जन्मान्तर का भी विचार करता है।

३—तीसर वह है जो जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त उसके नाश का या उच्छेद का भी विचार करता है।

अनात्मवाद—

आज की तरह बहुत पुराने समय में भी ऐसे विचारक लोग थे जो वर्तमान जीवन में प्राप्त होनेवाले सुख से उस पार किसी अन्य सुख की कल्पना से न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधनों की खोज में समय बिताना ठीक समझते थे। उनका ध्येय वर्तमान जीवन का सुख-भोग ही था। और वे इसी ध्येय की पूर्ति के लिए सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं वह इसी जन्म तक हैं और मृत्यु के बाद हम फिर जन्म ले नहीं सकते। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्म का अर्थ हमारी सन्तति का चालू रहना है। अतएव हम जो अच्छा करेंगे उसका फल इस जन्म के बाद भोगने के वास्ते हमें उत्पन्न होना नहीं है। हमारे किये का फल हमारी सन्तान या हमारा समाज भोग सकता है। इसे पुनर्जन्म कहना हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा विचार करनेवाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम शास्त्रों में भी अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है। वही वर्ग कभी आगे जाकर चार्वाक कहलाने लगा। इस वर्ग की दृष्टि में साध्य-पुरुषार्थ एक मात्र काम अर्थात् सुख-भोग ही है। उसके साधन रूप से वह वर्ग धर्म की कल्पना नहीं करता या धर्म नाम से तरह-तरह के विधि-विधानों पर विचार नहीं करता। अतएव इस वर्ग को एक मात्र काम-पुरुषार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ उभयपुरुषार्थी कह सकते हैं।

प्रवर्तक-धर्म—

दूसरा विचारक वर्ग शारीरिक जीवनगत सुख को साध्य तो मानता है पर वह मानता है कि जैसा मौजूदा जन्म में सुख सम्भव है वैसे ही प्राणी मर कर फिर पुनर्जन्म ग्रहण करता है और इस तरह जन्मजन्मान्तर में शारीरिक-मानसिक सुखों

के प्रकर्ष-अपकर्ष की शृंखला चल रही है। जैसे इस जन्म में वैसे ही जन्मान्तर में भी हमें सुखी होना हो, या अधिक सुख पाना हो, तो इसके वास्ते हमें धर्मानुष्ठान भी करना होगा। अर्थोपार्जन आदि साधन वर्तमान जन्म में उपकारक भले ही हों पर जन्मान्तर के उच्च और उच्चतर सुख के लिए हमें धर्मानुष्ठान अवश्य करना होगा। ऐसी विचार-सरणी वाले लोग तरह-तरह के धर्मानुष्ठान करते थे और उसके द्वारा परलोक तथा लोकान्तर के उच्च सुख पाने की श्रद्धा भी रखते थे। यह वर्ग आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है ही पर उसकी कल्पना जन्म-जन्मान्तर में अधिकाधिक सुख पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिक-से-अधिक समय तक स्थिर रखने की होने से उसके धर्मानुष्ठानों को प्रवर्तक-धर्म कहा गया है। प्रवर्तक धर्म का संक्षेप में सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्य-बद्ध बनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा में सुख लाभ करे और साथ ही ऐसे जन्मान्तर की तैयारी करे कि जिससे दूसरे जन्म में भी वह वर्तमान जन्म की अपेक्षा अधिक और स्थायी सुख पा सके। प्रवर्तक-धर्म का उद्देश्य समाज व्यवस्था के साथ-साथ जन्मान्तर का सुधार करना है, न कि जन्मान्तर का उच्छेद। प्रवर्तक-धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म, तीन पुरुषार्थ हैं। उसमें मोक्ष नामक चौथे पुरुषार्थ की कोई कल्पना नहीं है। प्राचीन ईरानी आर्य जो अवस्ता को धर्मग्रन्थ मानते थे और प्राचीन वैदिक आर्य जो मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेद भाग को ही मानते थे, वे सब उक्त प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी हैं। आगे जाकर वैदिक दर्शनों में जो मीमांसा-दर्शन नाम से कर्मकाण्डी दर्शन प्रसिद्ध हुआ वह प्रवर्तक-धर्म का जीवित रूप है।

निवर्तक धर्म—

निवर्तक-धर्म ऊपर सूचित प्रवर्तक-धर्म का बिलकुल विरोधी है। जो विचारक इस लोक के उपरान्त लोकान्तर और जन्मान्तर मानने के साथ-साथ उस जन्मचक्र को धारण करनेवाली आत्मा को प्रवर्तक-धर्म-वादियों की तरह तो मानते ही थे; पर साथ ही वे जन्मान्तर में प्राप्य उच्च, उच्चतर और चिरस्थायी सुख से सन्तुष्ट न थे। उनकी दृष्टि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तर में कितना ही ऊँचा सुख क्यों न मिले, वह कितने ही दीर्घ काल तक क्यों न स्थिर रहे पर अगर वह सुख कभी न कभी नाश पानेवाला है तो फिर वह उच्च और चिरस्थायी सुख भी अंत में निकृष्ट सुख की कोटि का होने से उपादेय हो नहीं सकता। वे लोग ऐसे किसी सुख की खोज में थे जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट न हो। इस खोज की

सूझ ने उन्हें मोक्ष पुरुषार्थ मानने के लिए बाधित किया। वे मानने लगे कि एक ऐसी भी आत्मा की स्थिति संभव है जिसे पाने के बाद फिर कभी जन्म-जन्मान्तर या देह-धारण करना नहीं पड़ता। वे आत्मा की उस स्थिति को मोक्ष या जन्म-निवृत्ति कहते थे। प्रवर्तक-धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानों से इस लोक तथा परलोक के उत्कृष्ट सुखों के लिए प्रयत्न करते थे उन धार्मिक अनुष्ठानों को निवर्तक-धर्मानुयायी अपने साध्य मोक्ष या निवृत्ति के लिए न केवल अपर्याप्त ही समझते बल्कि वे उन्हें मोक्ष पाने में बाधक समझकर उन सब धार्मिक अनुष्ठानों को आत्यन्तिक हेय बतलाते थे। उद्देश्य और दृष्टि में पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर होने से प्रवर्तक-धर्मानुयायियों के लिए जो उपादेय वही निवर्तक-धर्मानुयायियों के लिए हेय बन गया। यद्यपि मोक्ष के लिए प्रवर्तक-धर्म बाधक माना गया पर साथ ही मोक्षवादियों को अपने साध्य मोक्ष-पुरुषार्थ के उपाय रूप से किसी सुनिश्चित मार्ग की खोज करना भी अनिवार्य रूप से प्राप्त था। इस खोज की सूझ ने उन्हें एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सुझाया जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था। वह एक मात्र साधक की अपनी विचार-शुद्धि और वर्तन शुद्धि पर अवलंबित था। यहीं विचार और वर्तन की आत्यन्तिक शुद्धि का मार्ग निवर्तक धर्म के नाम से या मोक्ष-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हम भारतीय संस्कृति के विचित्र और विविधि ताने-बाने की जांच करते हैं तब हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि भारतीय आत्मवादी दर्शनों में कर्मकाण्डी मीमांसक के अलावा सभी निवर्तक धर्मवादी हैं। अवैदिक माने जानेवाले बौद्ध और जैन दर्शन की संस्कृति तो मूल में निवर्तक-धर्म स्वरूप है ही पर वैदिक समझे जानेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा औपनिषद दर्शन की आत्मा भी निवर्तक-धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक हो या अवैदिक ये सभी निवर्तक-धर्म प्रवर्तक-धर्म को या यज्ञयागादि अनुष्ठानों को अन्त में हेय ही बतलाते हैं। और वे सभी सम्यक्-ज्ञान या आत्म-ज्ञान को तथा आत्म-ज्ञानमूलक अनासक्त जीवन व्यवहार को उपादेय मानते हैं। एवं उसी के द्वारा पुनर्जन्म के चक्र से छुट्टी पाना संभव बतलाते हैं।

समाजगामी प्रवर्तक-धर्म—

ऊपर सूचित किया जा चुका है कि प्रवर्तक-धर्म समाजगामी था। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर ही सामाजिक कर्तव्य जो ऐहिक जीवन से संबन्ध रखते हैं और धार्मिक कर्तव्य जो पारलौकिक जीवन से संबन्ध रखते हैं, उनका पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही ऋषि-ऋण

अर्थात् विद्याध्ययन आदि, पितृ-ऋण अर्थात् संतति-जननादि और देव-ऋण अर्थात् यज्ञयागादि बन्धनों से आबद्ध है। व्यक्ति को सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी कृपण इच्छा का संशोधन करना इष्ट है । पर उसका निर्मूल नाश करना न शक्य और न इष्ट। प्रवर्तक धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृस्थाश्रम जरूरी है उसे लांघ कर कोई विकास कर नहीं सकता।

व्यक्तिगामी निवर्तक-धर्म—

निवर्तक-धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्मसाक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु को आत्म तत्त्व है या नहीं, है तो वह कैसा है, उसका अन्य के साथ कैसा संबंध है, उसका साक्षात्कार संभव है तो किन-किन उपायों से संभव है, इत्यादि प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं हैं कि जो एकान्त-चिन्तन, ध्यान, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलभ सकें। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियों के लिए ही संभव हो सकता है। उसका समाजगामी होना संभव नहीं। इस कारण प्रवर्तक-धर्म की अपेक्षा निवर्तक-धर्म का क्षेत्र शुरू में बहुत परिमित रहा। निवर्तक-धर्म के लिए गृहस्थाश्रम का बंधन था ही नहीं। वह गृहस्थाश्रम बिना किये भी व्यक्ति को सर्वत्याग की अनुमति देता है। क्योंकि उसका आधार इच्छा का संशोधन नहीं पर उसका निरोध है । अतएव प्रवर्तक-धर्म समस्त सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो आत्मसाक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।

निवर्तक-धर्म का प्रभाव व विकास—

जान पड़ता है इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल आए तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्तक-धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू में इन दो धर्म संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा पर निवर्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामिओं को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक-धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ । इसका प्रभावकारी फल अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक-धर्म के आधार रूप जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे उनके स्थान में प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओं ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में

स्थान दिया। निवर्तक-धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जनव्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहाँ तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्यायप्राप्त है वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किये भी सीधे ही ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्यामार्ग न्यायप्राप्त है। इस तरह जो प्रवर्तक-धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजाजीवन में आज भी देखते हैं।

समन्वय और संघर्षण—

जो तत्त्वज्ञ ऋषि प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी ब्राह्मणों के वंशज होकर भी निवर्तक-धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे उन्होंने चिन्तन और जीवन में निवर्तक-धर्म का महत्त्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होंने अपनी पैत्रिक संपत्ति रूप प्रवर्त्तक-धर्म और उसके आधारभूत वेदों का प्रामाण्य मान्य रखा। न्यायवैशेषिक दर्शन के और औपनिषद दर्शन के आद्य द्रष्टा ऐसे ही तत्त्वज्ञ ऋषि थे। निवर्तक-धर्म के कोई-कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए कि जिन्होंने तप, ध्यान और आत्मसाक्षात्कार के बाधक क्रियाकांड का तो आत्यंतिक विरोध किया पर उस क्रियाकाण्ड की आधारभूत श्रुति का सर्वथा विरोध नहीं किया। ऐसे व्यक्तियों में सांख्य दर्शन के आदि पुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल में सांख्य-योग दर्शन प्रवर्तक-धर्म का विरोधी होने पर भी अन्त में वैदिक दर्शनों में समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश में शताब्दियों तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनों धर्मों में होते रहे कि वे अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक-धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न मानते थे, और न युक्त बतलाते थे। भगवान महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं। फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस देश में निवर्तक-धर्म की पोषक ऐसी अनेक संस्थाएँ थीं और दूसरी अनेक ऐसी नई पैदा हो रही थीं कि जो प्रवर्तक-धर्म का उग्रता से विरोध करती थीं। अब तक नीच से ऊँच तक के वर्गों में निवर्तक-धर्म की छाया में विकास पानेवाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान-मार्ग और नानाविध त्यागमय आचारों का इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समय में प्रवर्तक और निवर्तक-धर्म के बीच प्रबल विरोध की लहर उठी जिसका सबूत हम जैन-बौद्ध वाङ्मय तथा समकालीन ब्राह्मण वाङ्मय में पाते हैं। तथागत बुद्ध ऐसे पक्व विचारक और दृढ़ थे कि जिन्होंने किसी भी तरह से अपने निवर्तक-धर्म में प्रवर्तक-धर्म के आधारभूत मन्तव्यों और शास्त्रों को आश्रय नहीं दिया। दीर्घ तपस्वी महावीर भी ऐसे ही

कट्टर निवर्तक-धर्मी थे। अतएव हम देखते हैं कि पहिले से आज तक जैन और बौद्ध सम्प्रदाय में अनेक वेदानुयायी विद्वान् ब्राह्मण दीक्षित हुए फिर भी उन्होंने जैन और बौद्ध वाङ्मय में वेद के प्रामाण्य स्थापन का न कोई प्रयत्न किया और न किसी ब्राह्मणग्रन्थविहित यज्ञयागादि कर्मकाण्ड को मान्य रखा।

निवर्तक-धर्म के मन्तव्य और आचार—

शताब्दियों ही नहीं बल्कि सहस्राब्दि पहले से लेकर जो धीरे-धीरे निवर्तक धर्म के अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूप से अनेक मन्तव्यों और आचारों का महावीर-बुद्ध तक के समय में विकास हो चुका था वे संक्षेप में ये हैं:—१—आत्मशुद्धि ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, न कि ऐहिक या पारलौकिक किसी भी पद का महत्त्व। २—इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक आध्यात्मिक मोह, अविद्या और तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद करना। ३—इसके लिए आध्यत्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन व्यवहार को पूर्ण निस्तृष्ण बनाना। इसके वास्ते शारीरिक, मानसिक, वाचिक, विविध तपस्याओं का तथा नाना प्रकार के ध्यान, योग-मार्ग का अनुसरण और तीन चार या पाँच महाव्रतों का यावज्जीवन अनुष्ठान। ४—किसी भी आध्यात्मिक अनुभव वाले मनुष्य के द्वारा किसी भी भाषा में कहे गये आध्यात्मिक वर्णन वाले वचनों को ही प्रमाण रूप से मानना, न कि ईश्वरीय या अपौरुषेय रूप से स्वीकृत किसी खास भाषा में रचित ग्रन्थों को। ५—योग्यता और गुरुपद की कसौटी एक मात्र जीवन की आध्यात्मिक शुद्धि, न कि जन्मसिद्ध वर्णविशेष। इस दृष्टि से स्त्री और शूद्र तक का धर्माधिकार उतना ही है, जितना एक ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुष का। ६—मद्य-मांस आदि का धार्मिक और सामाजिक जीवन में निषेध। ये तथा इनके जैसे लक्षण जो प्रवर्तक-धर्म के आचारों और विचारों से जुदा पड़ते थे वे देश में जड़ जमा चुके थे और दिन-ब-दिन विशेष बल पकड़ते जाते थे।

निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय—

कमोवेश उक्त लक्षणों को धारण करनेवाली अनेक संस्थाओं और सम्प्रदायों में एक ऐसा पुराना निवर्तक-धर्मी सम्प्रदाय था जो महावीर के पहिले बहुत शताब्दियों से अपने खास ढङ्ग से विकास करता जा रहा था। उसी सम्प्रदाय में पहिले नाभिनन्दन ऋषभदेव, यदुनन्दन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ हो चुके थे, या वे उस सम्प्रदाय में मान्य पुरुष बन चुके थे। उस सम्प्रदाय के समय-समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे। यति, भिक्षु, मुनि, अनगार,

श्रमण आदि जैसे नाम तो उस सम्प्रदाय के लिए व्यवहृत होते थे पर जब दीर्घ तपस्वी महावीर उस सम्प्रदाय के मुखिया बने तब सम्भवतः वह सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि निवर्तक-धर्मानुयायी पन्थों में ऊँची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के वास्ते 'जिन' शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होता था। फिर भी भगवान् महावीर के समय में और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु या गृहस्थ वर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नाम से व्यवहृत नहीं होता था। आज जैन शब्द से महावीर-पोषित सम्प्रदाय के 'त्यागी' 'गृहस्थ' सभी अनुयायियों का जो बोध होता है इसके लिए पहिले 'निग्गंथ' और 'समणोवासग' आदि जैसे शब्द व्यवहृत होते थे।

जैन और बौद्ध सम्प्रदाय—

इस निर्ग्रन्थ या जैन सम्प्रदाय में ऊपर सूचित निवृत्ति-धर्म के सब लक्षण बहुधा थे ही पर इसमें ऋषभ आदि पूर्वकालीन त्यागी महापुरुषों के द्वारा तथा अन्त में ज्ञातपुत्र महावीर के द्वारा विचार और आचारगत ऐसी छोटी-बड़ी अनेक विशेषताएँ आई थीं व स्थिर हो गई थीं कि जिनसे ज्ञातपुत्र-महावीर पोषित यह सम्प्रदाय दूसरे निवृत्तिगामी सम्प्रदायों से खास जुदा रूप धारण किये हुए था। यहाँ तक कि यह जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से भी खास फर्क रखता था। महावीर और बुद्ध न केवल समकालीन ही थे बल्कि वे बहुधा एक ही प्रदेश में विचरने वाले तथा समान और समकक्ष अनुयायिओं को एक ही भाषा में उपदेश करते थे। दोनों के मुख्य उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं था फिर भी महावीर पोषित और बुद्धसंचालित सम्प्रदायों में शुरू से ही खास अन्तर रहा जो ज्ञातव्य है। बौद्ध सम्प्रदाय बुद्ध को ही आदर्श रूप से पूजता है तथा बुद्ध के ही उपदेशों का आदर करता है जब कि जैन सम्प्रदाय महावीर आदि को इष्ट देव मानकर उन्हीं के वचनों को मान्य रखता है। बौद्ध चित्तशुद्धि के लिए ध्यान और मानसिक संयम पर जितना जोर देते हैं उतना जोर बाह्य तप और देहदमन पर नहीं। जैन ध्यान और मानसिक संयम के अलावा देहदमन पर भी अधिक जोर देते रहे। बुद्ध का जीवन जितना लोकों में हिलने-मिलनेवाला तथा उनके उपदेश जितने अधिक सीधेसादे लोकसेवागामी हैं वैसा महावीर का जीवन तथा उपदेश नहीं हैं। बौद्ध अनगार की बाह्यचर्या उतनी नियन्त्रित नहीं रही जितनी जैन अनगारों की। इसके सिवाय और भी अनेक विशेषताएँ हैं जिनके कारण बौद्ध सम्प्रदाय भारत के समुद्र और पर्वतों की सीमा लांघकर उस पुराने

समय में भी अनेक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी, सभ्य-असभ्य जातियों में दूर-दूर तक फैला और करोड़ों अभारतियों ने भी बौद्ध आचार-विचार को अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी भाषा में उतारा व अपनाया जब कि जैन सम्प्रदाय के विषय में ऐसा नहीं हुआ।

यद्यपि जैन संप्रदाय ने भारत के बाहर स्थान नहीं जमाया फिर भी वह भारत के दूरवर्ती सब भागों में धीरे-धीरे न केवल फैल ही गया बल्कि उसने अपनी कुछ खास विशेषताओं की छाप प्रायः भारत के सभी भागों पर थोड़ी बहुत जरूर डाली। जैसे-जैसे जैन संप्रदाय पूर्व से उत्तर और पश्चिम तथा दक्षिण की ओर फैलता गया वैसे-वैसे उस प्रवर्तक-धर्म वाले तथा निवृत्ति-पंथी अन्य संप्रदायों के साथ थोड़े-बहुत संघर्ष में भी आना पड़ा। इस संघर्ष में कभी तो जैन आचार-विचारों का असर दूसरे संप्रदायों पर पड़ा और कभी दूसरे संप्रदायों के आचार-विचारों का असर जैन संप्रदाय पर भी पड़ा। यह क्रिया किसी एक ही समय में या एक ही प्रदेश में किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा संपन्न नहीं हुई। बल्कि दृश्य-अदृश्यी रूप में हजारों वर्ष तक चलती रही और आज भी चालू है। पर अन्त में जैन संप्रदाय और दूसरे भारतीय-अभारतीय सभी धर्म-संप्रदायों का स्थायी, सहिष्णुतापूर्ण समन्वय सिद्ध हो गया है जैसे कि एक कुटुम्ब के भाइयों में होकर रहता है। इस पीढ़ियों के समन्वय के कारण साधारण लोग यह जान ही नहीं सकते कि उसके धार्मिक आचार-विचार की कौन-सी बात मौलिक है और कौन-सी दूसरों के संसर्ग का परिणाम है। जैन आचार-विचार का जो असर दूसरों पर पड़ा है उसका दिग्दर्शन कराने के पहिले दूसरे संप्रदायों के आचार-विचार का जैन-मार्ग पर जो असर पड़ा है उसे संक्षेप में बतलाना ठीक होगा जिससे कि जैन संस्कृति का हार्द सरलता से समझा जा सके।

अन्य संप्रदायों का जैन-संस्कृति पर प्रभाव—

इन्द्र, वरुण आदि स्वर्गीय देव-देवियों की स्तुति, उपासना के स्थान में जैनों का आदर्श है निष्कलंक मनुष्य की उपासना। पर जैन आचार-विचार में बहिष्कृत देव देवियाँ, पुनः गौण रूप से ही सही, स्तुति-प्रार्थना द्वारा घुस ही गईं, जिसका कि जैन संस्कृति के उद्देश्य के साथ कोई भी मेल नहीं है। जैन-परंपरा ने उपासना में प्रतीक रूप से मनुष्य मूर्ति को स्थान तो दिया, जो कि उसके उद्देश्य के साथ संगत है, पर साथ ही उसके आसपास श्रृंगार व आडम्बर का इतना संभार आ गया जो कि निवृत्ति के लक्ष्य के साथ बिलकुल असंगत है।

स्त्री और शूद्र को आध्यात्मिक समानता के नाते ऊँचा उठाने का तथा समाज में सम्मान व स्थान दिलाने का जो जैन संस्कृति का उद्देश्य रहा वह यहाँ तक लुप्त हो गया कि न केवल उसने शूद्रों को अपनाने की क्रिया ही बन्द कर दी बल्कि उसने ब्राह्मण-धर्म-प्रसिद्ध जाति की दीवारें भी खड़ी कीं। यहाँ तक कि जहाँ ब्राह्मण-परंपरा का प्राधान्य रहा वहाँ तो उसने अपने घेरे में से भी शूद्र कहलाने वाले लोगों को अजैन कहकर बाहर कर दिया और शुरू में जैन-संस्कृति जिस जाति-भेद का विरोध करने में गौरव समझती थी उसने दक्षिण जैसे देशों में नए जाति-भेद की सृष्टि कर दी तथा स्त्रियों को पूर्ण आध्यात्मिक योग्यता के लिये असमर्थ करार दिया जो कि स्पष्टतः कट्टर ब्राह्मण-परंपरा का ही असर है। मन्त्र ज्योतिष आदि विद्याएँ जिनका जैन संस्कृति के ध्येय के साथ कोई संबन्ध नहीं वे भी जैन संस्कृति में आई। इतना ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करनेवाले अनगारों तक ने उन विद्याओं को अपनाया। जिन यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का मूल में जैन संस्कृति के साथ कोई संबन्ध न था वे ही दक्षिण हिन्दुस्तान में मध्यकाल में जैन-संस्कृति का एक अंग बन गए और इसके लिए ब्राह्मण-परंपरा की तरह जैन-परंपरा में भी एक पुरोहित वर्ग कायम हो गया। यज्ञयागादि की ठीक नकल करने वाले क्रियाकाण्ड प्रतिष्ठा आदि विधियों में आ गए। ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी-मोटी बातें इसलिए घटीं कि जैन-संस्कृति को उन साधारण अनुयायियों की रक्षा करनी थी जो कि दूसरे विरोधी सम्प्रदायों में से आकर उसमें शरीक होते थे, या दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारों से अपने को बचा न सकते थे। अब हम थोड़े में यह भी देखेंगे कि जैन-संस्कृति का दूसरों पर क्या खास असर पड़ा।

जैन-संस्कृति का प्रभाव—

यों तो सिद्धान्ततः सर्वभूतदया को सभी मानते हैं पर प्राणिरक्षा के ऊपर जितना जोर जैन-परंपरा ने दिया, जितनी लगन से उसने इस विषय में काम किया उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युग में यह रहा है कि जहाँ-जहाँ और जब-जब जैन लोगों का एक या दूसरे क्षेत्र में प्रभाव रहा सर्वत्र आम जनता पर प्राणिरक्षा का प्रबल संस्कार पड़ा है। यहाँ तक कि भारत के अनेक भागों में अपने को अजैन कहने वाले तथा जैन-विरोधी समझने वाले साधारण लोग भी जीव-मात्र की हिंसा से नफरत करने लगे हैं। अहिंसा के इस सामान्य संस्कार के ही कारण अनेक वैष्णव आदि जैनेतर परंपराओं के आचार-विचार पुरानी वैदिक परंपरा से बिलकुल जुदा हो गए हैं। तपस्या के बारे में भी ऐसा

ही हुआ है । त्यागी हो या गृहस्थ सभी जैन तपस्या के ऊपर अधिकाधिक झुकते रहे हैं । इसका फल पड़ोसी समाजों पर इतना अधिक पड़ा है कि उन्होंने भी एक या दूसरे रूप से अनेकविध सात्त्विक तपस्याएँ अपना ली हैं । और सामान्यरूप से साधारण जनता जैनों की तपस्या की ओर आदरशील रही है । यहाँ तक कि अनेक बार मुसलमान सम्राट तथा दूसरे समर्थ अधिकारियों ने तपस्या से आकृष्ट होकर जैन-सम्प्रदाय का बहुमान ही नहीं किया है बल्कि उसे अनेक सुविधाएँ भी दी हैं, मद्य-मांस आदि सात व्यसनों को रोकने तथा उन्हें घटाने के लिए जैन-वर्ग ने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि जिससे वह व्यसनसेवी अनेक जातियों में सुसंस्कार डालने में समर्थ हुआ है । यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदाय पूरे बल से इस सुसंस्कार के लिए प्रयत्न करते रहे पर जैनों का प्रयत्न इस दिशा में आज तक जारी है और जहाँ जैनों का प्रभाव ठीक-ठीक है वहाँ इस स्वैरविहार के स्वतन्त्र युग में भी मुसलमान और दूसरे मांस-भक्षी लोग भी खुल्लमखुल्ला मांस-मद्य का उपयोग करने में सकुचाते हैं । लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रान्तों से जो प्राणि-रक्षा और निर्मांस भोजन का आग्रह है वह जैन-परंपरा का ही प्रभाव है । जैन विचारसरणी का एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु का विचार अधिकाधिक पहलुओं और अधिकाधिक दृष्टिकोणों से करना और विवादास्पद विषय में बिलकुल अपने विरोधी-पक्ष के अभिप्राय को भी उतनी ही सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करना जितनी कि सहानुभूति अपने पक्ष की ओर हो । और अन्त में समन्वय पर ही जीवन-व्यवहार का फैसला करना । यों तो यह सिद्धान्त सभी विचारकों के जीवन में एक या दूसरे रूप से काम करता ही रहता है । इसके सिवाय प्रजाजीवन न तो व्यवस्थित बन सकता है और न शान्तिलाभ कर सकता है । पर जैन विचारकों ने उस सिद्धान्त की इतनी अधिक चर्चा की है और उस पर इतना अधिक जोर दिया है कि जिससे कट्टर-से-कट्टर विरोधी संप्रदायों को भी कुछ-न-कुछ प्रेरणा मिलती ही रही है । रामानुज का विशिष्टाद्वैत उपनिषद् की भूमिका के ऊपर अनेकान्तवाद ही तो है ।

जैन-परंपरा के आदर्श—

जैन-संस्कृति के हृदय को समझने के लिए हमें थोड़े से उन आदर्शों का परिचय करना होगा जो पहिले से आज तक जैन-परंपरा में एकसे मान्य हैं और पूजे जाते हैं । सब से पुराना आदर्श जैन-परंपरा के सामने ऋषभदेव और उनके परिवार का है । ऋषभदेव ने अपने जीवन का सबसे बड़ा भाग उन जवाबदेहियों

को बुद्धिपूर्वक अदा करने में बिताया जो प्रजा पालन की जिम्मेवारी के साथ उन पर आ पड़ी थीं। उन्होंने उस समय के बिलकुल अपढ़ लोगों को लिखना-पढ़ना सिखाया, कुछ काम-धन्धा न जानने वाले बनचरों को उन्होंने खेती-बाड़ी तथा बढ़ई, कुम्हार आदि के जीवनोपयोगी धन्धे सिखाए, आपस में कैसे बरतना, कैसे नियमों का पालन करना यह भी सिखाया। जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत प्रजाशासन की सब जवाबदेहियों को निबाह लेगा तब उसे राज्य-भार सौंप कर गहरे आध्यात्मिक प्रश्नों की छानबीन के लिए उत्कट तपस्वी होकर घर से निकल पड़े।

ऋषभ देव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की थीं। उस ज़माने में भाई-बहन के बीच शादी की प्रथा प्रचलित थी। सुन्दरी ने इस प्रथा का विरोध करके अपनी सौम्य तपस्या से भाई भरत पर ऐसा प्रभाव डाला कि जिससे भरत ने न केवल सुन्दरी के साथ विवाह करने का विचार ही छोड़ा बल्कि वह उसका भक्त बन गया। ऋग्वेद के यमीसूक्त में भाई यम ने भगिनी यमी की लग्न-मांग को अस्वीकार किया जब कि भगिनी सुन्दरी ने भाई भरत की लग्न मांग को तपस्या में परिणत कर दिया और फलत. भाई-बहन के लग्न की प्रतिष्ठित प्रथा नाम-शेष हो गई।

ऋषभ के भरत और बाहुबली नामक पुत्रों में राज्य के निमित्त भयानक युद्ध शुरू हुआ। अन्त में द्वन्द युद्ध का फैसला हुआ · भरत का प्रचण्ड प्रहार निष्फल गया। जब बाहुबली की बारी आई और समर्थतर बाहुबली को जान पड़ा कि मेरे मुष्टि प्रहार से भरत की अवश्य दुर्दशा होगी तब उसने उस भ्रातृविजयाभिमुख क्षण को आत्मविजय में बदल दिया। उसने यह सोच कर कि राज्य के निमित्त लड़ाई में विजय पाने और वैर-प्रति वैर तथा कुटुम्ब कलह के बीज बोने की अपेक्षा सच्ची विजय अहंकार और तृष्णा-जय में ही है। उसने अपने बाहुबल को क्रोध और अभिमान पर ही जमाया और अवैर से वैर के प्रतिकार का जीवन्त-दृष्टान्त स्थापित किया। फल यह हुआ कि अन्त में भरत का भी लोभ तथा गर्व खर्व हुआ।

एक समय था जब कि केवल क्षत्रियों में ही नहीं पर सभी वर्गों में मांस खाने की प्रथा थी। नित्य प्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान के अवसरों पर पशु-पक्षिओं का वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था जैसा आज नारियलों और फलों का चढ़ाना। उस युग में यदुनन्दन नेमिकुमार ने एक अजीब कदम उठाया। उन्होंने अपनी शादी पर भोजन के वास्ते कतल किये जानेवाले निर्दोष पशु-पक्षिओं की आर्त मूक वाणी से सहसा पिघलकर निश्चय

किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमें अनावश्यक और निर्दोष पशु-पक्षियों का वध होता हो। उस गम्भीर निश्चय के साथ वे सबकी सुनी-अनसुनी करके बारात से शीघ्र वापिस लौट आए। द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होंने तपस्या की। कौमारवय में राजपुत्री का त्याग और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपनाकर उन्होंने उस चिर-प्रचलित पशु-पक्षी-वध की प्रथा पर आत्मदृष्टान्त से इतना सख्त प्रहार किया कि जिससे गुजरात भर में और गुजरात के प्रभाववाले दूसरे प्रान्तों में भी वह प्रथा नाम-शेष हो गई और जगह-जगह आज तक चली आनेवाली पिंजरापोलों की लोकप्रिय संस्थाओं में परिवर्तित हो गई।

पार्श्वनाथ का जीवन-आदर्श कुछ और ही रहा है। उन्होंने एक बार दुर्वासा जैसे सहजकोपी तापस तथा उनके अनुयाइयों की नाराजगी का खतरा उठाकर भी एक जलते साँप को गीली लकड़ी से बचाने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ है कि आज भी जैन प्रभाव वाले क्षेत्रों में कोई साँप तक को नहीं मारता।

दीर्घ तपस्वी महावीर ने भी एक बार अपनी अहिंसा-वृत्ति की पूरी साधना का ऐसा ही परिचय दिया। जब जंगल में वे ध्यानस्थ खड़े थे एक प्रचण्ड विषधर ने उन्हें डस लिया, उस समय वे न केवल ध्यान में अचल ही रहे बल्कि उन्होंने मैत्री-भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया जिससे वह "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः" इस योगसूत्र का जीवित उदाहरण बन गया। अनेक प्रसंगों पर यज्ञयागादि धार्मिक कार्यों में होनेवाली हिंसा को तो रोकने का भरसक प्रयत्न वे आजन्म करते ही रहे। ऐसे ही आदर्शों से जैन-संस्कृति उत्प्राणित होती आई है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने अपने आदर्शों के हृदय को किसी न किसी तरह सँभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास में जीवित है। जब कभी सुयोग मिला तभी त्यागी तथा राजा, मन्त्री तथा व्यापारी आदि गृहस्थों ने जैन-संस्कृति के अहिंसा, तप और संयम के आदर्शों का अपने ढंग से प्रचार किया।

संस्कृति का उद्देश्य—

संस्कृति मात्र का उद्देश्य है मानवता की भलाई की ओर आगे बढ़ना। यह उद्देश्य वह तभी साध सकती है जब वह अपने जनक और पोषक राष्ट्र की भलाई में योग देने की ओर सदा अग्रसर रहे। किसी भी संस्कृति के बाह्य अङ्ग केवल अभ्युदय के समय ही पनपते हैं और ऐसे ही समय वे आकर्षक लगते हैं। पर संस्कृति के हृदय की बात जुदी है। समय आफ़त का हो या अभ्युदय का, उसकी अनिवार्य आवश्यकता सदा एक सी बनी रहती है। कोई भी संस्कृति केवल अपने

इतिहास और पुरानी यशोगाथाओं के सहारे न जीवित रह सकती है और न प्रतिष्ठा पा सकती है जब तक वह भावी-निर्माण में योग न दे। इस दृष्टान्त से भी जैन-संस्कृति पर विचार करना संगत है। हम ऊपर बतला आए हैं कि यह संस्कृति मूलतः प्रवृत्ति, अर्थात् पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की दृष्टि से आविर्भूत हुई। इसके आचार-विचार का सारा ढांचा उसी लक्ष्य के अनुकूल बना है। पर हम यह भी देखते हैं कि आखिर में वह संस्कृति व्यक्ति तक सीमित न रही। उसने एक विशिष्ट समाज का रूप धारण किया।

निवृत्ति और प्रवृत्ति—

समाज कोई भी हो वह एक मात्र निवृत्ति की भूलभुलैयों पर न जीवित रह सकता है और न वास्तविक निवृत्ति ही साध सकता है। यदि किसी तरह निवृत्ति को न माननेवाले और सिर्फ प्रवृत्तिचक्र का ही महत्त्व माननेवाले आखिर में उस प्रवृत्ति के तूफान और आंधी में ही फंसकर मर सकते हैं तो यह भी उतना ही सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय बिना लिए निवृत्ति हवा का किला ही बन जाता है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही मानव-कल्याण के सिक्के के दो पहलू हैं। दोष, गलती, बुराई और अकल्याण से तब तक कोई नहीं बच सकता जब तक वह दोषनिवृत्ति के साथ ही साथ सद्गुणों की और कल्याणमय प्रवृत्ति में बल न लगावे। कोई भी बीमार केवल अपथ्य और पुष्टि कुपथ्य से निवृत्त होकर जीवित नहीं रह सकता। उसे साथ-ही-साथ पथ्यसेवन करना चाहिए। शरीर से दूषित रक्त को निकाल डालना जीवन के लिये अगर जरूरी है तो उतना ही जरूरी उसमें नए रुधिर का संचार करना भी है।

निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति—

ऋषभ से लेकर आज तक निवृत्तिगामी कहलाने वाली जैन-संस्कृति भी जो किसी न किसी प्रकार जीवित रही है वह एक मात्र निवृत्ति के बल पर नहीं किन्तु कल्याणकारी प्रवृत्ति के सहारे पर। यदि प्रवर्तक-धर्मी ब्राह्मणों ने निवृत्ति मार्ग के सुन्दर तत्त्वों को अपनाकर एक व्यापक कल्याणकारी संस्कृति का ऐसा निर्माण किया है जो गीता में उज्जीवित होकर आज नए उपयोगी स्वरूप में गांधीजी के द्वारा पुनः अपना संस्करण कर रही है तो निवृत्तिलक्षी जैन-संस्कृति को भी कल्याणाभिमुख आवश्यक प्रवृत्तियों का सहारा लेकर ही आज की बदली हुई परिस्थिति में जीना होगा। जैन-संस्कृति में तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम हैं और वह जिन आदर्शों को आज तक पूँजी मानती आई है उनके

आधार पर वह प्रवृत्ति का ऐसा मंगलमय योग साध सकती है जो सब के लिए क्षेमंकर हो।

जैन-परंपरा में प्रथम स्थान है त्यागियों का, दूसरा स्थान है गृहस्थों का। त्यागियों को जो पाँच महाव्रत धारण करने की आज्ञा है वह अधिकाधिक सद्गुणों में प्रवृत्ति करने की या सद्गुण-पोषक-प्रवृत्ति के लिए बल पैदा करने की प्राथमिक शर्त मात्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषों से बिना बचे सद्गुणों में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती और सद्गुणपोषक प्रवृति को बिनाजीवन में स्थान दिये हिंसा आदि से बचे रहना भी सर्वथा असम्भव है। इस देश में जो लोग दूसरे निवृत्ति-पंथों की तरह जैन-पंथ में भी एक मात्र निवृत्ति की ऐकान्तिक साधना की बात करते हैं वे उक्त सत्य भूल जाते हैं। जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतों को धारण करने की शक्ति नहीं रखता उसके लिए जैन-परंपरा में अणुव्रतों की सृष्टि करके धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढ़ने का मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थों के लिए हिंसा आदि दोषों से अंशतः बचने का विधान किया है। उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषों से बचने का अभ्यास करें। पर साथ ही यह आदेश है कि जिस-जिस दोष को वे दूर करें उस-उस दोष के विरोधी सद्गुणों को जीवन में स्थान देते जाएँ। हिंसा को दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुण को जीवन में व्यक्त करना होगा। सत्य बिना बोले और सत्य बोलने का बल बिना पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी गुण पोषक प्रवृत्तियों में अपने आप को खपाना ही होगा। इस बात को ध्यान में रखकर जैन-संस्कृति पर यदि आज विचार किया जाए तो आजकल की कसौटी के काल में जैनों के लिए नीचे लिखी बातें कर्तव्यरूप फलित होती हैं।

जैन-वर्ग का कर्त्तव्य—

१—देश में निरक्षरता, वहम और आलस्य व्याप्त है। जहाँ देखो वहाँ फूट ही फूट है। शराब और दूसरी नशीली चीजें जड़ पकड़ बैठी हैं। दुष्काल, अति-वृष्टि, परराज्य और युद्ध के कारण मानव-जीवन का एक मात्र आधार पशुधन नामशेष हो रहा है। अतएव इस संबन्ध में विधायक प्रवृत्तियों की ओर सारे त्यागी वर्ग का ध्यान जाना चाहिए, जो वर्ग कुटुम्ब के बन्धनों से बरी है, महावीर का आत्मौपम्य का उद्देश्य लेकर घर से अलग हुआ है और ऋषभदेव तथा नेमिनाथ के आदर्शों को जीवित रखना चाहता है।

२—देश में गरीबी और बेकारी की कोई सीमा नहीं है। खेती-बारी और

उद्योग-धन्धे अपने अस्तित्व के लिए बुद्धि, धन, परिश्रम और साहस की अपेक्षा कर रहे हैं। अतएव गृहस्थों का यह धर्म हो जाता है कि वे संपत्ति का उपयोग तथा विनियोग राष्ट्र के लिए करें। वे गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को अमल में लाएँ। बुद्धिसंपन्न और साहसिकों का धर्म है कि वे नम्र बनकर ऐसे ही कामों में लग जाएँ जो राष्ट्र के लिए विधायक हैं। काँग्रेस का विधायक कार्यक्रम काँग्रेस की ओर से रखा गया है इसलिए वह उपेक्षणीय नहीं है। असल में वह कार्यक्रम जैन-संस्कृति का जीवन्त अंग है। दलितों और अस्पृश्यों को भाई की तरह बिना अपनाए कौन यह कह सकेगा कि मैं जैन हूँ? खादी और ऐसे दूसरे उद्योग जो अधिक से अधिक अहिंसा के नजदीक हैं और एक मात्र आत्मौपम्य एवं अपरिग्रह धर्म के पोषक हैं उनको उत्तेजना दिये बिना कौन कह सकेगा कि मैं अहिंसा का उपासक हूँ? अतएव उपसंहार में इतना ही कहना चाहता हूँ कि जैन लोग, निरर्थक आडम्बरों और शक्ति के अपव्ययकारी प्रसंगों में अपनी संस्कृति सुरक्षित है, यह भ्रम छोड़कर उसके हृदय की रक्षा का प्रयत्न करें, जिसमें हिन्दू और मुसलमानों का ही क्या, सभी कौमों का मेल भी निहित है।

संस्कृति का संकेत--

संस्कृति-मात्र का संकेत लोभ और मोह को घटाने व निर्मूल करने का है, न कि प्रवृत्ति को निर्मूल करने का। वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्ति के बिना कभी संभव ही नहीं, जैसे कामाचार व वैयक्तिक परिग्रह आदि। जो प्रवृत्तियाँ समाज का धारण, पोषण, विकसन करनेवाली हैं वे आसक्तिपूर्वक और आसक्ति के सिवाय भी संभव हैं। अतएव संस्कृति आसक्ति के त्यागमात्र का संकेत करती है। जैन-संस्कृति यदि संस्कृति-सामान्य का अपवाद बने तो वह विकृत बनकर अंत में मिट जा सकती है।

ई० १९४२] [विश्वव्यापी

अनेकान्तवाद की मर्यादा

जैनधर्म का मूल—

कोई भी विशिष्ट दर्शन हो या धर्म पन्थ, उसकी आधारभूत—उसके मूल प्रवर्तक पुरुष की–एक खास दृष्टि होती है; जैसे कि–शंकराचार्य की अपने मतनिरूपण में 'अद्वैत दृष्टि' और भगवान् बुद्ध की अपने धर्म-पन्थ प्रवर्तन में 'मध्यम प्रतिपदा दृष्टि' खास दृष्टि है। जैन दर्शन भारतीय दर्शनों में एक विशिष्ट दर्शन है और साथ ही एक विशिष्ट धर्म-पन्थ भी है, इसलिए उसके प्रवर्तक और प्रचारक मुख्य पुरुषों की एक खास दृष्टि उनके मूल में होनी ही चाहिए और वह है भी। यही दृष्टि अनेकान्तवाद है। तात्त्विक जैन-विचारणा अथवा आचार-व्यवहार जो कुछ भी हो वह सब अनेकान्त-दृष्टि के आधार पर किया जाता है। अथवा यों कहिए कि अनेक प्रकार के विचारों तथा आचारों में से जैन विचार और जैना चार क्या हैं ? कैसे हो सकते हैं ? इन्हें निश्चित करने व कसने की एक मात्र कसौटी भी अनेकान्त दृष्टि ही है।

अनेकान्त का विकास और उसका श्रेय—

जैन-दर्शन का आधुनिक मूल-रूप भगवान् महावीर की तपस्या का फल है। इसलिए सामान्य रूप से यही समझा जा सकता है कि जैन-दर्शन की आधारभूत अनेकान्त-दृष्टि भी भगवान् महावीर के द्वारा ही पहले पहल स्थिर की गई या उद्भावित की गई होगी। परन्तु विचार के विकास क्रम और पुरातन इतिहास के चिंतन करने से साफ मालूम पड़ जाता है कि अनेकान्त दृष्टि का मूल भगवान् महावीर से भी पुराना है। यह ठीक है कि जैन-साहित्य में अनेकान्त-दृष्टि का जो स्वरूप आजकल व्यवस्थित रूप से और विकसित रूप से मिलता है वह स्वरूप भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती किसी जैन या जैनतर साहित्य में नहीं पाया जाता, तो भी भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती वैदिक-साहित्य में और उसके समकालीन बौद्ध-साहित्य में अनेकान्त-दृष्टि-गर्भित बिखरे हुए विचार थोड़े बहुत मिल ही जाते हैं। इसके सिवाय भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ हुए हैं जिनका विचार आज यद्यपि उन्हीं के शब्दों में–असल रूप में नहीं पाया जाता

फिर भी उन्होंने अनेकान्त-दृष्टि का स्वरूप स्थिर करने में अथवा उसके विकास में कुछ न कुछ भाग जरूर लिया है, ऐसा पाया जाता है। यह सब होते हुए भी उपलब्ध-साहित्य का इतिहास स्पष्ट रूप से यही कहता है कि २५०० वर्ष के भारतीय साहित्य में जो अनेकान्त-दृष्टि का थोड़ा बहुत असर है या खास तौर से जैन-वाङ्मय में अनेकान्त-दृष्टि का उत्थान होकर क्रमशः विकास होता गया है और जिसे दूसरे समकालीन दार्शनिक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में अपनाया है उसका मुख्य श्रेय तो भगवान् महावीर को ही है; क्योंकि जब हम आज देखते हैं तो उपलब्ध जैन-प्राचीन ग्रन्थों में अनेकान्त-दृष्टि की विचारधारा जिस स्पष्ट रूप में पाते हैं उस स्पष्ट रूप में उसे और किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं पाते।

नालंदा के प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठ के आचार्य शान्तरक्षित अपने 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ में अनेकान्तवाद का परीक्षण करते हुए कहते हैं कि विप्र—मीमांसक, निर्ग्रंथ जैन और कापिल—सांख्य इन तीनों का अनेकान्तवाद समान रूप से खण्डित हो जाता है। इस कथन से यह पाया जाता है कि सातवीं-आठवीं सदी के बौद्ध आदि विद्वान् अनेकान्तवाद को केवल जैन-दर्शन का ही वाद न समझते थे किन्तु यह मानते थे कि मीमांसक, जैन और सांख्य तीनों दर्शनों में अनेकान्तवाद का आश्रयण है और ऐसा मानकर ही वे अनेकान्तवाद का खण्डन करते थे। हम जब मीमांसक दर्शन के श्लोकवार्तिक आदि और सांख्य योग दर्शन के परिणामवाद स्थापक प्राचीन-ग्रन्थ देखते हैं तो निःसन्देह यह जान पड़ता है कि उन ग्रन्थों में भी जैन-ग्रन्थों की तरह अनेकान्त-दृष्टि मूलक विचारणा है। अतएव शान्तरक्षित जैसे विविध दर्शनाभ्यासी विद्वान् के इस कथन में हमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि मीमांसक, जैन और कापिल तीनों दर्शनों में अनेकान्तवाद का अवलम्बन है। परन्तु शान्तरक्षित के कथन को मानकर और मीमांसक तथा सांख्य योग दर्शन के ग्रन्थों को देखकर भी एक बात तो कहनी ही पड़ती है कि यद्यपि अनेकान्त-दृष्टि मीमांसक और सांख्य योग-दर्शन में भी है तथापि वह जैन-दर्शन के ग्रन्थों की तरह अति स्पष्ट रूप और अति व्यापक रूप में उन दर्शनों के ग्रन्थों में नहीं पाई जाती। जैन-विचारकों ने जितना जोर और जितना पुरुषार्थ अनेकान्त दृष्टि के निरूपण में लगाया है, उसका शतांश भी किसी दर्शन के विद्वानों ने नहीं लगाया। यही कारण है कि आज जब कोई 'अनेकान्तवाद' या 'स्याद्वाद' शब्द का उच्चारण करता है तब सुननेवाला विद्वान् उससे सहसा जैन-दर्शन का ही भाव ग्रहण करता है। आजकल के बड़े-बड़े विद्वान् तक भी यही समझते हैं कि 'स्याद्वाद' यह तो जैनों का ही एक वाद है।

इस समझ का कारण है कि जैन विद्वानों ने स्याद्वाद के निरूपण और समर्थन में बहुत बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख डाले हैं, अनेक युक्तियों का आविर्भाव किया है और अनेकान्तवाद के शस्त्र के बल से ही उन्होंने दूसरे दार्शनिक विद्वानों के साथ कुश्ती की है।

इस चर्चा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि भगवान् महावीर ने अपने उपदेशों में अनेकान्तवाद का जैसा स्पष्ट आश्रय लिया है वैसा उनके समकालीन और पूर्ववर्ती दर्शन प्रवर्तकों में से किसी ने भी नहीं लिया है। दूसरी बात यह कि भगवान् महावीर के अनुयायी जैन आचार्यों ने अनेकान्त दृष्टि के निरूपण और समर्थन करने में जितनी शक्ति लगाई है उतनी और किसी भी दर्शन के अनुगामी आचार्यों ने नहीं लगाई।

अनेकान्त दृष्टि के मूल तत्त्व—

जब सारे जैन विचार और आचार की नींव अनेकान्त दृष्टि ही है तब पहले यह देखना चाहिए कि अनेकान्त दृष्टि किन तत्त्वों के आधार पर खड़ी की गई है? विचार करने और अनेकान्त दृष्टि के साहित्य का अवलोकन करने से मालूम होता है कि अनेकान्त दृष्टि सत्य पर खड़ी है। यद्यपि सभी महान् पुरुष सत्य को पसन्द करते हैं और सत्य की ही खोज तथा सत्य के ही निरूपण में अपना जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि सत्य निरूपण की पद्धति और सत्य की खोज सब की एक सी नहीं होती। बुद्धदेव जिस शैली से सत्य का निरूपण करते हैं या शङ्कराचार्य उपनिषदों के आधार पर जिस ढंग से सत्य का प्रकाशन करते हैं उससे भ० महावीर की सत्य प्रकाशन की शैली जुदा है। भ० महावीर की सत्य प्रकाशन शैली का ही दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' है। उसके मूल में दो तत्त्व हैं–पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत होता है वही सत्य कहलाता है।

अनेकान्त की खोज का उद्देश्य और उसके प्रकाशन की शर्तें—

वस्तु का पूर्ण रूप में त्रिकालाबाधित–यथार्थ दर्शन होना कठिन है, किसी को वह हो भी जाय तथापि उसका उसी रूप में शब्दों के द्वारा ठीक-ठीक कथन करना उस सत्यद्रष्टा और सत्यवादी के लिए भी बड़ा कठिन है। कोई उस कठिन काम को किसी अंश में करनेवाले निकल भी आएँ तो भी देश, काल, परिस्थिति, भाषा और शैली आदि के अनिवार्य भेद के कारण उन सब के कथन में कुछ न कुछ विरोध या भेद का दिखाई देना अनिवार्य है। यह तो हुई उन पूर्णदर्शी और सत्यवादी इने-गिने मनुष्यों की बात, जिन्हें हम सिर्फ कल्पना या अनुमान से

समझ या मान सकते हैं। हमारा अनुभव तो साधारण मनुष्यों तक परिमित है और वह कहता है कि साधारण मनुष्यों में भी बहुत से यथार्थवादी होकर भी अपूर्णदर्शी होते हैं। ऐसी स्थिति में यथार्थवादिता होने पर भी अपूर्ण दर्शन के कारण और उसे प्रकाशित करने की अपूर्ण सामग्री के कारण सत्यप्रिय मनुष्यों की भी समझ में कभी-कभी भेद आ जाता है और संस्कार भेद उनमें और भी पारस्परिक टक्कर पैदा कर देता है। इस तरह पूर्णदर्शी और अपूर्णदर्शी सभी सत्यवादियों के द्वारा अन्त में भेद और विरोध की सामग्री आप ही आप प्रस्तुत हो जाती है या दूसरे लोग उनसे ऐसी सामग्री पैदा कर लेते हैं।

ऐसी वस्तु स्थिति देखकर भ० महावीर ने सोचा कि ऐसा कौन सा रास्ता निकाला जाए जिससे वस्तु का पूर्ण या अपूर्ण सत्य दर्शन करनेवाले के साथ अन्याय न हो। अपूर्ण और अपने से विरोधी होकर भी यदि दूसरे का दर्शन सत्य है, इसी तरह अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी यदि अपना दर्शन सत्य है तो दोनों को ही न्याय मिले इसका भी क्या उपाय है? इसी चिंतनप्रधान तपस्या ने भगवान् को अनेकान्त दृष्टि सुझाई, उनका सत्य संशोधन का संकल्प सिद्ध हुआ। उन्होंने उस मिली हुई अनेकान्तदृष्टि की चाबी से वैयक्तिक और सामष्टिक जीवन की व्यावहारिक और पारमार्थिक समस्याओं के ताले खोल दिये और समाधान प्राप्त किया। तब उन्होंने जीवनोपयोगी विचार और आचार का निर्माण करते समय उस अनेकान्त दृष्टि को निम्नलिखित मुख्य शर्तों पर प्रकाशित किया और उसके अनुसरण का अपने जीवन द्वारा उन्हीं शर्तों पर उपदेश दिया। वे शर्तें इस प्रकार हैं—

१—राग और द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत न होना अर्थात् तेजस्वी मध्यस्थ भाव रखना।

२—जब तक मध्यस्थ भाव का पूर्ण विकास न हो तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा रखना।

३—कैसे भी विरोधी भासमान पक्ष से न घबराना और अपने पक्ष की तरह उस पक्ष पर भी आदरपूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष पर भी विरोधी पक्ष की तरह तीव्र समालोचक दृष्टि रखना।

४—अपने तथा दूसरों के अनुभवों में से जो-जो अंश ठीक जँचें—चाहे वे विरोधी ही प्रतीत क्यों न हों—उन सबका विवेक—प्रज्ञा से समन्वय करने की उदारता का अभ्यास करना और अनुभव बढ़ने पर पूर्व के समन्वय में जहाँ गलती मालूम हो वहाँ मिथ्याभिमान छोड़ कर सुधार करना और इसी क्रम से आगे बढ़ना।

अनेकान्त साहित्य का विकास—

भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टि को पहले अपने जीवन में उतारा था और उसके बाद ही दूसरों को इसका उपदेश दिया था। इसलिए अनेकान्त-दृष्टि की स्थापना और प्रचार के निमित्त उनके पास काफी अनुभवबल और तपोबल था। अतएव उनके मूल उपदेश में से जो कुछ प्राचीन अवशेष आजकल पाए जाते हैं उन आगमग्रन्थों में हम अनेकान्त-दृष्टि को स्पष्ट रूप से पाते हैं सही, पर उसमें तर्कवाद या खण्डन-मण्डन का वह जटिल जाल नहीं पाते जो कि पिछले साहित्य में देखने में आता है। हमें उन आगम ग्रन्थों में अनेकान्त-दृष्टि का सरल स्वरूप और संक्षिप्त विभाग ही नजर आता है। परन्तु भगवान् के बाद जब उनकी दृष्टि पर संप्रदाय कायम हुआ और उसका अनुगामी समाज स्थिर हुआ तथा बढ़ने लगा, तब चारों ओर से अनेकान्त-दृष्टि पर हमले होने लगे। महावीर के अनुगामी आचार्यों में त्याग और प्रज्ञा होने पर भी, महावीर जैसा स्पष्ट जीवन का अनुभव और तप न था। इसलिए उन्होंने उन हमलों से बचने के लिए नैयायिक गौतम और वात्स्यायन के कथन की तरह वादकथा के उपरान्त जल्प और कहीं-कहीं वितण्डा का भी आश्रय लिया है। अनेकान्त-दृष्टि का जो तत्त्व उनको विरासत में मिला था उसके संरक्षण के लिए उन्होंने जैसे बन पड़ा वैसे कभी वाद किया, कभी जल्प और कभी वितण्डा। इसके साथ ही साथ उन्होने अनेकान्त दृष्टि को निर्दोष स्थापित करके उसका विद्वानों में प्रचार भी करना चाहा और इस चाहजनित प्रयत्न से उन्होंने अनेकान्त-दृष्टि के अनेक मर्मों को प्रकट किया और उनकी उपयोगिता स्थापित की। इस खण्डन-मण्डन, स्थापन और प्रचार के करीब दो हजार वर्षों में महावीर के शिष्यों ने सिर्फ अनेकान्त-दृष्टि विषयक इतना बड़ा ग्रन्थ समूह बना डाला है कि उसका एक खासा पुस्तकालय बन सकता है। पूर्व-पश्चिम और दक्खिन-उत्तर हिन्दुस्तान के सब भागों में सब समयों में उत्पन्न होनेवाले अनेक छोटे-बड़े और प्रचण्ड आचार्यों ने अनेक भाषाओं में केवल अनेकांत-दृष्टि और उसमें से फलित होने वाले वादों पर दण्डकारण्य से भी कहीं विस्तृत, सूक्ष्म और जटिल चर्चा की है। शुरू में जो साहित्य अनेकान्त-दृष्टि के अवलम्बन से निर्मित हुआ था उसके स्थान पर पिछला साहित्य खास कर तार्किक साहित्य—मुख्यतया अनेकान्त-दृष्टि के निरूपण तथा उसके ऊपर अन्य वादियों के द्वारा किये गए आक्षेपों के निराकरण करने के लिए रचा गया। इस तरह संप्रदाय की रक्षा और प्रचार की भावना में से जो केवल अनेकान्त विषयक साहित्य का विकास हुआ है उसका वर्णन करने के लिए एक खासी जुदी पुस्तिका की जरूरत है। तथापि इतना तो

यहाँ निर्देश कर देना ही चाहिए कि समन्तभद्र और सिद्धसेन, हरिभद्र और अकलङ्क, विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र, अभयदेव और वादिदेवसूरि तथा हेमचन्द्र और यशोविजयजी जैसे प्रकाण्ड विचारकों ने जो अनेकान्त-दृष्टि के बारे में लिखा है वह भारतीय दर्शन-साहित्य में बड़ा महत्त्व रखता है और विचारकों को उनके ग्रन्थों में से मनन करने योग्य बहुत कुछ सामग्री मिल सकती है।

फलितवाद—

अनेकान्त-दृष्टि तो एक मूल है, उसके ऊपर से और उसके आश्रय पर—विविध वादों तथा चर्चाओं का शाखा-प्रशाखाओं की तरह बहुत बड़ा विस्तार हुआ है। उसमें से मुख्य दो वाद यहाँ उल्लिखित किये जाने योग्य हैं—एक नयवाद और दूसरा सप्तभंगीवाद। अनेकान्त-दृष्टि का आविर्भाव आध्यात्मिक साधना और दार्शनिक प्रदेश में हुआ इसलिए उसका उपयोग भी पहले-पहल वहीं होना अनिवार्य था। भगवान् के इर्दगिर्द और उनके अनुयायी आचार्यों के समीप जो-जो विचार-धाराएँ चल रही थीं उनका समन्वय करना अनेकान्त-दृष्टि के लिए आवश्यक था। इसी प्राप्त कार्य में से 'नयवाद' की सृष्टि हुई। यद्यपि किसी-किसी नय के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उदाहरणों में भारतीय दर्शन के विकास के अनुसार विकास होता गया है। तथापि दर्शन प्रदेश में से उत्पन्न होनेवाले नयवाद की उदाहरणमाला भी आज तक दार्शनिक ही रही है। प्रत्येक नय की व्याख्या और चर्चा का विकास हुआ है पर उसकी उदाहरणमाला तो दार्शनिक-क्षेत्र के बाहर से आई ही नहीं। यही एक बात समझाने के लिए पर्याप्त है कि सब क्षेत्रों को व्याप्त करने की ताकत रखनेवाले अनेकान्त का प्रथम आविर्भाव किस क्षेत्र में हुआ और हजारों वर्षों के बाद तक भी उसकी चर्चा किस क्षेत्र तक परिमित रही?

भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन के अतिरिक्त, उस समय जो दर्शन अति प्रसिद्ध थे और पीछे से जो अति प्रसिद्ध हुए उनमें वैशेषिक, न्याय, सांख्य, औपनिषद—वेदान्त, बौद्ध और शाब्दिक—ये ही दर्शन मुख्य हैं। इन प्रसिद्ध दर्शनों को पूर्ण सत्य मानने में वस्तुतः तात्त्विक और व्यावहारिक दोनों आपत्तियाँ थीं और उन्हें बिलकुल असत्य कह देने में सत्य का घात था इसलिए उनके बीच में रहकर उन्हीं में से सत्य के गवेषण का मार्ग सरल रूप में लोगों के सामने प्रदर्शित करना था। यही कारण है कि हम उपलब्ध समग्र जैन-वाङ्मय में नयवाद के भेद-प्रभेद और उनके उदाहरण तक उक्त दर्शनों के रूप में तथा उनकी विकसित शाखाओं के रूप में ही पाते हैं। विचार की जितनी पद्धतियाँ उस समय मौजूद

थीं, उनके समन्वय करने का आदेश—अनेकान्त-दृष्टि ने किया और उसमें से नयवाद फलित हुआ जिससे कि दार्शनिक मारा-मारी कम हो; पर दूसरी तरफ एक-एक वाक्य पर अधैर्य और नासमझी के कारण पण्डित-गण लड़ा करते थे। एक पण्डित यदि किसी चीज को नित्य कहता तो दूसरा सामने खड़ा होकर यह कहता कि वह तो अनित्य है, नित्य नहीं। इसी तरह फिर पहला पण्डित दूसरे के विरुद्ध बोल उठता था। सिर्फ नित्यत्व के विषय में ही नहीं किन्तु प्रत्येक अंश में यह झगड़ा जहाँ-तहाँ होता ही रहता था। यह स्थिति देखकर अनेकान्त-दृष्टि वाले तत्कालीन आचार्यों ने उस झगड़े का अन्त अनेकान्त-दृष्टि के द्वारा करना चाहा और उस प्रयत्न के परिणाम स्वरूप 'सप्तभङ्गीवाद' फलित हुआ। अनेकान्त-दृष्टि के प्रथम फलस्वरूप नयवाद में तो दर्शनों को स्थान मिला है और उसी के दूसरे फलस्वरूप सप्तभङ्गीवाद में किसी एक ही वस्तु के विषय में प्रचलित विरोधी कथनों को या विचारों को स्थान मिला है। पहले वाद में समूचे सब दर्शन संगृहीत हैं और दूसरे में दर्शन के विशकलित मन्तव्यों का समन्वय है। प्रत्येक फलितवाद की सूक्ष्म चर्चा और उसके इतिहास के लिए यहाँ स्थान नहीं है और न उतना अवकाश ही है तथापि इतना कह देना जरूरी है कि अनेकान्त-दृष्टि ही महावीर की मूल दृष्टि और स्वतन्त्र दृष्टि है। नयवाद तथा सप्तभङ्गीवाद आदि तो उस दृष्टि के ऐतिहासिक परिस्थिति-अनुसारी प्रासंगिक फल मात्र हैं। अतएव नय तथा सप्तभङ्गी आदि वादों का स्वरूप तथा उनके उदाहरण बदले भी जा सकते हैं, पर अनेकान्त-दृष्टि का स्वरूप तो एक ही प्रकार का रह सकता है—भले ही उसके उदाहरण बदल जाएँ।

अनेकान्त-दृष्टि का असर—

जब दूसरे विद्वानों ने अनेकान्त-दृष्टि को तत्त्वरूप में ग्रहण करने की जगह सांप्रदायिकवाद रूप में ग्रहण किया तब उसके ऊपर चारों ओर से आक्षेपों के प्रहार होने लगे। बादरायण जैसे सूत्रकारों ने उसके खण्डन के लिए सूत्र रच डाले और उन सूत्रों के भाष्यकारों ने उसी विषय में अपने भाष्यों की रचनाएँ कीं। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शांतरक्षित जैसे बड़े-बड़े प्रभावशाली बौद्ध विद्वानों ने भी अनेकान्तवाद की पूरी खबर ली। इधर से जैन विचारक विद्वानों ने भी उनका सामना किया। इस प्रचण्ड संघर्ष का अनिवार्य परिणाम यह आया कि एक ओर से अनेकान्त-दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और दूसरी ओर से उसका प्रभाव दूसरे विरोधी सांप्रदायिक विद्वानों पर भी पड़ा। दक्षिण हिन्दुस्तान में प्रचण्ड दिगम्बराचार्यों और प्रकाण्ड मीमांसक तथा वेदान्त के विद्वानों के बीच

शास्त्रार्थ की कुश्ती हुई उससे अन्त में अनेकान्त-दृष्टि का ही असर अधिक फैला। यहाँ तक कि रामानुज जैसे बिलकुल जैनत्व विरोधी प्रखर आचार्य ने शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध अपना मत स्थापित करते समय आश्रय तो सामान्य उपनिषदों का लिया पर उनमें से विशिष्टाद्वैत का निरूपण करते समय अनेकान्त-दृष्टि का उपयोग किया, अथवा यों कहिए कि रामानुज ने अपने ढंग से अनेकान्त-दृष्टि को विशिष्टाद्वैत की घटना में परिणत किया और औपनिषद् तत्त्व का जामा पहना कर अनेकांत-दृष्टि में से विशिष्टाद्वैतवाद खड़ा करके अनेकान्त-दृष्टि की ओर आकर्षित जनता को वेदान्त मार्ग पर स्थिर रखा। पुष्टि-मार्ग के पुरस्कर्ता वल्लभ जो दक्षिण हिन्दुस्तान में हुए, उनके शुद्धाद्वैत-विषयक सब तत्त्व, हैं तो औपनिषदिक पर उनकी सारी विचारसरणी अनेकान्त-दृष्टि का नया वेदान्तीय स्वाँग है। इधर उत्तर और पश्चिम हिन्दुस्तान में जो दूसरे विद्वानों के साथ श्वेताम्बरीय महान् विद्वानों का खण्डनमण्डन-विषयक द्वन्द्व हुआ उसके फलस्वरूप अनेकान्तवाद का असर जनता में फैला और सांप्रदायिक ढंग से अनेकांतवाद का विरोध करनेवाले भी जानते अनजानते अनेकांत-दृष्टि को अपनाने लगे। इस तरह वाद रूप में अनेकांत-दृष्टि आज तक जैनों की ही बनी हुई है तथापि उसका असर किसी न किसी रूप में अहिंसा की तरह विकृत या अर्धविकृत रूप में हिन्दुस्तान के हरएक भाग में फैला हुआ है। इसका सबूत सब भागों के साहित्य में से मिल सकता है।

व्यवहार में अनेकान्त का उपयोग न होने का नतीजा—

जिस समय राजकीय उलट फेर का अनिष्ट परिणाम स्थायी रूप से ध्यान में आया न था, सामाजिक बुराइयाँ आज की तरह असह्य रूप में खटकती न थीं, उद्योग और खेती की स्थिति आज के जैसी अस्तव्यस्त हुई न थी, समझपूर्वक या बिना समझे लोग एक तरह से अपनी स्थिति में संतुष्टप्राय थे और असंतोष का दावानल आज की तरह व्यास न था, उस समय आध्यात्मिक साधना में से आविर्भूत अनेकान्त-दृष्टि केवल दार्शनिक प्रदेश में रही और सिर्फ चर्चा तथा वादविवाद का विषय बनकर जीवन से अलग रहकर भी उसने अपना अस्तित्व कायम रखा कुछ प्रतिष्ठा भी पाई, यह सब उस समय के योग्य था। परन्तु आज स्थिति बिलकुल बदल गई है; दुनिया के किसी भी धर्म का तत्त्व कैसा ही गंभीर क्यों न हो, पर अब वह यदि उस धर्म की संस्थाओं तक या उसके पण्डितों तथा धर्मगुरुओं के प्रवचनों तक ही परिमित रहेगा तो इस वैज्ञानिक प्रभाव वाले जगत में उसकी कदर पुरानी कब्र से अधिक नहीं होगी। अनेकान्त-

दृष्टि और आधारभूत अहिंसा–ये दोनों तत्त्व महान् से महान् हैं, उनका प्रभाव तथा प्रतिष्ठा जमाने में जैन सम्प्रदाय का बड़ा भारी हिस्सा भी है पर इस बीसवीं सदी के विषम राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन में उन तत्त्वों से यदि कोई खास फायदा न पहुँचे तो मंदिर, मठ और उपाश्रयों में हजारों पण्डितों के द्वारा चिल्लाहट मचाए जाने पर भी उन्हें कोई पूछेगा नहीं, यह निःसंशय बात है। जैनलिंगधारी सैकड़ों धर्मगुरु और सैकड़ों पंडित अनेकान्त के बाल की खाल दिन-रात निकालते रहते हैं और अहिंसा की सूक्ष्म चर्चा में खून सुखाते तथा सिर तक फोड़ा करते हैं, तथापि लोग अपनी स्थिति के समाधान के लिए उनके पास नहीं फटकते। कोई जवान उनके पास पहुँच भी जाता है तो वह तुरन्त उनसे पूछ बैठता है कि "आपके पास जब समाधानकारी अनेकान्त-दृष्टि और अहिंसा तत्त्व मौजूद हैं तब आप लोग आपस में ही गैरों की तरह बात-बात में क्यों टकराते हैं? मंदिर के लिए, तीर्थ के लिए, धार्मिक प्रथाओं के लिए, सामाजिक रीति रिवाजों के लिए–यहाँ तक कि वेश रखना तो कैसा रखना, हाथ में क्या पकड़ना, कैसे पकड़ना इत्यादि बालसुलभ बातों के लिए–आप लोग क्यों आपस में लड़ते हैं? क्या आपका अनेकान्तवाद ऐसे विषयों में कोई मार्ग निकाल नहीं सकता? क्या आपके अनेकान्तवाद में और अहिंसा तत्त्व में प्रिवीकाउन्सिल, हाईकोर्ट अथवा मामूली अदालत जितनी भी समाधानकारक शक्ति नहीं है? क्या हमारी राजकीय तथा सामाजिक उलझनों को सुलझाने का सामर्थ्य आपके इन दोनों तत्त्वों में नहीं है? यदि इन सब प्रश्नों का अच्छा समाधानकारक उत्तर आप असली तौर से 'हाँ' में नहीं दे सकते तो आपके पास आकर हम क्या करेंगे? हमारे जीवन में तो पद-पद पर अनेक कठिनाइयाँ आती रहती हैं। उन्हें हल किये बिना यदि हम हाथ में पोथियाँ लेकर कथंचित् एकानेक कथंचित् भेदाभेद और कथंचित् नित्यानित्य के खाली नारे लगाया करें तो इससे हमें क्या लाभ पहुँचेगा? अथवा हमारे व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक जीवन में क्या फर्क पड़ेगा?" और यह सब पूछना है भी ठीक, जिसका उत्तर देना उनके लिए असंभव हो जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि अहिंसा और अनेकान्त की चर्चावाली पोथियों की, उन पोथीवाले भण्डारों की, उनके रचनेवालों के नामों की तथा उनके रचने के स्थानों की इतनी अधिक पूजा होती है कि उसमें सिर्फ फूलों का ही नहीं किन्तु सोने-चाँदी तथा जवाहरात तक का ढेर लग जाता है तो भी उस पूजा के करने तथा करानेवालों का जीवन दूसरों जैसा प्रायः पामर ही नजर आता है और दूसरी तरफ हम देखते हैं तो यह स्पष्ट नजर आता है कि गांधीजी के अहिंसा

तत्त्व की ओर सारी दुनिया देख रही है और उनके समन्वयशील व्यवहार के कायल उनके प्रतिपक्षी तक हो रहे हैं। महावीर की अहिंसा और अनेकान्त दृष्टि की डौंडी पीटनेवालों की ओर कोई धीमान् आँख उठाकर देखता तक नहीं और गांधीजी की तरफ सारा विचारक-वर्ग ध्यान दे रहा है। इस अन्तर का कारण क्या है ? इस सवाल के उत्तर में सब कुछ आ जाता है

अब कैसा उपयोग होना चाहिए ?

अनेकान्त-दृष्टि यदि आध्यात्मिक मार्ग में सफल हो सकती है और अहिंसा का सिद्धान्त यदि आध्यात्मिक कल्याण साधक हो सकता है तो यह भी मानना चाहिए कि ये दोनों तत्त्व व्यावहारिक जीवन का श्रेय अवश्य कर सकते हैं; क्योंकि जीवन व्यावहारिक हो या आध्यात्मिक–पर उसकी शुद्धि के स्वरूप में भिन्नता हो ही नहीं सकती और हम यह मानते हैं कि जीवन की शुद्धि अनेकान्त दृष्टि और अहिंसा के सिवाय अन्य प्रकार से हो ही नहीं सकती। इसलिए हमें जीवन व्यावहारिक या आध्यात्मिक कैसा ही पसंद क्यों न हो पर यदि उसे उन्नत बनाना इष्ट है तो उस जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनेकान्त दृष्टि को तथा अहिंसा तत्त्व को प्रज्ञापूर्वक लागू करना ही चाहिए। जो लोग व्यावहारिक जीवन में इन दो तत्त्वों का प्रयोग करना शक्य नहीं समझते उन्हें सिर्फ आध्यात्मिक कहलानेवाले जीवन को धारण करना चाहिए। इस दलील के फलस्वरूप अन्तिम प्रश्न यही होता है कि तब इस समय इन दोनों तत्त्वों का उपयोग व्यावहारिक जीवन में कैसे किया जाए ? इस प्रश्न का उत्तर देना ही अनेकान्तवाद की मर्यादा है।

जैन समाज के व्यावहारिक जीवन की कुछ समस्याएँ ये हैं—

१—समग्र विश्व के साथ जैन धर्म का असली मेल कितना और किस प्रकार का हो सकता है ?

२—राष्ट्रीय आपत्ति और संपत्ति के समय जैन धर्म कैसा व्यवहार रखने की इजाजत देता है ?

३—सामाजिक और साम्प्रदायिक भेदों तथा फूटों को मिटाने की कितनी शक्ति जैन धर्म में है ?

यदि इन समस्याओं को हल करने के लिए अनेकान्त दृष्टि तथा अहिंसा का उपयोग हो सकता है तो वही उपयोग इन दोनों तत्त्वों की प्राणपूजा है और यदि ऐसा उपयोग न किया जा सके तो इन दोनों की पूजा सिर्फ पाषाणपूजा या शब्द पूजा मात्र होगी। परंतु मैंने जहाँ तक गहरा विचार किया है उससे

यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उक्त तीनों का ही नहीं किन्तु दूसरी भी वैसी सब समस्याओं का व्यावहारिक समाधान, यदि प्रज्ञा है तो अनेकान्त दृष्टि के द्वारा तथा अहिंसा के सिद्धान्त के द्वारा पूरे तौर से किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर जैनधर्म प्रवृत्ति मार्ग है या निवृत्ति मार्ग ? इस प्रश्न का उत्तर, अनेकान्त-दृष्टि की योजना करके, यों, दिया जा सकता है—"जैनधर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति उभय मार्गावलम्बी है। प्रत्येक क्षेत्र में जहाँ सेवा का प्रसंग हो वहाँ अर्पण की प्रवृत्ति का आदेश करने के कारण जैन-धर्म प्रवृत्तिगामी है और जहाँ भोग-वृत्ति का प्रसंग हो वहाँ निवृत्ति का आदेश करने के कारण निवृत्तगामी भी है।" परन्तु जैसा आजकल देखा जाता है, भोग में–अर्थात् दूसरों से सुविधा ग्रहण करने में—प्रवृत्ति करना और योग में–अर्थात् दूसरों को अपनी सुविधा देने में—निवृत्ति धारण करना, यह अनेकान्त तथा अहिंसा का विकृत रूप अथवा उनका स्पष्ट भंग है। श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय झगड़ों में से कुछ को लेकर उन पर भी अनेकान्त-दृष्टि लागू करनी चाहिए। नग्नत्व और वस्त्रधारित्व के विषय में द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक–इन दो नयों का समन्वय बराबर हो सकता है। जैनत्व अर्थात् वीतरागत्व यह तो द्रव्य (सामान्य) है और नग्नत्व तथा वस्त्रधारित्व, एवं नग्नत्व तथा वस्त्रधारण के विविधस्वरूप–ये सब पर्याय (विशेष) हैं। उक्त द्रव्य शाश्वत है पर उसके उक्त पर्याय सभी अशाश्वत तथा अव्यापक हैं। प्रत्येक पर्याय यदि द्रव्यसम्बद्ध है–द्रव्य का बाधक नहीं है–तो वह सत्य है अन्यथा सभी असत्य हैं। इसी तरह जीवनशुद्धि यह द्रव्य है और स्त्रीत्व या पुरुषत्व दोनों पर्याय हैं। यही बात तीर्थ के और मन्दिर के हकों के विषय में घटानी चाहिए। न्यात, जात और फिर्कों के बारे में भेदाभेद भङ्गी का उपयोग करके ही झगड़ा निपटाना चाहिए। उत्कर्ष के सभी प्रसंगों में अभिन्न अर्थात् एक हो जाना और अपकर्ष के प्रसंगों में भिन्न रहना अर्थात् दलबन्दी न करना। इसी प्रकार वृद्धलग्न, अनेकपत्नीग्रहण, पुनर्विवाह जैसे विवादास्पद विषयों के लिए भी कथंचित् विधेय-अविधेय की भंगी प्रयुक्त किये बिना समाज समंजस रूप से जीवित रह नहीं सकता।

चाहे जिस प्रकार से विचार किया जाए पर आजकल की परिस्थिति में तो यह सुनिश्चित है कि जैसे सिद्धसेन, समंतभद्र आदि पूर्वाचार्यों ने अपने समय के विवादास्पद पक्ष-प्रतिपक्षों पर अनेकान्त का और तज्जनित नय आदि वादों का प्रयोग किया है वैसे ही हमें भी उपस्थित प्रश्नों पर उनका प्रयोग करना ही चाहिए। यदि हम ऐसा करने को तैयार नहीं हैं तो उत्कर्ष की अभिलाषा रखने का भी हमें कोई अधिकार नहीं है।

अनेकान्त की मर्यादा इतनी विस्तृत और व्यापक है कि उसमें से सब विषयों पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसलिए कोई ऐसा भय न रखें कि प्रस्तुत व्यावहारिक विषयों पर पूर्वाचार्यों ने तो चर्चा नहीं की, फिर यहाँ क्यों की गई? क्या यह कोई उचित समझेगा कि एक तरफ से समाज में अविभक्तता की शक्ति की जरूरत होने पर भी वह छोटी-छोटी जातियों अथवा उपजातियों में विभक्त होकर बरबाद होता रहे, दूसरी तरफ से विद्या और उपयोग की जीवनप्रद संस्थाओं में बल लगाने के बजाय धन, बुद्धि और समय की सारी शक्ति को समाज तीर्थों के झगड़ों में खर्च करता रहे और तीसरी तरफ जिस विधवा में संयम पालन का सामर्थ्य नहीं है उस पर संयम का बोझ समाज बलपूर्वक लादता रहे तथा जिसमें विद्याग्रहण एवं संयमपालन की शक्ति है उस विधवा को उसके लिए पूर्ण मौका देने का कोई प्रबंध न करके उससे समाज कल्याण की अभिलाषा रखें और हम पण्डितगण सन्मतितर्क तथा आप्तमीमांसा के अनेकान्त और नयवाद विषयक शास्त्रार्थों पर दिन रात सिरपच्ची किया करें? जिसमें व्यवहार बुद्धि होगी और प्रज्ञा की जागृति होगी वह तो यही कहेगा कि अनेकान्त की मर्यादा में से जैसे कभी आप्तमीमांसा का जन्म और सन्मतितर्क का आविर्भाव हुआ था वैसे ही उस मर्यादा में से आजकल 'समाज मीमांसा' और 'समाज तर्क' का जन्म होना चाहिए तथा उसके द्वारा अनेकांत के इतिहास का उपयोगी पृष्ठ लिखा जाना चाहिए।

ई० १९३०] ['अनेकान्त'

अनेकान्तवाद

दो मौलिक विचार-धाराएँ—

विश्व का विचार करनेवाली परस्पर भिन्न ऐसी मुख्य दो दृष्टियाँ हैं। एक है सामान्यगामिनी और दूसरी है विशेषगामिनी। पहली दृष्टि शुरू में तो सारे विश्व में समानता ही देखती है पर वह धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते-झुकते अन्त में सारे विश्व को एक ही मूल में देखती है और फलतः निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति का विषय है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है। इस तरह समानता की प्राथमिक भूमिका से उतरकर अन्त में वह दृष्टि तात्त्विक—एकता की भूमिका पर आकर ठहरती है। उस दृष्टि में जो एक मात्र विषय स्थिर होता है, वही सत् है। सत् तत्व मे आत्यन्तिक रूप से निमग्न होने के कारण वह दृष्टि या तो भेदों को देख ही नहीं पाती या उन्हें देखकर भी वास्तविक न समझने के कारण व्यावहारिक या अपारमार्थिक या बाधित कहकर छोड़ ही देती है। चाहे फिर वे प्रतीतिगोचर होने वाले भेद कालकृत हों अर्थात कालपट पर फैले हुए हों जैसे पूर्वापररूप बीज, अंकुर आदि; या देशकृत हों अर्थात् देशपट पर वितत हों जैसे समकालीन घट, पट आदि प्रकृति के परिणाम; या द्रव्यगत अर्थात् देशकाल-निरपेक्ष साहजिक हों जैसे प्रकृति, पुरुष तथा अनेक पुरुष।

इसके विरुद्ध दूसरी दृष्टि सारे विश्व में असमानता ही असमानता देखती है और धीरे-धीरे उस असमानता की जड़ की खोज करते-करते अंत में वह विश्लेषण की ऐसी भूमिका पर पहुँच जाती है, जहाँ उसे एकता की तो बात ही क्या, समानता भी कृत्रिम मालूम होती है। फलतः वह निश्चय कर लेती है कि विश्व एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न ऐसे भेदों का पुंज मात्र है। वस्तुतः उसमें न कोई वास्तविक एक तत्त्व है और न साम्य ही। चाहे वह एक तत्त्व समग्र देश-काल व्यापी समझा जाता हो जैसे प्रकृति; या द्रव्यभेद होने पर भी मात्र कालव्यापी एक समझा जाता हो जैसे परमाणु।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ मूल में ही भिन्न हैं, क्योंकि एक का आधार समन्वय मात्र है और दूसरी का आधार विश्लेषण मात्र। इन मूलभूत दो विचार सरणियों के कारण अनेक मुद्दों पर अनेक विरोधी वाद आप ही आप खड़े हो जाते हैं।

हम देखते हैं कि सामान्यगामिनी पहली दृष्टि में से समग्र देश-काल-व्यापी तथा देश-काल विनिर्मुक्त ऐसे एक मात्र सत्-तत्त्व या ब्रह्माद्वैत का वाद स्थापित हुआ; जिसने एक तरफ से सकल भेदों को और तद्ग्राहक प्रमाणों को मिथ्या बतलाया और साथ ही सत् तत्त्व को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कहकर मात्र अनुभवगम्य कहा। दूसरी विशेषगामिनी दृष्टि में से भी केवल देश और काल भेद से ही भिन्न नहीं बल्कि स्वरूप से भी भिन्न ऐसे अनंत भेदों का वाद स्थापित हुआ। जिसने एक ओर से सब प्रकार के अभेदों को मिथ्या बतलाया और दूसरी ओर से अंतिम भेदों को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कहकर मात्र अनुभवगम्य बतलाया। ये दोनों वाद अंत में शून्यता तथा स्वानुभवगम्यता के परिणाम पर पहुँचे सही, पर दोनों का लक्ष्य अत्यन्त भिन्न होने के कारण वे आपस में बिलकुल ही टकराने और परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ने लगे।

भेदवाद-अभेदवाद—

उक्त दो मूलभूत विचारधाराओं में से फूटनेवाली या उनसे संबंध रखने वाली भी अनेक विचार धाराएँ प्रवाहित हुई। किसी ने अभेद को तो अपनाया, पर उसकी व्याप्ति काल और देश पट तक अथवा मात्र कालपट तक रखी। स्वरूप या द्रव्य तक उसे नहीं बढ़ाया। इस विचारधारा में से अनेक द्रव्यों को मानने पर भी उन द्रव्यों की कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता के वाद का जन्म हुआ जैसे सांख्य का प्रकृति-पुरुषवाद, दूसरी विचार धारा ने उसकी अपेक्षा भेद का क्षेत्र बढ़ाया जिससे उसने कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता मानकर भी स्वरूपतः जड़ द्रव्यों को अधिक संख्या में स्थान दिया जैसे परमाणु, विभुद्रव्यवाद आदि।

अद्वैतमात्र या सन्मात्र को स्पर्श करने वाली दृष्टि किसी विषय में भेद सहन न कर सकने के कारण अभेदमूलक अनेकवादों का स्थापन करे, यह स्वाभाविक ही है, हुआ भी ऐसा ही। इसी दृष्टि में से कार्य-कारण के अभेदमूलक मात्र सत्कार्यवाद का जन्म हुआ। धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि द्वंद्वों के अभेदवाद भी उसी में से फलित हुए जब कि द्वैत और भेद को स्पर्श करने वाली दृष्टि ने अनेक विषयों में भेदमूलक ही नानावाद स्थापित किये। उसने कार्य-कारण के भेदमूलक मात्र असत्कार्यवाद को जन्म दिया तथा धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि अनेक द्वंद्वों के भेदों को भी मान लिया। इस तरह हम भारतीय तत्त्वचिंतन में देखते हैं कि मौलिक सामान्य और विशेष दृष्टि तथा उनकी अवान्तर सामान्य और विशेष दृष्टियों में से परस्पर विरुद्ध ऐसे अनेक

मतों-दर्शनों का जन्म हुआ; जो अपने विरोधीवाद की आधारभूत भूमिका की सत्यता की कुछ भी परवाह न करने के कारण एक दूसरे के प्रहार में ही चरितार्थता मानने लगे।

सद्वाद-असद्वाद—

सद्वाद अद्वैतगामी हो या द्वैतगामी जैसा कि सांख्यादि का, पर वह कार्य-कारण के अभेदमूलक सत्कार्यवाद को बिना माने अपना मूल लक्ष्य सिद्ध ही नहीं कर सकता; जब कि असद्वाद क्षणिकगामी हो जैसे बौद्धों का, स्थिरगामी हो या नित्यगामी हो जैसे वैशेषिक आदि का—पर वह असत्कार्यवाद का स्थापन बिना किये अपना लक्ष्य स्थिर कर ही नहीं सकता। अतएव सत्कार्यवाद और असत्कार्य-वाद की पारस्परिक टक्कर हुई। अद्वैतगामी और द्वैतगामी सद्वाद में से जन्मी हुई कूटस्थता जो कालिक नित्यता रूप है और विभुता जो दैशिक व्यापकता रूप है उनकी-देश और कालकृत निरंश अंशवाद अर्थात् निरंश क्षणवाद के साथ टक्कर हुई, जो कि वस्तुतः सद्दर्शन के विरोधी दर्शन में से फलित होता है।

निर्वचनीय-अनिर्वचनीय वाद—

एक तरफ से सारे विश्व को अखण्ड और एक तत्त्वरूप माननेवाले और दूसरी तरफ से उसे निरंश अंशपुंज माननेवाले—अपने-अपने लक्ष्य की सिद्धि तभी कर सकते थे जब कि वे अपने अभीष्ट तत्त्व को अनिर्वचनीय अर्थात् अनभिलाप्य-शब्दागोचर मानें, क्योंकि शब्द के द्वारा निर्वचन मानने पर न तो अखण्ड सत् तत्त्व की सिद्धि हो सकती है और न निरंश भेद तत्त्व की। निर्वचन करना ही मानों अखण्डता या निरंशता का लोप कर देना है। इस तरह अखण्ड और निरंशवाद में से अनिर्वचनीयवाद आप ही आप फलित हुआ। पर उस वाद के सामने लक्षणवादी वैशेषिक आदि तार्किक हुए, जो ऐसा मानते हैं कि वस्तु मात्र का निर्वचन करना या लक्षण बनाना शक्य ही नहीं बल्कि वास्तविक भी हो सकता है। इसमें से निर्वचनीयत्ववाद का जन्म हुआ और तब अनिर्वचनीय तथा निर्वचनीयवाद आपस में टकराने लगे।

हेतुवाद-अहेतुवाद आदि—

इसी प्रकार कोई मानते थे कि प्रमाण चाहे जो हो पर हेतु अर्थात् तर्क के बिना किसी से अन्तिम निश्चय करना भयास्पद है। जब दूसरे कोई मानते थे कि हेतुवाद स्वतन्त्र बल नहीं रखता। ऐसा बल आगम में ही होने से वही मूर्धन्य प्रमाण है। इसी से वे दोनों वाद परस्पर टकराते थे। दैवज्ञ कहता था कि

सब कुछ दैवाधीन है; पौरुष स्वतंत्ररूप से कुछ कर नहीं सकता। पौरुषवादी ठीक इससे उलटा कहता था कि पौरुष ही स्वतंत्रभाव से कार्य करता है। अतएव वे दोनों वाद एक दूसरे को असत्य मानते रहे। अर्थनय—पदार्थवादी शब्द की और शब्दनय—शाब्दिक अर्थ की परवाह न करके परस्पर खण्डन करने में प्रवृत्त थे। कोई अभाव को भाव से पृथक ही मानता तो दूसरा कोई उसे भाव स्वरूप ही मानता था और वे दोनों भाव से अभाव को पृथक मानने न मानने के बारे में परस्पर प्रतिपक्ष भाव धारण करते रहे। कोई प्रमाता से प्रमाण और प्रमिति को अत्यन्त भिन्न मानते तो दूसरे कोई उससे उन्हें अभिन्न मानते थे। कोई वर्णाश्रम विहित कर्म मात्र पर भार देकर उसी से इष्ट प्राप्ति बतलाते तो कोई ज्ञान मात्र से आनन्दाप्ति का प्रतिपादन करते जब तीसरे कोई भक्ति को ही परम पद का साधन मानते रहे और वे सभी एक दूसरे का आवेशपूर्वक खण्डन करते रहे। इस तरह तत्त्वज्ञान व आचार के छोटे-बड़े अनेक मुद्दों पर परस्पर बिलकुल विरोधी ऐसे अनेक एकान्त मत प्रचलित हुए।

अनेकान्त-दृष्टि से समन्वय—

उन एकान्तों की पारस्परिक वाद-लीला देखकर अनेकान्तदृष्टि के उत्तराधिकारी आचार्यों को विचार आया कि असल में ये सब वाद जो कि अपनी-अपनी सत्यता का दावा करते हैं वे आपस में इतने लड़ते हैं क्यों? क्या उन सब में कोई तथ्यांश ही नहीं, या सभी में तथ्यांश है, या किसी-किसी में तथ्यांश है, या सभी पूर्ण सत्य हैं? इस प्रश्न के अन्तर्मुख उत्तर में से एक चाबी मिल गई, जिसके द्वारा उन्हें सब विरोधों का समाधान हो गया और पूरे सत्य का दर्शन हुआ। वही चाबी अनेकान्तवाद की भूमिका रूप अनेकान्त दृष्टि है। इस दृष्टि के द्वारा उन्होंने देखा कि प्रत्येक सयुक्तिकवाद अमुक-अमुक दृष्टि से अमुक-अमुक सीमा तक सत्य है। फिर भी जब कोई एक वाद दूसरे वाद की आधारभूत विचार-सरणी और उस वाद की सीमा का विचार नहीं करता प्रत्युत अपनी आधारभूत दृष्टि तथा अपने विषय की सीमा में ही सब कुछ मान लेता है, तब उसे किसी भी तरह दूसरे वाद की सत्यता मालूम ही नहीं हो पाती। यही हालत दूसरे विरोधी वाद की भी होती है। ऐसी दशा में न्याय इसी में है कि प्रत्येक वाद को उसी विचार-सरणी से उसी सीमा तक ही जाँचा जाय और इस जाँच में वह ठीक निकले तो उसे सत्य का एक भाग मानकर ऐसे सब सत्यांशरूप मणियों को एक पूर्ण सत्यरूप विचार-सूत्र में पिरोकर अविरोधी माला बनाई जाय। इसी विचार ने जैनाचार्यों को अनेकान्तदृष्टि के आधार पर तत्कालीन सब वादों का सम-

न्वय करने की ओर प्रेरित किया। उन्होंने सोचा कि जब शुद्ध और निःस्वार्थ चित्त-वालों में से किन्हीं को एकत्वपर्यवसायी साम्यप्रतीति होती है और किन्हीं को निरंश अंश पर्यवसायी भेद प्रतीति होती है तब यह कैसे कहा जाय कि अमुक एक ही प्रतीति प्रमाण है और दूसरी नहीं। किसी एक को अप्रमाण मानने पर तुल्ययुक्ति से दोनों प्रतीतियाँ अप्रमाण ही सिद्ध होंगी। इसके सिवाय किसी एक प्रतीति को प्रमाण और दूसरी को अप्रमाण मानने वालों को भी अन्त में अप्रमाण मानी हुई प्रतीति के विषयरूप सामान्य या विशेष के सार्वजनिक व्यवहार की उपपत्ति तो किसी न किसी तरह करनी ही पड़ती है। यह नहीं कि अपनी इष्ट प्रतीति को प्रमाण कहने मात्र से सब शास्त्रीय लौकिक व्यवहारों की उपपत्ति भी हो जाय। यह भी नहीं कि ऐसे व्यवहारों को उपपन्न बिना किये ही छोड़ दिया जाय। ब्रह्मैकत्ववादी भेदों को व उनकी प्रतीति को अविद्यामूलक ही कह कर उसकी उपपत्ति करेगा, जब कि क्षणिकत्ववादी साम्य या एकत्व को व उसकी प्रतीति को ही अविद्यामूलक कह कर ऐसे व्यवहारों की उपपत्ति करेगा।

ऐसा सोचने पर अनेकान्त के प्रकाश में अनेकान्तवादियों को मालूम हुआ कि प्रतीति अभेदगामिनी हो या भेदगामिनी, हैं तो सभी वास्तविक। प्रत्येक प्रतीति की वास्तविकता उसके अपने विषय तक तो है पर जब वह विरुद्ध दिखाई देनेवाली दूसरी प्रतीति के विषय की अयथार्थता दिखाने लगती है तब वह खुद भी अवास्तविक बन जाती है। अभेद और भेद की प्रतीतियाँ विरुद्ध इसी से जान पड़ती हैं कि प्रत्येक को पूर्ण प्रमाण मान लिया जाता है। सामान्य और विशेष की प्रत्येक प्रतीति स्वविषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण नहीं। यह प्रमाण का अंश अवश्य है। वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो ऐसा ही होना चाहिए, जिससे कि वे विरुद्ध दिखाई देनेवाली प्रतीतियाँ भी अपने स्थान में रहकर उसे अविरोधीभाव से प्रकाशित कर सकें और वे सब मिलकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित करने के कारण प्रमाण मानी जा सकें। इस समन्वय या व्यवस्थागर्भित विचार के बल पर उन्होंने समझाया कि सद्-द्वैत और सद्-अद्वैत के बीच कोई विरोध नहीं, क्योंकि वस्तु का पूर्णस्वरूप ही अभेद और भेद या सामान्य और विशेषात्मक ही है। जैसे हम स्थान, समय, रंग, रस, परिमाण आदि का विचार किये बिना ही विशाल जलराशि मात्र का विचार करते हैं तब हमें एक ही एक समुद्र प्रतीत होता है। पर उसी जलराशि के विचार में जब स्थान, समय आदि का विचार दाखिल होता है तब हमें एक अखण्ड समुद्र के स्थान में अनेक छोटे बड़े समुद्र नज़र आते हैं; यहाँ तक कि अन्त में हमारे ध्यान में जलकण तक भी नहीं रहता उसमें केवल कोई अविभाज्य रूप या रस आदि का अंश ही रह जाता

है और अन्त में वह भी शून्यवत् भासित् होता है। जलराशि में अखण्ड एक समुद्र की बुद्धि भी वास्तविक है और अन्तिम अंश की बुद्धि भी। एक इसलिए वास्तविक है कि वह भेदों को अलग-अलग रूप से स्पर्श न करके सब को एक साथ सामान्यरूप से देखती है। स्थान, समय आदि कृत भेद जो एक दूसरे से व्यावृत्त हैं उनको अलग-अलग रूप से विषय करनेवाली बुद्धि भी वास्तविक है; क्योंकि वे भेद वैसे ही हैं। जलराशि एक और अनेक—उभय रूप होने के कारण उसमें होनेवाली समुद्रबुद्धि और अंशबुद्धि अपने-अपने स्थान में यथार्थ होकर भी कोई एक बुद्धि पूर्ण स्वरूप को विषय न करने के कारण पूर्ण प्रमाण नहीं है। फिर भी दोनों मिलकर पूर्ण प्रमाण है। वैसे ही जब हम सारे विश्व को एक मात्र सत्-रूप से देखें अथवा यह कहिए कि जब हम समस्त भेदों के अन्तर्गत एक मात्र अनुगमक सत्ता स्वरूप का विचार करें तब हम कहते हैं कि एक मात्र सत् ही है; क्योंकि उस सर्वग्राही सत्ता के विचार के समय कोई ऐसे भेद भासित नहीं होते जो परस्पर में व्यावृत्त हों। उस समय तो सारे भेद समष्टि रूप में या एक मात्र सत्ता रूप में ही भासित होते हैं; और तभी सद् अद्वैत कहलाता है। एक मात्र सामान्य की प्रतीति के समय सत् शब्द का अर्थ भी इतना विशाल हो जाता है कि जिसमें कोई शेष नहीं बचता। पर जब हम उस विश्व को—गुणधर्म कृत भेदों में जो कि परस्पर व्यावृत्त हैं—विभाजित करते हैं; तब वह विश्व एक सत् रूप से मिटकर अनेक सत् रूप प्रतीत होता है। उस समय सत् शब्द का अर्थ भी उतना ही छोटा हो जाता है। हम कभी कहते हैं कि कोई सत् जड़ भी है और कोई चेतन भी। हम और अधिक भेदों की ओर झुक कर फिर यह भी कहते हैं कि जड़ सत् भी अनेक हैं और चेतन सत् भी अनेक हैं। इस तरह जब सर्वग्राही सामान्य को व्यावर्तक भेदों में विभाजित करके देखते हैं तब हमें नाना सत् मालूम होते हैं और वही सद् द्वैत है। इस प्रकार एक विश्व में प्रवृत्त होने वाली सद्-अद्वैत बुद्धि और सद्-द्वैत बुद्धि दोनों अपने-अपने विषय में यथार्थ होकर भी पूर्ण प्रमाण तभी कही जाएँगी जब वे दोनों सापेक्षरूप से मिलें। यही सद्-अद्वैत और सद्-द्वैत वाद जो परस्पर विरुद्ध समझे जाते हैं उनका अनेकान्त दृष्टि के अनुसार समन्वय हुआ।

इसे वृक्ष और वन के दृष्टान्त से भी स्पष्ट किया जा सकता है। जब अनेक परस्पर भिन्न वृक्ष व्यक्तियों को उस-उस व्यक्ति रूप से ग्रहण न करके सामूहिक या सामान्य रूप में वनरूप से ग्रहण करते हैं, तब उन सब विशेषों का अभाव नहीं हो जाता। पर वे सब विशेष सामान्यरूप से सामान्य ग्रहण में ही ऐसे लीन हो जाते हैं मानो वे हैं ही नहीं। एक मात्र वन ही वन नज़र आता है यही एक

प्रकार का अद्वैत हुआ। फिर कभी हम जब एक-एक वृक्ष को विशेष रूप से समझते हैं तब हमें परस्पर भिन्न व्यक्तियाँ ही व्यक्तियाँ नजर आती हैं, उस समय विशेष प्रतीति में सामान्य इतना अन्तर्लीन हो जाता है कि मानो वह है नहीं। अब इन दोनों अनुभवों का विश्लेषण करके देखा जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि कोई एक सत्य है और दूसरा असत्य । अपने-अपने विषय में दोनों अनुभवों का समुचित समन्वय ही है। क्योंकि इसी में सामान्य और विशेषात्मक वन-वृक्षों का अबाधित अनुभव समा सकता है। यही स्थिति विश्व के संबन्ध में सद्-अद्वैत किंवा सद्-द्वैत दृष्टि की भी है।

कालिक, दैशिक और देश-कालातीत सामान्य-विशेष के उपर्युक्त अद्वैत-द्वैतवाद के आगे बढ़कर कालिक सामान्य-विशेष के सूचक नित्यत्ववाद और क्षणिकत्ववाद भी हैं। ये दोनों वाद एक दूसरे के विरुद्ध ही जान पड़ते हैं; पर अनेकान्त दृष्टि कहती है कि वस्तुतः उनमें कोई विरोध नहीं। जब हम किसी तत्त्व को तीनों कालों में अखण्ड रूप से अर्थात् अनादि-अनन्त रूप से देखेंगे तब वह अखण्ड प्रवाह रूप में आदि अन्त रहित होने के कारण नित्य ही है। पर हम जब उस अखण्ड-प्रवाह पतित तत्त्व को छोटे-बड़े आपेक्षिक काल भेदों में विभाजित कर लेते हैं, तब उस काल पर्यन्त स्थायी ऐसा परिमित रूप ही नजर आता है, जो सादि भी है और सान्त भी । अगर विवक्षित काल इतना छोटा हो जिसका दूसरा हिस्सा बुद्धिशस्त्र कर न सके तो उस काल से परिच्छिन्न वह तत्त्वगत प्रावाहिक अंश सबसे छोटा होने के कारण क्षणिक कहलाता है। नित्य और क्षणिक ये दोनों शब्द ठीक एक दूसरे के विरुद्धार्थक हैं। एक अनादि-अनन्त का और दूसरा सादि-सान्त का भाव दरसाता है। फिर भी हम अनेकान्त-दृष्टि के अनुसार समझ सकते हैं कि जो तत्त्व अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा नित्य कहा जा सकता है वही तत्त्व खण्ड-खण्ड क्षणपरिमित परिवर्तनों व पर्यायों की अपेक्षा से क्षणिक भी कहा जा सकता है । एक वाद की आधार-दृष्टि है अनादि-अनन्तता की दृष्टि; जब दूसरे की आधार है सादि-सान्तता की दृष्टि। वस्तु का कालिक पूर्ण स्वरूप अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता इन दो अंशों से बनता है। अतएव दोनों दृष्टियाँ अपने-अपने विषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण तभी बनती हैं जब वे समन्वित हों।

इस समन्वय को दृष्टान्त से भी इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। किसी एक वृक्ष का जीवन-व्यापार मूल से लेकर फल तक में काल-क्रम से होनेवाली बीज मूल, अँकुर, स्कन्ध, शाखा-प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प और फल आदि विविध अवस्थाओं में होकर ही प्रवाहित और पूर्ण होता है। जब हम अमुक वस्तु को

वृक्षरूप से समझते हैं तब उपर्युक्त सब अवस्थाओं में प्रवाहित होनेवाला पूर्ण जीवन-व्यापार ही अखण्ड रूप से मन में आता है पर जब हम उसी जीवन-व्यापार के परस्पर भिन्न ऐसे क्रमभावी मूल, अंकुर, स्कन्ध आदि एक-एक अंश को ग्रहण करते हैं तब वे परिमित काल-लक्षित अंश ही हमारे मन में आते हैं। इस प्रकार हमारा मन कभी तो समूचे जीवन-व्यापार को अखण्ड रूप में स्पर्श करता है और कभी-कभी उसे खण्डित रूप में एक-एक अंश के द्वारा। परीक्षण करके देखने से साफ जान पड़ता है कि न तो अखण्ड जीवन-व्यापार ही एक मात्र पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक मात्र है और न खण्डित अंश ही पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक। भले ही उस अखण्ड में सारे खण्ड और सारे खण्डों में वह एक मात्र अखण्ड समा जाता हो; फिर भी वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो अखण्ड और खण्ड दोनों में ही पर्यवसित होने के कारण दोनों पहलुओं से गृहित होता है। जैसे वे दोनों पहलू' अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होकर भी पूर्ण तभी बनते हैं जब समन्वित किये जाएँ, वैसे ही अनादि-अनन्त काल-प्रवाह रूप वृक्ष का ग्रहण नित्यत्व का व्यञ्जक है और उसके घटक अंशों का ग्रहण अनित्यत्व या क्षणिकत्व का द्योतक है। आधारभूत नित्य प्रवाह के सिवाय न तो अनित्य घटक संभव है और न अनित्य घटकों के सिवाय वैसा नित्य प्रवाह ही। अतएव एक मात्र नित्यत्व को या एक मात्र अनित्यत्व को वास्तविक कहकर दूसरे विरोधी अंश को अवास्तविक कहना ही नित्य-अनित्य वादों की टक्कर का बीज है; जिसे अनेकान्त दृष्टि हटाती है।

अनेकान्त दृष्टि अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व वाद की पारस्परिक टक्कर को भी मिटाती है। वह कहती है कि वस्तु का वही रूप प्रतिपाद्य हो सकता है जो संकेत का विषय बन सके। सूक्ष्मतम बुद्धि के द्वारा किया जानेवाला संकेत भी स्थूल अंश को ही विषय कर सकता है। वस्तु के ऐसे अपरिमित भाव हैं जिन्हें संकेत के द्वारा शब्द से प्रतिपादन करना संभव नहीं। इस अर्थ में अखण्ड सत् या निरंश क्षण अनिर्वचनीय ही हैं जब कि मध्यवर्ती स्थूल भाव निर्वचनीय भी हो सकते हैं। अतएव समग्र विश्व के या उसके किसी एक तत्त्व के बारे में जो अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व के विरोधी प्रवाद हैं वे वस्तुतः अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होने पर भी प्रमाण तो समूचे रूप में ही हैं।

एक ही वस्तु की भावरूपता और अभावरूपता भी विरुद्ध नहीं। मात्र विधिमुख से या मात्र निषेधमुख से ही वस्तु प्रतीत नहीं होती दूध, दूध रूप से भी प्रतीत होता है और अदधि या दधिभिन्न रूप से भी। ऐसी दशा में वह भाव-अभाव उभय रूप सिद्ध हो जाता है और एक ही वस्तु में भावत्व या अभा-

त्व का विरोध प्रतीति के स्वरूप भेद से हट जाता है । इसी तरह धर्म-धर्मी, कार्य-कारण, आधार-आधेय आदि द्वन्द्वों के अभेद और भेद के विरोध का परिहार भी अनेकान्त दृष्टि कर देती है ।

जहाँ आप्तत्व और उसके मूल के प्रामाण्य में सन्देह हो वहाँ हेतुवाद के द्वारा परीक्षापूर्वक ही निर्णय करना क्षेमंकर है; पर जहाँ आप्तत्व में कोई सन्देह नहीं वहाँ हैतुवाद का प्रयोग अनवस्था कारक होने से त्याज्य है । ऐसे स्थान में आगमवाद ही मार्गदर्शक हो सकता है । इस तरह विषय-भेद से या एक ही विषय में प्रतिपाद्य भेद से हेतुवाद और आगमवाद दोनों को अवकाश है। उनमें कोई विरोध नहीं। यही स्थिति दैव और पौरुषवाद की भी है । उनमें कोई विरोध नहीं . जहाँ बुद्धि-पूर्वक पौरुष नहीं, वहाँ की समस्याओं का हल दैव-वाद कर सकता है; पर पौरुष के बुद्धि पूर्वक प्रयोगस्थल में पौरुषवाद ही स्थान पाता है । इस तरह जुदे-जुदे पहलू की अपेक्षा एक ही जीवन में दैव और पौरुष वाद समन्वित किये जा सकते हैं ।

कारण में कार्य को केवल सत् या केवल असत् माननेवाले वादों के विरोध का भी परिहार अनेकान्त-दृष्टि सरलता से कर देती है । वह कहती है कि कार्य उपादान में सत् भी है और असत् भी है । कटक बनने के पहले भी सुवर्ण में कटक बनने की शक्ति है इसलिए उत्पत्ति के पहले भी शक्ति रूप से या कारणा-भेद-दृष्टि से कार्य सत् कहा जा सकता है। शक्ति रूप से सत् होने पर भी उत्पादक सामग्री के अभाव में वह कार्य आविर्भूत या उत्पन्न न होने के कारण उपलब्ध नहीं होता, इसलिए वह असत् भी है । तिरोभाव दशा में जब कि कटक उपलब्ध नहीं होता तब भी कुण्डलाकार-धारी सुवर्ण कटक रूप बनने की योग्यता रखता है, इसलिए उस दशा में असत् भी कटक योग्यता की दृष्टि से सुवर्ण में सत् कहा जा सकता है।

बौद्धों का केवल परमाणु-पुञ्जवाद और नैयायिकों का अपूर्वावयवी वाद—ये दोनों आपस में टकराते हैं। पर अनेकान्त-दृष्टि ने स्कन्ध का—जो कि न केवल परमाणु-पुञ्ज है और न अनुभव-बाधित अवयवों से भिन्न अपूर्व अवयवी रूप है, स्वीकार करके विरोध का समुचित रूप से परिहार व दोनों वादों का निर्दोष समन्वय कर दिया है। इसी तरह अनेकान्त दृष्टि ने अनेक विषयों में प्रवर्तमान विरोधी-वादों का समन्वय मध्यस्थ भाव से किया है। ऐसा करते समय अनेकान्त वाद के आस-पास नयवाद और भङ्गवाद आप ही आप फलित हो जाते हैं, क्योंकि जुदे-जुदे पहलू या दृष्टिबिन्दु का पृथक्करण, उनकी विषय मर्यादा का

विभाग और उनका एक विषय में यथोचित विन्यास करने ही से अनेकान्त सिद्ध होता है।

अपेक्षा या नय—

मकान किसी एक कोने में पूरा नहीं होता। उसके अनेक कोने भी किसी एक ही दिशा में नहीं होते। पूर्व पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि परस्पर विरुद्ध दिशा वाले एक-एक कोने पर खड़े रहकर किया जानेवाला उस मकान का अवलोकन पूर्ण तो नहीं होता, पर वह अयथार्थ भी नहीं। जुदे-जुदे सम्भवित सभी कोनों पर खड़े रहकर किये जाने वाले सभी सम्भवित अवलोकनों का सार समुच्चय ही उस मकान का पूरा अवलोकन है। प्रत्येक कोणसम्भवी प्रत्येक अवलोकन उस पूर्ण अवलोकन का अनिवार्य अङ्ग है। वैसे ही किसी एक वस्तु या समग्र विश्व का तात्त्विक चिन्तन—दर्शन भी अनेक अपेक्षाओं से निष्पन्न होता है। मन की सहज रचना, उस पर पड़नेवाले आगन्तुक संस्कार और चिन्त्य वस्तु का स्वरूप इत्यादि के सम्मेलन से ही अपेक्षा बनती है। ऐसी अपेक्षाएँ अनेक होती हैं; जिनका आश्रय लेकर वस्तु का विचार किया जाता है। विचार को सहारा देने के कारण या विचार स्रोत के उद्गम का आधार बनने के कारण वे ही अपेक्षाएँ दृष्टि-कोण या दृष्टि-बिन्दु भी कही जाती हैं। सम्भवित सभी अपेक्षाओं से—चाहे वे विरुद्ध ही क्यों न दिखाई देती हों—किये जानेवाले चिन्तन व दर्शनों का सारसमुचय ही उस विषय का पूर्ण—अनेकान्त दर्शन है। प्रत्येक अपेक्षासम्भवी दर्शन उस पूर्ण दर्शन का एक-एक अङ्ग है जो परस्पर विरुद्ध होकर भी पूर्ण दर्शन में समन्वय पाने के कारण वस्तुतः अविरुद्ध ही है

जब किसी की मनोवृत्ति विश्व के अन्तर्गत सभी भेदों को—चाहे वे गुण, धर्म या स्वरूप कृत हों या व्यक्तित्वकृत हों—भुलाकर अर्थात् उनकी ओर झुके बिना ही एक मात्र अखण्डता का विचार करती है, तब उसे अखण्ड या एक ही विश्व का दर्शन होता है। अभेद की उस भूमिका पर से निष्पन्न होनेवाला 'सत्' शब्द के एक मात्र अखण्ड अर्थ का दर्शन ही संग्रह नय है। गुण धर्म कृत या व्यक्तित्व कृत भेदों की ओर झुकनेवाली मनोवृत्ति से किया जानेवाला उसी विश्व का दर्शन व्यवहार नय कहलाता है; क्योंकि उसमें लोकसिद्ध व्यवहारों की भूमिका रूप से भेदों का खास स्थान है। इस दर्शन के 'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा अखण्डित न रह कर अनेक खण्डों में विभाजित हो जाती है। वही भेदगामिनी मनोवृत्ति या अपेक्षा—सिर्फ कालकृत भेदों की ओर झुककर सिर्फ वर्तमान को ही कार्यक्षम होने के कारण जब सत् रूप से देखती है और अतीत अनागत को

'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा में से हटा देती है तब उसके द्वारा फलित होने वाला विश्व का दर्शन ऋजुसूत्र नय है। क्योंकि वह अतीत-अनागत के चक्रव्यूह को छोड़कर सिर्फ वर्त्तमान की सीधी रेखा पर चलता है।

उपर्युक्त तीनों मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं जो शब्द या शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय बिना लिये ही किसी भी वस्तु का चिन्तन करती हैं। अतएव वे तीनों प्रकार के चिन्तन अर्थ नय हैं। पर ऐसी भी मनोवृत्ति होती है जो शब्द के गुण धर्मों का आश्रय लेकर ही अर्थ का विचार करती है। अतएव ऐसी मनोवृत्ति से फलित अर्थचिन्तन शब्द नय कहे जाते हैं। शाब्दिक लोग ही मुख्यतया शब्द नय के अधिकारी हैं; क्योंकि उन्हीं के विविध दृष्टि-बिन्दुओं से शब्दनय में विविधता आई है।

जो शाब्दिक सभी शब्दों को अखण्ड अर्थात् अव्युत्पन्न मानते हैं वे व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेद न मानने पर भी लिङ्ग, पुरुष, काल आदि अन्य प्रकार के शब्दधर्मों के भेद के आधार पर अर्थ का वैविध्य बतलाते हैं। उनका वह अर्थ-भेद का दर्शन शब्द नय या साम्प्रत नय है। प्रत्येक शब्द को व्युत्पत्ति सिद्ध ही माननेवाली मनोवृत्ति से विचार करनेवाले शाब्दिक पर्याय अर्थात् एकार्थक समझे जानेवाले शब्दों के अर्थ में भी व्युत्पत्ति भेद से भेद बतलाते हैं। उनका वह शक्र, इन्द्र आदि जैसे पर्याय शब्दों के अर्थ भेद का दर्शन समभिरूढ़ नय कहलाता है। व्युत्पत्ति के भेद से ही नहीं, बल्कि एक ही व्युत्पत्ति से फलित होनेवाले अर्थ की मौजूदगी और गैर-मौजूदगी के भेद के कारण से भी जो दर्शन अर्थ भेद मानता है वह एवंभूत नय कहलाता है। इन तार्किक छः नयों के अलावा एक नैगम नाम का नय भी है। जिसमें निगम अर्थात् देश रूढ़ि के अनुसार अभेदगामी और भेदगामी सब प्रकार के विचारों का समावेश माना गया है। प्रधानतया ये ही सात नय हैं। पर किसी एक अंश को अर्थात् दृष्टि-कोण को अवलम्बित करके प्रवृत्त होनेवाले सब प्रकार के विचार उस-उस अपेक्षा के सूचक नय ही हैं।

शास्त्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो नय भी प्रसिद्ध हैं पर वे नय उपर्युक्त सात नयों से अलग नहीं हैं किन्तु उन्हीं का संक्षिप्त वर्गीकरण या भूमिका मात्र हैं। द्रव्य अर्थात् सामान्य, अन्वय, अभेद या एकत्व को विषय करनेवाला विचार मार्ग द्रव्यार्थिक नय है। नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये तीनों द्रव्यार्थिक ही हैं। इनमें से संग्रह तो शुद्ध अभेद का विचारक होने से शुद्ध या मूल ही द्रव्यार्थिक है जब कि व्यवहार और नैगम की प्रवृत्ति भेदगामी होकर भी किसी न किसी प्रकार के अभेद को भी अवलम्बित करके ही चलती है। इसलिए वे

भी द्रव्यार्थिक ही माने गये हैं। अलबत्ता वे संग्रह की तरह शुद्ध न होकर अशुद्ध-मिश्रित ही द्रव्यार्थिक हैं।

पर्याय अर्थात् विशेष, व्यावृत्ति या भेद को ही लक्ष्य करके प्रवृत्त होनेवाला विचार पथ पर्यायार्थिक नय है। ऋजुसूत्र आदि बाकी के चारों नय पर्यायार्थिक ही माने गये हैं। अभेद को छोड़कर एक मात्र भेद का विचार ऋजुसूत्र से शुरू होता है इसलिए उसी को शास्त्र में पर्यायार्थिक नय की प्रकृति या मूलाधार कहा है। पिछले तीन नय उसी मूलभूत पर्यायार्थिक के एक प्रकार से विस्तारमात्र हैं।

केवल ज्ञान को उपयोगी मान कर उसके आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचार धारा ज्ञान नय है तो केवल क्रिया के आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचारधारा क्रिया नय है। नयरूप आधार-स्तम्भों के अपरिमित होने के कारण विश्व का पूर्ण दर्शन-अनेकान्त भी निस्सीम है।

सप्तभंगी—

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं, दृष्टिकोणों या मनोवृत्तियों से जो एक ही तत्त्व के नाना दर्शन फलित होते हैं उन्हीं के आधार पर भंगवाद की सृष्टि खड़ी होती है। जिन दो दर्शनों के विषय ठीक एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी पड़ते हों ऐसे दर्शनों का समन्वय बतलाने की दृष्टि से उनके विषयभूत भाव-अभावात्मक दोनों अंशों को लेकर उन पर जो सम्भवित वाक्य-भङ्ग बनाये जाते हैं वही सप्तभंगी है। सप्तभंगी का आधार नयवाद है, और उसका ध्येय तो समन्वय है अर्थात् अनेकान्त कोटि का व्यापक दर्शन कराना है; जैसे किसी भी प्रमाण से जाने हुए पदार्थ का दूसरे को बोध कराने के लिए परार्थ अनुमान अर्थात् अनुमान वाक्य की रचना की जाती है, वैसे ही विरुद्ध अंशों का समन्वय श्रोता को समझाने की दृष्टि से भंग वाक्य की रचना भी की जाती है। इस तरह नयवाद और भंगवाद अनेकान्त दृष्टि के क्षेत्र में आप ही आप फलित हो जाते हैं।

दर्शनान्तर में अनेकान्तवाद—

यह ठीक है कि वैदिक परम्परा के न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों में तथा बौद्ध दर्शन में किसी एक वस्तु के विविध दृष्टियों से निरूपण की पद्धति तथा अनेक पक्षों के समन्वय की दृष्टि[1] भी देखी जाती है। फिर भी प्रत्येक वस्तु

१—उदाहरणार्थ देखो सांख्यप्रवचनभाष्य पृष्ठ २। सिद्धान्त बिन्दु पृ० ११९ से। वेदान्तसार पृ० २५। तर्क संग्रह दीपिका पृ० १७५। महावग्ग ६. ३१। प्रमाणमीमांसाटिप्पण पृ० ६१ से।

और उसके प्रत्येक पहलू पर संभवित समग्र दृष्टि बिन्दुओं से विचार करने का आत्यंतिक आग्रह तथा उन समग्र दृष्टि बिन्दुओं के एक मात्र समन्वय में ही विचार की परिपूर्णता मानने का दृढ़ आग्रह जैन परम्परा के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। इसी आग्रह में से जैन तार्किकों ने अनेकान्त, नय और सप्तभंगी वाद का बिल्कुल स्वतंत्र और व्यवस्थित शास्त्र निर्माण किया जो प्रमाण शास्त्र का एक भाग ही बन गया और जिसकी जोड़ का ऐसा छोटा भी ग्रन्थ इतर परंपराओं में नहीं बना। विभज्यवाद और मध्यम मार्ग होते हुए भी बौद्ध परंपरा किसी भी वस्तु में वास्तविक स्थायी अंश देख न सकी उसे मात्र क्षणभंग ही नजर आया। अनेकान्त शब्द[1] से ही अनेकान्त दृष्टि का आश्रय करने पर भी नैयायिक परमाणु, आत्मा आदि को सर्वथा अपरिणामी ही मानने मनवाने की धुन से बच न सके। व्यावहारिक–पारमार्थिक आदि अनेक दृष्टियों का अवलम्बन करते हुए भी वेदान्ती अन्य सब दृष्टियों को ब्रह्मदृष्टि से कम दर्जे की या बिल्कुल ही असत्य मानने-मनवाने से बच न सके। इसका एक मात्र कारण यही जान पड़ता है कि उन दर्शनों में व्यापक रूप से अनेकान्त भावना का स्थान न रहा जैसा कि जैन दर्शन में रहा। इसी कारण से जैन दर्शन सब दृष्टियों का समन्वय भी करता है और सभी द्रष्टियों को अपने-अपने विषय में तुल्य बल व यथार्थ मानता है। भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि तत्त्वज्ञान के प्राचीन मुद्दों पर ही सीमित रहने के कारण वह अनेकान्त दृष्टि और तन्मूलक अनेकान्त व्यवस्थापक शास्त्र पुनरुक्त, चर्वित चर्वण या नवीनता शून्य जान पड़ने का आपाततः सम्भव है फिर भी उस दृष्टि और उस शास्त्र निर्माण के पीछे जो अखण्ड और सजीव सर्वांश सत्य को अपनाने की भावना जैन परम्परा में रही और जो प्रमाण शास्त्र में अवतीर्ण हुई उसका जीवन के समग्र क्षेत्रों में सफल उपयोग होने की पूर्ण योग्यता होने के कारण ही उसे प्रमाण-शास्त्र को जैनाचार्यों की देन कहना अनुपयुक्त नहीं।

ई० १९३९] [प्रमाणमीमांसा की प्रस्तावना का अंश]

———

१—न्यायभाष्य २. १. १८.

आवश्यक क्रिया

वैदिकसमाज में 'सन्ध्या' का, पारसी लोगों में 'खोर देह अवस्ता' का, यहूदी तथा ईसाइयों में 'प्रार्थना' का और मुसलमानों में 'नमाज' का जैसा महत्त्व है; जैन समाज में वैसा ही महत्त्व 'आवश्यक' का है।

जैन समाज की मुख्य दो शाखाएँ हैं, (१) श्वेताम्बर और (२) दिगम्बर। दिगम्बर-सम्प्रदाय में मुनि-परंपरा विच्छिन्न-प्रायः है। इसलिए उसमें मुनियों के 'आवश्यक-विधान' का दर्शन सिर्फ शास्त्र में ही है, व्यवहार में नहीं है। उसके श्रावक-समुदाय में भी 'आवश्यक' का प्रचार वैसा नहीं है, जैसा श्वेताम्बर-शाखा में है। दिगम्बर समाज में जो प्रतिमाधारी या ब्रह्मचारी आदि होते हैं, उनमें मुख्यतया सिर्फ 'सामायिक' करने का प्रचार देखा जाता है। शृङ्खलाबद्ध रीति से छहों 'आवश्यकों' का नियमित प्रचार जैसा श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। वैसा दिगम्बर-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् दिगम्बर-सम्प्रदाय में सिलसिलेवार छहों 'आवश्यक' करने की परम्परा दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चतुर्मासिक और साम्वत्सरिक-रूप से वैसी प्रचलित नहीं है, जैसी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में प्रचलित है।

यानी जिस प्रकार श्वेताम्बर-सम्प्रदाय सांयकाल, प्रातःकाल, प्रत्येक पक्ष के अन्त में, चातुर्मास के अन्त में और वर्ष के अन्त में स्त्रियों का तथा पुरुषों का समुदाय अलग-अलग या एकत्र होकर अथवा अन्त में अकेला व्यक्ति ही सिलसिले से छहों 'आवश्यक' करता है, उस प्रकार 'आवश्यक' करने की रीति दिगम्बर-सम्प्रदाय में नहीं है।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की भी दो प्रधान शाखाएँ हैं—(१) मूर्त्तिपूजक और (२) स्थानकवासी। इन दोनों शाखाओं की साधु-श्रावक—दोनों संस्थाओं में दैवसिक, रात्रिक आदि पाँचो प्रकार के 'आवश्यक' करने का नियमित प्रचार अधिकारानुरूप बराबर चला आता है।

मूर्त्तिपूजक और स्थानकवासी—दोनों शाखाओं के साधुओं को तो सुबह शाम अनिवार्यरूप से 'आवश्यक' करना ही पड़ता है; क्योंकि शास्त्र में ऐसी आज्ञा है कि प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधु 'आवश्यक' नियम से करें। अतएव यदि वे उस आज्ञा का पालन न करें तो साधु-पद के अधिकारी ही नहीं समझे जा सकते।

श्रावकों में 'आवश्यक' का प्रचार वैकल्पिक है। अर्थात् जो भावुक और नियमवाले होते हैं, वे अवश्य करते हैं और अन्य श्रावकों की प्रवृत्ति इस विषय में ऐच्छिक है। फिर भी यह देखा जाता है कि जो नित्य 'आवश्यक' नहीं करता, वह भी पक्ष के बाद, चतुर्मास के बाद या आखिरकार संवत्सर के बाद, उसको यथासम्भव अवश्य करता है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में 'आवश्यक क्रिया' का इतना आदर है कि जो व्यक्ति अन्य किसी समय धर्मस्थान में न जाता हो, वह तथा छोटे-बड़े बालक—बालिकाएँ भी बहुधा साम्वत्सरिक पर्व के दिन धर्मस्थान में 'आवश्यक-क्रिया' करने के लिए एकत्र हो ही जाते हैं और उस क्रिया को करके सभी अपना अहोभाग्य समझते हैं। इस प्रवृत्ति से यह स्पष्ट है कि 'आवश्यक-क्रिया' का महत्त्व श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में कितना अधिक है। इसी सबब से सभी लोग अपनी सन्तति को धार्मिक शिक्षा देते समय सबसे पहिले 'आवश्यक-क्रिया' सिखाते हैं।

जन-समुदाय की सादर प्रवृत्ति के कारण 'आवश्यक-क्रिया' का जो महत्त्व प्रमाणित होता है, उसको ठीक-ठीक समझाने के लिए 'आवश्यक-क्रिया' किसे कहते हैं? सामायिक आदि प्रत्येक 'आवश्यक' का क्या स्वरूप है? उनके भेद-क्रम की उपपत्ति क्या है? 'आवश्यक-क्रिया' आध्यात्मिक क्यों है? इत्यादि कुछ मुख्य प्रश्नों के ऊपर तथा उनके अन्तर्गत अन्य प्रश्नों के ऊपर इस जगह विचार करना आवश्यक है।

परन्तु इसके पहिले यहाँ एक बात बतला देना जरूरी है। और वह यह है कि 'आवश्यक-क्रिया' करने की जो विधि चूर्णि के जमाने से भी बहुत प्राचीन थी और जिसका उल्लेख श्रीहरिभद्रसूरि—जैसे प्रतिष्ठित आचार्य ने अपनी आवश्यक-वृत्ति पृ०, ७६० में किया है। वह विधि बहुत अंशों में अपरिवर्त्तित रूप से ज्यों की त्यों जैसी श्वेताम्बर-मूर्त्तिपूजक-सम्प्रदाय में चली आती है, वैसी स्थानकवासी-सम्प्रदाय में नहीं है। यह बात तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि गच्छों की सामाचारी देखने से स्पष्ट मालूम हो जाती है। स्थानकवासी-सम्प्रदाय की सामाचारी में जिस प्रकार 'आवश्यक-क्रिया' में बोले जानेवाले कई प्राचीन सूत्रों की, जैसेः—पुक्खरवरदीवड्ढे, सिद्धाणं बुद्धाणं, अरिहंतचेइयाणं, आयरियउवज्झाए, अब्भुट्ठियोऽहं, इत्यादि की काट-छाँट कर दी गई है, इसी प्रकार उसमें प्राचीन विधि की भी काट-छाँट नजर आती है। इसके विपरीत तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि की सामाचारी में 'आवश्यक' के प्राचीन सूत्र तथा प्राचीन विधि में कोई परिवर्तन किया हुआ नजर नहीं आता। अर्थात् उसमें 'सामायिक—आवश्यक' से लेकर यानी प्रतिक्रमण की स्थापना से लेकर 'प्रत्याख्यान' पर्यन्त के छहों

'आवश्यक' के सूत्रों का तथा बीच में विधि करने का सिलसिला बहुधा वही है, जिसका उल्लेख श्रीहरिभद्रसूरि ने किया है।

यद्यपि प्रतिक्रमण-स्थापन के पहले चैत्य-वन्दन करने की और छठे 'आवश्यक' के बाद सज्झाय, स्तवन, स्तोत्र आदि पढ़ने की प्रथा पीछे सकारण प्रचलित हो गई है; तथापि मूर्त्तिपूजक-सम्प्रदाय की 'आवश्यक-क्रिया'-विषयक सामाचारी में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसमें 'आवश्यकों' के सूत्रों का तथा विधि का सिलसिला अभी तक प्राचीन ही चला आता है।

'आवश्यक' किसे कहते हैं?

जो क्रिया अवश्य करने योग्य है, उसी को "आवश्यक" कहते हैं। 'आवश्यक-क्रिया' सब के लिए एक नहीं, वह अधिकारी-भेद से जुदी-जुदी है। एक व्यक्ति जिस क्रिया को आवश्यक कर्म समझकर नित्यप्रति करता है, दूसरा उसी को आवश्यक नहीं समझता। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति काञ्चन-कामिनी को आवश्यक समझ कर उसकी प्राप्ति के लिए अपनी सारी शक्ति खर्च कर डालता है और दूसरा काञ्चन-कामिनी को अनावश्यक समझता है और उसके संग से बचने की कोशिश ही में अपने बुद्धि-बल का उपयोग करता है। इसलिए 'आवश्यक-क्रिया' का स्वरूप लिखने के पहले यह बतला देना जरूरी है कि इस जगह किस प्रकार के अधिकारियों का आवश्यक-कर्म विचारा जाता है।

सामान्यरूप से शरीर-धारी प्राणियों के दो विभाग हैं:—(१) बहिर्दृष्टि और (२) अन्तर्दृष्टि जो अन्तर्दृष्टि है—जिनकी दृष्टि आत्मा की ओर झुकी है अर्थात् जो सहज सुख को व्यक्त करने के विचार में तथा प्रयत्न में लगे हुए हैं, उन्हीं के 'आवश्यक-कर्म' का विचार इस जगह करना है। इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि जो जड़ में अपने को नहीं भूले हैं—जिनकी दृष्टि को किसी भी जड़ वस्तु का सौन्दर्य लुभा नहीं सकता, उनका 'आवश्यक-कर्म' वही हो सकता है, जिसके द्वारा उनका आत्मा सहज सुख का अनुभव कर सके। अन्तर्दृष्टि वाले आत्मा सहज सुख का अनुभव तभी कर सकते हैं, जब कि उनके सम्यक्त्व, चेतना, चारित्र आदि गुण व्यक्त हों। इसलिए वे उस क्रिया को अपना 'आवश्यक-कर्म' समझते हैं, जो सम्यक्त्व आदि गुणों का विकास करने में सहायक हो। अतएव इस जगह संक्षेप में 'आवश्यक' की व्याख्या इतनी ही है कि ज्ञानादि गुणों को प्रकट करने के लिए जो क्रिया अवश्य करने के योग्य है, वही 'आवश्यक' है।

ऐसा 'आवश्यक' ज्ञान और क्रिया—उभय परिणामरूप अर्थात् उपयोग-पूर्वक की जानेवाली क्रिया है। यही कर्म आत्मा को गुणों से वासित कराने

वाला होने के कारण 'आवासक' भी कहलाता है। वैदिकदर्शन में 'आवश्यक' समझे जानेवाले कर्मों के लिए 'नित्यकर्म' शब्द प्रसिद्ध है। जैनदर्शन में 'अवश्य-कर्तव्य' ध्रुव, निग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्क, वर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जो कि 'आवश्यक' शब्द के समानार्थक—पर्याय हैं (आ० वृत्ति, पृ० ५३/१)।

सामायिक आदि प्रत्येक 'आवश्यक' का स्वरूप—स्थूल दृष्टि से 'आवश्यक क्रिया' के छह विभाग—भेद किये गए हैं—(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान।

(१) राग और द्वेष के वश न होकर समभाव-मध्यस्थ-भाव में रहना अर्थात् सबके साथ आत्मतुल्य व्यवहार करना 'सामायिक' है (आ० नि०, गा० १०३२)। इसके (१) सम्यक्त्वसामायिक, (२) श्रुतसामायिक और (३) चारित्र सामायिक, ये तीन भेद हैं, क्योंकि सम्यक्त्व द्वारा, श्रुत द्वारा या चारित्र द्वारा ही समभाव में स्थिर रहा जा सकता है। चारित्रसामायिक भी अधिकारी की अपेक्षा से (१) देश और (२) सर्व, यों दो प्रकार का है। देश सामायिक-चारित्र गृहस्थों को और सर्वसामायिकचारित्र साधुओं को होता है (आ० नि०, गा० ७९६)। समता, सम्यक्त्व, शान्ति, सुविहित आदि शब्द सामायिक के पर्याय हैं (आ० नि०, गा० १०३३)।

(२) चतुर्विंशतिस्तव—चौबीस तीर्थंकर, जो कि सर्वगुण-सम्पन्न आदर्श हैं, उनकी स्तुति करने रूप है। इसके (१) द्रव्य और (२) भाव, ये दो भेद हैं। पुष्प आदि सात्त्विक वस्तुओं के द्वारा तीर्थंकरों की पूजा करना 'द्रव्यस्तव' और उनके वास्तविक गुणों का कीर्त्तन करना 'भावस्तव' है (आ०, पृ० ४९२/१)। अधिकारी-विशेष गृहस्थ के लिए द्रव्यस्तव कितना लाभदायक है, इस बात को विस्तारपूर्वक आवश्यक निर्युक्ति, पृ० ४९२-४९३ में दिखाया है।

(३) वंदन—मन, वचन शरीर का वह व्यापार वंदन है, जिससे पूज्यों के प्रति बहुमान प्रगट किया जाता है। शास्त्र में वंदन के चिति-कर्म, कृति-कर्म, पूजा-कर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध हैं (आ० नि०, गा० ११०३)। वंदन के यथार्थ स्वरूप जानने के लिए वंद्य कैसे होने चाहिए? वे कितने प्रकार के हैं? कौन-कौन अवंद्य है? अवंद्य-वंदन से क्या दोष है? वंदन करने के समय किन-किन दोषों का परिहार करना चाहिए, इत्यादि बातें जानने योग्य हैं।

द्रव्य और भाव उभय—चारित्रसम्पन्न मुनि ही वन्द्य हैं (आ० नि०, गा० ११०६)। वन्द्य मुनि (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्त्तक, (४) स्थविर और (५) रत्नाधिक रूप से पाँच प्रकार के हैं (आ० नि०, गा० ११९५)।

जो द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग एक-एक से या दोनों से रहित है, वह अवन्द्य है। अवन्दनीय तथा वन्दनीय के संबन्ध में सिक्के की चतुर्भङ्गी प्रसिद्ध है (आ० नि०, गा० ११३८) । जैसे चाँदी शुद्ध हो पर मोहर ठीक न लगी हो तो वह सिक्का ग्राह्य नहीं होता। वैसे ही जो भावलिंगयुक्त हैं, पर द्रव्यलिंगविहीन हैं, उन प्रत्येक बुद्ध आदि को वन्दन नहीं किया जाता । जिस सिक्के पर मोहर तो ठीक लगी है, पर चाँदी अशुद्ध है वह सिक्का ग्राह्य नहीं होता । वैसे ही द्रव्यलिंगधारी होकर जो भावलिंगविहीन हैं वे पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के कुसाधु अवन्दनीय हैं। जिस सिक्के की चाँदी और मोहर, ये दोनों ठीक नहीं है, वह भी अग्राह्य है । इसी तरह जो द्रव्य और भाव–उभयलिंगरहित हैं वे वन्दनीय नहीं । वन्दनीय सिर्फ वे ही हैं, जो शुद्ध चाँदी तथा शुद्ध मोहर वाले सिक्के के समान द्रव्य और भाव—उभयलिंग सम्पन्न हैं (आ० नि०, गा० ११३८) । अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को न तो कर्म की निर्जरा होती है और न कीर्त्ति ही । बल्कि असंयम आदि दोषों के अनुमोदन द्वारा कर्मबन्ध होता है (आ० नि०, गा० ११०८) । अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करनेवाले को ही दोष होता है, यही बात नहीं, किंतु अवन्दनीय के आत्मा का भी गुणी पुरुषों के द्वारा अपने को वन्दन कराने रूप असंयम की वृद्धि द्वारा अधःपात होता है (आ० नि०, गा० १११०) । वन्दन बत्तीस दोषों से रहित होना चाहिए। अनादृत आदि वे बत्तीस दोष आवश्यक-निर्युक्ति, गा० १२०७–१२११ में बतलाए हैं।

(४) प्रमादवश शुभ योग से गिर कर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभ योग को प्राप्त करना, यह 'प्रतिक्रमण'[1] है। तथा अशुभ योग को छोड़कर उत्तरोत्तर शुभ योग में वर्तना, यह भी 'प्रतिक्रमण'[2] है। प्रतिवरण, परिहरण, करण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शोधि, ये सब प्रतिक्रमण के समानार्थक शब्द हैं (आ० नि० गा० १२३३)। इन शब्दों का भाव समझाने के लिए प्रत्येक शब्द की व्याख्या पर एक-एक दृष्टान्त दिया गया है, जो बहुत मनोरंजक है (आ०–नि०, गा० १२४२)।

१—स्वस्थानाद्यन्परस्थानं प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥१॥

२—प्रतिवर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु ।
निःशल्यस्य यतेर्यत् तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥१॥

—आवश्यक–सूत्र, पृष्ठ ५५३/१ ।

प्रतिक्रमण का मतलब पीछे लौटना है—एक स्थिति में जाकर फिर मूल स्थिति को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण शब्द की इस सामान्य व्याख्या के अनुसार ऊपर बतलाई हुई व्याख्या के विरुद्ध अर्थात् अशुभ योग से हट कर शुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से अशुभ योग को प्राप्त करना यह भी प्रतिक्रमण कहा जा सकता है। अतएव यद्यपि प्रतिक्रमण के (१) प्रशस्त और (२) अप्रशस्त, ये दो भेद किये जाते हैं (आ०, पृ० ५५२/१), तो भी 'आवश्यक' क्रिया में जिस प्रतिक्रमण का समावेश है वह अप्रशस्त नहीं किन्तु प्रशस्त ही है; क्योंकि इस जगह अन्तर्दृष्टि वाले–आध्यात्मिक पुरुषों की ही आवश्यक-क्रिया का विचार किया जाता है।

(१) दैवसिक, (२) रात्रिक, (३) पाक्षिक, (४) चातुर्मासिक और (५) सांवत्सरिक, ये प्रतिक्रमण के पाँच भेद बहुत प्राचीन तथा शास्त्रसंमत हैं; क्योंकि इनका उल्लेख श्री भद्रबाहुस्वामी भी करते हैं (आ० नि०, गा० १२४७)। कालभेद से तीन प्रकार का प्रतिक्रमण भी बतलाया है—(१) भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना, (२) संवर करके वर्तमान काल के दोषों से बचना और (३) प्रत्याख्यान द्वारा भविष्यत् दोषों को रोकना प्रतिक्रमण है (आ० पृ० ५५१ ।

उत्तरोत्तर आत्मा के विशेष शुद्ध स्वरूप में स्थित होने की इच्छा करनेवाले अधिकारियों को यह भी जानना चाहिये कि प्रतिक्रमण किस-किस का करना चाहिए—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) कषाय और (४) अप्रशस्त योग—इन चार का प्रतिक्रमण करना चाहिए। अर्थात् मिथ्यात्व छोड़कर सम्यक्त्व को पाना चाहिए, अविरति का त्याग कर विरति को स्वीकार करना चाहिये, कषाय का परिहार करके क्षमा आदि गुण प्राप्त करना चाहिए और संसार बढ़ानेवाले व्यापारों को छोड़कर आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिए।

सामान्य रीति से प्रतिक्रमण (१) द्रव्य और (२) भाव, यों दो प्रकार का है। भावप्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्यप्रतिक्रमण नहीं। द्रव्यप्रतिक्रमण वह है, जो दिखावे के लिए किया जाता है। दोष का प्रतिक्रमण करने के बाद भी फिर से उस दोष को बार बार सेवन करना, यह द्रव्य प्रतिक्रमण है। इससे आत्मा शुद्ध होने के बदले धिठाई द्वारा और भी दोषों की पुष्टि होती है। इस पर कुम्हार के बर्तनों को कंकर द्वारा बार-बार फोड़कर बार-बार माँफी माँगनेवाले एक क्षुल्लक-साधु का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। (५) धर्म या शुक्ल-ध्यान के लिए एकाग्र होकर शरीर पर से ममता का त्याग करना 'कायोत्सर्ग' है। कायोत्सर्ग को यथार्थ

रूप में करने के लिए इस के दोषों का परिहार करना चाहिए। वे घोटक आदि दोष संक्षेप में उन्नीस हैं (आ० नि०, गा० १५४६-१५४७)।

कायोत्सर्ग से देह की जड़ता और बुद्धि की जड़ता दूर होती है, अर्थात् वात आदि धातुओं की विषमता दूर होती है और बुद्धि की मन्दता दूर होकर विचार-शक्ति का विकास होता है। सुख-दुःख तितिक्षा अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के संयोगों में समभाव से रहने की शक्ति कायोत्सर्ग से प्रकट होती है। भावना और ध्यान का अभ्यास भी कायोत्सर्ग से ही पुष्ट होता है। अतिचार का चिन्तन भी कायोत्सर्ग में ठीक-ठीक हो सकता है। इस प्रकार देखा जाय तो कायोत्सर्ग बहुत महत्त्व की क्रिया है।

कायोत्सर्ग के अन्दर लिये जानेवाले एक श्वासोच्छ्वास का काल-परिमाण श्लोक के एकपाद के उच्चारण के काल-परिमाण जितना कहा गया है।

(६) त्याग करने को 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। त्यागने योग्य वस्तुएँ (१) द्रव्य और (२) भावरूप से दो प्रकार की हैं। अन्न, वस्त्र आदि बाह्य वस्तुएँ द्रव्यरूप हैं और अज्ञान, असंयम आदि वैभाविक परिणाम भावरूप हैं। अन्न, वस्त्र आदि बाह्य वस्तुओं का त्याग अज्ञान, असंयम आदि के त्याग द्वारा भाव त्याग-पूर्वक और भावत्याग के उद्देश्य से ही होना चाहिये। जो द्रव्यत्याग भावत्याग पूर्वक तथा भावत्याग के लिए नहीं किया जाता, उस आत्मा को गुण-प्राप्ति नहीं होती।

(१) श्रद्धान, (२) ज्ञान, (३) वंदन, (४) अनुपालन, (५) अनुभाषण और (६) भाव, इन छः शुद्धियों के सहित किया जानेवाला प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है (आ०, पृ० ८४७/१)।

प्रत्याख्यान का दूसरा नाम गुण-धारण है, सो इसलिए कि उससे अनेक गुण प्राप्त होते हैं। प्रत्याख्यान करने से आस्रव का निरोध अर्थात् संवर होता है। संवर से तृष्णा का नाश, तृष्णा के नाश से निरुपम समभाव और ऐसे समभाव से क्रमशः मोक्ष का लाभ होता है।

क्रम की स्वाभाविकता तथा उपपत्ति—जो अन्तर्दृष्टि वाले हैं, उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव-सामायिक प्राप्त करना है। इसलिए उनके प्रत्येक व्यवहार में समभाव का दर्शन होता है। अन्तर्दृष्टि वाले जब किसी को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे उनके वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते हैं। इस तरह वे समभाव-स्थित साधु पुरुषों को वन्दन-नमस्कार करना भी नहीं भूलते। अन्तर्दृष्टिवालों के जीवन में ऐसी स्फूर्ति—अप्रमत्तता होती है कि कदाचित् वे पूर्ववासना-वश या कुसंसर्ग-वश समभाव से गिर जाएँ, तब भी उस अप्रमत्तता के कारण प्रतिक्रमण करके वे अपनी पूर्व-प्राप्त स्थिति को

फिर पा लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व-स्थिति से आगे भी बढ़ जाते हैं। ध्यान ही आध्यात्मिक जीवन के विकास की कुंजी है। इसके लिए अन्तर्दृष्टि वाले बार-बार ध्यान—कायोत्सर्ग किया करते हैं। ध्यान द्वारा चित्त-शुद्धि करते हुए वे आत्म-स्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। अतएव जड़ वस्तुओं के भोग का परित्याग—प्रत्याख्यान भी उनके लिए साहजिक क्रिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध है कि आध्यात्मिक पुरुषों के उच्च तथा स्वाभाविक जीवन का पृथक्करण ही 'आवश्यक-क्रिया' के क्रम का आधार है।

जब तक सामायिक प्राप्त न हो, तब तक चतुर्विंशति-स्तव भावपूर्वक किया ही नहीं जा सकता; क्योंकि जो स्वयं समभाव को प्राप्त नहीं है, वह समभाव में स्थित महात्माओं के गुणों को जान नहीं सकता और न उनसे प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा ही कर सकता है। इसलिए सामायिक के बाद चतुर्विंशतिस्तव है।

चतुर्विंशतिस्तव का अधिकारी वन्दन को यथाविधि कर सकता है। क्योंकि जिसने चौबीस तीर्थंकरों के गुणों से प्रसन्न होकर उनकी स्तुति नहीं की है, वह तीर्थंकरों के मार्ग के उपदेशक सद्गुरु को भावपूर्वक वन्दन कैसे कर सकता है। इसी से वन्दन को चतुर्विंशतिस्तव के बाद रखा है।

वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि आलोचना गुरु-समक्ष की जाती है। जो गुरु-वन्दन नहीं करता वह आलोचन का अधिकारी ही नहीं। गुरु-वन्दन के सिवाय की जानेवाली आलोचना नाममात्र की आलोचना है, उससे कोई साध्य-सिद्धि नहीं हो सकती। सच्ची आलोचना करनेवाले अधिकारी के परिणाम इतने नम्र और कोमल होते हैं कि जिससे वह आप ही आप गुरु के पैरों पर सिर नमाता है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण कर लेने पर ही आती है। इसका कारण यह है कि जब तक प्रतिक्रमण द्वारा पाप की आलोचना करके चित्त-शुद्धि न की जाय, तब तक धर्म-ध्यान या शुक्लध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकता। आलोचना के द्वारा चित्त-शुद्धि किये बिना जो कायोत्सर्ग करता है, उसके मुँह से चाहे किसी शब्द-विशेष का जप हुआ करे, लेकिन उसके दिल में उच्च ध्येय का विचार कभी नहीं आता। वह अनुभूत विषयों का ही चिन्तन किया करता है।

कायोत्सर्ग करके जो विशेष चित्त-शुद्धि, एकाग्रता और आत्मबल प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है। जिसने एकाग्रता प्राप्त नहीं की है और संकल्प-बल भी पैदा नहीं किया है, वह यदि प्रत्याख्यान कर भी ले तो भी उसका ठीक-ठीक निर्वाह नहीं कर सकता। प्रत्याख्यान सबसे ऊपर की 'आवश्यक-

क्रिया' है। उसके लिए विशिष्ट चित्त-शुद्धि और विशेष उत्साह की दरकार है, जो कायोत्सर्ग किये बिना पैदा नहीं हो सकते। इसी अभिप्राय से कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान रखा गया है।

इस प्रकार विचार करने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि छः 'आवश्यकों' का जो क्रम है, वह विशेष कार्य-कारण-भाव की शृङ्खला पर स्थित है। उसमें उलट-फेर होने से उस की वह स्वाभाविकता नहीं रहती, जो कि उसमें है।

'आवश्यक-क्रिया' की आध्यात्मिकता—जो क्रिया आत्मा के विकास को लक्ष्य में रख कर की जाती है, वही आध्यात्मिक क्रिया है। आत्मा के विकास का मतलब उस के सम्यक्त्व, चेतन, चारित्र आदि गुणों की क्रमशः शुद्धि करने से है। इस कसौटी पर कसने से यह अभ्रान्त रीति से सिद्ध होता है कि 'सामायिक' आदि छहों 'आवश्यक' आध्यात्मिक हैं। क्योंकि सामायिक का फल पाप-जनक व्यापार की निवृत्ति है, जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का कारण है।

चतुर्विंशतिस्तव का उद्देश्य गुणानुराग की वृद्धि द्वारा गुण प्राप्त करना है, जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का साधन है।

वन्दन-क्रिया के द्वारा विनय की प्राप्ति होती है, मान खण्डित होता है, गुरु-जन की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुतधर्म की आराधना होती है, जो कि अन्त में आत्मा के क्रमिक विकास द्वारा मोक्ष के कारण होते हैं। वन्दन करनेवालों को नम्रता के कारण शास्त्र सुनने का अवसर मिलता है। शास्त्र-श्रवण द्वारा क्रमशः ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान संयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया और सिद्धि ये फल बतलाए गए हैं (आ०-नि०, गा० १२१५ तथा वृत्ति)। इसलिए वन्दन-क्रिया आत्मा के विकास का असंदिग्ध कारण है।

आत्मा वस्तुतः पूर्ण शुद्ध और पूर्ण बलवान् है, पर वह विविध वासनाओं के अनादि प्रवाह में पड़ने के कारण दोषों की अनेक तहों से दब-सा गया है; इसलिए जब वह ऊपर उठने का प्रयत्न करता है, तब उससे अनादि अभ्यास-वश भूलें हो जाना सहज है। वह जब तब उन भूलों का संशोधन न करे, तब तक इष्ट सिद्धि हो ही नहीं सकती। इसलिए पद-पद पर की हुई भूलों को याद करके प्रतिक्रमण द्वारा फिर से उन्हें न करने के लिए वह निश्चय कर लेता है। इस तरह से प्रतिक्रमण-क्रिया का उद्देश्य पूर्व दोषों को दूर करना और फिर से वैसे दोषों को न करने के लिए सावधान कर देना है, जिससे कि आत्मा दोष-

मुक्त हो कर धीरे-धीरे अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाय। इसी से प्रतिक्रमण-क्रिया आध्यात्मिक है।

कायोत्सर्ग चित्त की एकाग्रता पैदा करता है और आत्मा को अपना स्वरूप विचारने का अवसर देता है, जिससे आत्मा निर्भय बनकर अपने कठिनतम उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है। इसी कारण कायोत्सर्ग-क्रिया भी आध्यात्मिक है।

दुनियाँ में जो कुछ है, वह सब न तो भोगा ही जा सकता है और न भोगने के योग्य ही है तथा वास्तविक शान्ति अपरिमित भोग से भी सम्भव नहीं है। इसलिए प्रत्याख्यान-क्रिया के द्वारा मुमुक्षुगण अपने को व्यर्थ के भोगों से बचाते हैं और उसके द्वारा चिरकालीन आत्मा-शान्ति पाते हैं। अतएव प्रत्याख्यान क्रिया भी आध्यात्मिक ही है।

भाव-आवश्यक एक लोकोत्तर क्रिया है; क्योंकि वह लोकोत्तर (मोक्ष) के उद्देश्य से आध्यात्मिक लोगों के द्वारा उपयोग पूर्वक की जानेवाली क्रिया है। इसलिए पहिले उसका समर्थन लोकोत्तर (शास्त्रीय व निश्चय) दृष्टि से किया जाता है और पीछे व्यावहारिक दृष्टि से भी उसका समर्थन किया जाएगा। क्योंकि 'आवश्यक' है तो लोकोत्तर क्रिया, पर उसके अधिकारी व्यवहार-निष्ठ होते हैं।

जिन तत्त्वों के होने से ही मनुष्य का जीवन अन्य प्राणियों के जीवन से उच्च समझा जा सकता है और अन्त में विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है, वे तत्त्व ये हैं —

(१) समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का संमिश्रण, (२) जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वोपरि जीवनवाले महात्माओं को आदर्शरूप से पसन्द करके उनकी ओर सदा दृष्टि रखना, (३) गुणवानों का बहुमान व विनय करना, (४) कर्त्तव्य की स्मृति तथा कर्त्तव्य-पालन में हो जानेवाली गलतियों का अवलोकन करके निष्कपट भाव से उनका संशोधन करना और फिर से वैसी गलतियाँ न हों, इसके लिए आत्मा को जागृत करना; (५) ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिए विवेक-शक्ति का विकास करना और (६ त्याग-वृत्ति द्वारा संतोष व सहनशीलता को बढ़ाना।

इन तत्त्वों के आधार पर आवश्यक-क्रिया का महल खड़ा है। इसलिए शास्त्र[1]

१—गुणवद्बहुमानादेर्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया।
जातं न पातयेद्भावमजातं जनयेदपि ॥५॥
क्षायोपशमिकभावे या क्रिया क्रियते तथा।
पतितस्यापि तद्भावप्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥६॥

कहता है कि 'आवश्यक-क्रिया' आत्मा को प्राप्त भाव शुद्धि से गिरने नहीं देती, उसको अपूर्व भाव भी प्राप्त कराती है तथा क्षायोपशमिक-भाव-पूर्वक की जानेवाली क्रिया से पतित आत्मा की भी फिर से भाववृद्धि होती है। इस कारण गुणों की वृद्धि के लिए तथा प्राप्त गुणों से स्खलित न होने के लिए 'आवश्यक-क्रिया' का आचरण अत्यन्त उपयोगी है।

व्यवहार में आरोग्य, कौटुम्बिक नीति, सामाजिक नीति इत्यादि विषय सम्मिलित हैं।

आरोग्य के लिए मुख्य मानसिक प्रसन्नता चाहिए। यद्यपि दुनियाँ में ऐसे अनेक साधन हैं, जिनके द्वारा कुछ-न-कुछ मानसिक प्रसन्नता प्राप्त की जाती है, पर विचार कर देखने से यह मालूम पड़ता है कि स्थायी मानसिक प्रसन्नता उन पूर्वोक्त तत्त्वों के सिवाय किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकती, जिनके ऊपर 'आवश्यक-क्रिया' का आधार है।

कौटुम्बिक नीति का प्रधान साध्य सम्पूर्ण कुटुम्ब को सुखी बनाना है। इसके लिए छोटे-बड़े सब में एक दूसरे के प्रति यथोचित विनय, आज्ञा-पालन, नियम-शीलता और अप्रमाद का होना जरूरी है। ये सब गुण 'आवश्यक-क्रिया' के आधारभूत पूर्वोक्त तत्त्वों के पोषण से सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

सामाजिक नीति का उद्देश्य समाज को सुव्यवस्थित रखना है। इसके लिए विचार-शीलता, प्रामाणिकता, दीर्घदर्शिता और गम्भीरता आदि गुण जीवन में आने चाहिए, जो 'आवश्यक-क्रिया' के प्राणभूत छह तत्त्वों के सिवाय किसी तरह नहीं आ सकते।

इस प्रकार विचार करने से यह साफ जान पड़ता है कि शास्त्रीय तथा व्यवहारिक-दोनों दृष्टि से 'आवश्यक-क्रिया' का यथोचित अनुष्ठान परम लाभ-दायक है।

प्रतिक्रमण शब्द की रूढ़ि—

प्रतिक्रमण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रति + क्रमण = प्रतिक्रमण' ऐसी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ 'पीछे फिरना', इतना ही होता है, परन्तु रूढ़ि के बल से 'प्रतिक्रमण' शब्द सिर्फ चौथे 'आवश्यक' का तथा छह आवश्यक के समुदाय का भी बोध कराता है। अन्तिम अर्थ में उस शब्द की प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई

गुणवृद्धया ततः कुर्यात्क्रियामस्खलनाय वा।
एकं तु संयमस्थानं जिनानामवतिष्ठते ॥७॥

—ज्ञानसार, क्रियाष्टक।

है कि आजकल 'आवश्यक' शब्द का प्रयोग न करके सब कोई छहों आवश्यकों' के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द काम में लाते हैं। इस तरह व्यवहार में और अर्वाचीन ग्रन्थों में 'प्रतिक्रमण' शब्द इस प्रकार से 'आवश्यक' शब्द का पर्याय हो गया है। प्राचीन ग्रन्थों में सामान्य 'आवश्यक' अर्थ में 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग कहीं देखने में नहीं आया। 'प्रतिक्रमणहेतुगर्भ', 'प्रतिक्रमण विधि', 'धर्मसंग्रह' आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में 'प्रतिक्रमण' शब्द सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रयुक्त है और सर्वसाधारण भी सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग अस्खलित रूप से करते हुए देखे जाते हैं।

'प्रतिक्रमण' के अधिकारी और उसकी रीति पर विचार

इस जगह 'प्रतिक्रमण' शब्द का मतलब सामान्य 'आवश्यक' अर्थात् छः 'आवश्यकों' से है। यहाँ उसके संबन्ध में मुख्य दो प्रश्नों पर विचार करना है। (१) 'प्रतिक्रमण' के अधिकारी कौन हैं? (२) 'प्रतिक्रमण'–विधान की जो रीति प्रचलित है, वह शास्त्रीय तथा युक्तिसंगत है या नहीं?

प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि साधु और श्रावक दोनों 'प्रतिक्रमण' के अधिकारी हैं; क्योंकि शास्त्र में साधु और श्रावक दोनों के लिए सायंकालीन और प्रातःकालीन अवश्य-कर्त्तव्य-रूप से 'प्रतिक्रमण' का विधान[1] है और अतिचार आदि प्रसंगरूप कारण हो या नहीं, पर प्रथम और चरम तीर्थंकर के 'शासन' में 'प्रतिक्रमण' सहित ही धर्म बतलाया[2] गया है।

दूसरा प्रश्न साधु तथा श्रावक–दोनों के 'प्रतिक्रमण' रीति से संबन्ध रखता है। सब साधुओं का चारित्र-विषयक क्षयोपशम न्यूनाधिक भले ही हो, पर सामान्य-रूप से वे सर्व विरतिवाले अर्थात् पञ्च महाव्रत को त्रिविध-त्रिविध-पूर्वक धारण करने वाले होते हैं। अतएव उन सबको अपने पञ्च महाव्रत में लगे हुए अति-चारों के संशोधन रूप से आलोचना या 'प्रतिक्रमण' नामक चौथा 'आवश्यक' समान रूप से करना चाहिए और उसके लिए सब साधुओं को समान ही आलो-चना सूत्र पढ़ना चाहिए, जैसा कि वे पढ़ते हैं। पर श्रावकों के संबंध में तर्क

१—समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा।
अन्ते अहोणिसस्स य तम्हा आवस्सयं नाम ॥२॥

—आवश्यक-वृत्ति, पृष्ठ ५३/१।

२—सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं ॥१२४४॥

—आवश्यक-निर्युक्ति।

पैदा होता है। वह यह है कि श्रावक अनेक प्रकार के होते हैं। कोई केवल सम्यक्त्व वाला—अव्रती होता है, कोई व्रती होता है। इस प्रकार किसी को अधिक से अधिक बारह तक व्रत होते हैं और सल्लेखना भी। व्रत भी किसी को द्विविध–त्रिविध से, किसी को एकविध–त्रिविध से, किसी को एकविध–द्विविध से इत्यादि नाना प्रकार का होता है। अतएव श्रावक विविध अभिग्रह वाले कहे गए हैं (आवश्यक-निर्युक्ति गा० १५५८ आदि)। भिन्न अभिग्रह वाले सभी श्रावक चौथे 'आवश्यक' के सिवाय शेष पाँच 'आवश्यक' जिस रीति से करते हैं और इसके लिए जो-जो सूत्र पढ़ते हैं इस विषय में तो शङ्का को स्थान नहीं है; पर वे चौथे 'आवश्यक' को जिस प्रकार से करते हैं और उसके लिए जिस सूत्र को पढ़ते हैं, उसके विषय में शङ्का अवश्य होती है।

वह यह कि चौथा 'आवश्यक' अतिचार-संशोधन-रूप है। ग्रहण किये हुए व्रत-नियमों में ही अतिचार लगते हैं। ग्रहण किये हुए व्रत-नियम सब के समान नहीं होते। अतएव एक ही 'वन्दित्तु' सूत्र के द्वारा सभी श्रावक-चाहे व्रती हों या अव्रती—सम्यक्त्व, बारह व्रत तथा संलेखना के अतिचारों का जो संशोधन करते हैं, वह न्याय-संगत कैसे कहा जा सकता है? जिसने जो व्रत ग्रहण किया हो, उसको उसी व्रत के अतिचारों का संशोधन 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि द्वारा करना चाहिए। ग्रहण नहीं किए हुए व्रतों के गुणों का विचार करना चाहिए और गुण-भावना द्वारा उन व्रतों के स्वीकार करने के लिए आत्म-सामर्थ्य पैदा करना चाहिए। ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के अतिचार का संशोधन यदि युक्त समझा जाय तो फिर श्रावक के लिए पञ्च 'महाव्रत' के अतिचारों का संशोधन भी युक्त मानना पड़ेगा। ग्रहण किये हुए या ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के संबन्ध में श्रद्धा-विपर्यास हो जाने पर 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि द्वारा उस का प्रतिक्रमण करना, यह तो सब अधिकारियों के लिए समान है। पर यहाँ जो प्रश्न है, वह अतिचार-संशोधन रूप प्रतिक्रमण के संबन्ध का ही है अर्थात् ग्रहण नहीं किये हुए व्रत नियमों के अतिचार-संशोधन के उस-उस सूत्रांश को पढ़ने की और 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि द्वारा प्रतिक्रमण करने की जो रीति प्रचलित है, उसका आधार क्या है?

इस शङ्का का समाधान इतना ही है कि अतिचार-संशोधन-रूप 'प्रतिक्रमण' तो ग्रहण किये हुए व्रतों का ही करना युक्ति-संगत है और तदनुसार ही सूत्रांश पढ़कर 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि देना चाहिए। ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के संबन्ध में श्रद्धा-विपर्यास का 'प्रतिक्रमण' भले ही किया जाए, पर अतिचार-संशोधन के लिए उस-उस सूत्रांश को पढ़कर 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि देने की

अपेक्षा उन व्रतों के गुणों की भावना करना तथा उन व्रतों को धारण करनेवाले उच्च श्रावकों को धन्यवाद देकर गुणानुराग पुष्ट करना ही युक्ति-संगत है।

अब प्रश्न यह है कि जब ऐसी स्थिति है, तब व्रती-अव्रती, छोटे-बड़े—सभी श्रावकों में एक ही 'वंदित्तु' सूत्र के द्वारा समान रूप से अतिचार का संशोधन करने की जो प्रथा प्रचलित है, वह कैसे चल पड़ी है?

इसका खुलासा यह जान पड़ता है कि प्रथम तो सभी को 'आवश्यक' सूत्र पूर्णतया याद नहीं होता। और अगर याद भी हो, तब भी साधारण अधिकारियों के लिए अकेले की अपेक्षा समुदाय में ही मिलकर 'आवश्यक' करना लाभदायक माना गया है। तीसरे जब कोई सबसे उच्च श्रावक अपने लिए सर्वथा उपर्युक्त सम्पूर्ण 'वंदित्तु' सूत्र पढ़ता है, तब प्राथमिक और माध्यमिक सभी अधिकारियों के लिए उपयुक्त वह-वह सूत्रांश भी उसमें आ ही जाता है। इन कारणों से ऐसी समुदायिक प्रथा पड़ी है कि एक व्यक्ति सम्पूर्ण 'वंदित्तु' सूत्र पढ़ता है और शेष श्रावक उच्च अधिकारी श्रावक का अनुकरण करके सब व्रतों के संबन्ध में अतिचार का संशोधन करने लग जाते हैं। इस समुदायिक प्रथा के रूढ़ हो जाने के कारण जब कोई प्राथमिक या माध्यमिक श्रावक अकेला प्रतिक्रमण करता है, तब भी वह 'वंदित्तु' सूत्र को सम्पूर्ण ही पढ़ता है और ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के अतिचार का भी संशोधन करता है।

इस प्रथा के रूढ़ जो जाने का एक कारण यह और भी मालूम पड़ता है कि सर्वसाधारण में विवेक की यथेष्ट मात्रा नहीं होती। इसलिए 'वंदित्तु' सूत्र में से अपने-अपने लिए उपयुक्त सूत्रांशों को चुनकर बोलना और शेष सूत्रांशों को छोड़ देना, यह काम सर्वसाधारण के लिए जैसा कठनि है, वैसा ही विषमता तथा गोलमाल पैदा करनेवाला भी है। इस कारण यह नियम[1] रखा गया है कि जब सभा को या किसी एक व्यक्ति को 'पच्चक्खाण' कराया जाता है, तब ऐसा सूत्र पढ़ा जाता है कि जिसमें अनेक 'पच्चक्खाणों' का समावेश हो जाता है, जिससे सभी अधिकारी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार 'पच्चक्खाण' कर लेते हैं।

इस दृष्टि से यह कहना पड़ता है कि 'वंदित्तु' सूत्र अखण्डित रूप से पढ़ना न्याय व शास्त्र-संगत है। रही अतिचार-संशोधन में विवेक करने की बात, सो उसको विवेकी अधिकारी खुशी से कर सकता है। इसमें प्रथा बाधक नहीं है।

१—अखण्डं सूत्रं पठनीयमिति न्यायात्—धर्मसंग्रह, पृष्ठ २२३।

'प्रतिक्रमण' पर होने वाले आक्षेप और उनका परिहार—

'आवश्यक-क्रिया' की उपयोगिता तथा महत्ता नहीं समझनेवाले अनेक लोग उस पर आक्षेप किया करते हैं। वे आक्षेप मुख्य चार हैं। पहला समय का, दूसरा अर्थ-ज्ञान का, तीसरा भाषा का और चौथा अरुचि का।

(१) कुछ लोग कहते हैं कि 'आवश्यक-क्रिया' इतनी लम्बी और बेसमय की है कि उसमें फँस जाने से घूमना-फिरना और विश्रान्ति करना कुछ भी नहीं होता। इससे स्वास्थ्य और स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। इसलिए 'आवश्यक-क्रिया' में फँसने की कोई जरूरत नहीं है। ऐसा कहनेवालों को समझना चाहिए कि साधारण लोग प्रमादशील और कर्त्तव्य-ज्ञान से शून्य होते हैं। इसलिए जब उनको कोई खास कर्त्तव्य करने को कहा जाता है, तब वे दूसरे कर्त्तव्य की महत्ता दिखाकर पहले कर्त्तव्य से अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं और अन्त में दूसरे कर्त्तव्य को भी छुड़ा देते हैं। घूमने-फिरने आदि का बहाना निकालनेवाले वास्तव में आलसी होते हैं। अतएव वे निरर्थक बात, गपोड़े आदि में लग कर 'आवश्यक-क्रिया' के साथ धीरे-धीरे घूमना-फिरना और विश्रान्ति करना भी भूल जाते हैं। इसके विपरीत जो अप्रमादी तथा कर्त्तव्यज्ञ होते हैं, वे समय का यथोचित उपयोग करके स्वास्थ्य के सब नियमों का पालन करने के उपरान्त 'आवश्यक' आदि धार्मिक क्रियाएँ को करना नहीं भूलते। जरूरत सिर्फ प्रमाद के त्याग करने की और कर्त्तव्य का ज्ञान करने की है।

(२) दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि 'आवश्यक-क्रिया' करनेवालों में से अनेक लोग उसके सूत्रों का अर्थ नहीं जानते। वे तोते की तरह ज्यों का त्यों सूत्र मात्र पढ़ लेते हैं। अर्थ ज्ञान न होने से उन्हें उस क्रिया में रस नहीं आता है अतएव वे उस क्रिया को करते समय या तो सोते रहते या कुतूहल आदि से मन बहलाते हैं। इसलिए 'आवश्यक-क्रिया' में फँसना बन्धन-मात्र है। ऐसा आक्षेप करने वालों के उक्त कथन से ही यह प्रमाणित होता है कि यदि अर्थ-ज्ञान-पूर्वक 'आवश्यक-क्रिया' की जाय तो सफल हो सकती है। शास्त्र भी यही बात कहता है। उसमें उपयोग पूर्वक क्रिया करने को कहा है। उपयोग ठीक-ठीक तभी रह सकता है, जब कि अर्थ-ज्ञान हो, ऐसा होने पर भी यदि कुछ लोग अर्थ बिना समझे 'आवश्यक क्रिया' करते हैं और उससे पूरा लाभ नहीं उठा सकते तो उचित यही है कि ऐसे लोगों को अर्थ का ज्ञान हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा न करके मूल 'आवश्यक' वस्तु को ही अनुपयोगी समझना तो ऐसा है जैसा कि विधि न जानने से किंवा अविधिपूर्वक सेवन करने से फायदा न देखकर

कीमती रसायन को अनुपयोगी समझना। प्रयत्न करने पर भी वृद्ध-अवस्था, मतिमन्दता आदि कारणों से जिनको अर्थ ज्ञान न हो सके, वे अन्य किसी ज्ञानी के आश्रित होकर ही धर्म-क्रिया करके उससे फायदा उठा सकते हैं। व्यवहार में भी अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं, जो ज्ञान की कमी के कारण अपने काम को स्वतन्त्रा से पूर्णतापूर्वक नहीं कर सकते, वे किसी के आश्रित हो कर ही काम करते हैं और उससे फायदा उठाते हैं। ऐसे लोगों की सफलता का कारण मुख्यतया उनकी श्रद्धा ही होती है। श्रद्धा का स्थान बुद्धि से कम नहीं है। अर्थ-ज्ञान होने पर भी धार्मिक क्रियायों में जिनको श्रद्धा नहीं है, वे उन से कुछ भी फायदा नहीं उठा सकते। इसलिए श्रद्धापूर्वक धार्मिक क्रिया करते रहना और भरसक उसके सूत्रों का अर्थ भी जान लेना, यही उचित है।

(३) अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि 'आवश्यक-क्रिया' के सूत्रों की रचना जो संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन शास्त्रीय भाषा में है, इसके बदले वह प्रचलित लोक-भाषा में ही होना चाहिए। जब तक ऐसा न हो तब तक 'आवश्यक-क्रिया' विशेष उपयोगी नहीं हो सकती। ऐसा कहनेवाले लोग मन्त्रों की शाब्दिक महिमा तथा शास्त्रीय भाषाओं की गम्भीरता, भावमयता, ललितता आदि गुण नहीं जानते। मन्त्रों में आर्थिक महत्त्व के उपरान्त शाब्दिक महत्त्व भी रहता है, जो उनको दूसरी भाषा में परिवर्तन करने से लुप्त हो जाता है। इसलिए जो-जो मन्त्र जिस-जिस भाषा में बने हुए हों, उनको उसी भाषा में रखना ही योग्य है। मन्त्रों को छोड़कर अन्य सूत्रों का भाव प्रचलित लोक-भाषा में उतारा जा सकता है, पर उसकी वह खूबी कभी नहीं रह सकती, जो कि प्रथमकालीन भाषा में है।

'आवश्यक-क्रिया' के सूत्रों को प्रचलित लोक-भाषा में रचने से प्राचीन महत्त्व के साथ-साथ धार्मिक-क्रिया कालीन एकता का भी लोप हो जाएगा और सूत्रों की रचना भी अनवस्थित हो जाएगी। अर्थात् दूर-दूर देश में रहनेवाले एक धर्म के अनुयायी जब तीर्थ आदि स्थान में इकट्ठे होते हैं, तब आचार, विचार, भाषा, पहनाव आदि में भिन्नता होने पर भी वे सब धार्मिक क्रिया करते समय एक ही सूत्र पढ़ते हुए और एक ही प्रकार की विधि करते हुए पूर्ण एकता का अनुभव करते हैं। यह एकता साधारण नहीं है। उसको बनाए रखने के लिए धार्मिक क्रियाओं के सूत्रपाठ आदि को शास्त्रीय भाषा में कायम रखना बहुत जरूरी है। इसी तरह धार्मिक क्रियाओं के सूत्रों की रचना प्रचलित लोक-भाषा में होने लगेगी तो हर जगह समय-समय पर साधारण कवि भी अपनी कवित्व-शक्ति का उपयोग नए-नए सूत्रों को रचने में करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि एक ही प्रदेश में जहाँ की भाषा एक है, अनेक कर्ताओं के अनेक सूत्र

हो जाएँगे और विशेषता का विचार न करनेवाले लोगों में जिसके मन में जो आया, वह उसी कर्त्ता के सूत्रों को पढ़ने लगेगा। जिससे अपूर्व भाववाले प्राचीन सूत्रों के साथ-साथ एकता का भी लोप हो जाएगा। इसलिए धार्मिक क्रिया के सूत्र-पाठ आदि जिस-जिस भाषा में पहले से बने हुए हैं, वे उस-उस भाषा में ही पढ़े जाने चाहिए। इसी कारण वैदिक, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदायों में 'संध्या' आदि नित्य कर्म प्राचीन शास्त्रीय भाषा में ही किये जाते हैं।

यह ठीक है कि सर्वसाधारण की रुचि बढ़ाने के लिए प्रचलित लोक-भाषा की भी कुछ कृतियाँ ऐसी होनी चाहिए, जो धार्मिक क्रिया के समय पढ़ी जाएँ। इसी बात को ध्यान में रखकर लोक-रुचि के अनुसार समय-समय पर संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं में स्तोत्र, स्तुति, सज्झाय, स्तवन आदि बनाए हैं और उनको 'आवश्यक-क्रिया' में स्थान दिया है। इससे यह फायदा हुआ कि प्राचीन सूत्र तथा उनका महत्त्व ज्यों का त्यों बना हुआ है और प्रचलित लोक भाषा की कृतियों में साधारण जनता की रुचि भी पुष्ट होती रहती है।

(४) कितने लोगों का यह भी कहना है कि 'आवश्यक-क्रिया' अरुचिकर है—उसमें कोई रस नहीं आता। ऐसे लोगों को जानना चाहिए कि रुचि या अरुचि बाह्य वस्तु का धर्म नहीं है; क्योंकि कोई एक चीज सबके लिए रुचिकर नहीं होती। जो चीज एक प्रकार के लोगों के लिए रुचिकर है, वही दूसरे प्रकार के लोगों के लिए अरुचिकर हो जाती है। रुचि, यह अन्तःकरण का धर्म है। किसी चीज के विषय में उसका होना न होना उस वस्तु के ज्ञान पर अवलम्बित है। जब मनुष्य किसी वस्तु के गुणों को ठीक ठीक जान लेता है, तब उसकी उस वस्तु पर प्रबल रुचि हो जाती है। इसलिए 'आवश्यक-क्रिया' को अरुचिकर बतलाना, यह उसके महत्त्व तथा गुणों का अज्ञान-मात्र है।

जैन और अन्य-सम्प्रदायों का 'आवश्यक-कर्म'—सन्ध्या आदि

'आवश्यक-क्रिया' के मूल तत्त्वों को दिखाते समय यह सूचित कर दिया गया है कि सभी अन्तर्दृष्टि वाले आत्माओं का जीवन सम-भावमय होता है। अन्तर्दृष्टि किसी खास देश या खास काल की शृङ्खला में आबद्ध नहीं होती। उसका आविर्भाव सब देश और सब काल के आत्माओं के लिए साधारण होता है। अतएव उसको पाना तथा बढ़ाना सभी आध्यात्मिकों का ध्येय बन जाता है। प्रकृति, योग्यता और निमित्त-भेद के कारण इतना तो होना स्वाभाविक है कि किसी देश-विशेष, किसी काल-विशेष और किसी व्यक्ति-विशेष में अन्तर्दृष्टि का विकास कम होता है और किसी में अधिक होता है। इसलिए आध्यात्मिक जीवन

को ही वास्तविक जीवन समझनेवाले तथा उस जीवन की वृद्धि चाहनेवाले सभी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों ने अपने-अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का, उस जीवन के तत्त्वों का तथा उन तत्त्वों का अनुसरण करते समय जानते-अनजानते हो जानेवाली गलतियों को सुधार कर फिर से वैसा न करने का उपदेश दिया है। यह हो सकता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकों की कथन-शैली भिन्न हो, भाषा भिन्न हो और विचार में भी न्यूनाधिकता हो; पर यह कदापि संभव नहीं कि आध्यात्मिक जीवन-निष्ठ उपदेशकों के विचार का मूल एक न हो। इस जगह 'आवश्यक-क्रिया' प्रस्तुत है। इसलिए यहाँ सिर्फ उस के संबन्ध में ही भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का विचार-साम्य दिखाना उपयुक्त होगा। यद्यपि सब प्रसिद्ध सम्प्रदायों की सन्ध्या का थोड़ा बहुत उल्लेख करके उनका विचार-साम्य दिखाने का इरादा था; पर यथेष्ट साधन न मिलने से इस समय थोड़े में ही संतोष कर लिया जाता है। यदि इतना भी उल्लेख पाठकों को रुचि-कर हुआ तो वे स्वयं ही प्रत्येक सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थों को देखकर प्रस्तुत विषय में अधिक जानकारी कर लेंगे। यहाँ सिर्फ जैन, बौद्ध, वैदिक और जरथोश्ती अर्थात् पारसी धर्म का वह विचार दिखाया जाता है।

बौद्ध लोग अपने मान्य 'त्रिपिटक' ग्रन्थों में से कुछ सूत्रों को लेकर उनका नित्य पाठ करते हैं। एक तरह से वह उनका अवश्य कर्त्तव्य है। उसमें से कुछ वाक्य और उनसे मिलते-जुलते 'प्रतिक्रमण' के वाक्य नीचे दिये जाते हैं—

बौद्धः—

(१) नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा संबुद्धस्स।
बुद्धं सरणं गच्छामि। धम्मं सरणं गच्छामि। संघं सरणं गच्छामि।

—लघुपाठ, सरणत्तय।

(२) पाणातिपाता वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। अदिन्नादाना वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। कामेसु मिच्छाचारा वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। मुसावादा वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। सुराभेरयमज्जपमादट्ठाना वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।

—लघुपाठ, पंचसील।

(३) असेवना च बालानं पण्डितानं च सेवना।
पूजा च पूजनीयानं एतं मंगलमुत्तमं॥
मातापितु उपट्ठानं पुत्तदारस्स संगहो।
अनाकुला च कम्मन्ता एतं मंगलमुत्तमं॥

दानं च धम्मचरिया च जातकानं च संगहो।
अनवज्जानि कम्मानि एतं मंगलमुत्तमं ॥
आरति विरति पापा मज्जपाना च संयमो।
अप्पमादो च धम्मेसु एतं मंगलमुत्तमं ॥
खन्ति च सोवचस्सता, समणानं च दस्सनं।
कालेन धम्मसाकच्छा एतं मंगलमुत्तमं ॥

—लघुपाठ, मंगलसुत्त।

(४) सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सव्वे सत्ता भवन्तु सुखिनत्ता ॥
माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवंपि सव्वभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं ॥
मेत्तं च सव्वलोकस्मिन् मानसं भावये अपरिमाणं।
उद्धं अधो च तिरियं च असंबाधं अवेरं असपत्तं ॥

—लघुपाठ, मेत्तसुत्त (१)।

जैन—

(१) नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं।

चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहन्ते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलीपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥

(२) थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाई, थूलगमुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाई, थूलगअदत्तादाणं समणोवासओ पचक्खाइ, परदारगमणं समणोवासओ पचक्खाई, सदारसंतोसं वा पडिवज्जइ। इत्यादि।

—आवश्यक-सूत्र, पृ० ८१८–८२३।

(३) लोगविरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआ परत्थकरणं च।
सुहगुरुजोगो तव्वयणसेवणा आभवमखंडा ॥
दुक्खखओ कम्मखओ, समाहिमरणं च बोहिलाभो अ।
संपज्जउ मह एयं, तुह नाह पणामकरणेणं ॥

—जय वीयराय।

(४) मित्ती में सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई ॥
शिवमस्तु सर्वजगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

वैदिक सन्ध्या के मन्त्र व वाक्य—

(१) "ममोपात्तदुरितक्षयाय श्रीपरमेश्वरप्रीतये प्रातः सन्ध्योपासनमहं करिष्ये ।"

—संकल्प-वाक्य ।

(२) ॐ सूर्यश्च मा मनुश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यद् रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत् किंचिद् दुरितं मयीदमहममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ।

—कृष्ण यजुर्वेद ।

(३) ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही धियो यो नः प्रचोदयेत् ।

—गायत्री ।

जैन—

(१) पायच्छित्त विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं ।

(२) जं जं मणेण बद्धं, जं जं वाएण भासियं पावं ।
जं जं काएण कयं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स ॥

(३) चन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगम्भीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ॥

पारसी लोग नित्यप्रार्थना तथा नित्यपाठ में अपनी असली धार्मिक किताब 'अवस्ता' का जो-जो भाग काम में लाते हैं, वह 'खोरदेह अवस्ता' के नाम से प्रसिद्ध है। उसका मजमून अनेक अंशों में जैन, बौद्ध तथा वैदिक-संप्रदाय में प्रचलित सन्ध्या के समान है। उदाहरण के तौर पर उसका थोड़ा सा अंश हिंदी भाषा में नीचे दिया जाता है।

अवस्ता के मूल वाक्य इसलिए नहीं उद्धृत किए हैं कि उसके खास अक्षर ऐसे हैं, जो देवनागरी लिपि में नहीं हैं। विशेष जिज्ञासु मूल पुस्तक से असली पाठ देख सकते हैं।

(१) दुश्मन पर जीत हो। —खोरदेह अवस्ता, पृ० ७।

(२) मैंने मन से जो बुरे विचार किये, जबान से जो तुच्छ भाषण किया और शरीर से जो हलका काम किया; इत्यादि प्रकार से जो-जो गुनाह किये, उन सब के लिए मैं पश्चात्ताप करता हूँ।

—खो० अ०, पृ० ७।

(३) वर्तमान और भावी सब धर्मों में सब से बड़ा, सब से अच्छा और

सर्व-श्रेष्ठ धर्म 'जरथोश्ती' है। मैं यह बात मान लेता हूँ कि 'जरथोश्ती' धर्म ही सब कुछ पाने का कारण है।

—खो० अ०, पृ० ६।

(४) अभिमान, गर्व, मरे हुए लोगों की निन्दा करना. लोभ, लालच, बेहद गुस्सा, किसी की बढ़ती देखकर जलना, किसी पर बुरी निगाह करना, स्वच्छन्दता. आलस्य, काना-फूँसी, पवित्रता का भङ्ग, झूठी गवाही, चोरी, लूट-खसोट, व्यभिचार, बेहद शौक करना, इत्यादि जो गुनाह मुझसे जानते-अनजानते हो गए हों और जो गुनाह साफ दिल से मैंने प्रकट न किये हों, उन सबसे मैं पवित्र हो कर अलग होता हूँ।

—खो० अ०, पृ० २३-२४।

(१) शत्रवः पराङ्मुखः भवन्तु स्वाहा।

—बृहत् शान्ति।

(२) काएण काइयस्स, पडिक्कमे वाइयस्स वायाए।
मणसा माणसियस्स, सव्वस्स वयाइयारस्स॥

—वंदित्त।

(३) सर्वमंगलमांगल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति शासनम्॥

(४) अठारह पापस्थान की निन्दा।

'आवश्यक' का इतिहास

'आवश्यक-क्रिया'—अन्तर्दृष्टि के उन्मेष व आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ से 'आवश्यक-क्रिया' का इतिहास शुरू होता है। सामान्यरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि विश्व में आध्यात्मिक जीवन सबसे पहले कब शुरू हुआ। इस लिए 'आवश्यक-क्रिया' भी प्रवाह की अपेक्षा से अनादि ही मानी जाती है।

'आवश्यक-सूत्र'—जो व्यक्ति सच्चा आध्यात्मिक है, उसका जीवन स्वभाव से ही 'आवश्यक-क्रिया'-प्रधान बन जाता है। इसलिए उसके हृदय के अन्दर से 'आवश्यक-क्रिया'-द्योतक ध्वनि उठा ही करती है। परन्तु जब तक साधक-अवस्था हो, तब तक व्यावहारिक, धार्मिक—सभी प्रवृत्ति करते समय प्रमादवश 'आवश्यक-क्रिया' में से उपयोग बदल जाने का और इसी कारण ताद्विषयक अन्तर्ध्वनि भी बदल जाने का बहुत संभव रहता है। इसलिए ऐसे अधिकारियों को लक्ष्य में रखकर 'आवश्यक-क्रिया' को याद कराने के लिए महर्षियों ने खास-खास समय नियत किया है और 'आवश्यक-क्रिया' को याद करानेवाले

सूत्र भी रचे हैं, जिससे कि अधिकारी लोग खास नियत समय पर उन सूत्रों के द्वारा 'आवश्यक-क्रिया' को याद कर अपने आध्यात्मिक जीवन पर दृष्टिपात करें। अतएव 'आवश्यक क्रिया' के दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, आदि पाँच भेद प्रसिद्ध हैं। 'आवश्यक-क्रिया' के इस काल-कृत विभाग के अनुसार उसके सूत्रों में भी यत्र-तत्र भेद आ जाता है। अब देखना यह है कि इस समय जो 'आवश्यक-सूत्र' है, वह कब बना है और उसके रचयिता कौन हैं?

पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि 'आवश्यक-सूत्र' ईस्वी सन् से पूर्व पाँचवीं शताब्दि से लेकर चौथी शताब्दि के प्रथम पाद तक में किसी समय रचा हुआ होना चाहिए। इसका कारण यह है कि ईस्वी सन् से पूर्व पाँच सौ छब्बीसवें वर्ष में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। वीर-निर्वाण के बीस वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी का निर्वाण हुआ। सुधर्मा स्वामी गणधर थे। 'आवश्यक-सूत्र' न तो तीर्थंकर की ही कृति है और न गणधर की। तीर्थंकर की कृति इसलिए नहीं कि वे अर्थ का उपदेशमात्र करते हैं, सूत्र नहीं रचते। गणधर सूत्र रचते हैं सही, पर 'आवश्यक-सूत्र' गणधर-रचित न होने का कारण यह कि उस सूत्र की गणना अङ्गबाह्यश्रुत में है। अङ्गबाह्यश्रुत का लक्षण श्री उमास्वाती ने अपने तत्त्वार्थ-भाष्य में यह किया है कि जो श्रुत, गणधर की कृति नहीं है और जिसकी रचना गणधर के बाद के परम मेधावी आचार्यों ने की है, वह 'अङ्गबाह्यश्रुत' कहलाता है।[1]

ऐसा लक्षण करके उसका उदाहरण देते समय उन्होंने सबसे पहले सामायिक आदि छह 'आवश्यकों' का उल्लेख किया है और इसके बाद दशवैकालिक आदि अन्य सूत्रों का[2]। यह ध्यान रखना चाहिए दशवैकालिक, श्री शय्यंभव सूरि जो सुधर्मा स्वामी के बाद तीसरे आचार्य हुए, उनकी कृति है। अङ्गबाह्य होने के कारण 'आवश्यक-सूत्र', गणधर श्री सुधर्मा स्वामी के बाद के किसी आचार्य का रचित माना जाना चाहिए। इस तरह उसके रचना के काल की

१—गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत्प्रोक्तं तदङ्गबाह्यमिति।

—तत्त्वार्थ-अध्याय १, सूत्र २० का भाष्य।

२—अङ्गबाह्यमनेकविधम्। तद्यथा—सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकमुत्तराध्यायाः दशाः कल्पव्यवहारौ निशीथमृषिभाषितान्येवमादि।

—तत्त्वार्थ-अ० १, सूत्र २० का भाष्य।

पहली मियाद अधिक से अधिक ईस्वी सन् से पहिले लगभग पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ तक ही बताई जा सकती है। उसके रचना काल की उत्तर अवधि अधिक से अधिक ईस्वी सन् से पूर्व चौथी शताब्दी का प्रथम चरण ही माना जा सकता है; क्योंकि चतुर्दश-पूर्व-धर श्री भद्रबाहु स्वामी जिनका अवसान ईस्वी सन् से पूर्व तीन सौ छप्पन वर्ष के लगभग माना जाता है, उन्होंने 'आवश्यक-सूत्र' पर सबसे पहले व्याख्या लिखी है, जो निर्युक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह तो प्रसिद्ध[1] है कि निर्युक्ति ही श्री भद्रबाहु की है, संपूर्ण मूल 'आवश्यक-सूत्र' नहीं। ऐसी अवस्था में मूल 'आवश्यक-सूत्र' अधिक से अधिक उनके कुछ पूर्ववर्त्ती या समकालीन किसी अन्य श्रुतधर के रचे हुए मानने चाहिए। इस दृष्टि से यही मालूम होता है कि 'आवश्यक' का रचना-काल ईस्वी सन् से पूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी के प्रथम चरण तक में होना चाहिए।

दूसरा प्रश्न कर्त्ता का है। 'आवश्यक-सूत्र' के कर्त्ता कौन व्यक्ति हैं? उसके कर्त्ता कोई एक ही आचार्य हैं या अनेक हैं? इस प्रश्न के प्रथम अंश के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दूसरे अंश का उत्तर यह है कि 'आवश्यक-सूत्र' किसी एक की कृति नहीं है। अलबत्ता यह आश्चर्य की बात है कि संभवतः 'आवश्यक-सूत्र' के बाद तुरन्त ही या उसके सम-समय में रचे जानेवाले दशवैकालिक के कर्त्तारूप से श्री शय्यंभव सूरि का निर्देश स्वयं श्री भद्रबाहु ने किया है (दशवैकालिक-निर्युक्ति, गा० १४–१५); पर 'आवश्यक-सूत्र' के कर्त्ता का निर्देश नहीं किया है। श्री भद्रबाहु स्वामी निर्युक्ति रचते समय जिन दस आगमों की निर्युक्ति करने की जो प्रतिज्ञा करते हैं, उसमें दशवैकालिक के भी पहले 'आवश्यक' का उल्लेख है[2]। यह कहा जा चुका है कि दशवैकालिक श्री शय्यंभव सूरि की

१—प्रसिद्ध कहने का मतलब यह है कि श्री शीलाङ्क सूरि अपनी आचाराङ्ग-वृत्ति में सूचित करते हैं कि 'आवश्यक' के अन्तर्गत चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) ही श्री भद्रबाहुस्वामी ने रचा है—आवश्यकान्तर्भूतश्चतुर्विंशतिस्तवस्त्वारातीय-कालभाविना श्रीभद्रबाहुस्वामिनाऽकारि' पृ० ८३। इस कथन से यह साफ जान पड़ता है कि शीलाङ्क सूरि के जमाने में यह बात मानी जाती थी कि सम्पूर्ण 'आवश्यक-सूत्र' श्री भद्रबाहु की कृति नहीं है।

२—आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्तिं, वुच्छामि तहा दसाणं च ॥ ८४ ॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरिअपण्णत्तीए वुच्छं इसिभासिआणं च ॥ ८५ ॥

कृति है। यदि दस आगमों के उल्लेख का क्रम, काल-क्रम का सूचक है तो यह मानना पड़ेगा कि 'आवश्यक-सूत्र' श्री शय्यंभव सूरि के पूर्ववर्ती किसी अन्य स्थविर की, किंवा शय्यंभव सूरि के समकालीन किन्तु उनसे बड़े किसी अन्य स्थविर की कृति होनी चाहिए। तत्वार्थ-भाष्य गत 'गणधरानन्तर्यादिभिः' इस अंश में वर्तमान 'आदि' पद से तीर्थंकर-गणधर के बाद के अव्यवहित स्थविर की तरह तीर्थंकर-गणधर के समकालीन स्थविर का भी ग्रहण किया जाय तो 'आवश्यक-सूत्र' का रचना-काल ईस्वी सन् से पूर्व अधिक से अधिक छठी शताब्दि का अन्तिम चरण ही माना जा सकता है और उसके कर्त्तारूप से तीर्थंकर-गणधर के समकालीन कोई स्थविर माने जा सकते हैं। जो कुछ हो, पर इतना निश्चित जान पड़ता है कि तीर्थंकर के समकालीन स्थविरों से लेकर भद्रबाहु के पूर्ववर्त्ती या समकालीन स्थविरों तक में से ही किसी की कृति 'आवश्यक-सूत्र' है।

मूल 'आवश्यक-सूत्र' की परीक्षण-विधि— मूल 'आवश्यक' कितना है अर्थात् उसमें कौन-कौन सूत्र सन्निविष्ट हैं, इसकी परीक्षा करना जरूरी है; क्योंकि आजकल साधारण लोग यही समझ रहे हैं कि 'आवश्यक-क्रिया में जितने सूत्र पढ़े जाते हैं, वे सब मूल 'आवश्यक' के ही हैं। मूल 'आवश्यक' को पहचानने के उपाय दो हैं—पहला यह कि जिस सूत्र के ऊपर शब्दशः किंवा अधिकांश शब्दों की सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति हो, वह सूत्र मूल 'आवश्यक'-गत है। और दूसरा उपाय यह है कि जिस सूत्र के ऊपर शब्दशः किंवा अधिकांश शब्दों की सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति नहीं है; पर जिस सूत्र का अर्थ सामान्य रूप से भी निर्युक्ति में वर्णित है या जिस सूत्र के किसी-किसी शब्द पर निर्युक्त है या जिस सूत्र की व्याख्या करते समय आरम्भ में टीकाकर श्री हरिभद्र सूरि ने 'सूत्रकार आह' तच्च इदं सूत्रं, इमं सूत्रं' इत्यादि प्रकार का उल्लेख किया है, वह सूत्र भी मूल 'आवश्यक'-गत समझना चाहिए।

पहले उपाय के अनुसार 'नमुक्कार, करेमि भंते, लोगस्स, इच्छामि खमासमणो, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, नमुक्कारसहिय आदि पच्चक्खाण—' इतने सूत्र मौलिक जान पड़ते हैं।

दूसरे उपाय के अनुसार 'चत्तारि मंगलं, इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ, इरियावहियाए, पगामसिज्जाए, पडिक्कमामि गोयरचरियाए, पडिक्कमामि चाउक्कालं, पडिक्कमामि एगविहे, नमो चउविसाए, इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं, सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं, इच्छामि खमासमणो उवट्ठिओमि अब्भितर पक्खियं, इच्छामि खमासमणो पियं च मे, इच्छामि खमासमणो पुव्वि चेइ

याइं, इच्छामि खमासमणो उव्वट्ठियोमि तुब्भण्हं, इच्छामि खमासमणो कयाइं च मे, पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कम्मइ कित्तिकम्मा—इतने सूत्र मौलिक जान पड़ते हैं।

तथा इनके अलावा 'तत्थ समणोवासओ, थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, थूलगमुसावायं,' इत्यादि जो सूत्र श्रावक-धर्म-संबन्धी अर्थात् सम्यक्त्व, बारह व्रत और संलेखनाविषयक हैं तथा जिनके आधार पर 'वंदित्तु' की पद्य-बन्ध रचना हुई है, वे सूत्र भी मौलिक जान पड़ते हैं। यद्यपि इन सूत्रों के पहले टीकाकार ने 'सूत्रकार आह, सूत्रं' इत्यादि शब्दों का उल्लेख नहीं किया है तथापि 'प्रत्याख्यान-आवश्यक' में निर्युक्तिकार ने प्रत्याख्यान का सामान्य स्वरूप दिखाते समय अभिग्रह की विविधता के कारण श्रावक के अनेक भेद बतलाए हैं। जिससे जान पड़ता है। श्रावक-धर्म के उक्त सूत्रों को लक्ष्य में रखकर ही निर्युक्तिकार ने श्रावक-धर्म की विविधता का वर्णन किया है।

आजकल की सामाचारी में जो प्रतिक्रमण की स्थापना की जाती है, वहाँ से लेकर 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' की स्तुति पर्यन्त में ही छह 'आवश्यक' पूर्ण हो जाते हैं। अतएव यह तो स्पष्ट ही है कि प्रतिक्रमण की स्थापना के पूर्व किए जानेवाले चैत्य-वन्दन का भाग और 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' की स्तुति के बाद पढ़े जाने वाले सज्झाय, स्तवन, शान्ति आदि, ये सब छह 'आवश्यक' के बहिर्भूत हैं। अतएव उनका मूल 'आवश्यक' में न पाया जाना स्वाभाविक ही है। भाषा दृष्टि से देखा जाय तो भी यह प्रमाणित है कि अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी व गुजराती भाषा के गद्य-पद्य मौलिक हो ही नहीं सकते; क्योंकि सम्पूर्ण मूल 'आवश्यक' प्राकृत-भाषा में ही है। प्राकृत-भाषा-मय गद्य-पद्य में से जितने सूत्र उक्त दो उपायों के अनुसार मौलिक बतलाए गए हैं, उनके अलावा अन्य सूत्र को मूल 'आवश्यक'-गत मानने का प्रमाण अभी तक हमारे ध्यान में नहीं आया है। अतएव यह समझना चाहिए कि छह 'आवश्यकों' में 'सात लाख, अठारह पापस्थान, आयरिय-उवज्झाए, वेयावच्चगराणं, पुक्खरवरदीवड्ढे, सिद्धाणं बुद्धाणं, सुअ-देवया भगवई आदि थुई और 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' आदि जो-जो पाठ बोले जाते हैं, वे सब मौलिक नहीं हैं। यद्यपि 'आयरियउवज्झाए, पुक्खरदीवड्ढे, सिद्धाणं बुद्धाणं' ये मौलिक नहीं हैं तथापि वे प्राचीन हैं; क्योंकि उनका उल्लेख करके श्री हरिभद्र सूरि ने स्वयं उनकी व्याख्या की है।

प्रस्तुत परीक्षण-विधि का यह मतलब नहीं है कि जो सूत्र मौलिक नहीं है, उसका महत्त्व कम है। यहाँ तो सिर्फ इतना ही दिखाना है कि देश, काल और

रुचि के परिवर्त्तन के साथ-साथ 'आवश्यक'-क्रियोपयोगी सूत्र की संख्या में तथा भाषा में किस प्रकार परिवर्त्तन होता गया है।

यहाँ यह सूचित कर देना अनुपयुक्त न होगा कि आजकल दैवसिक-प्रतिक्रमण में 'सिद्धाणं बुद्धाणं' के बाद जो श्रुतदेवता तथा क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग किया जाता है और एक-एक स्तुति पढ़ी जाती है, वह भाग कम से कम श्री हरिभद्रसरि के समय में प्रचलित प्रतिक्रमण-विधि में सन्निविष्ट न था; क्योंकि उन्होंने अपनी टीका में जो विधि दैवसिक-प्रतिक्रमण की दी है, उसमें 'सिद्धाणं' के बाद प्रतिलेखन वन्दन करके तीन स्तुति पढ़ने का ही निर्देश किया है—(आवश्यक-वृत्ति, पृ० ७६०)।

विधि-विषयक सामाचारी-भेद पुराना है; क्योंकि मूल-टीकाकार-संमत विधि के अलावा अन्य विधि का भी सूचन श्री हरिभद्रसूरि ने किया है (आवश्यक-वृत्ति, पृ० ७६३)।

उस समय पाक्षिक-प्रतिक्रमण में क्षेत्रदेवता का काउस्सग्ग प्रचलित नहीं था; पर शय्यादेवता का काउस्सग्ग किया जाता था। कोई-कोई चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण में भी शय्यादेवता का काउस्सग्ग करते थे और क्षेत्रदेवता का काउस्सग्ग तो चातुर्मासिक और सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण में प्रचलित था—आवश्यक-वृत्ति, पृ० ४६४; भाष्य गाथा २३३।

इस जगह मुख पर मुँहपत्ती बाँधनेवालों के लिए यह बात खास अर्थसूचक है कि श्री भद्रबाहु के समय में भी काउस्सग्ग करते समय मुँहपत्ती हाथ में रखने का ही उल्लेख है—आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० ७६७, गाथा १५४५।

मूल 'आवश्यक' के टीका-ग्रन्थ—'आवश्यक', यह साधु-श्रावक-उभय की महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इसलिए 'आवश्यक-सूत्र' का गौरव भी वैसा ही है। यही कारण है कि श्री भद्रबाहु स्वामी ने दस निर्युक्ति रचकर तत्कालीन प्रथा के अनुसार उसकी प्राकृत-पद्य-मय टीका लिखी। यही 'आवश्यक' का प्राथमिक टीका-ग्रन्थ है। इसके बाद संपूर्ण 'आवश्यक' के ऊपर प्राकृत-पद्य-मय भाष्य बना, जिसके कर्त्ता अज्ञात हैं। अनन्तर चूर्णी बनी, जो संस्कृत-मिश्रित प्राकृत-गद्य-मय है और जिसके कर्त्ता संभवतः जिनदास गणि हैं।

अब तक भाषा-विषयक यह लोक-रुचि कुछ बदल गई थी। यह देखकर समय-सूचक आचार्यों ने संस्कृत-भाषा में भी टीका लिखना आरम्भ कर दिया था। तदनुसार 'आवश्यक' के ऊपर भी कई संस्कृत-टीकाएँ बनी, जिनका सूचन श्री हरिभद्र सूरि ने इस प्रकार किया है—

'यद्यपि मया तथान्यैः, कृतास्य विवृतिस्तथापि संक्षेपात् ।
तद्रुचिसत्त्वानुग्रहहेतोः क्रियते प्रयासोऽयम् ॥

जान पड़ता है कि वे संस्कृत-टीकाएँ संक्षिप्त रही होंगी ।—आवश्यक-वृत्ति, पृ० १ अतएव श्री हरिभद्रसूरि ने 'आवश्यक के ऊपर एक बड़ी टीका लिखी, जो उपलब्ध नहीं है; पर जिसका सूचन वे स्वयं 'मया' इस शब्द से करते हैं और जिसके संबन्ध की परंपरा का निर्देश श्री हेमचन्द्र मलधारी अपने 'आवश्यक-टिप्पण'—पृ० १ में करते हैं।

बड़ी टीका के साथ-साथ श्री हरिभद्र सूरि ने संपूर्ण 'आवश्यक' के ऊपर छोटी टीका भी लिखी, जो मुद्रित हो गई है, जिसका परिमाण बाईस हजार श्लोक का है, जिसका नाम 'शिष्यहिता' है और जिसमें संपूर्ण मूल 'आवश्यक' तथा उसकी निर्युक्ति की संस्कृत में व्याख्या है। इसके उपरान्त उस टीका में मूल, भाष्य तथा चूर्णी का भी कुछ भाग लिया गया है। श्री हरिभद्रसूरि की इस टीका के ऊपर श्री हेमचन्द्र मलधारी ने टिप्पण लिखा है। श्री मलयगिरि सूरि ने भी 'आवश्यक' के ऊपर टीका लिखी है, जो करीब दो अध्ययन तक की है और अभी उपलब्ध है। यहाँ तक तो हुई संपूर्ण 'आवश्यक' के टीका-ग्रन्थों की बात; पर उनके अलावा केवल प्रथम अध्ययन, जो सामायिक अध्ययन के नाम से प्रसिद्ध है, उस पर भी बड़े-बड़े टीका-ग्रन्थ बने हुए हैं। सबसे पहले सामायिक अध्ययन की निर्युक्ति के ऊपर श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने प्राकृत-पद्य-मय भाष्य लिखा जो विशेषावश्यक भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह बहुत बड़ा आकर ग्रन्थ है। इस भाष्य के ऊपर उन्होंने स्वयं संस्कृत-टीका लिखी है। कोट्याचार्य, जिनका दूसरा नाम शीलाङ्क है और जो आचाराङ्ग तथा सूत्र-कृताङ्ग के टीकाकार हैं, उन्होंने भी उक्त विशेषावश्यक भाष्य पर टीका लिखी है। श्री हेमचन्द्र मलधारी की भी उक्त भाष्य पर बहुत गम्भीर और विशद टीका है।

'आवश्यक' और श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय

'आवश्यक-क्रिया जैनत्व का प्रधान अङ्ग है। इसलिए उस क्रिया का तथा उस क्रिया के सूचक 'आवश्यक-सूत्र' का जैन-समाज की श्वेताम्बर-दिगम्बर, इन दो शाखाओं में पाया जाना स्वाभाविक है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में साधु-परंपरा अविच्छिन्न चलते रहने के कारण साधु-श्रावक दोनों की 'आवश्यक-क्रिया' तथा 'आवश्यक-सूत्र' अभी तक मौलिक रूप में पाये जाते हैं। इसके विपरीत दिगम्बर-सम्प्रदाय में साधु-परंपरा विरल और विच्छिन्न हो जाने के कारण साधु संबन्धी 'आवश्यक-क्रिया' तो लुप्तप्राय है ही, पर उसके साथ-साथ उस सम्प्रदाय में

श्रावक-संबन्धी 'आवश्यक-क्रिया' भी बहुत अंशों में विरल हो गई है। अतएव दिगम्बर-संप्रदाय के साहित्य में 'आवश्यक-सूत्र' का मौलिक रूप में संपूर्णतया न पाया जाना कोई अचरज की बात नहीं।

फिर भी उसके साहित्य में एक 'मूलाचार' नामक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसमें साधुओं के आचारों का वर्णन है। उस ग्रन्थ में छह 'आवश्यक' का भी निरूपण है। प्रत्येक 'आवश्यक' का वर्णन करने वाली गाथाओं में अधिकांश गाथाएँ वही हैं, जो श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध श्री भद्रबाहुकृत निर्युक्ति में हैं।

मूलाचार का समय ठीक ज्ञात नहीं; पर वह है प्राचीन। उसके कर्त्ता श्री वट्टकेर स्वामी हैं। 'वट्टकेर', यह नाम ही सूचित करता है कि मूलाचार के कर्त्ता संभवतः कर्णाटक में हुए होंगे। इस कल्पना की पुष्टि का कारण एक यह भी है कि दिगम्बर-सम्प्रदाय के प्राचीन बड़े-बड़े साधु, भट्टारक और विद्वान् अधिकतर कर्णाटक में ही हुए हैं। उस देश में दिगम्बर-सम्प्रदाय का प्रभुत्व वैसा ही रहा है, जैसा गुजरात में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का।

मूलाचार में श्री भद्रबाहु-कृत निर्युक्ति-गत गाथाओं का पाया जाना बहुत अर्थ-सूचक है। इससे श्वेताम्बर-दिगम्बर-संप्रदाय की मौलिक एकता के समय का कुछ प्रतिभास होता है। अनेक कारणों से यह कल्पना नहीं की जा सकती है कि दोनों संप्रदाय का भेद रूढ़ हो जाने के बाद दिगम्बर-आचार्य ने श्वेताम्बर-संप्रदाय द्वारा सुरक्षित 'आवश्यक-निर्युक्ति' गत गाथाओं को लेकर अपनी कृति में ज्यों का त्यों किंवा कुछ परिवर्तन करके रख दिया है।

दक्षिण देश में श्री भद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास हुआ, यह तो प्रमाणित ही है, अतएव अधिक संभव यह है कि श्री भद्रबाहु की जो एक शिष्य-परंपरा दक्षिण में रही और आगे जाकर जो दिगम्बर-संप्रदाय-रूप में परिणत हो गई, उसने अपनी गुरु की कृति को स्मृति-पथ में रक्खा और दूसरी शिष्य परंपरा, जो उत्तर हिंदुस्तान में रही, एवं आगे जाकर बहुत अंशों में श्वेताम्बर-संप्रदाय रूप में परिणत हो गई, उसने भी अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ अपने गुरु की कृति को सम्हाल रक्खा। क्रमशः दिगम्बर-संप्रदाय में साधु-परंपरा विरल होती चली; अतएव उसमें सिर्फ 'आवश्यक-निर्युक्ति' ही नहीं, बल्कि मूल 'आवश्यक-सूत्र' भी त्रुटित और विरल हो गया।

इसके विपरीत श्वेताम्बर संप्रदाय की अविच्छिन्न साधु-परंपरा ने सिर्फ मूल 'आवश्यक-सूत्र' को ही नहीं, बल्कि उसकी निर्युक्ति को सुरक्षित रखने के पुण्य-कार्य के अलावा उसके ऊपर अनेक बड़े-बड़े टीका-ग्रन्थ लिखे और तत्कालीन

आचार-विचार का एक प्रामाणिक संग्रह ऐसा बना रक्खा कि जो आज भी जैन-धर्म के असली रूप को विशिष्ट रूप में देखने का एक प्रबल साधन है।

अब एक प्रश्न यह है कि दिगम्बर-संप्रदाय में जैसे निर्युक्ति अंशमात्र में भी पाई जाती है, वैसे मूल 'आवश्यक' पाया जाता है या नहीं? अभी तक उस संप्रदाय के 'आवश्यक-क्रिया' संबन्धी दो ग्रन्थ हमारे देखने में आए हैं। जिनमें एक मुद्रित और दूसरा लिखित है। दोनों में सामायिक तथा प्रतिक्रमण के पाठ हैं। इन पाठों में अधिकांश भाग संस्कृत है, जो मौलिक नहीं है। जो भाग प्राकृत है, उसमें भी निर्युक्ति के आधार से मौलिक सिद्ध होनेवाले 'आवश्यक-सूत्र' का अंश बहुत कम है। जितना मूल भाग है, वह भी श्वेताम्बर-संप्रदाय में प्रचलित मूल पाठ की अपेक्षा कुछ न्यूनाधिक या कहीं-कहीं रूपान्तरित भी हो गया है।

'नमुक्कार, करेमि भंते, लोगस्स, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, जो मे देवसिओ अइयारो कओ, इरियावहियाए, चत्तारि मंगलं पडिक्कमामि एगविहे, इणमेव निग्गन्थपावयणं तथा वंदित्तु के स्थानापन्न अर्थात् श्रावक-धर्म—सम्यक्त्व, बारह व्रत, और संलेखना के अतिचारों के प्रतिक्रमण का गद्य भाग', इतने मूल 'आवश्यक-सूत्र' उक्त दो दिगम्बर-ग्रन्थों में हैं।

इनके अतिरिक्त, जो बृहत्प्रतिक्रमण-नामक भाग लिखित प्रति में है, वह श्वेताम्बर-संप्रदाय-प्रसिद्ध पक्खिय सूत्र से मिलता-जुलता है। हमने विस्तार-भय से उन सब पाठों का यहाँ उल्लेख न करके उनका सूचनमात्र किया है। मूलाचार-गत 'आवश्यक-नियुक्ति' की सब गाथाओं को भी हम यहाँ उद्धृत नहीं करते। सिर्फ दो-तीन गाथाओं को देकर अन्य गाथाओं के नम्बर नीचे लिख देते हैं, जिससे जिज्ञासु लोग स्वयं ही मूलाचार तथा 'आवश्यक-निर्युक्ति' देख कर मिलान कर लेंगे।

प्रत्येक 'आवश्यक' का कथन करने की प्रतिज्ञा करते समय श्री वट्टकेर स्वामी का यह कथन कि 'मैं प्रस्तुत 'आवश्यक' पर निर्युक्ति कहूँगा'—(मूलाचार, गा० ५१७, ५३७, ५७४, ६११, ६३१, ६४७), यह अवश्य अर्थ-सूचक है; क्योंकि संपूर्ण मूलाचार में 'आवश्यक का भाग छोड़कर अन्य प्रकरण में 'निर्युक्ति' शब्द एक-आध जगह आया है। षडावश्यक के अन्त में भी उस भाग को श्री वट्टकेर स्वामी निर्युक्ति के नाम से ही निर्दिष्ट किया है (मूलाचार, गा० ६८६, ६९०)

इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय श्री भद्रबाहु-कृत निर्युक्ति का जितना भाग दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित रहा होगा, उसको संपूर्ण किंवा

अंशतः उन्होंने अपने ग्रन्थ में सन्निविष्ट कर दिया। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में पाँचवाँ 'आवश्यक' कायोत्सर्ग और छठा प्रत्याख्यान है। नियुक्ति में छह 'आवश्यक' का नाम-निर्देश करनेवाली गाथा में भी वही क्रम है; पर मूलाचार में पाँचवाँ 'आवश्यक' प्रत्याख्यान और छठा कायोत्सर्ग है।

खमामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मेत्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि ॥ बृहत्प्रतिक्र०।
खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई ॥ आव०, पृ० ७६५।
एसो पंचणमोयारो, सव्वपावपणासणो।
मंगलेसु य सव्वेसु, पढमं हवदि मंगलं ॥ ५१४ ॥ मूला०।
एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥१३२॥ आव०नि०।
सामाइयंमि दु कदे, समणो इव सावओ हवदि जम्हा।
एदेन कारणेण दु, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥५३१॥ मूला०।
सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवई जम्हा।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥८०१॥ आव० नि०।

मूला०, गा० नं०	आव०-नि०, गा० नं०	मूला०, गा० नं०	आव०-नि०, गा० नं
५०४	६१८	५३६	(लोगस्स १,७)
५०५	६२१	५४०	१०५८
५०७	६५३	५४१	१०५७
५१०	६५४	५४४	१६५
५११	६६७	५४६	१६७
५१२	१००२	५४६	१६६
५१४	१३२	५५०	२०१
५२४	(भाष्य, १४६)	५५१	२०२
५२५	७६७	५५२	१०५६
५२६	७६८	५५३	१०६०
५३०	७६६	५५५	१०६२
५३१	८०१	५५६	१०६१
५३३	१२४५	५५७	१०६३,१०६४
५३८	(भाष्य,१६०)	५५८	१०६५

मूला०, गा० नं०	आव०नि०, गा०नं०	मूला०, गा०नं०	आव०नि०, गा०नं०
५५९	१०६६	६०७	१२११
५६०	१०६९	६०८	१२१२
५६१	१०७६	६१०	१२२५
५६३	१०७७	६१२	१२३३
५६४	१०६९	६१३	१२४७
५६५	१०९३	६१४	१२३१
५६६	१०९४	६१५	१२३२
५६७	१०९५	६१७	१२५०
५६८	१०९६	६२१	१२४३
५६९	१०९७	६२६	१२४४
५७६	११०२	६३२	(भाष्य, २६३)
५७७	११०३	६३३	१५६५
५७८	१२१७	६४०	(भाष्य, २४९)
५९२	११०५	६४२	२५०
५९३	११०७	६४३	२५१
५९४	११९१	६४५	१५५९
५९५	११०६	६४८	१४८७
५९६	११९३	६५६	१४५८
५९७	११९८	६६८	१५४६
५९९	१२००	६६९	१५४७
६००	१२०१	६७१	१५४१
६०१	१२०२	६७४	१४७९
६०३	१२०७	६७५	१४९८
६०४	१२०८	६७६	१४९०
६०५	१२०९	६७७	१४९२
६०६	१२१०		

['पंचप्रतिक्रमण' की प्रस्तावना

कर्मतत्त्व

कर्मग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद के साथ तथा हिन्दी अनुवाद प्रकाशक आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल के साथ मेरा इतना घनिष्ठ संबन्ध रहा है कि इस अनुवाद के साथ भी पूर्वकथन रूप से कुछ न कुछ लिख देना मेरे लिए अनिवार्य-सा हो जाता है।

जैन वाङ्मय में इस समय जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र मौजूद हैं उनमें से प्राचीन माने जानेवाले कर्मविषयक ग्रन्थों का साक्षात् संबन्ध दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्व के साथ बतलाती हैं। दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्व को दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गान्तर्गत चौदह पूर्वों में से दूसरा पूर्व कहती हैं और दोनों श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराएँ समान रूप से मानती हैं कि सारे अङ्ग तथा चौदह पूर्व यह सब भगवान् महावीर की सर्वज्ञ वाणी का साक्षात् फल है। इस साम्प्रदायिक चिरकालीन मान्यता के अनुसार मौजूदा सारा कर्मविषयक जैन वाङ्मय शब्दरूप से नहीं तो अन्ततः भावरूप से भगवान् महावीर के साक्षात् उपदेश का ही परम्परा प्राप्त सारमात्र है। इसी तरह यह भी साम्प्रदायिक मान्यता है कि वस्तुतः सारी अङ्गविद्याएँ भावरूप से केवल भगवान् महावीर की ही पूर्वकालीन नहीं, बल्कि पूर्व-पूर्व में हुए अन्यान्य तीर्थङ्करों से भी पूर्वकाल की अतएव एक तरह से अनादि हैं। प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी समय-समय पर होनेवाले नव-नव तीर्थङ्करों के द्वारा वे पूर्व-पूर्व अङ्गविद्याएँ नवीन नवीनत्व धारण करती हैं। इसी मान्यता को प्रकट करते हुए कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में, नैयायिक जयन्त भट्ट का अनुकरण करके बड़ी खूबी से कहा है कि—**'अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीभवन्ति, तत्तत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते। किन्नाश्रौषीः न कदाचिदनीदृशं जगत।'**

उक्त साम्प्रदायिक मान्यता ऐसी है कि जिसको साम्प्रदायिक लोग आज तक अक्षरशः मानते आए हैं और उसका समर्थन भी वैसे ही करते आए हैं जैसे मीमांसक लोग वेदों के अनादित्व की मान्यता का। साम्प्रदायिक लोग दो प्रकार के होते हैं—बुद्धि-अप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तु को बुद्धि का प्रयोग बिना किए ही श्रद्धामात्र से मान लेते हैं और बुद्धिप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तु को केवल श्रद्धा से मान ही नहीं लेते पर उसका बुद्धि के द्वारा यथा सम्भव

समर्थन भी करते हैं। इस तरह साम्प्रदायिक लोगों में पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यता का आदरणीय स्थान होने पर भी इस जगह कर्मशास्त्र और उसके मुख्य विषय कर्मतत्त्व के संबन्ध में एक दूसरी दृष्टि से भी विचार करना प्राप्त है। वह दृष्टि है ऐतिहासिक।

एक तो जैन परम्परा में भी साम्प्रदायिक मानस के अलावा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने का युग कभी से आरम्भ हो गया है और दूसरे यह कि मुद्रण युग में प्रकाशित किये जानेवाले मूल तथा अनुवाद ग्रन्थ जैनों तक ही सीमित नहीं रहते। जैनतर भी उन्हें पढ़ते हैं। सम्पादक, लेखक, अनुवादक और प्रकाशक का ध्येय भी ऐसा रहता है कि वे प्रकाशित ग्रन्थ किस तरह अधिकाधिक प्रमाण में जैनेतर पाठकों के हाथ में पहुँचें। कहने की शायद ही जरूरत हो कि जैनेतर पाठक साम्प्रदायिक हो नहीं सकते। अतएव कर्मतत्त्व और कर्मशास्त्र के बारे में हम साम्प्रदायिक दृष्टि से कितना ही क्यों न सोचें और लिखें फिर भी जब तक उसके बारे में हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार न करेंगे तब तक हमारा मूल एवं अनुवाद प्रकाशन का उद्देश्य ठीक-ठीक सिद्ध हो नहीं सकता। साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थान में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पक्ष में और भी प्रबल दलीलें हैं। पहली तो यह कि अब धीरे-धीरे कर्मविषयक जैन वाङ्मय का प्रवेश कालिजों के पाठ्यक्रम में भी हुआ है जहाँ का वातावरण असाम्प्रदायिक होता है। दूसरी दलील यह है कि अब साम्प्रदायिक वाङ्मय सम्प्रदाय की सीमा लाँघकर दूर-दूर तक पहुँचने लगा है। यहाँ तक कि जर्मन विद्वान् ग्लेझ्नप् जो 'जैनिस्मस्'—जैनदर्शन जैसी सर्वसंग्राहक पुस्तक का प्रसिद्ध लेखक है, उसने तो श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थों का जर्मन भाषा में उल्था भी कभी का कर दिया है और वह उसी विषय में पी-एच्० डी० भी हुआ है। अतएव मैं इस जगह थोड़ी बहुत कर्मतत्त्व और कर्मशास्त्र संबन्धी चर्चा ऐतिहासिक दृष्टि से करना चाहता हूँ।

मैंने अभी तक जो कुछ वैदिक और अवैदिक श्रुत तथा मार्ग का अवलोकन किया है और उस पर जो थोड़ा बहुत विचार किया है उसके आधार पर मेरी राय में कर्मतत्त्व से संबन्ध रखनेवाली नीचे लिखी वस्तुस्थिति खास तौर से फलित होती है जिसके अनुसार कर्मतत्त्वविचारक सब परम्पराओं की शृंखला ऐतिहासिक क्रम से सुसङ्गत हो सकती है।

पहिला प्रश्न कर्मतत्त्व मानना या नहीं और मानना तो किस आधार पर, यह था। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अर्थ के सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ मानता न था। उसकी दृष्टि में इहलोक ही पुरुषार्थ था। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व मानने के लिए बाधित न था जो अच्छे-बुरे जन्मान्तर या

परलोक की प्राप्ति करानेवाला हो। यही पक्ष चार्वाक परंपरा के नाम से विख्यात हुआ; पर साथ ही उस अति पुराने युग में भी ऐसे चिंतक थे जो बतलाते थे कि मृत्यु के बाद जन्मान्तर भी है[1]। इतना ही नहीं बल्कि इस दृश्यमान लोक के अलावा और भी श्रेष्ठ कनिष्ठ लोक हैं। ये पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और वे ही पुनर्जन्म और परलोक के कारणरूप से कर्मतत्त्व को स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि यह रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक का संबन्ध घट ही नहीं सकता। अतएव पुनर्जन्म की मान्यता के आधार पर कर्मतत्त्व का स्वीकार आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपने को परलोक-वादी तथा आस्तिक कहते थे।

कर्मवादियों के मुख्य दो दल रहे। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्म का फल जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, पर श्रेष्ठ जन्म तथा श्रेष्ठ परलोक के वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ ही चाहिए। यह दल परलोकवादी होने से तथा श्रेष्ठलोक, जो स्वर्ग कहलाता है, उसके साधनरूप से धर्म का प्रतिपादन करनेवाला होने से, धर्म-अर्थ-काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थों को मानता था, उसकी दृष्टि में मोक्ष का अलग पुरुषार्थ रूप से स्थान न था। जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्म का उल्लेख आता

---

१ मेरा ऐसा अभिप्राय है कि इस देश में किसी भी बाहरी स्थान से प्रवर्तक धर्म या याज्ञिक मार्ग आया और वह ज्यों-ज्यों फैलता गया त्यों-त्यों इस देश में उस प्रवर्तक धर्म के आने के पहले से ही विद्यमान निवर्तक धर्म अधिकाधिक बल पकड़ता गया। याज्ञिक प्रवर्तक धर्म की दूसरी शाखा ईरान में जरथोस्थ्रियनधर्म-रूप से विकसित हुई। और भारत में आनेवाली याज्ञिक प्रवर्तक धर्म की शाखा का निवर्तक धर्मवादियों के साथ प्रतिद्वन्द्वीभाव शुरू हुआ। यहाँ के पुराने निवर्तक धर्मवादी आत्मा, कर्म, मोक्ष, ध्यान, योग, तपस्या आदि विविधि मार्ग यह सब मानते थे। वे न तो जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य मानते थे और न चातुराश्रम्य की नियत व्यवस्था। उनके मतानुसार किसी भी धर्मकार्य में पति के लिए पत्नी का सहचार अनिवार्य न था प्रत्युत त्याग में एक दूसरे का संबन्ध विच्छेद हो जाता था। जब कि प्रवर्तक धर्म में इससे सब कुछ उल्टा था। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में गार्हस्थ्य और त्यागाश्रम की प्रधानतावाले जो संवाद पाये जाते हैं वे उक्त दोनों धर्मों के विरोधसूचक हैं। प्रत्येक निवृत्ति धर्मवाले के दर्शन के सूत्र-ग्रन्थों में मोक्ष को ही पुरुषार्थ लिखा है जब कि याज्ञिक मार्ग के सब विधान स्वर्गलक्षी बतलाए हैं। आगे जाकर अनेक अंशों में उन दोनों धर्मों का समन्वय भी हो गया है।

है, वह सब इसी त्रिपुरुषार्थवादी दल के मन्तव्य का सूचक है। इसका मन्तव्य संक्षेप में यह है कि धर्म-शुभकर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभकर्म का फल नरक आदि है। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हीं के द्वारा जन्म-जन्मान्तर की चक्रप्रवृत्ति चला करती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। शक्य इतना ही है कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना हो तो धर्म ही कर्तव्य है। इस मत के अनुसार अधर्म या पाप तो हेय हैं, पर धर्म या पुण्य हेय नहीं। यह दल सामाजिक व्यवस्था का समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य शिष्ट एवं विहित आचरणों से धर्म की उत्पत्ति बतलाकर तथा निन्द्य आचरणों से अधर्म की उत्पत्ति बतलाकर सब तरह की सामाजिक सुव्यवस्था का ही संकेत करता था वही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कर्मवादियों का दूसरा दल उपर्युक्त दल से बिलकुल विरुद्ध दृष्टि रखने वाला था। यह मानता था कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्टसम्मत एवं विहित कर्मों के आचरण से धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है। पर वह धर्म भी अधर्म की तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है जो मोक्ष कहलाता है। इसका कथन है कि एकमात्र मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है और मोक्ष के वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप, हेय है। यह नहीं कि कर्म का उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्न से वह भी शक्य है। जहाँ कहीं निवर्तक धर्म का उल्लेख आता है वहाँ सर्वत्र इसी मत का सूचक है। इसके मतानुसार जब आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य और इष्ट है तब इसे प्रथम दल की दृष्टि के विरुद्ध ही कर्म की उत्पत्ति का असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्म का मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नहीं; किन्तु अज्ञान और राग-द्वेष है। कैसा ही शिष्टसम्मत और विहित सामाजिक आचरण क्यों न हो पर अगर वह अज्ञान एवं रागद्वेष मूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। इसके मतानुसार पुण्य और पाप का भेद स्थूल दृष्टि वालों के लिए है। तत्त्वतः पुण्य और पाप सब अज्ञान एवं राग-द्वेष-मूलक होने से अधर्म एवं हेय ही है। यह निवर्तक धर्मवादी दल सामाजिक न होकर व्यक्तिविकासवादी रहा। जब इसने कर्म का उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया तब इस कर्म के उच्छेदक एवं मोक्ष के जनक कारणों पर भी विचार करना पड़ा। इसी विचार के फलस्वरूप इसने जो कर्मनिवर्तक कारण स्थिर किये वही इस दल का निवर्तक धर्म है। प्रवर्तक और निवर्तक धर्म की दिशा बिलकुल परस्पर विरुद्ध है। एक का ध्येय सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और सुव्यवस्था का निर्माण है जब दूसरे का ध्येय निजी आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है, अतएव मात्र

आत्मगामी है। निवर्तक धर्म ही श्रमण, परिव्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामों से प्रसिद्ध है। कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं राग-द्वेष जनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय अज्ञानविरोधी सम्यग् ज्ञान और राग-द्वेषविरोधी रागद्वेषनाशरूप संयम ही स्थिर हुआ। बाकी के तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयम के ही साधनरूप से माने गए।

निवर्तक धर्मवादियों में अनेक पक्ष प्रचलित थे। यह पक्षभेद कुछ तो वादों की स्वभाव-मूलक उग्रता-मृदुता का आभारी था और कुछ अंशों में तत्त्वज्ञान की जुदी-जुदी प्रक्रिया पर भी अवलंबित था। ऐसे मूल में तीन पक्ष रहे जान पड़ते हैं। एक परमाणुवादी, दूसरा प्रधानवादी और तीसरा परमाणुवादी होकर भी प्रधान की छाया वाला था। इसमें से पहला परमाणुवादी मोक्ष समर्थक होने पर भी प्रवर्तकधर्म का उतना विरोधी न था जितने कि पिछले दो। यही पक्ष आगे जाकर न्याय-वैशेषिक दर्शनरूप से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा पक्ष प्रधानवादी था और वह आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति का समर्थक होने से प्रवर्तकधर्म अर्थात् श्रौत-स्मार्तकर्म को भी हेय बतलाता था। यही पक्ष सांख्य-योग नाम से प्रसिद्ध है और इसी के तत्त्वज्ञान की भूमिका के ऊपर तथा इसी के निवृत्तिवाद की छाया में आगे जाकर वेदान्तदर्शन और संन्यासमार्ग की प्रतिष्ठा हुई। तीसरा पक्ष प्रधान-च्छायापन्न अर्थात् परिणामी परमाणुवादी का रहा जो दूसरे पक्ष की तरह ही प्रवर्तकधर्मका आत्यन्तिक विरोधी था। यही पक्ष जैन एवं निर्ग्रन्थ दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धदर्शन प्रवर्तक धर्म का आत्यन्तिक विरोधी है पर वह दूसरे और तीसरे पक्ष के मिश्रण का एक उत्तरवर्ती स्वतन्त्र विकास है। पर सभी निवर्तकवादियों का सामान्य लक्षण यह है कि किसी न किसी प्रकार कर्मों की जड़ नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहाँ से फिर जन्मचक्र में आना न पड़े।

ऐसा मालूम नहीं होता है कि कभी मात्र प्रवर्तकधर्म प्रचलित रहा हो और निवर्तक धर्मवाद का पीछे से प्रादुर्भाव हुआ है। फिर भी प्रारम्भिक समय ऐसा जरूर बीता है जब कि समाज में प्रवर्तक धर्म की प्रतिष्ठा मुख्य थी और निवर्तक धर्म व्यक्तियों तक ही सीमित होने के कारण प्रवर्तक धर्मवादियों की तरफ से न केवल उपेक्षित ही था बल्कि उससे विरोध की चोटें भी सहता रहा। पर निवर्तक धर्मवादियों की जुदी-जुदी परम्पराओं ने ज्ञान, ध्यान, तप, योग, भक्ति आदि आभ्यन्तर तत्त्वों का क्रमशः इतना अधिक विकास किया कि फिर तो प्रवर्तकधर्म के होते हुए भी सारे समाज पर एक तरह से निवर्तकधर्म की ही प्रतिष्ठा की मुहर लग गई। और जहाँ देखो वहाँ निवृत्ति की चर्चा होने लगी और साहित्य भी निवृत्ति के विचारों से ही निर्मित एवं प्रचारित होने लगा।

निवर्तक धर्मवादियों को मोक्ष के स्वरूप तथा उसके साधनों के विषय में तो ऊहापोह करना ही पड़ता था पर इसके साथ उनको कर्मतत्त्वों के विषय में भी बहुत विचार करना पड़ा। उन्होंने कर्म तथा उसके भेदों की परिभाषाएँ एवं व्याख्याएं स्थिर कीं। कार्य और कारण की दृष्टि से कर्मतत्त्व का विविध वर्गीकरण किया। कर्म की फलदान शक्तियों का विवेचन किया। जुदे-जुदे विपाकों की काल मर्यादाएँ सोचीं। कर्मों के पारस्परिक संबंध पर भी विचार किया। इस तरह निवर्तक धर्मवादियों का खासा कर्मतत्त्वविषयक शास्त्र व्यवस्थित हो गया और इसमें दिन प्रतिदिन नए-नए प्रश्नों और उनके उत्तरों के द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा। ये निवर्तक धर्मवादी जुदे-जुदे पक्ष अपने सुभीते के अनुसार जुदा-जुदा विचार करते रहे पर जबतक इन सब का संमिलित ध्येय प्रवर्तक धर्मवाद का खण्डन रहा तब तक उनमें विचार विनिमय भी होता रहा और उनमें एकवाक्यता भी रही। यही सबब है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, जैन और बौद्ध दर्शन के कर्मविषयक साहित्य में परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदि का शब्दशः और अर्थशः साम्य बहुत कुछ देखने में आता है, जब कि उक्त दर्शनों का मौजूदा साहित्य उस समय की अधिकांश पैदाइश है जिस समय कि उक्त दर्शनों का परस्पर सद्भाव बहुत कुछ घट गया था। मोक्षवादियों के सामने एक जटिल समस्या पहले से यह थी कि एक तो पुराने बद्धकर्म ही अनन्त हैं, दूसरे उनका क्रमशः फल भोगने के समय प्रत्येकक्षण में नए-नए भी कर्म बंधते हैं, फिर इन सब कर्मों का सर्वथा उच्छेद कैसे संभव है, इस समस्या का हल भी मोक्षवादियों ने बड़ी खूबी से किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनों के साहित्य में उस हल का वर्णन संक्षेप या विस्तार से एक-सा पाते हैं। यह वस्तुस्थिति इतना सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि कभी निवर्तकवादियों के भिन्न-भिन्न पक्षों में खूब विचार विनिमय होता था। यह सब कुछ होते हुए भी धीरे-धीरे ऐसा समय आ गया जब कि ये निवर्तकवादी पक्ष आपस में प्रथम जितने नजदीक न रहे। फिर भी हरएक पक्ष कर्मतत्त्व के विषय में ऊहापोह तो करता ही रहा। इस बीच में ऐसा भी हुआ कि किसी निवर्तकवादी पक्ष में एक खासा कर्मचिन्तक वर्ग ही स्थिर हो गया जो मोक्षसंबंधी प्रश्नों की अपेक्षा कर्म के विषय में ही गहरा विचार करता था और प्रधानतया उसी का अध्ययन-अध्यापन करता था जैसा कि अन्य-अन्य विषय के खास चिन्तक वर्ग अपने-अपने विषय में किया करते थे और आज भी करते हैं। वही मुख्यतया कर्मशास्त्र का चिन्तक-वर्ग जैन दर्शन का कर्मशास्त्रानुयोगधर वर्ग या कर्मसिद्धान्तज्ञ वर्ग है।

कर्म के बंधक कारणों तथा उसके उच्छेदक उपायों के बारे में तो सब

मोक्षवादी गौणमुख्यभाव से एकमत ही हैं पर कर्मतत्त्व के स्वरूप के बारे में ऊपर निर्दिष्ट खास कर्मचिन्तक वर्ग का जो मन्तव्य है उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी मोक्षमार्गी वैशेषिक आदि कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतन-धर्म बतलाते थे जब कि प्रधानवादी सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़धर्म बतलाते थे। परन्तु आत्मा और परमाणु को परिणामी माननेवाले जैन चिन्तक अपनी जुदी प्रक्रिया के अनुसार कर्म को चेतन और जड़ उभय के परिणाम रूप से उभय रूप मानते थे। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी सांख्य के प्राकृत अन्त करण की तरह संकोच विकासशील था, जिसमें कर्मरूप विकार भी संभव है और जो जड़ परमाणुओं के साथ एकरस भी हो सकता है। वैशेषिक आदि के मतानुसार कर्म चेतनधर्म होने से वस्तुतः चेतन से जुदा नहीं और सांख्य के अनुसार कर्म प्रकृति धर्म होने से वस्तुतः जड़ से जुदा नहीं। जब कि जैन चिन्तकों के मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड़ उभय रूप ही फलित होता है जिसे वे भाव और द्रव्यकर्म भी कहते हैं। यह सारी कर्मतत्त्व संबंधी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है जब कि कर्मतत्त्व के चिन्तकों में परस्पर विचारविनिमय अधिकाधिक होता था। वह समय कितना पुराना है यह निश्चय रूप से तो कहा ही नहीं जा सकता पर जैनदर्शन में कर्मशास्त्र का जो चिरकाल से स्थान है, उस शास्त्र में जो विचारों की गहराई, शृंखलाबद्धता तथा सूक्ष्माति-सूक्ष्म भावों का असाधारण निरूपण है इसे ध्यान में रखने से यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैनदर्शन की विशिष्ट कर्मविद्या भगवान् पार्श्वनाथ के पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्या के धारक कर्मशास्त्रज्ञ कहलाए और यही विद्या आग्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवाद पूर्व के नाम से विश्रुत हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वशब्द का मतलब भगवान् महावीर के पहले से चला आनेवाला शास्त्र-विशेष है। निःसंदेह ये पूर्व वस्तुतः भगवान् पार्श्वनाथ के पहले से ही एक या दूसरे रूप में प्रचलित रहे। एक ओर जैन चिन्तकों ने कर्मतत्त्व के चिन्तन की ओर बहुत ध्यान दिया जब कि दूसरी ओर सांख्य-योग ने ध्यानमार्ग की ओर सविशेष ध्यान दिया। आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए तब उन्होंने भी ध्यान पर ही अधिक भार दिया। पर सबों ने विरासत में मिले कर्मचिन्तन को अपना रखा। यही सबब है कि सूक्ष्मता और विस्तार में जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है। फिर भी सांख्य–योग, बौद्ध आदि दर्शनों के कर्मचिन्तनों के साथ उसका बहुत कुछ साम्य है और मूल में एकता भी है जो कर्मशास्त्र के अभ्यासियों के लिए ज्ञातव्य है।

ई० १९४१] [पंचम कर्मग्रन्थ का 'पूर्वकथन'

—:*:—

कर्मवाद

कर्मवाद का मानना यह है कि सुखः-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, ऊँच-नीच आदि जो अनेक अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनके होने में काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि अन्य-अन्य कारणों की तरह कर्म भी एक कारण है। परन्तु अन्य दर्शनों की तरह कर्मवाद-प्रधान जैन-दर्शन ईश्वर को उक्त अवस्थाओं का या सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नहीं मानता। दूसरे दर्शनों में किसी समय सृष्टि का उत्पन्न होना माना गया है, अतएव उनमें सृष्टि की उत्पत्ति के साथ किसी न किसी तरह का ईश्वर का संबन्ध जोड़ दिया गया है। न्यायदर्शन में कहा है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते हैं—'तत्कारित्वादहेतुः'।—गौतमसूत्र अ० ४ आ० १ सू० २१।

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानकर, उसके स्वरूप का वर्णन किया है—देखो, प्रशस्तपाद-भाष्य पृ० ४८।

योगदर्शन में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम–जड़ जगत का फैलाव माना है—देखो, समाधिपाद सू० २४ का भाष्य व टीका।

और श्री शङ्कराचार्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में, उपनिषद् के आधार पर जगह-जगह ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण सिद्ध किया है; जैसे—'चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम्।'—ब्रह्म० २–१–२६ का भाष्य। 'तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम्।'—ब्रह्म० अ० २ पा० ३ अ० १ सू० ६ का भाष्य। 'अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद् ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते।'—ब्रह्म० अ० २ पा० ३ अ० १ सू० ७ का भाष्य।

परन्तु जीवों से फल भोगवाने के लिए जैन दर्शन ईश्वर को कर्म का प्रेरक नहीं मानता। क्योंकि कर्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे जीव कर्म करने में स्वतन्त्र

है वैसे ही उसके फल को भोगने में भी। कहा है कि–'यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च। संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः' ॥१॥ इसी प्रकार जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नहीं मानता, क्योंकि उसके मत से सृष्टि अनादि अनन्त होने से वह कभी अपूर्व उत्पन्न नहीं हुई तथा वह स्वयं ही परिणमनशील है इसलिए ईश्वर के अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखती।

कर्मवाद पर होनेवाले मुख्य आक्षेप और उनका समाधान

ईश्वर को कर्त्ता या प्रेरक माननेवाले, कर्मवाद पर नीचे लिखे तीन आक्षेप करते हैं—

[१] घड़ी, मकान आदि छोटी-मोटी चीजें यदि किसी व्यक्ति के द्वारा ही निर्मित होती हैं तो फिर सम्पूर्ण जगत्, जो कार्यरूप दिखाई देता है, उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिए।

[२] सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर कोई बुरे कर्म का फल नहीं चाहता और कर्म स्वयं जड़ होने से किसी चेतन की प्रेरणा के बिना फल देने में असमर्थ हैं। इसलिए कर्मवादियों को भी मानना चाहिए कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्म-फल भोगवाता है।

[३] ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए कि जो सदा से मुक्त हो, और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी जिसमें कुछ विशेषता हो। इसलिए कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

पहिले आक्षेप का समाधान—यह जगत् किसी समय नया नहीं बना, वह सदा ही से है। हाँ इसमें परिवर्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनके होने में मनुष्य आदि प्राणीवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है; तथा ऐसे परिवर्तन भी होते हैं कि जिनमें किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। वे जड़ तत्त्वों के तरह-तरह के संयोगों से—उष्णता, वेग, क्रिया आदि शक्तियों से बनते रहते हैं। उदाहरणार्थ मिट्टी, पत्थर आदि चीजों के इकट्ठा होने से छोटे-मोटे टीले या पहाड़ का बन जाना; इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उनका नदी रूप में बहना; भाप का पानी रूप में बरसना और फिर से पानी का भाप रूप बन जाना इत्यादि। इसलिए ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने की कोई जरूरत नहीं है।

दूसरे आक्षेप का समाधान—प्राणी जैसा कर्म करते हैं वैसा फल उनको कर्म द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ हैं और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल

नहीं चाहते यह ठीक है, पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि जीव के—चेतन—के संग से कर्म में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे-बुरे विपाकों को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नहीं मानता कि चेतन के संबन्ध के सिवाय ही जड़ कर्म भोग देने में समर्थ है। वह इतना ही कहता है कि फल देने के लिए ईश्वर रूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि सभी जीव चेतन हैं वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी बात, केवल चाहना न होने ही से किए कर्म का फल मिलने से रुक नहीं सकता। सामग्री इकट्ठी हो गई फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे, सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? ईश्वरकर्तृत्ववादी कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना-अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते हैं। इस पर कर्मवादी कहते हैं कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते हैं और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रकट करते हैं।

तीसरे आक्षेप का समाधान—ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन; फिर उनमें अन्तर ही क्या है? हाँ अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं। पर जिस समय जीव अपने आवरणों को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूप में प्रकाशित हो जाती हैं। फिर जीव और ईश्वर में विषमता किस बात की? विषमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है? विषमता का राज्य संसार तक ही परिमित है आगे नहीं। इसलिए कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं; केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिए उचित नहीं। सभी आत्मा तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही हैं, केवल बन्धन के कारण वे छोटे-मोटे जीव रूप में देखे जाते हैं—यह सिद्धान्त सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिए पूर्ण बल देता है।

व्यवहार और परमार्थ में कर्मवाद की उपयोगिता

इस लोक से या परलोक से संबन्ध रखनेवाले किसी काम में जब मनुष्य

प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्न का सामना करना न पड़े। सब कामों में सबको थोड़े बहुत प्रमाण में शारीरिक या मानसिक विघ्न आते ही हैं। ऐसी दशा में देखा जाता है कि बहुत लोग चंचल हो जाते हैं। घबड़ा कर दूसरों को दूषित ठहरा उन्हें कोसते हैं। इस तरह विपत्ति के समय एक तरफ बाहरी दुश्मन बढ़ जाते हैं और दूसरी तरफ बुद्धि अस्थिर होने से अपनी भूल दिखाई नहीं देती। अन्त को मनुष्य व्यग्रता के कारण अपने आरम्भ किये हुए सब कामों को छोड़ बैठता है और प्रयत्न तथा शक्ति के साथ न्याय का भी गला घोंटता है। इसलिए उस समय उस मनुष्य के लिए एक ऐसे गुरु की आवश्यकता है कि जो उसके बुद्धि-नेत्र को स्थिर कर उसे देखने में मदद पहुँचाए कि उपस्थित विघ्न का असली करण क्या है ? जहाँ तक बुद्धिमानों ने विचार किया है यही पता चला है कि ऐसा गुरु, कर्म का सिद्धान्त ही है। मनुष्य को यह विश्वास करना चाहिए कि चाहे मैं जान सकूँ या नहीं, लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझ में ही होना चाहिए।

जिस हृदय-भूमिका पर विघ्न-विष-वृक्ष उगता है उसका बीज भी उसी भूमिका में बोया हुआ होना चाहिए। पवन, पानी आदि बाहरी निमित्तों के समान उस विघ्न विष-वृक्ष को अंकुरित होने में कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकता है, पर वह विघ्न का बीज नहीं—ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धिनेत्र को स्थिर कर देता है जिससे वह अड़चन के असली कारण को अपने में देख, न तो उसके लिए दूसरे को कोसता है और न घबड़ाता है। ऐसे विश्वास से मनुष्य के हृदय में इतना बल प्रकट होता है कि जिससे साधारण संकट के समय विह्वल होनेवाला वह बड़ी विपत्तियों को कुछ नहीं समझता और अपने व्यावहारिक या पारमार्थिक काम को पूरा ही कर डालता है।

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिए परिपूर्ण हार्दिक शान्ति प्राप्त करनी चाहिए, जो एक मात्र कर्म के सिद्धान्त ही से हो सकती है। आँधी और तूफान में जैसे हिमालय का शिखर स्थिर रहता है वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओं के समय शान्त भाव में स्थिर रहना, यही सच्चा मनुष्यत्व है जो कि भूतकाल के अनुभवों से शिक्षा देकर मनुष्य को अपनी भावी भलाई के लिए तैयार करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा मनुष्यत्व, कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास किये बिना कभी आ नहीं सकता। इससे यही कहना पड़ता है कि क्या व्यवहार—क्या परमार्थ सब जगह कर्म का सिद्धान्त एक-सा उपयोगी है। कर्म के सिद्धान्त की श्रेष्ठता के संबन्ध में डा० मेक्समूलर का जो विचार है वह जानने योग्य है। वे कहते हैं—

'यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य-जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिए नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थशास्त्र का बल-संरक्षण संबन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नीतिशिक्षा के आस्तित्व के संबन्ध में कितनी ही शङ्का क्यों न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सब से अधिक जगह माना गया है, उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य जीवन को सुधारने में उत्तेजन मिला है।'

कर्मवाद के समुत्थान का काल और उसका साध्य

कर्मवाद के विषय में दो प्रश्न उठते हैं—[१] कर्म-वाद का आविर्भाव कब हुआ ? [२] और क्यों ?

पहले प्रश्न का उत्तर दो दृष्टियों से दिया जा सकता है—(१) परंपरा और (२) ऐतिहासिक दृष्टि

(१) परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है कि जैन धर्म और कर्मवाद का आपस में सूर्य और किरण का सा मेल है। किसी समय, किसी देश विशेष में जैन धर्म का अभाव भले ही दीख पड़े; लेकिन उसका अभाव सब जगह एक साथ कभी नहीं होता। अतएव सिद्ध है कि कर्मवाद भी प्रवाह-रूप से जैनधर्म के साथ-साथ अनादि है अर्थात् वह अभूतपूर्व नहीं है।

(२) परन्तु जैनेतर जिज्ञासु और इतिहास-प्रेमी जैन, उक्त परम्परा को बिना ननु-नच किये मानने के लिए तैयार नहीं। साथ ही वे लोग ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर दिये गए उत्तर को मान लेने में तनिक भी नहीं सकुचाते। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि इस समय जो जैनधर्म श्वेताम्बर या दिगम्बर शाखारूप से वर्तमान है, इस समय जितना जैन-तत्त्व-ज्ञान है और जो विशिष्ट परम्परा है वह सब भगवान् महावीर के विचार का चित्र है। समय के प्रभाव से मूल वस्तु में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, तथापि धारणाशील और रक्षण-शील

जैन-समाज के लिए इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि उसने तत्त्व-ज्ञान के प्रदेश में भगवान् महावीर के उपदिष्ट तत्त्वों से न तो अधिक गवेषणा की है और न ऐसा सम्भव ही था। परिस्थिति के बदल जाने से चाहे शास्त्रीय भाषा और प्रतिपादन शैली, मूल प्रवर्तक की भाषा और शैली से कुछ बदल गई हो; परन्तु इतना सुनिश्चित है कि मूल तत्त्वों में और तत्त्व-व्यवस्था में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है। अतएव जैन-शास्त्र के नयवाद, निक्षेपवाद, स्याद्वाद, आदि अन्य वादों के समान कर्मवाद का आविर्भाव भी भगवान् महावीर से हुआ है—यह मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती। वर्तमान जैन-आगम, किस समय और किसने रचे, यह प्रश्न एतिहासिकों की दृष्टि से भले ही विवादास्पद हो; लेकिन उनको भी इतना तो अवश्य मान्य है कि वर्तमान जैन-आगम के सभी विशिष्ट और मुख्यवाद, भगवान् महावीर के विचार की विभूति है। कर्मवाद, यह जैनों का असाधारण व मुख्यवाद है इसलिए उसके भगवान् महावीर से आविर्भूत होने के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए २४४८ वर्ष बीते। अतएव वर्तमान कर्मवाद के विषय में यह कहना कि इसे उत्पन्न हुए ढाई हजार वर्ष हुए, सर्वथा प्रामाणिक है। भगवान् महावीर के शासन के साथ कर्मवाद का ऐसा संबन्ध है कि यदि वह उससे अलग कर दिया जाए तो उस शासन में शासनत्व (विशेषत्व) ही नहीं रहता—इस बात को जैनधर्म का सूक्ष्म अवलोकन करनेवाले सभी ऐतिहासिक भलीभाँति जानते हैं।

इस जगह यह कहा जा सकता है कि 'भगवान् महावीर के समान, उनसे पूर्व, भगवान् पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि हो गए हैं। वे भी जैनधर्म के स्वतन्त्र प्रवर्तक थे और सभी ऐतिहासिक उन्हें जैनधर्म के धुरंधर नायकरूप से स्वीकार भी करते हैं। फिर कर्मवाद के आविर्भाव के समय को उक्त समय-प्रमाण से बढ़ाने में क्या आपत्ति है?' परन्तु इस पर कहना यह है कि कर्मवाद के उत्थान के समय के विषय में जो कुछ कहा जाए वह ऐसा हो कि जिसके मानने में किसी को किसी प्रकार की आनाकानी न हो। यह बात भूलना न चाहिए कि भगवान् नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ आदि जैनधर्म के मुख्य प्रवर्तक हुए और उन्होंने जैन शासन को प्रवर्तित भी किया; परन्तु वर्तमान जैन-आगम, जिन पर इस समय जैनशासन अवलम्बित है वे उनके उपदेश की सम्पत्ति नहीं। इसलिए कर्मवाद के समुत्थान का ऊपर जो समय दिया गया है उसे अशङ्कनीय समझना चाहिए।

दूसरा प्रश्न—यह है कि कर्मवाद का आविर्भाव किस प्रयोजन से हुआ इसके उत्तर में निम्नलिखित तीन प्रयोजन मुख्यतया बतलाए जा सकते हैं—

(१) वैदिकधर्म की ईश्वर-संबन्धिनी मान्यता में जितना अंश भ्रान्त था उसे दूर करना।

(२) बौद्ध-धर्म के एकान्त क्षणिकवाद को अयुक्त बतलाना।

(३) आत्मा को जड़ तत्त्वों से भिन्न-स्वतन्त्र तत्त्व स्थापित करना।

इसके विशेष खुलासे के लिए यह जानना चाहिए कि आर्यावर्त्त में भगवान् महावीर के समय कौन-कौन धर्म थे और उनका मन्तव्य क्या था।

१—इतिहास बतलाता है कि उस समय भारतवर्ष में जैन के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध दो ही धर्म मुख्य थे; परन्तु दोनों के सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयों में बिलकुल जुदे थे। मूल[1] वेदों में, उपनिषदों[2] में, स्मृतियों[3] में और वेदानुयायी कतिपय दर्शनों में ईश्वर विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्व साधारण का यह विश्वास हो गया था कि जगत् का उत्पादक ईश्वर ही है; वही अच्छे या बुरे कर्मों का फल जीवों से भोगवाता है; कर्म, जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल भोगवा नहीं सकते; चाहे कितनी ही उच्च कोटि का जीव हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर हो नहीं सकता; अन्त को जीव, जीव ही है, ईश्वर नहीं और ईश्वर के अनुग्रह के सिवाय संसार से निस्तार भी नहीं हो सकता; इत्यादि।

१—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः... ॥

—ऋ० म० १० सू० १६ मं ३.।

२—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

—तैति० ३–१.।

३—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्व्वतः ॥ १–५ ॥
ततस्स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ १–६ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १–८ ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः ॥ १–९ ॥

—मनुस्मृति।

इस प्रकार के विश्वास में भगवान् महावीर को तीन भूलें जान पड़ीं—

(१) कृतकृत्य ईश्वर का बिना प्रयोजन सृष्टि में हस्तक्षेप करना।

(२) आत्म-स्वातंत्र्य का दब जाना।

(३) कर्म की शक्ति का अज्ञान।

इन भूलों को दूर करने के लिए व यथार्थ वस्तुस्थिति बताने के लिए भगवान् महावीर ने बड़ी शान्ति व गम्भीरतापूर्वक कर्मवाद का उपदेश दिया।

२—यद्यपि उस समय बौद्ध धर्म भी प्रचलित था, परन्तु उसमें भी ईश्वर कर्तृत्व का निषेध था। बुद्ध का उद्देश्य मुख्यतया हिंसा को रोक, समभाव फैलाने का था। उनकी तत्त्व-प्रतिपादन सरणी भी तत्कालीन उस उद्देश्य के अनुरूप ही थी। बुद्ध भगवान् स्वयं, [1]कर्म और उसका [2]विपाक मानते थे, लेकिन उनके सिद्धान्तमें क्षणिकवाद को स्थान था। इसलिए भगवान महावीर के कर्मवाद के उपदेश का एक यह भी गूढ़ साध्य था कि 'यदि आत्मा को क्षणिक मात्र नाम लिया जाए तो कर्म-विपाक की किसी तरह उपपत्ति हो नहीं सकती। स्वकृत कर्म का भोग और परकृत्त कर्म के भोग का अभाव तभी घट सकता है, जब कि आत्मा को न तो एकान्त नित्य माना जाए और न एकान्त क्षणिक।

३—आजकल की तरह उस समय भी भूतात्मवादी मौजूद थे। वे भौतिक देह नष्ट होने के बाद कृतकर्म-भोगी पुनर्जन्मवान् किसी स्थायी तत्त्व को नहीं मानते थे यह दृष्टि भगवान महावीर को बहुत संकुचित जान पड़ी। इसी से उसका निराकरण उन्होंने कर्मवाद द्वारा किया।

कर्मशास्त्र का परिचय

यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में कर्म संबन्धी विचार है, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य में दृष्टि-गोचर नहीं होता। इसके विपरीत जैनदर्शन में कर्म-संबन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अतिविस्तृत हैं। अतएव उन विचारों का प्रतिपादक शास्त्र, जिसे 'कर्मशास्त्र' या 'कर्म-विषयक साहित्य' कहते हैं, उसने जैन-साहित्य के बहुत बड़े भाग को रोक

---

१. कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा।
कम्मनिबंधना सत्ता रथस्साणीव यायतो॥
—सुत्तनिपात, वासेठसुत्त, ६१।

२. यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादा भविस्सामि।
—अंगुत्तरनिकाय।

रखा है। कर्म-शास्त्र को जैन-साहित्य का हृदय कहना चाहिए। यों तो अन्य विषयक जैन-ग्रन्थों में भी कर्म की थोड़ी बहुत चर्चा पाई जाती है पर उसके स्वतंत्र ग्रन्थ भी अनेक हैं। भगवान् महावीर ने कर्मवाद का उपदेश दिया। उसकी परम्परा अभी तक चली आती है, लेकिन सम्प्रदाय-भेद, सङ्कलना और भाषा की दृष्टि से उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है।

१. **सम्प्रदाय-भेद**—भगवान् महावीर का शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं में विभक्त हुआ। उस समय कर्मशास्त्र भी विभाजित सा हो गया। सम्प्रदाय भेद की नींव, ऐसे वज्र-लेप भेद पर पड़ी है कि जिससे अपने पितामह भगवान् महावीर के उपदिष्ट कर्म-तत्त्व पर, मिलकर विचार करने का पुण्य अवसर, दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों को कभी प्राप्त नहीं हुआ। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय में कुछ मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दों में, उनकी व्याख्याओं में और कहीं-कहीं तात्पर्य में थोड़ा बहुत भेद हो गया, जिसका कुछ नमूना पाठक परिशिष्ट में देख सकेंगे—देखो, प्रथम कर्मग्रन्थ का परिशिष्ट।

२. **संकलना**—भगवान् महावीर के समय से अब तक में कर्मशास्त्रकी जो उत्तरोत्तर संकलना होती आई है, उसके स्थूल दृष्टि से तीन विभाग बतलाये जा सकते हैं।

(क) **पूर्वात्मक कर्मशास्त्र**—यह भाग सबसे बड़ा और सबसे पहला है। क्योंकि इसका अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक कि पूर्व-विद्या विच्छिन्न नहीं हुई थी। भगवान् महावीर के बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक-ह्रास-रूप से पूर्व विद्या वर्तमान रही। चौदह में से आठवाँ पूर्व, जिसका नाम **'कर्मप्रवाद'** है वह तो मुख्यतया कर्म-विषयक ही था, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा पूर्व, जिसका नाम **'अग्रायणीय'** है, उसमें भी कर्म तत्त्व के विचार का एक **'कर्मप्राभृत'** नामक भाग था। इस समय श्वेताम्बर या दिगम्बर के साहित्य में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अंश वर्तमान नहीं है।

(ख) **पूर्व से उद्धृत यानी आकररूप कर्मशास्त्र**—यह विभाग, पहले विभाग से बहुत छोटा है तथापि वर्तमान अभ्यासियों के लिए वह इतना बड़ा है कि उसे आकर कर्मशास्त्र कहना पड़ता है। यह भाग, साक्षात् पूर्व से उद्धृत है ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों के ग्रन्थों में पाया जाता है। पूर्व में से उद्धृत किये गए कर्मशास्त्र का अंश, दोनों सम्प्रदाय में अभी वर्तमान है। उद्धार के समय संप्रदाय भेद रूढ़ हो जाने के कारण उद्धृत अंश, दोनों सम्प्रदायों में कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में १ कर्मप्रकृति, २ शतक,

३ पञ्चसंग्रह और ४ सप्ततिका ये चार ग्रंथ और दिगम्बर सम्प्रदाय में १ महाकर्मप्रकृतिप्राभृत तथा २ कषायप्राभृत ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं।

(ग) प्राकरणिक कर्मशास्त्र—यह विभाग, तीसरी संकलना का फल है इसमें कर्म-विषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इन्हीं प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन इस समय विशेषतया प्रचलित है। इन प्रकरणों को पढ़ने के बाद मेधावी अभ्यासी 'आकर ग्रन्थों' को पढ़ते हैं। 'आकर ग्रन्थों' में प्रवेश करने के लिए पहले प्राकरणिक विभाग का अवलोकन करना जरूरी है। यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र का विभाग, विक्रम की आठवीं-नववीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक में निर्मित व पल्लवित हुआ है।

३. भाषा—भाषा-दृष्टि से कर्मशास्त्र को तीन हिस्सों में विभाजित कर सकते हैं—(क) प्राकृत भाषा में, (ख) संस्कृत भाषा में और (ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषाओं में।

(क) प्राकृत—पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र, इसी भाषा में बने हैं। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुत बड़ा भाग प्राकृत भाषा ही में रचा हुआ मिलता है। मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके ऊपर टीका-टिप्पणी भी प्राकृत भाषाओं में हैं।

(ख) संस्कृत—पुराने समय में जो कर्मशास्त्र बना है वह सब प्राकृत ही में है, किन्तु पीछे से संस्कृत भाषा में भी कर्मशास्त्र की रचना होने लगी। बहुत कर संस्कृत भाषा में कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पण आदि ही लिखे गए हैं, पर कुछ मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र दोनों सम्प्रदाय में ऐसे भी हैं जो संस्कृत भाषा में रचे हुए हैं।

(ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषाएँ—इनमें मुख्यतया कर्णाटकी, गुजराती और राजस्थानी-हिन्दी, तीन भाषाओं का समावेश है। इन भाषाओं में मौलिक ग्रन्थ नाम मात्र के हैं। इनका उपयोग, मुख्यतया मूल तथा टीका के अनुवाद करने ही में किया गया है। विशेषकर इन प्रादेशिक भाषाओं में वही टीका-टिप्पण-अनुवाद आदि हैं जो प्राकरणिक कर्मशास्त्र-विभाग पर लिखे हुए हैं। कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्बर साहित्य ने लिया है और गुजराती भाषा श्वेताम्बरीय साहित्य में उपयुक्त हुई है।

आगे चलकर 'श्वेताम्बरीय कर्म विषयक ग्रंथ' और 'दिगम्बरीय कर्मविषयक ग्रन्थ' शीर्षक दो कोष्ठक दिये जाते हैं, जिनमें उन कर्मविषयक ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण है जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय साहित्य में अभी वर्तमान हैं या जिनका पता चला है—देखो, कोष्ठक के लिए प्रथम कर्मग्रन्थ।

कर्मशास्त्र में शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि पर विचार

शरीर, जिन तत्त्वों से बनता है वे तत्त्व, शरीर के सूक्ष्म स्थूल आदि प्रकार, उसकी रचना, उसका वृद्धि-क्रम, ह्रास-क्रम आदि अनेक अंशों को लेकर शरीर का विचार, शरीर-शास्त्र में किया जाता है। इसी से उस शास्त्र का वास्तविक गौरव है। वह गौरव कर्मशास्त्र को भी प्राप्त है। क्योंकि उसमें भी प्रसंगवश ऐसी अनेक बातों का वर्णन किया गया है जो कि शरीर से संबन्ध रखती हैं। शरीर-संबन्धी ये बातें पुरातन पद्धति से कही हुई हैं सही, परन्तु इससे उनका महत्त्व कम नहीं। क्योंकि सभी वर्णन सदा नए नहीं रहते। आज जो विषय नया दिखाई देता है वही थोड़े दिनों के बाद पुराना हो जाएगा। वस्तुतः काल के बीतने से किसी में पुरानापन नहीं आता। पुरानापन आता है उसका विचार न करने से। सामयिक पद्धति से विचार करने पर पुरातन शोधों में भी नवीनता सी आ जाती है। इसलिए अतिपुरातन कर्मशास्त्र में भी शरीर की बनावट, उसके प्रकार, उसकी मजबूती और उसके कारणभूत तत्त्वों पर जो कुछ थोड़े बहुत विचार पाए जाते हैं, वह उस शास्त्र की यथार्थ महत्ता का चिह्न है।

इसी प्रकार कर्मशास्त्र में भाषा के संबन्ध में तथा इन्द्रियों के संबन्ध में भी मनोरंजक व विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा किस तत्त्व से बनती है? उसके बनने में कितना समय लगता है? उसकी रचना के लिए अपनी वीर्य्य-शक्ति का प्रयोग आत्मा किस तरह और किस साधन के द्वारा करता है? भाषा की सत्यता-असत्यता का आधार क्या है? कौन-कौन प्राणी भाषा बोल सकते हैं? किस-किस जाति के प्राणी में, किस-किस प्रकार की भाषा बोलने की शक्ति है? इत्यादि अनेक प्रश्न, भाषा से संबन्ध रखते हैं। उनका महत्वपूर्ण व गम्भीर विचार, कर्म शास्त्र में विशद रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रियां कितनी हैं? कैसी हैं? उनके कैसे-कैसे भेद तथा कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं? किस-किस प्राणी को कितनी-कितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हैं? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का आपस में क्या संबन्ध है? उनका कैसा-कैसा आकार है? इत्यादि अनेक प्रकार के इन्द्रियों से संबन्ध रखनेवाले विचार कर्म-शास्त्र में पाये जाते हैं।

यह ठीक है कि ये सब विचार उसमें संकलना-बद्ध नहीं मिलते, परन्तु ध्यान में रहे कि उस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य अंश और ही है। उसी के वर्णन में शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि का विचार प्रसंगवश करना पड़ता है। इसलिए जैसी संकलना चाहिए वैसी न भी हो, तथापि इससे कर्मशास्त्र की कुछ त्रुटि सिद्ध नहीं

होती; बल्कि उसको तो अनेक शास्त्रों के विषयों की चर्चा करने का गौरव ही प्राप्त है।

कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र है

अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पड़ता है। ऐसा न करने से यह प्रश्न सहज ही में उठता है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सुखी-दुःखी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओं का स्वरूप, ठीक-ठीक जाने बिना उसके पार का स्वरूप जानने की योग्यता, दृष्टि को कैसे प्राप्त हो सकती है? इसके सिवाय यह भी प्रश्न होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थाएँ ही आत्मा का स्वभाव क्यों नहीं है? इसलिए अध्यात्म-शास्त्र को आवश्यक है कि वह पहले, आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे बढ़े। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओं को कर्म-जन्य बतला कर उनसे आत्मा के स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशात्र, अध्यात्म-शास्त्र का ही एक अंश है। यदि अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाए तब भी कर्मशास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब तक अनुभव में आनेवाली वर्तमान अवस्थाओं के साथ आत्मा के संबन्ध का सच्चा खुलासा न हो तब तक दृष्टि, आगे कैसे बढ़ सकती है? जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के सब रूप, मायिक या वैभाविक हैं तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? उसी समय आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन सार्थक होता है। परमात्मा के साथ आत्मा का संबन्ध दिखाना यह भी अध्यात्मशास्त्र का विषय है। इस संबन्ध में उपनिषदों में या गीता में जैसे विचार पाये जाते हैं वैसे ही कर्मशास्त्र में भी। कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा वही परमात्मा—जीव ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा में मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्मा का अपने कर्मावृत परमात्मभाव को व्यक्त करके परमात्मरूप हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है इसका मतलब कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव में जितनी ज्ञान-कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना-चन्द्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिए।

धन, शरीर आदि बाह्य विभूतियों में आत्म-बुद्धि करना, अर्थात् जड़ में

अहंत्व करना, बाह्य दृष्टि है। इस अभेद-भ्रम को बहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोड़ने की शिक्षा, कर्म-शास्त्र देता है। जिनके संस्कार केवल बहिरात्मभावमय हो गए हैं उन्हें कर्म-शास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो, परन्तु इससे उसकी सच्चाई में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता।

शरीर और आत्मा के अभेद भ्रम को दूर करा कर, उस के भेद-ज्ञान को (विवेक-ख्याति को) कर्म-शास्त्र प्रकटाता है। इसी समय से अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने में वर्तमान परमात्म-भाव देखा जाता है। परमात्म-भाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव में लाना, यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म-भाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढंग से ही कर्म-शास्त्र ने अपने पर ले रखा है। क्योंकि वह अभेद-भ्रम से भेद ज्ञान की तरफ झुकाकर, फिर स्वाभाविक अभेदध्यान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खींचता है। बस उसका कर्तव्य-क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योग-शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी उसमें मिल जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। वही उसका महत्त्व है। बहुत लोगों को प्रकृतियों की गिनती, संख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नहीं होती, परन्तु इसमें कर्मशास्त्र का क्या दोष? गणित, पदार्थविज्ञान आदि गूढ़ व रस-पूर्ण विषयों पर स्थूलदर्शी लोगों की दृष्टि नहीं जमती और उन्हें रस नहीं आता, इसमें उन विषयों का क्या दोष? दोष है समझने वालों की बुद्धि का। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय में रस तभी आता है जब कि वह उसमें तल तक उतर जाए।

विषय-प्रवेश

कर्म-शास्त्र जानने की चाह रखनेवालों को आवश्यक है कि वे 'कर्म' शब्द का अर्थ, भिन्न-भिन्न शास्त्रों में प्रयोग किये गए उसके पर्याय शब्द, कर्म का स्वरूप, आदि निम्न विषयों से परिचित हो जाएँ तथा आत्म-तत्त्व स्वतन्त्र है यह भी जान लें।

१—कर्म शब्द के अर्थ

'कर्म' शब्द लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनों में प्रसिद्ध है। उसके अनेक अर्थ होते हैं। साधारण लोग अपने व्यवहार में काम, धंधे या व्यवसाय के मतलब से 'कर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं। शास्त्र में उसकी एक गति नहीं है। खाना, पीना, चलना, काँपना आदि किसी भी हल-चल के लिए—चाहे वह जीव की हो या जड़ की—कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कर्मकाण्डी मीमांसक, यज्ञ याग-आदि क्रिया-कलाप-अर्थ में; स्मार्त विद्वान्, ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य्य आदि चार आश्रमों के नियत कर्मरूप अर्थ में; पौराणिक लोग, व्रत नियम आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में; वैयाकरण लोग, कर्त्ता जिसको अपनी क्रिया के द्वारा पाना चाहता है उस अर्थ में—अर्थात् जिस पर कर्त्ता के व्यापार का फल गिरता है उस अर्थ में; और नैयायिक लोग उत्क्षेपण आदि पाँच सांकेतिक कर्मों में कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं। परन्तु जैन शास्त्र में कर्म शब्द से दो अर्थ लिये जाते हैं। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय (भाव कर्म) कहते हैं और दूसरा कार्मण जाति के पुद्गल विशेष, जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ चिपके हुए होते हैं और द्रव्य कर्म कहलाते हैं।

२—कर्म शब्द के कुछ पर्याय

जैन दर्शन में जिस अर्थ के लिए कर्म शब्द प्रयुक्त होता है उस अर्थ के अथवा उससे कुछ मिलते-जुलते अर्थ के लिए जैनेतर दर्शनों में ये शब्द मिलते हैं—माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शन में पाए जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैन-दर्शन में भाव-कर्म कहते हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमांसा दर्शन में मिलता है। 'वासना' शब्द बौद्ध दर्शन में प्रसिद्ध है, परन्तु योग दर्शन में भी उसका प्रयोग किया गया है। 'आशय' शब्द विशेष कर योग तथा सांख्य दर्शन में मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार, इन शब्दों का प्रयोग और दर्शनों में भी पाया जाता है, परन्तु विशेषकर न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं जो सब दर्शनों के लिए साधारण से हैं। जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं उनको पुनर्जन्म की सिद्धि—उपपत्ति के लिए कर्म मानना ही पड़ता है। चाहे उन दर्शनों की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के कारण या चेतन के स्वरूप में मतभेद होने के कारण कर्म का स्वरूप थोड़ा बहुत जुदा-जुदा जान पड़े; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी आत्मवादियों ने माया आदि उपर्युक्त किसी न किसी नाम से कर्म को अंगीकार किया ही है।

३—कर्म का स्वरूप

मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही 'कर्म' कहलाता है। कर्म का यह लक्षण उपर्युक्त भावकर्म व द्रव्यकर्म दोनों में

घटित होता है, क्योंकि भावकर्म आत्मा का या जीव का—वैभाविक परिणाम है, इससे उसका उपादान रूप कर्त्ता, जीव ही है और द्रव्यकर्म, जो कि कार्मण-जाति के सूक्ष्म पुद्गलों का विकार है उसका भी कर्त्ता, निमित्तरूप से जीव ही है। भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त। इस प्रकार उन दोनों का आपस में बीजाङ्कुर की तरह कार्य-कारण भाव संबन्ध है।

४—पुण्य-पाप की कसौटी

साधारण लोग कहा करते हैं कि 'दान, पूजन, सेवा आदि क्रियाओं के करने से शुभ कर्म का (पुण्य का) बन्ध होता है और किसी को कष्ट पहुँचाने, इच्छा-विरुद्ध काम करने आदि से अशुभ कर्म का (पाप का) बन्ध होता है। परन्तु पुण्य-पाप का निर्णय करने की मुख्य कसौटी यह नहीं है। क्योंकि किसी को कष्ट पहुँचाता हुआ और दूसरे की इच्छा-विरुद्ध काम करता हुआ भी मनुष्य, पुण्य उपार्जन कर सकता है। इसी तरह दान-पूजन आदि करने वाला भी पुण्य-उपार्जन न कर, कभी-कभी पाप बांध लेता है। एक परोपकारी चिकित्सक, जब किसी पर शस्त्र-क्रिया करता है तब उस मरीज को कष्ट अवश्य होता है, हितैषी माता-पिता नासमझ लड़के को जब उसकी इच्छा के विरुद्ध पढ़ाने के लिए यत्न करते हैं तब उस बालक को दुःख सा मालूम पड़ता है; पर इतने ही से न तो वह चिकित्सक अनुचित काम करने वाला माना जाता है और न हितैषी माता-पिता ही दोषी समझे जाते हैं। इसके विपरीत जब कोई, भोले लोगों को ठगने के इरादे से या और किसी तुच्छ आशय से दान पूजन आदि क्रियाओं को करता है तब वह पुण्य के बदले पाप बाँधता है। अतएव पुण्य-बन्ध या पाप-बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर की क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ता का आशय ही है। अच्छे आशय से जो काम किया जाता है वह पुण्य का निमित्त और बुरे अभिप्राय से जो काम किया जाता है वह पाप का निमित्त होता है। यह पुण्य-पाप की कसौटी सब को एक सी सम्मत है। क्योंकि यह सिद्धान्त सर्व-मान्य है कि—

'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।'

५—सच्ची निर्लेपता

साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप न लगेगा। इससे वे उस काम को तो छोड़ देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के

लेप से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। अतएव विचारना चाहिए कि सच्ची निर्लेपता क्या है ? लेप (बन्ध), मानसिक क्षोभ को अर्थात् कषाय को कहते हैं। यदि कषाय नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने के लिए समर्थ नहीं है। इससे उलटा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हज़ार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। कषाय-रहित वीतराग सब जगह जल में कमल की तरह निर्लेप रहते हैं पर कषायवान् आत्मा योग का स्वाँग रचकर भी तिल भर शुद्धि नहीं कर सकता। इसीसे यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धक नहीं होता। मतलब सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग में है। यही शिक्षा कर्म-शास्त्र से मिलती है और यही बात अन्यत्र भी कही हुई है:—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषया ऽसंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥'

—मैत्र्युपनिषद्

६—कर्म का अनादित्व

विचारवान् मनुष्य के दिल में प्रश्न होता है कि कर्म सादि है या अनादि ? इसके उत्तर में जैन दर्शन का कहना है कि कर्म, व्यक्ति की अपेक्षा से सादि और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी न किसी तरह की हलचल किया ही करता है। हलचल का होना ही कर्म-बन्ध की जड़ है। इससे यह सिद्ध है कि कर्म, व्यक्तिशः आदि वाले ही हैं। किन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला ? इसे कोई बतला नहीं सकता। भविष्यत् के समान भूतकाल की गहराई अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय और किसी तरह से होना असम्भव है। इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे बिना दूसरी गति ही नहीं है। कुछ लोग अनादित्व की अस्पष्ट व्याख्या की उलझन से घबड़ा कर कर्म प्रवाह को सादि बतलाने लग जाते हैं, पर वे अपनी बुद्धि की अस्थिरता से कल्पित दोष की आशंका करके, उसे दूर करने के प्रयत्न में एक बड़े दोष का स्वीकार कर लेते हैं। वह यह कि कर्म प्रवाह यदि आदिमान है तो जीव पहले ही अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध होना चाहिए, फिर उसे लिप्त होने का क्या कारण ? और यदि सर्वथा शुद्ध-बुद्ध जीव भी लिप्त हो जाता है तो मुक्त हुए जीव भी कर्म-लिप्त होंगे; ऐसी दशा में मुक्ति को सोया हुआ संसार ही कहना चाहिए। कर्म प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के फिर से संसार में न लौटने को सब प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं; जैसे—

न कर्माऽविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात् ॥ ३५ ॥
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

—ब्रह्मसूत्र अ० २ पा० १

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

—ब्र. सू. अ. ४ पा० ४

७—कर्मबन्ध का कारण

जैन दर्शन में कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार कारण बतलाये गए हैं। इनका संक्षेप पिछले दो (कषाय और योग) कारणों में किया हुआ भी मिलता है। अधिक संक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि कषाय ही कर्मबन्ध का कारण है। यों तो कषाय के विकार के अनेक प्रकार हैं पर, उन सबका संक्षेप में वर्गीकरण करके आध्यात्मिक विद्वानों ने उस के राग, द्वेष दो ही प्रकार किये हैं। कोई भी मानसिक विकार हो, या तो वह राग (आसक्ति) रूप या द्वेष (ताप) रूप है। यह भी अनुभव सिद्ध है कि साधारण प्राणियों की प्रवृत्ति, चाहे वह ऊपर से कैसी ही क्यों न दीख पड़े, पर वह या तो रागमूलक या द्वेषमूलक होती है। ऐसी प्रवृत्ति ही विविध वासनाओं का कारण होती है। प्राणी जान सके या नहीं, पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म सृष्टि का कारण, उसके राग और द्वेष ही होते हैं। मकड़ी, अपनी ही प्रवृत्ति से अपने किये हुए जाल में फँसती है। जीव भी कर्म के जाले को अपनी ही बे-समझी से रच लेता है। अज्ञान, मिथ्या-ज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते हैं सो भी राग-द्वेष के संबन्ध ही से। राग की या द्वेष की मात्रा बढ़ी कि ज्ञान, विपरीत रूप में बदलने लगा। इससे शब्द भेद होने पर भी कर्मबन्ध के कारण के संबन्ध में अन्य आस्तिक दर्शनों के साथ, जैन दर्शन का कोई मतभेद नहीं। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शन में मिथ्याज्ञान को, योगदर्शन में प्रकृति-पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि में अविद्या को तथा जैनदर्शन में मिथ्यात्व को कर्म का कारण बतलाया है, परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी को भी कर्म का कारण क्यों न कहा जाय, पर यदि उसमें कर्म की बन्धकता (कर्म लेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह राग-द्वेष के संबन्ध ही से। राग-द्वेष की न्यूनता या अभाव होते ही अज्ञानपन (मिथ्यात्व) कम होता या नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्तिपर्व के 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इस कथन में भी कर्म शब्द का मतलब राग-द्वेष ही से है।

८—कर्म से छूटने के उपाय

अब यह विचार करना जरूरी है कि कर्मपटल से आवृत अपने परमात्मभाव को जो प्रगट करना चाहते हैं उनके लिए किन-किन साधनों की अपेक्षा है।

जैन शास्त्र में परम पुरुषार्थ—मोक्ष—पाने के तीन साधन बतलाये हुए हैं—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यग्चारित्र। कहीं-कहीं ज्ञान और क्रिया, दो को ही मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थल में दर्शन को ज्ञानस्वरूप—ज्ञान का विशेष—समझ कर उस से जुदा नहीं गिनते। परन्तु यह प्रश्न होता है कि वैदिक दर्शनों में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारों को मोक्ष का साधन माना है फिर जैनदर्शन में तीन या दो ही साधन क्यों कहे गए? इसका समाधान इस प्रकार है कि जैनदर्शन में जिस सम्यक्चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है उसमें कर्म और योग दोनों मार्गों का समावेश हो जाता है। क्योंकि सम्यक्चारित्र में मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उनके लिए किये जानेवाले उपायों का समावेश होता है। मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय आदि सात्विक यज्ञ ही कर्ममार्ग है और चित्त-शुद्धि तथा उसके लिए की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योग मार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योगमार्ग का मिश्रण ही सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शन ही भक्ति मार्ग है, क्योंकि भक्ति में श्रद्धा का अंश प्रधान है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धा रूप ही है। सम्यग्ज्ञान ही ज्ञानमार्ग है। इस प्रकार जैन दर्शन में बतलाये हुए मोक्ष के तीन साधन अन्य दर्शनों के सब साधनों का समुच्चय हैं।

९—आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है

कर्म के संबन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसकी ठीक-ठीक संगति तभी हो सकती है जब कि आत्मा को जड़ से अलग तत्त्व माना जाय। आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नीचे लिखे सात प्रमाणों से जाना जा सकता है—

(क) स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण, (ख) बाधक प्रमाण का अभाव, (ग) निषेध से निषेध-कर्त्ता की सिद्धि, (घ) तर्क, (ङ) शास्त्र व महात्माओं का प्रामाण्य, (च) आधुनिक विद्वानों की सम्मति और (छ) पुनर्जन्म।

(क) स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण— यद्यपि सभी देहधारी अज्ञान के आवरण से न्यूनाधिक रूप में घिरे हुए हैं और इससे वे अपने ही अस्तित्व का संदेह करते हैं, तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोड़ी सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूँ'। यह स्फुरणा कभी नहीं

होती कि 'मैं नहीं हूँ' । इससे उलटा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नहीं हूँ' यह बात नहीं। इसी बात को श्री शंकराचार्य ने भी कहा है—

'सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति—ब्रह्म० भाष्य १-१-१ ।'

इसी निश्चय को ही स्वसंवेदन (आत्मनिश्चय) कहते हैं।

(ख) बाधक प्रमाण का अभाव—ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो आत्मा के अस्तित्व का बाध (निषेध) करता हो। इस पर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना ही उसका बाध है। परन्तु इसका समाधान सहज है। किसी विषय का बाधक प्रमाण वही माना जाता है जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर उसे ग्रहण कर न सके। उदाहरणार्थ—आँख, मिट्टी के घड़े को देख सकती है पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह मिट्टी के घड़े को न देखे, उस समय उसे उस विषय की बाधक समझना चाहिए।

इन्द्रियाँ सभी भौतिक हैं। उनकी ग्रहणशक्ति बहुत परिमित है। वे भौतिक पदार्थों में से भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयों को ही ऊपर-ऊपर से जान सकती हैं। सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र आदि साधनों की वही दशा है। वे अभी तक भौतिक प्रदेश में ही कार्यकारी सिद्ध हुए हैं। इसलिए उनका अभौतिक–अमूर्त्त–आत्मा को जान न सकना बाध नहीं कहा जा सकता। मन, भौतिक होने पर भी इन्द्रियों का दास बन जाता है—एक के पीछे एक, इस तरह अनेक विषयों में बन्दरों के समान दौड़ लगाता फिरता है—तब उसमें राजस व तामस वृत्तियाँ पैदा होती हैं। सात्त्विक भाव प्रकट होने नहीं पाता। यही बात गीता (अ–२ श्लो० ६७) में भी कही हुई है—

'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥'

इसलिए चंचल मन में आत्मा की स्फुरणा भी नहीं होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति, जिस दर्पण में वर्तमान है वह भी जब मलिन हो जाता है तब उसमें किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयों में दौड़ लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण न होना उसका बाध नहीं, किन्तु मन की अशक्ति मात्र है।

इस प्रकार विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि मन, इन्द्रियाँ, सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा का निषेध करने की शक्ति नहीं रखते।

(ग) निषेध से निषेध-कर्त्ता की सिद्धि—कुछ लोग यह कहते हैं कि हमें आत्मा का निश्चय नहीं होता, बल्कि कभी-कभी उसके अभाव की स्फुरणा

हो आती है; क्योंकि किसी समय मन में ऐसी कल्पना होने लगती है कि 'मैं नहीं हूँ' इत्यादि। परन्तु उनको जानना चाहिए कि उनकी यह कल्पना ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव कैसे ? जो निषेध कर रहा है वह स्वयं ही आत्मा है। इस बात को श्रीशंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में भी कहा है—

'य एव हि निराकर्त्ता तदेव हि तस्य स्वरूपम्।'

—अ. २ पा ३ अ. १ सू. ७

(ग) तर्क—यह भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की पुष्टि करता है। वह कहता है कि जगत् में सभी पदार्थों का विरोधी कोई न कोई देखा जाता है। अन्धकार का विरोधी प्रकाश, उष्णता का विरोधी शैत्य और सुख का विरोधी दुःख। इसी तरह जड़ पदार्थ का विरोधी भी कोई तत्त्व होना चाहिए।[1] जो तत्त्व जड़ का विरोधी है वही चेतन या आत्मा है।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि 'जड़, चेतन ये दो स्वतंत्र विरोधी तत्त्व मानना उचित नहीं, परन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ में जड़त्व व चेतनत्व दोनों शक्तियाँ मानना उचित है। जिस समय चेतनत्व शक्ति का विकास होने लगता है—उसकी व्यक्ति होती है—उस समय जड़त्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन शक्तिवाले प्राणी जड़ पदार्थ के विकास के ही परिणाम हैं। वे जड़ के अतिरिक्त अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते, किन्तु जड़त्व शक्ति का तिरोभाव होने से जीवधारी रूप में दिखाई देते हैं।' ऐसा ही मन्तव्य हेगल आदि अनेक पश्चिमीय विद्वानों का भी है। परन्तु उस प्रतिकूल तर्क का निवारण अशक्य नहीं है।

यह देखा जाता है कि किसी वस्तु में जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तब उसमें दूसरी विरोधिनी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है वह सदा के लिए नहीं, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने

---

१ यह तर्क निर्मूल या अप्रमाण नहीं, बल्कि इस प्रकार का तर्क शुद्ध बुद्धि का चिह्न है। भगवान् बुद्ध को भी अपने पूर्व जन्म में—अर्थात् सुमेध नामक ब्राह्मण के जन्म में ऐसा ही तर्क हुआ था। यथा—

'यथा हि लोके दुक्खस्स पटिपक्खभूतं सुखं नाम अत्थि, एवं भवे सति तप्पटिपक्खेन विभवेनाऽपि भवितब्बं यथा च उण्हे सति तस्स वूपसमभूतं सीतंऽपि अत्थि, एवं रागादीनं अग्गीनं वूपसमेन निब्बानेनाऽपि भवितब्बं।'

पर फिर भी उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है वह भी सदा के लिए नहीं। प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ पानी के अणुओं को लीजिए, वे गरमी पाते ही भापरूप में परिणत हो जाते हैं, फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानीरूप में बरसते हैं और अधिक शीतत्व प्राप्त होने पर द्रवत्वरूप को छोड़ बर्फरूप में घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह यदि जड़त्व-चेतनत्व दोनों शक्तियों को किसी एक मूल तत्त्वगत मान लें, तो विकासवाद ही न ठहर सकेगा। क्योंकि चेतनत्व शक्ति के विकास के कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते हैं वे ही सब जड़त्वशक्ति का विकास होने पर फिर जड़ हो जाएँगे। जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़रूप में दिखाई देते हैं वे कभी चेतन हो जाएँगे और चेतनरूप से दिखाई देनेवाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणी कभी जड़रूप भी हो जाएँगे। अतएव एक-एक पदार्थ में जड़त्व और चेतनत्व दोनों विरोधिनी शक्तियों को न मानकर जड़ व चेतन दो स्वतंत्र तत्त्वों को ही मानना ठीक है।

(ङ) **शास्त्र व महात्माओं का प्रामाण्य**—अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारों ने बड़ी शान्ति व गम्भीरता के साथ आत्मा के विषय में खोज की है, उनके शास्त्रगत अनुभव को यदि हम बिना ही अनुभव किये चपलता से यों ही हँस दें तो, इसमें क्षुद्रता किसकी ? आजकल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्रता पूर्वक आत्मा के विचार में ही बिताया। उनके शुद्ध अनुभव को हम यदि अपने भ्रान्त अनुभव के बल पर न मानें तो इसमें न्यूनता हमारी ही है। पुरातन शास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा निःस्वार्थ भाव से आत्मा के अस्तित्व को बतला रहे हैं।

(च) **आधुनिक वैज्ञानिकों की सम्मति**—आजकल लोग प्रत्येक विषय का खुलासा करने के लिए बहुधा वैज्ञानिक विद्वानों का विचार जानना चाहते हैं। यह ठीक है कि अनेक पश्चिमीय भौतिक-विज्ञान विशारद आत्मा को नहीं मानते या उसके विषय में संदिग्ध हैं। परन्तु ऐसे भी अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक हैं कि जिन्होंने अपनी सारी आयु भौतिक खोज में बिताई है, पर उनकी दृष्टि भूतों से परे आत्मतत्त्व की ओर भी पहुँची है। उनमें से सर ऑलीवर लॉज और लॉर्ड केलविन, इनका नाम वैज्ञानिक संसार में मशहूर है। ये दोनों विद्वान् चेतन तत्त्व को जड़ से जुदा मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने जड़वादियों की युक्तियों का खण्डन बड़ी सावधानी से व विचारसरणी से किया है। उनका मन्तव्य है

कि चेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व के सिवाय जीवधारियों के देह की विलक्षण रचना किसी तरह बन नहीं सकती। वे अन्य भौतिकवादियों की तरह मस्तिष्क को ज्ञान की जड़ नहीं समझते, किन्तु उसे ज्ञान के आविर्भाव का साधन मात्र समझते हैं।[1]

डा० जगदीशचन्द्र बोस, जिन्होंने सारे वैज्ञानिक संसार में नाम पाया है, की खोज से यहाँ तक निश्चय हो गया है कि वनस्पतियों में भी स्मरण-शक्ति विद्यमान है। बोस महाशय ने अपने आविष्कारों से स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व मानने के लिए वैज्ञानिक संसार को मजबूर किया है।

(छ) पुनर्जन्म—नीचे अनेक प्रश्न ऐसे हैं कि जिनका पूरा समाधान पुनर्जन्म माने बिना नहीं होता। गर्भ के आरम्भ से लेकर जन्म तक बालक को जो-जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वे सब उस बालक की कृति के परिणाम हैं या उसके माता-पिता की कृति के? उन्हें बालक की इस जन्म की कृति का परिणाम नहीं कह सकते, क्योंकि उसने गर्भावस्था में तो अच्छा-बुरा कुछ भी काम नहीं किया है। यदि माता-पिता की कृति का परिणाम कहें तो भी असंगत जान पड़ता है, क्योंकि माता-पिता अच्छा या बुरा कुछ भी करें उसका परिणाम बिना कारण बालक को क्यों भोगना पड़े? बालक जो कुछ सुख-दुःख भोगता है वह यों ही बिना कारण भोगता है—यह मानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है, क्योंकि बिना कारण किसी कार्य का होना असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि माता-पिता के आहार विहार का, विचार-व्यवहार का और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं का असर बालक पर गर्भावस्था से ही पड़ना शुरू होता है तो फिर भी सामने यह प्रश्न होता है कि बालक को ऐसे माता-पिता का संयोग क्यों हुआ? और इसका क्या समाधान है कि कभी-कभी बालक की योग्यता माता-पिता से बिलकुल ही जुदा प्रकार की होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते हैं कि माता-पिता बिलकुल अपढ़ होते हैं और लड़का पूरा शिक्षित बन जाता है। विशेष क्या? यहाँ तक देखा जाता है कि किन्हीं-किन्हीं माता-पिताओं की रुचि, जिस बात पर बिलकुल ही नहीं होती उसमें बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आसपास की परिस्थिति ही नहीं मानी जा सकती, क्योंकि समान परिस्थिति और बराबर देखभाल होते हुए भी अनेक विद्यार्थियों में विचार व व्यवहार की भिन्नता

---

१ इन दोनों चैतन्यवादियों के विचार की छाया, संवत् १९६१ के ज्येष्ठ मास के, १९६२ मार्गशीर्ष मास के और १९६५ के भाद्रपद मास के 'वसन्त' पत्र में प्रकाशित हुई है।

देखी जाती है। यदि कहा जाए कि यह परिणाम बालक के अद्भुत ज्ञानतंतुओं का है, तो इस पर यह शंका होती है कि बालक का देह माता-पिता के शुक्र-शोणित से बना होता है, फिर उनमें अविद्यमान ऐसे ज्ञानतंतु बालक के मस्तिष्क में आए कहाँ से ? कहीं-कहीं माता-पिता की सी ज्ञानशक्ति बालक में देखी जाती है सही, पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला ? किसी-किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लड़का गँवार ही रह जाता है।

यह सबको विदित ही है कि एक साथ—युगलरूप से—जन्मे हुए दो बालक भी समान नहीं होते। माता-पिता की देख-भाल बराबर होने पर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कहीं आगे बढ़ जाता है। एक का पिण्ड रोग से नहीं छूटता और दूसरा बड़े-बड़े कुश्तीबाजों से हाथ मिलाता है। एक दीर्घजीवी बनता है और दूसरा सौ यत्न होते रहने पर भी यम का अतिथि बन जाता है। एक की इच्छा संयत होती है और दूसरे की असंयत।

जो शक्ति, महावीर में, बुद्ध में, शङ्कराचार्य्य में थी वह उनके माता-पिताओं में न थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के कारण उनके माता-पिता नहीं माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी प्रतिभा के मुख्य कारण नहीं, क्योंकि देवचन्द्रसूरि के हेमचन्द्राचार्य के सिवाय और भी शिष्य थे, फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्यों का नाम लोग जानते तक नहीं और हेमचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध है ? श्रीमती एनी बिसेन्ट में जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है वह उनके माता-पिताओं में न थी और न उनकी पुत्री में भी। अच्छा, और भी कुछ प्रामाणिक उदाहरणों को देखिए—

प्रकाश की खोज करनेवाले डा० यंग दो वर्ष की उम्र में पुस्तक को बहुत अच्छी तरह बाँच सकते थे। चार वर्ष की उम्र में वे दो दफे बाइबल पढ़ चुके थे। सात वर्ष की अवस्था में उन्होंने गणितशास्त्र पढ़ना आरम्भ किया था और तेरह वर्ष की अवस्था में लेटिन, ग्रीक, हिब्रु, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाएँ सीख ली थीं। सर विलियम रोवन हेमिल्टन, इन्होंने तीन वर्ष की उम्र में हिब्रु भाषा सीखना आरंभ किया और सात वर्ष की उम्र में उस भाषा में इतना नैपुण्य प्राप्त किया कि डब्लिन की ट्रीनिटी कालेज के एक फेलो को स्वीकार करना पड़ा कि कालेज के फेलो के पद के प्रार्थियों में भी उनके बराबर ज्ञान नहीं है और तेरह वर्ष की वय में तो उन्होंने कम से कम तेरह भाषा पर अधिकार जमा लिया था। ई० सं० १८९२ में जन्मी हुई एक लड़की ई० सं० १९०२ में—दस वर्ष की अवस्था में एक नाटकमण्डल में संमिलित हुई थी। उसने उस अवस्था में

कई नाटक लिखे थे। उसकी माता के कथनानुसार वह पाँच वर्ष की वय में कई छोटी-मोटी कविताएँ बना लेती थी। उसकी लिखी हुई कुछ कविताएँ महारानी विक्टोरिया के पास थीं। उस समय उस बालिका का अंग्रेजी ज्ञान भी आश्चर्य-जनक था, वह कहती थी कि मैं अंग्रेजी पढ़ी नहीं हूँ, परन्तु उसे जानती हूँ।

उक्त उदाहरणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस जन्म में देखी जानेवाली सब विलक्षणताएँ न तो वर्तमान जन्म की कृति का ही परिणाम है, न माता-पिता के केवल संस्कार का ही, और न केवल परिस्थिति का ही। इसलिए आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के आरंभ समय से और भी पूर्व मानना चाहिए। वही पूर्व जन्म है। पूर्व जन्म में इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार संचित हुए हों उन्हीं के आधार पर उपर्युक्त शङ्काओं तथा विलक्षणताओं का सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक पूर्व जन्म सिद्ध हुआ उसी के बल पर से अनेक पूर्व जन्म की परंपरा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि अपरिमित ज्ञानशक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा, देह से जुदा अनादि सिद्ध होता है। अनादि तत्व का कभी नाश नहीं होता इस सिद्धान्त को सभी दार्शनिक मानते हैं। गीता में भी कहा गया है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

—अ० २ श्लो० १६

इतना ही नहीं, बल्कि वर्तमान शरीर के बाद आत्मा का अस्तित्व माने बिना अनेक प्रश्न हल ही नहीं हो सकते।

बहुत लोग ऐसे देखे जाते हैं कि वे इस जन्म में तो प्रामाणिक जीवन बिताते हैं परन्तु रहते हैं दरिद्री और ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुनकर चिढ़ते हैं परन्तु होते हैं वे सब तरह से सुखी। ऐसी अनेक व्यक्तियाँ मिल सकती हैं जो हैं तो स्वयं दोषी और उनके दोषों का—अपराधों का—फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फांसी पर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और पकड़ा जाता है दूसरा। अब इस पर विचार करना चाहिए कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का बदला इस जन्म में नहीं मिला, उनकी कृति क्या यों ही विफल हो जाएगी? यह कहना कि कृति विफल नहीं होती, यदि कर्त्ता को फल नहीं मिला तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगों पर होता ही है—सो भी ठीक नहीं। क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है वह सब दूसरों के लिए ही नहीं। रात-दिन परोपकार करने में निरत महात्माओं की भी इच्छा, दूसरों की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है। विश्व की व्यवस्था में इच्छा का

बहुत ऊँचा स्थान है। ऐसी दशा में वर्तमान देह के साथ इच्छा के मूल का भी नाश मान लेना युक्तिसंगत नहीं। मनुष्य अपने जीवन की आखिरी घड़ी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है जिससे कि अपना भला हो। यह नहीं कि ऐसा करनेवाले सब भ्रान्त ही होते हैं। बहुत आगे पहुँचे हुए स्थिरचित्त व शान्त प्रज्ञावान् योगी भी इसी विचार से अपने साधन को सिद्ध करने की चेष्टा में लगे होते हैं कि इस जन्म में नहीं तो दूसरे में ही सही, किसी समय हम परमात्मभाव को प्रकट कर ही लेंगे। इसके सिवाय सभी के चित्त में यह स्फुरणा हुआ करती है कि मैं बराबर कायम रहूँगा। शरीर, नाश होने के बाद चेतन का अस्तित्व यदि न माना जाय तो व्यक्ति का उद्देश्य कितना संकुचित बन जाता है और कार्य्यक्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है? औरों के लिए जो कुछ किया जाय परन्तु वह अपने लिए किये जानेवाले कामों के बराबर हो नहीं सकता। चेतन की उत्तर मर्यादा को वर्त्तमान देह के अन्तिम क्षण तक मान लेने से व्यक्ति को महत्त्वाकांक्षा एक तरह से छोड़ देनी पड़ती है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में सही, परन्तु मैं अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करूँगा—यह भावना मनुष्य के हृदय में जितना बल प्रकटा सकती है उतना बल अन्य कोई भावना नहीं प्रकटा सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्या है, क्योंकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्वविदित है। विकासवाद भले ही भौतिक रचनाओं को देखकर जड़ तत्त्वों पर खड़ा किया गया हो, पर उसका विषय चेतन भी बन सकता है। इन सब बातों पर ध्यान देने से यह माने बिना संतोष नहीं होता कि चेतन एक स्वतंत्र तत्त्व है। वह जानते या अनजानते जो अच्छा-बुरा कर्म करता है उसका फल, उसे भोगना ही पड़ता है और इसलिए उसे पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना पड़ता है। बुद्ध भगवान् ने भी पुनर्जन्म माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निट्शे, कर्मचक्रकृत पुनर्जन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने के लिए प्रबल प्रमाण है।

१०—कर्म-तत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता

जैनदर्शन में प्रत्येक कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान ये तीन अवस्थाएँ मानी हुई हैं। उन्हें क्रमशः बन्ध, सत्ता और उदय कहते हैं। जैनेतर दर्शनों में भी कर्म की उन अवस्थाओं का वर्णन है। उनमें बध्यमान कर्म को 'क्रियमाण', सत्कर्म को 'संचित' और उदयमान कर्म को 'प्रारब्ध', कहा है। किन्तु जैनशास्त्र में ज्ञानावरणीय आदिरूप से कर्म का ८ तथा १४८ भेदों में वर्गीकरण किया है

और इनके द्वारा संसारी आत्मा की अनुभवसिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का जैसा खुलासा किया गया है वैसा किसी भी जैनेतर दर्शन में नहीं है। पातञ्जलदर्शन में कर्म के जाति, आयु और भोग तीन तरह के विपाक बतलाए हैं, परन्तु जैन दर्शन में कर्म के संबन्ध में किये गये विचार के सामने वह वर्णन नाम मात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन-किन कारण से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म, अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म, कितने समय तक विपाक देने में असमर्थ है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्मपरिणाम आवश्यक हैं? एक कर्म, अन्य कर्मरूप कब बन सकता है? उसकी बन्धकालीन तीव्रमन्द शक्तियाँ किस प्रकार बदली जा सकती हैं? पीछे से विपाक देनेवाला कर्म पहले ही कब और किस तरह भोगा जा सकता है? कितना भी बलवान् कर्म क्यों न हो, पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामों से कैसे रोक दिया जाता है? कभी-कभी आत्मा के शतशः प्रयत्न करने पर भी कर्म, अपना विपाक बिना भोगवाए नहीं छूटता? आत्मा किस तरह कर्म का कर्त्ता और किस तरह भोक्ता है? इतना होने पर भी वस्तुतः आत्मा में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नहीं है? संक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते हैं? आत्मा वीर्य-शक्ति के आविर्भाव के द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस तरह उठा फेंक देता है? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलीन सा दीखता है? और बाह्य हजारों आवरणों के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस तरह नहीं होता है? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मों को भी किस तरह हटा देता है? वह अपने वर्त्तमान परमात्मभाव को देखने के लिए जिस समय उत्सुक होता है उस समय उसके, और अन्तरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है? अन्त में वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामों से बलवान् कर्मों को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कण्टक करता है? आत्म-मन्दिर में वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणाम, जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है? जीव अपनी शुद्ध परिणाम-तरंगमाला के वैद्युतिक यन्त्र से कर्म के पहाड़ों को किस कदर चूर-चूर कर डालता है? कभी-कभी गुलांट खाकर कर्म ही, जो कुछ देर के लिए दबे होते हैं, वे ही प्रगतिशील आत्म

को किस तरह नीचे पटक देते हैं ? कौन-कौन कर्म, बन्ध की व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी हैं ? किस कर्म का बन्ध किस अवस्था में अवश्यम्भावी और किस अवस्था में अनियत है ? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत में अनियत है ? आत्मसंबद्ध अतीन्द्रिय कर्मराज किस प्रकार की आकर्षण शक्ति से स्थूल पुद्गलों को खींचा करता है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्मशरीर आदि का निर्माण किया करता है ? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न, जो कर्म से संबन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक, विस्तृत व विशद खुलासा जैन कर्मसाहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नहीं किया जा सकता। यही कर्म-तत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता है।

'कर्मविपाक' ग्रन्थ का परिचय

संसार में जितने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (धर्मसंस्थाएँ) हैं उन सबका साहित्य दो विभागों में विभाजित है—(१) तत्त्वज्ञान और (२) आचार व क्रिया।

ये दोनों विभाग एक दूसरे से बिलकुल ही अलग नहीं हैं। उनका संबन्ध वैसा ही है जैसा शरीर में नेत्र और हाथ-पैर आदि अन्य अवयवों का। जैन-सम्प्रदाय का साहित्य भी तत्त्वज्ञान और आचार इन दोनों विभागों में बँटा हुआ है। यह ग्रन्थ पहले विभाग से संबन्ध रखता है, अर्थात् इसमें विधिनिषेधात्मक क्रिया का वर्णन नहीं है, किन्तु इसमें वर्णन है तत्त्व का। यों तो जैनदर्शन में अनेक तत्त्वों पर विविध दृष्टि से विचार किया है पर इस ग्रन्थ में उन सब का वर्णन नहीं है। इसमें प्रधानतया कर्मतत्त्व का वर्णन है। आत्मवादी सभी दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म को मानते ही हैं, पर जैन दर्शन इस संबन्ध में अपनी असाधारण विशेषता रखता है अथवा यों कहिए कि कर्मतत्त्व के विचार प्रदेश में जैनदर्शन अपना सानी नहीं रखता, इसलिए इस ग्रन्थ को जैनदर्शन की विशेषता का या जैन दर्शन के विचारणीय तत्त्व का ग्रन्थ कहना उचित है।

विशेष परिचय—

इस ग्रन्थ का अधिक परिचय करने के लिए इसके नाम, विषय, वर्णनक्रम, रचना का मूलाधार, परिमाण, भाषा, कर्ता आदि बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है।

नाम—इस ग्रन्थ के 'कर्मविपाक' और 'प्रथम कर्मग्रन्थ' इन दो नामों में से पहला नाम तो विषयानुरूप है तथा उसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने आदि में

'कम्मविवागं समासओ वुच्छं' तथा अन्त में 'इअ कम्मविवागोऽयं' इस कथन से स्पष्ट ही कर दिया है। परन्तु दूसरे नाम का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। वह नाम केवल इसलिए प्रचलित हो गया है कि कर्मस्तव आदि अन्य कर्मविषयक ग्रन्थों से यह पहला है; इसके बिना पढ़े कर्मस्तव आदि अगले प्रकरणों में प्रवेश ही नहीं हो सकता। पिछला नाम इतना प्रसिद्ध है कि पढ़ने-पढ़ाने वाले तथा अन्य लोग प्रायः उसी नाम से व्यवहार करते हैं। 'पहला कर्मग्रन्थ', इस प्रचलित नाम से मूल नाम यहाँ तक अप्रसिद्ध सा हो गया है कि कर्मविपाक कहने से बहुत से लोग कहनेवाले का आशय ही नहीं समझते। यह बात इस प्रकरण के विषय में ही नहीं, बल्कि कर्मस्तव आदि अग्रिम प्रकरणों के विषय में भी बराबर लागू पड़ती है। अर्थात् कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीतिक, शतक और सप्ततिका कहने से क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे प्रकरण का मतलब बहुत कम लोग समझेंगे; परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा कर्मग्रन्थ कहने से सब लोग कहनेवाले का भाव समझ लेंगे।

विषय— इस ग्रन्थ का विषय कर्मतत्त्व है, पर इसमें कर्म से संबन्ध रखने वाली अनेक बातों पर विचार न करके प्रकृति-अंश पर ही प्रधानतया विचार किया है, अर्थात् कर्म की सब प्रकृतियों का विपाक ही इसमें मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी अभिप्राय से इसका नाम भी 'कर्मविपाक' रक्खा गया है।

वर्णन क्रम— इस ग्रन्थ में सबसे पहले यह दिखाया है कि कर्मबन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु सहेतुक है। इसके बाद कर्म का स्वरूप परिपूर्ण बताने के लिए उसे चार अंशों में विभाजित किया है—(१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) रस और (४) प्रदेश। इसके बाद आठ प्रकृतियों के नाम और उनके उत्तर भेदों की संख्या बताई गई है। अनन्तर ज्ञानावरणीयकर्म के स्वरूप को दृष्टान्त, कार्य और कारण द्वारा दिखलाने के लिए प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पाँच भेदों को और उनके अवान्तर भेदों को संक्षेप में, परन्तु तत्त्वरूप से दिखाया है। ज्ञान का निरूपण करके उसके आवरणभूत कर्म का दृष्टान्त द्वारा उद्घाटन (खुलासा) किया है। अनन्तर दर्शनावरण कर्म को दृष्टान्त द्वारा समझाया है। पीछे उसके भेदों को दिखलाते हुए दर्शन शब्द का अर्थ बतलाया है।

दर्शनावरणीय कर्म के भेदों में पाँच प्रकार की निद्राओं का सर्वानुभवसिद्ध स्वरूप, संक्षेप में, पर बड़ी मनोरंजकता से वर्णन किया है। इसके बाद क्रम से सुख-दुःखजनक वेदनीयकर्म, सद्विश्वास और सच्चारित्र के प्रतिबन्धक मोहनीयकर्म,

अव्यय जीवन के वरोधी आयुकर्म, गति, जाति आदि अनेक अवस्थाओं के जनक नामकर्म उच्च-नीचगोत्रजनक गोत्रकर्म और लाभ आदि में रुकावट करनेवाले अन्तराय कर्म का तथा उन प्रत्येक कर्म के भेदों का थोड़े में, किन्तु अनुभवसिद्ध वर्णन किया है। अन्त में प्रत्येक कर्म के कारण को दिखाकर ग्रन्थ समात किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रधान विषय कर्म का विपाक है, तथापि प्रसंगवश इसमें जो कुछ कहा गया है उस सबको संक्षेप में पाँच विभागों में बाँट सकते हैं—

(१) प्रत्येक कर्म के प्रकृति आदि चार अंशों का कथन, (२) कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ, (३) पाँच प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का वर्णन, (४) सब प्रकृतियों का दृष्टान्त पूर्वक कार्य-कथन, (५) सब प्रकृतियों के कारण का कथन।

आधार—यों तो यह ग्रन्थ कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह आदि प्राचीनतर ग्रन्थों के आधार पर रचा गया है परन्तु इसका साक्षात् आधार प्राचीन कर्मविपाक है जो श्री गर्ग ऋषि का बनाया हुआ है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६६ गाथाप्रमाण होने से पहले पहल कर्मशास्त्र में प्रवेश करनेवालों के लिए बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिए उसका संक्षेप केवल ६१ गाथाओं में कर दिया गया है। इतना संक्षेप होने पर भी इसमें प्राचीन कर्मविपाक की खास व तात्त्विक बात कोई भी नहीं छूटी है। इतना ही नहीं, बल्कि संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने यहाँ तक ध्यान रखा है कि कुछ अति उपयोगी नवीन विषय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाक में नहीं है उन्हें भी इस ग्रन्थ में दाखिल कर दिया है। उदाहरणार्थ—श्रुतज्ञान के पर्याय आदि २० भेद तथा आठ कर्मप्रकृतियों के बन्ध के हेतु, प्राचीन कर्मविपाक में नहीं हैं, पर उनका वर्णन इसमें है। संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने इस तत्व की ओर भी ध्यान रखा है कि जिस एक बात का वर्णन करने से अन्य बातें भी समानता के कारण सुगमता से समझी जा सकें वहाँ उस बात को ही बतलाना, अन्य को नहीं। इसी अभिप्राय से, प्राचीन कर्मविपाक में जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर प्रकृति का विपाक दिखाया गया है वैसे इस ग्रन्थ में नहीं दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्य में कुछ भी कमी नहीं की गई है। इसी से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधारण हो गया है। इसके पढ़नेवाले प्राचीन कर्मविपाक को बिना टीका-टिप्पण के अनायास ही समझ सकते हैं। यह ग्रन्थ संक्षेपरूप होने से सब को मुख-पाठ करने में व याद रखने में बड़ी आसानी होती है। इसी से प्राचीन कर्मविपाक के छप जाने पर भी इसकी चाह और माँग में कुछ भी कमी नहीं हुई है। इस कर्मविपाक की अपेक्षा प्राचीन कर्मविपाक बड़ा है सही, पर वह भी

उससे पुरातन ग्रन्थ का संक्षेप ही है, यह बात उसकी आदि में वर्तमान '**वोच्छं कम्मविवागं गुरूवइट्ठं समासेण**' इस वाक्य से स्पष्ट है।

भाषा—यह कर्मग्रन्थ तथा इसके आगे के अन्य सभी कर्मग्रन्थों का मूल प्राकृत भाषा में हैं। इनकी टीका संस्कृत में है। मूल गाथाएँ ऐसी सुगम भाषा में रची हुई हैं कि पढ़ने वालों को थोड़ा बहुत संस्कृत का बोध हो और उन्हें कुछ प्राकृत के नियम समझा दिये जाएँ तो वे मूल गाथाओं के ऊपर से ही विषय का परिज्ञान कर सकते हैं। संस्कृत टीका भी बड़ी विशद भाषा में खुलासे के साथ लिखी गई है जिससे जिज्ञासुओं को पढ़ने में बहुत सुगमता होती है।

ग्रन्थकार की जीवनी

(१) समय—प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता श्री देवेन्द्रसूरि का समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी का अन्त और चौदहवीं शताब्दी का आरम्भ है। उनका स्वर्गवास वि० सं० १३२७ में हुआ ऐसा उल्लेख गुर्वावली में[1] स्पष्ट है परन्तु उनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के समय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता; तथापि यह जान पड़ता है कि १२८५ में श्री जगच्चन्द्रसूरि ने तपागच्छ की स्थापना की, तब वे दीक्षित होंगे। क्योंकि गच्छस्थापना के बाद श्रीजगच्चन्द्रसूरि के द्वारा ही श्रीदेवेन्द्रसूरि और श्री विजयचन्द्रसूरि को सूरिपद दिए जाने का वर्णन गुर्वावली में[2] है। यह तो मानना ही पड़ता है कि सूरिपद ग्रहण करने के समय, श्री देवेन्द्रसूरि वय, विद्या और संयम से स्थविर होंगे। अन्यथा इतने गुरुतर पद का और खास करके नवीन प्रतिष्ठित किये गए तपागच्छ के नायकत्व का भार वे कैसे सम्हाल सकते?

उनका सूरिपद वि० सं० १२८५ के बाद हुआ। सूरिपद का समय अनुमान वि० सं० १३०० मान लिया जाए, तब भी यह कहा जा सकता है कि तपागच्छ की स्थापना के समय वे नवदीक्षित होंगे। उनकी कुल उम्र ५० या ५२ वर्ष की मान ली जाए तो यह सिद्ध है कि वि० सं० १२७५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा। वि० सं० १३०२ में उन्होंने उज्जयिनी में श्रेष्ठिवर जिनचन्द्र के पुत्र वीरधवल को दीक्षा दी, जो आगे विद्यानन्दसूरि के नाम से विख्यात हुए। उस समय देवेन्द्रसूरि की उम्र २५-२७ वर्ष की मान ली जाए तब भी उक्त अनुमान की—१२७५ के लगभग जन्म होने की—पुष्टि होती है। अस्तु; जन्म का, दीक्षा का तथा सूरिपद का समय निश्चित न होने पर भी इस बात में कोई संदेह नहीं

१ देखो श्लोक १७४।

२ देखो श्लोक १०७।

है कि वे विक्रम की १३ वीं शताब्दी के अन्त में तथा चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में अपने अस्तित्व से भारतवर्ष की, और खासकर गुजरात तथा मालवा की शोभा बढ़ा रहे थे।

(२) जन्मभूमि, जाति आदि—श्री देवेन्द्रसूरि का जन्म किस देश में, किस जाति और किस परिवार में हुआ इसका कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला। गुर्वावली में[1] उनके जीवन का वृत्तान्त है, पर वह बहुत संक्षिप्त है। उसमें सूरिपद ग्रहण करने के बाद की बातों का उल्लेख है, अन्य बातों का नहीं। इसलिए उसके आधार पर उनके जीवन के संबन्ध में जहाँ कहीं उल्लेख हुआ है वह अधूरा ही है। तथापि गुजरात और मालवा में उनका अधिक विहार, इस अनुमान की सूचना कर सकता है कि वे गुजरात या मालवा में से किसी देश में जन्मे होंगे। उनकी जाति और माता-पिता के संबन्ध में तो साधन के अभाव से किसी प्रकार के अनुमान को अवकाश ही नहीं है।

(३) विद्वत्ता और चारित्रतत्परता– श्री देवेन्द्रसूरिजी जैनशास्त्र के पूरे विद्वान् थे इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, क्योंकि इस बात की गवाही उनके ग्रन्थ ही दे रहे हैं। अब तक उनका बनाया हुआ ऐसा कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आया जिसमें कि उन्होंने स्वतन्त्र भाव से षड्दर्शन पर अपने विचार प्रकट किये हों; परन्तु गुर्वावली के वर्णन से पता चलता है कि वे षड्दर्शन के मार्मिक विद्वान् थे और इसी से मन्त्रीश्वर वस्तुपाल तथा अन्य-अन्य विद्वान् उनके व्याख्यान में आया करते थे। यह कोई नियम नहीं है कि जो जिस विषय का पण्डित हो वह उस पर ग्रन्थ लिखे ही, कई कारणों से ऐसा नहीं भी हो सकता। परन्तु श्री देवेन्द्रसूरि का जैनागमविषयक ज्ञान हृदयस्पर्शी था यह बात असन्दिग्ध है। उन्होंने पाँच कर्मग्रन्थ—जो नवीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं (और जिनमें से यह पहला है) सटीक रचे हैं। टीका इतनी विशद और सप्रमाण है कि उसे देखने के बाद प्राचीन कर्मग्रन्थ या उसकी टीकाएँ देखने की जिज्ञासा एक तरह से शान्त हो जाती है। उनके संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में रचे हुए अनेक ग्रन्थ इस बात की स्पष्ट सूचना करते हैं कि वे संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के प्रखर पण्डित थे।

श्री देवेन्द्रसूरि केवल विद्वान् ही न थे किन्तु वे चारित्रधर्म में बड़े दृढ़ थे। इसके प्रमाण में इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय क्रियाशिथिलता को देखकर श्री जगच्चन्द्रसूरि ने बड़े पुरुषार्थ और निःसीम त्याग से, जो क्रियोद्धार किया था उसका निर्वाह श्री देवेन्द्रसूरि ने ही किया। यद्यपि श्री जगच्चन्द्रसूरि ने

१ देखो श्लोक १०७ से आगे।

श्री देवेन्द्रसूरि तथा श्री विजयचन्द्रसूरि दोनों को आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया था, तथापि गुरु के आरम्भ किये हुए क्रियोद्धार के दुर्धर कार्य को श्री देवेन्द्रसूरि ही सम्हाल सके। तत्कालीन शिथिलाचार्य्यों का प्रभाव उन पर कुछ भी नहीं पड़ा। इससे उलटा श्री विजयचन्द्रसूरि, विद्वान् होने पर भी प्रमाद के चँगुल में फँस गए और शिथिलाचारी हुए[1]। अपने सहचारी को शिथिल देख, समझाने पर भी उनके न समझने से अन्त में श्रीदेवेन्द्रसूरि ने अपनी क्रियारुचि के कारण उनसे अलग होना पसंद किया। इससे यह बात साफ प्रमाणित होती है कि वे बड़े दृढ़ मन के और गुरुभक्त थे। उनका हृदय ऐसा संस्कारी था कि उसमें गुण का प्रतिविम्ब तो शीघ्र पड़ जाता था पर दोष का नहीं; क्योंकि दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में जो श्वेताम्बर तथा दिगम्बर संप्रदाय के अनेक असाधारण विद्वान् हुए, उनकी विद्वता, ग्रन्थनिर्माणपटुता और चारित्रप्रियता आदि गुणों का प्रभाव तो श्री देवेन्द्रसूरि के हृदय पर पड़ा,[2] परन्तु उस समय जो अनेक शिथिलाचारी थे, उनका असर इन पर कुछ भी नहीं पड़ा।

श्री देवेन्द्रसूरि के शुद्धक्रियापक्षपाती होने से अनेक मुमुक्षु, जो कल्याणार्थी व संविग्न-पाक्षिक थे वे आकर उनसे मिल गए थे। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान के समान चारित्र को भी स्थिर रखने व उन्नत करने में अपनी शक्ति का उपयोग किया था।

(४) गुरु—श्री देवेन्द्रसूरि के गुरु थे श्रीजगच्चन्द्रसूरि जिन्होंने श्री देवभद्र उपाध्याय की मदद से क्रियोद्धार का कार्य आरम्भ किया था। इस कार्य में उन्होंने अपनी असाधारण त्यागवृत्ति दिखाकर औरों के लिए आदर्श उपस्थित किया था। उन्होंने आजन्म आयंबिल व्रत का नियम लेकर घी, दूध आदि के लिए जैन-शास्त्र में व्यवहार किये गए विकृति शब्द को यथार्थ सिद्ध किया। इसी कठिन तपस्या के कारण बड़गच्छ का 'तपागच्छ' नाम हुआ और वे तपागच्छ के आदि सूत्रधार कहलाए। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने गच्छ परिवर्तन के

---

१ देखो गुर्वावली पद्य १२२ से उनका जीवनवृत्त।

२ उदाहरणार्थ—श्री गर्गऋषि, जो दसवीं शताब्दी में हुए, उनके कर्मविपाक का संक्षेप इन्होंने किया। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, जो ग्यारहवीं शताब्दी में हुए, उनके रचित गोम्मटसार से श्रुतज्ञान के पदश्रुतादि बीस भेद पहले कर्मग्रन्थ में दाखिल किये जो श्वेताम्बरीय अन्य ग्रंथों में अब तक देखने में नहीं आए। श्री मलयगिरिसूरि, जो बारहवीं शताब्दी में हुए, उनके ग्रंथ के तो वाक्य के वाक्य इनकी बनाई टीका आदि में दृष्टिगोचर होते हैं।

समय श्री जगच्चन्द्रसूरीश्वर की बहुत अर्चापूजा की। श्री जगच्चन्द्रसूरि तपस्वी ही न थे किन्तु वे प्रतिभाशाली भी थे, क्योंकि गुर्वावली में यह वर्णन है कि उन्होंने चित्तौड़ की राजधानी अघाट (अहड़) नगर में बत्तीस दिगम्बर-वादियों के साथ वाद किया था और उसमें वे हीरे के समान अभेद्य रहे थे। इस कारण चित्तौड़-नरेश की ओर से उनको 'हीरला' की पदवी [१] मिली थी। उनकी कठिन तपस्या, शुद्ध बुद्धि और निरवद्य चारित्र के लिए यही प्रमाण बस है कि उनके स्थापित किये हुए तपागच्छ के पाट पर आज तक [२] ऐसे विद्वान्, क्रियातत्पर और शासन प्रभावक आचार्य्य बराबर होते आए हैं कि जिनके सामने बादशाहों ने, हिन्दू नरपतियों ने और बड़े-बड़े विद्वानों ने सिर झुकाया है।

(५) परिवार—श्री देवेन्द्रसूरि का परिवार कितना बड़ा था इसका स्पष्ट खुलासा तो कहीं देखने में नहीं आया, पर इतना लिखा मिलता है कि अनेक संविग्न मुनि, उनके आश्रित थे।[3] गुर्वावली में उनके दो शिष्य—श्री विद्यानन्द और श्री धर्मकीर्त्ति—का उल्लेख है। ये दोनों भाई थे। 'विद्यानन्द' नाम, सूरिपद के पीछे का है। इन्होंने 'विद्यानन्द' नाम का व्याकरण बनाया है। धर्मकीर्त्ति उपाध्याय, जो सूरिपद लेने के बाद 'धर्मघोष' नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्होंने भी कुछ ग्रंथ रचे हैं। ये दोनों शिष्य, अन्य शास्त्रों के अतिरिक्त जैन-शास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। इसका प्रमाण, उनके गुरु श्री देवेन्द्रसूरि की कमग्रन्थ की वृत्ति के अन्तिम पद्य से मिलता है। उन्होंने लिखा है कि 'मेरी बनाई हुई इस टीका को श्री विद्यानन्द और श्री धर्मकीर्त्ति, दोनों विद्वानों ने शोधा है।' इन दोनों का विस्तृत वृत्तान्त जैनतत्त्वादर्श के बारहवें परिच्छेद में दिया है।

(६) ग्रन्थ—श्री देवेन्द्रसूरि के कुछ ग्रंथ जिनका हाल मालूम हुआ है उनके नाम नीचे लिखे जाते हैं—

१ श्राद्धदिनकृत्य सूत्रवृत्ति, २ सटीक पाँच नवीन कर्मग्रंथ, ३ सिद्धपंचाशिका सूत्रवृत्ति, ४ धर्मरत्नवृत्ति, ५ सुदर्शन चरित्र, ६ चैत्यवंदनादि भाष्यत्रय, ७ वंदारुवृत्ति, ८ सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन, ९ सिद्धदण्डिका, १० सारवृत्तिदशा।

इनमें से प्रायः बहुत से ग्रन्थ जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर, आत्मानन्द सभा भावनगर, देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत की ओर से छप चुके हैं।

ई० १९२१] [कर्मविपाक की प्रस्तावना

---

१ यह सब जानने के लिए देखो गुर्वावली पद्य ८८ से आगे।

२ यथा श्री हीरविजयसूरि, श्रीमद् न्यायविशारद महामहोपाध्याय यशोविजयगणि, श्रीमद् न्यायाम्भोनिधि विजयानन्दसूरि, आदि।

३ देखो, पद्य १५३ में आगे।

'कर्मस्तव'

ग्रन्थ रचना का उद्देश्य

'कर्मविपाक' नामक प्रथम कर्मग्रन्थ में कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ का वर्णन किया गया है। उसमें बन्ध योग्य, उदय-उदीरणा-योग्य और सत्ता योग्य प्रकृतियों की जुदी-जुदी संख्या भी दिखलाई गई है। अब उन प्रकृतियों के बन्ध की, उदय-उदीरणा की और सत्ता की योग्यता को दिखाने की आवश्यकता है। सो इसी आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से इस दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना हुई है।

विषय-वर्णन-शैली

संसारी जीव गिनती में अनन्त हैं। इसलिए उनमें से एक व्यक्ति का निर्देश करके उन सब की बन्धादि संबन्धी योग्यता को दिखाना असंभव है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति में बन्धादि संबन्धी योग्यता भी सदा एक सी नहीं रहती; क्योंकि परिणाम व विचार के बदलते रहने के कारण बन्धादि विषयक योग्यता भी प्रति समय बदला करती है। अतएव आत्मदर्शी शास्त्रकारों ने देहधारी जीवों के १४ वर्ग किये हैं। यह वर्गीकरण, उनकी आभ्यन्तर शुद्धि की उत्क्रान्ति-अपक्रान्ति के आधार पर किया गया है। इसी वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा में गुणस्थान-क्रम कहते हैं। गुणस्थान का यह क्रम ऐसा है कि जिससे १४ विभागों में सभी देहधारी जीवों का समावेश हो जाता है जिससे कि अनन्त देहधारियों की बन्धादि संबन्धी योग्यता को १४ विभागों के द्वारा बतलाना सहज हो जाता है और एक जीव-व्यक्ति की योग्यता—जो प्रति समय बदला करती है—उसका भी प्रदर्शन किसी न किसी विभाग द्वारा किया जा सकता है। संसारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतमभाव की पूरी वैज्ञानिक जाँच करके गुणस्थान क्रम की रचना की गई है। इससे यह बतलाना या समझना सरल हो गया है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक अशुद्धि या शुद्धिवाला जीव, इतनी ही प्रकृतियों के बन्ध का, उदय-उदीरणा का और सत्ता का अधिकारी हो सकता है। इस कर्मग्रन्थ में उक्त गुणस्थान क्रम के आधार से ही जीवों की बन्धादि-संबंधी योग्यता को बतलाया है। यही इस ग्रन्थ की विषय-वर्णन-शैली है।

विषय-विभाग

इस ग्रंथ के विषय के मुख्य चार विभाग हैं—(१) बन्धाधिकार, (२) उदयाधिकार, (३) उदीरणाधिकार और (४) सत्ताधिकार।

बन्धाधिकार में गुणस्थान-क्रम को लेकर प्रत्येक गुणस्थान-वर्ती जीवों की बन्ध योग्यता को दिखाया है। इसी प्रकार उदयाधिकार में, उनकी उदय-संबन्धी योग्यता को, उदीरणाधिकार में उदीरणा संबन्धी योग्यता को और सत्ताधिकार में सत्ता संबन्धी योग्यता को दिखाया है। उक्त चार अधिकारों की घटना जिस वस्तु पर की गई है, इस वस्तु—गुणस्थान-क्रम का नाम निर्देश भी ग्रन्थ के आरम्भ में ही कर दिया गया है। अतएव, इस ग्रन्थ का विषय, पाँच भागों में विभाजित हो गया है। सबसे पहले, गुणस्थान-क्रम का निर्देश और पीछे क्रमशः पूर्वोक्त चार अधिकारी।

'कर्मस्तव' नाम रखने का अभिप्राय

आध्यात्मिक विद्वानों की दृष्टि, सभी प्रवृतियों में आत्मा की ओर रहती है। वे, करें कुछ भी पर उस समय अपने सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित किये होते हैं कि जिससे उनकी आध्यात्मिक महत्त्वाभिलाषा पर जगत के आकर्षण का कुछ भी असर नहीं होता। उन लोगों का अटल विश्वास है कि 'ठीक-ठीक लक्षित दिशा की ओर जो जहाज चलता है वह, बहुत कर विघ्न-बाधाओं का शिकार नहीं होता।' यह विश्वास, कर्मग्रन्थ के रचयिता आचार्य में भी था इससे उन्होंने ग्रन्थ-रचना विषयक प्रवृत्ति के समय भी महान् आदर्श को अपनी नजर के सामने रखना चाहा। ग्रन्थकार की दृष्टि में आदर्श थे भगवान् महावीर। भगवान् महावीर के जिस कर्मक्षय रूप असाधारण गुण पर ग्रन्थकार मुग्ध हुए थे उस गुण को उन्होंने अपनी कृति द्वारा दर्शाना चाहा। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना उन्होंने अपने आदर्श भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से की है। इस ग्रन्थ में मुख्य वर्णन, कर्म के बन्धादि का है, पर वह किया गया है स्तुति के बहाने से। अतएव, प्रस्तुत ग्रन्थ का अर्थानुरूप नाम कर्मस्तव रखा गया है।

ग्रन्थ रचना का आधार

इस ग्रन्थ की रचना 'प्राचीन कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्म ग्रन्थ के आधार पर हुई है। उसका और इसका विषय एक ही है। भेद इतना ही है कि इसका परिमाण प्राचीन ग्रन्थ से अल्प है। प्राचीन में ५५ गाथाएँ हैं, पर इसमें ३४। जो बात प्राचीन में कुछ विस्तार से कही है उसे इसमें परिमित शब्दों के द्वारा कह दिया है। यद्यपि व्यवहार में प्राचीन कर्मग्रन्थ का नाम 'कर्मस्तव' है, पर

उसके आरम्भ की गाथा से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका असली नाम, 'बन्धोदयसत्त्वयुक्तस्तव' है। यथा—

नमिऊण जिणवरिंदे तिहुयणवरनाणदंसणपईवे।
बंधुदयसंतजुत्तं वोच्छामि थयं निसामेह ॥१॥

प्राचीन के आधार से बनाए गए इस कर्मग्रन्थ का 'कर्मस्तव' नाम कर्ता ने इस ग्रन्थ के किसी भाग में उल्लिखित नहीं किया है, तथापि इसका 'कर्मस्तव' नाम होने में कोई संदेह नहीं है। क्योंकि इसी ग्रन्थ के कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि ने अपने रचे तीसरे कर्मग्रन्थ के अन्त में 'नेयं कम्मत्थयं सोउं' इस अंश से उस नाम का कथन कर ही दिया है। स्तव शब्द के पूर्व में 'बन्धोदय-सत्त्व' या 'कर्म' कोई भी शब्द रखा जाए, मतलब एक ही है। परन्तु इस जगह इसकी चर्चा, केवल इसलिए की गई है कि प्राचीन दूसरे कर्म ग्रन्थ के और गोम्मटसार के दूसरे प्रकरण के नाम में कुछ भी फरक नहीं है। यह नाम की एकता, श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों के ग्रन्थ-रचना-विषयक पारस्परिक अनुकरण का पूरा प्रमाण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाम सर्वदा समान होने पर भी गोम्मटसार में तो 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिलकुल विलक्षण है, पर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ में तथा उसकी टीका में 'स्तव' शब्द के उस विलक्षण अर्थ की कुछ भी सूचना नहीं है। इससे यह जान पड़ता है कि यदि गोम्मटसार के बन्धोदयसत्त्वयुक्त नाम का आश्रय लेकर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ का वह नाम रखा गया होता तो उसका विलक्षण अर्थ भी इसमें स्थान पाता। इससे यह कहना पड़ता है कि प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना गोम्मटसार से पूर्व हुई होगी। गोम्मटसार की रचना का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी बतलाया जाता है—प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का समय तथा उसके कर्ता का नाम आदि ज्ञात नहीं। परन्तु उसकी टीका करने वाले 'श्री गोविन्दाचार्य' हैं जो श्री देवनाग के शिष्य थे। श्री गोविंदाचार्य का समय भी संदेह की तह में छिपा है पर उनकी बनाई हुई टीका की प्रति—जो वि० सं० १२७७ में ताड़पत्र पर लिखी हुई है—मिलती है। इससे यह निश्चित है कि उनका समय, वि० सं० १२७७ से पहले होना चाहिए। यदि अनुमान से टीकाकार का समय १२ वीं शताब्दी माना जाए तो भी यह अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं कि मूल द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना उससे सौ-दो सौ वर्ष पहले ही होनी चाहिए। इससे यह हो सकता है कि कदाचित् उस द्वितीय कर्मग्रन्थ का ही नाम गोम्मटसार में लिया गया हो और स्वतंत्रता दिखाने के लिए 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिलकुल बदल दी गई हो। अस्तु, इस विषय में कुछ भी निश्चित करना साहस है। यह

अनुमान सृष्टि, वर्तमान लेखकों की शैली का अनुकरण मात्र है। इस नवीन द्वितीय कर्मग्रन्थ के प्रणेता श्री देवेन्द्रसूरि का समय आदि पहले कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना से जान लेना।

गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का सांकेतिक अर्थ

इस कर्मग्रन्थ में गुणस्थान को लेकर बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार किया है वैसे ही गोम्मटसार में किया है। इस कर्मग्रन्थ का नाम तो 'कर्मस्तव' है पर गोम्मटसार के उस प्रकरण का नाम 'बन्धोदयसत्त्व–युक्त–स्तव' जो 'बन्धुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे थवं वोच्छं' इस कथन से सिद्ध है (गो० कर्म० गा० ७६)। दोनों नामों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि कर्मस्तव में जो 'कर्म' शब्द है उसी की जगह 'बंधोदयसत्वयुक्त' शब्द रखा गया है। परन्तु 'स्तव' शब्द दोनों नामों में समान होने पर भी, उसके अर्थ में बिलकुल भिन्नता है। 'कर्मस्तव' में 'स्तव' शब्द का मतलब स्तुति से है जो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है पर गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का स्तुति अर्थ न करके खास सांकेतिक किया गया है। इसी प्रकार उसमें 'स्तुति' शब्द का भी पारभाषिक अर्थ किया है जो और कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे—

सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं।
वरणणसत्थं थयथुइधम्मकहा होइ णियमेण ॥
—गो० कर्म० गा० ८८

अर्थात् किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करने वाला शास्त्र 'स्तव' कहलाता है, एक अंग का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तुति' और एक अंग के किसी अधिकार का वर्णन जिसमें है वह शास्त्र 'धर्म-कथा' कहाता है।

इस प्रकार विषय और नामकरण दोनों तुल्यप्राय होने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह संप्रदाय-भेद तथा ग्रन्थ-रचना-संबंधी देश-काल के भेद का परिणाम जान पड़ता है।

गुणस्थान का संक्षिप्त सामान्य-स्वरूप

आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञानपूर्ण होती है। वह अवस्था सबसे प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास की बदौलत निकलता है और धीरे-धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णकला—अंतिम हद को पहुँच जाता है। पहली निकृष्ट अवस्था से

निकलकर विकास की आखिरी भूमि को पाना ही आत्मा का परम साध्य है। इस परम साध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी ऐसी क्रमिक अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणी को 'विकास क्रम' या 'उत्क्रांति मार्ग' कहते हैं; और जैन-शास्त्रीय परिभाषा में उसे 'गुणस्थान-क्रम' कहते हैं। इस विकास-क्रम के समय होनेवाली आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का संक्षेप १४ भागों में कर दिया है। ये १४ भाग गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर साहित्य में 'गुण-स्थान' अर्थ में संक्षेप, ओघ सामान्य और जीवसमास शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। १४ गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा—इस प्रकार पूर्वपूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थानों में विकास की मात्रा अधिक रहती है। विकास की न्यूनाधिकता का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है। स्थिरता, समाधि अंतर्दृष्टि, स्वभाव-रमण, स्वोन्मुखता—इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र्य-शक्ति की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। दर्शन शक्ति का जितना अधिक विकास जितनी अधिक निर्मलता उतना ही अधिक आविर्भाव सद्विश्वास, सद्रुचि, सद्भक्ति, सत्श्रद्धा या सत्याग्रह का समझिए। दर्शन शक्ति के विकास के बाद चारित्र शक्ति के विकास का क्रम आता है। जितना-जितना चारित्र-शक्ति का अधिक विकास उतना-उतना अधिक आविर्भाव क्षमा, संतोष, गाम्भीर्य, इन्द्रिय-जय आदि चारित्र गुणों का होता है। जैसे-जैसे दर्शन शक्ति व चारित्र शक्ति की विशुद्धि बढ़ती जाती है, तैसे-तैसे स्थिरता की मात्रा भी अधिक-अधिक होती जाती है। दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति की विशुद्धि का बढ़ना-घटना, उन शक्तियों के प्रतिबंधक (रोकनेवाले) संस्कारों की न्यूनता–अधिकता या मन्दता-तीव्रता पर अवलंबित है। प्रथम तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति व चरित्र-शक्ति का विकास इसलिए नहीं होता कि उनमें उन शक्तियों के प्रति-बंधक संस्कारों की अधिकता या तीव्रता है। चतुर्थ आदि गुण स्थानों में वे ही प्रतिबन्धक संस्कार कम (मन्द) हो जाते हैं; इससे उन गुणस्थानों में शक्तियों का विकास आरम्भ हो जाता है।

इन प्रतिबन्धक (कषाय) संस्कारों के स्थूल दृष्टि से ४ विभाग किये हैं। ये विभाग उन काषायिक संस्कारों की विपाक शक्ति के तरतम-भाव पर आश्रित हैं। उनमें से पहला विभाग—जो दर्शन शक्ति का प्रतिबन्धक है–उसे दर्शन-मोह तथा अनन्तानुबन्धी कहते हैं। शेष तीन विभाग चारित्र शक्ति के प्रतिबन्धक हैं। उनको यथाक्रम अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहते

हैं। प्रथम विभाग की तीव्रता, न्यूनाधिक प्रमाण में तीन गुणस्थानों (भूमिकाओं) तक रहती है। इससे पहले तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति के अविर्भाव का सम्भव नहीं होता। कषाय के उक्त प्रथम विभाग की अल्पता, मन्दता या अभाव होते ही दर्शन-शक्ति व्यक्त होती है। इसी समय आत्मा की दृष्टि खुल जाती है। दृष्टि के इस उन्मेष को विवेकख्याति, भेदज्ञान, प्रकृति-पुरुषान्यता-साक्षात्कार और ब्रह्मज्ञान भी कहते हैं।

इस शुद्धि दृष्टि से आत्मा जड़-चेतन का भेद, असंदिग्ध रूप से जान लेता है। यह उसके विकास-क्रम की चौथी भूमिका है इसी भूमिका में से वह अन्तर्दृष्टि बन जाता है और आत्म मन्दिर में वर्तमान तात्त्विक परमात्म-स्वरूप को देखता है। पहले की तीन भूमिकाओं में दर्शन मोह और अनन्तानुबन्धी नाम के कषाय संस्कारों की प्रबलता के कारण आत्मा अपने परमात्म-भाव को देख नहीं सकता। उस समय वह बहिर्दृष्टि होता है। दर्शनमोह आदि संस्कारों के वेग के कारण उस समय उसकी दृष्टि इतनी अस्थिर व चंचल बन जाती है कि जिससे वह अपने में ही वर्तमान परमात्म स्वरूप या ईश्वरत्व को देख नहीं सकता। ईश्वरत्व भीतर ही है, परन्तु है वह अत्यन्त सूक्ष्म; इसलिए स्थिर व निर्मल दृष्टि के द्वारा ही उसका दर्शन किया जा सकता है। चौथी भूमिका या चौथे गुणस्थान को परमात्म-भाव के या ईश्वरत्व के दर्शन का द्वार कहना चाहिए। और उतनी हद तक पहुँचे हुए आत्मा को अन्तरात्मा कहना चाहिए। इसके विपरीत पहली तीन भूमिकाओं में वर्तने के समय, आत्मा को बहिरात्मा कहना चाहिये। क्योंकि वह उस समय बाहरी वस्तुओं में ही आत्मत्व की भ्रान्ति से इधर-उधर दौड़ लगाया करता है। चौथी भूमिका में दर्शन मोह तथा अनन्तानुबन्धी संस्कारों का वेग तो नहीं रहता, पर चारित्र-शक्ति के आवरण-भूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। उनमें से अप्रत्याख्यानावरण संस्कार का वेग चौथी भूमिका से आगे नहीं होता इससे पाँचवीं भूमिका में चारित्र-शक्ति का प्राथमिक विकास होता है; जिससे उस समय आत्मा, इन्द्रिय-जय यम-नियम आदि को थोड़े बहुत रूप में करता है—थोड़े बहुत नियम पालने के लिए सहिष्णु हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण नामक संस्कार—जिनका वेग पाँचवीं भूमिका से आगे नहीं है—उनका प्रभाव पड़ते ही चारित्र-शक्ति का विकास और भी बढ़ता है, जिससे आत्मा बाहरी भोगों से हटकर पूरा संन्यासी बन जाता है। यह हुई विकास की छठी भूमिका। इस भूमिका में भी चारित्र-शक्ति के विपक्षी 'संज्वलन' नाम के संस्कार कभी-कभी ऊधम मचाते हैं, जिससे चारित्र-शक्ति का विकास दबता नहीं, पर उसकी शुद्धि या स्थिरता में अन्तराय इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार वायु के वेग के कारण, दीप की ज्योति

की स्थिरता व अधिकता में। आत्मा जब 'संज्वलन' नाम के संस्कारों को दबाता है, तब उत्क्रान्ति पथ की सातवीं आदि भूमिकाओं को लाँघकर ग्यारहवीं-बारहवीं भूमिका तक पहुँच जाता है। बारहवीं भूमिका में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, जिससे उक्त दोनों शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। तथापि उस अवस्था में शरीर का संबन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता परिपूर्ण होने नहीं पाती। वह चौदहवीं भूमिका में सर्वथा पूर्ण बन जाती है और शरीर का वियोग होने के बाद वह स्थिरता, वह चारित्र-शक्ति अपने यथार्थ रूप में विकसित होकर सदा के लिये एक सी रहती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता। वह आत्मा की समग्र शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
अज्ञान-हृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

—शिव गीता—१३–३२

यह विकास की पराकाष्ठ, यह परमात्म-भाव का अभेद, यह चौथी भूमिका (गुण-स्थान) में देखे हुए ईश्वरत्व का तादात्म्य, यह वेदान्तियों का ब्रह्म-भाव यह जीव का शिव होना और यही उत्क्रान्ति मार्ग का अन्तिम साध्य है। इसी साध्य तक पहुँचने के लिए आत्मा को विरोधी संस्कारों के साथ लड़ते-झगड़ते, उन्हें दबाते, उत्क्रान्ति-मार्ग की जिन-जिन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, उन भूमिकाओं के क्रम को ही 'गुणस्थान क्रम' समझना चाहिए। यह तो हुआ गुणस्थानों का सामान्य स्वरूप। उन सबका विशेष स्वरूप थोड़े बहुत विस्तार के साथ इसी कर्मग्रन्थ की दूसरी गाथा की व्याख्या में लिख दिया गया है।

ई० १९२१] [द्वितीय कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना

'बन्धस्वामित्व'

विषय—मार्गणाओं में गुण स्थानों को लेकर बन्धस्वामित्व का वर्णन इस कर्मग्रन्थ में किया है; अर्थात् किस-किस मार्गणा में कितने-कितने गुणस्थानों का संभव है और प्रत्येक मार्गणावर्त्ती जीवों की सामान्य-रूप से तथा गुणस्थान के विभागानुसार कर्म-बन्ध संबन्धिनी कितनी योग्यता है इसका वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है।

मार्गणा, गुणस्थान और उनका पारस्परिक अन्तर

(क) मार्गणा—संसार में जीव–राशि अनन्त है। सब जीवों के बाह्य और आन्तरिक जीवन की बनावट में जुदाई है। क्या डील-डौल, क्या इन्द्रिय–रचना, क्या रूप–रङ्ग, क्या चाल-ढाल, क्या विचार–शक्ति, क्या मनोबल, क्या विकारजन्य भाव, क्या चारित्र इन सब विषयों में जीव एक दूसरे से भिन्न हैं। यह भेद-विस्तार कर्मजन्य—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक—भावों पर तथा सहज पारिणामिक भाव पर अवलम्बित है। भिन्नता की गहराई इतनी ज्यादा है कि इससे सारा जगत् आप ही अजायबघर बना हुआ है। इन अनन्त भिन्नताओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में चौदह विभागों में विभाजित किया है। चौदह विभागों के भी अवान्तर विभाग किये हैं, जो ६२ हैं। जीवों की बाह्य–आन्तरिक–जीवन–संबन्धिनी अनन्त भिन्नताओं के बुद्धिगम्य उक्त वर्गीकरण को शास्त्र में 'मार्गणा' कहते हैं।

(ख) गुणस्थान—मोह का प्रगाढ़तम आवरण, जीव की निकृष्टतम अवस्था है। सम्पूर्ण चारित्र-शक्ति का विकास—निर्मोहता और स्थिरता की पराकाष्ठा—जीव की उच्चतम अवस्था है। निकृष्टतम अवस्था से निकलकर उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिए जीव मोह के परदे को क्रमशः हटाता है और अपने स्वाभाविक गुणों का विकास करता है। इस विकास–मार्ग में जीव को अनेक अवस्थाएँ तय करनी पड़ती हैं। जैसे थरमामीटर की नली के अङ्क, उष्णता के परिमाण को बतलाते हैं वैसे ही उक्त अनेक अवस्थाएँ जीव के आध्यात्मिक विकास की मात्रा को जनाती हैं। दूसरे शब्दों में इन अवस्थाओं को आध्यात्मिक विकास की परिमापक रेखाएँ कहना चाहिए। विकास-मार्ग की

इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं। इन क्रमिक संख्यातीत अवस्थाओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में १४ विभागों में विभाजित किया है। यही १४ विभाग जैन शास्त्र में '१४ गुणस्थान' कहे जाते हैं।

वैदिक साहित्य में इस प्रकार की आध्यात्मिक अवस्थाओं का वर्णन है। [1]पातञ्जल योग–दर्शन में ऐसी आध्यात्मिक भूमिकाओं का मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा नाम से उल्लेख किया है। [2]योगवासिष्ठ में अज्ञान की सात और ज्ञान की सात इस तरह चौदह चित्त-भूमिकाओं का विचार आध्यात्मिक विकास के आधार पर बहुत विस्तार से किया है।

(ग) मार्गणा और गुणस्थान का पारस्परिक अन्तर– मार्गणाओं की कल्पना कर्म पटल के तरतमभाव पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु जो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताएँ जीव को घेरे हुए हैं वही मार्गणाओं की कल्पना का आधार है। इसके विपरीत गुणस्थानों की कल्पना कर्मपटल के, खास कर मोहनीय कर्म के, तरतमभाव और योग की प्रवृत्ति–पर अवलम्बित है।

मार्गणाएँ जीव के विकास की सूचक नहीं हैं किन्तु वे उस के स्वाभाविक–वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण हैं। इससे उलटा गुणस्थान, जीव के विकास के सूचक हैं, वे विकास की क्रमिक अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण हैं।

मार्गणाएँ सब सह-भाविनी हैं पर गुणस्थान क्रम-भावी। इसी कारण प्रत्येक जीव में एक साथ चौदहों मार्गणाएँ किसी न किसी प्रकार से पाई जाती हैं—सभी संसार जीव एक ही समय में प्रत्येक मार्गणा में वर्तमान पाये जाते हैं। इससे उलटा गुणस्थान एक समय में एक जीव में एक ही पाया जाता है—एक समय में सब जीव किसी एक गुणस्थान के अधिकारी नहीं बन सकते, किंतु उन का कुछ भाग ही एक समय में एक गुणस्थान का अधिकारी होता है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि एक जीव एक समय में किसी एक गुणस्थान में ही वर्तमान होता है परंतु एक ही जीव एक समय में चौदहों मार्गणाओं में वर्तमान होता है।

पूर्व-पूर्व गुणस्थान को छोड़कर उत्तरोत्तर गुणस्थान को प्राप्त करना आध्यात्मिक विकास को बढ़ाना है, परंतु पूर्व-पूर्व मार्गणा को छोड़कर उत्तरोत्तर मार्गणा न तो प्राप्त ही की जा सकती हैं और न इनसे आध्यात्मिक विकास ही सिद्ध

---

१ पाद १ सू. ३६; पाद ३ सू. ४८–४९ का भाष्य; पाद १ सूत्र १ की टीका।

२ उत्पत्ति प्रकरण–सर्ग ११७–११८–१२६, निर्वाण १२०–१२६।

होता है। विकास की तेरहवीं भूमिका तक पहुँचे हुए—कैवल्य-प्राप्त-जीव में भी कषाय के सिवाय सब मार्गणाएँ पाई जाती हैं पर गुणस्थान केवल तेरहवाँ पाया जाता है। अंतिम-भूमिका-प्राप्त जीव में भी तीन-चार को छोड़ सब मार्गणाएँ होती हैं जो कि विकास की बाधक नहीं हैं, किंतु गुणस्थान उसमें केवल चौदहवाँ होता है।

पिछले कर्मग्रन्थों के साथ तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति—दुःख हेय है क्योंकि उसे कोई भी नहीं चाहता। दुःख का सर्वथा नाश तभी हो सकता है जब कि उसके असली कारण का नाश किया जाए। दुःख की असली जड़ है कर्म (वासना)। इसलिए उसका विशेष परिज्ञान सब को करना चाहिए; क्योंकि कर्म का परिज्ञान बिना किए न तो कर्म से छुटकारा पाया जा सकता है और न दुःख से। इसी कारण पहले कर्मग्रन्थ में कर्म के स्वरूप का तथा उसके प्रकारों का बुद्धिगम्य वर्णन किया है।

कर्म के स्वरूप और प्रकारों को जानने के बाद यह प्रश्न होता है कि क्या कदाग्रही-सत्याग्रही, अजितेन्द्रिय-जितेन्द्रिय, अशान्त-शान्त और चपल-स्थिर सब प्रकार के जीव अपने-अपने मानस-क्षेत्र में कर्म के बीज को बराबर परिमाण में ही संग्रह करते और उनके फल को चखते रहते हैं या न्यूनाधिक परिमाण में? इस प्रश्न का उत्तर दूसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। गुणस्थान के अनुसार प्राणीवर्ग के चौदह विभाग करके प्रत्येक विभाग की कर्म-विषयक बन्ध-उदय-उदीरणा-सत्ता-संबन्धी योग्यता का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार प्रत्येक गुणस्थान वाले अनेक शरीरधारियों की कर्म-बन्ध आदि संबन्धी योग्यता दूसरे कर्मग्रन्थ के द्वारा मालूम की जाती है इसी प्रकार एक शरीरधारी की कर्म-बन्ध-आदि-संबन्धी योग्यता, जो भिन्न-भिन्न समय में आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा अपकर्ष के अनुसार बदलती रहती है उसका ज्ञान भी उसके द्वारा किया जा सकता है। अतएव प्रत्येक विचार-शील प्राणी अपने या अन्य के आध्यात्मिक विकास के परिमाण का ज्ञान करके यह जान सकता है कि मुझ में या अन्य में किस-किस प्रकार के तथा कितने कर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता की योग्यता है।

उक्त प्रकार का ज्ञान होने के बाद फिर यह प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले भिन्न-भिन्न गति के जीव या समान गुणस्थान वाले किन्तु न्यूनाधिक इन्द्रिय वाले जीव कर्म-बन्ध की समान योग्यता वाले होते हैं या असमान योग्यता वाले? इस प्रकार यह भी प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले स्थावर-जंगम जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु भिन्न-भिन्न योग-युक्त जीव की या समान गुणस्थान वाले भिन्न-भिन्न लिंग (वेद) धारी जीव की या समान

गुणस्थान वाले किन्तु विभिन्न कषाय वाले जीव की बन्ध-योग्यता बराबर ही होती है या न्यूनाधिक ? इस तरह ज्ञान, दर्शन, संयम आदि गुणों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार के परन्तु गुणस्थान की दृष्टि से समान प्रकार के जीवों की बन्ध-योग्यता के संबन्ध में कई प्रश्न उठते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर तीसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। इसमें जीवों की गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि चौदह अवस्थाओं को लेकर गुणस्थान-क्रम से यथा-संभव बन्ध-योग्यता दिखाई है, जो आध्यात्मिक दृष्टि वालों को बहुत मनन करने योग्य है।

दूसरे कर्मग्रन्थ के ज्ञान की अपेक्षा—दूसरे कर्म-ग्रंथ में गुणस्थानों को लेकर जीवों की कर्म-बन्ध-संबन्धिनी योग्यता दिखाई है और तीसरे में मार्गणाओं में भी सामान्य-रूप से बन्ध-योग्यता दिखाकर फिर प्रत्येक मार्गणा में यथासंभव गुणस्थानों को लेकर वह दिखाई गई है। इसीलिए उक्त दोनों कर्मग्रन्थों के विषय भिन्न होने पर भी उनका आपस में इतना घनिष्ट संबंध है कि जो दूसरे कर्मग्रंथ को अच्छी तरह न पढ़ ले वह तीसरे का अधिकारी ही नहीं हो सकता। अतः तीसरे के पहले दूसरे का ज्ञान कर लेना चाहिए।

प्राचीन और नवीन तीसरा कर्मग्रन्थ—ये दोनों, विषय में समान हैं। नवीन की अपेक्षा प्राचीन में विषय-वर्णन कुछ विस्तार से किया है; यही भेद है। इसी से नवीन में जितना विषय २५ गाथाओं में वर्णित है उतना ही विषय प्राचीन में ५४ गाथाओं में। ग्रंथकार ने अभ्यासियों की सरलता के लिए नवीन कर्मग्रंथ की रचना में यह ध्यान रखा है कि निष्प्रयोजन शब्द-विस्तार न हो और विषय पूरा आए। इसीलिए गति आदि मार्गणा में गुणस्थानों की संख्या का निर्देश जैसा प्राचीन कर्मग्रंथ में बन्ध-स्वामित्व के कथन से अलग किया है नवीन कर्मग्रंथ में वैसा नहीं किया है; किन्तु यथासंभव गुणस्थानों को लेकर बन्ध-स्वामित्व दिखाया है, जिससे उनकी संख्या को अभ्यासी आप ही जान ले। नवीन कर्मग्रंथ है संक्षिप्त, पर वह इतना पूरा है कि इसके अभ्यासी थोड़े ही में विषय को जानकर प्राचीन बन्ध-स्वामित्व को बिना टीका-टिप्पणी की मदद के जान सकते हैं इसी से पठन-पाठन में नवीन तीसरे का प्रचार है।

गोम्मटसार के साथ तुलना—तीसरे कर्मग्रंथ का विषय कर्मकाण्ड में है, पर उसकी वर्णन-शैली कुछ भिन्न है। इसके सिवाय तीसरे कर्मग्रंथ में जो-जो विषय नहीं हैं और दूसरे कर्मग्रंथ के संबन्ध की दृष्टि से जिस-जिस विषय का वर्णन करना पढ़नेवालों के लिए लाभदायक है वह सब कर्मकाण्ड में है। तीसरे कर्मग्रंथ में मार्गणाओं में केवल बन्ध-स्वामित्व वर्णित है परन्तु कर्मकाण्ड में बन्ध-स्वामित्व के अतिरिक्त मार्गणाओं को लेकर उदय-स्वामित्व, उदीरणा-स्वामित्व

और सत्ता-स्वामित्व भी वर्णित है। [इसके विशेष खुलासे के लिए तीसरे कर्मग्रंथ में परिशिष्ट (क) नं० १ देखो]। इसलिए तीसरे कर्मग्रंथ के अभ्यासियों को उसे अवश्य देखना चाहिए। तीसरे कर्मग्रंथ में उदय-स्वामित्व आदि का विचार इसलिए नहीं किया जान पड़ता है कि दूसरे और तीसरे कर्मग्रंथ के पढ़ने के बाद अभ्यासी उसे स्वयं सोच ले। परन्तु आजकल तैयार विचार को सब जानते हैं; स्वतंत्र विचार कर विषय को जानने वाले बहुत कम देखे जाते है। इसलिए कर्मकाण्ड की उक्त विशेषता से सब अभ्यासियों को लाभ उठाना चाहिए।

ई० १६२२] [तीसरे कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना

'षडशीतिक'

नाम—

प्रस्तुत प्रकरण का 'चौथा कर्मग्रन्थ' यह नाम प्रसिद्ध है, किन्तु इसका असली नाम षडशीतिक है। यह 'चौथा कर्मग्रन्थ' इसलिए कहा गया है कि छह कर्म-ग्रन्थों में इसका नम्बर चौथा है; और 'षडशीतिक' नाम इसलिए नियत है कि इसमें मूल गाथाएँ छियासी हैं। इसके सिवाय इस प्रकरण को 'सूक्ष्मार्थ विचार भी कहते हैं, सो इसलिए कि ग्रंथकार ने ग्रंथ के अंत में 'सुहुमत्थवियारो' शब्द का उल्लेख किया है। इस प्रकार देखने से यह स्पष्ट ही मालूम होता है' कि प्रस्तुत प्रकरण के उक्त तीनों नाम अन्वर्थ—सार्थक हैं।

यद्यपि टबावाली प्रति जो श्रीयुत् भीमसी माणिक द्वारा 'निर्णयसागर प्रेस, बम्बई' से प्रकाशित 'प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग' में छपी है, उसमें मूल गाथाओं की संख्या नवासी है, किन्तु वह प्रकाशक की भूल है। क्योंकि उसमें जो तीन गाथाएँ दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर पर मूल रूप में छपी हैं, वे वस्तुतः मूल रूप नहीं हैं, किंतु प्रस्तुत प्रकरण की विषय-संग्रह गाथाएँ हैं। अर्थात् इस प्रकरण में मुख्य क्या-क्या विषय हैं और प्रत्येक मुख्य विषय से संबंध रखनेवाले अन्य कितने विषय हैं, इसका प्रदर्शन करनेवाली वे गाथाएँ हैं। अतएव ग्रंथकार ने उक्त तीन गाथाएँ स्वपोज्ञ टीका में उद्धृत की हैं, मूल रूप से नहीं ली हैं और न उन पर टीका की है।

संगति

पहले तीन कर्मग्रंथों के विषयों की संगति स्पष्ट है। अर्थात् पहले कर्मग्रंथ में मूल तथा उत्तर कर्म प्रकृतियों की संख्या और उनका विपाक वर्णन किया गया है। दूसरे कर्मग्रन्थ में प्रत्येक गुणस्थान को लेकर उसमें यथासंभव बंध, उदय, उदीरणा और सत्तागत उत्तर प्रकृतियों की संख्या बतलाई गई है और तीसरे कर्मग्रंथ में प्रत्येक मार्गणास्थान को लेकर उसमें यथासंभव गुणस्थानों के विषय में उत्तर कर्मप्रकृतियों का बंधस्वामित्व वर्णन किया है। तीसरे कर्मग्रंथ में मार्गणास्थानों में गुणस्थानों को लेकर बंधस्वामित्व वर्णन किया है सही, किंतु मूल में कहीं भी यह विषय स्वतंत्र रूप से नहीं कहा गया है कि किस किस मार्गणास्थान में कितने-कितने और किन-किन गुणस्थानों का सम्भव है।

अतएव चतुर्थ कर्मग्रन्थ में इस विषय का प्रतिपादन किया है और उक्त

जिज्ञासा की पूर्ति की गई है। जैसे मार्गणास्थानों में गुणस्थानों की जिज्ञासा होती है, वैसे ही जीवस्थानों में गुणस्थानों की और गुणस्थानों में जीवस्थानों की भी जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं, बल्कि जीवस्थानों में योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों की और मार्गणास्थानों में जीवस्थान, योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों की तथा गुणस्थानों में योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों की भी जिज्ञासा होती है। इन सब जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए चतुर्थ कर्मग्रन्थ की रचना हुई है। इससे इसमें मुख्यतया जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये तीन अधिकार रखे गये हैं। और प्रत्येक अधिकार में क्रमशः आठ, छह तथा दस विषय वर्णित हैं, जिनका निर्देश पहली गाथा के भावार्थ में पृष्ठ २ पर तथा स्फुट नोट में संग्रह गाथाओं के द्वारा किया गया है। इसके सिवाय प्रसंग वश इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने भावों का और संख्या का भी विचार किया है।

यह प्रश्न हो ही नहीं सकता कि तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति के अनुसार मार्गणास्थानों में गुणस्थानों मात्र का प्रतिपादन करना आवश्यक होने पर भी, जैसे अन्य-अन्य विषयों का इस ग्रंथ में अधिक वर्णन किया है, वैसे और भी नए-नए कई विषयों का वर्णन इसी ग्रंथ में क्यों नहीं किया गया? क्योंकि किसी भी एक ग्रंथ में सब विषयों का वर्णन असंभव है। अतएव कितने और किन विषयों का किस क्रम से वर्णन करना, यह ग्रंथकार की इच्छा पर निर्भर है; अर्थात् इस बात में ग्रंथकार स्वतंत्र है। इस विषय में नियोग-पर्यनुयोग करने का किसी को अधिकार नहीं है।

प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ

'षडशीतिक' यह मुख्य नाम दोनों का समान है, क्योंकि गाथाओं की संख्या दोनों में बराबर छियासी ही है। परंतु नवीन ग्रंथकार ने 'सूक्ष्मार्थ विचार' ऐसा नाम दिया है और प्राचीन की टीका के अंत में टीकाकार ने उसका नाम 'आगमिक वस्तु विचारसार' दिया है। नवीन की तरह प्राचीन में भी मुख्य अधिकार जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान ये तीन ही हैं। गौण अधिकार भी जैसे नवीन में क्रमशः आठ, छह तथा दस हैं, वैसे ही प्राचीन में भी हैं। गाथाओं की संख्या समान होते हुए भी नवीन में यह विशेषता है कि उसमें वर्णनशैली संक्षिप्त करके ग्रंथकार ने दो और विषय विस्तारपूर्वक वर्णन किये हैं। पहला विषय 'भाव' और दूसरा 'संख्या' है। इन दोनों का स्वरूप नवीन में सविस्तर है और प्राचीन में बिलकुल नहीं है। इसके सिवाय प्राचीन और नवीन का विषय-साम्य तथा क्रम-साम्य बराबर है। प्राचीन पर टीका, टिप्पणी, विवरण, उद्धार, भाष्य

आदि व्याख्याएँ नवीन की अपेक्षा अधिक हैं। हाँ, नवीन पर, जैसे गुजराती टबे हैं, वैसे प्राचीन पर नहीं हैं।

इस संबंध की विशेष जानकारी के लिए अर्थात् प्राचीन और नवीन पर कौन-कौन सी व्याख्या किस-किस भाषा में और किस किसकी बनाई हुई है, इत्यादि जानने के लिए पहले कर्मग्रंथ के आरम्भ में जो कर्मविषयक साहित्य की तालिका दी है, उसे देख लेना चाहिए।

चौथा कर्मग्रन्थ और आगम, पंचसंग्रह तथा गोम्मटसार

यद्यपि चौथे कर्मग्रंथ का कोई-कोई (जैसे गुणस्थान आदि) विषय वैदिक तथा बौद्ध साहित्य में नामांतर तथा प्रकारांतर से वर्णन किया हुआ मिलता है, तथापि उसकी समान कोटि का कोई खास ग्रंथ उक्त दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

जैन-साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर, दो सम्प्रदायों में विभक्त है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य में विशिष्ट विद्वानों की कृति स्वरूप 'आगम' और 'पञ्चसंग्रह' ये प्राचीन ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमें कि चौथे कर्मग्रंथ का सम्पूर्ण विषय पाया जाता है, या यों कहिए कि जिनके आधार पर चौथे कर्मग्रंथ की रचना ही की गई है।

यद्यपि चौथे कर्मग्रंथ में और जितने विषय जिस क्रम से वर्णित हैं, वे सब उसी क्रम से किसी एक आगम तथा पञ्चसंग्रह के किसी एक भाग में वर्णित नहीं हैं, तथापि भिन्न-भिन्न आगम और पञ्चसंग्रह के भिन्न-भिन्न भाग में उसके सभी विषय लगभग मिल जाते हैं। चौथे कर्मग्रंथ का कौन सा विषय किस आगम में और पञ्चसंग्रह के किस भाग में आता है, इसकी सूचना प्रस्तुत अनुवाद में उस-उस विषय के प्रसंग में टिप्पणी के तौर पर यथासंभव कर दी गई है, जिससे कि प्रस्तुत ग्रंथ के अभ्यासियों को आगम और पञ्चसंग्रह के कुछ उपयुक्त स्थल मालूम हों तथा मतभेद और विशेषताएँ ज्ञात हों।

प्रस्तुत ग्रंथ के अभ्यासियों के लिए आगम और पञ्चसंग्रह का परिचय करना लाभदायक है; क्योंकि उन ग्रंथों के गौरव का कारण सिर्फ उनकी प्राचीनता ही नहीं है, बल्कि उनकी विषय-गम्भीरता तथा विषयस्फुटता भी उनके गौरव का कारण है।

'गोम्मटसार' यह दिगम्बर सम्प्रदाय का कर्म-विषयक एक प्रतिष्ठित ग्रंथ है, जो कि इस समय उपलब्ध है। यद्यपि वह श्वेताम्बरीय आगम तथा पञ्चसंग्रह की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है, फिर भी उसमें विषय-वर्णन, विषय-विभाग और प्रत्येक विषय के लक्षण बहुत स्फुट हैं। गोम्मटसार के 'जीवकाण्ड' और 'कर्मकाण्ड'- ये मुख्य दो विभाग हैं। चौथे कर्मग्रंथ का विषय जीवकाण्ड में ही

है और वह इससे बहुत बड़ा है। यद्यपि चौथे कर्मग्रंथ के सब विषय प्रायः जीवकाण्ड में वर्णित हैं, तथापि दोनों की वर्णनशैली बहुत अंशों में भिन्न है।

जीवकाण्ड में मुख्य बीस प्ररूपणाएँ हैं—१ गुणस्थान, १ जीवस्थान, १ पर्याप्ति, १ प्राण, १ संज्ञा, १४ मार्गणाएँ और १ उपयोग, कुल बीस। प्रत्येक प्ररूपणा का उसमें बहुत विस्तृत और विशद वर्णन है। अनेक स्थलों में चौथे ग्रंथ के साथ उसका मतभेद भी है।

इसमें संदेह नहीं कि चौथे कर्मग्रंथ के पाठियों के लिए जीवकाण्ड एक खास देखने की वस्तु है; क्योंकि इससे अनेक विशेष बातें मालूम हो सकती हैं। कर्म-विषयक अनेक विशेष बातें जैसे श्वेताम्बरीय ग्रंथों में लभ्य हैं, वैसे ही अनेक विशेष बातें, दिगंबरीय ग्रंथो में भी लभ्य हैं। इस कारण दोनों संप्रदाय के विशेष-जिज्ञासुओं को एक दूसरे के समान विषयक ग्रंथ अवश्य देखने चाहिए। इसी अभिप्राय से अनुवाद में उस-उस विषय का साम्य और वैषम्य दिखाने के लिए जगह-जगह गोम्मटसार के अनेक उपयुक्त स्थल उद्धृत तथा निर्दिष्ट किये हैं।

विषय-प्रवेश

जिज्ञासु लोग जब तक किसी भी ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय का परिचय नहीं कर लेते तब तक उस ग्रंथ के लिए प्रवृत्ति नहीं करते। इस नियम के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ के अध्ययन के निमित्त योग्य अधिकारियों की प्रवृत्ति कराने के लिए यह आवश्यक है कि शुरू में प्रस्तुत ग्रंथ के विषय का परिचय कराया जाए। इसी को 'विषय-प्रवेश' कहते हैं।

विषय का परिचय सामान्य और विशेष दो प्रकार से कराया जा सकता है।

(क) ग्रंथ किस तात्पर्य से बनाया गया है; उसका मुख्य विषय क्या है और वह कितने विभागों में विभाजित है; प्रत्येक विभाग से संबन्ध रखनेवाले अन्य कितने-कितने और कौन-कौन विषय हैं; इत्यादि वर्णन करके ग्रंथ के शब्दात्मक कलेवर के साथ विषय-रूप आत्मा के संबन्ध का स्पष्टीकरण कर देना अर्थात् ग्रंथ का प्रधान और गौण विषय क्या-क्या है तथा वह किस-किस क्रम से वर्णित है, इसका निर्देश कर देना, यह विषय का सामान्य परिचय है।

(ख) लक्षण द्वारा प्रत्येक विषय का स्वरूप बतलाना यह उसका विशेष परिचय है।

प्रस्तुत ग्रंथ के विषय का विशेष परिचय तो उस-उस विषय के वर्णन-स्थान में यथासंभव मूल में किंवा विवेचन में करा दिया गया है। अतएव इस जगह विषय का सामान्य परिचय कराना ही आवश्यक एवं उपयुक्त है।

प्रस्तुत ग्रंथ बनाने का तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करके यह बतलाया जाए कि अमुक-अमुक अवस्थाएँ औपाधिक, वैभाविक किंवा कर्म-कृत होने से अस्थायी तथा हेय हैं; और अमुक-अमुक अवस्था स्वाभाविक होने के कारण स्थायी तथा उपादेय है। इसके सिवा यह भी बतलाना है कि, जीव का स्वभाव प्रायः विकास करने का है। अतएव वह अपने स्वभाव के अनुसार किस प्रकार विकास करता है और तद्द्वारा औपाधिक अवस्थाओं को त्याग कर किस प्रकार स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव करता है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रस्तुत ग्रंथ में मुख्यतया पाँच विषय वर्णन किये हैं

(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) भाव और-(५) संख्या।

इनमें से प्रथम मुख्य तीन विषयों के साथ अन्य विषय भी वर्णित हैं—जीवस्थान में (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता ये आठ विषय वर्णित हैं। मार्गणा स्थान में (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्प-बहुत्व, ये छः विषय वर्णित हैं तथा गुणस्थान में (१) जीव-स्थान. (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध-हेतु, (६) बन्ध, (७) उदय (८) उदीरणा, (९) सत्ता और (१०) अल्प-बहुत्व, ये दस विषय वर्णित हैं। पिछले दो विषयों का अर्थात् भाव और संख्या का वर्णन अन्य-अन्य विषय के वर्णन से मिश्रित नहीं है, अर्थात् उन्हें लेकर अन्य कोई विषय वर्णन नहीं किया है।

इस तरह देखा जाए तो प्रस्तुत ग्रंथ के शब्दात्मक कलेवर के मुख्य पाँच हिस्से हो जाते हैं।

पहिला हिस्सा दूसरी गाथा से आठवीं गाथा तक का है, जिसमें जीवस्थान का मुख्य वर्णन कर के उसके संबन्धी उक्त आठ विषयों का वर्णन किया गया है। दूसरा हिस्सा नवीं गाथा से लेकर चौवालिसवीं गाथा तक का है, जिसमें मुख्यतया मार्गणास्थान को लेकर उसके संबंध से छः विषयों का वर्णन किया गया है। तीसरा हिस्सा पैंतालीसवीं गाथा से लेकर त्रेसठवीं गाथा तक का है, जिसमें मुख्यतया गुणस्थान को लेकर उसके आश्रय से उक्त दस विषयों का वर्णन किया गया है। चौथा हिस्सा चौंसठवीं गाथा से लेकर सत्तरवीं गाथा तक का है, जिसमें केवल भावों का वर्णन है। पाँचवाँ हिस्सा इकहत्तरवीं गाथा से

छियासीवीं गाथा तक का है, जिसमें सिर्फ संख्या का वर्णन है। संख्या के वर्णन के साथ ही ग्रंथ की समाप्ति होती है।

जीवस्थान आदि उक्त मुख्य तथा गौण विषयों का स्वरूप पहली गाथा के भावार्थ में लिख दिया गया है; इसलिए फिर से यहाँ लिखने की जरूरत नहीं है। तथापि यह लिख देना आवश्यक है कि प्रस्तुत ग्रंथ बनाने का उद्देश्य जो ऊपर लिखा गया है, उसकी सिद्धि जीवस्थान आदि उक्त विषयों के वर्णन से किस प्रकार हो सकती है।

जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान और भाव ये सांसारिक जीवों की विविध अवस्थाएँ हैं। जीवस्थान के वर्णन से यह मालूम किया जा सकता है कि जीवस्थान रूप चौदह अवस्थाएँ जाति सापेक्ष हैं किंवा शारीरिक रचना के विकास या इंद्रियों की न्यूनाधिक संख्या पर निर्भर हैं। इसी से सब कर्म-कृत या वैभाविक होने के कारण अंत में हेय हैं। मार्गणास्थान के बोध से यह विदित हो जाता है कि सभी मार्गणाएँ जीव की स्वाभाविक अवस्था रूप नहीं हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र और अनाहारकत्व के सिवाय अन्य सब मार्गणाएँ न्यूनाधिक रूप में अस्वाभाविक हैं। अतएव स्वरूप की पूर्णता के इच्छुक जीवों के लिए अन्त में वे हेय ही हैं। गुणस्थान के परिज्ञान से यह ज्ञात हो जाता है कि गुणस्थान यह आध्यात्मिक उत्क्रांति करनेवाले आत्मा की उत्तरोत्तर-विकास-सूचक भूमिकाएँ हैं। पूर्व-पूर्व भूमिका के समय उत्तर-उत्तर भूमिका उपादेय होने पर भी परिपूर्ण विकास हो जाने से वे सभी भूमिकाएँ आप ही आप छुट जाती हैं। भावों की जानकारी से यह निश्चय हो जाता है कि क्षायिक भावों को छोड़कर अन्य सब भाव चाहे वे उत्क्रांति काल में उपादेय क्यों न हों, पर अन्त में हेय ही हैं। इस प्रकार जीव का स्वाभाविक स्वरूप क्या है और अस्वाभाविक क्या है, इसका विवेक करने के लिए जीवस्थान आदि उक्त विचार जो प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है, वह आध्यात्मिक विद्या के अभ्यासियों के लिए अतीव उपयोगी है।

आध्यात्मिक ग्रंथ दो प्रकार के हैं। एक तो ऐसे हैं जो सिर्फ आत्मा के शुद्ध स्वरूप का और दूसरे, अशुद्ध तथा मिश्रित स्वरूप का वर्णन करते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ दूसरी कोटि का है। अध्यात्म-विद्या के प्राथमिक और माध्यमिक अभ्यासियों के लिए ऐसे ग्रंथ विशेष उपयोगी हैं; क्योंकि उन अभ्यासियों की दृष्टि व्यवहार-परायण होने के कारण ऐसे ग्रंथों के द्वारा ही क्रमशः केवल पारमार्थिक स्वरूप-ग्राहिणी बनाई जा सकती है।

आध्यात्मिक-विद्या के प्रत्येक अभ्यासी की यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है

कि आत्मा किस प्रकार और किस क्रम से आध्यात्मिक विकास करता है, तथा उसे विकास के समय कैसी-कैसी अवस्था का अनुभव होता है। इस जिज्ञासा की पूर्ति की दृष्टि से देखा जाए तो अन्य विषयों की अपेक्षा गुणस्थान का महत्त्व अधिक है। इस खयाल से इस जगह गुणस्थान का स्वरूप कुछ विस्तार के साथ लिखा जाता है। साथ ही यह भी बतलाया जाएगा कि जैनशास्त्र की तरह वैदिक तथा बौद्ध-शास्त्र में भी आध्यात्मिक विकास का कैसा वर्णन है। यद्यपि ऐसा करने में कुछ विस्तार अवश्य हो जाएगा तथापि नीचे लिखे जानेवाले विचार से जिज्ञासुओं की यदि कुछ भी ज्ञान-वृद्धि तथा रुचि-शुद्धि हुई तो यह विचार अनुपयोगी न समझा जाएगा।

गुणस्थान का विशेष स्वरूप

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानों को अर्थात् विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैनशास्त्र में गुणस्थान इस पारिभाषिक शब्द का मतलब आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव की—उनके शुद्ध कार्यरूप में परिणत होते रहने की तर-तम-भावापन्न अवस्थाओं से है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध-चेतना और पूर्णानन्दमय है। पर उसके ऊपर जब तक तीव्र आवरणों के घने बादलों की घटा छाई हो, तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नहीं देता। किंतु आवरणों के क्रमशः शिथिल या नष्ट होते ही उसका असली स्वरूप प्रकट होता है। जब आवरणों की तीव्रता आखिरी हद्द की हो, तब आत्मा प्राथमिक अवस्था में—अविकसित अवस्था में पड़ा रहता है। और जब आवरण बिलकुल ही नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा चरम अवस्था—शुद्ध स्वरूप की पूर्णता में वर्तमान हो जाता है। जैसे-जैसे आवरणों की तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्था को छोड़कर धीरे-धीरे शुद्ध स्वरूप का लाभ करता हुआ चरम अवस्था की ओर प्रस्थान करता है। प्रस्थान के समय इन दो अवस्थाओं के बीच उसे अनेक नीची-ऊँची अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ता है। प्रथम अवस्था को अविकास की अथवा अधःपतन की पराकाष्ठा और चरम अवस्था को विकास की अथवा उत्क्रान्ति की पराकाष्ठा समझना चाहिए। इस विकासक्रम की मध्यवर्तिनी सब अवस्थाओं को अपेक्षा से उच्च भी कह सकते हैं और नीच भी। अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपने से ऊपरवाली अवस्था की अपेक्षा नीच और नीचेवाली अवस्था की अपेक्षा उच्च कही जा सकती है। विकास की ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकार की संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का अनुभव करता है। पर जैनशास्त्र में संक्षेप में

वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग किये हैं, जो 'चौदह गुणस्थान' कहलाते हैं।

सब आवरणों में मोह का आवरण प्रधान है। अर्थात् जब तक मोह बलवान् और तीव्र हो, तब तक अन्य सभी आवरण बलवान् और तीव्र बने रहते हैं। इसके विपरीत मोह के निर्बल होते ही अन्य आवरणों की वैसी ही दशा हो जाती है। इसलिए आत्मा के विकास करने में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता समझनी चाहिए। इसी कारण गुणस्थानों की—विकास-क्रम-गत अवस्थाओं की कल्पना मोह-शक्ति की उत्कटता, मन्दता तथा अभाव पर अवलम्बित है।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं। इनमें से पहली शक्ति, आत्मा को दर्शन अर्थात् स्वरूप-पररूप का निर्णय किंवा जड़-चेतन का विभाग या विवेक करने नहीं देती; और दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अध्यास—परपरिणति से छुटकर स्वरूप-लाभ नहीं करने देती। व्यवहार में पैर-पैर पर यह देखा जाता है कि किसी वस्तु का यथार्थ दर्शन–बोध कर लेने पर ही उस वस्तु को पाने या त्यागने की चेष्टा की जाती है और वह सफल भी होती है। आध्यात्मिक-विकास-गामी आत्मा के लिए भी मुख्य दो ही कार्य हैं। पहला स्वरूप तथा पररूप का यथार्थ दर्शन किंवा भेदज्ञान करना और दूसरा स्वरूप में स्थित होना। इनमें से पहले कार्य को रोकनेवाली मोह की शक्ति जैनशास्त्र में 'दर्शन-मोह' और दूसरे कार्य को रोकनेवाली मोह की शक्ति 'चारित्रमोह' कहलाती है। दूसरी शक्ति पहली शक्ति की अनुगामिनी है। अर्थात् पहली शक्ति प्रबल हो, तब तक दूसरी शक्ति कभी निर्बल नहीं होती; और पहली शक्ति के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है। अथवा यों कहिये कि एक बार आत्मा स्वरूप-दर्शन कर पावे तो फिर उसे स्वरूप-लाभ करने का मार्ग प्राप्त हो ही जाता है।

अविकसित किंवा सर्वथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इसमें मोह की उक्त दोनों शक्तियों के प्रबल होने के कारण आत्मा की आध्यात्मिक-स्थिति बिलकुल गिरी हुई होती है। इस भूमिका के समय आत्मा चाहे आधिभौतिक उत्कर्ष कितना ही क्यों न कर ले, पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होती है। जैसे दिग्भ्रम वाला मनुष्य पूर्व को पश्चिम मानकर गति करता है और अपने इष्ट स्थान को नहीं पाता; उसका श्रम एक तरह से वृथा ही जाता है, वैसे प्रथम भूमिकावाला आत्मा पर-रूप को स्वरूप समझ कर उसी को पाने के लिए प्रतिक्षण लालायित रहता है और विपरीत दर्शन या मिथ्यादृष्टि के कारण राग-द्वेष की प्रबल चोटों का शिकार बनकर तात्त्विक सुख

से वञ्चित रहता है। इसी भूमिका को जैनशास्त्र में 'बहिरात्मभाव' किंवा 'मिथ्यादर्शन' कहा है। इस भूमिका में जितने आत्मा वर्त्तमान होते हैं, उन सभी की आध्यात्मिक स्थिति एक सी नहीं होती। अर्थात् सब के ऊपर मोह की सामान्यतः दोनो शक्तियों का आधिपत्य होने पर भी उसमें थोड़ा-बहुत तरतम भाव अवश्य होता है। किसी पर मोह का प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढ़तर और किसी पर उससे भी कम होता है। विकास करना यह प्रायः आत्मा का स्वभाव है। इसलिए जानते या अनजानते, जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है, तब वह कुछ विकास की ओर अग्रसर हो जाता है और तीव्रतम राग-द्वेष को कुछ मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रकट कर लेता है। इसी स्थिति को जैनशास्त्र में 'ग्रन्थिभेद'[1] कहा है।

ग्रंथिभेद का कार्य बड़ा ही विषम है। राग-द्वेष का तीव्रतम विष–ग्रंथि एक बार शिथिल व छिन्न-भिन्न हो जाए तो फिर बेड़ा पार ही समझिए; क्योंकि इसके बाद मोह की प्रधान शक्ति दर्शन मोह को शिथिल होने में देरी नहीं लगती और दर्शनमोह शिथिल हुआ कि चारित्रमोह की शिथिलता का मार्ग आप ही आप खुल जाता है। एक तरफ राग-द्वेष अपने पूर्ण बल का प्रयोग करते हैं और दूसरी तरफ विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभाव को कम करने के लिए अपने वीर्य–बल का प्रयोग करता है। इस आध्यात्मिक युद्ध में यानी मानसिक विकार और आत्मा की प्रतिद्वन्द्विता में कभी एक तो कभी दूसरा जयलाभ करता है। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं जो करीब-करीब ग्रंथिभेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्त में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर व उनसे हार खाकर अपनी मूल स्थिति में आ जाते हैं और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी राग-द्वेष पर जयलाभ नहीं करते। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो न तो हार खाकर पीछे गिरते हैं और न जयलाभ कर पाते हैं, किन्तु वे चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्ध के मैदान में ही पड़े रहते हैं। कोई-कोई आत्मा ऐसा भी होता

---

१ गंठित्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोसपरिणामो ॥ ११९५ ॥
भिन्नम्मि तम्मि लाभो सम्मत्ताईण मोक्खहेऊणं।
सो य दुल्लभो परिस्समचित्तविघायाइविग्घेहिं ॥ ११९६ ॥
सो तत्थ परिस्सम्मई घोरमहासमरनिग्गयाइ व्व।
विज्जा य सिद्धिकाले जह बहुविग्घा तथा सोवि ॥ ११९७ ॥
—विशेषावश्यक भाष्य।

है जो अपनी शक्ति का यथोचित प्रयोग कर के उस आध्यात्मिक युद्ध में राग-द्वेष पर जयलाभ कर ही लेता है। किसी भी मानसिक विकार की प्रतिद्वन्द्विता में इन तीनों अवस्थाओं का अर्थात् कभी हार खाकर पीछे गिरने का, कभी प्रतिस्पर्धा में डटे रहने का और जयलाभ करने का अनुभव हमें अक्सर नित्य प्रति हुआ करता है। यही संघर्ष कहलाता है। संघर्ष विकास का कारण है। चाहे विद्या, चाहे धन, चाहे कीर्ति, कोई भी लौकिक वस्तु इष्ट हो, उसको प्राप्त करते समय भी अचानक अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं और उनकी प्रतिद्वन्द्विता में उक्त प्रकार की तीनों अवस्थाओं का अनुभव प्रायः सबको होता रहता है। कोई विद्यार्थी, कोई धनार्थी या कोई कीर्तिकाङ्क्षी जब अपने इष्ट के लिए प्रयत्न करता है तब या तो वह बीच में अनेक कठिनाइयों को देखकर प्रयत्न को छोड़ ही देता है या कठिनाइयों को पारकर इष्ट-प्राप्ति के मार्ग की ओर अ-सर होता है। जो अग्रसर होता है, वह बड़ा विद्वान्, बड़ा धनवान् या बड़ा कीर्तिशाली बन जाता है। जो कठिनाइयों से डरकर पीछे भागता है, वह पामर, अज्ञान, निर्धन या कीर्तिहीन बना रहता है। और जो न कठिनाइयों को जीत सकता है और न उनसे हार मानकर पीछे भागता है, वह साधारण स्थिति में ही पड़ा रहकर कोई ध्यान खींचने योग्य उत्कर्ष-लाभ नहीं करता।

इस भाव को समझाने के लिए शास्त्र[1] में एक यह दृष्टान्त दिया गया है कि

---

१ जह वा तिन्नि मणुस्सा, जंतडविपहं सहावगमणेणं।
वेलाइक्कमभीया, तुरंति पत्ता य दो चोरा ॥ १२११ ॥
दट्ठुं मग्गतडत्थे ते एगो मग्गओ पडिनियत्तो।
बितिओ गहिओ तइओ, समइक्कंतुं पुरं पत्तो ॥ १२१२ ॥
अडवी भवो मणूसा, जीवा कम्मट्ठिई पहो दीहो।
गंठी य भयट्ठाणं, रागद्दोसा य दो चोरा। १२१३ ॥
भग्गो ठिइपरिवुड्ढी, गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ।
सम्मत्तपुरं एवं जोएज्जा तिण्णि करणाणि ॥ १२१४ ॥
—विशेषावश्यक भाष्य।

यथा जनास्त्रयः केऽपि, महापुरं यियासवः।
प्राप्ताः क्वचन कान्तारे, स्थानं चौरैः भयंकरम् ॥ ६१९ ॥
तत्र द्रुतं द्रुतं यान्तो, ददृशुस्तस्करद्वयम्।
तद्दृष्ट्वा त्वरितं पश्चादेको भीतः पलायितः ॥ ६२० ॥
गृहीतश्चापरस्ताभ्यामन्यस्त्ववगणय्य तौ।
भयस्थानमतिक्रम्य, पुरं प्राप पराक्रमी ॥ ६२१ ॥

तीन प्रवासी कहीं जा रहे थे। बीच में भयानक चोरों को देखते ही तीन में से एक तो पीछे भाग गया। दूसरा उन चोरों से डर कर नहीं भागा, किन्तु उनके द्वारा पकड़ा गया। तीसरा तो असाधारण बल तथा कौशल से उन चोरों को हराकर आगे बढ़ ही गया। मानसिक विकारों के साथ आध्यात्मिक युद्ध करने में जो जय-पराजय होता है, उसका थोड़ा बहुत खयाल उक्त दृष्टान्त से आ सकता है।

प्रथम गुणस्थान में रहने वाले विकासगामी ऐसे अनेक आत्मा होते हैं, जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा सा दबाये हुए होते हैं, पर मोह की प्रधान शक्ति को अर्थात् दर्शनमोह को शिथिल किये हुए नहीं होते। इसलिए वे यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य के सर्वथा अनुकूलगामी नहीं होते, तो भी उनका बोध व चरित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसे आत्माओं की आध्यात्मिक दृष्टि सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण वस्तुतः मिथ्या दृष्टि, विपरीत दृष्टि या असत् दृष्टि ही कहलाती है तथापि वह सद्दृष्टि के समीप ले जानेवाली होने के कारण उपादेय मानी गई है[1]।

बोध, वीर्य व चारित्र के तर-तम भाव की अपेक्षा से उस असत् दृष्टि के चार भेद करके मिथ्या दृष्टि गुणस्थान की अन्तिम अवस्था का शास्त्र में अच्छा चित्र खींचा गया है। इन चार दृष्टियों में जो वर्त्तमान होते हैं, उनको सद्दृष्टि लाभ करने में फिर देरी नहीं लगती।

दृष्टान्तोपनयश्चात्र, जना जीवा भवोऽटवी।
पन्थाः कर्मस्थितिर्ग्रन्थि देशस्त्विह भयास्पदम्। ६२२ ॥

रागद्वेषौ तस्करौ द्वौ तद्भीतो वलितस्तु सः।
ग्रंथिं प्राप्यापि दुर्भावाद्यो ज्येष्ठस्थितिबन्धकः॥ ६२३ ॥

चौररुद्धस्तु स ज्ञेयस्तादृग् रागादिबाधितः।
ग्रंथिं भिनत्ति यो नैव न चापि वलते ततः॥ ६२४ ॥

स त्वभीष्टपुरं प्राप्तो योऽपूर्वकरणाद् द्रुतम्।
रागद्वेषावपाकृत्य सम्यग्दर्शनमाप्तवान्॥ ६२५ ॥'

—लोकप्रकाश सर्ग ३।

१ 'मिथ्यात्वे मन्दतां प्राप्ते, मित्राद्या अपि दृष्टयः।
मार्गाभिमुखभावेन, कुर्वते मोक्षयोजनम्॥ ३१ ॥

—श्री यशोविजयजी-कृत योगावतारद्वात्रिंशिका।

सद्बोध, सद्वीर्य व सच्चरित्र के तर-तम-भाव की अपेक्षा से सद्दृष्टि के[१] भी शास्त्र में चार विभाग किये हैं, जिनमें मिथ्यादृष्टि त्यागकर अथवा मोह की एक या दोनों शक्तियों को जीतकर आगे बढ़े हुए सभी विकसित आत्माओं का समावेश होजाता है। अथवा दूसरे प्रकार से यों समझाया जा सकता है कि जिसमें आत्मा का स्वरूप भासित हो और उसकी प्राप्ति के लिए मुख्य प्रवृत्ति हो, वह सद्दृष्टि। इसके विपरीत जिसमें आत्मा का स्वरूप न तो यथावत् भासित हो और न उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रवृत्ति हो, वह असद्दृष्टि। बोध, वीर्य व चरित्र के तर-तम-भाव को लक्ष्य में रखकर शास्त्र में दोनों दृष्टि के चार-चार विभाग किये गए हैं, जिनमें सब विकासगामी आत्माओं का समावेश हो जाता है और जिनका वर्णन पढ़ने से आध्यात्मिक विकास का चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है।[२]

शारीरिक और मानसिक दुःखों की संवेदना के कारण अज्ञातरूप में ही गिरी-नदी-पाषण[३] न्याय से जब आत्मा का आवरण कुछ शिथिल होता है और इसके कारण उसके अनुभव तथा वीर्योल्लास की मात्रा कुछ बढ़ती है, तब उस विकास-गामी आत्मा के परिणामों की शुद्धि व कोमलता कुछ बढ़ती है। जिसकी बदौलत

१—सच्छ्रद्धासंगतो बोधो दृष्टिः सा चाष्टधोदिता।
मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा ॥२५॥
तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीपप्रभोपमा।
रत्नतारार्कचंद्राभा क्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा ॥२६॥
आद्याश्चतस्रः सापायपाता मिथ्यादृशामिह।
तत्त्वतो निरपायाश्च भिन्नग्रंथेस्तथोत्तराः ॥२८॥
—योगावतारद्वात्रिंशिका।

२ इसके लिए देखिए, श्रीहरिभद्रासूरि-कृत योगदृष्टिसमुच्चय तथा उपाध्याय यशोविजयजी-कृत २१ से २४ तक की चार द्वात्रिंशिकाएँ।

३ यथाप्रवृत्तकरणं नन्वनाभोगरूपकम्।
भवत्यनाभोगतश्च कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ॥६७॥
यथा मिथो घर्षणेन ग्रावाणोऽद्रिनदीगताः।
स्युश्चित्राकृतयो ज्ञानशून्या अपि स्वभावतः ॥६०८॥
तथा यथाप्रवृत्तात्स्युरप्यनाभोगलक्षणात्।
लघुस्थितिककर्माणो जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च ॥६०९॥
—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

वह रागद्वेष की तीव्रतम—दुर्भेद ग्रंथि को तोड़ने की योग्यता बहुत अंशों में प्राप्त कर लेता है। इस अज्ञानपूर्वक दुःखसंवेदना-जनित अति अल्प आत्म-शुद्धि को जैनशास्त्र में 'यथाप्रवृत्तिकरण,[1] कहा है। इसके बाद जब कुछ और भी अधिक आत्म-शुद्धि तथा वीर्योल्लास की मात्रा बढ़ती है तब रागद्वेष की उस दुर्भेद ग्रंथि का भेदन किया जाता है। इस ग्रंथिभेदकारक आत्म-शुद्धि को 'अपूर्वकरण'[2] कहते हैं। क्योंकि ऐसा करण—परिणाम [3] विकासगामी आत्मा के लिए अपूर्व—प्रथम ही प्राप्त है। इसके बाद आत्म-शुद्धि व वीर्योल्लास की मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है, तब आत्मा मोह की प्रधानभूत शक्ति—दर्शनमोह पर अवश्य विजयलाभ करता है। इस विजयकारक आत्म-शुद्धि को जैनशास्त्र में 'अनिवृत्तिकरण' [4] कहा है, क्योंकि उस आत्म-शुद्धि के हो जाने पर आत्मा दर्शनमोह पर जयलाभ बिना किये नहीं रहता, अर्थात् वह पीछे नहीं हटता। उक्त तीन प्रकार की आत्म-

---

१ इसको दिगम्बरसम्प्रदाय में 'अथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसके लिए देखिए, तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६. १. १३.

२ तीव्रधारपर्शुकल्पाऽपूर्वाख्यकरणेन हि।
आविष्कृत्य परं वीर्यं ग्रन्थिं भिन्दन्ति केचन ॥६१८॥
—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

३ परिणामविशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम् ॥५९९॥
—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

४ "अथानिवृत्तिकरणेनातिस्वच्छाशयात्मना।
करोत्यन्तरकरणमन्तर्मुहूर्त्तसंमितम् ॥६२७॥
कृते च तस्मिन्मिथ्यात्वमोहस्थितिर्द्विधा भवेत्।
तत्राद्यान्तरकरणादधस्तन्यपरोर्ध्वगा ॥६२८॥
तत्राद्यायां स्थितौ मिथ्यादृक् स तद्दलवेदनात्।
अतीतायामथैतस्यां स्थितावन्तर्मुहूर्त्ततः ॥६२९॥
प्राप्नोत्यन्तरकरणं तस्याद्यक्षण एव सः।
सम्यक्त्वमौपशमिकमपौद्गलिकमाप्नुयात् ॥६३०॥
यथा वनदवो दग्धेन्धनः प्राप्यातृणं स्थलम्।
स्वयं विध्यायति तथा, मिथ्यात्वोग्रदवानलः ॥६३१॥
अवाप्यान्तरकरणं क्षिप्रं विध्यायति स्वयम्।
तदौपशमिकं नाम सम्यक्त्वं लभतेऽमुमान् ॥६३२॥
—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

शुद्धियों में दूसरी अर्थात् अपूर्वकरण-नामक शुद्धि ही अत्यन्य दुर्लभ है। क्योंकि राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को रोकने का अत्यंत कठिन कार्य इसी के द्वारा किया जाता है, जो सहज नहीं है। एक बार इस कार्य में सफलता प्राप्त हो जाने पर फिर चाहे विकासगामी आत्मा ऊपर की किसी भूमिका से गिर भी पड़े तथापि वह पुनः कभी-न-कभी अपने लक्ष्यको—आध्यात्मिक पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस आध्यात्मिक परिस्थिति का कुछ स्पष्टीकरण अनुभवगत व्यावहारिक दृष्टांत के द्वारा किया जा सकता है।

जैसे; एक ऐसा वस्त्र हो, जिसमें मल के अतिरिक्त चिकनाहट भी लगी हो। उसका मल ऊपर-ऊपर से दूर करना उतना कठिन और श्रम-साध्य नहीं, जितना कि चिकनाहट का दूर करना। यदि चिकनाहट एक बार दूर हो जाए तो फिर बाकी का मल निकालने में किंवा किसी कारण-वश फिर से लगे हुए गर्द को दूर करने में विशेष श्रम नहीं पड़ता और वस्त्रको उसके असली स्वरूप में सहज ही लाया जा सकता है। ऊपर-ऊपर का मल दूर करने में जो बल दरकार है, उसके सदृश 'यथाप्रवृत्तिकरण' है। चिकनाहट दूर करनेवाले विशेष बल व श्रम-के समान 'अपूर्वकरण' है, जो चिकनाहट के समान राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रंथि को शिथिल करता है। बाकी बचे हुए मल को किंवा चिकनाहट दूर होने के बाद फिर से लगे हुए मल को कम करनेवाले बल-प्रयोग के समान 'अनिवृत्तिकरण' है। उक्त तीनों प्रकार के बल-प्रयोगों में चिकनाहट दूर करनेवाला बल-प्रयोग ही विशिष्ट है।

अथवा जैसे; किसी राजा ने आत्मरक्षा के लिए अपने अङ्गरक्षकों को तीन विभागों में विभाजित कर रखा हो, जिनमें दूसरा विभाग शेष दो विभागों से अधिक बलवान् हो, तब उसी को जीतने में विशेष बल लगाना पड़ता है। वैसे ही दर्शनमोह को जीतने के पहले उसके रक्षक राग-द्वेष के तीव्र संस्कारोंको शिथिल करने के लिए विकासगामी आत्मा को तीन बार बल-प्रयोग करना पड़ता है। जिनमें दूसरी बार किया जानेवाला बल-प्रयोग ही, जिसके द्वारा राग-द्वेष की अत्यंत तीव्रतारूप ग्रंथि भेदी जाती है, प्रधान होता है। जिस प्रकार उक्त तीनों दलों में से बलवान् दूसरे अङ्गरक्षक दल के जीत लिए जाने पर फिर उस राजा का पराजय सहज होता है, इसी प्रकार राग-द्वेष की अतितीव्रता को मिटा देने पर दर्शन-मोह पर जयलाभ करना सहज है। दर्शनमोह को जीता और पहले गुण-स्थान की समाप्ति हुई।

ऐसा होते ही विकासगामी आत्मा स्वरूप का दर्शन कर लेता है अर्थात् उसकी अब तक जो पररूप में स्वरूप की भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है।

अतएव उसके प्रयत्न की गति उलटी न होकर सीधी हो जाती है। अर्थात् वह विवेकी बनकर कर्तव्य-अकर्तव्य का वास्तविक विभाग कर लेता है। इस दशा को जैन-शास्त्र में 'अन्तरात्म भाव' कहते हैं, क्योंकि इस स्थिति को प्राप्त करके विकासगामी आत्मा अपने अन्दर वर्तमान सूक्ष्म और सहज शुद्ध परमात्म-भाव को देखने लगता है, अर्थात् अन्तरात्मभाव, यह आत्म-मन्दिर का गर्भद्वार है, जिसमें प्रविष्ट होकर उस मन्दिर में वर्तमान परमात्मा-भावरूप निश्चय देव का दर्शन किया जाता है।

यह दशा विकासक्रम की चतुर्थी भूमिका किंवा चतुर्थ गुणस्थान है, जिसे पाकर आत्मा पहले पहल आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका में आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होने के कारण विपर्यास-रहित होती है। जिसको जैनशास्त्र में सम्यक्त्व कहा[1] है।

चतुर्थी से आगे की अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्यग्दृष्टिवाली ही समझनी चाहिए; क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास तथा दृष्टि की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूप-दर्शन करने से आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलती है और उसको विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य-विषयक भ्रम दूर हुआ, अर्थात् अब तक जिस पौद्गलिक व बाह्य सुख को मैं तरस रहा था, वह परिणाम-विरस, अस्थिर एवं परिमित है; परिणाम-सुन्दर, स्थिर व अपरिमित सुख स्वरूप-प्राप्ति में ही है। तब वह विकासगामी आत्मा स्वरूप-स्थिति के लिए प्रयत्न करने लगता है।

मोह की प्रधान शक्ति—दर्शन मोह को शिथिल करके स्वरूप-दर्शन कर लेने के बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति—चारित्र-मोह को शिथिल न किया जाए, तब तक स्वरूप-लाभ किंवा स्वरूप स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए वह मोह की दूसरी शक्ति को मन्द करने के लिए प्रयास करता है। जब वह उस शक्ति को अंशतः शिथिल कर पाता है; तब उसकी और भी उत्क्रान्ति हो जाती है। जिसमें अंशतः स्वरूप-स्थिरता या परपरिणति-त्याग होने से चतुर्थ भूमिका की अपेक्षा अधिक शान्ति-लाभ होता है। यह देशविरति-नामक पाँचवाँ गुणस्थान है।

इस गुणस्थान में विकासगामी आत्मा को यह विचार होने लगता है कि यदि अल्प-विरति से ही इतना अधिक शान्ति-लाभ हुआ तो फिर सर्व-विरति—

---

१ 'जिनोक्तादविपर्यस्ता सम्यग्दृष्टिर्निगद्यते।
सम्यक्त्वशालिनां सा स्यात्तच्चैवं जायतेऽङ्गिनाम् ॥५९६॥'
—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

जड़ भावों के सर्वथा परिहार से कितना शान्ति-लाभ होगा ? इस विचार से प्रेरित होकर व प्राप्त आध्यात्मिक शान्ति के अनुभव से बलवान् होकर वह विकासगामी आत्मा चारित्रमोह को अधिकांश में शिथिल करके पहले की अपेक्षा भी अधिक स्वरूप-स्थिरता व स्वरूप-लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है । इस चेष्टा में कृतकृत्य होते ही उसे सर्व-विरति संयम प्राप्त होता है । जिसमें पौद्गलिक भावों पर मूर्च्छा बिलकुल नहीं रहती, और उसका सारा समय स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के काम में ही खर्च होता है । यह 'सर्वविरति' नामक षष्ठ गुणस्थान है । इसमें आत्म-कल्याण के अतिरिक्त लोक-कल्याण की भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है । जिससे कभी-कभी थोड़ी बहुत मात्रा में प्रमाद आ जाता है ।

पाँचवें गुणस्थान की अपेक्षा, इस छठे गुणस्थान में स्वरूप अभिव्यक्ति अधिक होने के कारण यद्यपि विकासगामी आत्मा को आध्यात्मिक शान्ति पहले से अधिक ही मिलती है तथापि बीच-बीच में अनेक प्रमाद उसे शान्ति के अनुभव में जो बाधा पहुँचाते हैं, उसको वह सहन नहीं कर सकता । अतएव सर्व-विरति-जनित शान्ति के साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने की प्रबल लालसा से प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमाद का त्याग करता है और स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल मनन-चिन्तन के सिवाय अन्य सब व्यापारों का त्याग कर देता है । यही 'अप्रमत्त-संयत' नामक सातवाँ गुणस्थान है । इसमें एक ओर अप्रमाद-जन्य उत्कट सुख का अनुभव आत्मा को उस स्थिति में बने रहने के लिए उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद-जन्य पूर्व वासनाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं । इस खींचातानी में विकासगामी आत्मा कभी प्रमाद की तन्द्रा और कभी अप्रमाद की जाग्रति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थान में अनेक बार जाता-आता रहता है । भँवर या वातभ्रमी में पड़ा हुआ तिनका इधर से उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठें और सातवें गुणस्थान के समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है ।

प्रमाद के साथ होने वाले इस आन्तरिक्त युद्ध के समय विकासगामी आत्मा यदि अपना चारित्र-बल विशेष प्रकाशित करता है तो फिर वह प्रमादों–प्रलोभनों को पार कर विशेष अप्रमत्त-अवस्था प्राप्त कर लेता है । इस अवस्था को पाकर वह ऐसी शक्ति वृद्धि की तैयारी करता है कि जिससे शेष रहे-सहे मोह-बल को नष्ट किया जा सके । मोह के साथ होने वाले भावी युद्ध के लिए की जाने वाली तैयारी की इस भूमिका को आठवाँ गुणस्थान कहते हैं ।

पहले कभी न हुई ऐसी आत्म-शुद्धि इस गुणस्थान में हो जाती है। जिस से कोई विकासगामी आत्मा तो मोह के संस्कारों के प्रभाव को क्रमशः दबाता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त में उसे बिलकुल ही उपशान्त कर देता है। और विशिष्ट आत्म-शुद्धि वाला कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा भी होता है, जो मोह के संस्कारों को क्रमशः जड़ मूल से उखाड़ता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्त में उन सब संस्कारों को सर्वथा निर्मूल ही कर डालता है। इस प्रकार आठवें गुण-स्थान से आगे बढ़ने वाले अर्थात् अन्तरात्म-भाव के विकास द्वारा परमात्म-भाव रूप सर्वोपरि भूमिका के निकट पहुँचने वाले आत्मा दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं।

एक श्रेणिवाले तो ऐसे होते हैं, जो मोह को एक बार सर्वथा दबा तो लेते हैं, उसे निर्मूल नहीं कर पाते। अतएव जिस प्रकार किसी बर्तन में भरी हुई भाप कभी-कभी अपने वेग से उस बर्तन को उड़ा ले भागती है या नीचे गिरा देती है अथवा जिस प्रकार राख के नीचे दबी हुई अग्नि हवा का झकोरा लगते ही अपना कार्य करने लगती है. किंवा जिस प्रकार जल के तल में बैठा हुआ मल थोड़ा सा क्षोभ पाते ही ऊपर उठकर जल को गँदला कर देता है, उसी प्रकार पहले दबाया हुआ भी मोह आन्तरिक युद्ध में थके हुए उन प्रथम श्रेणी वाले आत्माओं को अपने वेग के द्वारा नीचे पटक देता है। एक बार सर्वथा दबाये जाने पर भी मोह, जिस भूमिका से आत्मा को हार दिलाकर नीचे की ओर पटक देता है, वही ग्यारहवाँ गुणस्थान है। मोह को क्रमशः दबाते-दबाते सर्वथा दबाने तक में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक विशुद्धिवाली दो भूमिकाएँ अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं। जो नौवाँ तथा दसवाँ गुणस्थान कह-लाता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान अधःपतन का स्थान है; क्योंकि उसे पानेवाला आत्मा आगे न बढ़कर एक बार तो अवश्य नीचे गिरता है।

दूसरी श्रेणिवाले आत्मा मोह को क्रमशः निर्मूल करते-करते अन्त में उसे सर्वथा निर्मूल कर ही डालते हैं। सर्वथा निर्मूल करने की जो उच्च भूमिका है, वही बारहवाँ गुणस्थान है। इस गुणस्थान को पाने तक में अर्थात् मोह को सर्वथा निर्मूल करने से पहले बीच में नौवाँ और दवसाँ गुणस्थान प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार देखा जाए तो चाहे पहली श्रेणिवाले हों, चाहे दूसरी श्रेणिवाले, पर वे सब नौवाँ-दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं। दोनों श्रेणि वालों में अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणिवालों की अपेक्षा दूसरी श्रेणिवालों में आत्म-शुद्धि व आत्म-बल विशिष्ट प्रकार का पाया जाता है। जैसे—किसी एक दर्जे के विद्यार्थी भी दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के तो

ऐसे होते हैं, जो सौ कोशिश करने पर भी एक बारगी अपनी परीक्षा में पास होकर आगे नहीं बढ़ सकते। पर दूसरे प्रकार के विद्यार्थी अपनी योग्यता के बल से सब कठिनाईयों को पारकर उस कठिनतम परीक्षा को बेधड़क पास कर ही लेते हैं। उन दोनों दल के इस अन्तर का कारण उनकी आन्तरिक योग्यता की न्यूनाधिकता है। वैसे ही नौवें तथा दसवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले उक्त दोनों श्रेणिगामी आत्माओं की आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनाधिक होती है। जिसके कारण एक श्रेणिवाले तो दसवें गुणस्थान को पाकर अंत में ग्यारहवे गुणस्थान में मोह से हार खाकर नीचे गिरते हैं और अन्य श्रेणिवाले दसवें गुणस्थान को पाकर इतना अधिक आत्मबल प्रकट करते हैं कि अन्त में वे मोह को सर्वथा क्षीण कर बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर ही लेते हैं।

जैसे ग्यारहवाँ गुणस्थान अवश्य पुनरावृत्तिका है, वैसे ही बारहवाँ गुणस्थान अपुनरावृत्ति का है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान को पानेवाला आत्मा एक बार उससे अवश्य गिरता है और बारहवें गुणस्थान को पानेवाला उससे कदापि नहीं गिरता; बल्कि ऊपर को ही चढ़ता है। किसी एक परीक्षा में नहीं पास होनेवाले विद्यार्थी जिस प्रकार परिश्रम व एकाग्रता से योग्यता बढ़ाकर फिर उस परीक्षाको पास कर लेते हैं; उसी प्रकार एक बार मोह से हार खानेवाले आत्मा भी अप्रमत्त-भाव व आत्म-बल की अधिकता से फिर मोह को अवश्य क्षीण कर देते हैं। उक्त दोनों श्रेणिवाले आत्माओं की तर-तमभावापन्न आध्यात्मिक विशुद्धि मानों परमात्म-भाव-रूप सर्वोच्च भूमिकापर चढ़ने की दो सीढ़ियाँ हैं। जिनमें से एक को जैनशास्त्र में 'उपशमश्रेणि' और दूसरी को 'क्षपकश्रेणि' कहा है। पहली कुछ दूर चढ़ाकर गिरानेवाली और दूसरी चढ़ानेवाली ही है। पहली श्रेणि से गिरनेवाला आध्यात्मिक अधःपतन के द्वारा चाहे प्रथम गुणस्थान तक क्यों न चला जाए, पर उसकी वह अधःपतित स्थिति कायम नहीं रहती। कभी-न-कभी फिर वह दूने बल से और दूनी सावधानी से तैयार होकर मोह-शत्रु का सामना करता है और अन्त में दूसरी श्रेणि की योग्यता प्राप्त कर मोह का सर्वथा क्षय कर डालता है। व्यवहार में अर्थात् आधिभौतिक क्षेत्र में भी यह देखा जाता है कि जो एक बार हार खाता है, वह पूरी तैयारी करके हरानेवाले शत्रु को फिर से हरा सकता है।

परमात्म-भाव का स्वराज्य प्राप्त करने में मुख्य बाधक मोह ही है। जिसको नष्ट करना अन्तरात्म-भाव के विशिष्ट विकास पर निर्भर है। मोह का सर्वथा नाश हुआ कि अन्य आवरण जो जैनशास्त्र में 'घातिकर्म' कहलाते हैं, वे प्रधान सेनापति के मारे जाने के बाद अनुगामी सैनिकों की तरह एक साथ तितर-बितर

हो जाते हैं। फिर क्या देरी, विकासगामी आत्मा तुरन्त ही परमात्म-भाव का पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप को पूर्णतया व्यक्त करके निरतिशय ज्ञान, चारित्र आदि का लाभ करता है तथा अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुख का अनुभव करता है। जैसे, पूर्णिमा की रात में निरभ्र चन्द्र की सम्पूर्ण कलाएँ प्रकाशमान होती हैं, वैसे ही उस समय आत्मा की चेतना आदिस भी मुख्य शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस भूमिका को जैनशास्त्र में तेरहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में चिरकाल तक रहने के बाद आत्मा दग्ध रज्जु के समान शेष आवरणों को अर्थात् अप्रधानभूत अघातिकर्मों को उड़ाकर फेंक देने के लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानरूप पवन का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है। यही आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा किंवा चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्मा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानद्वारा सुमेरु की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त करके अन्त में शरीर-त्याग-पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टि से लोकोत्तर स्थान को प्राप्त करता है। यही निर्गुण ब्रह्मस्थिति[1] है, यही सर्वाङ्गीण पूर्णता है, यही पूर्ण कृतकृत्यता है, यही परम पुरुषार्थ की अन्तिम सिद्धि है और यही अपुनरावृत्ति-स्थान है। क्योंकि संसार का एक मात्र कारण मोह है, जिसके सब संस्कारों का निश्शेष नाश हो जाने के कारण अब उपाधिका संभव नहीं है।

यह कथा हुई पहले से चौदहवें गुणस्थान तक के बारह गुणस्थानों की; इसमें दूसरे और तीसरे गुणस्थान की कथा, जो छूट गई है, वह यों है—सम्यक्त्व किंवा तत्त्वज्ञानवाली ऊपर की चतुर्थी आदि भूमिकाओं के राजमार्ग से च्युत होकर जब कोई आत्मा तत्त्वज्ञान-शून्य किंवा मिथ्यादृष्टिवाली प्रथम भूमिका के उन्मार्ग की ओर झुकता है, तब बीच में उस अधःपतनोन्मुख आत्मा की जो कुछ अवस्था होती है वही दूसरा गुणस्थान है। यद्यपि इस गुणस्थान में प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा आत्म-शुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है, इसलिए इसका नम्बर पहले के बाद रखा गया है, फिर भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि

---

१ 'योगसंन्यासतस्त्यागी, योगानप्यखिलाँस्त्यजेत्।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥७॥
वस्तुतस्तु गुणैः पूर्णमनन्तैर्भासते स्वतः।
रूपं व्यक्तात्मनः साधोर्निरभ्रस्य विधोरिव ॥८॥'

—ज्ञानसार, त्यागाष्टक।

इस गुणस्थान को उत्क्रान्ति-स्थान नहीं कह सकते। क्योंकि प्रथम गुणस्थान को छोड़कर उत्क्रान्ति करनेवाला आत्मा इस दूसरे स्थान को सीधे तौर से प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु ऊपर के गुणस्थान से गिरनेवाला ही आत्मा इसका अधिकारी बनता है। अधःपतन मोह के उद्रेक से होता है। अतएव इस गुणस्थान के समय मोह की तीव्र काषायिक शक्ति का अविर्भाव पाया जाता है। खीर आदि मिष्ट भोजन करने के बाद जब वमन हो जाता है, तब मुख में एक प्रकार का विलक्षण स्वाद अर्थात् न अतिमधुर न अति-अम्ल जैसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान के समय आध्यात्मिक स्थिति विलक्षण पाई जाती है। क्योंकि उस समय आत्मा न तो तत्त्व-ज्ञान की निश्चित भूमिका पर है और न तत्त्व-ज्ञान-शून्य की निश्चित भूमिका पर। अथवा जैसे कोई व्यक्ति चढ़ने की सीढ़ियों से खिसक कर जब तक जमीनपर आकर नहीं ठहर जाता, तब तक बीच में एक विलक्षण अवस्था का अनुभव करता है, वैसे ही सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को पाने तक में अर्थात् बीच में आत्मा एक विलक्षण आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव करता है। यह बात हमारे इस व्यावहारिक अनुभव से भी प्रसिद्ध है कि जब किसी निश्चित उन्नत-अवस्था से गिरकर कोई निश्चित अवनत-अवस्था प्राप्त की जाती है, तब बीच में एक विलक्षण परिस्थिति खड़ी होती है।

तीसरा गुणस्थान आत्मा की उस मिश्रित अवस्था का नाम है, जिसमें न तो केवल सम्यक् दृष्टि होती है और न केवल मिथ्या दृष्टि, किन्तु आत्मा उसमें दोलायमान आध्यात्मिक स्थितिवाला बन जाता है। अतएव उसकी बुद्धि स्वाधीन न होने के कारण सन्देहशील होती है अर्थात् उसके सामने जो कुछ आया, वह सब सच। न तो वह तत्त्व को एकान्त अतत्त्वरूप से ही जानती है और न तत्त्व-अतत्त्व का वास्तविक पूर्ण विवेक ही कर सकती है।

कोई उत्क्रान्ति करनेवाला आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर सीधे ही तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है और कोई अवक्रान्ति करनेवाला आत्मा भी चतुर्थ आदि गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उत्क्रान्ति करनेवाले और अवक्रान्ति करनेवाले—दोनों प्रकार के आत्माओं का आश्रय-स्थान तीसरा गुणस्थान है। यही तीसरे गुणस्थान की दूसरे गुणस्थान से विशेषता है।

ऊपर आत्मा की जिन चौदह अवस्थाओं का विचार किया है, उनका तथा उनके अन्तर्गत अवान्तर संख्यातीत अवस्थाओं का बहुत संक्षेप में वर्गीकरण करके शास्त्र में शरीरधारी आत्मा की सिर्फ तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—बहिरात्म-अवस्था, (२) अन्तरात्म-अवस्था और (३) परमात्म-अवस्था।

पहली अवस्था में आत्मा का वास्तविक—विशुद्ध रूप अत्यन्त आच्छन्न रहता है, जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यासवाला होकर पौद्गलिक विलासों को ही सर्वस्व मान लेता है और उन्हीं की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण शक्ति का व्यय करता है।

दूसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया तो प्रकट नहीं होता, पर उसके ऊपर का आवरण गाढ़ न होकर शिथिल, शिथिलतर, शिथिलतम बन जाता है, जिसके कारण उसकी दृष्टि पौद्गलिक विलासों की ओर से हटकर शुद्ध स्वरूप की ओर लग जाती है। इसी से उसकी दृष्टि में शरीर आदि की जीर्णता व नवीनता अपनी जीर्णता व नवीनता नहीं है। यह दूसरी अवस्था ही तीसरी अवस्था का दृढ़ सोपान है।

तीसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके ऊपर के घने आवरण बिलकुल विलीन हो जाते हैं।

पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्म-अवस्था का चित्रण है। चौथे से बारहवें तक के गुणस्थान अन्तरात्म-अवस्था का दिग्दर्शन है और तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान परमात्म-अवस्था का वर्णन[१] है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है, इसलिए वह चाहे किसी गुणस्थान में क्यों न हो, पर ध्यान से कदापि मुक्त नहीं रहता। ध्यान के सामान्य रीति से (१) शुभ और (२) अशुभ, ऐसे दो विभाग और विशेष रीति से (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल, ऐसे चार विभाग शास्त्र में[२] किये

---

१ 'अन्ये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्यगुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, ततः परं क्षीणमोहगुणस्थानं यावदन्तरात्मा, ततः परन्तु परमात्मेति। तथा व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या परमात्मान्तरात्मा च। व्यक्त्यान्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्वनयेन च बाह्यात्मा; व्यक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्वनयेनैव बाह्यात्मान्तरात्मा च।' —अध्यात्ममतपरीक्षा, गाथा १२५।

'बाह्यात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये॥ १७॥
अन्ये मिथ्यात्वसम्यक्त्वकेवलज्ञानभागिनः।
मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि॥ १८॥'

—योगावतारद्वात्रिंशिका।

२ 'आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि।'—तत्त्वार्थ-अध्याय ९, सूत्र २९।

गए हैं। चार में से पहले दो अशुभ और पिछले दो शुभ हैं। पौद्गलिक दृष्टि की मुख्यता के किंवा आत्म-विस्मृति के समय जो ध्यान होता है, वह अशुभ और पौद्गलिक दृष्टि की गौणता व आत्मानुसन्धान-दशा में जो ध्यान होता है, वह शुभ है। अशुभ ध्यान संसार का कारण और शुभ ध्यान मोक्ष का कारण है। पहले तीन गुणस्थानों में आर्त्त और रौद्र, ये दो ध्यान ही तर-तम-भाव से पाए जाते हैं। चौथे और पाँचवें गुणस्थान में उक्त दो ध्यानों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्मध्यान भी होता है। छठे गुणस्थान में आर्त्त और धर्म, ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थान में सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवें से बारहवें तक पाँच गुणस्थानों में धर्म और शुक्ल, ये दो ध्यान होते हैं।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में सिर्फ शुक्लध्यान होता है[1]।

गुणस्थानों में पाए जानेवाले ध्यानों के उक्त वर्णन से तथा गुणस्थानों में किये हुए बहिरात्म-भाव आदि पूर्वोक्त विभाग से प्रत्येक मनुष्य यह सामान्यतया जान सकता है कि मैं किस गुणस्थान का अधिकारी हूँ। ऐसा ज्ञान, योग्य अधिकारी की नैसर्गिक महत्त्वाकांक्षा को ऊपर के गुणस्थानों के लिए उत्तेजित करता है।

दर्शनान्तर के साथ जैनदर्शन का साम्य

जो दर्शन, आस्तिक अर्थात् आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकासशीलता तथा मोक्ष-योग्यता माननेवाले हैं, उन सभी में किसी-न-किसी रूप में आत्मा के क्रमिक विकास का विचार पाया जाना स्वाभाविक है। अतएव आर्यावर्त्त के जैन, वैदिक और बौद्ध, इन तीनों प्राचीन दर्शनों में उक्त प्रकार का विचार पाया जाता है। यह विचार जैनदर्शन में गुणस्थान के नाम से, वैदिक दर्शन में भूमिकाओं के नाम से और बौद्धदर्शन में अवस्थाओं के नाम से प्रसिद्ध है। गुणस्थान का विचार, जैसा जैनदर्शन में सूक्ष्म तथा विस्तृत है, वैसा अन्य दर्शनों में नहीं है, तो भी उक्त तीनों दर्शनों की उस विचार के संबन्ध में बहुत-कुछ समता है। अर्थात् संकेत, वर्णनशैली आदि की भिन्नता होने पर भी वस्तुतत्त्व के विषय में तीनों दर्शनों का भेद नहीं के बराबर ही है। वैदिकदर्शन के योगवासिष्ठ, पातञ्जल योग आदि ग्रन्थों में आत्मा की भूमिकाओं का अच्छा विचार है।

---

१ इसके लिए देखिये, तत्त्वार्थ अ० ६, सूत्र ३५ से ४०। ध्यानशतक, गा०, ६३ और ६४ तथा आवश्यक-हारिभद्री टीका पृ० ६०२। इस विषय में तत्त्वार्थ के उक्त सूत्रों का राजवार्तिक विशेष देखने योग्य है, क्योंकि उसमें श्वेताम्बरग्रंथों से थोड़ा सा मतभेद है।

जैनशास्त्र में मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा के नाम से अज्ञानी जीव का लक्षण बतलाया है कि जो अनात्मा में अर्थात् आत्म-भिन्न जड़तत्त्व में आत्म-बुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा [1] है। योग-वासिष्ठ में [2] तथा पातञ्जल-योग सूत्र [3] में अज्ञानी जीव का वही लक्षण है। जैनशास्त्र में मिथ्यात्वमोह का संसार-बुद्धि और दुःखरूप फल वर्णित है [4]। वही बात योगवासिष्ठ के

---

१ 'तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः।'

—तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक ६, १, १२।

'आत्मधिया समुपात्तकायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा।
कायादेः समधिष्ठायको भवत्यन्तरात्मा तु ॥७॥'

—योगशास्त्र, प्रकाश १२।

'निर्मलस्फटिकस्येव सहजं रूपमात्मनः।
अध्यस्तोपाधिसंबद्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥६॥

—ज्ञानसार, मोहाष्टक।

'नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याशुच्यनात्मसु।
अविद्या तत्त्वधीर्विद्या योगाचार्यैः प्रकीर्त्तिता ॥१॥'

—ज्ञानसार विद्याष्टक।

'भ्रमवाटी बहिर्दृष्टिर्भ्रमच्छाया तदीक्षणम्।
अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्यां शेते सुखाऽऽशया ॥२॥'

—ज्ञानसार, तत्त्वदृष्टि-अष्टक।

२ 'यस्याऽज्ञानात्मनो ज्ञस्य, देह एवात्मभावना।
उदितेति रुषैवाक्षरिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥३॥'

—निर्वाण-प्रकरण; पूर्वार्ध सर्ग ६।

३ 'अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।'

—पातञ्जलयोगसूत्र, साधन-पाद, सूत्र ५।

४ 'समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात्।'

- तत्त्वार्थ-राजवार्त्तिक ६, १, ३१।

'विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम्।
भवोच्चतालमुत्तालप्रपञ्चमधितिष्ठति ॥५॥'

—ज्ञानसार, मोहाष्टक।

निर्वाण[1] प्रकरण में अज्ञान के फलरूप से कही गई है। (२) योग-वासिष्ठ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्धमें अविद्या से तृष्णा और तृष्णा से दुःख का अनुभव तथा विद्या से अविद्या का[2] नाश, यह क्रम जैसा वर्णित है, वही क्रम जैन-शास्त्र में मिथ्याज्ञान और सम्यक्-ज्ञान के निरूपणद्वारा जगह-जगह वर्णित है। (३) योगवासिष्ठ के उक्त प्रकरण में[3] ही जो अविद्या का विद्या से और विद्या का विचार से नाश बतलाया है, वह जैनशास्त्र में माने हुए मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिकज्ञान से मिथ्याज्ञान के नाश और क्षायिकज्ञान से क्षायोपशमिक ज्ञान के नाश के समान है। (४) जैनशास्त्र में मुख्यतया मोह को ही बन्ध का—संसार का हेतु माना है। योगवासिष्ठ[4] में वही बात रूपान्तर से कही गई है। उसमें जो दृश्य के अस्तित्व को बन्ध का कारण कहा है; उसका

---

१. 'अज्ञानात्प्रसृता यस्माज्जगत्पर्णपरम्पराः।
यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते, विशन्ति विलसन्ति च ॥५३॥'
'आपातमात्रमधुरत्वमनर्थसत्त्वमाद्यन्तवत्त्वमखिलस्थितिभङ्गुरत्वम्।
अज्ञानशाखिन इति प्रसृतानि राम नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि'
॥६१॥ पूर्वार्द्ध, सर्ग ६,

२. 'जन्मपर्वाहिना रन्ध्रा विनाशच्छिद्रचञ्चुरा।
भोगाभोगरसापूर्णा, विचारैकघुणक्षता ॥११॥'
सर्ग ८।

३. 'मिथःस्वान्ते तयोरन्तश्छायातपनयोरिव।
अविद्यायां विलीनायां क्षीणे द्वे एव कल्पने ॥२३॥
एते राघव लीयेते, अवाप्यं परिशिष्यते।
अविद्यासंक्षयात् क्षीणो विद्यापक्षोऽपि राघव ॥२४॥'
सर्ग ९।

४. 'अविद्या संसृतिर्बन्धो, माया मोहो महत्तमः।
कल्पितानीति नामानि, यस्याः सकलवेदिभिः ॥२०॥'
'द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽङ्गबन्ध इत्यभिधीयते।
द्रष्टा दृश्यबलाद्बद्धो, दृश्याऽभावे विमुच्यते ॥२२॥'
—उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग १।

'तस्माच्चित्तविकल्पस्थपिशाचो बालकं यथा।
विनिहन्त्येवमेषान्तर्द्रष्टारं दृश्यरूपिका ॥३८॥'
—उत्पत्ति प्र० सर्ग ३।

तात्पर्य दृश्यके अभिमान या अध्यास से है। (५) जैसे, जैनशास्त्र में ग्रन्थिभेद का वर्णन है वैसे ही योगवासिष्ठ में [1] भी है। (६) वैदिक ग्रन्थों का यह वर्णन कि ब्रह्म, माया के संसर्ग से संकल्प-विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि रचता है; तथा स्थावरजङ्गमात्मक जगत् का कल्प के अन्त में नाश होता है [2], इत्यादि बातों की संगति जैनशास्त्र के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है—आत्मा का अव्यवहार-राशि से व्यवहारराशि में आना ब्रह्म का जीवत्व धारण करना है। क्रमशः सूक्ष्म तथा स्थूल मन के द्वारा संज्ञित्व प्राप्त करके कल्पनाजाल में आत्मा का विचरण करना संकल्प-विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि है। शुद्ध आत्म-स्वरूप व्यक्त होने पर सांसारिक पर्यायों का नाश होना ही कल्प के अन्त में स्थावर-जंगमात्मक जगत् का नाश है आत्मा अपनी सत्ता भूलकर जड़-सत्ताको स्वसत्ता मानता है, जो अहंत्व-ममत्व भावना रूप मोह का उदय और बन्ध का कारण है। वही अहंत्व-ममत्व भावना वैदिक वर्णन-शैली के अनुसार बन्धहेतुभूत दृश्य सत्ता है। उत्पत्ति, वृद्धि, विकाश, स्वर्ग, नरक आदि जो जीव की अवस्थाएँ वैदिक ग्रन्थों में वर्णित[3] हैं, वे ही जैन-दृष्टि के अनुसार व्यवहार-राशि-गत जीव के पर्याय हैं। (७) योगवासिष्ठ में [4] स्वरूप स्थिति को ज्ञानी का और स्वरूप-

---

१. ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन् सति हि मुक्तता।
मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥२३॥'

—उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११८

२. 'तत्स्वयं स्वैरमेवाशु, संकल्पयति नित्यशः।
तेनेत्थमिन्द्रजालश्रीर्विततेयं वितन्यते ॥१६॥'
'यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्।
तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः, कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥१०॥'

—उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग १।

स तथाभूत एवात्मा, स्वयमन्य इवोल्लसन्।
जीवतामुपयातीव, भाविनाम्ना कदर्थिताम् ॥१३॥'

३. उत्पद्यते यो जगति, स एव किल वर्धते।
स एव मोक्षमाप्नोति, स्वर्गं वा नरकं च वा ॥७॥"

उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग १।

४. 'स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम्।
एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं तज्ज्ञत्वाज्ञत्वलक्षणम् ॥५॥'

—उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११७।

अंश को अज्ञानी का लक्षण माना है। जैनशास्त्र में भी सम्यक् ज्ञान का और मिथ्यादृष्टि का क्रमशः वही स्वरूप [1] बतलाया है। (८) योगवासिष्ठ में [2] जो सम्यक् ज्ञान का लक्षण है, वह जैनशास्त्र के अनुकूल है। (९) जैनशास्त्र में सम्यक् दर्शन की प्राप्ति, (१) स्वभाव और (२) बाह्य निमित्त, इन दो प्रकार से बतलाई है[3]। योगवासिष्ठ में भी ज्ञान प्राप्ति का वैसा ही क्रम सूचित किया[4] है। (१०) जैनशास्त्र के चौदह गुणस्थानों के स्थान में चौदह भूमिकाओं का वर्णन योगवासिष्ठ में[5] बहुत रुचिकर व विस्तृत है। सात भूमिकाएँ ज्ञान की और

---

१. 'अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥१॥'

—ज्ञानसार, मोहाष्टक।

स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानमिष्यते।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत्तथा चोक्तं महात्मना ॥३॥'

—ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक।

२. 'अनाद्यन्तावभासात्मा, परमात्मेह विद्यते।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥२॥'

– उपशम-प्रकरण, सर्ग ७९।

३ 'तन्निसर्गादधिगमाद् वा।'

—तत्त्वार्थ-अ० १, सू० ३।

४ 'एकस्तावद्गुरुप्रोक्तादनुष्ठानाच्छनैः शनैः।
जन्मना जन्मभिर्वापि सिद्धिदः समुदाहृतः ॥३॥
द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु, किंचिद्व्युत्पन्नचेतसा।
भवति ज्ञानसंप्राप्तिराकाशफलपातवत् ॥४॥'

—उपशम-प्रकरण, सर्ग ७।

५ 'अज्ञानभूः सप्तपदा, ज्ञभूः सप्तपदैव हि।
पदान्तराण्यसंख्यानि, भवन्त्यन्यान्यथैतयोः ॥२॥
तत्रारोपितमज्ञानं तस्य भूमीरिमाः शृणु।
बीजजाग्रत्तथाजाग्रत्, महाजाग्रत्तथैव च ॥११॥
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः, स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम्।
इति सप्तविधो मोहः, पुनरेव परस्परम् ॥१२॥
श्लिष्टो भवत्यनेकाख्यः शृणु लक्षणमस्य च।
प्रथमे चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः ॥१३॥

सात अज्ञान की बतलाई हुई हैं, जो जैन-परिभाषा के अनुसार क्रमशः मिथ्यात्व की और सम्यक्त्वकी अवस्था की सूचक हैं। (११) योगवासिष्ठ में तत्त्वज्ञ,

---

भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम्।
बीजरूपं स्थितं जाग्रत्, बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥१४॥
एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था, त्वं जाग्रत्संसृतिं शृणु।
नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम ॥१५॥
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात्।
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः ॥१६॥
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो, महाजाग्रदिति स्फुटम्।
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम् ॥१७॥
यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते।
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः ॥१८॥
अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्त्वं, स्वप्नोऽनेकविधो भवेत्।
अल्पकालं मया दृष्टं, एवं नो सत्यमित्यपि ॥१९॥
निद्राकालानुभूतेऽर्थे, निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः।
स स्वप्नः कथितस्तस्य, महाजाग्रत्स्थितेर्हृदि ॥२०॥
चिरसंदर्शनाभावादप्रफुल्लबृहद् वपुः।
स्वप्नो जाग्रत्तयारूढो, महाजाग्रत्पदं गतः ॥२१॥
अक्षते वा क्षते देहे, स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत्।
षडवस्थापरित्यागे, जडा जीवस्य या स्थितिः ॥२२॥
भविष्यदुःखबोधाढ्या, सौषुप्ती सोच्यते गतिः।
एते तस्यामवस्थायां तृणलोष्ठशिलादयः ॥२३॥
पदार्थाः संस्थिताः सर्वे, परमाणुप्रमाणिनः।
सप्तावस्था इति प्रोक्ता, मयाऽज्ञानस्य राघव ॥२४॥'

उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ११७।

'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या, प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु, तृतीया तनुमानसा ॥५॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततो संसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी, सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥६॥
आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥७॥

समदृष्टि, पूर्णाशय और मुक्त पुरुष का जो वर्णन[1] है, वह जैन-संकेतानुसार चतुर्थ आदि गुणस्थानों में स्थित आत्मा को लागू पड़ता है। जैनशास्त्र में जो ज्ञान का महत्त्व वर्णित[2] है, वही योगवासिष्ठ में प्रज्ञामाहात्म्य के नाम से

स्थितः किं मूढ एवास्मि, प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति, शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥८॥
शास्त्रसज्जनसंपर्क-वैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या, प्रोच्यते सा विचारणा ॥९॥
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ॥१०॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे, सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥११॥
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात्प्रोक्ता संसक्तिनामिका ॥१२॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥१३॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावना नाम्नी, षष्ठी संजायते गतिः ॥१४॥
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥१५॥'

उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११८।

१ योग० निर्वाण-प्र०, सर्ग १७०; निर्वाण-प्र० उ, सर्ग ११९।
योग० स्थिति प्रकरण, सर्ग ७५; निर्वाण-प्र० स० १९९।

२ 'जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्तृष्णा कृष्णाऽहिजाङ्गुली।
पूर्णानन्दस्य तत्किं स्याद्दैन्यवृश्चिकवेदना ॥४॥'

— ज्ञानसार, पूर्णताष्टक।

'अस्ति चेद् ग्रन्थिभिद् ज्ञानं किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥६।
मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिशोभितः।
निर्भयः शक्रवद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥७॥
पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम्।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥८॥'

ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक।

'संसारे निवसन् स्वार्थसज्जः कज्जलवेश्मनि ।
लिप्यते निखिलो लोको ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥१॥
नाहं पुद्गलभावानां कर्त्ता कारयिता च न ।
नानुमन्तापि चेत्यात्मज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥२॥
लिप्यते पुद्गलस्कन्धो न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।
चित्रव्योमाञ्जनेनेव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥३॥
लिप्तताज्ञानसंपातप्रतिघाताय केवलम् ।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥४॥
तपःश्रुतादिना मत्तः, क्रियावानपि लिप्यते ।
भावनाज्ञानसंपन्नो निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥५॥'

ज्ञानसार, निर्लेपाष्टक ।

'छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण, स्पृहाविषलतां बुधाः ।
मुखशोषं च मूर्च्छां च, दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥३॥'

ज्ञानसार, निःस्पृहाष्टक ।

'मिथो युक्तपदार्थानामसंक्रमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥७॥
अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा ।
पश्यन्ति परमात्मानमात्मन्येव हि योगिनः ॥८॥'

ज्ञानसार, विद्याष्टक ।

'भवसौख्येन किं भूरिभयज्वलनभस्मनां ।
सदा भयोज्झितं ज्ञानसुखमेव विशिष्यते ॥२॥
न गोप्यं क्वापि नारोप्यं हेयं देयं च न क्वचित् ।
क्व भयेन मुनेः स्थेयं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यतः ॥३॥
एकं ब्रह्मास्त्रमादाय, निघ्नन्मोहचमूं मुनिः ।
बिभेति नैव संग्रामशीर्षस्थ इव नागराट् ॥४॥
मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चेत्प्रसर्पति मनोवने ।
वेष्टनं भयसर्पाणां न तदाऽऽनन्दचन्दने ॥५॥
कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानवर्म बिभर्ति यः ।
क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसंगरकेलिषु ॥६॥
तूलवल्लघवो मूढा भ्रमन्त्यभ्रे भयानिलैः ।
नैकं रोमापि तैर्ज्ञानगरिष्ठानां तु कम्पते ॥७॥

उल्लिखित है [1]।

चित्तं परिणतं यस्य, चारित्रमकुतोभयम्।
अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् ।।८।।'

ज्ञानसार, निर्भयाष्टक।

'अदृष्टार्थे तु धावन्तः, शास्त्रदीपं विना जडाः।
प्राप्नुवन्ति परं खेदं प्रस्खलन्तः पदे पदे ।।५।।
'अज्ञानाहिमहामन्त्रं स्वाच्छन्द्यज्वरलंघनम्।
धर्मारामसुधाकुल्यां शास्त्रमाहुर्महर्षयः ।।७।।
शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता च, शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः।
शास्त्रैकदृग् महायोगी, प्राप्नोति परमं पदम् ।।८।।'

ज्ञानसार, शास्त्राष्टक।

''ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं बाह्यं तदुपबृंहकम् ।।१।।
आनुस्रोतसिकी वृत्तिर्बालानां सुखशीलता।
प्रातिस्रोतसिकी वृत्तिर्ज्ञानिनां परमं तपः ।।२।।
सदुपायप्रवृत्तानामुपेयमधुरत्वतः।
ज्ञानिनां नित्यमानन्दवृद्धिरेव तपस्विनाम् ।।४।।'

ज्ञानसार, तपोष्टक।

१ 'न तद्गुरोर्न शास्त्रार्थान्न पुण्यात्प्राप्यते पदम्।
यत्साधुसङ्गाभ्युदिताद्विचारविशदाद्धृदः ।।१७।।
सुन्दर्या निजया बुद्धया, प्रज्ञयेव वयस्यया।
पदमासाद्यते राम, न नाम क्रिययाऽन्यया ।।१८।।
यस्योज्ज्वलति तीक्ष्णाग्रा, पूर्वापरविचारिणी।
प्रज्ञादीपशिखा जातु, जाड्यान्ध्यं तं न बाधते ।।१९।।
दुरुत्तरा या विपदो दुःखकल्लोलसंकुलाः।
तीर्यते प्रज्ञया ताभ्यो नावाऽपद्भ्यो महामते ।।२०।।
प्रज्ञाविरहितं मूढमापदल्पापि बाधते।
पेलवाचानिलकला सारहीनमिवोलपम् ।२१।।
'प्रज्ञावानसहोऽपि कार्यान्तमधिगच्छति।
दुष्प्रज्ञः कार्यमासाद्य, प्रधानमपि नश्यति ।।२३।।
शास्त्रसज्जनसंसर्गैः प्रज्ञां पूर्वं विवर्धयेत्।
सेकसंरक्षणारम्भैः फलप्राप्तौ लतामिव ।।२४।।

प्रज्ञाबलबृहन्मूलः, काले सत्कार्यपादपः ।
फलं फलत्यतिस्वादु भासोर्बिम्बमिवैन्दवम् ॥२५॥
य एव यत्नः क्रियते, बाह्यार्थोपार्जने जनैः ।
स एव यत्नः कर्तव्य', पूर्वं प्रज्ञाविवर्धने ॥२६॥
सीमान्तं सर्वदुःखानामापदां कोशमुत्तमम् ।
बीजं संसारवृक्षाणां प्रज्ञामान्द्यं विनाशयेत् ॥२७॥
स्वर्गाद्यच्च पातालाद्राज्याद्यत्समवाप्यते ।
तत्समासाद्यते सर्वं प्रज्ञाकोशान्महात्मना ॥२८॥
प्रज्ञयोत्तीर्यते भीमात्तस्मात्संसारसागरात् ।
न दानैर्न च वा तीर्थैस्तपसा न च राघव ॥२९॥
यत्प्राप्ताः संपदं दैवीमपि भूमिचरा नराः ।
प्रज्ञापुण्यलतायास्तत्फलं स्वादु समुत्थितम् ॥३०॥
प्रज्ञया नखरालूनमत्तवारणयूथपाः ।
जम्बुकैर्विजिताः सिंहा, सिंहैर्हरिणका इव ॥३१॥
सामान्यैरपि भूपत्वं प्राप्तं प्रज्ञावशान्नरैः ।
स्वर्गापवर्गयोग्यत्वं प्राज्ञस्यैवेह दृश्यते ॥३२॥
प्रज्ञया वादिनः सर्वे स्वविकल्पविलासिनः ।
जयन्ति सुभटप्रख्यान्नरानप्यतिभीरवः ॥३३॥
चिन्तामणिरियं प्रज्ञा हृत्कोशस्था विवेकिनः ।
फलं कल्पलतेवैषा, चिन्तितं सम्प्रयच्छति ॥३४॥
भव्यस्तरति संसारं प्रज्ञयापोह्यतेऽधमः ।
शिक्षितः पारमाप्नोति, नावा नाप्नोत्यशिक्षितः ॥३५॥
धीः सम्यग्योजिता पारमसम्यग्योजिताऽऽपदम् ।
नरं नयति संसारे, भ्रमन्ती नौरिवार्णवे ॥३६॥
विवेकिनमसंमूढं प्राज्ञमाशागणोत्थिताः ।
दोषा न परिबाधन्ते, सन्नद्धमिव सायकाः ॥३७॥
प्रज्ञयेह जगत्सर्वं सम्यगेवाङ्ग दृश्यते ।
सम्यग्दर्शनमायान्ति, नापदो न च संपदः ॥३८॥
पिधानं परमार्कस्य, जडात्मा विततोऽसितः ।
अहंकाराम्बुदो मत्तः, प्रज्ञावातेन बाध्यते ॥३९॥"

उपशम-प्र०, प्रज्ञामाहात्म्य ।

योगसंबन्धी विचार

गुणस्थान और योग के विचार में अन्तर क्या है? गुणस्थान के किंवा अज्ञान व ज्ञान-की भूमिकाओं के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि आत्मा का आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है और योग के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि मोक्ष का साधन क्या है? अर्थात् गुणस्थान में आध्यात्मिक विकास के क्रम का विचार मुख्य है और योग में मोक्ष के साधन का विचार मुख्य है। इस प्रकार दोनों का मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व भिन्न-भिन्न होने पर भी एक के विचार में दूसरे की छाया अवश्य आ जाती है, क्योंकि कोई भी आत्मा मोक्ष के अन्तिम—अनन्तर या अव्यवहित – साधन को प्रथम ही प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु विकास के क्रमानुसार उत्तरोत्तर सम्भवित साधनों को सोपान-परम्परा की तरह प्राप्त करता हुआ अन्त में चरम साधन को प्राप्त कर लेता है। अतएव योग के—मोक्षसाधन-विषयक विचार में आध्यात्मिक विकास के क्रम की छाया आ ही जाती है। इसी तरह आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है, इसका विचार करते समय आत्मा के शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम परिणाम, जो मोक्ष के साधनभूत हैं, उनकी छाया भी आ ही जाती है। इसलिए गुणस्थान के वर्णन-प्रसंग में योग का स्वरूप संक्षेप में दिखा देना अप्रासङ्गिक नहीं है।

योग किसे कहते हैं?—आत्मा का धर्म-व्यापार मोक्ष का मुख्य हेतु अर्थात् उपादानकारण तथा बिना विलम्ब से फल देनेवाला हो, उसे योग [1] कहते हैं। ऐसा व्यापार प्रणिधान आदि शुभ भाव या शुभभावपूर्वक की जानेवाली क्रिया [2] है। पातञ्जलदर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोधको योग [3] कहा है। उसका भी वही मतलब है, अर्थात् ऐसा निरोध मोक्ष का मुख्य कारण है, क्योंकि उसके साथ कारण और कार्य-रूप से शुभ भाव का अवश्य संबंध होता है।

---

१ 'मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते।
लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतुव्यापारतास्य तु ॥१॥'

—योगलक्षण द्वात्रिंशिका।

२ 'प्रणिधानं प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा।
सिद्धिश्च विनियोगश्च, एते कर्मशुभाशयाः ॥१०॥'
'एतैराशययोगैस्तु, विना धर्माय न क्रिया।
प्रत्युत प्रत्यपायाय, लोभक्रोधक्रिया तथा ॥१६॥''

—योगलक्षणद्वात्रिंशिका।

३ 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।—पातञ्जलसूत्र, पा० १, सू० २।

योग का आरम्भ कब से होता है ?

आत्मा अनादि काल से जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पड़ा है और उसमें नाना प्रकार के व्यापारों को करता रहता है। इसलिए यह प्रश्न पैदा होता है कि उसके व्यापार को कब से योगस्वरूप माना जाए? इसका उत्तर शास्त्र में [1] यह दिया गया है कि जब तक आत्मा मिथ्यात्व से व्याप्त बुद्धिवाला, अतएव दिङ्मूढ की तरह उल्टी दिशा में गति करनेवाला अर्थात् आस्था—लक्ष्य से भ्रष्ट हो, तब तक उसका व्यापार प्रणिधान आदि शुभ-योग रहित होने के कारण योग नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जब से मिथ्यात्व का तिमिर कम होने के कारण आत्मा की भ्रान्ति मिटने लगती है और उसकी गति सीधी अर्थात् सन्मार्ग के अभिमुख हो जाती है, तभी से उसके व्यापार को प्रणिधान आदि शुभ-भाव सहित होने के कारण 'योग' संज्ञा दी जा सकती है। सारांश यह है कि आत्मा के अनादि सांसारिक काल के दो हिस्से हो जाते हैं। एक चरमपुद्गलपरावर्त्त और दूसरा अचरम पुद्गल परावर्त कहा जाता है। चरम पुद्गलपरावर्त अनादि सांसारिक काल का आखिरी और बहुत छोटा अंश [2] है। अचरमपुद्गलपरावर्त्त उसका बहुत बड़ा भाग है; क्योंकि चरम-पुद्गलपरावर्त को बाद करके अनादि सांसारिक काल, जो अनंतकालचक्र-परिमाण है, वह सब अचरम पुद्गलपरावर्त कहलाता है। आत्मा का सांसारिक काल, जब चरमपुद्गलपरावर्त-परिमाण बाकी रहता है, तब उसके ऊपर से मिथ्यात्वमोह का आवरण हटने लगता है। अतएव उसके परिणाम निर्मल होने लगते हैं। और क्रिया भी निर्मल भावपूर्वक होती है। ऐसी क्रिया से भाव-शुद्धि और भी बढ़ती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर भाव-शुद्धि बढ़ते जाने के कारण चरम पुद्गलपरा-वर्तकालीन धर्म-व्यापार को योग कहा है। अचरम पुद्गलपरावर्त कालीन व्यापार न तो शुभ-भावपूर्वक होता है और न शुभ-भाव का कारण ही होता है। इसलिए

---

१ 'मुख्यत्वं चांतरङ्गत्वात्फलाक्षेपाच्च दर्शितम्।
चरमे पुद्गलावर्ते यत एतस्य संभवः ॥२॥
न सन्मर्गाभिमुख्यं स्यादावर्तेषु परेषु तु।
मिथ्यात्वाच्छन्नबुद्धीनां दिङ्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥३॥'
—योगलक्षणद्वात्रिंशिका।

२ चरमावर्तिनो जन्तोः, सिद्धेरासन्नता ध्रुवम्।
भूयांसोऽमी व्यतिक्रान्तास्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ ॥२८॥
—मुक्त्यद्वेषप्राधान्यद्वात्रिंशिका।

वह परम्परा से भी मोक्ष के अनुकूल न होने के सबब से योग नहीं कहा जाता। पातञ्जलदर्शन में भी अनादि सांसारिक काल के निवृत्ताधिकार प्रकृति और और अनिवृत्ताधिकार प्रकृति इस प्रकार दो भेद बतलाए हैं, जो जैन शास्त्र के चरम और अचरम-पुद्‌गलपरावर्त के समानार्थक [1] हैं।

योग के भेद और उनका आधार

जैनशास्त्र [2] में (१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसंक्षय, ऐसे पाँच भेद योग के किये हैं। पातञ्जलदर्शन में योग के (१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात, ऐसे दो भेद [3] हैं। जो मोक्ष का साक्षात्—अव्यवहित कारण हो अर्थात् जिसके प्राप्त होने के बाद तुरंत ही मोक्ष हो, वही यथार्थ में योग कहा जा सकता है। ऐसा योग जैनशास्त्र के संकेतानुसार वृत्तिसंक्षय और पातञ्जलदर्शन के संकेतानुसार असम्प्रज्ञात ही है। अतएव यह प्रश्न होता है कि योग के जो इतने भेद किये जाते हैं, उनका आधार क्या है? इसका उत्तर यह है कि अलबत्ता वृत्तिसंक्षय किंवा असम्प्रज्ञात ही मोक्ष का साक्षात् कारण होने से वास्तव में योग है। तथापि वह योग किसी विकासगामी आत्मा को पहले ही पहल प्राप्त नहीं होता, किंतु इसके पहले विकास-क्रम के अनुसार ऐसे अनेक आंतरिक धर्म-व्यापर करने पड़ते हैं, जो उत्तरोत्तर विकास को बढ़ानेवाले और अंत में उस वास्तविक योग तक पहुँचानेवाले होते हैं। वे सब धर्म—व्यापार योग के कारण होने से अर्थात् वृत्तिसंक्षय या असम्प्रज्ञात योग के साक्षात् किंवा परम्परा से हेतु होने से योग कहे जाते हैं। सारांश यह है कि योग के भेदों का आधार विकास का क्रम है। यदि विकास क्रमिक न होकर एक ही बार पूर्णतया प्राप्त हो जाता तो योग के भेद नहीं किये जाते। अतएव वृत्तिसंक्षय जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, उसको प्रधान योग समझना चाहिए और उसके पहले के जो अनेक धर्म-व्यापार योगकोटि में गिने जाते हैं, वे प्रधान योग के कारण होने से योग कहे जाते हैं। इन सब व्यापारों की समष्टि को पातञ्जलदर्शन में सम्प्रज्ञात

---

१ योजनाद्योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः।
स निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥१४॥

—अपुनर्बन्धद्वात्रिंशिका।

२ 'अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तो, योगमार्गविशारदैः ॥१॥

—योगभेदद्वात्रिंशिका।

३ देखिए, पाद १, सूत्र १७ और १८।

कहा है और जैन शास्त्र में शुद्धि के तर-तम भावानुसार उस समष्टि के अध्यात्म आदि चार भेद किये हैं। वृत्तिसंक्षय के प्रति साक्षात् किंवा परंपरा से कारण होनेवाले व्यापारों को जब योग कहा गया, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वे पूर्वभावी व्यापार कब से लेने चाहिए। किन्तु इसका उत्तर पहले ही दिया गया है कि चरम पुद्गलपरावर्तकाल से जो व्यापार किये जाते हैं, वे ही योग कोटि में गिने जाने चाहिए। इसका सबब यह है कि सहकारी निमित्त मिलते ही, वे सब व्यापार मोक्ष के अनुकूल अर्थात् धर्म-व्यापार हो जाते हैं। इसके विपरीत कितने ही सहकारी कारण क्यों न मिलें, पर अचरम पुद्गलपरावर्तकालीन व्यापार मोक्ष के अनुकूल नहीं होते।

योग के उपाय और गुणस्थानों में योगावतार

पातञ्जलदर्शन में (१) अभ्यास और (२) वैराग्य, ये दो उपाय योग के बतलाये हुए हैं। उसमें वैराग्य भी पर-अपर रूप से दो प्रकार का कहा गया है[1]। योग का कारण होने से वैराग्य को योग मानकर जैन शास्त्र में अपर-वैराग्य को अतात्त्विक धर्मसंन्यास और पर-वैराग्य को तात्त्विक धर्मसंन्यास योग कहा[2] है। जैनशास्त्र में योग का आरम्भ पूर्व-सेवा से माना गया[3] है। पूर्वसेवा से अध्यात्म, अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान तथा समता, ध्यान तथा समता से वृत्तिसंक्षय और वृत्तिसंक्षय से मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए वृत्तिसंक्षय ही मुख्य योग है और पूर्व सेवा से लेकर समता पर्यन्त सभी धर्म-व्यापार साक्षात् किंवा परपरा से योग के उपायमात्र[4] हैं। अपुनर्बन्धक, जो मिथ्यात्व को त्यागने के लिए

---

१. देखिये, पाद १, सूत्र १२, १५ और १६।

२. 'विषयदोषदर्शनजनितभयात् धर्मसंन्यासलक्षणं प्रथमम्, स तत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावितात्त्विकधर्मसंन्यासलक्षणं द्वितीयं वैराग्यं यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्त इत्यस्माकं सिद्धान्तः।'—श्रीयशोविजयजी-कृत पातञ्जल-दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६।

३. 'पूर्वसेवा तु योगस्य, गुरुदेवादिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः ॥१॥'

—पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका।

४. 'उपायत्वेऽत्र पूर्वेषामन्त्य एवावशिष्यते।
तत्पञ्चमगुणस्थानादुपायोऽर्वागिति स्थितिः ॥३१॥'

—योगभेदद्वात्रिंशिका।

तत्पर और सम्यक्त्व-प्राप्ति के अभिमुख होता है, उसको पूर्वसेवा तात्त्विकरूप से होती है और सकृद्बन्धक, द्विर्बन्धक आदि को पूर्वसेवा अतात्त्विक होती है। अध्यात्म और भावना अपुनर्बन्धक तथा सम्यग्दृष्टि को व्यवहार-नय से तात्त्विक और देश-विरति तथा सर्व-विरति को निश्चय नय से तात्त्विक होते हैं। अप्रमत्त, सर्वविरति आदि गुणस्थानों में ध्यान तथा समता उत्तरोत्तर तात्त्विकरूप से होते हैं। वृत्तिसंक्षय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता[1] है। सम्प्रज्ञातयोग अध्यात्म से लेकर ध्यान पर्यन्त के चारों भेदस्वरूप है और असम्प्रज्ञातयोग वृत्ति-संक्षयरूप है। इसलिए चौथे से बारहवें गुणस्थान तक में सम्प्रज्ञातयोग और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में असम्प्रज्ञातयोग समझना चाहिए[2]।

पूर्वसेवा आदि शब्दों की व्याख्या

१. गुरु, देव आदि पूज्यवर्ग का पूजन, सदाचार, तप और मुक्ति के प्रति अद्वेष, यह 'पूर्वसेवा' कहलाती है। २. उचित प्रवृत्तिरूप अणुव्रत-महाव्रत युक्त होकर मैत्री आदि भावनापूर्वक जो शास्त्रानुसार तत्त्व-चिंतन करना, वह

---

१. 'शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो वर्धमानगुणः स्मृतः।
भवाभिनन्ददोषाणामपुनर्बन्धको व्यये ॥१॥
अस्यैव पूर्वसेवोक्ता, मुख्याऽन्यस्योपचारतः।
अस्यावस्थान्तरं मार्गपतिताभिमुखौ पुनः ॥२॥'

—अपुनर्बन्धकद्वात्रिंशिका।

'अपुनर्बन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः
अध्यात्मभावनारूपोनिश्चयेनोत्तरस्य तु ॥१४॥
सकृदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथा वेषादिमात्रतः ॥१५॥
शुद्ध्यपेक्षा यथायोगं चारित्रवत एव च।
हन्त ध्यानादिको योगस्तात्त्विकः प्रविजृम्भते ॥१६॥'

—योगविवेकद्वात्रिंशिका।

२. 'संप्रज्ञातोऽवतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वतः।
तात्त्विकी च समापत्तिर्नात्मनो भाव्यतां विना ॥१५॥
'असम्प्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः॥
सर्वतोऽस्मादकरणनियमः पापगोचरः ॥२१॥'

—योगावतारद्वात्रिंशिका।

'अध्यात्म'[1] है। ३. अध्यात्म का बुद्धिसंगत अधिकाधिक अभ्यास ही 'भावना'[2] है। ४. अन्य विषय के संचार से रहित जो किसी एक विषय का धारावाही प्रशस्त सूक्ष्मबोध हो, वह 'ध्यान'[3] है। ५. अविद्या से कल्पित जो अनिष्ट वस्तुएँ हैं, उनमें विवेकपूर्वक तत्त्व-बुद्धि करना अर्थात् इष्टत्व अनिष्टत्व की भावना छोड़कर उपेक्षा धारण करना 'समता'[4] है। ६. मन और शरीर के संयोग से उत्पन्न होनेवाली विकल्परूप तथा चेष्टारूप वृतियों का निर्मूल नाश करना 'वृतिसंक्षय'[5] है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने अपनी पातञ्जलसूत्र-वृत्ति में वृत्तिसंक्षय शब्द की उक्त व्याख्या की अपेक्षा अधिक विस्तृत व्याख्या की है। उसमें वृत्ति का अर्थात् कर्मसंयोग की योग्यता का संक्षय—ह्रास, जो ग्रन्थि-भेद से शुरू होकर चौदहवें गुणस्थान में समाप्त होता है, उसी को वृत्तिसंक्षय कहा है और शुक्लध्यान के पहले दो भेदों में सम्प्रज्ञात का तथा अन्तिम दो भेदों में असम्प्रज्ञात का समावेश किया[6] है।

---

१. 'औचित्याद्व्रतयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम्।
मैत्र्यादिभावसंयुक्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥२॥'

—योगभेदद्वात्रिंशिका।

२. 'अभ्यासो वृद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसंगतः।
निवृत्तिरशुभाभ्यासाद्भाववृद्धिश्च तत्फलम् ॥६॥'

—योगभेदद्वात्रिंशिका।

३. 'उपयोगे विजातीयप्रत्ययाव्यवधानभाक्।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥११॥'

—योगभेदद्वात्रिंशिका।

४. 'व्यवहारकुदृष्टयोच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
कल्पितेषु विवेकेन, तत्त्वधीः समतोच्यते ॥२२॥

—योगभेदद्वात्रिंशिका।

५. 'विकल्पस्पन्दरूपाणां वृत्तीनामन्यजन्मनाम्।
अपुनर्भावतो रोधः, प्रोच्यते वृत्तिसंक्षयः ॥२५॥'

—योगभेदद्वात्रिंशिका।

६ 'द्विविधोऽप्ययमध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिसंक्षयभेदेन पञ्चधोक्तस्य योगस्य पञ्चमभेदेऽवतरति' इत्यादि।

—पाद १, सू० १८।

योगजन्य विभूतियाँ—

योग से होनेवाली ज्ञान, मनोबल, वचनबल, शरीरबल आदि संबंधिनी अनेक विभूतियों का वर्णन पातञ्जलदर्शन में [1] है। जैनशास्त्र में वैक्रियलब्धि, आहारकलब्धि, अवधिज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान आदि सिद्धियाँ [2] वर्णित हैं, सो योग का ही फल हैं।

बौद्ध मन्तव्य

बौद्धदर्शन में भी आत्मा की संसार, मोक्ष आदि अवस्थाएँ मानी हुई हैं। इसलिए उसमें आध्यात्मिक क्रमिक विकास का वर्णन होना स्वाभाविक है। स्वरूपोन्मुख होने की स्थिति से लेकर स्वरूप की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने तक की स्थिति का वर्णन बौद्ध-ग्रंथों में [3] है, जो पाँच विभागों में विभाजित है। इनके नाम इस प्रकार हैं—१. धर्मानुसारी, २. सोतापन्न, ३. सकदागामी, ४. अनागामी और ५. अरहा। [१] इनमें से 'धर्मानुसारी' या 'श्रद्धानुसारी' वह कहलाता है, जो निर्वाणमार्ग के अर्थात् मोक्षमार्ग के अभिमुख हो, पर उसे प्राप्त न हुआ हो। इसी को जैनशास्त्र में 'मार्गानुसारी' कहा है और उसके पैंतीस गुण बतलाए हैं [4]। [२] मोक्षमार्ग को प्राप्त किये हुए आत्माओं के विकास की न्यूनाधिकता के कारण सोतापन्न आदि चार विभाग हैं। जो आत्मा अविनिपात, धर्मनियत और सम्बोधिपरायण हो, उसको 'सोतापन्न' कहते हैं। सोतापन्न आत्मा सातवें जन्म में अवश्य निर्वाण पाता है। [३] 'सकदागामी' उसे कहते हैं, जो एक ही बार इस लोक में जन्म ग्रहण करके मोक्ष जानेवाला हो। [४] जो इस लोक में जन्म ग्रहण न करके ब्रह्म लोक से सीधे ही मोक्ष जानेवाला हो, वह 'अनागामी' कहलाता है। [५] जो सम्पूर्ण आस्रवों का क्षय करके कृतकार्य हो जाता है, उसे 'अरहा' [5] कहते हैं।

धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच अवस्थाओं का वर्णन मज्झिमनिकाय में बहुत

---

१ देखिए, तीसरा विभूतिपाद।

२ देखिए, आवश्यक-निर्युक्ति, गा० ६६ और ७०।

३ देखिए, प्रो० सि० वि० राजवाड़े-सम्पादित मराठीभाषान्तरित मज्झिम-निकाय—

सू० ६, पे० २, सू० २२, पे० १५, सू० ३४, पे० ४, सू० ४८ पे० १०।

४ देखिए, श्रीहेमचन्द्राचार्य-कृत योगशास्त्र, प्रकाश १।

५ देखिए, प्रो० राजवाड़े-संपादित मराठीभाषान्तरित दीघनिकाय, पृ० १७६ टिप्पणी।

स्पष्ट किया हुआ है। उसमें वर्णन [1] किया है कि तत्कालजात वत्स, कुछ बड़ा किन्तु दुर्बल वत्स, प्रौढ़ वत्स, हल में जोतने लायक बलवान् बैल और पूर्ण वृषभ जिस प्रकार उत्तरोत्तर अल्प-अल्प श्रम से गङ्गा नदी के तिरछे प्रवाह को पार कर लेते हैं, वैसे ही धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच प्रकार के आत्मा भी मार—काम के वेग को उत्तरोत्तर अल्प श्रम से जीत सकते हैं।

बौद्ध-शास्त्र में दस संयोजनाएँ—बंधन वर्णित [2] हैं। इनमें से पाँच 'ओरंभागीय' और पाँच 'उड्ढंभागीय' कही जाती हैं। पहली तीन संयोजनाओं का क्षय हो जाने पर सोतापन्न-अवस्था प्राप्त होती है। इसके बाद राग, द्वेष और मोह शिथिल होने से सकदागामी-अवस्था प्राप्त होती है। पाँच ओरंभागीय संयोजनाओं का नाश होनेपर औपपत्तिक अनावृत्तिधर्मा किंवा अनागामी-अवस्था प्राप्त होती है और दसों संयोजनाओं का नाश हो जाने पर अरहा पद मिलता है। यह वर्णन जैनशास्त्र-गत कर्म प्रकृतियों के क्षय के वर्णन-जैसा है। सोतापन्न आदि उक्त चार अवस्थाओं का विचार चौथे से लेकर चौदहवें तक के गुणस्थानों के विचारों से मिलता-जुलता है अथवा यों कहिए कि उक्त चार अवस्थाएँ चतुर्थ आदि गुणस्थानों का संक्षेपमात्र हैं।

जैसे जैन-शास्त्र में लब्धिका तथा योगदर्शन में योगविभूति का वर्णन है, वैसे ही बौद्ध-शास्त्र में भी आध्यात्मिक-विकास-कालीन सिद्धियों का वर्णन है, जिनको उसमें 'अभिज्ञा कहते हैं। ऐसी अभिज्ञाएँ छह हैं, जिनमें पाँच लौकिक और एक लोकोत्तर कही गयी [3] है।

बौद्ध-शास्त्र में बोधिसत्व का जो लक्षण [4] है, वही जैन-शास्त्र के अनुसार सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह यदि गृहस्थ के आरम्भ समारम्भ

---

१. देखिए, पृ० १५६।

२. (१) सक्कायदिट्ठि, (२) विचिकच्छा, (३) सीलब्बत परामास, (४) कामराग, (५) पटीघ, (६) रूपराग, (७) अरूपराग, (८) मान, (९) उद्धच्च और (१०) अविज्जा। मराठीभाषांतरित दीघनिकाय, पृ० १७५ टिप्पणी।

३ देखिए,—मराठीभाषांतरित मज्झिमनिकाय, पृ० १५६।

४. 'कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोदितम्।
न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिमत् ॥२७१॥'

—योगबिन्दु।

आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है, तो भी उसकी वृत्ति तप्तलोहपदन्यासवत् अर्थात् गरम लोहे पर रखे जानेवाले पैर के समान सकम्प या पाप-भीरु होती है। बौद्ध-शास्त्र में भी बोधिसत्त्व का वैसा ही स्वरूप मानकर उसे कायपाती अर्थात् शरीरमात्र से (चित्त से नहीं) सांसारिक प्रवृत्ति में पड़नेवाला कहा है [1]। वह चित्तपाती नहीं होता।

ई० १९२२] [चौथे कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना

———

१. 'एवं च यत्परैरुक्तं बोधिसत्त्वस्य लक्षणम्।
विचार्यमाणं सन्नीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते ॥१०॥
तप्तलोहपदन्यासतुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि।
इत्युक्तेः कायपात्येव, चित्तपाती न स स्मृतः ॥११॥'
—सम्यग्दृष्टिद्वात्रिंशिका।

कुछ पारिभाषिक शब्द

(१) 'लेश्या'

१—लेश्या के (क) द्रव्य और (ख) भाव, इस प्रकार दो भेद हैं।

(क) द्रव्यलेश्या, पुद्गल-विशेषात्मक है। इसके स्वरूप के संबन्ध में मुख्यतया तीन मत हैं—(१) कर्मवर्गणा-निष्पन्न, (२) कर्म-निष्यन्द और (३) योग-परिणाम।

पहले मत का यह मानना है कि लेश्या द्रव्य, कर्म-वर्गणा से बने हुए हैं; फिर भी वे आठ कर्म से भिन्न ही हैं, जैसा कि कार्मणशरीर। यह मत उत्तराध्ययन, अ० ३४ की टीका, पृ० ६५० पर उल्लिखित है।

दूसरे मत का आशय यह है कि लेश्या-द्रव्य, कर्म-निष्यंदरूप (बध्यमान कर्म-प्रवाहरूप) है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म के होने पर भी उसका निष्यन्द न होने से लेश्या के अभाव की उपपत्ति हो जाती है। यह मत उक्त पृष्ठ पर ही निर्दिष्ट है, जिसको टीकाकार वादिवैताल श्री शान्तिसूरि ने 'गुरवस्तु व्याचक्षते' कहकर लिखा है।

तीसरा मत श्री हरिभद्रसूरि आदि का है। इस मत का आशय श्री मलयगिरिजी ने पन्नवणा पद १७ की टीका, पृ० ३३० पर स्पष्ट बतलाया है। वे लेश्या-द्रव्य को योगवर्गणा अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। उपाध्याय श्रीविनयविजयजी ने अपने आगम दोहनरूप लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक २८५ में इस मत को ही ग्राह्य ठहराया है।

ख) भावलेश्या, आत्मा का परिणाम-विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से वस्तुतः भावलेश्या, असंख्य प्रकार की है तथापि संक्षेप में छह विभाग करके शास्त्र में उसका स्वरूप दिखाया है। देखिये, चौथा कर्मग्रन्थ, गा० १३ वीं। छह भेदों का स्वरूप समझने के लिए शास्त्र में नीचे लिखे दो दृष्टान्त दिये गए हैं—

(१)—कोई छह पुरुष जम्बूफल (जामुन) खाने की इच्छा करते हुए चले जा रहे थे, इतने में जम्बू वृक्ष को देख उनमें से एक पुरुष बोला—'लीजिए,

जम्बूवृक्ष तो आ गया। अब फलों के लिए ऊपर चढ़ने की अपेक्षा फलों से लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखावाले इस वृक्ष को काट गिराना ही अच्छा है।'

यह सुनकर दूसरे ने कहा—'वृक्ष काटने से क्या लाभ? केवल शाखाओं को काट दो।'

तीसरे पुरुष ने कहा—'यह भी ठीक नहीं, छोटी-छोटी शाखाओं के काट लेने से भी तो काम निकाला जा सकता है?'

चौथे ने कहा—'शाखाएँ भी क्यों काटना? फलों के गुच्छों को तोड़ लीजिए।'

पाँचवाँ बोला—'गुच्छों से क्या प्रयोजन? उनमें से कुछ फलों को ही ले लेना अच्छा है।'

अन्त में छठे पुरुष ने कहा—'ये सब विचार निरर्थक हैं; क्योंकि हमलोग जिन्हें चाहते हैं, वे फल तो नीचे भी गिरे हुए हैं, क्या उन्हीं से अपना प्रयोजन-सिद्ध नहीं हो सकता है?'

(२)—कोई छह पुरुष धन लूटने के इरादे से जा रहे थे। रास्ते में किसी गाँव को पाकर उनमें से एक बोला—'इस गाँव को तहस-नहस कर दो—मनुष्य, पशु, पक्षी, जो कोई मिले, उन्हें मारो और धन लूट लो।'

यह सुनकर दूसरा बोला—'पशु, पक्षी आदि को क्यों मारना? केवल विरोध करने वाले मनुष्यों ही को मारो।'

तीसरे ने कहा—'बेचारी स्त्रियों की हत्या क्यों करना? पुरुषों को मार दो।'

चौथे ने कहा—सब पुरुषों को नहीं; जो सशस्त्र हों, उन्हीं को मारो।'

पाँचवें ने कहा—'जो सशस्त्र पुरुष भी विरोध नहीं करते, उन्हें क्यों मारना।'

अन्त में छठे पुरुष ने कहा—'किसी को मारने से क्या लाभ? जिस प्रकार से धन अपहरण किया जा सके, उस प्रकार से उसे उठा लो और किसी को मारो मत। एक तो धन लूटना और दूसरे उसके मालिकों को मारना यह ठीक नहीं।'

इन दो दृष्टान्तों से लेश्याओं का स्वरूप स्पष्ट जाना जाता है। प्रत्येक दृष्टान्त के छह-छह पुरुषों में पूर्व-पूर्व पुरुष के परिणामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम पाए जाते हैं। उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता पाई जाती है। प्रथम पुरुष के परिणाम को 'कृष्णलेश्या,' दूसरे के परिणाम को 'नीललेश्या', इस प्रकार क्रम से छठे पुरुष के परिणाम को 'शुक्ललेश्या' समझना चाहिए। —आवश्यक हारिभद्री वृत्ति पृ० $\frac{२४५}{१}$ तथा लोकप्रकाश, स० ३, श्लो० ३६३—३८०।

लेश्या-द्रव्य के स्वरूप संबन्धी उक्त तीनों मत के अनुसार तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त भाव-लेश्या का सद्भाव समझना चाहिए। यह सिद्धान्त गोम्मटसार-जीव काण्ड को भी मान्य है; क्योंकि उसमें योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। यथा—

'अयदोत्ति छलेस्साओ, सुहतियलेस्सा दु देसविरदतिये
तत्तो सुक्का लेस्सा, अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥५३१॥'

सर्वार्थसिद्धि में और गोम्मटसार के स्थानान्तर में कषायोदय-अनुरञ्जित योग-प्रवृत्ति को 'लेश्या' कहा है। यद्यपि इस कथन से दसवें गुणस्थान पर्यन्त ही लेश्या का होना पाया जाता है, पर यह कथन अपेक्षा-कृत होने के कारण पूर्व कथन से विरुद्ध नहीं है। पूर्व कथन में केवल प्रकृति-प्रदेश बन्ध के निमित्तभूत परिणाम लेश्यारूप से विवक्षित हैं। और इस कथन में स्थिति-अनुभाग आदि चारों बन्धों के निमित्तभूत परिणाम लेश्यारूप से विवक्षित हैं; केवल प्रकृति-प्रदेश बन्ध के निमित्तभूत परिणाम नहीं। यथा—

'भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योग-प्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।' —सर्वार्थसिद्धि-अध्याय २, सूत्र ६।

'जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होइ।
तत्तो दोण्णं कज्जं, बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥४८९॥'

—जीवकाण्ड।

द्रव्यलेश्या के वर्ण-गन्ध आदि का विचार तथा भावलेश्या के लक्षण आदि का विचार उत्तराध्ययन, अ० ३४ में है। इसके लिए प्रज्ञापना-लेश्यापद, आवश्यक, लोकप्रकाश आदि आकर ग्रंथ श्वेताम्बर-साहित्य में है। उक्त दो दृष्टांतों में से पहला दृष्टांत, जीवकाण्ड गा० ५०६-५०७ में है। लेश्या की कुछ विशेष बातें जानने के लिए जीवकाण्ड का लेश्या मार्गणाधिकार (गा० ४८८-५५५) देखने योग्य है।

जीवों के आन्तरिक भावों की मलिनता तथा पवित्रता के तर-तम-भाव का सूचक, लेश्या का विचार, जैसा जैन शास्त्र में है; कुछ उसी के समान छह जातियों का विभाग, मङ्खलीगोसाल पुत्र के मत में है, जो कर्म की शुद्धि-अशुद्धि को लेकर कृष्ण नील आदि छह वर्णों के आधार पर किया गया है। इसका वर्णन, 'दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त' में है।

'महाभारत के १२, २८६ में भी छह 'जीव-वर्ण' दिये हैं, जो उक्त विचार से कुछ मिलते-जुलते हैं।

'पातञ्जलयोगदर्शन' के ४,७ में भी ऐसी कल्पना है; क्योंकि उसमें कर्म के

चार विभाग करके जीवों के भावों की शुद्धि-अशुद्धि का पृथक्करण किया है। इसके लिए देखिए, दीघनिकाय का मराठी-भाषान्तर, पृ० ५६।

---

(२) 'पञ्चेन्द्रिय'

जीव के एकेन्द्रिय आदि पाँच भेद किये गये हैं, सो द्रव्येन्द्रिय के आधारपर; क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो सभी संसारी जीवों को पाँचों होती हैं। यथा—

'अहवा पडुच्च लद्धिंदियं पि पंचेंदिया सव्वे ॥२९९९॥'

—विशेषावश्यक।

अर्थात् लब्धीन्द्रिय की अपेक्षा से सभी संसारी जीव पञ्चेन्द्रिय हैं।

'पंचेदिउ व्व बउलो, नरो व्व सव्व-विसओवलंभाओ।' इत्यादि

विशेषावश्यक—३००१

अर्थात् सब विषय का ज्ञान होने की योग्यता के कारण बकुल-वृक्ष मनुष्य की तरह पाँच इन्द्रियोंवाला है।

यह ठीक है कि द्वीन्द्रिय आदि की भावेन्द्रिय, एकेन्द्रिय आदि की भावेन्द्रिय से उत्तरोत्तर व्यक्त-व्यक्ततर ही होती है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिनको द्रव्येन्द्रियाँ, पाँच, पूरी नहीं हैं, उन्हें भी भावेन्द्रियाँ तो सभी होती ही हैं। यह बात आधुनिक विज्ञान से भी प्रमाणित है। डा० जगदीशचन्द्र बसु की खोजने वनस्पति में स्मरणशक्ति का अस्तित्व सिद्ध किया है। स्मरण, जो कि मानस-शक्ति का कार्य है, वह यदि एकेन्द्रिय में पाया जाता है तो फिर उसमें अन्य इन्द्रियाँ, जो कि मन से नीचे की श्रेणि की मानी जाती हैं, उनके होने में कोई बाधा नहीं। इन्द्रिय के संबन्ध में प्राचीन काल में विशेष-दर्शी महात्माओं ने बहुत विचार किया है, जो अनेक जैन-ग्रंथों में उपलब्ध है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं - (१) द्रव्यरूप और (२) भावरूप। द्रव्येन्द्रिय, पुद्गल-जन्य होने से जडरूप है; पर भावेन्द्रिय, ज्ञानरूप है, क्योंकि वह चेतना-शक्ति का पर्याय है।

(१ द्रव्येन्द्रिय, अङ्गोपाङ्ग और निर्माण नामकर्म के उदय-जन्य है। इसके दो भेद हैं:—(क) निर्वृत्ति और (ख) उपकरण।

(क) इन्द्रिय के आकार का नाम 'निर्वृत्ति' है। निर्वृत्ति के भी (१) बाह्य

और (२) आभ्यन्तर, ये दो भेद हैं। (१) इन्द्रिय के बाह्य आकार को 'बाह्य-निर्वृत्ति' कहते हैं और (२) भीतरी आकार को 'आभ्यन्तरनिर्वृत्ति'। बाह्य भाग तलवार के समान है और अभ्यन्तर भाग तलवार की तेज धार के समान, जो अत्यन्त स्वच्छ परमाणुओं का बना हुआ होता है। आभ्यान्तरनिर्वृत्ति का यह पुद्गलमय स्वरूप प्रज्ञापनासूत्र-इन्द्रियपद की टीक पृ० $\frac{२९४}{१}$ के अनुसार है। आचाराङ्गवृत्ति पृ० १०४ में उसका स्वरूप चेतनामय बतलाया है।

आकार के संबन्ध में यह बात जाननी चाहिए कि त्वचा की आकृति अनेक प्रकार की होती है, पर उसके बाह्य और आभ्यन्तर आकार में जुदाई नहीं है। किसी प्राणी की त्वचा का जैसा बाह्य आकार होता है, वैसा ही आभ्यन्तर आकार होता है। परन्तु अन्य इन्द्रियों के विषय में ऐसा नहीं है—त्वचा को छोड़ अन्य सब इन्द्रियों के आभ्यन्तर आकार, बाह्य आकार से नहीं मिलते। सब जाति के प्राणियों की सजातीय इन्द्रियों के आभ्यन्तर आकार, एक तरह के माने हुए हैं। जैसे—कान का आभ्यन्तर आकार, कदम्ब-पुष्प-जैसा, आँख के मसूर के दाना-जैसा, नाक का अतिमुक्तक के फूल जैसा और जीभका छुरा-जैसा है। किन्तु बाह्य आकार, सब जाति में भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। उदाहरणार्थः—मनुष्य हाथी, घोड़ा, बैल, बिल्ली, चूहा आदि के कान, आँख, नाक, जीभ को देखिए।

(ख) आभ्यन्तरनिर्वृत्ति की विषय-ग्रहण-शक्ति को 'उपकरणेन्द्रिय' कहते हैं।

(२) भावेन्द्रिय दो प्रकार की हैं—(१) लब्धिरूप और (२) उपयोगरूप।

(१) मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम को—चेतन-शक्ति की योग्यता-विशेष को—'लब्धिरूप भावेन्द्रिय' कहते हैं। (२) इस लब्धिरूप भावेन्द्रिय के अनुसार आत्मा की विषय-ग्रहण में जो प्रवृत्ति होती है, उसे 'उपयोगरूप भावेन्द्रिय' कहते हैं।

इस विषय को विस्तारपूर्वक जानने के लिए प्रज्ञापना-पद १५, पृ० २९३; तत्त्वार्थ-अध्याय २, सू० १७–१८ तथा वृत्ति; विशेषाव०, गा० २९९३–३००३ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३; श्लोक ४६४ से आगे देखना चाहिए।



(३) 'संज्ञा'

संज्ञा का मतलब आभोग (मानसिक-क्रिया-विशेष) से है। इसके (क) ज्ञान और (ख) अनुभव, ये दो भेद हैं।

(क) मति, श्रुत आदि पाँच प्रकार का ज्ञान 'ज्ञानसंज्ञा' है।

(ख) अनुभवसंज्ञा के (१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (६) ओघ, (१०) लोक, (११) मोह, (१२) धर्म, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) जुगुप्सा और (१६) शोक, ये सोलह भेद हैं। आचाराङ्ग-निर्युक्ति, गा० ३८–३९ में तो अनुभवसंज्ञा के ये सोलह भेद किये गए हैं। लेकिन भगवती-शतक ७, उद्देश्य ८ में तथा प्रज्ञापना-पद ८ में इनमें से पहले दस ही भेद निर्दिष्ट हैं।

ये संज्ञाएँ सब जीवों में न्यूनाधिक प्रमाणमें पाई जाती हैं; इसलिए ये संज्ञि-असंज्ञि-व्यवहार की नियामक नहीं हैं। शास्त्र में संज्ञि-असंज्ञि का भेद है, सो अन्य संज्ञाओं की अपेक्षा से। एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों में चैतन्य का विकास क्रमशः अधिकाधिक है। इस विकास के तर-तम-भाव को समझाने के लिए शास्त्र में इसके स्थूल रीति पर चार विभाग किये गए हैं।

(१) पहले विभाग में ज्ञान का अत्यन्त अल्प विकास विवक्षित है। यह विकास, इतना अल्प है कि इस विकास से युक्त जीव, मूर्छित की तरह चेष्टारहित होते हैं। इस अव्यक्ततर चैतन्य को 'ओघसंज्ञा' कही गई है। एकेन्द्रिय जीव, ओघसंज्ञावाले ही हैं।

(२) दूसरे विभाग में विकास की इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिससे कुछ भूतकाल का—सुदीर्घ भूतकाल का नहीं—स्मरण किया जाता है और जिससे इष्ट विषयों में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट विषयों से निवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्ति-कारी ज्ञान को 'हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा' कहा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय जीव, हेतुवादोपदेशिकीसंज्ञावाले हैं।

(३) तीसरे विभाग में इतना विकास विवक्षित है जिससे सुदीर्घ भूतकाल में अनुभव किये हुए विषयों का स्मरण और स्मरण द्वारा वर्तमानकाल के कर्त्तव्यों का निश्चय किया जाता है। यह ज्ञान विशिष्ट मन की सहायता से होता है। इस ज्ञान को 'दीर्घकालोपदेशकी संज्ञा कहा है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यञ्च, दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञावाले हैं।

(४) चौथे विभाग में विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है। यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्यक्त्वियों के सिवाय अन्य जीवों में इसका संभव नहीं है। इस विशुद्ध ज्ञान को 'दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा' कहा है।

शास्त्र में जहाँ-कहीं संज्ञी-असंज्ञी का उल्लेख है, वहाँ सब जगह असंज्ञी का मतलब ओघसंज्ञावाले और हेतुवादोपदेशिकी संज्ञावाले जीवों से है। तथा संज्ञी का मतलब सब जगह दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा वालों से है।

इस विषय का विशेष विचार तत्त्वार्थ-अ० २, सू० २५ वृत्ति, नन्दी सू० ३९, विशेषावश्यक गा० ५०४-५२६ और लोकप्र०, स० ३, श्लो० ४४२-४६३ में है।

संज्ञी-असंज्ञी के व्यवहार के विषय में दिगम्बर-सम्प्रदाय में श्वेताम्बर की अपेक्षा थोड़ा सा भेद है। उसमें गर्भज-तिर्यञ्चों को संज्ञीमात्र न मानकर संज्ञी तथा असंज्ञी माना है। इसी तरह संमूर्च्छिम-तिर्यञ्च को सिर्फ असंज्ञी न मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभयरूप माना है। (जीव०, गा० ७९) इसके सिवाय यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हेतुवादोपदेशिकी आदि जो तीन संज्ञाएँ वर्णित हैं, उनका विचार दिगम्बरीय प्रसिद्ध ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होता।

---

(४) 'अपर्याप्त'

(क) अपर्याप्त के दो प्रकार हैं:—(१) लब्धि-अपर्याप्त और (२) करण-अपर्याप्त वैसे ही (ख) पर्याप्त के भी दो भेद हैं:—(१) लब्धि-पर्याप्त और (२) करण-पर्याप्त।

(क) १—जो जीव, अपर्याप्तनामकर्म के उदय के कारण ऐसी शक्तिवाले हों, जिससे कि स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, वे 'लब्धि-अपर्याप्त' हैं।

२—परन्तु करण-अपर्याप्त के विषय में यह बात नहीं, वे पर्याप्तनामकर्म के भी उदयवाले होते हैं। अर्थात् चाहे पर्याप्तनामकर्म का उदय हो या अपर्याप्तनामकर्म का, पर जब तक करणों की (शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियों की) समाप्ति न हो, तब तक जीव 'करण अपर्याप्त' कहे जाते हैं।

(ख) १—जिनको पर्याप्तनामकर्म का उदय हो और इससे जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने के बाद ही मरते हैं, पहले नहीं, वे 'लब्धि-पर्याप्त' हैं।

२—करण-पर्याप्तों के लिए यह नियम नहीं कि वे स्वयोग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण करके ही मरते हैं। जो लब्धि-अपर्याप्त हैं, वे भी करण-पर्याप्त होते ही हैं; क्योंकि आहारपर्याप्ति बन चुकने के बाद कम से कम शरीरपर्याप्ति बन जाती है, तभी से जीव 'करण-पर्याप्त' माने जाते हैं। यह तो नियम ही है कि लब्धि अपर्याप्त भी कम से कम आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना मरते नहीं। इस नियम के संबन्ध में श्रीमलयगिरिजी ने नन्दीसूत्र की टीका, पृ० १०५ में यह लिखा है—

'यस्मादागामिभवायुर्बध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः तच्चाहार-शरीरेन्द्रियप्रर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति'

अर्थात् सभी प्राणी अगले भव की आयु को बाँधकर ही मरते हैं, बिना बाँधे नहीं मरते। आयु तभी बाँधी जा सकती है, जब कि आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकी हों।

इसी बात का खुलासा श्रीविनयविजयजी ने लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लो० ३१ में इस प्रकार किया है—जो जीव लब्धि अपर्याप्त है, वह भी पहली तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही अग्रिम भव की आयु बाँधता है। अन्तर्मुहूर्त तक आयु-बन्ध करके फिर उसका जघन्य अबाधाकाल, जो अन्तर्मुहूर्त का माना गया है, उसे वह बिताता है; उसके बाद मर कर वह गत्यन्तर में जा सकता है। जो अग्रिम आयु को नहीं बाँधता और उसके अबाधाकाल को पूरा नहीं करता, वह मर ही नहीं सकता।

दिगम्बर-साहित्य में करण-अपर्याप्त के बदले 'निर्वृत्ति अपर्याप्तक' शब्द मिलता है। अर्थ में भी थोड़ा सा फर्क है। 'निर्वृत्ति' शब्द का अर्थ शरीर ही किया हुआ है। अतएव शरीरपर्याप्तिपूर्ण न होने तक ही दिगम्बरीय साहित्य, जीव को निर्वत्ति अपर्याप्त कहता है। शरीर पर्याप्तिपूर्ण होने के बाद वह, निर्वृत्ति-अपर्याप्त का व्यवहार करने की सम्मत्ति नहीं देता। यथा—

'पज्जत्तस्स य उदये, णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्तिअपुण्णगो ताव ॥१२०॥'

—जीवकाण्ड।

सारांश यह कि दिगम्बर-साहित्य में पर्याप्त नाम कर्म का उदय वाला ही शरीर-पर्याप्ति पूर्ण न होने तक 'निवृत्ति-अपर्याप्त' शब्द से अभिमत है।

परन्तु श्वेताम्बरीय साहित्य में 'करण' शब्द का 'शरीर इन्द्रिय आदि पर्याप्तियाँ'—इतना अर्थ किया हुआ मिलता है। यथा—

'करणानि शरीराद्यादीनि।'

—लोकप्र०, स० ३, श्लो० १०।

अतएव श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय के अनुसार जिसने शरीर-पर्याप्ति पूर्ण की है, पर इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण नहीं की है, वह भी 'करण-पर्याप्त' कहा जा सकता है। अर्थात शरीर रूप करण पूर्ण करने से 'करण-पर्याप्त' और इन्द्रिय रूप करण पूर्ण न करने से 'करण-अपर्याप्त' कहा जा सकता है। इस प्रकार श्वेताम्बरीय

सम्प्रदाय की दृष्टि से शरीरपर्याप्ति से लेकर मनःपर्याप्ति पर्यन्त पूर्व-पूर्व पर्याप्ति के पूर्ण होने पर 'करण-पर्याप्त' और उत्तरोत्तर पर्याप्ति के पूर्ण न होने से 'करण-अपर्याप्त' कह सकते हैं। परन्तु जब जीव, स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियों को पूर्ण कर ले, तब उसे 'करण-अपर्याप्त' नहीं कह सकते।

पिर्ता काय स्वरूप—

पर्याप्ति, वह शक्ति है, जिसके द्वारा जीव, आहार-श्वासोच्छ्वास आदि के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है और गृहीत पुद्‌गलों को आहार आदि रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्‌गलों के उपचय से बनती है। अर्थात जिस प्रकार पेट के भीतर के भाग में वर्तमान पुद्‌गलों में एक तरह की शक्ति होती है, जिससे कि खाया हुआ आहार भिन्न-भिन्न रूप में बदल जाता है; इसी प्रकार जन्म-स्थान प्राप्त जीव के द्वारा गृहीत पुद्‌गलों से ऐसी शक्ति बन जाती है, जो कि आहार आदि पुद्‌गलों को खल-रस आदि रूप में बदल देती है। वही शक्ति पर्याप्ति है। पर्याप्तिजनक पुद्‌गलों में से कुछ तो ऐसे होते हैं, जो कि जन्मस्थान में आये हुए जीव के द्वारा प्रथम समय में ही ग्रहण किये जाकर, पूर्व-गृहीत पुद्‌गलों के संसर्ग से तद्रूप बने हुए होते हैं।

कार्य-भेद से पर्याप्ति के छह भेद हैं—(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति, (३) इन्द्रिय-पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मनः-पर्याप्ति। इनकी व्याख्या, पहले कर्मग्रन्थ की ४९वीं गाथा के भावार्थ में पृ० ९७वें से देख लेनी चाहिए।

इन छह पर्याप्तियों में से पहली चार पर्याप्तियों के अधिकारी एकेन्द्रिय ही हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीव, मनःपर्याप्ति के सिवाय शेष पाँच पर्याप्तियों के अधिकारी हैं। संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीव छहो पर्याप्तियों के अधिकारी हैं। इस विषय की गाथा, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण-कृत बृहत्स-ग्रहणी में है—

'आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो ।
चत्तारि पंच छप्पि य, एगिंदियविगलसंनीणं ॥३४९॥'

यही गाथा गोम्मटसार-जीवकाण्ड में ११८ वें नम्बर पर दर्ज है। प्रस्तुत विषय का विशेष स्वरूप जानने के लिए ये स्थल देखने योग्य हैं—

नन्दी, पृ० १०४–१०५; पञ्चसं०, द्वा० १, गा० ५ वृत्ति; लोकप्र०, स० ३ श्लो० ७–४२ तथा जीवकाण्ड, पर्याप्ति-अधिकार, गा० ११७–१२७।

———

(५) 'उपयोग का सह-क्रमभाव'

छद्मस्थ के उपयोग क्रमभावी हैं, इसमें मतभेद नहीं है, पर केवली के उपयोग के संबन्ध में मुख्य तीन पक्ष हैं—

(१) सिद्धान्त-पक्ष. केवलज्ञान और केवलदर्शन को क्रमभावी मानता है। इसके समर्थक श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हैं।

(२) दूसरा पक्ष केवलज्ञान-केवलदर्शन, उभय उपयोग को सहभावी मानता है। इसके पोषक श्री मल्लवादी तार्किक आदि हैं।

(३) तीसरा पक्ष, उभय उपयोगों का भेद न मानकर उनका ऐक्य मानता है। इसके स्थापक श्री सिद्धसेन दिवाकर हैं।

तीनों पक्षों की कुछ मुख्य-मुख्य दलीलें क्रमशः नीचे दी जाती हैं—

१—(क) सिद्धान्त (भगवती-शतक १८ और २५ के ६ उद्देश्य, तथा प्रज्ञापना-पद ३०) में ज्ञान-दर्शन दोनों का अलग-अलग कथन है तथा उनका क्रमभावित्व स्पष्ट वर्णित है। (ख) निर्युक्ति (आ० नि० गा० ६७७–६७६) में केवलज्ञान-केवलदर्शन दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण उनके द्वारा सर्व-विषयक ज्ञान तथा दर्शन का होना और युगपत् दो उपयोगों का निषेध स्पष्ट बतलाया है। (ग) केवलज्ञान-केवलदर्शन के भिन्न-भिन्न आवरण और उपयोगों की बारह संख्या शास्त्र में (प्रज्ञापना २६, पृ० ५२५/१ आदि) जगह-जगह वर्णित है। (घ) केवलज्ञान और केवलदर्शन, अनन्त कहे जाते हैं, सो लब्धि की अपेक्षा से उपयोग की अपेक्षा से नहीं। उपयोग की अपेक्षा से उनकी स्थिति एक समय की है; क्योंकि उपयोग की अपेक्षा से अनन्तता शास्त्र में कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। (ङ) उपयोगों का स्वभाव ही ऐसा है, जिससे कि वे क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसलिए केवल ज्ञान और केवलदर्शन को क्रमभावी और अलग-अलग मानना चाहिए।

२—(क) आवरण-क्षयरूप निमित्त और सामान्य-विशेषात्मक विषय, समकालीन होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं। (ख) छाद्मस्थिक-उपयोगों में कार्यकारणभाव या परस्पर प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव घट सकता है, क्षायिक-उपयोगों में नहीं; क्योंकि बोध-स्वभाव शाश्वत आत्मा, जब निरावरण हो, तब उसके दोनों क्षायिक-उपयोग निरन्तर ही होने चाहिए। (ग) केवलज्ञान-केवलदर्शन की सादि-अपर्यवसितता, जो शास्त्र में कही है, वह भी युगपत्-पक्ष में ही घट सकती है; क्योंकि इस पक्ष में दोनों उपयोग युगपत् और निरन्तर होते रहते हैं। इसलिए द्रव्यार्थिकनय से उपयोग-द्वय के प्रवाह को अपर्यवसित (अनन्त) कहा जा सकता है। (घ) केवलज्ञान-केवलदर्शन के संबन्ध में सिद्धान्त में जहाँ-

कहीं जो कुछ कहा गया है, वह सब दोनों के व्यक्ति-भेद का साधक है, क्रम-भावित्वका नहीं। इसलिए दोनों उपयोग को सहभावी मानना चाहिए।

३—(क) जैसे सामग्री मिलने पर एक ज्ञान-पर्याय में अनेक घट-पटादि विषय भासित होते हैं, वैसे ही आवरण-क्षय, विषय आदि सामग्री मिलने पर एक ही केवल-उपयोग, पदार्थों के सामान्य-विशेष उभय स्वरूप को जान सकता है। (ख) जैसे केवल ज्ञान के समय, मतिज्ञानावरणादि का अभाव होने पर भी मति आदि ज्ञान, केवल ज्ञान से अलग नहीं माने जाते, वैसे ही केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर भी केवलदर्शन को, केवलज्ञान से अलग मानना उचित नहीं। (ग) विषय और क्षयोपशम की विभिन्नता के कारण, छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शन में परस्पर भेद माना जा सकता है, पर अनन्त-विषयकता और क्षायिक-भाव समान होने से केवलज्ञान-केवलदर्शन में किसी तरह भेद नहीं माना जा सकता। (घ) यदि केवलदर्शन को केवलज्ञान से अलग माना जाए तो वह सामान्यमात्र को विषय करनेवाला होने से अल्प-विषयक सिद्ध होगा, जिससे उसका शास्त्र-कथित अनन्त-विषयकत्व नहीं घट सकेगा। (ङ) केवली का भाषण, केवलज्ञान-केवलदर्शन पूर्वक होता है, यह शास्त्र-कथन अभेद-पक्ष ही में पूर्णतया घट सकता है। (च) आवरण-भेद कथञ्चित् है; अर्थात वस्तुतः आवरण एक होने पर भी कार्य और उपाधि-भेद की अपेक्षा से उसके भेद समझने चाहिए इसलिए एक उपयोग-व्यक्ति में ज्ञानत्व-दर्शनत्व दो धर्म अलग-अलग मानना चाहिए। उपयोग, ज्ञान-दर्शन दो अलग-अलग मानना युक्त नहीं; अतएव ज्ञान-दर्शन दोनों शब्द पर्यायमात्र (एकार्थवाची) हैं।

उपाध्याय श्रीयशोविजयजी ने अपने ज्ञानबिन्दु पृ० $\frac{१६४}{१}$ में नय-दृष्टि से तीनों पक्षों का समन्वय किया है—सिद्धान्त-पक्ष, शुद्ध ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से; श्री मल्लवादीजी का पक्ष, व्यवहार-नय की अपेक्षा से और श्रीसिद्धसेन दिवाकर का पक्ष संग्रहनय की अपेक्षा से जानना चाहिए। इस विषय का सविस्तर वर्णन, सम्मतितर्क; जीवकाण्ड गा० ३ से आगे; विशेषावश्यक भाष्य, गा० ३०८८-३१३५; श्रीहरिभद्रसूरि कृत धर्मसंग्रहणी गा० १३३६–१३५६; श्रीसिद्धसेनगणि-कृत तत्त्वार्थ टीका अ० १, सू० ३१, पृ० $\frac{७७}{१}$; श्रीमलयगिरि-नन्दीवृत्ति पृ० १३४-१३८ और ज्ञानबिन्दु पृ० १५४–१६४ से जान लेना चाहिए।

दिगम्बर-सम्प्रदाय में उक्त तीन पक्ष में से दूसरा अर्थात् युगपत् उपयोग-द्वय का पक्ष ही प्रसिद्ध है—

'जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं, जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥' —नियमसार।

'सिद्धाणं सिद्धगई, केवलणाणं च दंसणं खयियं।
सम्मत्तमणाहारं, उवजोगाणक्कमपउत्ती ॥७३०॥' —जीवकाण्ड।
'दंसणपुव्वं णाणं, छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥'
—द्रव्यसंग्रह।

——

(६) 'एकेन्द्रिय में श्रुतज्ञान'

एकेन्द्रियों में तीन उपयोग माने गए हैं। इसलिए यह शङ्का होती है कि स्पर्शनेन्द्रिय-मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से एकेन्द्रियों में मति-उपयोग मानना ठीक है, परन्तु भाषालब्धि (बोलने की शक्ति) तथा श्रवणलब्धि (सुनने की शक्ति) न होने के कारण उनमें श्रुत-उपयोग कैसे माना जा सकता है; क्योंकि शास्त्र में भाषा तथा श्रवणलब्धि वालों को ही श्रुतज्ञान माना है। यथा—

'भावसुयं भासासायलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स।
भासाभिमुहस्स जयं, सोऊण य जं हविज्जाहि ॥१०२॥'
—विशेषावश्यक।

बोलने व सुनने की शक्ति वाले ही को भावश्रुत हो सकता है, दूसरे को नहीं क्योंकि 'श्रुत-ज्ञान' उस ज्ञान को कहते हैं, जो बोलने की इच्छा वाले या वचन सुननेवाले को होता है।

इसका समाधान यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय के सिवाय अन्य द्रव्य (बाह्य) इन्द्रियाँ न होने पर भी वृक्षादि जीवों में पाँच भावेन्द्रिय-जन्य ज्ञानों का होना, जैसा शास्त्र-सम्मत है; वैसे ही बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी एकेन्द्रियों में भावश्रुत ज्ञान का होना शास्त्र-सम्मत है।

'जह सुहुमं भाविंदियनाणं दव्विंदियावरोहे वि।
तह दव्वसुयाभावे भावसुयं पत्थिवाईणं ॥१०४॥'
—विशेषावश्यक।

जिस प्रकार द्रव्य-इन्द्रियों के अभाव में भावेन्द्रिय-जन्य सूक्ष्म ज्ञान होता है, इसी प्रकार द्रव्यश्रुत के भाषा आदि बाह्य निमित्त के अभाव में भी पृथ्वीकायिक आदि जीवों को अल्प भावश्रुत होता है। यह ठीक है कि औरों को जैसा स्पष्ट ज्ञान होता है, वैसा एकेन्द्रियों को नहीं होता। शास्त्र में एकेन्द्रियों को आहार का अभिलाष माना है, यही उनके अस्पष्ट ज्ञान मानने में हेतु है।

आहार का अभिलाष, क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से होनेवाला आत्मा का परिणाम-विशेष (अध्यवसाय) है। यथा—

'आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयोदयप्रभवः खल्वात्मपरिणाम इति।'

—आवश्यक, हारिभद्री वृत्ति पृ० ५८०।

इस अभिलाष रूप अध्यवसाय में 'मुझे अमुक वस्तु मिले तो अच्छा', इस प्रकार का शब्द और अर्थ का विकल्प होता है। जो अध्यवसाय विकल्प सहित होता है, वही श्रुतज्ञान कहलाता है। यथा—

'इन्दियमणोनिमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं॥१००॥'

—विशेषावश्यक।

अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जो नियत अर्थ का कथन करने में समर्थ श्रुतानुसारी (शब्द तथा अर्थ के विकल्प से युक्त) है, उसे 'भावश्रुत' तथा उससे भिन्न ज्ञान को 'मतिज्ञान' समझना चाहिए। अब यदि एकेन्द्रियों में श्रुत-उपयोग न माना जाए तो उनमें आहार का अभिलाष जो शास्त्र-सम्मत है, वह कैसे घट सकेगा? इसलिए बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी उनमें अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत-उपयोग अवश्य ही मानना चाहिए।

भाषा तथा श्रवणलब्धि वालों को ही भावश्रुत होता है, दूसरे को नहीं, इस शास्त्र-कथन का तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकार की शक्तिवाले को स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरों को अस्पष्ट।

———

(७) 'योगमार्गणा'

तीन योगों के बाह्य और आभ्यन्तर कारण दिखा कर उनकी व्याख्या राजवार्तिक में बहुत ही स्पष्ट की गई है। उसका सारांश इस प्रकार है—

(क) बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से होनेवाला जो मनन के अभिमुख आत्मा का प्रदेश-परिस्पन्द, वह 'मनोयोग' है। इसका बाह्य कारण, मनोवर्गणा का आलम्बन और आभ्यन्तर कारण, वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम तथा नो-इन्द्रियावरणकर्मका क्षय-क्षयोपशम (मनोलब्धि) है।

(ख) बाह्य और आभ्यन्तर कारण-जन्य आत्मा का भाषाभिमुख प्रदेश-परिस्पन्द 'वचनयोग' है। इसका बाह्य कारण पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्म के उदय से

होनेवाला वचनवर्गणाका आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम तथा मतिज्ञानावरण और अक्षरश्रुतज्ञानावरण आदि कर्म का क्षय-क्षयोपशम (वचनलब्धि) है ।

(ग) बाह्य और आभ्यन्तर कारण जन्य गमनादि-विषयक आत्मा का प्रदेश-परिस्पन्द 'काययोग' है । इसका बाह्य कारण किसी-न-किसी प्रकार की शरीर-वर्गणा का आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम है ।

यद्यपि तेरहवें और चौदहवें, इन दोनों गुणस्थानों के समय वीर्यान्तरायकर्म का क्षयरूप आभ्यन्तर कारण समान ही है, परन्तु वर्गणालम्बनरूप बाह्य कारण समान नहीं है । अर्थात् वह तेरहवें गुणस्थान के समय पाया जाता है, पर चौदहवें गुणस्थान के समय नहीं पाया जाता । इसीसे तेरहवें गुणस्थान में योग-विधि होती है, चौदहवें में नहीं । इसके लिए देखिए, तत्त्वार्थ-राजवार्तिक ६, १, १० ।

योग के विषय में शंका-समाधान

(क) यह शङ्का होती है कि मनोयोग और वचनयोग, काययोग ही हैं; क्योंकि इन दोनों के योगों के समय, शरीर का व्यापार अवश्य रहता ही है और इन योगों के आलम्बनभूत मनोद्रव्य तथा भाषाद्रव्य का ग्रहण भी किसी-न-किसी प्रकार के शारीरिक-योग से ही होता है ।

इसका समाधान यही है कि मनोयोग तथा वचनयोग, काययोग से जुदा नहीं हैं, किन्तु काययोग-विशेष ही हैं । जो काययोग, मनन करने में सहायक होता है, वही उस समय 'मनोयोग' और जो काययोग, भाषा के बोलने में सहकारी होता है, वही उस समय 'वचनयोग' माना गया है । सारांश यह है कि व्यवहार के लिए ही काययोग के तीन भेद किये हैं ।

(ख) यह भी शङ्का होती है कि उक्त रीति से श्वासोच्छ्वास में सहायक होने-वाले काययोग को 'श्वासोच्छ्वासयोग' कहना चाहिए और तीन की जगह चार योग मानने चाहिए ।

इसका समाधान यह दिया गया है कि व्यवहार में, जैसा भाषा का और मनका विशिष्ट प्रयोजन दीखता है, वैसा श्वासोच्छ्वासका नहीं । अर्थात् श्वासो-च्छ्वास और शरीर का प्रयोजन वैसा भिन्न नहीं है, जैसा शरीर और मन-वचन का । इसी से तीन ही योग माने गए हैं । इस विषय के विशेष विचार के लिए

विशेषावश्यक-भाष्य, गा० ३५६—३६४ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३, श्लो० १३५४—१३५५ के बीच का गद्य देखना चाहिए।

द्रव्यमन, द्रव्यवचन और शरीर का स्वरूप

(क) जो पुद्गल मन बनने के योग्य हैं, जिनको शास्त्र में 'मनोवर्गणा' कहते हैं, वे जब मनरूप में परिणत हो जाते हैं—विचार करने में सहायक हो सकें, ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं—तब उन्हें 'मन' कहते हैं। शरीर में द्रव्य-मन के रहने का कोई खास स्थान तथा उसका नियत आकार श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में नहीं है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार द्रव्यमन को शरीर-व्यापी और शरीराकार समझना चाहिए। दिगम्बर-सम्प्रदाय में उसका स्थान हृदय तथा आकार कमल के समान माना है।

(ख) वचनरूप में परिणत एक प्रकार के पुद्गल, जिन्हें भाषावर्गणा कहते हैं, वे ही 'वचन' कहलाते हैं।

(ग) जिससे चलना-फिरना, खाना-पीना आदि हो सकता है, जो सुख-दुःख भोगने का स्थान है और जो औदारिक, वैक्रिय आदि वर्गणाओं से बनता है, वह 'शरीर' कहलाता है।

---

(८) 'सम्यक्त्व'

इसका स्वरूप, विशेष प्रकार से जानने के लिए निम्नलिखित कुछ बातों का विचार करना बहुत उपयोगी है—

(१) सम्यक्त्व सहेतुक है या निर्हेतुक ?

(२) क्षायोपशमिक आदि भेदों का आधार क्या है।

(३) औपशमिक और क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व का आपस में अन्तर तथा क्षायिकसम्यक्त्व की विशेषता।

(४) शङ्का-समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदय का स्वरूप।

(५) क्षयोपशम और उपशम की व्याख्या तथा खुलासावार विचार।

(१) सम्यक्त्व-परिणाम सहेतुक है या निर्हेतुक ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उसको निर्हेतुक नहीं मान सकते; क्योंकि जो वस्तु निर्हेतुक हो, वह सब काल में, सब जगह, एक-सी होनी चाहिए अथवा उसका अभाव होना चाहिए। सम्य-क्त्वपरिणाम, न तो सब में समान है और न उसका अभाव है। इसीलिए उसे सहेतुक ही मानना चाहिए। सहेतुक मान लेने पर यह प्रश्न होता है कि उसका

नियत हेतु क्या है; प्रवचन-श्रवण, भगवत्पूजन आदि जो-जो बाह्य निमित्त माने जाते हैं, वे तो सम्यक्त्व के नियत कारण हो ही नहीं सकते; क्योंकि इन बाह्य निमित्तों के होते हुए भी अभव्यों की तरह अनेक भव्यों को सम्यक्त्व-प्राप्ति नहीं होती। परन्तु इसका उत्तर इतना ही है कि सम्यक्त्व-परिणाम प्रकट होने में नियत कारण जीव का तथाविध भव्यत्व-नामक अनादि पारिणामिक-स्वभाव विशेष ही है। जब इस परिणामिक भव्यत्वका परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व-लाभ होता है। भव्यत्व परिणाम, साध्य रोग के समान है। कोई साध्य रोग, स्वयमेव (बाह्य उपाय के बिना ही) शान्त हो जाता है। किसी साध्य रोग के शान्त होने में वैद्य का उपचार भी दरकार है और कोई साध्य रोग ऐसा भी होता है, जो बहुत दिनों के बाद मिटता है। भव्यत्व-स्वभाव ऐसा ही है। अनेक जीवों का भव्यत्व, बाह्य निमित्त के बिना ही परिपाक प्राप्त करता है। ऐसे भी जीव हैं, जिनके भव्यत्व-स्वभाव का परिपाक होने में शास्त्र-श्रवण आदि बाह्य निमित्तों की आवश्यकता पड़ती है। और अनेक जीवों का भव्यत्व परिणाम दीर्घ-काल व्यतीत हो चुकने पर, स्वयं ही परिपाक प्राप्त करता है। शास्त्र-श्रवण, अर्हत्पूजन आदि जो बाह्य निमित्त हैं, वे सहकारीमात्र हैं। उनके द्वारा कभी-कभी भव्यत्व का परिपाक होने में मदद मिलती है, इससे व्यवहार में वे सम्यक्त्व के कारण माने गए हैं और उनके आलम्बन की आवश्यकता दिखाई जाती है। परन्तु निश्चय-दृष्टि से तथाविध-भव्यत्व के विपाक को ही सम्यक्त्व का अव्यभिचारी (निश्चित) कारण मानना चाहिए। इससे शास्त्र-श्रवण, प्रतिमा-पूजन आदि बाह्य क्रियाओं की अनैकान्तिकता, जो अधिकारी भेद पर अवलम्बित है, उसका खुलासा हो जाता है। यही भाव भगवान् उमास्वति ने 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा'—तत्त्वार्थ-अ० १, सूत्र ३ से प्रकट किया है। और यही बात पञ्चसंग्रह-द्वार १, गा० ८ की मलयगिरि- टीका में भी है।

(२) सम्यक्त्व गुण, प्रकट होने के आभ्यन्तर कारणों की जो विविधता है, वही क्षायोपशमिक आदि भेदों का आधार है—अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शनमोहनीय-त्रिक, इन सात प्रकृतियों का क्षयोपशम, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व का; उपशम, औपशमिकसम्यक्त्वका और क्षय, क्षायिकसम्यक्त्व का कारण है। तथा सम्यक्त्व से गिरा कर मिथ्यात्व की ओर झुकानेवाला अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय, सासादनसम्यक्त्व का कारण और मिश्रमोहनीय का उदय, मिश्रसम्यक्त्व का कारण है। औपशमिकसम्यक्त्व में काललब्धि आदि अन्य क्या २ निमित्त अपेक्षित हैं और वह किस-किस गति में किन-किन कारणों से होता है, इसका विशेष वर्णन तथा क्षायिक और क्षायोपशमिकसम्यक्त्व का वर्णन क्रमशः—तत्त्वार्थ

अ० २, सू० ३ के पहले और दूसरे राजवार्तिक में तथा सू० ४ और ५ के सातवें राजवार्तिक में है।

(३) औपशमिकसम्यक्त्व के समय, दर्शनमोहनीय का किसी प्रकार का उदय नहीं होता; पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्व के समय, सम्यक्त्वमोहनीय का विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीय का प्रदेशोदय होता है। इसी भिन्नता के कारण शास्त्र में औपशमिकसम्यक्त्व को, 'भावसम्यक्त्व' और क्षायोपशमिकसम्यक्त्व को, 'द्रव्यसम्यक्त्व' कहा है। इन दोनों सम्यक्त्वों से क्षायिकसम्यक्त्व विशिष्ट है; क्योंकि वह स्थायी है और ये दोनों अस्थायी हैं।

(४) यह शङ्का होती है कि मोहनीयकर्म घातिकर्म है। वह सम्यक्त्व और चारित्रपर्याय का घात करता है, इसलिए सम्यक्त्वमोहनीय के विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीय के प्रदेशोदय के समय, सम्यक्त्व-परिणाम व्यक्त कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय, मोहनीयकर्म है सही, पर उसके दलिक विशुद्ध होते हैं; क्योंकि शुद्ध अध्यवसाय से जब मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के दलिकोंका सर्वघाती रस नष्ट हो जाता है, तब वे ही एक-स्थान रसवाले और द्वि-स्थान अतिमन्द रसवाले दलिक 'सम्यक्त्वमोहनीय' कहलाते हैं। जैसे—काँच आदि पारदर्शक वस्तुएँ नेत्र के दर्शन-कार्य में रुकावट नहीं डालतीं; वैसे ही मिथ्यात्वमोहनीय के शुद्ध दलिकों का विपाकोदय सम्यक्त्व-परिणाम के आविर्भाव में प्रतिबन्ध नहीं करता। अब रहा मिथ्यात्व का प्रदेशोदय, सो वह भी, सम्यक्त्व-परिमाण का प्रतिबन्धक नहीं होता; क्योंकि नीरस दलिकोंका ही प्रदेशोदय होता है। जो दलिक, मन्द रसवाले हैं, उनका विपाकोदय भी जब गुण का घात नहीं करता, तब नीरस दलिकों के प्रदेशोदय से गुण के घात होने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। देखिए, पञ्चसंग्रह-द्वार १, १५वीं गाथा की टीका में ग्यारहवें गुणस्थान की व्याख्या।

(५) क्षयोपशम-जन्य पर्याय 'क्षायोपशमिक' और उपशम-जन्य पर्याय 'औपशमिक' कहलाता है। इसलिए किसी भी क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव का यथार्थ ज्ञान करने के लिए पहले क्षयोपशम और उपशम का ही स्वरूप जान लेना आवश्यक है। अतः इनका स्वरूप शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार लिखा जाता है—

(१) क्षयोपशम शब्द में दो पद हैं—क्षय तथा उपशम। 'क्षयोपशम' शब्द का मतलब, कर्म के क्षय और उपशम दोनों से है। क्षय का मतलब, आत्मा से कर्म का विशिष्ट संबन्ध छूट जाना और उपशम का मतलब कर्म का अपने स्वरूप में आत्मा के साथ संलग्न रहकर भी उस पर असर न डालना है। यह तो हुआ

सामान्य अर्थ; पर उसका पारिभाषिक अर्थ कुछ अधिक है। बन्धावलिका पूर्ण हो जाने पर किसी विवक्षित कर्म का जब क्षयोपशम शुरू होता है, तब विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका-पर्यन्त के दलिक, जिन्हें उदयावलिका-प्राप्त या उदीर्ण-दलिक कहते हैं, उनका तो प्रदेशोदय व विपाकोदयद्वारा क्षय (अभाव) होता रहता है; और जो दलिक, विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका तक में उदय पाने योग्य नहीं हैं—जिन्हें उदयावलिका बहिर्भूत या अनुदीर्ण दलिक कहते हैं—उनका उपशम (विपाकोदय की योग्यता का अभाव या तीव्र रस से मन्द रस में परिणमन) हो जाता है, जिससे वे दलिक, अपनी उदयावलिका प्राप्त होने पर, प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदय द्वारा क्षीण हो जाते हैं अर्थात् आत्मा पर अपना फल प्रकट नहीं कर सकते या कम प्रकट करते हैं।

इस प्रकार आवलिका पर्यन्त के उदय-प्राप्त कर्मदलिकों का प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय और आवलिका के बाद के उदय पाने योग्य कर्मदलिकों की विपाकोदय संबन्धिनी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मन्द रस में परिणमन होते रहने से कर्म का क्षयोपशम कहलाता है।

क्षयोपशम-योग्य कर्म—

क्षयोपशम, सब कर्मों का नहीं होता; सिर्फ घातिकर्मों का होता है। घातिकर्म के देशघाति और सर्वघाति, ये दो भेद हैं। दोनों के क्षयोपशम में कुछ विभिन्नता है।

(क) जब देशघातिकर्म का क्षयोपशम प्रवृत्त होता है, तब उसके मंद रस-युक्त कुछ दलिकों का विपाकोदय, साथ ही रहता है। विपाकोदय-प्राप्त दलिक, अल्प रस-युक्त होने से स्वावार्य गुण का घात नहीं कर सकते, इससे यह सिद्धांत माना गया है कि देशघातिकर्म के क्षयोपशम के समय, विपाकोदय विरुद्ध नहीं है, अर्थात् वह क्षयोपशम के कार्य को—स्वावार्य गुण के विकास को—रोक नहीं सकता। परन्तु यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि देशघातिकर्म के विपाकोदय-मिश्रित क्षयोपशम के समय, उसका सर्वघाति-रस-युक्त कोई भी दलिक, उदयमान नहीं होता। इससे यह सिद्धांत मान लिया गया है कि जब, सर्वघाति रस, शुद्ध-अध्यवसाय से देशघातिरूप में परिणत हो जाता है, तभी अर्थात् देशघाति-स्पर्धक के ही विपाकोदय-काल में क्षयोपशम अवश्य प्रवृत्त होता है।

घातिकर्म की पच्चीस प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं, जिनमें से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और पाँच अन्तराय, इन आठ प्रकृतियों का क्षयोपशम तो सदा से ही प्रवृत्त है; क्योंकि आवार्य मतिज्ञान आदि पर्याय, अनादि काल से क्षायोपशमिकरूप में रहते ही हैं। इसलिए यह मानना चाहिए

कि उक्त आठ प्रकृतियों के देशघाति-रसस्पर्धक का ही उदय होता है, सर्वघाति-रसस्पर्धक का कभी नहीं।

अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण, इन चार प्रकृतियों का क्षयोपशम कादाचित्क (अनियत) है, अर्थात् जब उनके सर्वघाति-रसस्पर्धक, देशघातिरूप में परिणत हो जाते हैं; तभी उनका क्षयोपशम होता है और जब सर्वघाति-रसस्पर्धक उदयमान होते हैं, तब अवधिज्ञान आदि का घात ही होता है। उक्त चार प्रकृतियों का क्षयोपशम भी देशघाति-रसस्पर्धक के विपाकोदय से मिश्रित ही समझना चाहिए।

उक्त बारह के सिवाय शेष तेरह (चार संज्वलन और नौ नोकषाय) प्रकृतियाँ जो मोहनीय की हैं, वे अध्रुवोदयिनी हैं। इसलिए जब उनका क्षयोपशम, प्रदेशोदयमात्र से युक्त होता है, तब तो वे स्वावार्य गुण का लेश भी घात नहीं करतीं और देशघातिनी ही मानी जाती हैं; पर जब उनका क्षयोपशम विपाकोदय से मिश्रित होता है, तब वे स्वावार्य गुण का कुछ घात करतीं हैं और देशघातिनी कहलाती हैं।

(ख) घातिकर्म की बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं। इनमें में केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण, इन दो का तो क्षयोपशम होता ही नहीं; क्योंकि उनके दलिक कभी देशघाति-रसयुक्त बनते ही नहीं और न उनका विपाकोदय ही रोका जा सकता है। शेष-अठारह प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनका क्षयोपशम हो सकता है; परंतु यह बात, ध्यान में रखनी चाहिए कि देशघातिनी प्रकृतियां के क्षयोपशम के समय, जैसे विपाकोदय होता है, वैसे इन अठारह सर्वघातिनी प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय नहीं होता, अर्थात् इन अठारह प्रकृतियों का क्षयोपशम, तभी सम्भव है, जब उनका प्रदेशोदय ही हो। इसलिए यह सिद्धांत माना है कि 'विपाकोदयवती प्रकृतियों का क्षयोपशम, यदि होता है तो देशघातिनी ही का, सर्वघातिनी का नहीं'।

अत एव उक्त अठारह प्रकृतियाँ, विपाकोदय के निरोध के योग्य मानी जाती है; क्योंकि उनके आवार्य गुणों का क्षायोपशमिक स्वरूप में व्यक्त होना माना गया है, जो विपाकोदय के निरोध के सिवाय घट नहीं सकता।

(२) उपशम—क्षयोपशम की व्याख्या में, उपशम शब्द का जो अर्थ किया गया है, उससे औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ कुछ उदार है। अर्थात् क्षयोपशम के उपशम शब्द का अर्थ सिर्फ विपाकोदयसम्बन्धिनी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मंद रस में परिणमन होना है; पर औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों का अभाव है; क्योंकि क्षयोपशम

में कर्म का क्षय भी जारी रहता है, जो कम से कम प्रदेशोदय के सिवाय हो ही नहीं सकता। परंतु उपशम में यह बात नहीं। जब कर्म का उपशम होता है, तभी से उसका क्षय रुक ही जाता है, अत एव उसके प्रदेशोदय होने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसीसे उपशम-अवस्था तभी मानी जाती है, जब कि अन्तरकरण होता है। अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त में उदय पाने के योग्य दलिकों में से कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते हैं और कुछ दलिक पीछे उदय पाने के योग्य बना दिये जाते हैं, अर्थात् अन्तरकरण में वेद्य-दलिकों का अभाव होता है।

अत एव क्षयोपशम और उपशम की संक्षिप्त व्याख्या इतनी ही की जाती है कि क्षयोपशम के समय, प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदय होता है, पर उपशम के समय, वह भी नहीं होता। यह नियम याद रखना चाहिए कि उपशम भी घातिकर्म का ही हो सकता है, सो भी सब घातिकर्म का नहीं, किंतु केवल मोहनीय-कर्म का। अर्थात् प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार का उदय, यदि रोका जा सकता है तो मोहनीयकर्म का ही। इसके लिए देखिए, नन्दी, सू० ८ की टीका, पृ० ७७; कम्मपयडी, श्री यशोविजयजी-कृत टीका, पृ० १३; पञ्च० द्वा० १, गा २९ की मलयगिरि-व्याख्या। सम्यक्त्व स्वरूप, उत्पत्ति और भेद-प्रभेदादि के सविस्तर विचार के लिए देखिए, लोक प्र०-सर्ग ३, श्लोक ५९६–७००।

———

(९) अचक्षुर्दर्शन का सम्भव

अठारह मार्गणा में अचक्षुर्दर्शन परिगणित है; अतएव उसमें भी चौदह जीवस्थान समझने चाहिए। परन्तु इस पर प्रश्न यह होता है कि अचक्षुर्दर्शन में जो अपर्याप्त जीवस्थान माने जाते हैं, सो क्या अपर्याप्त-अवस्था में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अचक्षुर्दर्शन मान कर या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुर्दर्शन होता है, यह मान कर?

यदि प्रथम पक्ष माना जाए तब तो ठीक है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अपर्याप्त-अवस्था में ही चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सामान्य बोध मान कर जैसे—चक्षुर्दर्शन में तीन अपर्याप्त जीवस्थान चौथे कर्मग्रंथ की १७ वीं गाथा में मतान्तर से बतलाये हुए हैं वैसे ही इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अपर्याप्त-अवस्था में चक्षुर्भिन्न इन्द्रिय द्वारा सामान्य बोध मान कर अचक्षुर्दर्शन में सात अपर्याप्त जीवस्थान घटाये जा सकते हैं।

परन्तु श्रीजयसोमसूरि ने इस गाथा के अपने टबे में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुर्दर्शन मान कर उसमें अपर्याप्त जीवस्थान माने हैं। और सिद्धान्त के आधार से बतलाया है कि विग्रहगति और कार्मणयोग में अवधिदर्शनरहित जीव को अचक्षुर्दर्शन होता है। इस पक्ष में प्रश्न यह होता है कि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले द्रव्येन्द्रिय न होने से अचक्षुर्दर्शन कैसे मानना? इसका उत्तर दो तरह से दिया जा सकता है।

(१) द्रव्येन्द्रिय होने पर द्रव्य और भाव, उभय इन्द्रिय-जन्य उपयोग और द्रव्येन्द्रिय के अभाव में केवल भावेन्द्रिय-जन्य उपयोग, इस तरह दो प्रकार का उपयोग है। विग्रहगति में और इन्द्रियपर्याप्ति होने के पहले, पहले प्रकार का उपयोग, नहीं हो सकता; पर दूसरे प्रकार का दर्शनात्मक सामान्य उपयोग माना जा सकता है। ऐसा मानने में तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ६ की वृत्तिका—

'अथवेन्द्रियनिरपेक्षमेव तत्कस्यचिद्भवेद् यतः पृष्ठत उपसर्पन्तं सर्पं बुद्धयैवेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षं पश्यतीति।'

यह कथन प्रमाण है। सारांश, इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले उपयोगात्मक अचक्षुदर्शन मान कर समाधान किया जा सकता है।

(२) विग्रहगति में और इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले अचक्षुर्दर्शन माना जाता है, सो शक्तिरूप अर्थात् क्षयोपशमरूप, उपयोगरूप नहीं। यह समाधान, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ४६वीं गाथा की टीका के—

'त्रयाणामप्यचक्षुर्दर्शनं तस्यानाहारकावस्थायामपि लब्धिमाश्रित्याभ्युपगमात्।'

इस उल्लेख के आधार पर दिया गया है।

प्रश्न—इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले जैसे उपयोगरूप या क्षयोपशमरूप अचक्षुर्दर्शन माना जाता है, वैसे ही चक्षुर्दर्शन क्यों नहीं माना जाता?

उत्तर—चक्षुर्दर्शन, नेत्ररूप विशेष-इन्द्रिय-जन्य दर्शन को कहते हैं। ऐसा दर्शन उसी समय माना जाता है, जब कि द्रव्यनेत्र हो। अतएव चक्षुर्दर्शन को इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही माना है। अचक्षुर्दर्शन किसी-एक इन्द्रिय-जन्य सामान्य उपयोग को नहीं कहते; किन्तु नेत्र-भिन्न किसी द्रव्येन्द्रिय से होनेवाले, द्रव्यमन से होनेवाले या द्रव्येन्द्रिय तथा द्रव्यमन के अभाव में क्षयोपशममात्र से होनेवाले सामान्य उपयोग को कहते हैं। इसी से अचक्षुर्दर्शन को इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और पीछे, दोनों अवस्थाओं में माना है।

---

(१०) 'अनाहारक'

अनाहारक जीव दो प्रकार के होते हैं—छद्मस्थ और वीतराग। वीतराग में जो अशरीरी (मुक्त) हैं, वे सभी सदा अनाहारक ही हैं; परन्तु जो शरीरधारी हैं, वे केवलिसमुद्घात के तीसरे चौथे और पाँचवें समय में ही अनाहारक होते हैं। छद्मस्थ जीव, अनाहारक तभी होते हैं, जब वे विग्रहगति में वर्तमान हों।

जन्मान्तर ग्रहण करने के लिए जीव को पूर्व-स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में जाना पड़ता है। दूसरा स्थान पहले स्थान से विश्रेणि-पतित (वक्र-रेखा में) हो, तब उसे वक्र-गति करनी पड़ती है। वक्र-गति के संबन्ध में इस जगह तीन बातों पर विचार किया जाता है—

(१) वक्र-गति में विग्रह (घुमाव) की संख्या, (२) वक्र-गति का काल-परिमाण और (३) वक्र-गति में अनाहारकत्व का काल-मान।

(१) कोई उत्पत्ति-स्थान ऐसा होता है कि जिसको जीव एक विग्रह करके ही प्राप्त कर लेता है। किसी स्थान के लिए दो विग्रह करने पड़ते हैं और किसी के लिए तीन भी। नवीन उत्पत्ति-स्थान, पूर्व-स्थान से कितना ही विश्रेणि-पतित क्यों न हो, पर वह तीन विग्रह में तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है।

इस विषय में दिगम्बर-साहित्य में विचार-भेद नजरनहीं आता; क्योंकि—

'विग्रहवती च संसारिणः प्राक चतुर्भ्यः।'—तत्त्वार्थ-अ० २, सू० २८।

इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि-टीका में श्री पूज्यपादस्वामी ने अधिक से अधिक तीन विग्रहवाली गति का ही उल्लेख किया है। तथा—

'एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः।' -तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र ३०।

इस सूत्र के छठे राजवार्तिक में भट्टारक श्रीअकलङ्कदेव ने भी अधिक से अधिक त्रि-विग्रह-गति का ही समर्थन किया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ६६६वीं गाथा में उक्त मत का ही निर्देश करते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में इस विषय पर मतान्तर उल्लिखित पाया जाता है—

'विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः।' —तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र २६।

'एकं द्वौ वाऽनाहारकः।' — तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ३०।

श्वेताम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-अ० २ के भाष्य में भगवान् उमास्वाति ने तथा उसकी टीका में श्रीसिद्धसेनगणि ने त्रि-विग्रहगति का उल्लेख किया है। साथ ही उक्त भाष्य की टीका में चतुर्विग्रह-गति का मतान्तर भी दरसाया है। इस मतान्तर का उल्लेख वृहत्संग्रहणी की ३२५वीं गाथा में और श्रीभगवती-शतक ७, उद्देश्य

१ की तथा शतक १४, उद्देश्य १ की टीका में भी है। किन्तु इस मतान्तर का जहाँ-कहीं उल्लेख है, वहाँ सब जगह यही लिखा है कि चतुर्विग्रहगति का निर्देश किसी मूल सूत्र में नहीं है। इससे जान पड़ता है कि ऐसी गति करनेवाले जीव ही बहुत कम हैं। उक्त सूत्रों के भाष्य में तो यह स्पष्ट लिखा है कि त्रि-विग्रह से अधिक विग्रहवाली गति का संभव ही नहीं है।

'अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुस्समयपराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति, परतो न सम्भवन्ति।'

भाष्य के इस कथन से तथा दिगम्बर-ग्रंथों में अधिक से अधिक त्रि-विग्रह गति का ही निर्देश पाये जाने से और भगवती-टीका आदि में जहाँ-कहीं चतुर्विग्रह-गति का मतान्तर है, वहाँ सब जगह उसकी अल्पता दिखाई जाने के कारण अधिक से अधिक तीन विग्रहवाली गति ही का पक्ष बहुमान्य समझना चाहिए।

(२) वक्र-गति के काल-परिमाण के संबन्ध में यह नियम है कि वक्र-गति का समय विग्रह की अपेक्षा एक अधिक ही होता है। अर्थात् जिस गति में एक विग्रह हो, उसका काल-मान दो समयोंका, इस प्रकार द्वि विग्रहगति का काल-मान तीन समयों का और त्रि-विग्रहगति का काल-मान चार समयों का है। इस नियम में श्वेताम्बर-दिगम्बर का कोई मत-भेद नहीं। हाँ ऊपर चतुर्विग्रह गति के मतान्तर का जो उल्लेख किया है, उसके अनुसार उस गति का काल-मान पाँच समयों का बतलाया गया है।

(३) विग्रहगति में अनाहारकत्व के काल-मान का विचार व्यवहार और निश्चय, दो दृष्टियों से किया हुआ पाया जाता है। व्यवहारवादियों का अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छोड़ने का समय, जो वक्र-गति का प्रथम समय है, उसमें पूर्व-शरीर-योग्य कुछ पुद्गल लोमाहारद्वारा ग्रहण किए जाते हैं।—बृहत्संग्रहणी गा० ३२६ तथा उसकी टीका, लोक० सर्ग ३, श्लो०, ११०७ से आगे। परन्तु निश्चयवादियों का अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छूटने के समय में, अर्थात् वक्र-गति के प्रथम समय में न तो पूर्व-शरीर का ही संबन्ध है और न नया शरीर बना है; इसलिए उस समय किसी प्रकार के आहार का संभव नहीं।—लोक० स० ३, श्लो० १११५ से आगे। व्यवहारवादी हो या निश्चयवादी, दोनों इस बात को बराबर मानते हैं कि वक्र-गति का अंतिम समय, जिसमें जीव नवीन स्थान में उत्पन्न होता है, उसमें अवश्य आहार ग्रहण होता है। व्यवहार नय के अनुसार अनाहारकत्व का काल-मान इस प्रकार समझना चाहिए—

एक विग्रह वाली गति, जिसकी काल-मर्यादा दो समय की है, उसके दोनों

समय में जीव आहारक ही होता है; क्योंकि पहले समय में पूर्व-शरीर योग्य लोमाहार ग्रहण किया जाता है और दूसरे समय में नवीन शरीर-योग्य आहार । दो विग्रहवाली गति, जो तीन समय की है और तीन विग्रहवाली गति, जो चार समय की है, उसमें प्रथम तथा अन्तिम समय में आहारकत्व होने पर भी बीच के समय में अनाहारक-अवस्था पाई जाती है। अर्थात् द्वि-विग्रहगति के मध्य में एक समय तक और त्रि-विग्रहगति में प्रथम तथा अन्तिक समय को छोड़, बीच के दो समय पर्यन्त अनाहारक स्थिति रहती है। व्यवहारनय का यह मत कि विग्रह की अपेक्षा अनाहारकत्व का समय एक कम ही होता है, तत्त्वार्थ-अध्याय २ के ३१ वें सूत्र में तथा उसके भाष्य और टीका में निर्दिष्ट है। साथ ही टीका में व्यवहार-नय के अनुसार उपर्युक्त पाँच समय-परिमाण चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर को लेकर तीन समय का अनाहारकत्व भी बतलाया गया है । सारांश, व्यवहारनय की अपेक्षा से तीन समय का अनाहारकत्व, चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर से ही घट सकता है, अन्यथा नहीं। निश्चयदृष्टि के अनुसार यह बात नहीं है। उसके अनुसार तो जितने विग्रह उतने ही समय अनाहारकत्व के होते हैं। अतएव उस दृष्टि के अनुसार एक विग्रह वाली वक्र-गति में एक समय, दो विग्रहवाली गति में दो समय और तीन विग्रहवाली गति में तीन समय अनाहारकत्व के समझने चाहिए। यह बात दिगम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ- अ० २ के ३०वें सूत्र तथा उसकी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक-टीका में है।

श्वेताम्बर-ग्रंथों में चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर का उल्लेख है, उसको लेकर निश्चयदृष्टि से विचार किया जाए तो अनाहारकत्व के चार समय भी कहे जा सकते हैं।

सारांश. श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थ-भाष्य आदि में एक या दो समय के अनाहारकत्व का जो उल्लेख है, वह व्यवहारदृष्टि से और दिगम्बरीय तत्त्वार्थ आदि ग्रंथों में जो एक, दो या तीन समय के अनाहारकत्व का उल्लेख है, वह निश्चयदृष्टि से। अतएव अनाहारकत्व के काल-मान के विषय में दोनों सम्प्रदाय में वास्तविक विरोध को अवकाश ही नहीं है।

प्रसङ्ग-वश यह बात जानने-योग्य है कि पूर्व-शरीर का परित्याग, पर-भव की आयु का उदय और गति (चाहे ऋजु हो या वक्र), ये तीनों एक समय में होते हैं। विग्रहगति के दूसरे समय में पर-भव की आयु के उदय का कथन है, सो स्थूल व्यवहार नय की अपेक्षा से – पूर्व-भव का अन्तिम समय, जिसमें जीव विग्रहगति के अभिमुख हो जाता है, उसको उपचार से विग्रहगति का प्रथम समय मानकर – समझना चाहिए। —बृहत्संग्रहणी, गा० ३२५, मलयगिरि-टीका।

(११) 'अवधिदर्शन'

अवधिदर्शन और गुणस्थान का संबन्ध विचारने के समय मुख्यतया दो बातें जानने की हैं—(१) पक्ष-भेद और (२) उनका तात्पर्य।

(१) पक्ष-भेद—

प्रस्तुत विषय में मुख्य दो पक्ष हैं—(क) कार्मग्रंथिक और (ख) सैद्धान्तिक।

(क) कार्मग्रन्थिक-पक्ष भी दो हैं। इनमें से पहला पक्ष चौथे आदि नौ गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है। यह पक्ष, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथ की २९ वीं गाथा में निर्दिष्ट है, जो पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान माननेवाले कार्मग्रंथिकों को मान्य है। दूसरा पक्ष, तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है। यह पक्ष चौथे कर्मग्रन्थ की ४८ वीं गाथा में तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथ की ७० और ७१ वीं गाथा में निर्दिष्ट है, जो पहले दो गुणस्थान तक अज्ञान मानने वाले कार्मग्रंथिकों को मान्य है। ये दोनों पक्ष, गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ६९० और ७०४ थी गाथा में हैं। इनमें से प्रथम पक्ष, तत्त्वार्थ-अ० १ के ८ वें सूत्र की सर्वार्थसिद्धि में भी है। वह यह है—

'अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि।'

(ख) सैद्धान्तिक-पक्ष बिल्कुल भिन्न है। वह पहले आदि बारह गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है। जो भगवती-सूत्र से मालूम होता है। इस पक्ष को श्री मलगिरि सूरि ने पञ्चसंग्रह-द्वार १ की ३१ वीं गाथा की टीका में तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की २९ वीं गाथा की टीका में स्पष्टता से दिखाया है।

'ओहिदंसणअणागारोवउत्ता णं भंते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! णाणी वि अन्नाणी वि। जइ नाणी ते अत्थेगइआ तिण्णाणी, अत्थेगइआ चउणाणी। जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी ओहिणाणी। जे चउणाणी ते आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी। जे अण्णाणी ते णियमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणी विभंगनाणी।' —भगवती-शतक ८, उद्देश्य २।

(२) उक्त पक्षों का तात्पर्य—

(क) पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान माननेवाले और पहले दो गुणस्थानों में अज्ञान माननेवाले, दोनों प्रकार के कार्मग्रंथिक विद्वान् अवधिज्ञान से अवधिदर्शन को अलग मानते हैं, पर विभङ्गज्ञान से नहीं। वे कहते हैं कि—

विशेष अवधि-उपयोग से सामान्य अवधि-उपयोग भिन्न है; इसलिए जिस प्रकार अवधि-उपयोगवाले सम्यक्त्वी में अवधिज्ञान और अवधिदर्शन, दोनों अलग-

अलग हैं, इसी प्रकार अवधि-उपयोगवाले अज्ञानी में भी विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, ये दोनों वस्तुतः भिन्न हैं सही, तथापि विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन इन दोनों के पारस्परिक भेद की अविवक्षामात्र है। भेद विवक्षित न रखने का सबब दोनों का सादृश्यमात्र है। अर्थात् जैसे विभङ्गज्ञान विषय का यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता, वैसे ही अवधिदर्शन सामान्यरूप होने के कारण विषय का निश्चय नहीं कर सकता।

इस अभेद-विवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे आदि नौ गुणस्थानों में और दूसरे मत के अनुसार तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन समझना चाहिए।

(ख) सैद्धान्तिक विद्वान् विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, दोनों के भेद की विवक्षा करते हैं, अभेद की नहीं। इसी कारण वे विभङ्गज्ञानी में अवधिदर्शन मानते हैं। उनके मत से केवल पहले गुणस्थान में विभङ्गज्ञान का संभव है; दूसरे आदि में नहीं। इसलिए वे दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानों में अवधिज्ञान के साथ और पहले गुणस्थान में विभङ्गज्ञान के साथ अवधिदर्शन का साहचर्य मानकर पहले बारह गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानते हैं। अवधिज्ञानी के और विभङ्गज्ञानी के दर्शन में निराकारता अंश समान ही है। इसलिए विभङ्गज्ञानी के दर्शन की 'विभङ्गदर्शन' ऐसी अलग संज्ञा न रखकर 'अवधिदर्शन' ही संज्ञा रखी है।

सारांश, कार्मग्रन्थिक-पक्ष, विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, इन दोनों के भेद की विवक्षा नहीं करता और सैद्धान्तिक-पक्ष करता है।

—लोक प्रकाश सर्ग ३, श्लोक १०५७ से आगे।

इस मत-भेद का उल्लेख विशेषणवती ग्रन्थ में श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने किया है, जिसकी सूचना प्रज्ञापना-पद १८, वृत्ति (कलकत्ता) पृ॰ ५६६ पर है।

---

(१२) 'आहारक'—केवलज्ञानी के आहार पर विचार

तेरहवें गुणस्थान के समय आहारकत्व का अङ्गीकार चौथे कर्मग्रन्थ पृ॰ ८६ तथा दिगम्बरीय ग्रन्थों में है। देखो—तत्त्वार्थ-अ॰ १, सू॰ ८ की सर्वार्थसिद्धि—

'आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि'

इसी तरह गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ६६५ और ६६७ वीं गाथा भी इसके लिए देखने योग्य है।

उक्त गुणस्थान में असातवेदनीय का उदय भी दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों (दूसरा कर्मग्रन्थ, गा० २२; कर्मकाण्ड, गा० २७१) में माना हुआ है। इसी तरह उस समय आहारसंज्ञा न होने पर भी कार्मणशरीरनामकर्म के उदय से कर्मपुद्गलों की तरह औदारिकशरीरनामकर्म के उदय से औदारिक-पुद्गलों का ग्रहण दिगम्बरीय ग्रन्थ (लब्धिसार गा० ६१४) में भी स्वीकृत है। आहारकत्व की व्याख्या गोम्मटसार में इतनी अधिक स्पष्ट है कि जिससे केवली के द्वारा औदारिक, भाषा और मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाने के संबन्ध में कुछ भी सन्देह नहीं रहता (जीव० गा० ६६३—६६४)। औदारिक पुद्गलों का निरन्तर ग्रहण भी एक प्रकार का आहार है, जो 'लोमाहार' कहलाता है। इस आहार के लिए जाने तक शरीर का निर्वाह और इसके अभाव में शरीर का अनिर्वाह अर्थात् योग-प्रवृत्ति पर्यन्त औदारिक पुद्गलों का ग्रहण अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है। इस तरह केवलज्ञानी में आहारकत्व, उसका कारण असातवेदनीय का उदय और औदारिक पुद्गलों का ग्रहण, दोनों सम्प्रदाय को समानरूप से मान्य है। दोनों सम्प्रदाय की यह विचार-समता इतनी अधिक है कि इसके सामने कवलाहार का प्रश्न विचारशीलों की दृष्टि में आप ही आप हल हो जाता है।

केवलज्ञानी कवलाहार को ग्रहण नहीं करते, ऐसा माननेवाले भी उनके द्वारा अन्य सूक्ष्म औदारिक पुद्गलों का ग्रहण किया जाना निर्विवाद मानते ही हैं। जिनके मत में केवलज्ञानी कवलाहार ग्रहण करते हैं; उनके मत से वह स्थूल औदारिक पुद्गल के सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार कवलाहार माननेवाले—न माननेवाले उभय के मत में केवलज्ञानी के द्वारा किसी-न-किसी प्रकार के औदारिक पुद्गलों का ग्रहण किया जाना समान है। ऐसी दशा में कवलाहार के प्रश्न को विरोध का साधन बनाना अर्थ-हीन है।

———

(१३) 'दृष्टिवाद'—स्त्री को दृष्टिवाद का अनधिकार

[समानता—] व्यवहार और शास्त्र, ये दोनों, शारीरिक और आध्यात्मिक-विकास में स्त्री को पुरुष के समान सिद्ध करते हैं। कुमारी ताराबाई का शारीरिक-बल में प्रो० राममूर्ति से कम न होना, विदुषी ऐनी बीसेन्ट का विचार व वक्तृत्व-शक्ति में अन्य किसी विचारक वक्ता-पुरुष से कम न होना एवं, विदुषी सरोजिनी नायडू का कवित्व-शक्ति में किसी प्रसिद्ध पुरुष-कवि से कम न होना, इस बात का

प्रमाण है कि समान साधन और अवसर मिलने पर स्त्री भी पुरुष-जितनी योग्यता प्राप्त कर सकती है। श्वेताम्बर-आचार्यों ने स्त्री को पुरुष के बराबर योग्य मानकर उसे कैवल्य व मोक्ष की अर्थात् शारीरिक और आध्यात्मिक पूर्ण विकास की अधिकारिणी सिद्ध किया है। इसके लिए देखिए, प्रज्ञापना-सूत्र० ७, पृ० १८; नन्दी-सूत्र० २१, पृ० १३० ।

इस विषय में मत-भेद रखनेवाले दिगम्बर-आचार्यों के विषय में बहुत-कुछ लिखा गया है। इसके लिए देखिए, नन्दी-टीका, पृ० १३१-१३३; प्रज्ञापना-टीका, पृ० २०—२२; शास्त्रवार्तासमुच्चय-टीका, पृ० ४२५—४३० ।

आलङ्कारिक पण्डित राजशेखर ने मध्यस्थभावपूर्वक स्त्री जाति को पुरुषजाति के तुल्य बतलाया है—

'पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः । संस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रतिबुद्धाः कवयश्च ।'

—काव्यमीमांसा-अध्याय १० ।

[विरोध—] स्त्री को दृष्टिवाद के अध्ययन का जो निषेध किया है, इसमें दो तरह से विरोध आता है—(१) तर्क-दृष्टि से और (२) शास्त्रोक्त मर्यादा से।

(१) एक ओर स्त्री को केवलज्ञान व मोक्ष तक की अधिकारिणी मानना और दूसरी ओर उसे दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए—श्रुतज्ञान-विशेष के लिए—अयोग्य बतलाना, ऐसा विरुद्ध जान पड़ता है, जैसे किसी को रत्न सौंपकर कहना कि तुम कौड़ी की रक्षा नहीं कर सकते।

(२) दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध करने से शास्त्र-कथित कार्य-कारण-भाव की मर्यादा भी बाधित हो जाती है। जैसे—शुक्लध्यान के पहले दो पाद प्राप्त किये बिना केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता; 'पूर्व' ज्ञान के बिना शुक्लध्यान के प्रथम दो पाद प्राप्त नहीं होते और 'पूर्व', दृष्टिवाद का एक हिस्सा है। यह मर्यादा शास्त्र में निर्विवाद स्वीकृत है—

'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।'

—तत्त्वार्थ-अ० ६, सू०३६ ।

इस कारण दृष्टिवाद के अध्ययन की अनधिकारिणी स्त्री को केवलज्ञान की अधिकारिणी मान लेना स्पष्ट विरुद्ध जान पड़ता है।

दृष्टिवाद के अनधिकार के कारणों के विषय में दो पक्ष हैं—

(क) पहला पक्ष, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि का है। इस पक्ष में स्त्री में तुच्छत्व, अभिमान, इन्द्रिय-चाञ्चल्य, मति-मान्द्य आदि मानसिक दोष दिखाकर उसको दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध किया है। इसके लिए देखिए, विशे०, भा०, ५५२वीं गाथा।

(ख) दूसरा पक्ष, श्री हरिभद्रसूरि आदि का है। इस पक्ष में अशुद्धिरूप शारीरिक-दोष दिखाकर उसका निषेध किया है। यथा—

'कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः ? तथाविधविग्रहे ततो दोषात्।'

—ललितविस्तरा, पृ० २११।

[नयदृष्टि से विरोध का परिहार–] दृष्टिवाद के अनधिकार से स्त्री को केवलज्ञान के पाने में जो कार्य-कारण-भाव का विरोध दीखता है, वह वस्तुतः विरोध नहीं है; क्योंकि शास्त्र, स्त्री में दृष्टिवाद के अर्थ-ज्ञान की योग्यता मानता है; निषेध सिर्फ शाब्दिक-अध्ययन का है।

'श्रेणिपरिणतौ तु कालगर्भवद्भावतो भावोऽविरुद्ध एव।'

—ललितविस्तरा तथा इसकी श्री मुनिचन्द्रसूरि-कृत पञ्जिका, पृ० १११।

तप, भावना आदि से जब ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम तीव्र हो जाता है, तब स्त्री शाब्दिक-अध्ययन के सिवाय ही दृष्टिवाद का सम्पूर्ण अर्थ-ज्ञान कर लेती है और शुक्लध्यान के दो पाद पाकर केवलज्ञान को भी पा लेती है—

'यदि च शास्त्रयोगागम्यसामर्थ्ययोगावसेयभावेष्वतिसूक्ष्मेष्वपि तेषां विशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रभावयोगात् पूर्वधरस्येव बोधातिरेकसद्भावादाद्यशुक्लध्यानद्वयप्राप्तेः केवलावाप्तिक्रमेण मुक्तिप्राप्तिरिति न दोषः, अध्ययनमन्तरेणापि भावतः पूर्ववित्त्वसंभवात्, इति विभाव्यते, तदा निर्ग्रन्थीनामप्येवं द्वितयसंभवे दोषाभावात्।'

—शास्त्रवार्ता०, पृ० ४२६।

यह नियम नहीं है कि गुरु-मुख से शाब्दिक-अध्ययन बिना किये अर्थ-ज्ञान न हो। अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं, जो किसी से बिना पढ़े ही मनन-चिन्तन-द्वारा अपने अभीष्ट विषय का गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

अब रहा शाब्दिक-अध्ययन का निषेध, सो इस पर अनेक तर्क-वितर्क उत्पन्न होते है। यथा—जिसमें अर्थ-ज्ञान की योग्यना मान ली जाए, उसको सिर्फ शाब्दिक-अध्ययन के लिए अयोग्य बतलाना क्या संगत है ? शब्द, अर्थ-ज्ञान का साधन मात्र है। तप, भावना आदि अन्य साधनों से जो अर्थ-ज्ञान संपादन कर सकता है, वह उस ज्ञान को शब्द द्वारा संपादन करने के लिए अयोग्य है, यह

कहना कहाँ तक संगत है ? शाब्दिक-अध्ययन के निषेध के लिए तुच्छत्व अभिमान आदि जो मानसिक-दोष दिखाए जाते हैं, वे क्या पुरुषजाति में नहीं होते ? यदि विशिष्ट पुरुषों में उक्त दोषों का अभाव होने के कारण पुरुष-सामान्य के लिए शाब्दिक अध्ययन का निषेध नहीं किया है तो क्या पुरुष-तुल्य विशिष्ट स्त्रियों का संभव नहीं है ? यदि असंभव होता तो स्त्री-मोक्ष का वर्णन क्यों किया जाता ? शाब्दिक-अध्ययन के लिए जो शारीरिक-दोषों की संभावना की गई है, वह भी क्या सब स्त्रियों को लागू पड़ती है ? यदि कुछ स्त्रियों को लागू पड़ती है तो क्या कुछ पुरुषों में भी शारीरिक-अशुद्धि की संभावना नहीं है ? ऐसी दशा में पुरुष-जाति को छोड़ स्त्री-जाति के लिए शाब्दिक-अध्ययन का निषेध किस अभिप्राय से किया है ? इन तर्कों के संबन्ध में संक्षेप में इतना ही कहना है कि मानसिक या शारीरिक-दोष दिखाकर शाब्दिक-अध्ययन का जो निषेध किया गया है, वह प्रायिक जान पड़ता है, अर्थात् विशिष्ट स्त्रियों के लिए अध्ययन का निषेध नहीं है। इसके समर्थन में यह कहा जा सकता है कि जब विशिष्ट स्त्रियाँ, दृष्टिवाद का अर्थ-ज्ञान वीतरागभाव, केवलज्ञान और मोक्ष तक पाने में समर्थ हो सकती हैं, तो फिर उनमें मानसिक दोषों की संभावना ही क्या है ? तथा वृद्ध, अप्रमत्त और परमपवित्र आचारवाली स्त्रियों में शारीरिक-अशुद्धि कैसे बतलाई जा सकती है ? जिनको दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए योग्य समझा जाता है, वे पुरुष भी, जैसे—स्थूलभद्र, दुर्बलिका पुष्यमित्र आदि, तुच्छत्व, स्मृति-दोष आदि कारणों से दृष्टिवाद की रक्षा न कर सके।

'तेण चिंतियं भगिणीणं इड्ढिं दरिसेमि त्ति सीहरूवं विउव्वइ।'

—आवश्यकवृत्ति, पृ० ६९८।

'ततो आयरिएहिं दुब्बलियपुस्समित्तो तस्स वायणायरिओ दिण्णो, ततो सो कइवि दिवसे वायणं दाऊण आयरियमुवट्ठितो भणइ मम वायणं देंतस्स नासति, जं च सण्णायघरे नाणुप्पेहियं, अतो मम अज्झरंतस्स नवमं पुव्वं नासिहिति ताहे आयरिया चिंतेति—जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एवं झरंतस्स नासइ अन्नस्स चिरनट्ठं चेव।'

—आवश्यकवृत्ति, पृ० ३०८।

ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर भी स्त्रियों को ही अध्ययन का निषेध क्यों किया गया ? इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया जा सकता है - (१) समान सामग्री मिलने पर भी पुरुषों के मुकाबिले में स्त्रियों का कम संख्या में योग्य होना और (२) ऐतिहासिक-परिस्थिति।

(१) जिन पश्चिमीय देशों में स्त्रियों को पढ़ने आदि की सामग्री पुरुषों के समान प्राप्त होती है, वहाँ पर इतिहास देखने से यही जान पड़ता है कि स्त्रियाँ पुरुषों के तुल्य हो सकती हैं सही, पर योग्य व्यक्तियों की संख्या, स्त्रीजाति की अपेक्षा पुरुष जाति में अधिक पाई जाती है।

(२) कुन्दकुन्द-आचार्य सरीखे प्रतिपादक दिगम्बर-आचार्यों ने स्त्रीजाति को शारीरिक और मानसिक-दोष के कारण दीक्षा तक के लिए अयोग्य ठहराया—

'लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसम्मि।
भणिओ सुहुमो काओ, तासं कह होइ पव्वज्जा॥'

—षट्पाहुड-सूत्रपाहुड गा० २४–२५।

और वैदिक विद्वानों ने शारीरिक-शुद्धि को अग्र-स्थान देकर स्त्री और शूद्र-जाति को सामान्यतः वेदाध्ययन के लिए अनधिकारी बतलाया—

'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'

इन विपक्षी सम्प्रदायों का इतना असर पड़ा कि उससे प्रभावित होकर पुरुष-जाति के समान स्त्रीजाति की योग्यता मानते हुए भी श्वेताम्बर-आचार्य उसे विशेष-अध्ययन के लिए अयोग्य बतलाने लगे होंगे।

ग्यारह अङ्ग आदि पढ़ने का अधिकार मानते हुए भी सिर्फ बारहवें अङ्ग के निषेध का सबब यह भी जान पड़ता है कि दृष्टिवाद का व्यवहार में महत्त्व बना रहे। उस समय विशेषतया शारीरिक-शुद्धिपूर्वक पढ़ने में वेद आदि ग्रन्थों की महत्ता समझी जाती थी। दृष्टिवाद सब अङ्गों में प्रधान था, इसलिए व्यवहार-दृष्टि से उसकी महत्ता रखने के लिए अन्य बड़े पड़ोसी समाज का अनुकरण कर लेना स्वाभाविक है। इस कारण पारमार्थिक-दृष्टि से स्त्री को संपूर्णतया योग्य मानते हुए भी आचार्यों ने व्यावहारिक दृष्टि से शारीरिक-अशुद्धि का खयाल कर उसको शाब्दिक-अध्ययनमात्र के लिए अयोग्य बतलाया होगा।

भगवान् गौतमबुद्ध ने स्त्रीजाति को भिक्षुपद के लिए अयोग्य निर्धारित किया था परन्तु भगवान् महावीर ने तो प्रथम से ही उसको पुरुष के समान भिक्षुपद की अधिकारिणी निश्चित किया था। इसी से जैनशासन में चतुर्विध संघ प्रथम से ही स्थापित है और साधु तथा श्रावकों की अपेक्षा साध्वियों तथा श्राविकाओं की संख्या आरम्भ से ही अधिक रही है परन्तु अपने प्रधान शिष्य 'आनन्द' के आग्रह से बुद्ध भगवान् ने जब स्त्रियों को भिक्षु पद दिया, तब उनकी संख्या धीरे-धीरे बहुत बढ़ी और कुछ शताब्दियों के बाद अशिक्षा, कुप्रबन्ध आदि कई कारणों से उनमें बहुत-कुछ आचार-भ्रंश हुआ, जिससे कि बौद्ध-संघ एक तरह से दूषित

समझा जाने लगा। सम्भव है, इस परिस्थिति का जैन-सम्प्रदाय पर भी कुछ असर पड़ा हो, जिससे दिगम्बर-आचार्यों ने स्त्री को भिक्षुपद के लिए ही अयोग्य करार दिया हो और श्वेताम्बर-आचार्यों ने ऐसा न करके स्त्रीजाति का उच्च अधिकार कायम रखते हुए भी दुर्बलता, इन्द्रिय-चपलता आदि दोषों को उस जाति में विशेष रूप से दिखाया हो; क्योंकि सहचर-समाजों के व्यवहारों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

————

(१४) चक्षुर्दर्शन के साथ योग

चौथे कर्मग्रन्थ गा० २८ में चक्षुर्दर्शन में तेरह योग माने गए हैं, पर श्री मलयगिरिजी ने उसमें ग्यारह योग बतलाए हैं। कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र, ये चार योग छोड़ दिए हैं।

—पञ्च० द्वा० १ की १२ वीं गाथा की टीका।

ग्यारह मानने का तात्पर्य यह है कि जैसे अपर्याप्त-अवस्था में चक्षुर्दर्शन न होने से उसमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो अपर्याप्त-अवस्था-भावी योग नहीं होते, वैसे ही वैक्रियमिश्र या आहारकमिश्र-काय योग रहता है, तब तक अर्थात् वैक्रियशरीर या आहारकशरीर अपूर्ण हो तब तक चक्षुर्दर्शन नहीं होता, इसलिए उसमें वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र-योग भी न मानने चाहिए।

इस पर यह शङ्का हो सकती है कि अपर्याप्त-अवस्था में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जाने के बाद चौथे कर्मग्रन्थ की १७ वीं गाथा में उल्लिखित मातान्तर के अनुसार यदि चक्षुर्दर्शन मान लिया जाए तो उसमें औदारिकमिश्र काययोग, जो कि अपर्याप्त-अवस्थाभावी है, उसका अभाव कैसे माना जा सकता है?

इस शङ्का का समाधान यह किया जा सकता है कि पञ्चसंग्रह में एक ऐसा मतान्तर है जो कि अपर्याप्त-अवस्था में शरीर पर्याप्ति पूर्ण न बन जाए तब तक मिश्रयोग मानता है, बन जाने के बाद नहीं मानता।—पञ्च० द्वा० १की ७वीं गाथा की टीका। इस मत के अनुसार अपर्याप्त-अवस्था में जब चक्षुर्दर्शन होता है तब मिश्रयोग न होने के कारण चक्षुर्दर्शन में औदारिकमिश्र काययोग का वर्जन विरुद्ध नहीं है।

इस जगह मनःपर्याय ज्ञान में तेरह योग माने हुए हैं, जिनमें आहारक द्विक का समावेश है। पर गोम्मटसार-कर्मकाण्ड यह नहीं मानता; क्योंकि उसमें लिखा है कि परिहार विशुद्ध चारित्र और मनःपर्यायज्ञान के समय आहारक-

शरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय नहीं होता—कर्मकाण्ड गा० ३२४। जब तक आहारक-द्विकका उदय न हो, तब तक आहारक-शरीर रचा नहीं जा सकता और उसकी रचना के सिवाय आहारकमिश्र और आहारक, ये दो योग असम्भव हैं। इससे सिद्ध है कि गोम्मटसार, मनःपर्यायज्ञान में दो आहारक योग नहीं मानता। इसी बात की पुष्टि जीवकाण्ड की ७२८ वीं गाथा से भी होती है। उसका मतलब इतना ही है कि मनःपर्यायज्ञान, परिहार विशुद्ध-संयम, प्रथमोपशमसम्यक्त्व और आहारक-द्विक, इन भावों में से किसी एक के प्राप्त होने पर शेष भाव प्राप्त नहीं होते।

———

(१५) 'केवलिसमुद्घात'

(क) पूर्वभावी क्रिया—केवलिसमुद्घात रचने के पहले एक विशेष क्रिया की जाती है, जो शुभयोग रूप है, जिसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और जिसका कार्य उदयावलिका में कर्म-दलिकों का निक्षेप करना है। इस क्रिया-विशेष को 'आयोजिकाकरण' कहते हैं। मोक्ष की ओर आवर्जित (झुके हुए) आत्मा के द्वारा किये जाने के कारण इसको 'आवर्जितकरण' कहते हैं। और सब केवलज्ञानियों के द्वारा अवश्य किये जाने के कारण इसको 'आवश्यककरण' भी कहते हैं। श्वेताम्बर-सहित्य में आयोजिकाकरण आदि तीनों संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं।—विशे० आ०, गा० ३०५०–५१; तथा पञ्च० द्वा० १, गा० १६ की टीका।

दिगम्बर-साहित्य में सिर्फ 'आवर्जितकरण' संज्ञा प्रसिद्ध है। लक्षण भी उसमें स्पष्ट है—

'हेट्ठा दंडस्सतोमुहुत्तमावाज्जदं हवे करणं।
तं च समुग्घादस्स य अहिमुहभावो जिणिंदस्स।'

—लब्धिसार, गा० ६१७।

(ख) केवलिसमुद्घात का प्रयोजन और विधान-समय—

जब वेदनीय आदि अघाति कर्म की स्थिति तथा दलिक, आयु कर्म की स्थिति तथा दलिक से अधिक हों तब उनको आपस में बराबर करने के लिए केवलि-समुद्घात करना पड़ता है। इसका विधान, अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण आयु बाकी रहने के समय होता है।

(ग) स्वामी—केवलज्ञानी ही केवलिसमुद्घात को रचते हैं।

(घ) काल-मान—केवलिसमुद्घात का काल-मान आठ समय का है।

(ङ) प्रक्रिया—प्रथम समय में आत्मा के प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर फैला दिया जाता है। इस समय उनका आकार, दण्ड जैसा बनता है। आत्मप्रदेशों का यह दण्ड, ऊँचाई में लोक के ऊपर से नीचे तक, अर्थात् चौदह रज्जु-परिमाण होता है, परन्तु उसकी मोटाई सिर्फ शरीर के बराबर होती है। दूसरे समय में उक्त दण्ड को पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण फैलाकर उसका आकार, कपाट (किवाड़) जैसा बनाया जाता है। तीसरे समय में कपाटाकार आत्म-प्रदेशों को मन्थाकार बनाया जाता है, अर्थात् पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, दोनों तरफ फैलाने से उनका आकार रई (मथनी) का सा बन जाता है। चौथे समय में विदिशाओं के खाली भागों को आत्म-प्रदेशों से पूर्ण करके उनसे सम्पूर्ण लोक को व्याप्त किया जाता है। पाचवें समय में आत्मा के लोक व्यापी प्रदेशों को संहरण-क्रिया द्वारा फिर मन्थाकार बनाया जाता है। छठे समय में मन्थाकार से कपाटाकार बना लिया जाता है। सातवें समय में आत्म-प्रदेश फिर दण्ड रूप बनाए जाते हैं और आठवें समय में उनकी असली स्थिति में—शरीरस्थ—किया जाता है।

(च) जैन-दृष्टि के अनुसार आत्म-व्यापकता की संगति—उपनिषद्, भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में आत्मा की व्यापकता का वर्णन किया है।

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्स्यात्।'

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३—३ ११—१५

'सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति।'— भगवद्गीता, १३, १३।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह वर्णन अर्थवाद है, अर्थात् आत्मा की महत्ता व प्रशंसा का सूचक है। इस अर्थवाद का आधार केवलिसमुद्घात के चौथे समय में आत्मा का लोक-व्यापी बनना है। यही बात उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने शास्त्र-वार्त्तासमुच्चय के ३३८ वें पृष्ठ पर निर्दिष्ट की है।

जैसे वेदनीय आदि कर्मों को शीघ्र भोगने के लिए समुद्घात-क्रिया मानी जाती है, वैसे ही पातञ्जल-योग दर्शन में 'बहुकायनिर्माणक्रिया' मानी है जिसको तत्त्वसाक्षात्कर्ता योगी, सोपक्रम कर्म शीघ्र भोगने के लिए करता है।—पाद ३. सू० २२ का भाष्य तथा वृत्ति; पाद ४, सूत्र ४ का भाष्य तथा वृत्ति।

---

(१६) 'काल'

'काल' के संबन्ध में जैन और वैदिक, दोनों दर्शनों में करीब ढाई हजार वर्ष पहले से दो पक्ष चले आते हैं। श्वेताम्बर ग्रंथों में दोनों पक्ष वर्णित हैं। दिगम्बर-ग्रंथों में एक ही पक्ष नजर आता है।

(१) पहला पक्ष, काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। वह मानता है कि जीव और और अजीव-द्रव्य का पर्याय-प्रवाह ही 'काल' है। इस पक्ष के अनुसार जीवाजीव-द्रव्य का पर्याय-परिणमन ही उपचार से काल माना जाता है। इसलिए वस्तुतः जीव और अजीव को ही काल-द्रव्य समझना चाहिए। वह उनसे अलग तत्त्व नहीं है। यह पक्ष 'जीवाभिगम' आदि आगमों में है।

(२) दूसरा पक्ष काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। वह कहता है कि जैसे जीव-पुद्गल आदि स्वतन्त्र द्रव्य हैं; वैसे ही काल भी। इसलिए इस पक्ष के अनुसार काल को जीवादि के पर्याय-प्रवाहरूप न समझ कर जीवादि से भिन्न तत्त्व ही समझना चाहिए। यह पक्ष 'भगवती' आदि आगमों में है।

आगम के बाद के ग्रंथों में, जैसे—तत्त्वार्थ सूत्र में वाचक उमास्वाति ने, द्वात्रिंशिका में श्री सिद्धसेन दिवाकर ने, विशेषावश्यक-भाष्य में श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने, धर्मसंग्रहणी में श्री हरिभद्रसूरि ने, योगशास्त्र में श्री हेमचन्द्रसूरि ने, द्रव्य-गुण पर्याय के रास में श्री उपाध्याय यशोविजयजी ने, लोकप्रकाश में श्री विनयविजयजी ने और नयचक्रसार तथा आगमसार में श्री देवचन्दजी ने आगम-गत उक्त दोनों पक्षों का उल्लेख किया है। दिगम्बर-संप्रदाय में सिर्फ दूसरे पक्ष का स्वीकार है, जो सबसे पहले श्री कुन्दाचार्य के ग्रंथों में मिलता है। इसके बाद पूज्यपादस्वामी, भट्टारक श्री अकलङ्कदेव, विद्यानन्दस्वामी, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और बनारसीदास आदि ने भी उस एक ही पक्ष का उल्लेख किया है।

पहले पक्ष का तात्पर्य—

पहला पक्ष कहता है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात आदि जो व्यवहार, काल-साध्य बतलाए जाते हैं या नवीनता-पुराणता, ज्येष्ठता-कनिष्ठता आदि जो अवस्थाएँ, काल-साध्य बतलाई जाती हैं, वे सब क्रिया-विशेष [पर्याय विशेष] के ही संकेत हैं। जैसे—जीव या अजीव का जो पर्याय, अविभाज्य है, अर्थात् बुद्धि से भी जिसका दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता, उस आखिरी अतिसूक्ष्म पर्याय को 'समय' कहते हैं। ऐसे असंख्यात पर्यायों के पुञ्ज को 'आवलिका' कहते हैं। अनेक आवलिकाओं को 'मुहूर्त' और तीस

मुहूर्त्त को 'दिन-रात' कहते हैं। दो पर्यायों में से जो पहले हुआ हो, वह 'पुराण' और जो पीछे से हुआ हो, वह 'नवीन' कहलाता है। दो जीवधारियों में से जो पीछे से जन्मा हो, वह 'कनिष्ठ' और जो पहिले जन्मा हो, वह 'ज्येष्ठ' कहलाता है। इस प्रकार विचार करने से यही जान पड़ता है कि समय, आवलिका आदि सब व्यवहार और नवीनता आदि सब अवस्थाएँ, विशेष-विशेष प्रकार के पर्यायों के ही अर्थात् निर्विभाग पर्याय और उनके छोटे-बड़े बुद्धि-कल्पित समूहों के ही संकेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया है, जो किसी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के सिवाय ही हुआ करती है। अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्यायरूप में आप ही परिणत हुआ करते हैं। इसलिए वस्तुतः जीव-अजीव के पर्याय-पुञ्ज को ही काल कहना चाहिए। काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।

दूसरे पक्ष का तात्पर्य—

जिस प्रकार जीव पुद्गल में गति-स्थिति करने का स्वभाव होने पर भी उस कार्य के लिए निमित्तकारणरूप से 'धर्म-अस्तिकाय' और 'अधर्म-अस्तिकाय' तत्त्व माने जाते हैं। इसी प्रकार जीव-अजीव में पर्याय-परिमन का स्वभाव होने पर भी उसके लिए निमित्तकारणरूप से काल-द्रव्य मानना चाहिए। यदि निमित्तकारणरूप से काल न माना जाए तो धर्म-अस्तिकाय और अधर्म-अस्तिकाय मानने में कोई युक्ति नहीं।

दूसरे पक्ष में मत-भेद—

काल को स्वतन्त्र द्रव्य माननेवालों में भी उसके स्वरूप के संबन्ध में दो मत हैं।

(१) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्र मात्र में—ज्योतिष-चक्र के गति-क्षेत्र में—वर्तमान है। वह मनुष्य-क्षेत्र प्रमाण होकर भी संपूर्ण लोक के परिवर्तनों का निमित्त बनता है। काल, अपना कार्य ज्योतिष-चक्र की गति की मदद से करता है। इसलिए मनुष्य-क्षेत्र से बाहर कालद्रव्य न मानकर उसे मनुष्य-क्षेत्र प्रमाण ही मानना युक्त है। यह मत धर्मसंग्रहणी आदि श्वेताम्बर-ग्रंथों में है।

(२) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्रमात्र-वर्ती नहीं है; किन्तु लोक-व्यापी है। वह लोक व्यापी होकर भी धर्म-अस्तिकाय की तरह स्कन्ध नहीं है; किन्तु अणुरूप है। इसके अणुओं की संख्या लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर है। वे अणु, गति-हीन होने से जहाँ के तहाँ अर्थात् लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित रहते हैं। इनका कोई स्कन्ध नहीं बनता। इस कारण इनमें तिर्यक्-प्रचय (स्कन्ध) होने की शक्ति नहीं है। इसी सबब से काल दव्य को अस्तिकाय में नहीं गिना है। तिर्यक-प्रचय न होने पर भी ऊर्ध्व-प्रचय है। इससे प्रत्येक काल-

अणु में लगातार पर्याय हुआ करते हैं। ये ही पर्याय, 'समय' कहलाते हैं। एक-एक काल-अणु के अनन्त समय-पर्याय समझने चाहिए। समय-पर्याय ही अन्य द्रव्यों के पर्यायों का निमित्तकारण है। नवीनता-पुराणता, ज्येष्ठता-कनिष्ठता आदि सब अवस्थाएँ, काल-अणु के समय-प्रवाह की बदौलत ही समझनी चाहिए। पुद्‌गल-परमाणु को लोक-आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक मन्दगति से जाने में जितनी देर होती है, उतनी देर में काल-अणु का एक समय-पर्याय व्यक्त होता है। अर्थात् समय-पर्याय और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक की परमाणु की मन्द गति, इन दोनों का परिमाण बराबर है। यह मन्तव्य दिगम्बर-ग्रंथों में है।

वस्तु-स्थिति क्या है—

निश्चय दृष्टि से देखा जाए तो काल को अलग द्रव्य मानने की कोई जरूरत नहीं है। उसे जीवाजीव के पर्यायरूप मानने से ही सब कार्य व सब व्यवहार उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए यही पक्ष, तात्त्विक है। अन्य पक्ष, व्यावहारिक व औपचारिक हैं। काल को मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण मानने का पक्ष स्थूल लोक-व्यवहार पर निर्भर है। और उसे अणुरूप मानने का पक्ष, औपचारिक है, ऐसा स्वीकार न किया जाए तो यह प्रश्न होता है कि जब मनुष्य-क्षेत्र से बाहर भी नवत्व पुराणत्व आदि भाव होते हैं, तब फिर काल को मनुष्य-क्षेत्र में ही कैसे माना जा सकता है? दूसरे यह मानने में क्या युक्ति है कि काल, ज्योतिष-चक्र के संचार की अपेक्षा रखता है? यदि अपेक्षा रखता भी हो तो क्या वह लोकव्यापी होकर ज्योतिपचक्र के संचारक की मदद नहीं ले सकता? इसलिए उसको मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण मानने की कल्पना, स्थूल लोक-व्यवहार पर निर्भर है—काल को अणुरूप मानने की कल्पना औपचारिक है। प्रत्येक पुद्‌गल-परमाणु को ही उपचार से कालाणु समझना चाहिए और कालाणु के अप्रदेशत्व के कथन की सङ्गति इसी तरह कर लेनी चाहिए।

ऐसा न मानकर कालाणु को स्वतन्त्र मानने में प्रश्न यह होता है कि यदि काल स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है तो फिर वह धर्म-अस्तिकाय की तरह स्कन्धरूप क्यों नहीं माना जाता है? इसके सिवाय एक यह भी प्रश्न है कि जीव-अजीव के पर्याय में तो निमित्तकारण समय-पर्याय है। पर समय पर्याय में निमित्तकारण क्या है? यदि वह स्वभाविक होने से अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता तो फिर जीव-अजीव के पर्याय भी स्वाभाविक क्यों न माने जाएँ? यदि समय-पर्याय के वास्ते अन्य निमित्त की कल्पना की जाए तो अनवस्था आती है। इसलिए अणुपक्ष को औपचारिक ही मानना ठीक है।

वैदिकदर्शन में काल का स्वरूप—

वैदिकदर्शनों में भी काल के संबन्ध में मुख्य दो पक्ष हैं। वैशेषिकदर्शन-अ० २, आ० २ सूत्र ६-१० तथा न्यायदर्शन, काल को सर्वव्यापी स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। सांख्य—अ० २, सूत्र १२, योग तथा वेदान्त आदि दर्शन-काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर उसे प्रकृति-पुरुष (जड़चेतन) का ही रूप मानते हैं। यह दूसरा पक्ष, निश्चय-दृष्टि-मूलक है और पहला पक्ष, व्यवहार-मूलक।

जैनदर्शन में जिसको 'समय' और दर्शनान्तरों में जिसको 'क्षण' कहा है, उसका स्वरूप जानने के लिए तथा 'काल' नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, वह केवल लौकिक-दृष्टिवालों की व्यवहार-निर्वाह के लिए क्षणानुक्रम के विषय में की हुई कल्पनामात्र है, इस बात को स्पष्ट समझने के लिए योगदर्शन, पा० ३ सू० ५२ का भाष्य देखना चाहिए। उक्त भाष्य में कालसंबन्धी जो विचार है, वही निश्चय-दृष्टि-मूलक, अतएव तात्त्विक जान पड़ता है।

विज्ञान की सम्मति—

आजकल विज्ञान की गति सत्य दिशा की ओर है। इसलिए कालसंबन्धी विचारों को उस दृष्टि के अनुसार भी देखना चाहिए। वैज्ञानिक लोग भी काल को दिशा की तरह काल्पनिक मानते हैं, वास्तविक नहीं।

अतः सब तरह से विचार करने पर यही निश्चय होता है कि काल को अलग स्वतन्त्र द्रव्य मानने में दृढ़तर प्रमाण नहीं है।

(१७) 'मूल बन्ध-हेतु'

यह विषय, पञ्चसंग्रह द्वा० ४ की १९ और २०वीं गाथा में है, किन्तु उसके वर्णन में चौथे कर्मग्रंथ पृ० १७९ की अपेक्षा कुछ भेद है। उसमें सोलह प्रकृतियों के बन्ध को मिथ्यात्वहेतुक, पैंतीस प्रकृतियों के बन्ध को अविरिति-हेतुक, अड़सठ प्रकृतियों के बन्ध को कषाय-हेतुक और सातवेदनीय के बन्ध को योग-हेतुक कहा है। यह कथन अन्वय व्यतिरेक, उभय-मूलक कार्य-कारण-भाव को लेकर किया गया है। जैसे—मिथ्यात्व के सद्भाव में सोलह का बन्ध और उसके अभाव में सोलह के बन्ध का अभाव होता है; इसलिए सोलह के बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक मिथ्यात्व के साथ घट सकता है। इसी प्रकार पैंतीस के बन्ध का अविरति के साथ, अड़सठ के बंध का कषाय के साथ और सातवेदनीय के बन्ध का योग के साथ अन्वयव्यतिरेक समझना चाहिए।

परंतु चौथे कर्मग्रंथ में केवल अन्वय-मूलक कार्य-कारण-भाव को लेकर संबंध का

वर्णन किया है, व्यतिरेक की विवक्षा नहीं की है; इसी से यहाँ का वर्णन पञ्चसंग्रह के वर्णन से भिन्न मालूम पड़ता है। अन्वय—जैसे; मिथ्यात्व के समय, अविरति के समय, कषाय के समय और योग के समय सातवेदनीय का बन्ध अवश्य होता है; इसी प्रकार मिथ्यात्व के समय सोलह का बन्ध, मिथ्यात्व के समय तथा अविरति के समय पैंतीस का बन्ध और मिथ्यात्व के समय, अविरति के समय तथा कषाय के समय शेष प्रकृतियों का बन्ध अवश्य होता है। इस अन्वयमात्र को लक्ष्य में रखकर श्री देवेन्द्र सूरि ने एक, सोलह, पैंतीस और अड़सठ के बन्ध को क्रमशः चतुर्हेतुक, एक-हेतुक, द्वि-हेतुक और त्रि-हेतुक कहा है। उक्त चारों बन्धों का व्यतिरेक तो पञ्चसंग्रह के वर्णनानुसार केवल एक-एक हेतु के साथ घट सकता है। पञ्चसंग्रह और यहाँ की वर्णन-शैली में भेद है, तात्पर्य में नहीं।

तत्त्वार्थ-अ० ८ सू० १ में बन्ध के हेतु पाँच कहे हुए हैं, उसके अनुसार अ० ६ सू० १ की सर्वार्थसिद्धि में उत्तर प्रकृतियों के और बन्ध-हेतु के कार्य-कारण-भाव का विचार किया है। उसमें सोलह के बन्ध को मिथ्यात्व-हेतुक, उन्तालीस के बन्ध को अविरति-हेतुक, छह के बन्ध को प्रमाद-हेतुक, अट्ठावन के बन्ध को कषायहेतुक और एक के बन्ध को योग-हेतुक बतलाया है। अविरति के अनंतानुबन्धिकषाय-जन्य, अप्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य, और प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य, ये तीन भेद किये हैं। प्रथम अविरति को पचीस के बन्ध का, दूसरी को दस के बन्ध का और तीसरी को चार के बन्ध का कारण दिखाकर कुल उन्तालीस के बन्ध को अविरति-हेतुक कहा है। पञ्चसंग्रह में जिन अड़सठ प्रकृतियों के बन्ध को कषाय-हेतुक माना है, उनमें से चार के बन्ध को प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य अविरति-हेतुक और छह के बन्ध को प्रमाद-हेतुक सर्वार्थसिद्धि में बतलाया है; इसलिए उसमें कषाय-हेतुक बन्धवाली अट्ठावन प्रकृतियाँ ही कही हुई हैं।

---

(१८) उपशमक और क्षपक का चारित्र

गुणस्थानों में एक-जीवाश्रित भावों की संख्या जैसी चोथे कर्मग्रंथ गाथा ७० में है, वैसी ही पञ्चसंग्रह के द्वार २ की ६४वीं गाथा में है; परंतु उक्त गाथा की टीका और टबा में तथा पञ्चसंग्रह की उक्त गाथा की टीका में थोड़ा सा व्याख्या-भेद है।

टीका-टबे में 'उपशमक'-'उपशान्त' दो पदों से नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ, ये तीन गुणस्थान ग्रहण किये गए हैं और 'अपूर्व' पद से आठवाँ गुणस्थानमात्र।

नौवें आदि तीन गुणस्थान में उपशमश्रेणिवाले औपशमिकसम्यक्त्वी को या क्षायिकसम्यक्त्वी को चारित्र औपशमिक माना है। आठवें गुणस्थानों में औपशमिक या क्षायिक किसी सम्यक्त्ववाले को औपशमिक चारित्र इष्ट नहीं है, किन्तु क्षायोपशमिक। इसका प्रमाण गाथा में 'अपूर्व शब्द का अलग ग्रहण करना है; क्योंकि यदि आठवें गुणस्थान में भी औपशमिकचारित्र इष्ट होता तो 'अपूर्व' शब्द अलग ग्रहण न करके उपशमक शब्द से ही नौवें आदि गुणस्थान की तरह आठवें का भी सूचन किया जाता। नौवें और दसवें गुणस्थान के क्षपकश्रेणि-गत-जीव-संबन्धी भावों का व चारित्र का उल्लेख टीका या टबे में नहीं है।

पञ्चसंग्रह की टीका में श्री मलयगिरि ने 'उपशमक'-'उपशान्त' पद से आठवें से ग्यारहवें तक उपशमश्रेणिवाले चार गुणस्थान और 'अपूर्व' तथा 'क्षीण' पद से आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ, ये क्षपकश्रेणिवाले चार गुणस्थान ग्रहण किये हैं। उपशमश्रेणिवाले उक्त चारों गुणस्थान में उन्होंने औपशमिक चारित्र माना है, पर क्षपकश्रेणिवाले चारों गुणस्थान के चारित्र के संबन्ध में कुछ उल्लेख नहीं किया है।

ग्यारहवें गुणस्थान में संपूर्ण मोहनीय का उपशम हो जाने के कारण सिर्फ औपशमिक चारित्र है, नौवें और दसवें गुणस्थान में औपशमिक-क्षायोपशमिक दो चारित्र हैं; क्योंकि इन दो गुणस्थानों में चारित्र मोहनीय की कुछ प्रकृतियाँ उपशान्त होती हैं, सब नहीं। उपशान्त प्रकृतियों की अपेक्षा से औपशमिक और अनुपशान्त प्रकृतियों की अपेक्षा से क्षायोपशमिक-चारित्र समझना चाहिए। यह बात इस प्रकार स्पष्टता से नहीं कही गई है परन्तु पञ्च० द्वा० ३की २५वीं गाथा की टीका देखने से इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं रहता क्योंकि उसमें सूक्ष्मसंपराय-चारित्र को, जो दसवें गुणस्थान में ही होता है, क्षायोपशमिक कहा है।

उपशमश्रेणिवाले आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय के उपशम का आरम्भ या कुछ प्रकृतियों का उपशम होने के कारण औपशमिक चारित्र, जैसे पञ्चसंग्रह टीका में माना गया है, वैसे ही क्षपकश्रेणिवाले आठवें आदि तीनों गुणस्थान में चारित्रमोहनीय के क्षय का आरम्भ या कुछ प्रकृतियों का क्षय होने के कारण क्षायिकचारित्र मानने में कोई विरोध नहीं दीख पड़ता।

गोम्मटसार में उपशमश्रेणिवाले आठवें आदि चारों गुणस्थान में चारित्र औपशमिक ही माना है और क्षायोपशमिक का स्पष्ट निषेध किया है। इसी तरह क्षपकश्रेणिवाले चार गुणस्थान में क्षायिक चारित्र ही मानकर क्षायोपशमिक का

निषेध किया है। यह बात कर्मकाण्ड की ८४५ और ८४६वीं गाथाओं के देखने से स्पष्ट हो जाती है।

---

(१९) 'भाव'

यह विचार एक जीव में किसी विवक्षित समय में पाए जानेवाले भावों का है।

एक जीव में भिन्न-भिन्न समय में पाए जानेवाले भाव और अनेक जीव में एक समय में या भिन्न-भिन्न समय में पाए जानेवाले भाव प्रसङ्ग-वश लिखे जाते हैं। पहले तीन गुणस्थानों में औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक, ये तीन भाव, चौथे से ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानों में पाँचों भाव, बारहवें गुणस्थान में औपशमिक के सिवाय चार भाव और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में औपशमिक-क्षायोपशमिक के सिवाय तीन भाव होते हैं।

अनेक जीवों की अपेक्षा से गुणस्थानों में भावों के उत्तर भेद—

क्षायोपशमिक—पहले दो गुणस्थानों में तीन अज्ञान, चक्षु आदि दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ, ये १०; तीसरे में तीन ज्ञान, तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ, ये १२; चौथे में तीसरे गुणस्थानवाले १२ किन्तु मिश्रदृष्टि के स्थान में सम्यक्त्व; पाँचवें में चौथे गुणस्थानवाले बारह तथा देशविरति, कुल १३; छठे, सातवें में उक्त तेरह में से देश-विरति को घटाकर उनमें सर्वविरति और मनःपर्यवज्ञान मिलाने से १४; आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानों में उक्त चौदह में से सम्यक्त्व के सिवाय शेष १३; ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में उक्त तेरह में से चारित्र को छोड़कर शेष १२ क्षायोपशमिक भाव हैं। तेरहवें और चौदहवें में क्षायोपशमिकभाव नहीं है।

औदयिक—पहले गुणस्थान में अज्ञान आदि २१; दूसरे में मिथ्यात्व के सिवाय २०; तीसरे-चौथे में अज्ञान को छोड़ १९; पाँचवें में देवगति, नारकगति के सिवाय उक्त उन्नीस में से शेष १७, छठे में तिर्यञ्चगति और असंयम घटाकर १५; सातवें में कृष्ण आदि तीन लेश्याओं को छोड़कर उक्त पन्द्रह में से शेष १२; आठवें-नौवें में तेजः और पद्म-लेश्या के सिवाय १०; दसवें में क्रोध, मान, माया और तीन वेद के सिवाय उक्त दस में से शेष ४; ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में संज्वलनलोभ को छोड़ शेष ३ और चौदहवें गुणस्थान में शुक्लेश्या के सिवाय तीन में से मनुष्यगति और असिद्धत्व, ये दो औदयिकभाव हैं।

क्षायिक--पहले तीन गुणस्थानों में क्षायिकभाव नहीं हैं। चौथे से ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानों में सम्यक्त्व, बारहवें में सम्यक्त्व और चारित्र दो और तेरहवें-चौदहवें दो गुणस्थानों में नौ क्षायिकभाव हैं।

औपशमिक—पहले तीन और बारहवें आदि तीन, इन छह गुणस्थानों में औपशमिकभाव नहीं हैं। चौथे से आठवें तक पाँच गुणस्थानों में सम्यक्त्व, नौवें से ग्यारहवें तक तीन गुणस्थानों में सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो औपशमिकभाव हैं।

पारिणामिक--पहले गुणस्थान में जीवत्व आदि तीनों; दूसरे से बारहवें तक ग्यारह गुणस्थानों में जीवत्व, भव्यत्व दो और तेरहवें-चौदहवें में जीवत्व ही पारिणामिकभाव है। भव्यत्व अनादि-सान्त है। क्योंकि सिद्ध-अवस्था में उसका अभाव हो जाता है। घातिकर्म क्षय होने के बाद सिद्ध-अवस्था प्राप्त होने में बहुत विलंब नहीं लगता, इस अपेक्षा से तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में भव्यत्व पूर्वाचार्यों ने नहीं माना है।

गोम्मटसार-कर्मकाण्ड की ८२० से ८७५ तक की गाथाओं में स्थान-गत तथा पद-गत भङ्ग-द्वारा भावों का बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

एक-जीवाश्रित भावों के उत्तर भेद—

क्षायोपशमिक—पहले दो गुणस्थान में मति-श्रुत दो या विभङ्गसहित तीन अज्ञान, अचक्षु एक या चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ; तीसरे में दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ; चौथे में दो या तीन ज्ञान, अपर्याप्त-अवस्था में अचक्षु एक या अवधिसहित दो दर्शन, और पर्याप्त-अवस्था में दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, पाँच लब्धियाँ, पाँचवे में दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, देशविरति, पाँच लब्धियाँ; छठे-सातवें में दो तीन या मनःपर्यायपर्यन्त चार ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, पाँच लब्धियाँ; आठवें, नौवें और दसवें में सम्यक्त्व को छोड़ छठे और सातवें गुणस्थानवाले सब क्षायोपशमिक भाव। ग्यारहवें-बारहवें में चारित्र को छोड़ दसवें गुणस्थान वाले सब भाव।

औदयिक—पहले गुणस्थान में अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, एक लेश्या, एक कषाय, एक गति, एक वेद और मिथ्यात्व; दूसरे में मिथ्यात्व को छोड़ पहले गुणस्थान वाले सव औदयिक; तीसरे, चौथे और पाँचवें में अज्ञान को छोड़ दूसरे वाले सब; छठे से लेकर नौवें तक में असंयम के सिवाय पाँचवें वाले सब; दसवें में वेद के सिवाय नौवें वाले सब; ग्यारहवें-बारहवें में कषाय के सिवाय

दसवें वाले सब; तेरहवें में असिद्धत्व, लेश्या और गति; चौदहवें में गति और असिद्धत्व।

क्षायिक—चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक में सम्यक्त्व, बारहवें में सम्यक्त्व और चारित्र दो और तेरहवें-चौदहवें में—नौ क्षायिक भाव।

औपशमिक—चौथे से आठवें तक सम्यक्त्व; नौवें से ग्यारहवें तक सम्यक्त्व और चारित्र।

पारिणामिक—पहले में तीनों; दूसरे से बारहवें तक में जीवत्व और भव्यत्व दो; तेरहवें और चौदहवें में एक जीवत्व।

ई० १९२२] [चौथा कर्मग्रन्थ

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के समान-असमान मन्तव्य[1]

समान मन्तव्य

निश्चय और व्यवहार-दृष्टि से जीव शब्द की व्याख्या दोनों संप्रदाय में तुल्य है। पृष्ठ–४। इस संबन्ध में जीवकाण्ड का 'प्राणाधिकार' प्रकरण और उसकी टीका देखने योग्य है।

मार्गणास्थान शब्द की व्याख्या दोनों संप्रदाय में समान है। पृष्ठ–४।

गुणस्थान शब्द की व्याख्या-शैली कर्मग्रन्थ और जीवकाण्ड में भिन्न-सी है, पर उसमें तात्त्विक अर्थ-भेद नहीं है। पृष्ठ–४।

उपयोग का स्वरूप दोनों सम्प्रदायों में समान माना गया है। पृष्ठ–५।

कर्मग्रन्थ में अपर्याप्त संज्ञी को तीन गुणस्थान माने हैं, किन्तु गोम्मटसार में पाँच माने हैं। इस प्रकार दोनों का संख्याविषयक मतभेद है, तथापि वह अपेक्षाकृत है, इसलिए वास्तविक दृष्टि से उसमें समानता ही है। पृष्ठ–१२।

केवलज्ञानी के विषय में संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व का व्यवहार दोनों संप्रदाय के शास्त्रों में समान है। पृष्ठ–१३।

वायुकाय के शरीर की ध्वजाकारता दोनों संप्रदाय को मान्य है। पृष्ठ–२०।

छाद्मस्थिक उपयोगों का काल-मान अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण दोनों संप्रदायों को मान्य है। पृष्ठ–२०, नोट।

भावलेश्या के संबन्ध की स्वरूप, दृष्टान्त आदि अनेक बातें दोनों संप्रदाय में तुल्य हैं। पृष्ठ–३३।

चौदह मार्गणाओं का अर्थ दोनों संप्रदाय में समान है तथा उनकी मूल गाथाएँ भी एक-सी हैं। पृष्ठ–४७, नोट।

सम्यक्त्व की व्याख्या दोनो संप्रदाय में तुल्य है। पृष्ठ–५०, नोट।

व्याख्या कुछ भिन्न सी होने पर भी आहार के स्वरूप में दोनों संप्रदाय का

---

१. इसमें सभी पृष्ठ संख्या जहाँ ग्रन्थ नाम नहीं है वहाँ हिन्दी चौथे कर्मग्रन्थ की समझी जाय।

तात्त्विक भेद नहीं है। श्वेताम्बर-ग्रन्थों में सर्वत्र आहार के तीन भेद हैं और दिगम्बर-ग्रन्थों में कहीं छह भेद भी मिलते हैं। पृष्ठ—५०, नोट।

परिहारविशुद्ध संयम का अधिकारी कितनी उम्र का होना चाहिए, उसमें कितना ज्ञान आवश्यक है और वह संयम किसके समीप ग्रहण किया जा सकता है और उसमें विहार आदि का कालनियम कैसा है, इत्यादि उसके सम्बन्ध की बातें दोनों संप्रदाय में बहुत अंशों में समान हैं। पृष्ठ—५६, नोट।

क्षायिकसम्यक्त्व जिनकालिक मनुष्य को होता है, यह बात दोनों संप्रदाय को इष्ट है। पृष्ठ—६६, नोट।

केवली में द्रव्यमन का संबन्ध दोनों संप्रदाय में इष्ट है। पृष्ठ-१०१, नोट।

मिश्रसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मति आदि उपयोगों की ज्ञान-अज्ञान उभयरूपता गोम्मटसार में भी है। पृष्ठ—१०६, नोट।

गर्भज मनुष्यों की संख्या के सूचक उन्तीस अङ्क दोनों संप्रदाय में तुल्य हैं। पृष्ठ—११७, नोट।

इन्द्रियमार्गणा में द्वीन्द्रिय आदि का और कायमार्गणा में तेजःकाय आदि का विशेषाधिकत्व दोनों संप्रदाय में समान इष्ट है। पृष्ठ—१२२, नोट।

वक्रगति में विग्रहों की संख्या दोनों संप्रदाय में समान है। फिर भी श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में कहीं-कहीं जो चार विग्रहों का मतान्तर पाया जाता है, वह दिगम्बरीय ग्रन्थों में देखने में नहीं आया। तथा वक्रगति का काल-मान दोनों सम्प्रदाय में तुल्य है। वक्रगति में अनाहारकत्व का काल-मान, व्यवहार और निश्चय, दो दृष्टियों से विचारा जाता है। इनमें से व्यवहार-दृष्टि के अनुसार श्वेताम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ में विचार है और निश्चय-दृष्टि के अनुसार दिगम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ में विचार है। अतएव इस विषय में भी दोनों सम्प्रदाय का वास्तविक मत-भेद नहीं है। पृष्ठ १४३।

अवधिदर्शन में गुणस्थानों की संख्या के विषय में सैद्धान्तिक एक और कार्मग्रन्थिक दो, ऐसे जो तीन पक्ष हैं, उनमें से कार्मग्रन्थिक दोनों ही पक्ष दिगम्बरीय ग्रन्थों में मिलते हैं। पृष्ठ—१४६।

केवलज्ञानी में आहारकत्व, आहार का कारण असातवेदनीय का उदय और औदारिक पुद्गलों का ग्रहण, ये तीनों बातें दोनों सम्प्रदाय में समान मान्य हैं। पृष्ठ—१४८।

गुणस्थान में जीवस्थान का विचार गोम्मटसार में कर्मग्रन्थ की अपेक्षा कुछ भिन्न जान पड़ता है। पर वह अपेक्षाकृत होने से वस्तुतः कर्मग्रन्थ के समान ही है। पृष्ठ—१६१, नोट।

गुणस्थान में उपयोग की संख्या कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार में तुल्य है। पृष्ठ–१६७, नोट।

एकेन्द्रिय में सासादनभाव मानने और न माननेवाले, ऐसे जो दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हैं, दिगम्बर-ग्रन्थों में भी हैं। पृष्ठ–१७१, नोट।

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में जो कहीं कर्मबन्ध के चार हेतु, कहीं दो हेतु और कहीं पाँच हेतु कहे हुए हैं; दिगम्बर ग्रन्थों में भी वे सब वर्णित हैं। पृष्ठ–१७४, नोट।

बन्ध-हेतुओं के उत्तर भेद आदि दोनों संप्रदाय में समान हैं। पृष्ठ–१७५, नोट।

सामान्य तथा विशेष बन्ध-हेतुओं का विचार दोनों संप्रदाय के ग्रन्थों में है। पृष्ठ–१८१, नोट।

एक संख्या के अर्थ में रूप शब्द दोनों संप्रदाय के ग्रन्थों में मिलता है। पृष्ठ–२१८, नोट।

कर्मग्रन्थ में वर्णित दस तथा छह क्षेप त्रिलोकसार में भी हैं। पृष्ठ–२२१, नोट।

उत्तर प्रकृतियों के मूल बन्ध-हेतु का विचार जो सर्वार्थसिद्धि में है, वह पञ्चसंग्रह में किये हुए विचार से कुछ भिन्न-सा होने पर भी वस्तुतः उसके समान ही है। पृष्ठ–२२७।

कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसंग्रह में एक जीवाश्रित भावों का जो विचार है, गोम्मटसा में बहुत अंशों में उसके समान ही वर्णन है। पृष्ठ–२२९।

असमान मन्तव्य

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में तेजःकाय के वैक्रिय शरीर का कथन नहीं है, पर दिगम्बर-ग्रन्थों में है। पृष्ठ–१९, नोट।

श्वेताम्बर संप्रदाय की अपेक्षा दिगम्बर संप्रदाय में संज्ञी-असंज्ञी का व्यवहार कुछ भिन्न है। तथा श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हेतुवादोपदेशिकी आदि संज्ञाओं का विस्तृत वर्णन है, पर दिगम्बर-ग्रंथो में नहीं है। पृष्ठ–३९।

श्वेताम्बर-शास्त्र-प्रसिद्ध करणपर्याप्त शब्द के स्थान में दिगम्बर-शास्त्र में निर्वृत्त्यपर्याप्त शब्द है। व्याख्या भी दोनों शब्दों की कुछ भिन्न है। पृष्ठ–४१।

श्वेताम्बर-ग्रंथों में केवलज्ञान तथा केवलदर्शन का क्रमभावित्व, सहभावित्व और अभेद ये तीन पक्ष हैं, परन्तु दिगम्बर-ग्रंथों में सहभावित्व का एक ही पक्ष है। पृष्ठ–४३।

लेश्या तथा आयु के बन्धाबन्ध की अपेक्षा से कषाय के जो चौदह और बीस भेद गोम्मटसार में हैं, वे श्वेताम्बर-ग्रन्थों में नहीं देखे गए। पृष्ठ–५५, नोट।

अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्त्व पाए जाने और न पाए जाने के संबन्ध में दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हैं, परन्तु गोम्मटसार में उक्त दो में से पहिला पक्ष ही है। पृष्ठ–७०, नोट।

अज्ञान-त्रिक में गुणस्थानों की संख्या के संबन्ध में दो पक्ष कर्म-ग्रन्थ में मिलते हैं, परन्तु गोम्मटसार में एक ही पक्ष है। पृष्ठ–८२, नोट।

गोम्मटसार में नारकों की संख्या कर्मग्रन्थ-वर्णित संख्या से भिन्न है। पृष्ठ–११९, नोट।

द्रव्यमन का आकार तथा स्थान दिगम्बर संप्रदाय में श्वेताम्बर की अपेक्षा भिन्न प्रकार का माना है और तीन योगों के बाह्याभ्यन्तर कारणों का वर्णन राजवार्तिक में बहुत स्पष्ट किया है। पृष्ठ–१३४।

मनःपर्यायज्ञान के योगों की संख्या दोनों संप्रदाय में तुल्य नहीं है। पृष्ठ-१५४।

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में जिस अर्थ के लिए आयोजिकाकरण, आवर्जितकरण और आवश्यककरण, ऐसी तीन संज्ञाएँ मिलती हैं, दिगम्बर-ग्रन्थों में उस अर्थ के लिए सिर्फ आवर्जितकरण, यह एक संख्या है। पृष्ठ-१५५।

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में काल को स्वतन्त्र द्रव्य भी माना है और उपचरित भी। किन्तु दिगम्बर-ग्रन्थों में उसको स्वतन्त्र ही माना है। स्वतन्त्र पक्ष में भी काल का स्वरूप दोनों संप्रदाय के ग्रन्थों में एक सा नहीं है। पृष्ठ-१५७।

किसी-किसी गुणस्थान में योगों की संख्या गोम्मटसार में कर्म-ग्रन्थ की अपेक्षा भिन्न है। पृष्ठ-१६३, नोट।

दूसरे गुणस्थान के समय ज्ञान तथा अज्ञान माननेवाले ऐसे दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हैं, परन्तु गोम्मटसार में सिर्फ दूसरा पक्ष है। पृष्ठ-१६९, नोट।

गुणस्थानों में लेश्या की संख्या के संबन्ध में श्वेताम्बर ग्रन्थों में दो पक्ष हैं और दिगम्बर-ग्रन्थों में सिर्फ एक पक्ष है। पृष्ठ–१७२, नोट।

जीव सम्यक्त्वसहित मरकर स्त्री रूप में पैदा नहीं होता, यह बात दिगम्बर संप्रदाय को मान्य है, परन्तु श्वेताम्बर संप्रदाय को यह मन्तव्य इष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें भगवान् मल्लिनाथ का स्त्री-वेद तथा सम्यक्त्वसहित उत्पन्न होना माना गया है। [चौथा कर्मग्रन्थ

कर्मग्रन्थिकों और सैद्धान्तिकों का मतभेद

सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि दस जीवस्थानों में तीन उपयोगों का कथन कार्मग्रन्थिक मत का फलित है। सैद्धान्तिक मत के अनुसार तो छह जीवस्थानों में ही तीन उपयोग फलित होते हैं और द्वीन्द्रिय आदि शेष चार जीवस्थानों में पाँच उपयोग फलित होते हैं। पृ०—२२, नोट।

अवधिदर्शन में गुणस्थानों की संख्या के संबन्ध में कार्मग्रन्थिकों तथा सैद्धान्तिकों का मत-भेद है। कार्मग्रन्थिक उसमें नौ तथा दस गुणस्थान मानते हैं और सैद्धान्तिक उसमें बारह गुणस्थान मानते हैं। पृ०–१४६।

सैद्धान्तिक दूसरे गुणस्थान में ज्ञान मानते हैं, पर कार्मग्रन्थिक उसमें अज्ञान मानते हैं। पृ०—१६६, नोट।

वैक्रिय तथा आहारक-शरीर बनाते और त्यागते समय कौन-सा योग मानना चाहिए, इस विषय में कार्मग्रंथिकों का और सैद्धान्तिकों का मत-भेद है। पृ०–१७०, नोट।

ग्रंथिभेद के अनन्तर कौन-सा सम्यक्त्व होता है, इस विषय में सिद्धान्त तथा कर्मग्रंथ का मत-भेद है। पृ०–१७१। [चौथा कर्मग्रन्थ

चौथा कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसंग्रह

जीवस्थानों में योग का विचार पञ्चसंग्रह में भी है। पृ०–१५, नोट।

अपर्याप्त जीवस्थान के योगों के संबन्ध का मत-भेद जो इस कर्म-ग्रंथ में है, वह पञ्चसंग्रह की टीका में विस्तारपूर्वक है। पृ०–१६।

जीवस्थानों में उपयोगों का विचार पञ्चसंग्रह में भी है। पृ०—२०, नोट।

कर्मग्रन्थकार ने विभङ्गज्ञान में दो जीवस्थानों का और पञ्चसंग्रहकार ने एक जीवस्थान का उल्लेख किया है। पृ०–६८, नोट।

अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिकसम्यक्त्व पाया जा सकता है, यह बात पञ्चसंग्रह में भी है। पृ०–७० नोट।

पुरुषों से स्त्रियों की संख्या अधिक होने का वर्णन पञ्चसंग्रह में है। पृ०–१२५, नोट।

पञ्चसंग्रह में भी गुणस्थानों को लेकर योगों का विचार है। पृ०–१६३, नोट।

गुणस्थान में उपयोग का वर्णन पञ्चसंग्रह में है। पृ०–१६७, नोट।

बन्ध-हेतुओं के उत्तर भेद तथा गुणस्थानों में मूल बन्ध-हेतुओं का विचार पञ्चसंग्रह में है। पृ०-१७१, नोट।

सामान्य तथा विशेष बन्ध-हेतुओं का वर्णन पञ्चसंग्रह में विस्तृत है। पृ०-१८१, नोट।

गुणस्थानों में बन्ध, उदय आदि का विचार पञ्चसंग्रह में है। पृ०-१८७, नोट।

गुणस्थानों में अल्प बहुत्व का विचार पञ्चसंग्रह में है। पृ०-१९२, नोट।

कर्म के भाव पञ्चसंग्रह में हैं। पृ०—२०४, नोट।

उत्तर प्रकृतियों के मूल बन्ध-हेतु का विचार कर्मग्रन्थ और पञ्चसंग्रह में भिन्न-भिन्न शैली का है। पृ०-२२७।

एक जीवाश्रित भावों की संख्या मूल कर्मग्रन्थ तथा मूल पञ्चसंग्रह में भिन्न नहीं है, किन्तु दोनों की व्याख्याओं में देखने योग्य थोड़ा सा विचार-भेद है। पृ०-२२९। [चौथा कर्मग्रन्थ

चौथे कर्मग्रन्थ के कुछ विशेष स्थल

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान का पारस्परिक अन्तर। पृ०-५।

परभव की आयु बाँधने का समय-विभाग अधिकारी-भेद के अनुसार किस-किस प्रकार का है? इसका खुलासा। पृ०-२५, नोट।

उदीरणा किस प्रकार के कर्म की होती है और वह कब तक हो सकती है? इस विषय का नियम। पृ०-२६, नोट।

द्रव्य-लेश्या के स्वरूप के संबन्ध में कितने पक्ष हैं? उन सबका आशय क्या है? भावलेश्या क्या वस्तु है और महाभारत में, योगदर्शन में तथा गोशालक के मत में लेश्या के स्थान में कैसी कल्पना है? इत्यादि का विचार। पृ०-३३।

शास्त्र में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जो इन्द्रिय-सापेक्ष प्राणियों का विभाग है वह किस अपेक्षा से? तथा इन्द्रिय के कितने भेद-प्रभेद हैं और उनका क्या स्वरूप है? इत्यादि का विचार। पृ०—३६।

संज्ञा का तथा उसके भेद-प्रभेदों का स्वरूप और संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व के व्यवहार का नियामक क्या है? इत्यादि पर विचार। पृ०—३८।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त और उसके भेद आदि का स्वरूप तथा पर्याप्ति का स्वरूप। पृ०—४०।

केवलज्ञान तथा केवलदर्शन के क्रमभावित्व, सहभावित्व और अभेद, इन तीन पक्षों की मुख्य-मुख्य दलीलें तथा उक्त तीन पक्ष किस-किस नय की अपेक्षा से हैं ? इत्यादि का वर्णन । पृ०—४३ ।

बोलने तथा सुनने की शक्ति न होने पर भी एकेन्द्रिय में श्रुत-उपयोग स्वीकार किया जाता है, सो किस तरह ? इस पर विचार । पृ०—४५ ।

पुरुष व्यक्ति में स्त्री-योग्य और स्त्री व्यक्ति में पुरुष-योग्य भाव पाए जाते हैं और कभी तो किसी एक ही व्यक्ति में स्त्री-पुरुष दोनों के बाह्याभ्यन्तर लक्षण होते हैं । इसके विश्वस्त सबूत । पृ०–५३, नोट ।

श्रावकों की दया जो सवा विश्वा कही जाती है, उसका खुलासा । पृ०—६१, नोट ।

मनःपर्याय-उपयोग को कोई आचार्य दर्शनरूप भी मानते हैं, इसका प्रमाण । पृ०–६२, नोट ।

जातिभव्य किसको कहते हैं ? इसका खुलासा । पृ०–६५, नोट ।

औपशमिकसम्यक्त्व में दो जीवस्थान माननेवाले और एक जीवस्थान मानने वाले आचार्य अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिए अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व पाए जाने और न पाए जाने के विषय में क्या क्या युक्ति देते हैं ? इसका सविस्तर वर्णन । पृ० – ७०, नोट ।

संमूर्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति के क्षेत्र और स्थान तथा उनकी आयु और योग्यता जानने के लिए आगमिक-प्रमाण । पृ०—७२, नोट ।

स्वर्ग से च्युत होकर देव किन स्थानों में पैदा होते हैं ? इसका कथन । पृ०—७३, नोट ।

चक्षुर्दर्शन में कोई तीन ही जीवस्थान मानते हैं और कोई छह । यह मत-भेद इन्द्रियपर्याप्ति की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं पर निर्भर है । इसका सप्रमाण कथन । पृ०—७६, नोट ।

कर्मग्रन्थ में असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के स्त्री और पुरुष, ये दो भेद माने हैं और सिद्धान्त में एक नपुंसक, सो किस अपेक्षा से ? इसका प्रमाण । पृ०—८८, नोट ।

अज्ञान-त्रिक में दो गुणस्थान माननेवालों का तथा तीन गुणस्थान माननेवालों का आशय क्या है ? इसका खुलासा । पृ०—८२ ।

कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं में छह गुणस्थान इस कर्मग्रन्थ में माने हुए हैं और पञ्चसंग्रह आदि ग्रन्थों में उक्त तीन लेश्याओं में

चार गुणस्थान माने हैं। सो किस अपेक्षा से ? इसका प्रमाण पूर्वक खुलासा। पृ०—८८।

जब मरण के समय ग्यारह गुणस्थान पाए जाने का कथन है, तब विग्रह-गति में तीन ही गुणस्थान कैसे माने गए ? इसका खुलासा। पृ०—८९।

स्त्रीवेद में तेरह योगों का तथा वेद सामान्य में बारह उपयोगों का और नौ गुणस्थानों का जो कथन है, सो द्रव्य और भावों में से किस-किस प्रकार के वेद को लेने से घट सकता है ? इसका खुलासा। पृ०—९७, नोट।

उपशमसम्यक्त्व के योगों में औदारिकमिश्रयोग का परिगणन है, सो किस तरह सम्भव है ? इसका खुलासा। पृ०—९८।

मार्गणाओं में जो अल्पबहुत्व का विचार कर्मग्रन्थ में है, वह आगम आदि किन प्राचीन ग्रन्थों में है ? इसकी सूचना। पृ०—११५, नोट।

काल की अपेक्षा क्षेत्र की सूक्ष्मता का सप्रमाण कथन। पृ०—१७७ नोट।

शुक्ल, पद्म और तेजो-लेश्यावालों के संख्यातगुण अल्प-बहुत्व पर शङ्का-समाधान तथा उस विषय में टबाकार का मन्तव्य। पृ०—१३०, नोट।

तीन योगों का स्वरूप तथा उनके बाह्य-आभ्यन्तर कारणों का स्पष्ट कथन और योगों की संख्या के विषय में शङ्का-समाधान तथा द्रव्यमन, द्रव्यवचन और शरीर का स्वरूप। पृ०—१३४,

सम्यक्त्व सहेतुक है या निर्हेतुक ? क्षायोपशमिक आदि भेदों का आधार, औपशमिक और क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व का आपस में अन्तर, क्षायिक सम्यक्त्व की उन दोनों से विशेषता, कुछ शङ्का-समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदय का स्वरूप, क्षयोपशम तथा उपशम-शब्द की व्याख्या, एवं अन्य प्रासङ्गिक विचार। पृ०—१३६।

अपर्याप्त-अवस्था में इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहिले चक्षुर्दर्शन नहीं माने जाने और चक्षुर्दर्शन माने जाने पर प्रमाण पूर्वक विचार। पृ०—१४१।

वक्रगति के संबन्ध में तीन बातों पर सविस्तर विचार—(१) वक्रगति के विग्रहों की संख्या, (२) वक्रगति का काल-मान और (३) वक्रगति में अनाहारकत्व का काल-मान। पृ०—१४३।

अवधि दर्शन में गुणस्थानों की संख्या के विषय में पक्ष-भेद तथा प्रत्येक पक्ष का तात्पर्य अर्थात् विभङ्ग ज्ञान से अवधिदर्शन का भेदाभेद। पृ०-१४६।

श्वेताम्बर-दिगम्बर संप्रदाय में कवलाहार-विषयक मत-भेद का समन्वय। पृ०—१४८।

केवल ज्ञान प्राप्त कर सकने वाली स्त्रीजाति के लिए श्रुतज्ञान विशेष का

अर्थात् दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध करना, यह एक प्रकार से विरोध है। इस संबन्ध में विचार तथा नय-दृष्टि से विरोध का परिहार। पृ०—१४६।

चक्षुर्दर्शन के योगों में से औदारिक मिश्र योग का वर्जन किया है, सो किस तरह सम्भव है? इस विषय पर विचार। पृ०—१५४।

केवलिसमुद्घात संबन्धी अनेक विषयों का वर्णन, उपनिषदों में तथा गीता में जो आत्मा की व्यापकता का वर्णन है, उसका जैन-दृष्टि से मिलान और केवलिसमुद्घात-जैसी क्रिया का वर्णन अन्य किस दर्शन में है? इसकी सूचना। पृ०—१५५।

जैनदर्शन में तथा जैनेतर-दर्शन में काल का स्वरूप किस-किस प्रकार का माना है? तथा उसका वास्तविक स्वरूप कैसा मानना चाहिए? इसका प्रमाण-पूर्वक विचार। पृ०—१५७।

छह लेश्या का संबन्ध चार गुणस्थान तक मानना चाहिए या छह गुण-स्थान तक? इस संबन्ध में जो पक्ष हैं, उनका आशय तथा शुभ भावलेश्या के समय अशुभ द्रव्य लेश्या और अशुभ द्रव्य लेश्या के समय शुभ भावलेश्या, इस प्रकार लेश्याओं की विषमता किन जीवों में होती है? इत्यादि विचार। पृ०—१०२, नोट।

कर्मबन्ध के हेतुओं की भिन्न-भिन्न संख्या तथा उसके संबन्ध में कुछ विशेष ऊहापोह। पृ०—१७४, नोट।

आभिग्रहिक अनाभिग्रहिक और आभिनिवेशिक-मिथ्यात्व का शास्त्रीय खुलासा। पृ०—१७६, नोट।

तीर्थंकरनामकर्म और आहारक-द्विक, इन तीन प्रकृतियों के बन्ध को कहीं कषाय-हेतुक कहा है और कहीं तीर्थंकरनामकर्म के बन्ध को सम्यक्त्व-हेतुक तथा आहारक द्विक के बन्ध को संयम-हेतुक, सो किस अपेक्षा से? इसका खुलासा। पृ०–१८१, नोट।

छह भाव और उनके भेदों का वर्णन अन्यत्र कहाँ-कहाँ मिलता है? इसकी सूचना। पृ०–१९६, नोट।

मति आदि अज्ञानों को कहीं क्षायोपशमिक और कहीं औदयिक कहा है, सो किस अपेक्षा से? इसका खुलासा। पृ० १९९, नोट।

संख्या का विचार अन्य कहाँ-कहाँ और किस-किस प्रकार है? इसका निर्देश। पृ०–२०८, नोट।

युगपद् तथा भिन्न-भिन्न समय में एक या अनेक जीवाश्रित पाए जाने-वाले भाव और अनेक जीवों की अपेक्षा से गुणस्थानों में भावोंक उत्तर भेद। पृ०—२३१। [चौथा कर्मग्रन्थ

'प्रमाण मीमांसा'[1]

आभ्यन्तर स्वरूप

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रमाण मीमांसा का ठीक-ठीक और वास्तविक परिचय पाने के लिए यह अनिवार्य रूप से जरूरी है कि उसके आभ्यन्तर और बाह्य स्वरूप का स्पष्ट विश्लेषण किया जाए तथा जैन तर्क साहित्य में और तद्द्वारा तार्किक दर्शन साहित्य में प्रमाण मीमांसा का क्या स्थान है, यह भी देखा जाए।

आचार्य ने जिस दृष्टि को लेकर प्रमाण मीमांसा का प्रणयन किया है और उसमें प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय आदि जिन तत्त्वों का निरूपण किया है उस दृष्टि और उन तत्त्वों के हार्द का स्पष्टीकरण करना यही ग्रन्थ के आभ्यन्तर स्वरूप का वर्णन है। इसके वास्ते यहाँ नीचे लिखे चार मुख्य मुद्दों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाता है—

(१) जैन दृष्टि का स्वरूप (२) जैन दृष्टि की अपरिवर्तिष्णुता (३) प्रमाणशक्ति की मर्यादा (४) प्रमेय प्रदेश का विस्तार।

१. जैन दृष्टि का स्वरूप

भारतीय दर्शन मुख्यतया दो विभागों में विभाजित हो जाते हैं। कुछ तो हैं वास्तववादी और कुछ हैं अवास्तववादी। जो स्थूल अर्थात् लौकिक प्रमाणगम्य जगत को भी वैसा ही वास्तविक मानते हैं जैसा सूक्ष्म लोकोत्तर प्रमाणगम्य जगत को अर्थात् जिनके मतानुसार व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य में कोई भेद नहीं; सत्य सब एक कोटि का है चाहे मात्रा न्यूनाधिक हो अर्थात् जिनके मतानुसार भान चाहे न्यूनाधिक और स्पष्ट-अस्पष्ट हो पर प्रमाण मात्र में भासित होनेवाले सभी स्वरूप वास्तविक हैं तथा जिनके मतानुसार वास्तविक रूप भी वाणी प्रकाश्य हो सकते हैं—वे दर्शन वास्तववादी हैं। इन्हें विधिमुख, इदमित्थंवादी या एवंवादी भी कह सकते हैं—जैसे चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, सांख्ययोग, वैभाषिक-सौत्रान्तिक बौद्ध और माध्वादि वेदान्त।

जिनके मतानुसार बाह्य दृश्य जगत मिथ्या है और आन्तरिक जगत ही परम

---

१ आचार्य हेमचन्द्र कृत 'प्रमाण मीमांसा' की प्रस्तावना, ई० १६३६।

सत्य है; अर्थात् जो दर्शन सत्य के व्यावहारिक और पारमार्थिक अथवा सांवृतिक और वास्तविक ऐसे दो भेद करके लौकिक प्रमाणगम्य और वाणीप्रकाश्य भाव को अवास्तविक मानते हैं, वे अवास्तववादी हैं। इन्हें निषेधमुख या अनेवंवादी भी कह सकते हैं। जैसे शून्यवादी-विज्ञानवादी बौद्ध और शांकरवेदान्त आदि दर्शन।

प्रकृति से अनेकान्तवादी होते हुए भी जैन दृष्टि का स्वरूप एकान्ततः वास्तववादी ही है क्योंकि उसके मतानुसार भी इन्द्रियजन्य मतिज्ञान आदि में भासित होनेवाले भावों के सत्यत्व का वही स्थान है जो पारमार्थिक केवलज्ञान में भासित होनेवाले भावों के सत्यत्व का स्थान है अर्थात् जैन मतानुसार दोनों सत्य की मात्रा में अन्तर है, योग्यता व गुण में नहीं। केवल ज्ञान में द्रव्य और उनके अनन्य पर्याय जिस यथार्थता से जिस रूप से भासित होते हैं उसी यथार्थता और उसी रूप से कुछ द्रव्य और उनके कुछ ही पर्याय मतिज्ञान आदि में भी भासित हो सकते हैं। इसी से जैन दर्शन अनेक सूक्ष्मतम भावों की अनिर्वचनीयता को मानता हुआ भी निर्वचनीय भावों को यथार्थ मानता है, जब कि शून्यवादी और शांकर वेदांत आदि ऐसा नहीं मानते।

२. जैन दृष्टि की अपरिवर्तिष्णुता

जैन दृष्टि का जो वास्तववादित्व स्वरूप ऊपर बताया गया वह इतिहास के प्रारंभ से अब तक एक ही रूप में रहा है या उसमें कभी किसी के द्वारा थोड़ा बहुत परिवर्त्तन हुआ है, यह एक बड़े महत्व का प्रश्न है। इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह होता है कि अगर जैन दृष्टि सदा एक सी स्थितिशील रही और बौद्ध वेदान्त दृष्टि की तरह उसमें परिवर्तन या चिन्तन विकास नहीं हुआ तो इसका क्या कारण?

भगवान महावीर का पूर्व समय जब से थोड़ा बहुत भी जैन परम्परा का इतिहास पाया जाता है तब से लेकर आजतक जैन दृष्टि का वास्तववादित्व स्वरूप बिलकुल अपरिवर्तिष्णु या ध्रुव ही रहा है। जैसा कि न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसक, सांख्य योग आदि दर्शनों का भी वास्तववादित्व अपरिवर्तिष्णु रहा है। बेशक न्याय वैशेषिक आदि उक्त दर्शनों की तरह जैन दर्शन के साहित्य में भी प्रमाण प्रमेय आदि सब पदार्थों की व्याख्याओं में लक्षण-प्रणयन में और उनकी उपपत्ति में उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विकास तथा स्पष्टता हुई है, यहाँ तक कि नव्य न्याय के परिष्कार का आश्रय लेकर भी यशोविजयजी जैसे जैन विद्वानों ने व्याख्या एवं लक्षणों का विश्लेषण किया है फिर भी इस सारे ऐतिहासिक समय में जैन

दृष्टि के वास्तववादित्व स्वरूप में एक अंश भी फर्क नहीं पड़ा है जैसा कि बौद्ध और वेदांत परंपरा में हम पाते हैं।

बौद्ध परंपरा शुरू में वास्तववादी ही रही पर महायान की विज्ञानवादी और शून्यवादी शाखा ने उसमें आमूल परिवर्तन कर डाला। उसका वास्तववादित्व ऐकान्तिक अवास्तववादित्व में बदल गया। यही है बौद्ध परंपरा का दृष्टि परिवर्तन। वेदान्त परंपरा में भी ऐसा ही हुआ। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र में जो अवास्तववादित्व के अस्पष्ट बीज थे और जो वास्तववादित्व के स्पष्ट सूचन थे उन सब का एकमात्र अवास्तववादित्व अर्थ में तात्पर्य बतलाकर शंकराचार्य ने वेदांत में अवास्तववादित्व की स्पष्ट स्थापना की जिसके ऊपर आगे जाकर दृष्टिसृष्टिवाद आदि अनेक रूपों में और भी दृष्टि परिवर्तन व विकास हुआ। इस तरह एक तरफ बौद्ध और वेदान्त दो परंपराओं की दृष्टि परिवर्तिष्णुता और बाकी के सब दर्शनों की दृष्टि अपरिवर्तिष्णुता हमें इस भेद के कारणों की खोज की ओर प्रेरित करती है।

स्थूल जगत को असत्य या व्यावहारिक सत्य मानकर उससे भिन्न आंतरिक जगत को ही परम सत्य माननेवाले अवास्तववाद का उद्गम सिर्फ तभी संभव है जब कि विश्लेषण क्रिया की पराकाष्ठा-आत्यन्तिकता हो या समन्वय की पराकाष्ठा हो। हम देखते हैं कि यह योग्यता बौद्ध परंपरा और वेदान्त परंपरा के सिवाय अन्य किसी दार्शनिक परंपरा में नहीं है। बुद्ध ने प्रत्येक स्थूल सूक्ष्म भाव का विश्लेषण यहाँ तक किया कि उसमें कोई स्थायी द्रव्य जैसा तत्त्व शेष न रहा। उपनिषदों में भी सब भेदों का—विविधताओं का समन्वय एक ब्रह्म—स्थिर तत्त्व में विश्रान्त हुआ। भगवान बुद्ध के विश्लेषण को आगे जाकर उनके सूक्ष्मप्रज्ञ शिष्यों ने यहाँ तक विस्तृत किया कि अन्त में व्यवहार में उपयोगी होनेवाले अखण्ड द्रव्य या द्रव्य भेद सर्वथा नाम शेष हो गए। क्षणिक किन्तु अनिर्वचनीय परम सत्य ही शेष रहा। दूसरी ओर शंकराचार्य ने औपनिषद परम ब्रह्म की समन्वय भावना को यहाँ तक विस्तृत किया कि अन्त में भेदप्रधान व्यवहार जगत नाम-शेष या मायिक ही होकर रहा। बेशक नागार्जुन और शंकराचार्य जैसे ऐकान्तिक विश्लेषणकारी या ऐकान्तिक समन्वयकर्ता न होते तो इन दोनों परंपराओं में व्यावहारिक और परमसत्य के भेद का आविष्कार न होता। फिर भी हमें भूलना न चाहिए कि अवास्तववादी दृष्टि की योग्यता बौद्ध और वेदांत परंपरा की भूमिका में ही निहित रही जो न्याय वैशेषिक आदि वास्तववादी दर्शनों की भूमिका में बिलकुल नहीं है। न्याय वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य-योग दर्शन केवल विश्लेषण ही नहीं करते बल्कि समन्वय भी करते हैं। उनमें विश्लेषण और समन्वय

दोनों का समप्राधान्य तथा समान बलत्व होने के कारण दोनों में से कोई एक ही सत्य नहीं है अतएव उन दर्शनों में अवास्तववाद के प्रवेश की न योग्यता है और न संभव ही है। अतएव उनमें नागार्जुन शंकराचार्य आदि जैसे अनेक सूक्ष्मप्रज्ञ विचारक होते हुए भी वे दर्शन वास्तववादी ही रहे। यही स्थिति जैन दर्शन की भी है। जैन दर्शन द्रव्य-द्रव्य के बीच विश्लेषण करते-करते अंत में सूक्ष्मतम पर्यायों के विश्लेषण तक पहुँचता है सही, पर यह विश्लेषण के अंतिम परिणाम स्वरूप पर्यायों को वास्तविक मानकर भी द्रव्य की वास्तविकता का परित्याग बौद्ध दर्शन की तरह नहीं करता। इस तरह वह पर्यायों और द्रव्यों का समन्वय करते करते एक सत् तत्त्व तक पहुँचता है और उसकी वास्तविकता को स्वीकार करके भी विश्लेषण के परिणाम स्वरूप द्रव्य भेदों और पर्यायों की वास्तविकता का परित्याग, ब्रह्मवादी दर्शन की तरह नहीं करता। क्योंकि वह पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक दोनों दृष्टियों को सापेक्ष भाव से तुल्यबल और समान सत्य मानता है। यही सबब है कि उसमें भी न बौद्ध परंपरा की तरह आत्यन्तिक विश्लेषण हुआ और न वेदान्त परंपरा की तरह आत्यन्तिक समन्वय। इससे जैन दृष्टि का वास्तववादित्व स्वरूप स्थिर ही रहा।

३. प्रमाण शक्ति की मर्यादा

विश्व क्या वस्तु है, वह कैसा है, उसमें कौन-से-कौन-से और कैसे-कैसे तत्त्व हैं, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर तत्त्व चिन्तकों ने एक ही प्रकार का नहीं दिया। इसका सबब यही है कि इस उत्तर का आधार प्रमाण की शक्ति पर निर्भर है और तत्त्वचिंतकों में प्रमाण की शक्ति के बारे में नाना मत हैं। भारतीय तत्त्व-चिंतकों का प्रमाण शक्ति के तारतम्य संबंधी मतभेद संक्षेप में पाँच पक्षों में विभक्त हो जाता है—

१ इन्द्रियाधिपत्य, २ अनिन्द्रियाधिपत्य, ३ उभयाधिपत्य, ४ आगमाधिपत्य, ५ प्रमाणोपप्लव।

१—जिस पक्ष का मंतव्य यह है कि प्रमाण की सारी शक्ति इन्द्रियों के ऊपर ही अवलम्बित है, मन खुद इन्द्रियों का अनुगमन कर सकता है पर वह इन्द्रियों की मदद के सिवाय कहीं भी अर्थात् जहाँ इन्द्रियों की पहुंच न हो वहाँ कभी प्रवृत्त होकर सच्चा ज्ञान पैदा कर ही नहीं सकता। सच्चे ज्ञान का अगर संभव है तो इन्द्रियों के द्वारा ही, वह इन्द्रियाधिपत्य पक्ष। इस पक्ष में चार्वाक दर्शन ही समाविष्ट है। यह नहीं कि चार्वाक अनुमान या शब्दव्यवहार रूप आगम आदि प्रमाणों को जो प्रतिदिन सर्वसिद्ध व्यवहार की वस्तु है, उसे न मानता हो फिर भी चार्वाक

अपने को प्रत्यक्षमात्रवादी कहता है; इसका अर्थ इतना ही है कि अनुमान, शब्द आदि कोई भी लौकिक प्रमाण क्यों न हो पर उसका प्रामाण्य इन्द्रियप्रत्यक्ष के सिवाय कभी संभव नहीं। अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष से बाधित नहीं ऐसा कोई भी ज्ञानव्यापार अगर प्रमाण कहा जाए तो इसमें चार्वाक को आपत्ति नहीं।

२—अनिन्द्रिय के अंतःकरण-मन, चित्त और आत्मा ऐसे तीन अर्थ फलित होते हैं, जिनमें से चित्तरूप अनिन्द्रिय का आधिपत्य माननेवाला अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष है। इस पक्ष में विज्ञानवाद, शून्यवाद और शांकरवेदांत का समावेश है। इस पक्ष के अनुसार यथार्थ ज्ञान का संभव विशुद्ध चित्त के द्वारा ही माना जाता है। यह पक्ष इन्द्रियों की सत्यज्ञानजनन शक्ति का सर्वथा इन्कार करता है और कहता है जि इन्द्रियाँ वास्तविक ज्ञान कराने में पंगु ही नहीं बल्कि धोखेबाज भी अवश्य है। इसके मंतव्य का निष्कर्ष इतना ही है कि चित्त, खासकर ध्यानशुद्धसात्त्विक चित्त से बाधित या उसका संवाद प्राप्त न कर सकनेवाला कोई ज्ञान प्रमाण हो ही नहीं सकता चाहे वह भले ही लोकव्यवहार में प्रमाण रूप से माना जाता हो।

३—उभयाधिपत्य पक्ष वह है जो चार्वाक की तरह इन्द्रियों को ही सब कुछ मानकर इन्द्रिय निरपेक्ष मन का असामर्थ्य स्वीकार नहीं करता और न इन्द्रियों को पंगु या धोखेबाज मानकर केवल अनिन्द्रिय या चित्त का ही सामर्थ्य स्वीकार करता है। यह पक्ष मानता है कि चाहे मन की मदद से ही सही पर इन्द्रियाँ गुणसम्पन्न हो सकती हैं और वास्तविक ज्ञान पैदा कर सकती हैं। इसी तरह यह मानता है कि इन्द्रियों की मदद जहाँ नहीं है वहाँ भी अनिन्द्रिय यथार्थ ज्ञान कर सकता है। इसी से इसे उभयाधिपत्य पक्ष कहा है। इसमें सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक. मीमांसक, आदि दर्शनों का समावेश है। सांख्य-योग इन्द्रियों का साद्गुण्य मानकर भी अंतःकरण की स्वतंत्र यथार्थ शक्ति मानता है। न्याय-वैशेषिक आदि भी मन की वैसी ही शक्ति मानते हैं पर फर्क यह है कि सांख्य-योग आत्मा का स्वतंत्र प्रमाण सामर्थ्य नहीं मानते क्योंकि वे प्रमाण सामर्थ्य बुद्धि में ही मानकर पुरुष या चेतन को निरतिशय मानते हैं। जब कि न्याय-वैशेषिक चाहे ईश्वर के आत्मा का ही सही पर आत्मा का स्वतंत्र प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं। अर्थात् वे शरीर-मन का अभाव होने पर भी ईश्वर में ज्ञानशक्ति मानते हैं। वैभाषिक और सौत्रांतिक भी इसी पक्ष के अंतर्गत हैं। क्योंकि वे भी इन्द्रिय और मन दोनों का प्रमाणसामर्थ्य मानते है।

४—आगमाधिपत्य पक्ष वह है जो किसी न किसी विषय में आगम के सिवाय

किसी इन्द्रिय या अनिन्द्रिय का प्रमाणसामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। यह पक्ष केवल पूर्व मीमांसक का ही है। यद्यपि वह अन्य विषयों में सांख्य-योगादि की तरह उभयाधिपत्य पक्ष का ही अनुगामी है। फिर भी धर्म और अधर्म इन दो विषयों में वह आगम मात्र का ही सामर्थ्य मानता है। यद्यपि वेदांत के अनुसार ब्रह्म के विषय में आगम का ही प्राधान्य है फिर भी वह आगमाधिपत्य पक्ष में इसलिए नहीं आ सकता कि ब्रह्म के विषय में ध्यानशुद्ध अंतःकरण का भी सामर्थ्य उसे मान्य है।

५—प्रमाणोपप्लव पक्ष वह है जो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय या आगम किसी का साद्गुण्य या सामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। वह मानता है कि ऐसा कोई साधन गुणसम्पन्न है ही नहीं जो अबाधित ज्ञान की शक्ति रखता हो। सभी साधन उसके मन से पंगु या विप्रलंभक हैं। इसका अनुगामी तत्त्वोपप्लववादी कहलाता है जो आखिरी हद का चार्वाक ही है। यह पक्ष जयराशिकृत तत्त्वोपप्लव में स्पष्टतया प्रतिपादित हुआ है।

उक्त पांच में से तीसरा उभयाधिपत्य पक्ष ही जैनदर्शन का है क्योंकि वह जिस तरह इंद्रियों का स्वतंत्र सामर्थ्य मानता है उसी तरह वह अनिन्द्रिय अर्थात् मन और आत्मा दोनों का अलग-अलग भी स्वतत्र सामर्थ्य मानता है। आत्मा के स्वतंत्र सामर्थ्य के विषय में न्याय-वैशेषिक आदि के मंतव्य से जैन दर्शन के मंतव्य में फर्क यह है कि जैन दर्शन सभी आत्माओं का स्वतंत्र प्रमाणसामर्थ्य वैसा ही मानता है जैसा न्याय आदि ईश्वर मात्र का। जैनदर्शन प्रमाणोपप्लव पक्ष का निराकरण इसलिए करता है कि उसे प्रमाणसामर्थ्य अवश्य इष्ट है। वह विज्ञान, शून्य और ब्रह्म इन तीनों वादों का निरास इसलिए करता है कि उसे इन्द्रियों का प्रमाणसामर्थ्य भी मान्य है। वह आगमाधिपत्य पक्ष का भी विरोधी है सो इसलिए कि उसे धर्माधर्म के विषय में अनिन्द्रिय अर्थात् मन और आत्मा दोनों का प्रमाणसामर्थ्य इष्ट है।

४—प्रमेयप्रदेश का विस्तार

जैसी प्रमाणशक्ति की मर्यादा वैसा ही प्रमेय का क्षेत्र विस्तार, अतएव मात्र इंद्रिय सामर्थ्य मानने वाले चार्वाक के सामने सिर्फ स्थूल या दृश्य विश्व का ही प्रमेयक्षेत्र रहा, जो एक या दूसरे रूप में अनिन्द्रिय प्रमाण का सामर्थ्य मानने वालों की दृष्टि में अनेकधा विस्तीर्ण हुआ। अनिन्द्रियसामर्थ्यवादी कोई क्यों न हो पर सबको स्थूल विश्व के अलावा एक सूक्ष्म विश्व भी नजर आया। सूक्ष्म विश्व का दर्शन उन सबका बराबर होने पर भी उनकी अपनी जुदी-जुदी कल्प-

नाओं के तथा परंपरागत भिन्न भिन्न कल्पनाओं के आधार पर सूक्ष्म प्रमेय के क्षेत्र में भी अनेक मत व सम्प्रदाय स्थिर हुए जिनको हम अति संक्षेप में दो विभागों में बाँटकर समझ सकते हैं। एक विभाग तो वह जिसमें जड़ और चेतन दोनों प्रकार के सूक्ष्म तत्त्वों को माननेवालों का समावेश होता है। दूसरा वह जिसमें केवल चेतन या चैतन्य रूप ही सूक्ष्म तत्त्व को माननेवालों का समावेश होता है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की अपेक्षा भारतीय तत्त्वज्ञान में यह एक ध्यान देने योग्य भेद है कि इसमें सूक्ष्म प्रमेय तत्त्व माननेवाला अभी तक कोई ऐसा नहीं हुआ जो स्थूल भौतिक विश्व की तह में एक मात्र सूक्ष्म जड़ तत्त्व ही मानता हो और सूक्ष्म जगत में चेतन तत्त्व का अस्तित्व ही न मानता हो। इसके विरुद्ध भारत में ऐसे तत्त्वज्ञ होते आए हैं जो स्थूल विश्व के अंतस्तल में एक मात्र चेतन तत्त्व का सूक्ष्म जगत मानते हैं। इसी अर्थ में भारत को चैतन्यवादी समझना चाहिए। भारतीय तत्त्वज्ञान के साथ पुनर्जन्म, कर्मवाद और बंध-मोक्ष की धार्मिक या आचरणलक्षी कल्पना भी मिली हुई है जो सूक्ष्म विश्व मानने वाले सभी को निर्विवाद मान्य है और सभी ने अपने २ तत्त्वज्ञान के ढांचे के अनुसार चेतन तत्त्व के साथ उसका मेल बिठाया है। इन सूक्ष्मतत्त्वदर्शी परम्पराओं में मुख्यतया चार वाद ऐसे देखे जाते हैं जिनके बलपर उस-उस परंपरा के आचार्यों ने स्थूल और सूक्ष्म विश्व का संबंध बतलाया है या कार्य-करण का मेल बिठाया है। वे वाद ये हैं—१ आरंभवाद, २ परिणामवाद, ३ प्रतीत्यसमुत्पादवाद, ४ विवर्तवाद।

आरम्भवाद के संक्षेप में चार लक्षण हैं— १–परस्पर भिन्न ऐसे अनंत मूल कारणों का स्वीकार, २–कार्य कारण का आत्यंतिक भेद ३–कारण नित्य हो या अनित्य पर कार्योत्पत्ति में उसका अपरिणामी ही रहना, ४–अपूर्व अर्थात् उत्पत्ति के पहले असत् ऐसे कार्य की उत्पत्ति या किञ्चित्कालीन सत्ता।

परिणामवाद के लक्षण ठीक आरंभवाद से उलटे हैं—१ एक ही मूल कारण का स्वीकार २–कार्यकारण का वास्तविक अभेद, ३—नित्य कारण का भी परिणामी होकर ही रहना तथा प्रवृत्त होना ४—कार्य मात्र का अपने-अपने कारण में और सब कार्यों का मूल कारण में तीनों काल में अस्तित्व अर्थात् अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति का सर्वथा इन्कार।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद के तीन लक्षण हैं—१–कारण और कार्य का आत्यंतिक भेद, २—किसी भी नित्य या परिणामीकारण का सर्वथा अस्वीकार, ३—प्रथम से असत् ऐसे कार्यमात्र का उत्पाद।

विवर्तवाद के तीन लक्षण ये हैं–१-किसी एक पारमार्थिक सत्य कास्वी कार

जो न उत्पादक है और न परिणामी, २—स्थूल या सूक्ष्म भासमान जगत् की उत्पत्ति का या उसे परिणाम मानने का सर्वथा निषेध, ३—स्थूल जगत् का अवास्तविक या काल्पनिक अस्तित्व अर्थात् मायिक भास मात्र।

१ आरम्भवाद

इसका मंतव्य यह है कि परमाणु रूप अनंत सूक्ष्म तत्त्व जुदे-जुदे हैं जिनके पारस्परिक संबंधों से स्थूल भौतिक जगत का नया ही निर्माण होता है जो फिर सर्वथा नष्ट भी होता है। इसके अनुसार वे सूक्ष्म आरंभक तत्त्व अनादि निधन हैं, अपरिणामी हैं। अगर फेरफार होता है तो उनके गुणधर्मों में ही होता है। इस वाद ने स्थूल भौतिक जगत का संबंध सूक्ष्म भूत के साथ लगाकर फिर सूक्ष्म चेतन तत्त्व का भी अस्तित्व माना है। उसने परस्पर भिन्न ऐसे अनंत चेतन तत्त्व माने जो अनादिनिधन एवं अपरिणामी ही हैं। इस वाद ने जैसे सूक्ष्म भूत तत्त्वों को आपरिणामी ही मानकर उनमें उत्पन्न नष्ट होने वाले गुण धर्मों के अस्तित्व की अलग कल्पना की वैसे ही चेतन तत्त्वों को अपरिणामी मानकर भी उनमें उत्पाद विनाशशाली गुण-धर्मों का अलग ही अस्तित्व स्वीकार किया है। इस मत के अनुसार स्थूल भौतिक विश्व का सूक्ष्म भूत के साथ तो उपादानोपादेय भाव संबंध है पर सूक्ष्म चेतन तत्त्व के साथ सिर्फ संयोग संबंध है।

२ परिणामवाद

इसके मुख्य दो भेद हैं (अ) प्रधानपरिणामवाद और (ब) ब्रह्म परिणामवाद।

(अ) प्रधानपरिणामवाद के अनुसार स्थूल विश्व के अंतस्तल में एक सूक्ष्म प्रधान नामक ऐसा तत्त्व है जो जुदे-जुदे अनंत परमाणुरूप न होकर उनसे भी सूक्ष्मतम स्वरूप में अखण्ड रूप से वर्तमान है और जो खुद ही परमाणुओं की तरह अपरिणामी न रहकर अनादि अनंत होते हुए भी नाना परिणामों में परिणत होता रहता है। इस वाद के अनुसार स्थूल भौतिक विश्व यह सूक्ष्म प्रधान तत्त्व के दृश्य परिणामों के सिवाय और कुछ नहीं। इस वाद में परमाणुवाद की तरह सूक्ष्म तत्त्व अपरिणामी रहकर उसमें स्थूल भौतिक विश्व का नया निर्माण नहीं होता। पर वह सूक्ष्म प्रधान तत्त्व जो स्वयं परमाणु की तरह जड़ ही है, नाना दृश्य भौतिक रूप में बदलता रहता है। इस प्रधान परिणामवाद ने स्थूल विश्व का सूक्ष्म पर जड़ ऐसे एक मात्र प्रधान तत्त्व के साथ अभेद संबंध लगाकर सूक्ष्म जगत् में चेतन तत्त्वों का भी अस्तित्व स्वीकार किया। इस वाद के चेतन तत्त्व आरंभवाद की तरह अनंत ही हैं पर फर्क दोनों का यह है कि आरंभवाद के चेतन तत्त्व अपरिणामी होते हुए भी उत्पाद विनाश वाले गुण-धर्म युक्त हैं जब कि प्रधान परिणामवाद के चेतन तत्त्व ऐसे गुणधर्मों

से युक्त नहीं। वे स्वयं भी कूटस्थ होने से अपरिणामी हैं और निर्धर्मक होने से किसी उत्पाद-विनाशशाली गुणधर्म को भी धारण नहीं करते। उसका कहना यह है कि उत्पाद-विनाश वाले गुणधर्म जब सूक्ष्म भूत में देखे जाते हैं तब सूक्ष्म चेतन कुछ विलक्षण ही होना चाहिए। अगर सूक्ष्म चेतन चेतन होकर भी वैसे गुण-धर्म युक्त हों तब जड़ सूक्ष्म से उनका वैलक्षण्य क्या रहा? अतएव वह कहता है कि अगर सूक्ष्म चेतन का अस्तित्व मानना ही है तब तो सूक्ष्म भूत की अपेक्षा विलक्षणता लाने के लिए उन्हें न केवल निर्धर्मक ही मानना उचित है बल्कि अपरिणामी भी मानना जरूरी है। इस तरह प्रधान परिणामवाद में चेतन तत्त्व आए पर वे निर्धर्मक और अपरिणामी ही माने गए।

(ब) ब्रह्मपरिणामवाद जो प्रधानपरिणामवाद का ही विकसित रूप जान पड़ता है उसने यह तो मान लिया कि स्थूल विश्व के मूल में कोई सूक्ष्म तत्त्व है जो स्थूल विश्व का कारण है। पर उसने कहा कि ऐसा सूक्ष्म कारण जड़ प्रधान तत्त्व मानकर उससे भिन्न सूक्ष्म चेतन तत्त्व भी मानना और वह भी ऐसा कि जो अजागलस्तन की तरह सर्वथा अकिञ्चित्कर सो युक्ति संगत नहीं। उसने प्रधानवाद में चेतन तत्त्व के अस्तित्व की अनुपयोगिता को ही नहीं देखा बल्कि चेतन तत्त्व में अनंत संख्या की कल्पना को भी अनावश्यक समझा। इसी समझ से उसने सूक्ष्म जगत् की कल्पना ऐसी की जिससे स्थूल जगत की रचना भी घट सके और अकिञ्चित्कर ऐसे अनंत चेतन तत्त्वों की निष्प्रयोजन कल्पना का दोष भी न रहे। इसी से इस वाद ने स्थूल विश्व के अंतस्तल में जड़ चेतन ऐसे परस्पर विरोधी दो तत्त्व न मानकर केवल एक ब्रह्म नामक चेतन तत्त्व ही स्वीकार किया और उसका प्रधान परिणाम की तरह परिणाम मान लिया जिससे उसी एक चेतन ब्रह्म तत्त्व में से दूसरे जड़ चेतनमय स्थूल विश्व का आविर्भाव-तिरोभाव घट सके। प्रधान परिणामवाद और ब्रह्म परिणामवाद में फर्क इतना ही है कि पहले में जड़ परिणामी ही है और चेतन अपरिणामी ही है जब दूसरे में अंतिम सूक्ष्म तत्त्व एक मात्र चेतन ही है जो स्वयं ही परिणामी है और उसी चेतन में से आगे के जड़ चेतन ऐसे दो परिणाम प्रवाह चले।

३—प्रतीत्यसमुत्पादवाद

यह भी स्थूल भूत के नीचे जड़ और चेतन ऐसे दो सूक्ष्म तत्त्व मानता है जो क्रमशः रूप और नाम कहलाते हैं। इस वाद के जड़ और चेतन दोनों सूक्ष्म तत्त्व परमाणुरूप हैं, आरंभवाद की तरह केवल जड़ तत्त्व ही परमाणु रूप नहीं। इस वाद में परमाणु का स्वीकार होते हुए

भी उसका स्वरूप आरंभवाद के परमाणु से बिलकुल भिन्न माना गया है। आरंभवाद में परमाणु अपरिणामी होते हुए भी उनमें गुणधर्मों की उत्पादविनाश परंपरा अलग मानी जाती है। जब कि यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद उस गुणधर्मों की उत्पादविनाश परंपरा को ही अपने मत में विशिष्ट रूप से ढालकर उसके आधारभूत स्थायी परमाणु द्रव्यों को बिलकुल नहीं मानता। इसी तरह चेतन तत्त्व के विषय में भी यह वाद कहता है कि स्थायी ऐसे एक या अनेक कोई चेतन तत्त्व नहीं। यद्यपि सूक्ष्म जड़ उत्पादविनाशशाली परंपरा की तरह दूसरी चैतन्यरूप उत्पादविनाशशाली परंपरा भी मूल में जड़ से भिन्न ही सूक्ष्म जगत में विद्यमान है जिसका कोई स्थायी आधार नहीं। इस वाद के परमाणु इसलिए परमाणु कहलाते हैं कि वे सबसे अतिसूक्ष्म और अविभाज्य मात्र हैं। पर इस लिए परमाणु नहीं कहलाते कि वे कोई अविभाज्य स्थायी द्रव्य हों। यह वाद कहता है कि गुणधर्म रहित कूटस्थ चेतन तत्त्व जैसे अनुपयोगी हैं वैसे ही गुणधर्मों का उत्पादविनाश मान लेने पर उसके आधार रूप से फिर स्थायी द्रव्य की कल्पना करना भी निरर्थक है। अतएव इस वाद के अनुसार सूक्ष्म जगत में दो धाराएँ फलित होती हैं जो परस्पर बिलकुल भिन्न होकर भी एक दूसरे के असर से खाली नहीं। प्रधान परिणाम या ब्रह्म परिणामवाद से इस वाद में फर्क यह है कि इसमें उक्त दोनों वादों की तरह किसी भी स्थायी द्रव्य का अस्तित्व नहीं माना जाता। ऐसा शंकु या कीलक स्थानीय स्थायी द्रव्य न होते हुए भी पूर्व परिणाम क्षण का यह स्वभाव है कि वह नष्ट होते-होते दूसरे परिणाम क्षण को पैदा करता ही जाएगा अर्थात् उत्तर परिणाम क्षण विनाशोन्मुख पूर्व परिणाम के अस्तित्वमात्र के आश्रय से आप ही आप निराधार उत्पन्न हो जाता है। इसी मान्यता के कारण यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद कहलाता है। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पादवाद परमाणु वाद भी है और परिणामवाद भी। फिर भी तात्त्विक रूप में वह दोनों से भिन्न है।

४—विवर्तवाद—विवर्तवाद के मुख्य दो भेद—

विवर्तवाद के मुख्य दो भेद हैं—(अ) नित्य ब्रह्मविवर्त और (ब) क्षणिक विज्ञान विवर्त। दोनों विवर्तवाद के अनुसार स्थल विश्व यह निरा भासमात्र या कल्पना मात्र है जो माया या वासनाजनित है। विवर्तवाद का अभिप्राय यह है कि जगत् या विश्व कोई ऐसी वस्तु नहीं हो सकती जिसमें बाह्य और आन्तरिक या स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व अलग-अलग और खण्डित हों। विश्व में जो कुछ वास्तविक सत्य हो सकता है वह एक ही हो सकता है क्योंकि विश्व वस्तुतः अखण्ड और

अविभाज्य ही है। ऐसी दशा में जो बाह्यत्व-आन्तरत्व, ह्रस्वत्व-दीर्घत्व, दूरत्व-समीपत्व आदि धर्म-द्वन्द्व मालूम होते हैं वे मात्र काल्पनिक हैं। अतएव इस वाद के अनुसार लोक सिद्ध स्थूल विश्व केवल काल्पनिक और प्रातिभासिक सत्य है। पारमार्थिक सत्य उसकी तह में निहित है जो विशुद्ध ध्यानगम्य होने के कारण अपने असली स्वरूप में प्राकृतजनों के द्वारा ग्राह्य नहीं।

न्याय वैशेषिक और पूर्व मीमांसक आरंभवादी हैं। प्रधान परिणामवाद सांख्य-योग और चरक का है। ब्रह्म परिणामवाद के समर्थक भर्तृप्रपञ्च आदि प्राचीन वेदांती और आधुनिक वल्लभाचार्य हैं। प्रतीत्यसमुत्पादवाद बौद्धों का है और विवर्तवाद के समर्थक शांकर वेदान्ती, विज्ञानवादी और शून्यवादी हैं।

ऊपर जिन वादों का वर्णन किया है उनके उपादानरूप विचारों का ऐतिहासिक क्रम संभवतः ऐसा जान पड़ता है—शुरू में वास्तविक कार्यकारणभाव की खोज जड़ जगत तक ही रही। वहीं तक वह परिमित रहा। क्रमशः स्थूल के उस पार चेतन तत्त्व की शोध–कल्पना होते ही दृश्य और जड़ जगत में प्रथम से ही सिद्ध उस कार्य कारण भाव की परिणामिनित्यतारूप से चेतन तत्त्व तक पहुँच हुई। चेतन भी जड़ की तरह अगर परिणामिनित्य हो तो फिर दोनों में अंतर ही क्या रहा? इस प्रश्न ने फिर चेतन को कायम रखकर उसमें कूटस्थ नित्यता मानने की ओर तथा परिणामिनित्यता या कार्यकारणभाव को जड़ जगत तक ही परिमित रखने की ओर विचारकों को प्रेरित किया। चेतन में मानी जानेवाली कूटस्थ नित्यता का परीक्षण फिर शुरू हुआ। जिसमें से अंततोगत्वा केवल कूटस्थ नित्यता ही नहीं बल्कि जड़ जगत की परिणामिनित्यता भी लुप्त होकर मात्र परिणमन धारा ही शेष रही। इस प्रकार एक तरफ आत्यतिक विश्लेषण ने मात्र परिणाम या क्षणिकत्व विचार को जन्म दिया तब दूसरी ओर आत्यंतिक समन्वय बुद्धि ने चैतन्यमात्र पारमार्थिक वाद को जन्माया। समन्वय बुद्धि ने अंत में चैतन्य तक पहुँच कर सोचा कि जब सर्वव्यापक चैतन्य तत्त्व है तब उससे भिन्न जड़ तत्त्व की वास्तविकता क्यों मानी जाए? और जब कोई जड़ तत्त्व अलग नहीं तब वह दृश्यमान परिणमन-धारा भी वास्तविक क्यों? इस विचार ने सारे भेद और जड़ जगत को मात्र काल्पनिक मनवाकर पारमार्थिक चैतन्यमात्रवाद की स्थापना कराई।

उक्त विचार क्रम के सोपान इस तरह रखे जा सकते हैं—

१—जड़मात्र में परिणामिनित्यता।

२—जड़ चेतन दोनों में परिणामिनित्यता।

३—जड़ में परिणामि नित्यता और चेतन में कूटस्थ नित्यता का विवेक।

४—(अ) कूटस्थ और परिणामि दोनों नित्यता का लोप और मात्र परिणाम-प्रवाह की सत्यता।

(ब) केवल कूटस्थ चैतन्य की ही या चैतन्य मात्र की सत्यता और तद्भिन्न सब की काल्पनिकता या असत्यता।

जैन परंपरा दृश्य विश्व के अलावा परस्पर अत्यंत भिन्न ऐसे जड़ और चेतन अनन्त सूक्ष्म तत्त्वों को मानती है। वह स्थूल जगत को सूक्ष्म जड़ तत्त्वों का ही कार्य या रूपान्तर मानतीं है। जैन परंपरा के सूक्ष्म जड़ तत्त्व परमाणु रूप हैं। पर वे आरंभवाद के परमाणु की अपेक्षा अत्यंत सूक्ष्म माने गए हैं। परमाणुवादी होकर भी जैन दर्शन परिणामवाद की तरह परमाणुओं को परिणामी मानकर स्थूल जगत को उन्हीं का रूपान्तर या परिणाम मानता है। वस्तुतः जैन दर्शन परिणाम-वादी है। पर सांख्ययोग तथा प्राचीन वेदान्त आदि के परिणामवाद से जैन परिणामवाद का खास अन्तर है। वह अन्तर यह है कि सांख्ययोग का परिणाम-वाद चेतन तत्त्व से अस्पृष्ट होने के कारण जड़ तक ही परिमित है और भर्तृप्रपञ्च आदि का परिणामवाद मात्र चेतनतत्त्वस्पर्शी है। जब कि जैन परिणामवाद जड़-चेतन, स्थूल-सूक्ष्म समग्र वस्तुस्पर्शी है। अतएव जैन परिणामवाद को सर्वव्यापक परिणामवाद समझना चाहिए। भर्तृप्रपञ्च का परिणामवाद भी सर्वव्यापक कहा जा सकता है फिर भी उसके और जैन के परिणामवाद में अन्तर यह है कि भर्तृप्रपञ्च का 'सर्व' चेतन ब्रह्म मात्र है, तद्भिन्न और कुछ नहीं जब कि जैन का सर्व अनन्त जड़ और चेतन तत्त्वों का है। इस तरह आरंभ और परिणाम दोनों वादों का जैन दर्शन में व्यापक रूप में पूरा स्थान तथा समन्वय है। पर उसमें प्रतीत्यसमुत्पाद तथा विवर्तवाद का कोई स्थान नहीं है। वस्तु मात्र को परिणामी नित्य और समान रूप से वास्तविक सत्य मानने के कारण जैन दर्शन प्रतीत्यसमुत्पाद तथा विवर्तवाद का सर्वथा विरोध ही करता है जैसा कि न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग आदि भी करते हैं। न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग आदि की तरह जैन दर्शन चेतन बहुत्ववादी है सही, पर उसके चेतन तत्त्व अनेक दृष्टि से भिन्न स्वरूप वाले हैं। जैनदर्शन, न्याय, सांख्य आदि की तरह चेतन को न सर्वव्यापक द्रव्य मानता है और न विशिष्टाद्वैत आदि की तरह अणुमात्र ही मानता है और न बौद्ध दर्शन की तरह ज्ञान की निर्द्रव्यक-धारामात्र। जैनाभिमत समग्र चेतन तत्त्व मध्यम परिमाणवाले और संकोच-विस्तारशील होने के कारण इस विषय में जड़ द्रव्यों से अत्यन्त विलक्षण नहीं। न्याय-वैशेषिक और योग दर्शन मानते हैं कि आत्मत्व या चेतनत्व समान होने

पर भी जीवात्मा और परमात्मा के बीच मौलिक भेद है अर्थात् जीवात्मा कभी परमात्मा या ईश्वर नहीं और परमात्मा सदा से ही परमात्मा या ईश्वर है कभी जीव-बंधनवान नहीं होता। जैन दर्शन इससे बिलकुल उल्टा मानता है जैसा कि वेदान्त आदि मानते हैं। वह कहता है कि जीवात्मा और ईश्वर का कोई सहज भेद नहीं। सब जीवात्माओं में परमात्मशक्ति एक सी है जो साधन पाकर व्यक्त हो सकती है और होती भी है। अलबत्ता जैन और वेदांत का इस विषय में इतना अन्तर अवश्य है कि वेदान्त एक परमात्मवादी है जब जैनदर्शन चेतन बहुत्ववादी होने के कारण तात्त्विकरूप से बहुपरमात्मवादी है।

जैन परंपरा के तत्त्वप्रतिपादक प्राचीन, अर्वाचीन, प्राकृत, संस्कृत कोई भी ग्रंथ क्यों न हों पर उन सब में निरूपण और वर्गीकरण प्रकार भिन्न-भिन्न होने पर भी प्रतिपादक दृष्टि और प्रतिपाद्य प्रमेय, प्रमाता आदि का स्वरूप वही है जो संक्षेप में ऊपर स्पष्ट किया गया। 'प्रमाण मीमांसा' भी उसी जैन दृष्टि से उन्हीं जैन मान्यताओं का हार्द अपने ढंग से प्रगट करती है।

२—बाह्यस्वरूप

प्रस्तुत 'प्रमाण मीमांसा' के बाह्यस्वरूप का परिचय निम्नलिखित मुद्दों के वर्णन से हो सकेगा—शैली, विभाग, परिमाण और भाषा।

प्रमाण मीमांसा सूत्रशैली का ग्रन्थ है। वह कणाद सूत्रों या तत्त्वार्थ सूत्रों की तरह न दश अध्यायों में है और न जैमिनीय सूत्रों की तरह बारह अध्यायों में। बादरायण सूत्रों की तरह चार अध्याय भी नहीं और पातञ्जल सूत्रों की तरह चारपाद ही नहीं। वह अक्षपाद के सूत्रों की तरह पाँच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय कणाद या अक्षपाद के अध्याय की तरह दो-दो आह्निकों में विभक्त है। हेमचन्द्र ने अपने जुदे-जुदे विषय के ग्रंथों में विभाग के जुदे-जुदे क्रम का अवलम्बन करके अपने समय तक में प्रसिद्ध संस्कृत वाङ्मय के प्रतिष्ठित सभी शाखाओं के ग्रन्थों के विभागक्रम को अपने साहित्य में अपनाया है। किसी में उन्होंने अध्याय और पाद का विभाग रखा, कहीं अध्याय मात्र का और कहीं पर्व, सर्ग, काण्ड आदि का। प्रमाण मीमांसा तर्क ग्रंथ होने के कारण उसमें उन्होंने अक्षपाद के प्रसिद्ध न्यायसूत्रों के अध्याय-आह्निक का ही विभाग रखा, जो हेमचंद्र के पूर्व अकलंक ने जैन वाङ्मय में शुरू किया था।

प्रमाण मीमांसा पूर्ण उपलब्ध नहीं। उसके मूल सूत्र भी उतने ही मिलते हैं जितनों की वृत्ति लभ्य है। अतएव अगर उन्होंने सब मूल सूत्र रचे भी हों

तब भी पता नहीं चल सकता है कि उनकी कुल संख्या कितनी होगी। उपलब्ध सूत्र सौ ही हैं और उतने ही सूत्रों की वृत्ति भी है। अंतिम उपलब्ध २-१-३५ की वृत्ति पूरी होने के बाद एक नए सूत्र का उत्थान उन्होंने शुरू किया है और उस अधूरे उत्थान में ही खण्डित लभ्य ग्रंथ पूर्ण हो जाता है। मालूम नहीं कि इसके आगे कितने सूत्रों से वह आह्निक पूरा होता? जो कुछ हो पर उपलब्ध ग्रंथ दो अध्याय तीन आह्निक मात्र है जो स्वोपज्ञ वृत्ति सहित ही है।

यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि प्रमाण मीमांसा किस भाषा में है, पर उसकी भाषा विषयक योग्यता के बारे में थोड़ा जान लेना जरूरी है। इसमें संदेह नहीं कि जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा के प्रवेश के बाद उत्तरोत्तर संस्कृत भाषा का वैशारद्य और प्राञ्जल लेखपाटव बढ़ता ही आ रहा था फिर भी हेमचंद्र का लेख-वैशारद्य, कम से कम जैन वाङ्मय में तो मूर्धन्य स्थान रखता है। वैयाकरण, आलंकारिक, कवि और कोषकार रूप से हेमचंद्र का स्थान न केवल समग्र जैन परंपरा में बल्कि भारतीय विद्वत्परंपरा में भी असाधारण रहा। यही उनकी असाधारणता और व्यवहारदक्षता प्रमाण-मीमांसा की भाषा व रचना में स्पष्ट होती है। भाषा उनकी वाचस्पति मिश्र की तरह नपी-तुली और शब्दा-डम्बर शून्य सहज प्रसन्न है। वर्णन में न उतना संक्षेप है जिससे वक्तव्य अस्पष्ट रहे और न इतना विस्तार है जिससे ग्रंथ केवल शोभा की वस्तु बना रहे।

३-जैन तर्क साहित्य में प्रमाण मीमांसा का स्थान

जैन तर्क साहित्य में प्रमाण मीमांसा का स्थान क्या है, इसे समझने के लिए जैन साहित्य के परिवर्तन या विकास संबंधी युगों का ऐतिहासिक अवलोकन करना जरूरी है। ऐसे युग संक्षेप में तीन हैं—१-आगमयुग, २-संस्कृत प्रवेश या अनेकांतस्थापन युग, ३—न्याय-प्रमाण स्थापन युग।

पहला युग भगवान महावीर या उनके पूर्ववर्ती भागवान् पार्श्वनाथ से लेकर आगम संकलना-विक्रमीय पंचम-षष्ठ शताब्दी तक का करीब हजार बारह सौ वर्ष का है। दूसरा युग करीब दो शताब्दियों का है जो करीब विक्रमीय छठी शताब्दी से शुरू होकर सातवीं शताब्दी तक में पूर्ण होता है। तीसरा युग विक्रमीय आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक करीब एक हजार वर्ष का है।

सांप्रदायिक संघर्ष और दार्शनिक तथा दूसरी विविध विद्याओं के विकास

विस्तार के प्रभाव के सबब से जैन परंपरा की साहित्य की अंतर्मुख या बहिर्मुख प्रवृत्ति में कितना ही युगांतर जैसा स्वरूप भेद या परिवर्तन क्यों न हुआ पर जैसा हमने पहले सूचित किया है वैसा ही अथ से इति तक देखने पर भी हमें न जैन दृष्टि में परिवर्तन मालूम होता है और न उसके बाह्य-आभ्यंतर तात्त्विक मंतव्यों में।

१-आगम युग

इस युग में भाषा की दृष्टि से प्राकृत या लोक भाषाओं की ही प्रतिष्ठा रही जिससे संस्कृत भाषा और उसके वाङ्मय के परिशीलन की ओर आत्यंतिक उपेक्षा होना सहज था जैसा कि बौद्ध परंपरा में भी था। इस युग का प्रमेय निरूपण आचारलक्षी होने के कारण उसमें मुख्यतया स्वमत प्रदर्शन का ही भाव है। राजसभाओं और इतर वादगोष्ठियों में विजय भावना से प्रेरित होकर शास्त्रार्थ करने की तथा खण्डनप्रधान ग्रंथनिर्माण की प्रवृत्ति का भी इस युग में अभाव सा है। इस युग का प्रधान लक्षण जड़-चेतन के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन तथा अहिंसा, संयम, तप आदि आचारों का निरूपण करना है।

आगमयुग और संस्कृत युग के साहित्य का पारस्परिक अंतर संक्षेप में कहा जा सकता है कि पहिले युग का जैन साहित्य बौद्ध साहित्य की तरह अपने मूल उद्देश्य के अनुसार लोकभोग्य ही रहा है। जब कि संस्कृत भाषा और उसमें निबद्ध तर्क साहित्य के अध्ययन की व्यापक प्रवृत्ति के बाद उसका निरूपण सूक्ष्म और विशद होता गया है सही पर साथ ही साथ वह इतना जटिल भी होता गया कि अंत में संस्कृत कालीन साहित्य लोकभोग्यता के मूल उद्देश्य से च्युत होकर केवल विद्वद्भोग्य ही बनता गया।

२-संस्कृत प्रवेश या अनेकान्तस्थापन युग

संभवतः वाचक उमास्वाति या तत्सदृश अन्य आचार्यों के द्वारा जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का प्रवेश होते ही दूसरे युग का परिवर्तनकारी लक्षण शुरू होता है जो बौद्ध परंपरा में तो अनेक शताब्दी पहिले ही शुरू हो गया था। इस युग में संस्कृत भाषा के अभ्यास की तथा उसमें ग्रंथप्रणयन की प्रतिष्ठा स्थिर होती है। इसमें राजसभा प्रवेश, परवादियों के साथ वादगोष्ठी और परमत खंडन की प्रधान दृष्टि से स्वमतस्थापक ग्रंथों की रचना—ये प्रधानतया नजर आते हैं। इस युग में सिद्धसेन जैसे एक-आध आचार्य ने जैन-न्याय की व्यवस्था दर्शाने वाला एक-आध ग्रंथ भले ही रचा हो पर अब तक इस युग में

जैन न्याय या प्रमाणशास्त्रों की न तो पूरी व्यवस्था हुई जान पड़ती है और न तद्विषयक तार्किक साहित्य का निर्माण ही देखा जाता है। इस युग के जैन तार्किकों की प्रवृत्ति की प्रधान दिशा दार्शनिक क्षेत्रों में एक ऐसे जैन मंतव्य की स्थापना की ओर रही है जिसके बिखरे हुए और कुछ स्पष्ट-अस्पष्ट बीज आगम में रहे और जो मंतव्य आगे जाकर भारतयी सभी दर्शन परंपरा में एक मात्र जैन परंपरा का ही समझा जाने लगा तथा जिस मंतव्य के नाम पर आज तक सारे जैन दर्शन का व्यवहार किया जाता है, वह मंतव्य है अनेकांतवाद का। दूसरे युग में सिद्धसेन हो या समंतभद्र, मल्लवादी हो या जिनभद्र सभी ने दर्शनांतरों के सामने अपने जैनमत की अनेकांत दृष्टि तार्किक शैली से तथा परमत खंडन के अभिप्राय से इस तरह रखी है कि जिससे इस युग को अनेकांतस्थापन युग ही कहना समुचित होगा। हम देखते हैं कि उक्त आचार्यों के पूर्ववर्ती किसी के प्राकृत या संस्कृत ग्रंथ में न तो वैसी अनेकांत की तार्किक स्थापना है और न अनेकात मूलक सप्तभंगी और नयवाद का वैसा तार्किक विश्लेषण है, जैसा हम सम्मति, द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका, न्यायावतार स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, नयचक्र और विशेषावश्यक भाष्य में पाते हैं। इस युग के तर्क–दर्शननिष्णात जैन आचार्यों ने नयवाद, सप्तभंगी और अनेकांतवाद की प्रबल और स्पष्ट स्थापना की ओर इतना अधिक पुरुषार्थ किया कि जिसके कारण जैन और जैनेतर परंपराओं में जैन दर्शन अनेकान्तदर्शन के नाम से ही प्रतिष्ठित हुआ। बौद्ध तथा ब्राह्मण दार्शनिक पण्डितों का लक्ष्य अनेकांतखण्डन की ओर गया तथा वे किसी न किसी प्रकार से अपने ग्रंथों में मात्र अनेकांत या सप्तभंगी का खण्डन करके ही जैन दर्शन के मंतव्यों के खण्डन की इतिश्री समझने लगे। इस युग की अनेकांत और तन्मूलक वादों की स्थापना इतनी गहरी हुई कि जिस पर उत्तरवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने अनेकधा पल्लवन किया है फिर भी उसमें नई मौलिक युक्तियों का शायद ही समावेश हुआ है। दो सौ वर्ष के इस युग की साहित्यिक प्रवृत्ति में जैनन्याय और प्रमाणशास्त्र की पूर्व भूमिका तो तैयार हुई जान पड़ती है पर इसमें उस शास्त्र का व्यवस्थित निर्माण देखा नहीं जाता। इस युग की परमतों के सयुक्तिक खण्डन और दर्शनांतरीय समर्थ विद्वानों के सामने स्वमत के प्रतिष्ठित स्थापन की भावना ने जैन परंपरा में संस्कृत भाषा के तथा संस्कृतनिबद्ध दर्शनांतरीय प्रतिष्ठित ग्रंथों के परिशीलन की प्रबल जिज्ञासा पैदा कर दी और उसी ने समर्थ जैन आचार्यों का लक्ष्य अपने निजी न्याय तथा प्रमाणशास्त्र के निर्माण की ओर खींचा जिसकी कमी बहुत ही अखर रही थी।

३–न्याय-प्रमाण स्थापन युग

उसी परिस्थिति में से अकलंक जैसे धुरंधर व्यवस्थापक का जन्म हुआ। सम्भवतः अकलंक ने ही पहले पहल सोचा कि जैन परंपरा के ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता आदि सभी पदार्थों का निरूपण तार्किक शैली से संस्कृत भाषा में वैसा ही शास्त्र-बद्ध करना आवश्यक है जैसा ब्राह्मण और बौद्ध परंपरा के साहित्य में बहुत पहले से हो गया है और जिसका अध्ययन अनिवार्य रूप से जैन तार्किक करने लगे हैं। इस विचार से अकलङ्क ने द्विमुखी प्रवृत्ति शुरू की। एक तो बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सूक्ष्म परिशीलन और दूसरी ओर समस्त जैन मंतव्यों का तार्किक विश्लेषण। केवल परमतों को निरास करने ही से अकलङ्क का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता था। अतएव दर्शनांतरीय शास्त्रों के सूक्ष्म परिशीलन में से और जैनमत के तलस्पर्शी ज्ञान से उन्होंने छोटे-छोटे पर समस्त जैन तर्क प्रमाण के शास्त्र के आधारस्तम्भभूत अनेक न्याय-प्रमाण विषयक प्रकरण रचे जो दिङ्नाग और खासकर धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध तार्किकों के तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि जैसे ब्राह्मण तार्किकों के प्रभाव से भरे हुए होने पर भी जैन मंतव्यों की बिलकुल नए सिरे और स्वतंत्र भाव से स्थापना करते हैं। अकलंक ने न्याय-प्रमाणशास्त्र का जैन परंपरा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषाएँ, जो लक्षण व परिक्षण किया, जो प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वादकथा आदि परमत-प्रसिद्ध वस्तुओं के संबंध में जो जैन-प्रणाली स्थिर की, संक्षेप में अब तक में जैन परंपरा में नहीं पर अन्य परंपराओं में प्रसिद्ध ऐसे तर्कशास्त्र के अनेक पदार्थों को जैनदृष्टि से जैन परंपरा में जो सात्मीभाव किया तथा आगमसिद्ध अपने मंतव्यों को जिस तरह दार्शनिकों के सामने रखने योग्य बनाया, वह सब छोटे-छोटे ग्रंथों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय-प्रमाण स्थापन युग का द्योतक है।

अकलङ्क के द्वारा प्रारब्ध इस युग में साक्षात् या परंपरा से अकलङ्क के शिष्य-प्रशिष्यों ने ही उनके सूत्र स्थानीय ग्रंथों को बड़े-बड़े टीका ग्रंथों से वैसे ही अलंकृत किया जैसे धर्मकीर्ति के ग्रंथों को उनके शिष्यों ने।

अनेकांत युग की मात्र पद्यप्रधान रचना को अकलङ्क ने गद्य-पद्य में परिवर्तित किया था पर उनके उत्तरवर्ती अनुगामियों ने उस रचना को नाना रूपों में परिवर्तित किया, जो रूप बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा में प्रतिष्ठित हो चुके थे। माणिक्यनंदी अकलङ्क के ही विचार दोहन में से सूत्रों का निर्माण करते हैं।

विद्यानंद अकलङ्क के ही सूक्तों पर या तो भाष्य रचते हैं या पद्यवार्तिक बनाते हैं या दूसरे छोटे २ अनेक प्रकरण बनाते हैं। अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे तो अकलङ्क के संक्षिप्त सूक्तों पर इतने बड़े और विशद तथा जटिल भाष्य व विवरण कर डालते हैं कि जिससे तब तक में विकसित दर्शनांतरीय विचार परंपराओं का एक तरह से जैन वाङ्मय में समावेश हो जाता है। दूसरी तरफ श्वेताम्बर परंपरा के आचार्य भी उसी अकलङ्क स्थापित प्रणाली की ओर झुकते हैं। हरिभद्र जैसे आगमिक और तार्किक ग्रन्थकार ने तो सिद्धसेन और समंतभद्र आदि के मार्ग का प्रधानतया अनेकांतजयपताका आदि में अनुसरण किया पर धीरे २ न्याय-प्रमाण विषयक स्वतंत्रग्रन्थ प्रणयन की प्रवृत्ति भी श्वेताम्बर परंपरा में शुरू हुई। श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार रचा था। पर वह निरा प्रारम्भ मात्र था। अकलङ्क ने जैन न्याय की सारी व्यवस्था स्थिर कर दी। हरिभद्र ने दर्शनांतरीय सब वार्ताओं का समुच्चय भी कर दिया। इस भूमिका को लेकर शांत्याचार्य जैसे श्वेताम्बार तार्किक ने तर्कवार्तिक जैसा छोटा किन्तु सारगर्भ ग्रन्थ रचा। इसके बाद तो श्वेताम्बर परंपरा में न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह का, परिशीलन का और नए नए ग्रन्थ निर्माण का ऐसा पूर आया कि मानों समाज में तब तक ऐसा कोई प्रतिष्ठित विद्वान् ही न समझा जाने लगा जिसने संस्कृत भाषा में खास कर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूप से कुछ न कुछ लिखा न हो। इस भावना में से ही अभयदेव का वादार्णव तैयार हुआ जो संभवतः तब तक के जैन संस्कृत ग्रन्थों में सब से बड़ा है। पर जैन परंपरा पोषक गुजरात गत सामाजिक–राजकीय सभी बलों का सब से अधिक उपयोग वादिदेव सूरि ने किया। उन्होंने अपने ग्रंथ का स्याद्वा-दरत्नाकर यथार्थ ही नाम रखा। क्योंकि उन्होंने अपने समय तक में प्रसिद्ध सभी श्वेताम्बर-दिगम्बरों के तार्किक विचारों का दोहन अपने ग्रंथ में रख दिया जो स्याद्वाद ही था। साथ ही उन्होंने अपनी जानीब से ब्राह्मण और बौद्ध परंपरा की किसी भी शाखा के मंतव्यों की विस्तृत चर्चा अपने ग्रंथ में न छोड़ी। चाहे विस्तार के कारण वह ग्रंथ पाठ्य रहा न हो पर तर्क शास्त्र के निर्माण में और विस्तृत निर्माण में प्रतिष्ठा माननेवाले जैनमत की बदौलत एक रत्नाकर जैसा समग्र मंतव्यरत्नों का संग्रह बन गया जो न केवल तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ही उपयोगी है पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्त्व का है।

आगमिक साहित्य के प्राचीन और अति विशाल खजाने के उपरांत तत्त्वार्थ से लेकर स्याद्वादरत्नाकर तक के संस्कृत व तार्किक जैन साहित्य की भी बहुत बड़ी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन पथ में आई जिससे हेमचन्द्र का सर्वाङ्गीण

सर्जक व्यक्तित्व संतुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नए सर्जन की ओर प्रवृत्त हुआ जो तब तक के जैन वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।

दिङ्नाग के न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदि से प्रेरित होकर सिद्धसेन ने जैन परंपरा में न्याय–परार्थानुमान का अवतार कर ही दिया था। समंतभद्र ने अक्षपाद के प्रावादुकों (अध्याय चतुर्थ) के मतनिरास की तरह आप्त की मीमांसा के बहाने सप्तभंगी की स्थापना में परप्रवादियों का निरास कर ही दिया था। तथा उन्होंने जैनेतर शासनों से जैन शासन की विशेष सयुक्तिकता का अनुशासन भी युक्त्यनुशासन में कर ही दिया था। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदि से बल पाकर तीक्ष्ण दृष्टि अकलङ्क ने जैन न्याय का विशेषनिश्चय–व्यवस्थापन तथा जैन प्रमाणों का संग्रह अर्थात् विभाग, लक्षण आदि द्वारा निरूपण अनेक तरह से कर दिया था। अकलङ्क ने सर्वज्ञत्व जीवत्व आदि की सिद्धि के द्वारा धर्मकीर्ति जैसे प्राज्ञ बौद्धों को जबाब भी दिया था। सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानंद ने आप्त की, पत्र की और प्रमाणों की परीक्षा द्वारा धर्मकीर्ति की तथा शांतरक्षित की विविध परीक्षाओं का जैन परंपरा में सूत्रपात भी कर ही दिया था। माणिक्यनंदी ने परीक्षामुख के द्वारा न्यायबिंदु के से सूत्रग्रंथ की कमी को दूर कर ही दिया था। जैसे धर्मकीर्ति के अनुगामी विनीतदेव, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, अर्चट आदि प्रखर तार्किकों ने उनके सभी मूल ग्रंथों पर छोटे-बड़े भाष्य या विवरण लिखकर उनके ग्रंथों को पठनीय तथा विचारणीय बनाकर बौद्ध न्यायशास्त्र को प्रकर्ष की भूमिका पर पहुँचाया था वैसे ही एक तरफ से दिगम्बर परंपरा में अकलङ्क के संक्षिप्त पर गहन सूक्तों पर उनके अनुगामी अनंतवीर्य, विद्यानंद, प्रभाचंद्र और वादिराज जैसे विशारद तथा पुरुषार्थी तार्किकों ने विस्तृत व गहन भाष्य-विवरण आदि रचकर जैन न्याय शास्त्र को अतिसमृद्ध बनाने का सिलसिला भी जारी कर ही दिया था और दूसरी तरफ से श्वेताम्बर परंपरा में सिद्धसेन के संस्कृत तथा प्राकृत तर्क प्रकरणों को उनके अनुगामियों ने टीकाग्रंथों से भूषित करके उन्हें विशेष सुगम तथा प्रचारणीय बनाने का भी प्रयत्न इसी युग में शुरू किया था। इसी सिलसिले में से प्रभाचंद्र के द्वारा प्रमेयों के कमल पर मार्तण्ड का प्रखर प्रकाश तथा न्याय के कुमुदों पर चंद्र का सौम्य प्रकाश डाला ही गया था। अभयदेव के द्वारा तत्त्वबोधविधायिनी टीका या वादार्णव रचा जाकर तत्त्वसंग्रह तथा प्रमाणवार्तिकालंकार जैसे बड़े ग्रंथों के अभाव की पूर्ति की गई थी। वादिदेव ने रत्नाकर रचकर उसमें सभी पूर्ववर्ती जैनग्रंथरत्नों का पूर्णतया संग्रह कर दिया था। यह सब हेमचंद्र के सामने था। पर उन्हें मालूम हुआ कि उस न्याय-प्रमाण विषयक साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है जो

अति महत्त्व का होते हुए भी एक एक विषय की ही चर्चा करता है या बहुत ही संक्षिप्त है। दूसरा भाग ऐसा है कि जो है तो सर्व विषय संग्राही पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा शब्द क्लिष्ट है कि जो सर्वसाधारण के अभ्यास का विषय बन नहीं सकता। इस विचार से हेमचंद्र ने एक ऐसा प्रमाण विषयक ग्रंथ बनाना चाहा जो कि उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक विषय की चर्चा से खाली न रहे और फिर भी वह पाठ्यक्रम योग्य मध्यम कद का हो। इसी दृष्टि में से प्रमाणमीमांसा का जन्म हुआ। इसमें हेमचंद्र ने पूर्ववर्ती आगमिक–तार्किक सभी जैन मंतव्यों को विचार व मनन से पचाकर अपने ढंग की विशद व अपुनरुक्त सूत्रशैली तथा सर्वसंग्राहिणी विशदतम स्वोपज्ञवृत्ति में सन्निविष्ट किया। यद्यपि पूर्ववर्ती अनेक जैन ग्रंथों का सुसम्बद्ध दोहन इस मीमांसा में है जो हिन्दी टिप्पणियों में की गई तुलना से स्पष्ट हो जाता है फिर भी उसी अधूरी तुलना के आधार से यहाँ यह भी कह देना समुचित है कि प्रस्तुत ग्रंथ के निर्माण में हेमचंद्र ने प्रधानतया किन किन ग्रंथों या ग्रन्थकारों का आश्रय लिया है। निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य तथा तत्त्वार्थ जैसे आगमिक ग्रन्थ तथा सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलङ्क, माणिक्यनंदी और विद्यानंद की प्राय; समस्त कृतियाँ इसकी उपादन सामग्री बनी हैं। प्रभाचंद्र के मार्तण्ड का भी इसमें पूरा असर है। अगर अनंतवीर्य सचमुच हेमचंद्र के पूर्ववर्ती या समकालीन वृद्ध रहे होंगे तो यह भी सुनिश्चित है कि इस ग्रन्थ की रचना में उनकी छोटी सी प्रमेयरत्नमाला का विशेष उपयोग हुआ है। वादिदेवसूरि की कृति का भी उपयोग इसमें स्पष्ट है फिर भी जैन तार्किकों में से अकलंक और माणिक्यनंदी का ही मार्गानुगमन प्रधानतया देखा जाता है। उपयुक्त जैन ग्रंथों में आए हुए ब्राह्मण बौद्ध ग्रंथों का भी उपयोग हो जाना स्वाभाविक ही था। फिर भी प्रमाण मीमांसा के सूक्ष्म अवलोकन तथा तुलनात्मक अभ्यास से यह भी पता चल जाता है कि हेमचंद्र ने बौद्ध ब्राह्मण परंपरा के किन किन विद्वानों की कृतियों का अध्ययन व परिशीलन विशेषरूप से किया था जो प्रमाण मीमांसा में उपयुक्त हुआ हो। दिङ्नाग, खासकर धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शांतरक्षित ये बौद्ध तार्किक इनके अध्ययन के विषय अवश्य रहे हैं। कणाद, भासर्वज्ञ, व्योमशिव, श्रीधर, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्द्योतकर, जयंत, वाचस्पति मिश्र, शबर, प्रभाकर, कुमारिल आदि जुदी २ वैदिक परंपराओं के प्रसिद्ध विद्वानों की सब कृतियाँ प्रायः इनके अध्ययन की विषय रही। चार्वाक एकदेशीय जयराशि भट्ट का तत्त्वोपप्लव भी इनकी दृष्टि के बाहर नहीं था। यह सब होते हुए भी हेमचन्द्र की भाषा तथा निरूपण शैली पर धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट, भासर्वज्ञ, वात्स्यायन, जयंत, वाचस्पति, कुमारिल

आदि का ही आकर्षक प्रभाव पड़ा हुआ जान पड़ता है। अतएव यह अधूरे रूप में उपलब्ध प्रमाणमीमांसा भी ऐतिहासिक दृष्टि से जैन तर्क साहित्य में तथा भारतीय दर्शन साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती है।

भारतीय प्रमाणशास्त्र में 'प्रमाण मीमांसा' का स्थान—

भारतीय प्रमाणशास्त्र में प्रमाण मीमांसा का तत्त्वज्ञान की दृष्टि से क्या स्थान है इसे ठीक २ समझने के लिए मुख्यतया दो प्रश्नों पर विचार करना ही होगा। जैन तार्किकों की भारतीय प्रमाणशास्त्र को क्या देन है जो प्रमाण मीमांसा में सन्निविष्ट हुई हो और जिसको कि बिना जाने किसी तरह भारतीय प्रमाणशास्त्र का पूरा अध्ययन हो ही नहीं सकता। पूर्वाचार्यों की उस देन में हेमचन्द्र ने अपनी ओर से भी कुछ विशेष अर्पण किया है या नहीं और किया है तो किन मुद्दों पर ?

(१) जैनाचार्यों की भारतीय प्रमाणशास्त्र को देन

१—अनेकांतवाद—

सबसे पहली और सबसे श्रेष्ट सब देनों की चावी रूप जैनाचार्यों की मुख्य देन है अनेकांत तथा नयवाद का शास्त्रीय निरूपण।[१]

तत्त्व-चिंतन में अनेकांतदृष्टि का व्यापक उपयोग करके जैन तार्किकों ने अपने आगमिक प्रमेयों तथा सर्वसाधारण न्याय के प्रमेयों में से जो-जो मंतव्य तार्किक दृष्टि से स्थिर किये और प्रमाण शास्त्र में जिनका निरूपण किया उनमें से थोड़े ऐसे मंतव्यों का भी निर्देश उदाहरण के तौर पर यहाँ कर देना जरूरी है जो एक मात्र जैन तार्किकों की विशेषता दरसाने वाले हैं—प्रमाण विभाग, प्रत्यक्ष का तत्त्विकत्व, इन्द्रियज्ञान का व्यापारक्रम, परोक्ष के प्रकार, हेतु का रूप, अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था, कथा का स्वरूप, निग्रहस्थान या जयपराजय व्यवस्था, प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप, सर्वज्ञत्व-समर्थन आदि।

२—प्रमाण विभाग

जैन परंपरा का प्रमाणविषयक मुख्य विभाग[२] दो दृष्टियों से अन्य परंपराओं

---

१ 'अनेकांतवाद' का इस प्रसंग में जो विस्तृत ऊहापोह किया गया है उसे अन्यत्र मुद्रित किया गया है। देखो पृ० १६१–१७३। अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं की गई—संपादक।

२—प्रमाण मीमांसा १–१–१० तथा टिप्पण पृ० १६ पं० २६।

की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है। एक तो यह कि ऐसे सर्वानुभवसिद्ध वैलक्षण्य पर मुख्य विभाग अवलंबित है जिससे एक विभाग में आनेवाले प्रमाण दूसरे विभाग से असंकीर्ण रूप में अलग हो जाते हैं—जैसा कि इतर परंपराओं के प्रमाण विभाग में नहीं हो पाता। दूसरी दृष्टि यह है कि चाहे किसी दर्शन की न्यून या अधिक प्रमाण संख्या क्यों न हो पर वह सब बिना खींचतान के इस विभाग में समा जाती है। कोई भी ज्ञान या तो सीधे तौर से साक्षात्कारात्मक, होता है या असाक्षात्कारात्मक, यही प्राकृत-पंडितजन साधारण अनुभव है। इसी अनुभव को सामने रखकर जैन चिन्तकों ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो मुख्य विभाग किये जो एक दूसरे से बिलकुल विलक्षण हैं। दूसरी इसकी यह खूबी है कि इसमें न तो चार्वाक की तरह परोक्षानुभव का अपलाप है, न बौद्धदर्शन संमत प्रत्यक्ष–अनुमान द्वैविध्य की तरह आगम आदि इतर प्रमाण व्यापारों का अपलाप है या खींचातानी से अनुमान में समावेश करना पड़ता है और न त्रिविध प्रमाणवादी सांख्य तथा प्राचीन वैशेषिक, चतुर्विध प्रमाणवादी नैयायिक, पंचविध प्रमाणवादी प्रभाकर, षड्विध प्रमाणवादी मीमांसक, सप्तविध या अष्टविध प्रमाणवादी पौराणिक आदि की तरह अपनी २ अभिमत प्रमाणसंख्या को स्थिर बनाए रखने के लिए इतर संख्या का अपलाप या उसे तोड़-मरोड़ करके अपने में समावेश करना पड़ता है। चाहे जितने प्रमाण मान लो पर वे सीधे तौर पर या तो प्रत्यक्ष होंगे या परोक्ष। इसी सादी किन्तु उपयोगी समझ पर जैनों का मुख्य प्रमाण विभाग कायम हुआ जान पड़ता है।

२—प्रत्यक्ष का तात्त्विकत्व

प्रत्येक चिन्तक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है। जैन दृष्टि का कहना है कि दूसरे किसी भी ज्ञान से प्रत्यक्ष का ही स्थान ऊँचा व प्राथमिक है। इन्द्रियां जो परिमित प्रदेश में अतिस्थूल वस्तुओं से आगे जा नहीं सकतीं, उनसे पैदा होनेवाले ज्ञान को परोक्ष से ऊँचा स्थान देना इन्द्रियों का अति मूल्य आंकने के बराबर है। इन्द्रियां कितनी ही पटु क्यों न हों, पर वे अन्ततः हैं तो परतन्त्र ही। अतएव परतन्त्रजनित ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष मानने की अपेक्षा स्वतन्त्रजनित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानना न्यायसंगत है। इसी विचार से जैन चिन्तकों ने उसी ज्ञान को वस्तुतः प्रत्यक्ष माना है जो स्वतन्त्र आत्मा के आश्रित है। यह जैन विचार तत्त्वचिंतन में मौलिक है। ऐसा होते हुए भी लोकसिद्ध प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर उन्होंने अनेकान्त दृष्टि का उपयोग कर दिया है।

४—इन्द्रिय ज्ञान का व्यापारक्रम

सर्व दर्शनों में एक या दूसरे रूप में थोड़े या बहुत परिमाण में ज्ञान व्यापार का क्रम देखा जाता है। इसमें ऐन्द्रियक ज्ञान के व्यापार क्रम का भी स्थान है। परन्तु जैन परंपरा में सन्निपातरूप प्राथमिक इन्द्रिय व्यापार से लेकर अन्तिम इन्द्रिय व्यापार तक का जिस विश्लेषण और जिस स्पष्टता के साथ अनुभव सिद्ध अतिविस्तृत वर्णन है वैसा दूसरे दर्शनों में नहीं देखा जाता। यह जैन वर्णन है तो अति पुराना और विज्ञान युग के पहिले का, फिर भी आधुनिक मानस शास्त्र तथा इन्द्रिय-व्यापारशास्त्र के वैज्ञानिक अभ्यासियों के वास्ते यह बहुत महत्त्व का है।

५—परोक्ष के प्रकार

केवल स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और आगम के ही प्रामाण्य-अप्रामाण्य मानने में मतभेदों का जंगल न था; बल्कि अनुमान तक के प्रामाण्य-अप्रामाण्य में विप्रतिपत्ति रही। जैन तार्किकों ने देखा कि प्रत्येक पक्षकार अपने पक्ष को आत्यन्तिक खींचने में दूसरे पक्षकार का सत्य देख नहीं पाता। इस विचार में से उन्होंने उन सब प्रकार के ज्ञानों को प्रमाण कोटि में दाखिल किया जिनके बल पर वास्तविक व्यवहार चलता है और जिनमें से किसी एक का अपलाप करने पर तुल्य युक्ति से दूसरे का अपलाप करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे सभी प्रमाण प्रकारों को उन्होंने परोक्ष में डालकर अपनी समन्वय दृष्टि का परिचय कराया[१]।

६—हेतु का रूप

हेतु के स्वरूप के विषय में मतभेदों के अनेक अखाड़े कायम हो गए थे। इस युग में जैन तार्किकों ने यह सोचा कि क्या हेतु का एक ही रूप ऐसा मिल सकता है या नहीं जिस पर सब मतभेदों का समन्वय भी हो सके और जो वास्तविक भी हो। इस चिन्तन में से उन्होंने हेतु का एक मात्र अन्यथानुपपत्ति रूप निश्चित किया जो उसका निर्दोष लक्षण भी हो सके और सब मतों के समन्वय के साथ जो सर्वमान्य भी हो। जहाँ तक देखा गया है हेतु के ऐसे एक मात्र तात्त्विक रूप के निश्चित करने का तथा उसके द्वारा तीन, चार, पाँच और छः, पूर्व प्रसिद्ध हेतु रूपों के यथासंभव स्वीकार का श्रेय जैन तार्किकों को ही है।

---

१ प्रमाण मीमांसा १-२-२

७—अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था—

: परार्थानुमान के अवयवों की संख्या के विषय में भी प्रतिद्वन्द्वीभाव प्रमाण क्षेत्र में कायम हो गया था। जैन तार्किकों ने उस विषय के पक्षभेद की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय श्रोता की योग्यता के आधार पर ही किया, जो वस्तुतः सच्ची कसौटी हो सकती है। इस कसौटी में से उन्हें अवयव प्रयोगकी व्यवस्था ठीक २ सूझ आई जो वस्तुतः अनेकान्त दृष्टिमूलक होकर सर्व संग्राहिणी है और वैसी स्पष्ट अन्य परम्पराओं में शायद ही देखी जाती है।

८—कथा का स्वरूप

आध्यात्मिकता मिश्रित तत्त्वचिंतन में भी साम्प्रदायिक बुद्धि दाखिल होते ही उसमें से आध्यात्मिकता के साथ असंगत ऐसी चर्चाएँ जोरों से चलने लगीं, जिनके फलस्वरूप जल्प और वितंडा कथा का चलाना भी प्रतिष्ठित समझा जाने लगा जो छल, जाति आदि के असत्य दाव-पेचों पर निर्भर था। जैन तार्किक साम्प्रदायिकता से मुक्त तो न थे, फिर भी उनकी परंपरागत अहिंसा व वीतरागत्व की प्रकृति ने उन्हें वह असंगति सुझाई जिससे प्रेरित होकर उन्होंने अपने तर्कशास्त्र में कथा का एक वादात्मक रूप ही स्थिर किया; जिसमें छल आदि किसी भी चालबाजी का प्रयोग वर्ज्य है और जो एक मात्र तत्त्व जिज्ञासा की दृष्टि से चलाई जाती है। अहिंसा की आत्यन्तिक समर्थक जैन परंपरा की तरह बौद्ध परंपरा भी रही, फिर भी छल आदि के प्रयोगों में हिंसा देखकर निंद्य ठहराने का तथा एक मात्र वाद कथा को ही प्रतिष्ठित बनाने का मार्ग जैन तार्किकों ने प्रशस्त किया, जिसकी ओर तत्त्व-चिन्तकों का लक्ष्य जाना जरूरी है।

९—निग्रहस्थान या जयपराजय व्यवस्था

वैदिक और बौद्ध परंपरा के संघर्ष ने निग्रह स्थान के स्वरूप के विषय में विकाससूचक बड़ी ही भारी प्रगति सिद्ध की थी। फिर भी उस क्षेत्र में जैन तार्किकों ने प्रवेश करते ही एक ऐसी नई बात सुझाई जो न्यायविकास के समग्र इतिहास में बड़े मार्के की और अब तक सबसे अन्तिम है। वह बात है जय-पराजय व्यवस्था का नया निर्माण करने की। वह नया निर्माण सत्य और अहिंसा दोनों तत्त्वों पर प्रतिष्ठित हुआ जो पहले की जय-पराजय व्यवस्था में न थे।

१०—प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप

प्रमेय जड़ हो या चेतन, पर सब का स्वरूप जैन तार्किकों ने अनेकान्त दृष्टि

का उपयोग करके ही स्थापित किया और सर्वव्यापक रूप से कह दिया कि वस्तु मात्र परिणामी नित्य है। नित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभव सिद्ध अनित्यता का इनकार करने की अशक्यता देखकर कुछ तत्त्व-चिंतक गुण, धर्म आदि में अनित्यता घटाकर उसका जो मेल नित्य द्रव्य के साथ खींचातानी से बिठा रहे थे और कुछ तत्त्व-चिंतक अनित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभव सिद्ध नित्यता को भी जो कल्पना मात्र बतला रहे थे उन दोनों में जैन तार्किकों ने स्पष्टतया अनुभव की आंशिक असंगति देखी और पूरे विश्वास के साथ बलपूर्वक प्रतिपादन कर दिया कि जब अनुभव न केवल नित्यता का है और न केवल अनित्यता का, तब किसी एक अंश को मानकर दूसरे अंश का बलात् मेल बैठाने की अपेक्षा दोनों अंशों को तुल्य सत्यरूप में स्वीकार करना ही न्यायसंगत है। इस प्रतिपादन में दिखाई देनेवाले विरोध का परिहार उन्होंने द्रव्य और पर्याय या सामान्य और विशेष ग्राहिणी दो दृष्टियों के स्पष्ट पृथक्करण से कर दिया। द्रव्य पर्याय की व्यापक दृष्टि का यह विकास जैन परम्परा की ही देन है।

जीवात्मा, परमात्मा और ईश्वर के संबन्ध में सद्गुण-विकास या आचरण-साफल्य की दृष्टि से असंगत ऐसी अनेक कल्पनाएँ तत्त्व-चिंतन के प्रदेश में प्रचलित थीं। एक मात्र परमात्मा ही है या उससे भिन्न अनेक जीवात्मा चेतन भी हैं, पर तत्त्वतः वे सभी कूटस्थ निर्विकार और निर्लेप ही हैं। जो कुछ दोष या बंधन है वह या तो निरा भ्रांति मात्र है या जड़ प्रकृति गत है। इस मतलब का तत्त्व-चिंतन एक ओर था दूसरी ओर ऐसा भी चिंतन था जो कहता कि चैतन्य तो है, उसमें दोष, वासना आदि का लगाव तथा उससे अलग होने की योग्यता भी है पर उस चैतन्य की प्रवाहबद्ध धारा में कोई स्थिर तत्त्व नहीं है। इन दोनों प्रकार के तत्त्वचिंतनों में सद्गुण-विकास और सदाचार साफल्य की संगति सरलता से नहीं बैठ पाती। वैयक्तिक या सामूहिक जीवन में सद्गुण विकास और सदाचार के निर्माण के सिवाय और किसी प्रकार से सामंजस्य जम नहीं सकता। यह सोचकर जैन चिंतकों ने आत्मा का स्वरूप ऐसा माना जिसमें एक ही परमात्म-शक्ति भी रहे और जिसमें दोष, वासना आदि के निवारण द्वारा जीवन-शुद्धि की वास्तविक जवाबदेही भी रहे। आत्म-विषयक जैन-चिंतन में वास्तविक परमात्म शक्ति या ईश्वर-भाव का तुल्य रूप से स्थान है, अनुभवसिद्ध आगन्तुक दोषों के निवारणार्थ तथा सहज बुद्धि के आविर्भावार्थ प्रयत्न का पूरा अवकाश है। इसी व्यवहार-सिद्ध बुद्धि में से जीवभेदवाद तथा देहप्रमाणवाद स्थापित हुए जो सम्मिलित रूप से एकमात्र जैन परंपरा में ही हैं।

११—सर्वज्ञत्व समर्थन

प्रमाण शास्त्र में जैन सर्वज्ञवाद दो दृष्टियों से अपना खास स्थान रखता है। एक तो यह कि वह जीव-सर्वज्ञवाद है जिसमें हर कोई अधिकारी की सर्वज्ञत्व पाने की शक्ति मानी गई है और दूसरी दृष्टि यह है कि जैनपक्ष निरपवाद रूप से सर्वज्ञवादी ही रहा है जैसा कि न बौद्ध परंपरा में हुआ है और न वैदिक परंपरा में। इस कारण से काल्पनिक, अकाल्पनिक, मिश्रित यावत् सर्वज्ञत्वसमर्थक युक्तियों का संग्रह अकेले जैन प्रमाणशास्त्र में ही मिल जाता है। जो सर्वज्ञत्व के संबन्ध में हुए भूतकालीन बौद्धिक व्यायाम के ऐतिहासिक अभ्यासियों के तथा सांप्रदायिक भावनावालों के काम की चीज है।

२. भारतीय प्रमाण शास्त्र में हेमचन्द्र का अर्पण

परंपराप्राप्त उपर्युक्त तथा दूसरे अनेक छोटे-बड़े तत्त्वज्ञान के मुद्दों पर हेमचन्द्र ने ऐसा कोई विशिष्ट चिंतन किया है या नहीं और किया है तो किस २ मुद्दे पर किस प्रकार है जो जैन तर्कशास्त्र के अलावा भारतीय प्रमाणशास्त्र मात्र को उनकी देन कही जा सके। इसका जवाब हम 'प्रमाणमीमांसा' के हिंदी टिप्पणों में उस २ स्थान पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि द्वारा विस्तार से दे चुके हैं। जिसे दुहराने की कोई जरूरत नहीं। विशेष जिज्ञासु उस उस मुद्दे के टिप्पणों को देख लें।

———

ज्ञानबिन्दुपरिचय

ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रंथ 'ज्ञानबिन्दु' के प्रणेता वे ही वाचकपुङ्गव श्रीमद् यशोविजयजी हैं जिनकी एक कृति 'जैनतर्कभाषा' इतःपूर्व इसी 'सिंघी जैन ग्रंथमाला' में, अष्टम मणि के रूप में प्रकाशित हो चुकी है। उस जैनतर्कभाषा के प्रारम्भ[1] में उपाध्यायजी का सप्रमाण परिचय दिया गया है। यों तो उनके जीवन के संबन्ध में, खास कर उनकी नाना प्रकार की कृतियों के संबन्ध में, बहुत कुछ विचार करने तथा लिखने का अवकाश है, फिर भी इस जगह सिर्फ उतने ही से सन्तोष मान लिया जाता है, जितना कि तर्कभाषा के प्रारम्भ में कहा गया है।

यद्यपि ग्रंथकार के बारे में हमें अभी इस जगह अधिक कुछ नहीं कहना है, तथापि प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु नामक उनकी कृति का सविशेष परिचय कराना आवश्यक है और इष्ट भी। इसके द्वारा ग्रंथकार के सर्वांगीण पाण्डित्य तथा ग्रंथनिर्माण-कौशल का भी थोड़ा बहुत परिचय पाठकों को अवश्य ही हो जाएगा।

ग्रन्थ का बाह्य स्वरूप

ग्रंथ के बाह्य स्वरूप का विचार करते समय मुख्यतया तीन बातों पर कुछ विचार करना अवसरप्राप्त है। १ नाम, २ विषय और ३ रचनाशैली।

१. नाम

ग्रंथकार ने स्वयं ही ग्रंथ का 'ज्ञानबिन्दु' नाम, ग्रंथ रचने की प्रतिज्ञा करते समय प्रारम्भ[2] में तथा उसकी समाप्ति करते समय अन्त[3] में उल्लिखित किया है। इस सामासिक नाम में 'ज्ञान' और 'बिंदु' ये दो पद हैं। ज्ञान पद का सामान्य अर्थ प्रसिद्ध ही है और बिंदु का अर्थ है बूँद। जो ग्रंथ ज्ञान का बिंदु मात्र है अर्थात् जिसमें ज्ञान की चर्चा बूँद जितनी अति अल्प है वह ज्ञानबिंदु—

---

१. देखो, जैनतर्कभाषा गत 'परिचय' पृ० १–४।

२. 'ज्ञानबिन्दुः श्रुताम्भोधेः सम्यगुद्ध्रियते मया'–पृ० १।

३. 'स्वादादस्य ज्ञानबिन्दोः'–पृ० ४९।

ऐसा अर्थ ज्ञानबिंदु शब्द का विवक्षित है। जब ग्रंथकार अपने इस गंभीर, सूक्ष्म और परिपूर्ण चर्चावाले ग्रंथ को भी बिंदु कहकर छोटा सूचित करते हैं, तब यह प्रश्न सहज ही में होता है कि क्या ग्रंथकार, पूर्वाचार्यों की तथा अन्य विद्वानों की ज्ञानविषयक अति विस्तृत चर्चा की अपेक्षा, अपनी प्रस्तुत चर्चा को छोटी कहकर वस्तुस्थिति प्रकट करते हैं या आत्मलाघव प्रकट करते हैं; अथवा अपनी इसी विषय की किसी अन्य बड़ी कृति का भी सूचन करते हैं? इस त्रि-अंशी प्रश्न का जवाब भी सभी अंशों में हाँ-रूप ही है। उन्होंने जब यह कहा कि मैं श्रुतसमुद्र[1] से 'ज्ञानबिंदु' का सम्यग् उद्धार करता हूँ, तब उन्होंने अपने श्रीमुख से यह तो कह ही दिया कि मेरा यह ग्रंथ चाहे जैसा क्यों न हो फिर भी वह श्रुतसमुद्र का तो एक बिंदुमात्र है। निःसन्देह यहाँ श्रुत शब्द से ग्रंथकार का अभिप्राय पूर्वाचार्यों की कृतियों से है। यह भी स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने अपने ग्रंथ में, पूर्वश्रुत में साक्षात् नहीं चर्चा गई ऐसी कितनी ही बातें निहित क्यों न की हों, फिर भी वे अपने आपको पूर्वाचार्यों के समक्ष लघु ही सूचित करते हैं। इस तरह प्रस्तुत ग्रंथ प्राचीन श्रुतसमुद्र का एक अंश मात्र होने से उसकी अपेक्षा तो अति अल्प है ही, पर साथ ही ज्ञानबिंदु नाम रखने में ग्रंथकार का और भी एक अभिप्राय है। वह अभिप्राय यह है कि वे इस ग्रंथ की रचना के पहले एक ज्ञान-विषयक अत्यन्त विस्तृत चर्चा करनेवाला बहुत बड़ा ग्रन्थ बना चुके थे जिसका यह ज्ञानबिंदु एक अंश है। यद्यपि वह बड़ा ग्रंथ, आज हमें उपलब्ध नहीं है, तथापि ग्रन्थकार ने खुद ही प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका उल्लेख किया है; और यह उल्लेख भी मामूली नाम से नहीं किन्तु, 'ज्ञानार्णव'[2] जैसे विशिष्ट नाम से। उन्होंने अमुक चर्चा करते समय, विशेष विस्तार के साथ जानने के लिए स्वरचित 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। 'ज्ञानबिंदु' में की गई कोई भी चर्चा स्वयं ही विशिष्ट और पूर्ण है। फिर भी उसमें अधिक गहराई चाहनेवालों के वास्ते जब उपाध्यायजी 'ज्ञानार्णव' जैसी अपनी बड़ी कृति का सूचन करते हैं, तब इसमें कोई सन्देह ही नहीं है कि वे अपनी प्रस्तुत कृति को अपनी दूसरी उसी विषय की बहुत बड़ी कृति से भी छोटी सूचित करते हैं।

---

१ देखो पृ० ३७५ टि० २।

२ 'अधिकं मत्कृतज्ञानार्णवात् अवसेयम्'–पृ० १६। तथा ग्रंथकार ने शास्त्रवार्तासमुच्चय की टीका स्याद्वादकल्पलता में भी स्वकृत ज्ञानार्णव का उल्लेख किया है—'तत्त्वमत्रत्यं मत्कृतज्ञानार्णवादवसेयम्'—पृ० २०। दिगम्बराचार्य शुभचन्द्र का भी एक ज्ञानार्णव नामक ग्रंथ मिलता है।

सभी देशों के विद्वानों की यह परिपाटी रही है और आज भी है कि वे किसी विषय पर जब बहुत बड़ा ग्रंथ लिखें तब उसी विषय पर अधिकारी विशेष की दृष्टि से मध्यम परिमाण का या लघु परिमाण का अथवा दोनों परिमाण का ग्रंथ भी रचें। हम भारतवर्ष के साहित्यिक इतिहास को देखें तो प्रत्येक विषय के साहित्य में उस परिपाटी के नमूने देखेंगे। उपाध्यायजी ने खुद भी अनेक विषयों पर लिखते समय उस परिपाटी का अनुसरण किया है। उन्होंने नय, सप्तभंगी आदि अनेक विषयों पर छोटे-छोटे प्रकरण भी लिखे हैं, और उन्हीं विषयों पर बड़े-बड़े ग्रंथ भी लिखे हैं। उदाहरणार्थ 'नयप्रदीप', 'नयरहस्य' आदि जब छोटे-छोटे प्रकरण हैं, तब 'अनेकान्तव्यवस्था', 'नयामृततरंगिणी' आदि बड़े या आकर ग्रंथ भी हैं। जान पड़ता है ज्ञान विषय पर लिखते समय भी उन्होंने पहले 'ज्ञानार्णव' नाम का आकर ग्रंथ लिखा और पीछे ज्ञानबिंदु नाम का एक छोटा पर प्रवेशक ग्रंथ रचा। 'ज्ञानार्णव' उपलब्ध न होने से उसमें क्या-क्या, कितनी-कितनी और किस-किस प्रकार की चर्चाएँ की गई होंगी, यह कहना संभव नहीं, फिर भी उपाध्यायजी के व्यक्तित्वसूचक साहित्यराशि को देखने से इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि उन्होंने उस अर्णवग्रंथ में ज्ञान संबन्धी यच्च यावच्च कह डाला होगा।

आर्य लोगों की परंपरा में, जीवन को संस्कृत बनानेवाले जो संस्कार माने गए हैं उनमें एक नामकरण संस्कार भी है। यद्यपि यह संस्कार सामान्य रूप से मानवव्यक्तिस्पर्शी ही है, तथापि उस संस्कार की महत्ता और अन्वर्थता का विचार आर्य परंपरा में बहुत व्यापक रहा है, जिसके फलस्वरूप आर्यगण नामकरण करते समय बहुत कुछ सोच विचार करते आए हैं। इसकी व्याप्ति यहाँ तक बढ़ी, कि फिर तो किसी भी चीज का जब नाम रखना होता है तो, उस पर खास विचार कर लिया जाता है। ग्रन्थों के नामकरण तो रचयिता विद्वानों के द्वारा ही होते हैं, अतएव वे अन्वर्थता के साथ-साथ अपने नामकरण में नवीनता और पूर्व परंपरा का भी यथासंभव सुयोग साधते हैं। 'ज्ञानबिन्दु' नाम अन्वर्थ तो है ही, पर उसमें नवीनता तथा पूर्व परंपरा का मेल भी है। पूर्व परंपरा इसमें अनेकमुखी व्यक्त हुई है। बौद्ध, ब्राह्मण और जैन परंपरा के अनेक विषयों के ऐसे प्राचीन ग्रन्थ आज भी ज्ञात हैं, जिनके अन्त में 'बिन्दु' शब्द आता है। धर्मकीर्त्ति के 'हेतुबिन्दु' और 'न्यायबिन्दु' जैसे ग्रन्थ न केवल उपाध्यायजी ने नाम मात्र से सुने ही थे बल्कि उनका उन ग्रन्थों का परिशीलन भी रहा। वाचस्पति मिश्र के 'तत्त्वबिन्दु' और मधुसूदन सरस्वती के 'सिद्धान्तबिन्दु' आदि ग्रन्थ सुविश्रुत हैं, जिनमें से 'सिद्धान्तबिन्दु' का तो उपयोग प्रस्तुत 'ज्ञान-

बिन्दु' में उपाध्यायजी ने किया[1] भी है। आचार्य हरिभद्र के बिन्दु अन्तवाले 'योगबिन्दु' और 'धर्मबिन्दु' प्रसिद्ध हैं। इन बिन्दु अन्तवाले नामों की सुंदर और सार्थक पूर्व परंपरा को उपाध्यायजी ने प्रस्तुत ग्रंथ में व्यक्त करके 'ज्ञानार्णव' और 'ज्ञानबिन्दु' की नवीन जोड़ी के द्वारा नवीनता भी अर्पित की है।

२. विषय

ग्रन्थकार ने प्रतिपाद्य रूप से जिस विषय को पसन्द किया है वह तो ग्रन्थ के नाम से ही प्रसिद्ध है। यों तो ज्ञान की महिमा मानववंश मात्र में प्रसिद्ध है, फिर भी आर्य जाति का वह एक मात्र जीवन-साध्य रहा है। जैन परंपरा में ज्ञान की आराधना और पूजा की विविध प्रणालियाँ इतनी प्रचलित हैं कि कुछ भी नहीं जाननेवाला जैन भी इतना तो प्रायः जानता है कि ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। कई ऐतिहासिक प्रमाणों से ऐसा मानना पड़ता है कि ज्ञान के पाँच प्रकार, जो जैन परंपरा में प्रसिद्ध हैं, वे भगवान् महावीर के पहले से प्रचलित होने चाहिए। पूर्वश्रुत जो भगवान महावीर के पहले का माना जाता है और जो बहुत पहले से नष्ट हुआ समझा जाता है, उसमें एक 'ज्ञानप्रवाद' नाम का पूर्व था जिसमें श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परंपरा के अनुसार पंचविध ज्ञान का वर्णन था।

उपलब्ध श्रुत में प्राचीन समझे जानेवाले कुछ अंगों में भी उनकी स्पष्ट चर्चा है। 'उत्तराध्ययन'[2] जैसे प्राचीन मूल सूत्र में भी उनका वर्णन है। 'नन्दिसूत्र' में तो केवल पाँच ज्ञानों का ही वर्णन है। 'आवश्यकनिर्युक्ति' जैसे प्राचीन व्याख्या ग्रन्थ में पाँच ज्ञानों को ही मंगल मानकर शुरू में उनका वर्णन किया है।[3] कर्म विषयक साहित्य के प्राचीन से प्राचीन समझे जानेवाले ग्रन्थों में भी पञ्चविध ज्ञान के आधार पर ही कर्म-प्रकृतियों का विभाजन[4] है, जो लुप्त हुए 'कर्मप्रवाद' पूर्व की अवशिष्ट परंपरा मात्र है। इस पञ्चविध ज्ञान का सारा स्वरूप दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे दोनों ही प्राचीन संघों में एक-सा रहा है। यह सब इतना सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि पञ्चविध ज्ञान विभाग और उसका अमुक वर्णन तो बहुत ही प्राचीन होना चाहिए।

प्राचीन जैन साहित्य की जो कार्मग्रन्थिक परंपरा है तदनुसार[4] मति, श्रुत,

---

१ 'अत एव स्वयमुक्तं तपस्विना सिद्धान्तबिन्दौ'—पृ० २४।

२ अध्ययन २८, गा० ४५।

३ आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १ से आगे।

४ पंचसंग्रह, पृ० १०८. गा० ३। प्रथम कर्मग्रन्थ, गा० ४। गोम्मटसार जीवकांड, गा० २९९।

अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पाँच नाम ज्ञानविभाग सूचक फलित होते हैं। जब कि आगमिक परम्परा के अनुसार मति के स्थान में [1]अभिनिबोध नाम है। बाकी के अन्य चारों नाम कार्मग्रन्थिक परम्परा के समान ही हैं। इस तरह जैन परम्परागत पञ्चविध ज्ञानदर्शक नामों में कार्मग्रन्थिक और आगमिक परम्परा के अनुसार प्रथम ज्ञान के बोधक 'मति' और 'अभिनिबोध' ये दो नाम समानार्थक या पर्याय रूप से फलित होते हैं। बाकी के चार ज्ञान के दर्शक श्रुत, अवधि आदि चार नाम उक्त दोनों परम्पराओं के अनुसार एक-एक ही हैं। उनके दूसरे कोई पर्याय असली नहीं हैं।

स्मरण रखने की बात यह है कि जैन परम्परा के सम्पूर्ण साहित्य ने, लौकिक और लोकोत्तर सब प्रकार के ज्ञानों का समावेश उक्त पञ्चविध विभाग में से किसी न किसी विभाग में, किसी न किसी नाम से किया है। समावेश का यह प्रयत्न जैन परम्परा के सारे इतिहास में एक-सा है। जब-जब जैनाचार्यों को अपने आप किसी नए ज्ञान के बारे में, या किसी नए ज्ञान के नाम के बारे में प्रश्न पैदा हुआ, अथवा दर्शनान्तरवादियों ने उनके सामने वैसा कोई प्रश्न उपस्थित किया, तब-तब उन्होंने उस ज्ञान का या ज्ञान के विशेष नाम का समावेश उक्त पञ्चविध विभाग में से, यथासंभव किसी एक या दूसरे विभाग में, कर दिया है। अब हमें आगे यह देखना है कि उक्त पञ्चविध ज्ञान-विभाग की प्राचीन जैन भूमिका के आधार पर, क्रमशः किस-किस तरह विचारों का विकास हुआ।

जान पड़ता है, जैन परम्परा में ज्ञान संबन्धी विचारों का विकास दो मार्गों से हुआ है। एक मार्ग तो है स्वदर्शनाभ्यास का और दूसरा है दर्शनान्तराभ्यास का। दोनों मार्ग बहुधा परस्पर संबद्ध देखे जाते हैं। फिर भी उनका पारस्परिक भेद स्पष्ट है, जिसके मुख्य लक्षण ये हैं—स्वदर्शनाभ्यासजनित विकास में दर्शनान्तरीय परिभाषाओं को अपनाने का प्रयत्न नहीं है। न परमतखण्डन का प्रयत्न है और न जल्प एवं वितण्डा कथा का कभी अवलम्बन ही है। उसमें अगर कथा है तो वह एकमात्र तत्त्वबुभुत्सु कथा अर्थात् वाद ही है। जब कि दर्शनान्तराभ्यास के द्वारा हुए ज्ञान विकास में दर्शनान्तरीय परिभाषाओं को आत्मसात् करने का प्रयत्न अवश्य है। उसमें परमत खण्डन के साथ-साथ कभी-कभी जल्पकथा का भी अवलम्बन अवश्य देखा जाता है। इन लक्षणों को ध्यान में रखकर, ज्ञानसंबन्धी जैन विचार-विकास का जब हम अध्ययन करते हैं,

---

१ नन्दी सूत्र, सू० १। आवश्यक निर्युक्ति, गा० १। षट्खंडागम, पु० १. पृ० ३५३।

तब उसकी अनेक ऐतिहासिक भूमिकाएँ हमें जैन साहित्य में देखने को मिलती हैं।

ज्ञानविकास की किस भूमिका का आश्रय लेकर प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु ग्रन्थ को उपाध्यायजी ने रचा है इसे ठीक-ठीक समझने के लिए हम यहाँ ज्ञानविकास की कुछ भूमिकाओं का संक्षेप में चित्रण करते हैं। ऐसी ज्ञातव्य भूमिकाएँ नीचे लिखे अनुसार सात कही जा सकती हैं–(१) कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक, (२) निर्युक्तिगत, (३) अनुयोगगत, (४) तत्त्वार्थगत, (५) सिद्धसेनीय, (६) जिनभद्रीय और (७) अकलंकीय।

(१) कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक भूमिका वह है जिसमें पञ्चविध ज्ञान के मति या अभिनिबोध आदि पाँच नाम मिलते हैं और इन्हीं पाँच नामों के आस-पास स्वदर्शनाभ्यासजनित थोड़ा बहुत गहरा तथा विस्तृत भेद-प्रभेदों का विचार भी पाया जाता है।

(२) दूसरी भूमिका वह है जो प्राचीन निर्युक्ति भाग में, करीब विक्रम की दूसरी शताब्दी तक में, सिद्ध हुई जान पड़ती है।[1] इसमें दर्शनान्तर के अभ्यास का थोड़ा सा असर अवश्य जान पड़ता है। क्योंकि प्राचीन निर्युक्ति में मतिज्ञान के वास्ते मति और अभिनिबोध शब्द के उपरान्त संज्ञा, प्रज्ञा, स्मृति आदि अनेक पर्याय[2] शब्दों की जो वृद्धि देखी जाती है और पञ्चविध ज्ञान का जो प्रत्यक्ष[3] तथा परोक्ष रूप से विभाग देखा जाता है वह दर्शनान्तरीय अभ्यास का ही सूचक है।

---

१ निर्युक्तिसाहित्य को देखने से पता चलता है कि जितना भी निर्युक्ति के नाम से साहित्य उपलब्ध होता है वह सब न तो एक ही आचार्य की कृति है और न वह एक ही शताब्दी में बना है। फिर भी प्रस्तुत ज्ञान की चर्चा करनेवाला आवश्यक निर्युक्ति का भाग प्रथम भद्रबाहु कृत मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अतएव उसको यहाँ विक्रम की दूसरी शताब्दी तक में सिद्ध हुआ कहा गया है।

२ आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १२।

३ बृहत्कल्पभाष्यान्तर्गत भद्रबाहुकृत निर्युक्ति–गा० ३, २४, २५। यद्यपि टीकाकार ने इन गाथाओं को, भद्रबाहवीय निर्युक्तिगत होने की सूचना नहीं दी है, फिर भी पूर्वापर के संदर्भ को देखने से, इन गाथाओं को निर्युक्तिगत मानने में कोई आपत्ति नहीं है। टीकाकार ने निर्युक्ति और भाष्य का विवेक सर्वत्र नहीं दिखाया है, यह बात तो बृहत्कल्प के किसी पाठक को तुरन्त ही ध्यान में आ सकती है। और खास बात यह है कि न्यायावतार टीका की टिप्पणी के रचयिता देवभद्र, २५ वीं गाथा कि जिसमें स्पष्टतः प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण किया गया है, उसको भगवान् भद्रबाहु की होने का स्पष्टतया सूचन करते हैं–न्यायावतार, पृ० १५।

(३) तीसरी भूमिका वह है जो 'अनुयोगद्वार' नामक सूत्र में पाई जाती है, जो कि प्रायः विक्रमीय दूसरी शताब्दी की कृति है। इसमें अक्षपादीय 'न्याय-सूत्र' के चार प्रमाणों का[1] तथा उसी के अनुमान प्रमाण संबन्धी भेद-प्रभेदों का संग्रह है, जो दर्शनान्तरीय अभ्यास का असन्दिग्ध परिणाम है। इस सूत्र में जैन पञ्चविध ज्ञानविभाग को सामने रखते हुए भी उसके कर्त्ता आर्यरक्षित सूरि ने शायद, न्याय दर्शन में प्रसिद्ध प्रमाण विभाग को तथा उसकी परिभाषाओं को जैन विचार क्षेत्र में लाने का सर्व प्रथम प्रयत्न किया है।

(४) चौथी भूमिका वह है जो वाचक उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र' और खासकर उनके स्वोपज्ञ भाष्य में देखी जाती है। यह प्रायः विक्रमीय तीसरी शताब्दी के बाद की कृति है। इसमें निर्युक्ति-प्रतिपादित प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का उल्लेख करके[2] वाचक ने अनुयोगद्वार में स्वीकृत न्यायदर्शनीय चतुर्विध प्रमाणविभाग की ओर उदासीनता दिखाते हुए[3] निर्युक्तिगत द्विविध प्रमाण विभाग का समर्थन किया है। वाचक के इस समर्थन का आगे के ज्ञान विकास पर प्रभाव यह पड़ा है कि फिर किसी जैन तार्किक ने अपनी ज्ञान-विचारणा में उक्त चतुर्विध प्रमाणविभाग को भूल कर भी स्थान नहीं दिया। हाँ, इतना तो अवश्य हुआ कि आर्यरक्षित सूरि जैसे प्रतिष्ठित अनुयोगधर के द्वारा, एक बार जैन श्रुत में स्थान पाने के कारण, फिर न्यायदर्शनीय वह चतुर्विध प्रमाण विभाग, हमेशा के वास्ते 'भगवती'[4] आदि परम प्रमाण भूत आगमों में भी संगृहीत हो गया है। वाचक उमास्वाति का उक्त चतुर्विध प्रमाणविभाग की ओर उदासीन रहने में तात्पर्य यह जान पड़ता है कि जब जैन आचार्यों का स्वोपज्ञ प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणविभाग है तब उसी को लेकर ज्ञानों का विचार क्यों न किया जाए? और दर्शनान्तरीय चतुर्विध प्रमाणविभाग पर क्यों भार दिया जाए? इसके सिवाय वाचक ने मीमांसा आदि दर्शनान्तर में प्रसिद्ध अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का समावेश भी मति-श्रुत में किया[5] जो वाचक के पहले किसी के द्वारा किया हुआ देखा नहीं जाता। वाचक के प्रयत्न की दो बातें खास ध्यान खींचती

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र पृ० २११ से। २ तत्त्वार्थसूत्र १. ६-१३।

३ 'चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण'—तत्त्वार्थभाष्य १-६।

४ 'से किं तं पमाणे ? चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-पच्चक्खे······जहा अणुओगदारे तहा णेयव्वं ॥' भगवती, श० ५. उ० ३. भाग २. पृ० २११; स्थानांगसूत्र पृ० ४६।

५ तत्त्वार्थभाष्य १-१२।

हैं। एक तो वह, जो निर्युक्तिस्वीकृत प्रमाण विभाग की प्रतिष्ठा बढ़ाने से संबन्ध रखती है; और दूसरी वह, जो दर्शनान्तरीय प्रमाण की परिभाषा के साथ मेल बैठाती है और प्रासंगिक रूप से दर्शनान्तरीय प्रमाणविभाग का निराकरण करती है।

(५) पाँचवीं भूमिका, सिद्धसेन दिवाकर के द्वारा किये गए ज्ञान के विचार-विकास की है। सिद्धसेन ने जो अनुमानतः विक्रमीय पाँचवीं शताब्दी के ज्ञात होते हैं—अपनी विभिन्न कृतियों में, कुछ ऐसी बातें ज्ञान के विचार क्षेत्र में प्रस्तुत की हैं जो जैन परंपरा में उनके पहले न किसी ने उपस्थित की थीं और शायद न किसी ने सोची भी थीं। ये बातें तर्क दृष्टि से समझने में जितनी सरल हैं उतनी ही जैन परंपरागत रूढ़ मानस के लिए केवल कठिन ही नहीं बल्कि असमाधानकारक भी हैं। यही वजह है कि दिवाकर के उन विचारों पर, करीब हजार वर्ष तक, न किसी ने सहानुभूतिपूर्वक ऊहापोह किया और न उनका समर्थन ही किया। उपाध्यायजी ही एक ऐसे हुए, जिन्होंने सिद्धसेन के नवीन प्रस्तुत मुद्दों पर सिर्फ सहानुभूतिपूर्वक विचार ही नहीं किया, बल्कि अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा और तर्क से परिमार्जित जैन दृष्टि का उपयोग करके, उन मुद्दों का प्रस्तुत 'ज्ञानबिन्दु' ग्रन्थ में अति विशद और अनेकान्त दृष्टि को शोभा देनेवाला समर्थन भी किया। वे मुद्दे मुख्यतया चार हैं—

१. मति और श्रुत ज्ञान का वास्तविक ऐक्य[१]
२. अवधि और मनःपर्याय ज्ञान का तत्त्वतः अभेद[२]
३ केवल ज्ञान और केवल दर्शन का वास्तविक अभेद[३]
४. श्रद्धानरूप दर्शन का ज्ञान से अभेद[४]

इन चार मुद्दों को प्रस्तुत करके सिद्धसेन ने, ज्ञान के भेद-प्रभेद की पुरानी रेखा पर तार्किक विचार का नया प्रकाश डाला है, जिनको कोई भी, पुरातन रूढ़ संस्कारों तथा शास्त्रों के प्रचलित व्याख्यान के कारण, पूरी तरह समझ न सका। जैन विचारकों में सिद्धसेन के विचारों के प्रति प्रतिक्रिया शुरू हुई। अनेक विद्वान् तो उनका प्रकट विरोध करने[५] लगे, और कुछ विद्वान् इस बारे में उदासीन ही रहे। क्षमाश्रमण जिनभद्र गणी ने बड़े जोरों से विरोध किया। फिर भी हम

१ देखो, निश्चयद्वात्रिंशिका का० १९, तथा ज्ञानबिन्दु पृ० १६।
२ देखो, निश्चयद्वा० का० १७ और ज्ञानबिन्दु पृ० १८।
३ देखो, सन्मति काण्ड २ संपूर्ण; और ज्ञानबिन्दु पृ० ३३ से।
४ देखो, सन्मति, २. ३२; और ज्ञानबिन्दु पृ० ४७।
५ जैसे, हरिभद्र–देखो, धर्मसंग्रहणी, गा० १३५२ से तथा नंदीवृत्ति, पृ. ५५।

देखते हैं कि यह विरोध सिर्फ केवलज्ञान और केवलदर्शन के अभेदवाले मुद्दे पर ही हुआ है। बाकी के मुद्दों पर या तो किसी ने विचार ही नहीं किया या सभी ने उपेक्षा धारण की। पर जब हम प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु से उन्हीं मुद्दों पर उपाध्यायजी का ऊहापोह देखते हैं तब कहना पड़ता है कि उतने प्राचीन युग में भी, सिद्धसेन की वह तार्किकता और सूक्ष्म दृष्टि जैन साहित्य को अद्भुत देन थी। दिवाकर ने इन चार मुद्दों पर के अपने विचार 'निश्चयद्वात्रिंशिका' तथा 'सन्मतिप्रकरण' में प्रकट किए हैं। उन्होंने ज्ञान के विचारक्षेत्र में एक और भी नया प्रस्थान शुरू किया। संभवत. दिवाकर के पहले जैन परंपरा में कोई न्याय विषय का–अर्थात् परार्थानुमान और तत्संबन्धी पदार्थनिरूपक–विशिष्ट ग्रंथ न था। जब उन्होंने अभाव की पूर्ति के लए 'न्यायावतार' बनाया तब उन्होंने जैन परंपरा में प्रमाणविभाग पर नए सिरे से पुनर्विचार प्रकट किया। आर्यरक्षित-स्वीकृत न्यायदर्शनीय चतुर्विध प्रमाणविभाग को जैन परंपरा में गौण स्थान दे कर, निर्युक्तिकारस्वीकृत द्विविध प्रमाणविभाग को प्रधानता देने वाले वाचक के प्रयत्न का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। सिद्धसेन ने भी उसी द्विविध[1] प्रमाण विभाग की भूमिका के ऊपर 'न्यायावतार' की रचना की और उस प्रत्यक्ष और परोक्ष-प्रमाणद्वय द्वारा तीन [2]प्रमाणों को जैन परंपरा में सर्व प्रथम स्थान दिया, जो उनके पूर्व बहुत समय से, सांख्य दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन में सुप्रसिद्ध थे और अब तक भी हैं। सांख्य[3] और वैशेषिक[4] दोनों दर्शन जिन प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम–इन तीन प्रमाणों को मानते आए हैं, उनको भी अब एक तरह से, जैन परम्परा में स्थान मिला, जो कि वादकथा और परार्थानुमान की दृष्टि से

---

१ देखो, न्यायावतार, श्लो० १।

२ यद्यपि सिद्धसेन ने प्रमाण का प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से द्विविध विभाग किया है किन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द इन तीनों का पृथक् पृथक् लक्षण किया है।

३ सांख्यकारिका, का० ४।

४ प्रमाण के भेद के विषय में सभी वैशेषिक एकमत नहीं। कोई उसके दो भेद तो कोई उसके तीन भेद मानते हैं। प्रशस्तपादभाष्य में (पृ० २१३) शाब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में है। उसके टीकाकार श्रीधर का भी वही मत है (कंदली, पृ० २१३) किन्तु व्योमशिव को वैसा एकान्त रूप से इष्ट नहीं—देखो व्योमवती, पृ० ५७७, ५८४। अतः जहाँ कहीं वैशेषिकसंमत तीन, प्रमाणों का उल्लेख हो वह व्योमशिव का समझना चाहिए—देखो, न्यायावतार टीकाटिप्पण, पृ० ६ तथा प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण पृ० २३।

बहुत उपयुक्त है। इस प्रकार जैन परम्परा में न्याय, सांख्य और वैशेषिक तीनों दर्शन सम्मत प्रमाण विभाग प्रविष्ट हुआ। यहां पर सिद्धसेनस्वीकृत इस त्रिविध प्रमाणविभाग की जैन परम्परा में, आर्यरक्षितीय चतुर्विध विभाग की तरह, उपेक्षा ही हुई या उसका विशेष आदर हुआ ?–यह प्रश्न अवश्य होता है, जिस पर हम आगे जाकर कुछ कहेंगे।

(६) छठी भूमिका, वि० ७ वीं शताब्दी वाले जिनभद्र गणी की है। प्राचीन समय से कर्म-शास्त्र तथा आगम की परम्परा के अनुसार जो मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों का विचार जैन परम्परा में प्रचलित था, और जिसपर निर्युक्तिकार तथा प्राचीन अन्य व्याख्याकारों ने एवं नंदी जैसे आगम के प्रणेताओं ने, अपनी अपनी दृष्टि व शक्ति के अनुसार, बहुत कुछ कोटिक्रम भी बढ़ाया था, उसी विचारभूमिका का आश्रय लेकर क्षमाश्रमण जिनभद्र ने अपने विशाल ग्रन्थ 'विशेषावश्यकभाष्य' में पञ्चविध ज्ञान की आचूडांत साङ्गोपांग मीमांसा[1] की। और उसी आगम सम्मत पञ्चविध ज्ञानों पर तर्कदृष्टि से आगम प्रणाली का समर्थ करनेवाला गहरा प्रकाश डाला। 'तत्त्वार्थसूत्र' पर व्याख्या लिखते समय, पूज्यपाद देवनन्दी और भट्टारक अकलंक ने भी पञ्चविध ज्ञान के समर्थन में, मुख्यतया तर्कप्रणाली का ही अवलंबन लिया है। क्षमाश्रमण की इस विकास भूमिका को तर्कोपजीवी आगम भूमिका कहनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने किसी भी जैन तार्किक से कम तार्किकता नहीं दिखाई; फिर भी उनका सारा तर्क बल आगमिक सीमाओं के घेरे में ही घिरा रहा—जैसा कि कुमारिल तथा शंकराचार्य का सारा तर्कबल श्रुति की सीमाओं के घेरे में ही सीमित रहा। क्षमाश्रमण ने अपने इस विशिष्ट आवश्यक भाष्य में ज्ञानों के बारे में उतनी अधिक विचार सामग्री व्यवस्थित की है कि जो आगे के सभी श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रणेताओं के लिए मुख्य आधारभूत बनी हुई हैं। उपाध्यायजी तो जब कभी जिस किसी प्रणाली से ज्ञानों का निरूपण करते हैं तब मानों क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य को अपने मन में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित कर लेते हैं[2]। प्रस्तुत ज्ञानविन्दु में भी उपाध्यायजी ने वही किया है[3]।

---

१ विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञानपञ्चकाधिकार ने ही ८४० गाथाएँ जितना बड़ा भाग रोक रखा है। कोट्याचार्य की टीका के अनुसार विशेषावश्यक की सब मिलकर ४३४६ गाथाएँ हैं।

२ पाठकों को इस बात की प्रतीति, उपाध्यायजी कृत जैनतर्कभाषा को, उसकी टिप्पणों के साथ देखने से हो जायगी।

३ देखो, ज्ञानबिन्दु की टिप्पणी पृ० ६१, ६८–७३ इत्यादि।

(७) सातवीं भूमिका भट्ट अकलंक की है, जो विक्रमीय आठवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। ज्ञान विचार के विकास क्षेत्र में भट्टारक अकलंक का प्रयत्न बहुमुखी है। इस बारे में उनके तीन प्रयत्न विशेष उल्लेख योग्य हैं। पहला प्रयत्न तत्वार्थसूत्रावलम्बी होने से प्रधानतया पराश्रित है। दूसरा प्रयत्न सिद्धसेनीय 'न्यायावतार' का प्रतिबिम्बग्राही कहा जा सकता है, फिर भी उसमें उनकी विशिष्ट स्वतन्त्रता स्पष्ट है। तीसरा प्रयत्न 'लघीयस्त्रय' और खासकर 'प्रमाणसंग्रह' में है, जिसे उनकी एकमात्र निजी सूझ कहना ठीक है। उमास्वाति ने, मीमांसक आदि सम्मत अनेक प्रमाणों[1] का समावेश मति और श्रुत में होता है—ऐसा सामान्य ही कथन किया था; और पूज्यपाद[2] ने भी वैसा ही सामान्य कथन किया था। परन्तु, अकलंक ने उससे आगे बढ़कर विशेष विश्लेषण के द्वारा 'राजवार्त्तिक' में[3] यह बतलाया कि दर्शनान्तरीय वे सब प्रमाण, किस तरह अनक्षर और अक्षरश्रुत में समाविष्ट हो सकते हैं। 'राजवार्त्तिक' सूत्रावलम्बी होने से उसमें इतना ही विशदीकरण पर्याप्त है; पर उनको जब धर्मकीर्त्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' का अनुकरण करने वाला स्वतन्त्र 'न्यायविनिश्चय' ग्रंथ बनाना पड़ा, तब उन्हें परार्थानुमान तथा वादगोष्ठी को लक्ष्य में रख कर विचार करना पड़ा। उस समय उन्होंने सिद्धसेन स्वीकृत वैशेषिक-सांख्यसम्मत त्रिविध प्रमाणविभाग की प्रणाली का अवलम्बन[4] करके अपने सारे विचार 'न्यायविनिश्चय' में निबद्ध किये। एक तरह से वह 'न्यायविनिश्चय' सिद्धसेनीय 'न्यायावतार' का स्वतन्त्र विस्तृत विशदीकरण ही केवल नहीं है बल्कि अनेक अंशो में पूरक भी है। इस तरह जैन परंपरा में न्यायावतार के सर्व प्रथम समर्थक अकलंक ही हैं।

इतना होने पर भी, अकलंक के सामने कुछ प्रश्न ऐसे थे जो उनसे जवाब चाहते थे। पहला प्रश्न यह था, कि जब आप मीमांसकादिसम्मत अनुमान प्रभृति विविध प्रमाणों का श्रुत में समावेश करते हैं, तब उमास्वाति के इस कथन के साथ विरोध आता है, कि वे प्रमाण मति और श्रुत दोनों में समाविष्ट होते हैं। दूसरा प्रश्न उनके सामने यह था, कि मति के पर्याय रूप से जो स्मृति, संज्ञा,

---

१ देखो, तत्त्वार्थ भाष्य, १.१२।

२ देखो, सर्वार्थसिद्धि, १.१०।

३ देखो, राजवार्तिक, १.२०.१५।

४ – न्यायविनिश्चय को अकलंक ने तीन प्रस्तावों में विभक्त किया—प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन। इस से इतना तो स्पष्टहो जाता है कि उन को प्रमाण के ये तीन भेद मुख्यतया न्यायविनिश्चय की रचना के समय इष्ट होंगे ।

चिन्ता जैसे शब्द नियुक्तिकाल से प्रचलित हैं और जिन को उमास्वाति ने भी मूल सूत्र में संगृहीत किया है, उनका कोई विशिष्ट तात्पर्य किंवा उपयोग है या नहीं? तदतिरिक्त उन के सामने खास प्रश्न यह भी था, कि जब सभी जैनाचार्य अपने प्राचीन पञ्चविध ज्ञानविभाग में दर्शनान्तरसम्मत प्रमाणों का तथा उनके नामों का समावेश करते आए हैं, तब क्या जैन परंपरा में भी प्रमाणों की कोई दार्शनिक परिभाषाएँ या दार्शनिक लक्षण हैं या नहीं?; अगर हैं तो वे क्या हैं? और आप यह भी बतलाइए कि वे सब प्रमाणलक्षण या प्रमाणपरिभाषाएँ सिर्फ दर्शनान्तर से उधार ली हुई हैं या प्राचीन जैन ग्रंथों में उनका कोई मूल भी है? इसके सिवाय अकलंक को एक बड़ा भारी प्रश्न यह भी परेशान कर रहा जान पड़ता है, कि तुम जैन तार्किकों की सारी प्रमाणप्रणाली कोई स्वतन्त्र स्थान रखती है या नहीं? अगर वह स्वतन्त्र स्थान रखती है तो उसका सर्वांगीण निरूपण कीजिए। इन तथा ऐसे ही दूसरे प्रश्नों का जवाब अकलंक ने थोड़े में 'लघीयस्त्रय' में दिया है, पर 'प्रमाणसंग्रह' में वह बहुत स्पष्ट है। जैनतार्किकों के सामने दर्शनान्तर की दृष्टि से उपस्थित होने वाली सब समस्याओं का सुलझाव अकलंक ने सर्व प्रथम स्वतन्त्र भाव से किया जान पड़ता है। इसलिए उनका वह प्रयत्न बिलकुल मौलिक है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह साफ जाना जा सकता है कि—आठवीं-नवीं शताब्दी तक में जैन परंपरा ने ज्ञान संबन्धी विचार क्षेत्र में स्वदर्शनाभ्यास के मार्ग से और दर्शनान्तराभ्यास के मार्ग से किस-किस प्रकार विकास प्राप्त किया। अब तक में दर्शनान्तरीय आवश्यक परिभाषाओं का जैन परंपरा में आत्मसात्-करण तथा नवीन स्वपरिभाषाओं का निर्माण पर्याप्त रूप से हो चुका था। उसमें जल्प आदि कथा के द्वारा परमतों का निरसन भी ठीक-ठीक हो चुका था और पूर्वकाल में नहीं चर्चित ऐसे अनेक नवीन प्रमेयों की चर्चा भी हो चुकी थी। इस पक्की दार्शनिक भूमिका के ऊपर अगले हजार वर्षों में जैन तार्किकों ने बहुत बड़े-बड़े चर्चाजटिल ग्रंथ रचे जिनका इतिहास यहाँ प्रस्तुत नहीं है। फिर भी प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु विषयक उपाध्यायजी का प्रयत्न ठीक-ठीक समझा जा सके, एतदर्थ बीच के समय के जैन तार्किकों की प्रवृत्ति की दिशा संक्षेप में जानना जरूरी है।

आठवीं-नवीं शताब्दी के बाद ज्ञान के प्रदेश में मुख्यतया दो दिशाओं में प्रयत्न देखा जाता है। एक प्रयत्न ऐसा है जो क्षमाश्रमण जिनभद्र के द्वारा विकसित भूमिका का आश्रय लेकर चलता है, जो कि आचार्य हरिभद्र की 'धर्मसंग्रहणी' आदि कृतियों में देखा जाता है। दूसरा प्रयत्न अकलंक के द्वारा

विकसित भूमिका का अवलम्बन करके शुरू हुआ। इस प्रयत्न में न केवल अकलंक के विद्याशिष्य-प्रशिष्य विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र वादिराज आदि दिगम्बर आचार्य ही झुके; किन्तु अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्राचार्य आदि अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने भी अकलंकीय तार्किक भूमिका को विस्तृत किया। इस तर्कप्रधान जैन युग ने जैन मानस में एक ऐसा परिवर्तन पैदा किया जो पूर्वकालीन रूढिबद्धता को देखते हुए आश्चर्यजनक कहा जा सकता है। संभवतः सिद्धसेन दिवाकर के बिलकुल नवीन सूचनों के कारण उनके विरुद्ध जो जैन परंपरा में पूर्वग्रह था वह दसवीं शताब्दी से स्पष्ट रूप में हटने और घटने लगा। हम देखते हैं कि सिद्धसेन की कृति रूप जिस न्यायावतार पर– जो कि सचमुच जैन परंपरा का एक छोटा किन्तु मौलिक ग्रन्थ है—करीब चार शताब्दी तक किसी ने टीकादि नहीं रची थी, उस न्यायावतार की ओर जैन विद्वानों का ध्यान अब गया। सिद्धर्षि ने दसवीं शताब्दी में उस पर व्याख्या लिख कर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई और ग्यारहवीं शताब्दी में वादिवैताल शान्तिसूरि ने उस को वह स्थान दिया जो भर्तृहरि ने 'व्याकरणमहाभाष्य' को, कुमारिल ने 'शाबरभाष्य' को, धर्मकीर्त्तिने 'प्रमाणसमुच्चय' को और विद्यानन्द ने 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि को दिया था। शान्तिसूरि ने न्यायावतार की प्रथम कारिका पर सटीक पद्यबन्ध 'वार्त्तिक' रचा और साथ ही उसमें उन्होंने यत्र-तत्र अकलंक के विचारों का खण्डन[1] भी किया। इस शास्त्र-रचना प्रचुर युग में न्यायावतार ने दूसरे भी एक जैन तार्किक का ध्यान अपनी ओर खींचा। ग्यारहवीं शताब्दी के जिनेश्वरसूरि ने न्यायावतार की प्रथम ही कारिका को ले कर उस पर एक पद्यबन्ध 'प्रमालक्षण' नामक ग्रन्थ रचा और उसकी व्याख्या भी स्वयं उन्होंने की। यह प्रयत्न दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' की प्रथम कारिका के ऊपर धर्मकीर्त्ति के द्वारा रचे गए सटीक पद्यबन्ध 'प्रमाणवार्त्तिक' का; तथा पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि' के प्रथम मंगल श्लोक के ऊपर विद्यानन्द के द्वारा रची गई सटीक 'आप्तपरीक्षा' का अनुकरण है। अब तक में तर्क और दर्शन के अभ्यास ने जैन विचारकों के मानस पर अमुक अंश में स्वतन्त्र विचार प्रकट करने के बीज ठीक-ठीक बो दिये थे। यही कारण है कि एक ही न्यायावतार पर लिखने वाले उक्त तीनों विद्वानों की विचारप्रणाली अनेक जगह भिन्न-भिन्न देखी जाती है।

१—जैनतर्कवार्तिक, पृ० १३२; तथा देखो न्यायकुमुदचंद्र—प्रथमभाग, प्रस्तावना पृ० ८२।

अबतक जैन परम्परा ने ज्ञान के विचारक्षेत्र में जो अनेकमुखी विकास प्राप्त किया था और जो विशालप्रमाण ग्रन्थराशि पैदा की थी एवं जो मानसिक स्वातंत्र्य की उच्च तार्किक भूमिका प्राप्त की थी, वह सब तो उपाध्याय यशोविजयजी को विरासत में मिली ही थी, पर साथ ही में उन्हें एक ऐसी सुविधा भी प्राप्त हुई थी जो उनके पहले किसी जैन विद्वान् को न मिली थी। यह सुविधा है उदयन तथा गंगेशप्रणीत नव्य न्यायशास्त्र के अभ्यास का साक्षात् विद्याधाम [1]काशी में अवसर मिलना। इस सुविधा का उपाध्यायजी की जिज्ञासा और प्रज्ञा ने कैसा और कितना उपयोग किया इसका पूरा खयाल तो उसी को आ सकता है जिसने उनकी सब कृतियों का थोड़ा सा भी अध्ययन किया हो। नव्य न्याय के उपरान्त उपाध्यायजी ने उस समय तक के अति प्रसिद्ध और विकसित पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भी अच्छा परिशीलन किया। आगमिक और दार्शनिक ज्ञान की पूर्वकालीन तथा समकालीन समस्त विचार सामग्री को आत्मसात् करने के बाद उपाध्यायजी ने ज्ञान के निरूपणक्षेत्र में पदार्पण किया।

उपाध्यायजी की मुख्यतया ज्ञाननिरूपक दो कृतियाँ हैं। एक 'जैनतर्कभाषा' और दूसरी प्रस्तुत 'ज्ञानबिन्दु'। पहली कृति का विषय यद्यपि ज्ञान ही है तथापि उसमें उसके नामानुसार तर्कप्रणाली या प्रमाणपद्धति मुख्य है। तर्कभाषा का मुख्य उपादान 'विशेषावश्यकभाष्य' है, पर वह अकलंक के 'लघीयस्त्रय' तथा 'प्रमाणसंग्रह' का परिष्कृत किन्तु नवीन अनुकरण संस्करण[2] भी है। प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु में प्रतिपाद्य रूपसे उपाध्यायजी ने पञ्चविध ज्ञान वाला आगमिक विषय ही चुना है जिसमें उन्होंने पूर्वकाल में विकसित प्रमाणपद्धति को कहीं

---

१ देखो जैनतर्कभाषा की प्रशस्ति—'पूर्वं न्यायविशारदत्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः।'

२ लघीयस्त्रय में तृतीय प्रवचनप्रवेश में क्रमशः प्रमाण, नय और निक्षेप का वर्णन अकलंक ने किया है। वैसे ही प्रमाणसंग्रह के अंतिम नवम प्रस्ताव में भी उन्हीं तीन विषयों का संक्षेप में वर्णन है। लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रह में अन्यत्र प्रमाण और नय का विस्तृत वर्णन तो है ही, फिर भी उन दोनों ग्रन्थों के अंतिम प्रस्ताव में प्रमाण, नय और निक्षेप की एक साथ संक्षिप्त चर्चा उन्होंने कर दी है जिससे स्पष्टतया उन तीनों विषयों का पारस्परिक भेद समझ में आ जाए। यशोविजयजी ने अपनी तर्कभाषा को, इसी का अनुकरण करके, प्रमाण, नय, और निक्षेप इन तीन परिच्छेदों में विभक्त किया है।

भी स्थान नहीं दिया। फिर भी जिस युग, जिस विरासत और जिसप्रतिभा के वे धारक थे, वह सब अति प्राचीन पञ्चविध ज्ञान की चर्चा करने वाले उनके प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु ग्रन्थ में न आए यह असंभव है। अतएव हम आगे जाकर देखेंगे कि पहले के करीब दो हजार वर्ष के जैन साहित्य में पञ्चविधज्ञानसंबन्धी विचार क्षेत्र में जो कुछ सिद्ध हो चुका था वह तो करीब-करीब सब, प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु में आया ही है, पर उस के अतिरिक्त ज्ञानसंबन्धी अनेक नए विचार भी इस ज्ञानबिन्दु में सन्निविष्ट हुए हैं; जो पहले के किसी जैन ग्रन्थ में नहीं देखे जाते। एक तरह से प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु विशेषावश्यकभाष्यगत पञ्चविधज्ञान-वर्णन का नया परिष्कृत और नवीन दृष्टिसे सम्पन्न संस्करण है।

३. रचनाशैली

प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानबिन्दु की रचनाशैली किस प्रकार की है इसे स्पष्ट समझने के लिए शास्त्रों की मुख्य-मुख्य शैलियों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। सामान्य रूपसे दार्शनिक परंपरा में चार शैलियाँ प्रसिद्ध हैं–१. सूत्र शैली, २. कारिका शैली ३. व्याख्या शैली, और ४ वर्णन शैली। मूल रूपसे सूत्र शैली का उदाहरण है 'न्यायसूत्र' आदि। मूल रूपसे कारिका शैली का उदाहरण है 'सांख्यकारिका' आदि। गद्य-पद्य या उभय रूपमें जब किसी मूल ग्रन्थ पर व्याख्या रची जाती है तब वह है व्याख्या शैली – जैसे 'भाष्य' वार्तिकादि' ग्रन्थ जिस में स्वोपज्ञ या अन्योपज्ञ किसी मूल का अवलम्बन न हो; किंतु जिस में ग्रंथकार अपने प्रतिपाद्य विषय का स्वतन्त्र भाव से सीधे तौर पर वर्णन ही वर्णन करता जाता है और प्रसक्तानुप्रसक्त अनेक मुख्य विषय संबंधी विषयों को उठाकर उनके निरूपण द्वारा मुख्य विषय के वर्णन को ही पुष्ट करता है वह है वर्णन या प्रकरण शैली। प्रस्तुत ग्रंथ की रचना, इस वर्णन शैली से की गई है। जैसे विद्यानन्द ने 'प्रमाणपरीक्षा' रची, जैसे मधुसूदन सरस्वती ने 'वेदान्तकल्पलतिका' और सदानन्द ने 'वेदान्तसार' वर्णन शैली से बनाए, वैसे ही उपाध्यायजी ने ज्ञानबिन्दु की रचना वर्णन शैली से की है। इस में अपने या किसी अन्य के रचित गद्य या पद्य रूप मूल का अवलम्बन नहीं है। अतएव समूचे रूपसे ज्ञानबिन्दु किसी मूल ग्रन्थ की व्याख्या नहीं है। वह तो सीधे तौर से प्रतिपाद्य रूप से पसन्द किये गए ज्ञान और उसके पञ्चविध प्रकारों का निरूपण अपने ढंग से करता है। इस निरूपण में ग्रन्थकार ने अपनी योग्यता और मर्यादा के अनुसार मुख्य विषय से संबंध रखने वाले अनेक विषयों की चर्चा छानबीन के साथ की है जिसमें उन्होंने पक्ष या विपक्ष रूप से अनेक ग्रन्थकारों

के मन्तव्यों के अवतरण भी दिये हैं। यद्यपि ग्रन्थकार ने आगे जाकर 'सन्मति' की अनेक गाथाओं को लेकर (पृ० ३३) उनका क्रमशः स्वयं व्याख्यान भी किया है, फिर भी वस्तुतः उन गाथाओं को लेना तथा उनका व्याख्यान करना प्रासंगिक मात्र है। जब केवलज्ञान के निरूपण का प्रसंग आया और उस संबंध में आचार्यों के मतभेदों पर कुछ लिखना प्राप्त हुआ, तब उन्होंने सन्मतिगत कुछ महत्त्व की गाथाओं को लेकर उनके व्याख्यान रूप से अपना विचार प्रकट कर दिया है। खुद उपाध्यायजी ने ही 'एतच्च तत्त्वं सयुक्तिकं सम्मतिगाथाभिरेव प्रदर्शयामः' (पृ० ३३) कहकर वह भाव स्पष्ट कर दिया है। उपाध्यायजी ने 'अनेकान्तव्यवस्था' आदि अनेक प्रकरण ग्रंथ लिखे हैं जो ज्ञानबिंदु के समान वर्णन शैली के हैं। इस शैली का अवलम्बन करने की प्रेरणा करने-वाले वेदान्तकल्पलतिका, वेदान्तसार, 'न्यायदीपिका' आदि अनेक वैसे ग्रंथ थे जिनका उन्होंने उपयोग भी किया है।

ग्रन्थ का आभ्यन्तर स्वरूप

ग्रंथके आभ्यन्तर स्वरूप का पूरा परिचय तो तभी संभव है जब उस का अध्ययन—अर्थग्रहण और ज्ञात अर्थ का मनन—पुनः पुनः चिन्तन किया जाए। फिर भी इस ग्रंथ के जो अधिकारी हैं उन की बुद्धि को प्रवेशयोग्य तथा रुचिसम्पन्न बनाने की दृष्टि से यहाँ उस के विषय का कुछ स्वरूपवर्णन करना जरूरी है। ग्रंथकार ने ज्ञान के स्वरूप को समझाने के लिए जिन मुख्य-मुख्य मुद्दों पर चर्चा की है और प्रत्येक मुख्य मुद्दे की चर्चा करते समय प्रासंगिक रूप से जिन दूसरे मुद्दों पर भी विचार किया है, उन मुद्दों का यथासंभव दिग्दर्शन कराना इस जगह इष्ट है। हम ऐसा दिग्दर्शन कराते समय यथासम्भव तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि का उपयोग करेंगे जिससे अभ्यासीगण ग्रन्थ-कार द्वारा चर्चित मुद्दों को और भी विशालता के साथ अवगाहन कर सकें तथा ग्रंथ के अंत में जो टिप्पण दिये गए हैं उनका हार्द समझने की एक कुंजी भी पा सकें। प्रस्तुत वर्णन में काम में लाई जाने वाली तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि यथासंभव परिभाषा, विचार और साहित्य इन तीन प्रदेशों तक ही सीमित रहेगी।

१. ज्ञान की सामान्य चर्चा

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की पीठिका रचते समय उस के विषयभूत ज्ञान की ही सामान्य रूप से पहले चर्चा की है, जिसमें उन्होंने दूसरे अनेक मुद्दों पर शास्त्रीय प्रकाश डाला है। वे मुद्दे ये हैं—

१. ज्ञान सामान्य का लक्षण

२. उसकी पूर्ण-अपूर्ण अवस्थाएं तथा उन अवस्थाओं के कारण और प्रतिबन्धक कर्म का विश्लेषण
३. ज्ञानावारक कर्म का स्वरूप
४. एक तत्त्व में 'आवृतानावृतत्व' के विरोध का परिहार
५. वेदान्तमत में 'आवृतानवृतत्व' की अनुपपत्ति
६. अपूर्णज्ञानगत तारतम्य तथा उसकी निवृत्ति का कारण
७. क्षयोपशम की प्रक्रिया।

१. [१][1] ग्रन्थकार ने शुरू ही में ज्ञानसामान्य का जैनसम्मत ऐसा स्वरूप बतलाया है कि जो एक मात्र आत्मा का गुण है और जो स्व तथा पर का प्रकाशक है वह ज्ञान है। जैनसम्मत इस ज्ञानस्वरूप की दर्शनान्तरीय ज्ञान-स्वरूप के साथ तुलना करते समय आर्यचिन्तकों की मुख्य दो विचारधाराएँ ध्यान में आती हैं। पहली धारा है सांख्य और वेदान्त में, और दूसरी है बौद्ध, न्याय आदि दर्शनों में। प्रथम धारा के अनुसार, ज्ञान गुण और चित् शक्ति इन दोनों का आधार एक नहीं है; क्योंकि पुरुष और ब्रह्म ही उस में चेतन माना गया है; जब कि पुरुष और ब्रह्म से अतिरिक्त अन्तःकरण को ही उसमें ज्ञान का आधार माना गया है। इस तरह प्रथम धारा के अनुसार चेतना और ज्ञान दोनों भिन्न-भिन्न आधारगत हैं। दूसरी धारा, चैतन्य और ज्ञान का आधार भिन्न-भिन्न न मान कर, उन दोनों को एक आधारगत अतएव कारण-कार्यरूप मानती है। बौद्धदर्शन चित्त में, जिसे वह नाम भी कहता है, चैतन्य और ज्ञान का अस्तित्व मानता है। जब कि न्यायादि दर्शन क्षणिक चित्त के बजाय स्थिर आत्मा में ही चैतन्य और ज्ञान का अस्तित्व मानते हैं। जैन दर्शन दूसरी विचारधारा का अवलम्बी है। क्योंकि वह एक ही आत्मतत्त्व में कारण रूप से चेतना को और कार्य रूप से उस के ज्ञान पर्याय को मानता है। उपाध्यायजी ने उसी भाव ज्ञान को आत्म-गुण—धर्म कह कर प्रकट किया है।

२. उपाध्यायजी ने फिर बतलाया है कि ज्ञान पूर्ण भी होता है और अपूर्ण भी। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब आत्मा चेतनस्वभाव है तब उस में ज्ञान की कभी अपूर्णता और कभी पूर्णता क्यों? इसका उत्तर देते समय उपाध्याय जी ने कर्मस्वभाव का विश्लेषण किया है। उन्होंने कहा है कि [२] आत्मा पर एक ऐसा भी आवरण है जो चेतना-शक्ति को पूर्णरूप में कार्य करने नहीं

---

१ इस तरह चतुष्कोण कोष्ठक में दिये गए ये अंक ज्ञानबिन्दु के मूल ग्रन्थ की कंडिका के सूचक हैं।

देता। यही आवरण पूर्ण ज्ञान का प्रतिबन्धक होने से केवलज्ञानावरण कहलाता है। यह आवरण जैसे पूर्ण ज्ञान का प्रतिबन्ध करता है वैसे ही अपूर्ण ज्ञान का जनक भी बनता है। एक ही केवलज्ञानावरण को पूर्ण ज्ञान का तो प्रतिबन्धक और उसी समय अपूर्ण ज्ञान का जनक भी मानना चाहिए।

अपूर्ण ज्ञान के मति श्रुत आदि चार प्रकार हैं। और उन के मतिज्ञानावरण आदि चार आवरण भी पृथक-पृथक माने गए हैं। उन चार आवरणों के क्षयोपशम से ही मति आदि चार अपूर्ण ज्ञानों की उत्पत्ति मानी जाती है। तब यहां, उन अपूर्ण ज्ञानों की उत्पत्ति केवलज्ञानावरण से क्यों मानना? ऐसा प्रश्न सहज है। उसका उत्तर उपाध्यायजी ने शास्त्रसम्मत [३] कह कर ही दिया है, फिर भी वह उत्तर उन की स्पष्ट सूझ का परिणाम है; क्योंकि इस उत्तर के द्वारा उपाध्यायजी ने जैन शास्त्र में चिर प्रचलित एक पक्षान्तर का सयुक्तिक निरास कर दिया है। वह पक्षान्तर ऐसा है कि—जब केवलज्ञानावरण के क्षय से मुक्त आत्मा में केवलज्ञान प्रकट होता है, तब मतिज्ञानावरण आदि चारों आवरण के क्षय से केवली में मति आदि चार ज्ञान भी क्यों न माने जाएँ? इस प्रश्न के जवाब में, कोई एक पक्ष कहता है कि—केवली में मति आदि चार ज्ञान उत्पन्न तो होते हैं पर वे केवलज्ञान से अभिभूत होने के कारण कार्यकारी नहीं। इस चिरप्रचलित पक्ष को निर्युक्तिक सिद्ध करने के लिए उपाध्यायजी ने एक नई युक्ति उपस्थित की है कि अपूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञानावरण का ही कार्य है, चाहे उस अपूर्ण ज्ञान का तारतम्य या वैविध्य मतिज्ञानावरण आदि शेष चार आवरणों के क्षयोपशम वैविध्य का कार्य क्यों न हो, पर अपूर्ण ज्ञानावस्था मात्र पूर्ण ज्ञानावस्था के प्रतिबन्धक केवलज्ञानावरण के सिवाय कभी सम्भव ही नहीं। अतएव केवली में जब केवलज्ञानावरण नहीं है तब तज्जन्य कोई भी मति आदि अपूर्ण ज्ञान केवली में हो ही कैसे सकते हैं सचमुच उपाध्यायजी की यह युक्ति शास्त्रानुकूल होने पर भी उनके पहले किसी ने इस तरह स्पष्ट रूप से सुझाई नहीं है।

३. [४] सघन मेघ और सूर्य प्रकाश के साथ केवलज्ञानावरण और चेतनाशक्ति की शास्त्रप्रसिद्ध तुलना के द्वारा उपाध्यायजी ने ज्ञानावरण कर्म के स्वरूप के बारे में दो बातें खास सूचित की हैं। एक तो यह, कि आवरण कर्म एक प्रकार का द्रव्य है; और दूसरी यह, कि वह द्रव्य कितना ही निबिड—उत्कट क्यों न हो, फिर भी वह अति स्वच्छ अभ्र जैसा होने से अपने आवार्य ज्ञान गुण को सर्वथा आवृत कर नहीं सकता।

कर्म के स्वरूप के विषय में भारतीय चिन्तकों की दो परम्पराएँ हैं। बौद्ध, न्याय दर्शन आदि की एक; और सांख्य, वेदांत आदि की दूसरी है। बौद्ध दर्शन

क्लेशावरण,[1] ज्ञेयावरण आदि अनेक कर्मावरणों को मानता है। पर उसके मतानुसार चित्त का वह आवरण मात्र संस्काररूप[2] फलित होता है जो कि द्रव्य-स्वरूप नहीं है। न्याय आदि दर्शनों के अनुसार भी ज्ञानावरण—अज्ञान, ज्ञान-गुण का प्रागभाव मात्र होने से अभाव रूप ही फलित होता है, द्रव्यरूप नहीं। जब कि सांख्य, वेदान्त के अनुसार आवरण जड़ द्रव्यरूप अवश्य सिद्ध होता है। सांख्य के[3] अनुसार बुद्धिसत्त्व का आवारक तमोगुण है जो एक सूक्ष्म जड़ द्रव्यांश मात्र है। वेदान्त के[4] अनुसार भी आवरण—अज्ञान नाम से वस्तुतः एक प्रकार का जड़ द्रव्य ही माना गया है जिसे सांख्य-परिभाषा के अनुसार प्रकृति या अन्तःकरण कह सकते हैं। वेदान्त ने मूल-अज्ञान और अवस्था-अज्ञान रूप से या मूलाविद्या[5] और तुलाविद्या रूप से अनेकविध आवरणों की कल्पना की है जो जड़ द्रव्यरूप ही हैं। जैन परंपरा तो ज्ञानावरण कर्म हो या दूसरे कर्म—सब को अत्यन्त स्पष्ट रूप से एक प्रकार का जड़ द्रव्य बतलाती है। पर इसके साथ ही वह अज्ञान—रागद्वेषात्मक परिणाम, जो आत्मगत है और जो पौद्गलिक कर्म-द्रव्य का कारण तथा कार्य भी है, उसको भाव कर्म रूप से बौद्ध आदि दर्शनों की तरह संस्कारात्मक मानती है[6]।

जैनदर्शनप्रसिद्ध ज्ञानावरणीय शब्द के स्थान में नीचे लिखे शब्द दर्शनान्तरों में प्रसिद्ध हैं। बौद्धदर्शन में अविद्या और ज्ञेयावरण। सांख्य-योगदर्शन में अविद्या और प्रकाशावरण। न्याय-वैशेषिक-वेदान्त दर्शन में अविद्या और अज्ञान।

४ [पृ० २. पं० ३] आवृतत्व और अनावृतत्व परस्पर विरुद्ध होने से किसी एक वस्तु में एक साथ रह नहीं सकते और पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार तो एक ही चेतना एक समय में केवलज्ञानावरण से आवृत भी और अनावृत भी मानी गई है, सो कैसे घट सकेगा? इसका जवाब उपाध्यायजी ने अनेकान्त दृष्टि से दिया है। उन्होंने कहा है कि यद्यपि चेतना एक ही है फिर भी पूर्ण और अपूर्ण प्रकाशरूप नाना ज्ञान उसके पर्याय हैं जो कि चेतना से कथञ्चित् भिन्ना-

---

१ देखो, तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ० ८६६।

२ स्याद्वादर०, पृ० ११०१।

३ देखो, स्याद्वादर०, पृ० ११०३।

४ देखो, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० २१; तथा न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८०६।

५ वेदान्तपरिभाषा, पृ० ७२।

६ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ६।

भिन्न हैं। केवलज्ञानावरण के द्वारा पूर्ण प्रकाश के आवृत होने के समय ही उसके द्वारा अपूर्ण प्रकाश अनावृत भी है। इस तरह दो भिन्न पर्यायों में ही आवृतत्व और अनावृतत्व है जो कि पर्यायार्थिक दृष्टि से सुघट है। फिर भी जब द्रव्यार्थिक दृष्टि की विवक्षा हो, तब द्रव्य की प्रधानता होने के कारण, पूर्ण और अपूर्णज्ञान रूप पर्याय, द्रव्यात्मक चेतना से भिन्न नहीं। अतएव उस दृष्टि से उक्त दो पर्यायगत आवृतत्व-अनावृतत्व को एक चेतनागत मानने और कहने में कोई विरोध नहीं। उपाध्यायजी ने द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दृष्टि का विवेक सूचित करके आत्मतत्त्व का जैन दर्शन सम्मत परिणामित्व स्वरूप प्रकट किया है जो कि केवल नित्यत्व या कूटस्थत्ववाद से भिन्न है।

५. [५] उपाध्यायजी ने जैन दृष्टि के अनुसार 'आवृतानावृतत्व' का समर्थन ही नहीं किया बल्कि इस विषय में वेदान्त मत को एकान्तवादी मान कर उसका खण्डन भी किया है। जैसे वेदान्त ब्रह्म को एकान्त कूटस्थ मानता है वैसे ही सांख्य-योग भी पुरुष को एकान्त कूटस्थ अतएव निर्लेप, निर्विकार और निरंश मानता है। इसी तरह न्याय आदि दर्शन भी आत्मा को एकान्त नित्य ही मानते हैं। तब ग्रन्थकार ने एकान्तवाद में 'आवृतानावृतत्व' की अनुपपत्ति सिर्फ वेदान्त मत की समालोचना द्वारा ही क्यों दिखाई? अर्थात् उन्होंने सांख्य-योग आदि मतों की भी समालोचना क्यों नहीं की?—यह प्रश्न अवश्य होता है। इसका जवाब यह जान पड़ता है कि केवल ज्ञानावरण के द्वारा चेतना की 'आवृतानावृतत्व' विषयक प्रस्तुत चर्चा का जितना साम्य (शब्दतः और अर्थतः) वेदान्त दर्शन के साथ पाया जाता है उतना सांख्य आदि दर्शनों के साथ नहीं। जैन दर्शन शुद्ध चेतनतत्त्व को मान कर उस में केवलज्ञानावरण की स्थिति मानता है और उस चेतन को उस केवलज्ञानावरण का विषय भी मानता है। जैनमतानुसार केवलज्ञानावरण चेतनतत्त्व में ही रह कर अन्य पदार्थों की तरह स्वाश्रय चेतन को भी आवृत करता है जिससे कि स्व-परप्रकाशक चेतना न तो अपना पूर्ण प्रकाश कर पाती है और न अन्य पदार्थों का ही पूर्ण प्रकाश कर सकती है। वेदान्त मत की प्रक्रिया भी वैसी ही है। वह भी अज्ञान को शुद्ध चिद्रूप ब्रह्म में ही स्थित मान कर, उसे उसका विषय बतलाकर कहती है कि अज्ञान ब्रह्मनिष्ठ होकर ही उसे आवृत करता है जिससे कि उसका 'अखण्डत्व' आदि रूप से तो प्रकाश नहीं हो पाता, तब भी चिद्रूप से प्रकाश होता ही है। जैन प्रक्रिया के शुद्ध चेतन और केवलज्ञानावरण तथा वेदान्त प्रक्रिया के चिद्रूप ब्रह्म और अज्ञान पदार्थ में, जितना अधिक साम्य है उतना शाब्दिक और आर्थिक साम्य, जैन प्रक्रिया का अन्य सांख्य आदि प्रक्रिया के साथ नहीं

है। क्योंकि सांख्य या अन्य किसी दर्शन की प्रक्रिया में अज्ञान के द्वारा चेतन या आत्मा के आवृतानावृत होने का वैसा स्पष्ट और विस्तृत विचार नहीं है, जैसा वेदान्त प्रक्रिया में है। इसी कारण से उपाध्यायजी ने जैन प्रक्रिया का समर्थन करने के बाद उसके साथ बहुत अंशों में मिलती-जुलती वेदान्त प्रक्रिया का खण्डन किया है पर दर्शनान्तरीय प्रक्रिया के खण्डन का प्रयत्न नहीं किया।

उपाध्यायजी ने वेदान्त मत का निरास करते समय उसके दो पक्षों का पूर्वपक्ष रूपसे उल्लेख किया है। उन्होंने पहला पक्ष विवरणाचार्य का [५] और दूसरा वाचस्पति मिश्र का [६] सूचित किया है। वस्तुतः[1] वेदान्त दर्शन में वे दोनों पक्ष बहुत पहले से प्रचलित हैं। ब्रह्म को ही अज्ञान का आश्रय और विषय मानने वाला प्रथम पक्ष, सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' और उनके शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि के 'संक्षेपशारीरकवार्त्तिक' में, सविस्तर वर्णित है। जीव को अज्ञान का आश्रय और ब्रह्म को उसका विषय मानने वाला दूसरा पक्ष मण्डन मिश्र का कहा गया है। ऐसा होते हुए भी उपाध्यायजी ने पहले पक्ष को विवरणाचार्य—प्रकाशात्म यति का और दूसरे को वाचस्पति मिश्र का सूचित किया है; इसका कारण खुद वेदान्त दर्शन की वैसी प्रसिद्धि है। विवरणाचार्य ने सुरेश्वर के मत का समर्थन किया और वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र के मत का। इसी से वे दोनों पक्ष क्रमशः विवरणाचार्य और वाचस्पति मिश्र के प्रस्थान-रूप से प्रसिद्ध हुए। उपाध्यायजी ने इसी प्रसिद्धि के अनुसार उल्लेख किया है।

समालोचना के प्रस्तुत मुद्दे के बारे में उपाध्यायजी का कहना इतना ही है कि अगर वेदांत दर्शन ब्रह्म को सर्वथा निरंश और कूटस्थ स्वप्रकाश मानता है, तब वह उस में अज्ञान के द्वारा किसी भी तरह से 'आवृतानावृतत्व' घटा नहीं सकता; जैसा कि जैन दर्शन घटा सकता है।

६. [७] जैन दृष्टि के अनुसार एक ही चेतना में 'आवृतानावृतत्व' की उपपत्ति करने के बाद भी उपाध्यायजी के सामने एक विचारणीय प्रश्न आया। वह यह कि केवलज्ञानावरण चेतना के पूर्णप्रकाश को आवृत करने के साथ ही जब अपूर्ण प्रकाश को पैदा करता है, तब वह अपूर्ण प्रकाश, एकमात्र केवलज्ञाना-वरणरूप कारण से जन्य होने के कारण एक ही प्रकार का हो सकता है। क्योंकि कारणवैविध्य के सिवाय कार्य का वैविध्य सम्भव नहीं। परन्तु जैन शास्त्र और अनुभव तो कहता है कि अपूर्ण ज्ञान अवश्य तारतम्ययुक्त ही है। पूर्णता में एकरूपता का होना संगत है पर अपूर्णता में तो एकरूपता असंगत है। ऐसी

१ देखो, ज्ञानबिन्दु के टिप्पण पृ० ५५ पं० २५ से।

दशा में अपूर्ण ज्ञान के तारतम्य का खुलासा क्या है सो आप बतलाइए ? । इस का जवाब देते हुए उपाध्यायजी ने असली रहस्य यही बतलाया है कि अपूर्ण ज्ञान केवलज्ञानावरण-जनित होने से सामान्यतया एकरूप ही हैं; फिर भी उसके अवान्तर तारतम्य का कारण अन्यावरणसंबन्धी क्षयोपशमों का वैविध्य है। घनमेघावृत सूर्य का अपूर्ण–मन्द प्रकाश भी वस्त्र, कट, भित्ति आदि उपाधिभेद से नानारूप देखा ही जाता है। अतएव मतिज्ञानावरण आदि अन्य आवरणों के विविध क्षयोपशमों से—विरलता से मन्द प्रकाश का तारतम्य संगत है। जब एकरूप मन्द प्रकाश भी उपाधिभेद से चित्र-विचित्र संभव है, तब यह अर्थात् ही सिद्ध हो जाता है कि उन उपाधियों के हटने पर वह वैविध्य भी खतम हो जाता है। जब केवलज्ञानावरण क्षीण होता है तब बारहवें गुणस्थान के अन्त में अन्य मति आदि चार आवरण और उनके क्षयोपशम भी नहीं रहते। इसी से उस समय अपूर्ण ज्ञान की तथा तद्गत तारतम्य की निवृत्ति भी हो जाती है। जैसे कि सान्द्र मेघपटल तथा वस्त्र आदि उपाधियों के न रहने पर सूर्य का मन्द प्रकाश तथा उसका वैविध्य कुछ भी बाकी नहीं रहता, एकमात्र पूर्ण प्रकाश ही स्वतः प्रकट होता है; वैसे ही उस समय चेतना भी स्वतः पूर्णतया प्रकाशमान होती है जो कैवल्यज्ञानावस्था है।

उपाधि की निवृत्ति से उपाधिकृत अवस्थाओं की निवृत्ति बतलाते समय उपाध्यायजी ने आचार्य हरिभद्र के कथन का हवाला देकर आध्यात्मिक विकास-क्रम के स्वरूप पर जानने लायक प्रकाश डाला है। उनके कथन का सार यह है कि आत्मा के औपाधिक पर्याय—धर्म भी तीन प्रकार के हैं। जाति गति आदि पर्याय मात्र कर्मोदयरूप–उपाधिकृत हैं। अतएव वे अपने कारणभूत अघाती कर्मों के सर्वथा हट जाने पर ही मुक्ति के समय निवृत्त होते हैं। क्षमा, सन्तोष आदि तथा मति ज्ञान आदि ऐसे पर्याय हैं जो क्षयोपशमजन्य हैं। तात्त्विक धर्मसंन्यास की प्राप्ति होने पर आठवें आदि गुणस्थानों में जैसे जैसे कर्म के क्षयोपशम का स्थान उसका क्षय प्राप्त करता जाता है वैसे वैसे क्षयोपशमरूप उपाधि के न रहने से उन पर्यायों में से तज्जन्य वैविध्य भी चला जाता है। जो पर्याय कर्मक्षयजन्य होने से क्षायिक अर्थात् पूर्ण और एकरूप ही हैं उन पर्यायों का अस्तित्व अगर देहव्यापारादिरूप उपाधिसहित हैं, तो उन पूर्ण पर्यायों का भी अस्तित्व मुक्ति में (जब कि देहादि उपाधि नहीं है) नहीं रहता। अर्थात् उस समय वे पूर्ण पर्याय होते तो हैं, पर सोपाधिक नहीं; जैसे कि सदेह क्षायिकचारित्र भी मुक्ति में नहीं माना जाता। उपाध्यायजी ने उक्त चर्चा से यह बतलाया है कि आत्मपर्याय वैभाविक—उदयजन्य हो या स्वाभाविक पर अगर वे सोपाधिक हैं तो अपनी-

अपनी उपाधि हटने पर वे नहीं रहते। मुक्त दशा में सभी पर्याय सब प्रकार की बाह्य उपाधि से मुक्त ही माने जाते हैं।

दार्शनिक परिभाषाओं की तुलना

उपाध्यायजी ने जैनप्रक्रिया-अनुसारी जो भाव जैन परिभाषा में बतलाया है वही भाव परिभाषाभेद से इतर भारतीय दर्शनों में भी यथावत् देखा जाता है। सभी दर्शन आध्यात्मिक विकासक्रम बतलाते हुए संक्षेप में उत्कट मुमुक्षा, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति इन तीन अवस्थाओं को समान रूप से मानते हैं, और वे जीवन्मुक्त स्थिति में, जब कि क्लेश और मोह का सर्वथा अभाव रहता है तथा पूर्ण ज्ञान पाया जाता है; विपाकारम्भी आयुष आदि कर्म की उपाधि से देह-धारण और जीवन का अस्तित्व मानते हैं; तथा जब विदेह मुक्ति प्राप्त होती है तब उक्त आयुष आदि कर्म की उपाधि सर्वथा न रहने से तज्जन्य देहधारण आदि कार्य का अभाव मानते हैं। उक्त तीन अवस्थाओं को स्पष्ट रूप से जताने वाली दार्शनिक परिभाषाओं की तुलना इस प्रकार है—

	१ उत्कट मुमुक्षा	२ जीवन्मुक्ति	३ विदेहमुक्ति
१ जैन	तात्त्विक धर्मसंन्यास, क्षपक श्रेणी।	सयोगि-अयोगि-गुणस्थान; सर्वज्ञत्व, अर्हत्त्व।	मुक्ति, सिद्धत्व।
२ सांख्य-योग	परवैराग्य, प्रसंख्यान, संप्रज्ञात।	असंप्रज्ञात, धर्ममेघ।	स्वरूपप्रतिष्ठचिति, कैवल्य।
३ बौद्ध	क्लेशावरणहानि, नैरात्म्यदर्शन।	ज्ञेयावरणहानि, सर्वज्ञत्व, अर्हत्त्व।	निर्वाण, निराश्रव-चित्तसंतति।
४ न्याय-वैशेषिक	युक्तयोगी	वियुक्तयोगी	अपवर्ग
५ वेदान्त	निर्विकल्पक समाधि	ब्रह्मसाक्षात्कार, ब्रह्मनिष्ठत्व।	स्वरूपलाभ, मुक्ति।

दार्शनिक इतिहास से जान पड़ता है कि हर एक दर्शन की अपनी-अपनी उक्त परिभाषा बहुत पुरानी है। अतएव उनसे बोधित होने वाला विचारस्रोत तो और भी पुराना समझना चाहिए।

[८] उपाध्यायजी ने ज्ञान सामान्य की चर्चा का उपसंहार करते हुए ज्ञाननिरूपण में बार-बार आने वाले क्षयोपशम शब्द का भाव बतलाया है। एक मात्र जैन साहित्य में पाये जाने वाले क्षयोपशम शब्द का विवरण उन्होंने आर्हत मत के रहस्यज्ञाताओं की प्रक्रिया के अनुसार उसी की परिभाषा में किया

है। उन्होंने अति विस्तृत और अति विशद वर्णन के द्वारा जो रहस्य प्रकट किया है वह दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परंपराओं को एक-सा सम्मत है। [1]पूज्यपाद ने अपनी लाक्षणिक शैली में क्षयोपशम का स्वरूप अति संक्षेप में स्पष्ट ही किया है। राजवार्त्तिककार ने उस पर कुछ और विशेष प्रकाश डाला है। परन्तु इस विषय पर जितना और जैसा विस्तृत तथा विशद वर्णन श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में खासकर मलयगिरीय टीकाओं में पाया जाता है उतना और वैसा विस्तृत व विशद वर्णन हमने अभी तक किसी भी दिगम्बरीय प्राचीन–अर्वाचीन ग्रन्थ में नहीं देखा। जो कुछ हो पर श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परंपराओं का प्रस्तुत विषय में विचार और परिभाषा का ऐक्य सूचित करता है कि क्षयोपशमविषयक प्रक्रिया अन्य कई प्रक्रियाओं की तरह बहुत पुरानी है और उसको जैन तत्त्वज्ञों ने ही इस रूप में इतना अधिक विकसित किया है।

क्षयोपशम की प्रक्रिया का मुख्य वक्तव्य इतना ही है कि अध्यवसाय की विविधता ही कर्मगत विविधता का कारण है। जैसी-जैसी रागद्वेषादिक की तीव्रता या मन्दता वैसा-वैसा ही कर्म की विपाकजनक शक्ति का–रस का तीव्रत्व या मन्दत्व। कर्म की शुभाशुभता के तारतम्य का आधार एक मात्र अध्यवसाय की शुद्धि तथा अशुद्धि का तारतम्य ही है। जब अध्यवसाय में संक्लेश की मात्रा तीव्र हो तब तज्जन्य अशुभ कर्म में अशुभता तीव्र होती है और तज्जन्य शुभ कर्म में शुभता मन्द होती है। इसके विपरीत जब अध्यवसाय में विशुद्धि की मात्रा बढ़ने के कारण संक्लेश की मात्रा मन्द हो जाती है तब तज्जन्य शुभ कर्म में शुभता की मात्रा तो तीव्र होती है और तज्जन्य अशुभ कर्म में अशुभता मन्द हो जाती है। अध्यवसाय का ऐसा भी बल है जिससे कि कुछ तीव्रतमविपाकी कर्मांश का तो उदय के द्वारा ही निर्मूल नाश हो जाता है और कुछ वैसे ही कर्मांश विद्यमान होते हुए भी अकिञ्चित्कर बन जाते हैं, तथा मन्दविपाकी कर्मांश ही अनुभव में आते हैं। यही स्थिति क्षयोपशम की है।

ऊपर कर्मशक्ति और उसके कारण के संबन्ध में जो जैन सिद्धान्त बतलाया है वह शब्दान्तर से और रूपान्तर से (संक्षेप में ही सही) सभी पुनर्जन्मवादी दर्शनान्तरों में पाया जाता है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध दर्शनों में यह स्पष्ट बतलाया है कि जैसी राग-द्वेष-मोहरूप कारण की तीव्रता-मन्दता वैसी धर्माधर्म या कर्म संस्कारों की तीव्रता-मंदता। वेदांत दर्शन भी जैन सम्मत कर्म की तीव्र-मंद शक्ति की तरह अज्ञान गत नानाविध तीव्र-मंद शक्तियों का वर्णन करता है, जो तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के पहले से लेकर तत्वज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी यथा-

१. देखो, ज्ञानबिंदु टिप्पण पृ० ६२, पं० से।

संभव काम करती रहती हैं। इतर सब दर्शनों की अपेक्षा उक्त विषय में जैन दर्शन के साथ योग दर्शन का अधिक साम्य है। योग दर्शन में क्लेशों की जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—ये चार अवस्थाएँ बतलाई हैं वे जैन परिभाषा के अनुसार कर्म की सत्तागत, क्षायोपशमिक और औदयिक अवस्थाएँ हैं। अतएव खुद उपाध्यायजी ने पातञ्जलयोगसूत्रों के ऊपर की अपनी संक्षिप्त वृत्ति में पतञ्जलि और उसके भाष्यकार की कर्म विषयक विचारसरणी तथा परिभाषाओं के साथ जैन प्रक्रिया की तुलना की है, जो विशेष रूप से ज्ञातव्य है।—देखो, योगदर्शन, यशो० २.४।

यह सब होते हुए भी कर्म विषयक जैनेतर वर्णन और जैन वर्णन में खास अंतर भी नजर आता है। पहला तो यह कि जितना विस्तृत, जितना विशद और जितना पृथक्करणवाला वर्णन जैन ग्रंथों में है उतना विस्तृत, विशद और पृथक्करण युक्त कर्म वर्णन किसी अन्य जैनेतर साहित्य में नहीं है। दूसरा अंतर यह है कि जैन चिंतकों ने अमूर्त्त अध्यवसायों या परिणाकों की तीव्रता-मंदता तथा शुद्धि-अशुद्धि के दुरूह तारतम्य को पौद्गलिक[1]—मूर्त्त कर्म रचनाओं के द्वारा व्यक्त करने का एवं समझाने का जो प्रयत्न किया है वह किसी अन्य चिंतक ने नहीं किया है। यही सबब है कि जैन वाङ्मय में कर्म विषयक एक स्वतंत्र साहित्य राशि ही चिरकाल से विकसित है।

---

१ न्यायसूत्र के व्याख्याकारों ने अदृष्ट के स्वरूप के संबन्ध में पूर्व पक्ष रूप से एक मत का निर्देश किया है। जिसमें उन्होंने कहा है कि कोई अदृष्ट को परमाणुगुण मानने वाले भी हैं—न्यायभाष्य ३. २. ६६। वाचस्पति मिश्र ने उस मत को स्पष्टरूपेण जैनमत (तात्पर्य० पृ० ५८४) कहा है। जयन्त ने (न्यायमं० प्रमाण० पृ० २५५) भी पौद्गलिक अदृष्टवादी रूप से जैन मत को ही बतलाया है और फिर उन सभी व्याख्याकारों ने उस मत की समालोचना की है। जान पड़ता है कि न्यायसूत्र के किसी व्याख्याता ने अदृष्टविषयक जैन मत को ठीक ठीक नहीं समझा है। जैन दर्शन मुख्य रूप से अदृष्ट को आत्मपरिणाम ही मानता है। उसने पुद्गलों को जो कर्म-अदृष्ट कहा है वह उपचार है। जैन शास्त्रों में आस्रवजन्य या आस्रवजनक रूप से पौद्गलिक कर्म का जो विस्तृत विचार है और कर्म के साथ पुद्गल शब्द का जो बार-बार प्रयोग देखा जाता है उसी से वात्स्यायन आदि सभी व्याख्याकार भ्रान्ति या अधूरे ज्ञानवश खण्डन में प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं।

२ मति-श्रुत ज्ञान की चर्चा

ज्ञान की सामान्य रूप से विचारणा करने के बाद ग्रन्थकार ने उसकी विशेष विचारणा करने की दृष्टि से उस के पाँच भेदों में से प्रथम मति और श्रुत का निरूपण किया है। यद्यपि वर्णनक्रम की दृष्टि से मति ज्ञान का पूर्णरूपेण निरूपण करने के बाद ही श्रुत का निरूपण प्राप्त है, फिर भी मति और श्रुत का स्वरूप एक दूसरे से इतना विविक्त नहीं है कि एक के निरूपण के समय दूसरे के निरूपण को टाला जा सके इसी से दोनों की चर्चा साथ साथ कर दी गई है [पृ० १६ पं० ६]। इस चर्चा के आधार से तथा उस भाग पर संगृहीत अनेक टिप्पणों के आधार से जिन खास खास मुद्दों पर यहाँ विचार करना है, वे मुद्दे ये हैं—

(१) मति और श्रुत की भेदरेखा का प्रयत्न।
(२) श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित मति का प्रश्न।
(३) चतुर्विध वाक्यार्थ ज्ञान का इतिहास।
(४) अहिंसा के स्वरूप का विचार तथा विकास।
(५) षट्स्थानपतितत्व और पूर्वगत गाथा।
(६) मति ज्ञान के विशेष निरूपण में नया ऊहापोह।

(१) मति और श्रुत की भेदरेखा का प्रयत्न

जैन कर्मशास्त्र के प्रारम्भिक समय से ही ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेदों में मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण ये दोनों उत्तर प्रकृतियाँ बिलकुल जुदी मानी गई हैं। अतएव यह भी सिद्ध है कि उन प्रकृतियों के आवार्य रूपसे माने गए मति और श्रुत ज्ञान भी स्वरूप में एक दूसरे से भिन्न ही शास्त्रकारों को इष्ट हैं। मति और श्रुत के पारस्परिक भेद के विषय में तो पुराकाल से ही कोई मतभेद न था और आज भी उस में कोई मतभेद देखा नहीं जाता; पर इन दोनों का स्वरूप इतना अधिक संमिश्रित है या एक दूसरे के इतना अधिक निकट है कि उन दोनों के बीच भेदक रेखा स्थिर करना बहुत कठिन कार्य है; और कभी-कभी तो वह कार्य असंभव सा बन जाता है। मति और श्रुत के बीच भेद है या नहीं, अगर है तो उसकी सीमा किस तरह निर्धारित करना; इस बारे में विचार करने वाले तीन प्रयत्न जैन वाङ्मय में देखे जाते हैं। पहला प्रयत्न आगमानुसारी है, दूसरा आगममूलक तार्किक है, और तीसरा शुद्ध तार्किक है।

[४६] पहले प्रयत्न के अनुसार मति ज्ञान वह कहलाता है जो इन्द्रिय-मनोजन्य है तथा अवग्रह आदि चार विभागों में विभक्त है। और श्रुत ज्ञान वह

कहलाता है जो अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य रूप से जैन परंपरा में लोकोत्तर शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है, तथा जो जैनेतर वाङ्मय लौकिक शास्त्ररूप से कहा गया है। इस प्रयत्न में मति और श्रुत की भेदरेखा सुस्पष्ट है, क्योंकि इसमें श्रुतपद जैन परंपरा के प्राचीन एवं पवित्र माने जानेवाले शास्त्र मात्र से प्रधानतया संबन्ध रखता है, जैसा कि उस का सहोदर श्रुति पद वैदिक परंपरा के प्राचीन एवं पवित्र माने जाने वाले शास्त्रों से मुख्यतया संबन्ध रखता है। यह प्रयत्न आगमिक इसलिए है कि उसमें मुख्यतया आगमपरंपरा का ही अनुसरण है। **'अनुयोगद्वार'** तथा **'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र'** में पाया जानेवाला श्रुत का वर्णन इसी प्रयत्न का फल है, जो बहुत पुराना जान पड़ता है। (देखो, अनुयोगद्वार सूत्र सू० ३ से और तत्त्वार्थ० १. २०)।

[१५, २६ से] दूसरे प्रयत्न में मति और श्रुत की भेदरेखा तो मान ही ली गई है; पर उस में जो कठिनाई देखी जाती है वह है भेदक रेखा का स्थान निश्चित करने की। पहले की अपेक्षा दूसरा प्रयत्न विशेष व्यापक है; क्योंकि पहले प्रयत्न के अनुसार श्रुत ज्ञान जब शब्द से ही संबन्ध रखता है तब दूसरे प्रयत्न में शब्दातीत ज्ञानविशेष को भी श्रुत मान लिया गया है। दूसरे प्रयत्न के सामने जब प्रश्न हुआ कि मति ज्ञान में भी कोई अंश सशब्द और कोई अंश अशब्द है, तब सशब्द और शब्दातीत माने जानेवाले श्रुत ज्ञान से उसका भेद कैसे समझना ? इसका जवाब दूसरे प्रयत्न ने अधिक गहराई में जाकर यह दिया कि असल में मतिलब्धि और श्रुतलब्धि तथा मत्युपयोग और श्रुतोपयोग परस्पर बिलकुल पृथक् हैं, भले ही वे दोनों ज्ञान सशब्द तथा अशब्द रूप से एक समान हों। दूसरे प्रयत्न के अनुसार दोनों ज्ञानों का पारस्परिक भेद लब्धि और प्रयोग के भेद की मान्यता पर ही अवलम्बित है; जो कि जैन तत्त्वज्ञान में चिर-प्रचलित रही है। अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत रूप से जो श्रुत के भेद जैन वाङ्मय में हैं – वह इस दूसरे प्रयत्न का परिणाम है। 'आवश्यकनिर्युक्ति' (गा० १९) और 'नन्दीसूत्र' (सू० ३७) में जो 'अक्खर सन्नी सम्मं' आदि चौदह श्रुतभेद सर्व प्रथम देखे जाते हैं और जो किसी प्राचीन दिगम्बरीय ग्रन्थ में हमारे देखने में नहीं आए, उनमें अक्षर और अनक्षर श्रुत ये दो भेद सर्व प्रथम ही आते हैं। बाकी के बारह भेद उन्हीं दो भेदों के आधार पर अपेक्षाविशेष से गिनाये हुए हैं। यहाँ तक कि प्रथम प्रयत्न के फल स्वरूप माना जानेवाला अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत भी दूसरे प्रयत्न के फलस्वरूप मुख्य अक्षर और अनक्षर श्रुत में समा जाता है। यद्यपि अक्षरश्रुत आदि चौदह प्रकार के श्रुत का निर्देश 'आवश्यकनिर्युक्ति' तथा 'नन्दी' के पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में देखा नहीं जाता,

फिर भी उन चौदह भेदों के आधारभूत अक्षरानक्षर श्रुत की कल्पना तो प्राचीन ही जान पड़ती है। क्योंकि 'विशेषावश्यकभाष्य' (गा० ११७) में पूर्वगत-रूप से जो गाथा ली गई है उस में अक्षर का निर्देश स्पष्ट है। इसी तरह दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परंपरा के कर्म-साहित्य में समान रूप से वर्णित श्रुत के बीस प्रकारों में भी अक्षर श्रुत का निर्देश है। अक्षर और अनक्षर श्रुत का विस्तृत वर्णन तथा दोनों का भेदप्रदर्शन 'निर्युक्ति' के आधार पर श्री जिनभद्र-गणि क्षमाश्रमण ने किया है[1]। भट्ट अकलंक ने भी अक्षरानक्षर श्रुत का उल्लेख एवं निर्वचन 'राजवार्तिक'[2] में किया है—जो कि 'सर्वार्थसिद्धि' में नहीं पाया जाता। जिनभद्र तथा अकलंक दोनों ने अक्षरानक्षर श्रुत का व्याख्यान तो किया है, पर दोनों का व्याख्यान एकरूप नहीं है। जो कुछ हो पर इतना तो निश्चित ही है कि मति और श्रुत ज्ञान की भेदरेखा स्थिर करनेवाले दूसरे प्रयत्न के विचार में अक्षरानक्षर श्रुत रूप से सम्पूर्ण मूक-वाचाल ज्ञान का प्रधान स्थान रहा है—जब कि उस भेद रेखा को स्थिर करने वाले प्रथम प्रयत्न के विचार में केवल शास्त्र-ज्ञान ही श्रुतरूप से रहा है। दूसरे प्रयत्न को आगमानुसारी तार्किक इसलिए कहा है कि उसमें आगमिक परंपरासम्मत मति और श्रुत के भेद को तो मान ही लिया है; पर उस भेद के समर्थन में तथा उसकी रेखा आँकने के प्रयत्न में, क्या दिगम्बर क्या श्वेताम्बर सभी ने बहुत कुछ तर्क पर दौड़ लगाई है।

[५०] तीसरा प्रयत्न शुद्ध तार्किक है जो सिर्फ सिद्धसेन दिवाकर का ही जान पड़ता है। उन्होंने मति और श्रुत के भेद को ही मान्य नहीं रखा[3]। अतएव उन्होंने भेदरेखा स्थिर करने का प्रयत्न भी नहीं किया। दिवाकर का यह प्रयत्न आगमनिरपेक्ष तर्कावलम्बी है। ऐसा कोई शुद्ध तार्किक प्रयत्न, दिगम्बर वाङ्मय में देखा नहीं जाता। मति और श्रुत का अभेद दर्शानेवाला यह प्रयत्न सिद्धसेन दिवाकर की खास विशेषता सूचित करता है। वह विशेषता यह कि उनकी दृष्टि विशेषतया अभेदगामिनी रही, जो कि उस युग में प्रधानतया प्रति-ष्ठित अद्वैत भावना का फल जान पड़ता है। क्योंकि उन्होंने न केवल मति और श्रुत में ही आगमसिद्ध भेदरेखा के विरुद्ध तर्क किया, बल्कि [4]अवधि और

---

१ देखो, विशेषावश्यकभाष्य, गा० ४६४ से।

२ देखो, राजवार्तिक १.२०.१५।

३ देखो, निश्चयद्वात्रिंशिका श्लो० १९; ज्ञानबिन्दु पृ० १६।

४ देखो, निश्चयद्वा० १७; ज्ञानबिन्दु पृ० १८।

मनःपर्याय में तथा [1]केवलज्ञान और केवलदर्शन में माने जानेवाले आगम-सिद्ध भेद को भी तर्क के बल पर अमान्य किया है।

उपाध्यायजी ने मति और श्रुत की चर्चा करते हुए उनके भेद, भेद की सीमा और अभेद के बारे में, अपने समय तक के जैन वाङ्मय में जो कुछ चिंतन पाया जाता था उस सब का, अपनी विशिष्ट शैली से उपयोग करके, उपर्युक्त तीनों प्रयत्नों का समर्थन सूक्ष्मतापूर्वक किया है। उपध्यायजी की सूक्ष्म दृष्टि प्रत्येक प्रयत्न के आधारभूत दृष्टिबिन्दु तक पहुँच जाती है। इसलिए वे परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले पक्षभेदों का भी समर्थन कर पाते हैं। जैन विद्वानों में उपाध्यायजी ही एक ऐसे हुए जिन्होंने मति और श्रुत की आगमसिद्ध भेदरेखाओं को ठीक-ठीक बतलाते हुए भी सिद्धसेन के अभेदगामी पक्ष को 'नव्य' शब्द के [५०] द्वारा श्लेष से नवीन और स्तुत्य सूचित करते हुए, सूक्ष्म और हृदयङ्गम तार्किक शैली से समर्थन किया।

मति और श्रुत की भेदरेखा स्थिर करनेवाले तथा उसे मिटाने वाले ऐसे तीन प्रयत्नों का जो ऊपर वर्णन किया है, उसकी दर्शनान्तरीय ज्ञानमीमांसा के साथ जब हम तुलना करते हैं, तब भारतीय तत्त्वज्ञों के चिन्तन का विकासक्रम तथा उसका एक दूसरे पर पड़ा हुआ असर स्पष्ट ध्यान में आता है। प्राचीन-तम समय से भारतीय दार्शनिक परंपराएँ आगम को स्वतन्त्र रूप से अलग ही प्रमाण मानती रहीं। सबसे पहले शायद तथागत बुद्ध ने ही आगम के स्वतन्त्र प्रामाण्य पर आपत्ति उठाकर स्पष्ट रूप से यह घोषित किया कि—तुम लोग मेरे वचन को भी अनुभव और तर्क से जाँच कर ही मानो[2]। प्रत्यक्षानुभाव और तर्क पर बुद्ध के द्वारा इतना अधिक भार दिए जाने के फलस्वरूप आगम के स्वतन्त्र प्रामाण्य विरुद्ध एक दूसरी भी विचारधारा प्रस्फुटित हुई। आगम को स्वतन्त्र और अतिरिक्त प्रमाण माननेवाली विचारधारा प्राचीनतम थी जो मीमांसा, न्याय और सांख्य-योग दर्शन में आज भी अक्षुण्ण है, आगम को अतिरिक्त प्रमाण न मानने की प्रेरणा करने वाली दूसरी विचारधारा यद्यपि अपेक्षा-कृत पीछे की है, फिर भी उसका स्वीकार केवल बौद्ध सम्प्रदाय तक ही सीमित न रहा। उसका असर आगे जाकर वैशेषिक दर्शन के व्याख्याकारों पर भी पड़ा

१ देखो, सन्मति द्वितीयकाण्ड, तथा ज्ञानबिन्दु पृ० ३३।

२ 'तापाच्छेदाच्च निकषात्सुवर्णमिव पण्डितैः। परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥" —तत्त्वसं० का० ३५८८।

जिससे उन्होंने आगम-श्रुतिप्रमाण का समावेश बौद्धों की तरह अनुमान[1] में ही किया। इस तरह आगम को अतिरिक्त प्रमाण न मानने के विषय में बौद्ध और वैशेषिक दोनों दर्शन मूल में परस्पर विरुद्ध होते हुए भी अविरुद्ध सहोदर बन गए।

जैन परंपरा की ज्ञानमीमांसा में उक्त दोनों विचारधाराएँ मौजूद हैं। मति और श्रुत की भिन्नता माननेवाले तथा उसकी रेखा स्थिर करनेवाले ऊपर वर्णन किये गए आगमिक तथा आगमानुसारी तार्किक–इन दोनों प्रयत्नों के मूल में वे ही संस्कार हैं जो आगम को स्वतंत्र एवं अतिरिक्त प्रमाण माननेवाली प्राचीनतम विचारधारा के पोषक रहे हैं। श्रुत को मति से अलग न मानकर उसे उसी का एक प्रकार मात्र स्थापित करनेवाला दिवाकरश्री का[2] तीसरा प्रयत्न आगम को अतिरिक्त प्रमाण न माननेवाली दूसरी विचारधारा के असर से अछूता नहीं है। इस तरह हम देख सकते हैं कि अपनी सहोदर अन्य दार्शनिक परंपराओं के बीच में ही जीवनधारण करनेवाली तथा फलने-फूलनेवाली जैन परंपरा ने किस तरह उक्त दोनों विचारधाराओं का अपने में कालक्रम से समावेश कर लिया।

(२) श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित मति

[१६] मति ज्ञान की चर्चा के प्रसङ्ग में श्रुतिनिश्रित और अश्रुतनिश्रित भेद का प्रश्न भी विचारणीय है[3]। श्रुतनिश्रित मति ज्ञान वह है जिसमें श्रुतज्ञानजन्य वासना के उद्बोध से विशेषता आती है। अश्रुतनिश्रित मति ज्ञान तो श्रुतज्ञानजन्य वासना के प्रबोध के सिवाय ही उत्पन्न होता है। अर्थात् जिस विषय में श्रुतनिश्रित मति ज्ञान होता है वह विषय पहले कभी उपलब्ध अवश्य

---

१ देखो, प्रशस्तपादभाष्य पृ० ५७६, व्योमवती पृ० ५७७; कंदली पृ० २१३।

२ यद्यपि दिवाकरश्री ने अपनी बत्तीसी (निश्चय० १९) में मति और श्रुत के अभेद को स्थापित किया है फिर भी उन्होंने चिर प्रचलित मति-श्रुत के भेद की सर्वथा अवगणना नहीं की है। उन्होंने न्यायावतार में आगम प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से निर्दिष्ट किया है। जान पड़ता है इस जगह दिवाकरश्री ने प्राचीन परंपरा का अनुसरण किया और उक्त बत्तीसी में अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। इस तरह दिवाकरश्री के ग्रंथों में आगम प्रमाण को स्वतंत्र अतिरिक्त मानने और न माननेवाली दोनों दर्शनान्तरीय विचारधाराएँ देखी जाती हैं जिन का स्वीकार ज्ञानबिन्दु में उपाध्यायजी ने भी किया है।

३ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० ७०।

होता है, जब कि अश्रुतनिश्रित मति ज्ञान का विषय पहले अनुपलब्ध होता है। प्रश्न यह है कि 'ज्ञानबिन्दु' में उपध्यायजी ने मतिज्ञान रूप से जिन श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित दो भेदों का उपर्युक्त स्पष्टोकरण किया है उनका ऐतिहासिक स्थान क्या है? इसका खुलासा यह जान पड़ता है कि उक्त दोनों भेद उतने प्राचीन नहीं जितने प्राचीन मति ज्ञान के अवग्रह आदि अन्य भेद हैं। क्योंकि मति ज्ञान के अवग्रह आदि तथा बहु, बहुविध आदि सभी प्रकार श्वेताम्बर-दिगम्बर वाङ्मय में समान रूप से वर्णित हैं, तब श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित का वर्णन एक मात्र श्वेताम्बरीय ग्रंथों में है। श्वेताम्बर साहित्य में भी इन भेदों का वर्णन सर्वप्रथम[1] 'नन्दीसूत्र'[2] में ही देखा जाता है। 'अनुयोगद्वार' में तथा 'निर्युक्ति' तक में श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित के उल्लेख का न होना यह सूचित करता है कि यह भेद संभवतः 'नन्दी' की रचना के समय से विशेष प्राचीन नहीं। हो सकता है कि वह सूझ खुद नन्दीकार की ही हो।

यहाँ पर वाचक उमास्वाति के समय के विषय में विचार करनेवालों के लिए ध्यान में लेने योग्य एक वस्तु है। वह यह कि वाचक श्री ने जब मतिज्ञान के अन्य सब प्रकार वर्णित किये हैं[3] तब उन्होंने श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित का अपने भाष्य तक में उल्लेख नहीं किया। स्वयं वाचक श्री, जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं, यथार्थ में उत्कृष्ट संग्राहक[4] हैं। अगर उनके सामने मौजूदा 'नन्दीसूत्र' होता तो वे श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित का कहीं न कहीं संग्रह करने से शायद ही चूकते। अश्रुतनिश्रित के औत्पत्ति की वैनयिकी आदि जिन चार

---

१ यद्यपि अश्रुतनिश्रितरूप से मानी जानेवाली औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियों का नामनिर्देश भगवती (१२.५) में और आवश्यक निर्युक्ति (गा० ९३८) में है, जो कि अवश्य नंदी के पूर्ववर्ती हैं। फिर भी वहाँ उन्हें अश्रुतनिश्रित शब्द से निर्दिष्ट नहीं किया है और न भगवती आदि में अन्यत्र कहीं श्रुतनिश्रित शब्द से अवग्रह आदि मतिज्ञान का वर्णन है। अतएव यह कल्पना होती है कि अवग्रहादि रूप से प्रसिद्ध मति ज्ञान तथा औत्पत्तिकी आदि रूप से प्रसिद्ध बुद्धियों की क्रमशः श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित रूप से मतिज्ञान की विभागव्यवस्था नन्दि-कार ने ही शायद की हो।

२ देखो, नन्दीसूत्र, सू० २६, तथा ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० ७०।

३ देखो, तत्त्वार्थ १.१३–१९।

४ देखो, सिद्धहेम २.२.३९।

बुद्धियों का तथा उनके मनोरंजक दृष्टान्तों का वर्णन[1] पहले से पाया जाता है, उनको अपने ग्रन्थ में कहीं न कहीं संग्रहीत करने के लोभ का उमास्वाति शायद ही संवरण करते। एक तरफ से, वाचकश्री ने कहीं भी अक्षर-अनक्षर आदि निर्युक्तिनिर्दिष्ट श्रुतभेदों का संग्रह नहीं किया है; और दूसरी तरफ से, कहीं भी नन्दी-वर्णित श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित मतिभेद का संग्रह नहीं किया है। जब कि उत्तरवर्ती विशेषावश्यकभाष्य में दोनों प्रकार का संग्रह तथा वर्णन देखा जाता है[2]। यह वस्तुस्थिति सूचित करती है कि शायद वाचक उमास्वाति का समय, निर्युक्ति के उस भाग की रचना के समय से तथा नन्दी की रचना के समय से कुछ न कुछ पूर्ववर्ती हो। अस्तु, जो कुछ हो पर उपाध्यायजी ने तो ज्ञानबिन्दु में श्रुत से मति का पार्थक्य बतलाते समय नन्दी में वर्णित तथा विशेषावश्यक-भाष्य में व्याख्यात श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित दोनों भेदों की तात्त्विक समीक्षा कर दी है।

(३) चतुर्विध वाक्यार्थ ज्ञान का इतिहास

[२०–२६] उपाध्यायजी ने एक दीर्घ श्रुतोपयोग कैसे मानना यह दिखाने के लिए चार प्रकार के वाक्यार्थ ज्ञान की मनोरंजक और बोधप्रद चर्चा[3] की है और उसे विशेष रूप से जानने के लिए आचार्य हरिभद्र कृत 'उपदेशपद' आदि का हवाला भी दिया है। यहाँ प्रश्न यह है कि ये चार प्रकार के वाक्यार्थ क्या हैं और उनका विचार कितना पुराना है और वह किस प्रकार से जैन वाङ्मय में प्रचलित रहा है तथा विकास प्राप्त करता आया है। इसका जवाब हमें प्राचीन और प्राचीनतर वाङ्मय देखने से मिल जाता है।

जैन परंपरा में 'अनुगम' शब्द प्रसिद्ध है जिसका अर्थ है व्याख्यानविधि। अनुगम के छह प्रकार आर्यरक्षित सूरि ने अनुयोगद्वार सूत्र (सूत्र० १५५) में बतलाए हैं। जिनमें से दो अनुगम सूत्रस्पर्शी और चार अर्थस्पर्शी हैं। अनुगम शब्द का निर्युक्ति शब्द के साथ सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम रूप से उल्लेख अनुयोग-द्वार सूत्र से प्राचीन है इसलिए इस बात में तो कोई संदेह रहता ही नहीं कि यह अनुगमपद्धति या व्याख्यान शैली जैन वाङ्मय में अनुयोगद्वार सूत्र से पुरानी और निर्युक्ति के प्राचीनतम स्तर का ही भाग है जो संभवतः श्रुतकेवली भद्र-

१ दृष्टान्तों के लिए देखो नन्दी सूत्र की मलयगिरि की टीका, पृ० १४४ से।

२ देखो, विशेषा० गा० १६६ से, तथा गा० ४५४ से।

३ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० ७३ से।

बाहुकर्तृक मानी जानेवाली निर्युक्ति का ही भाग होना चाहिए। निर्युक्ति में अनुगम शब्द से जो व्याख्यानविधि का समावेश हुआ है वह व्याख्यानविधि भी वस्तुतः बहुत पुराने समय की एक शास्त्रीय प्रक्रिया रही है। हम जब आर्य परंपरा के उपलब्ध विविध वाङ्मय तथा उनकी पाठशैली को देखते हैं तब इस अनुगम की प्राचीनता और भी ध्यान में आ जाती है। आर्य परंपरा की एक शाखा जरथोस्थ्रियन को देखते हैं तब उसमें भी पवित्र माने जानेवाले अवेस्ता आदि ग्रन्थों का प्रथम विशुद्ध उच्चार कैसे करना, किस तरह पद आदि का विभाग करना इत्यादि क्रम से व्याख्याविधि देखते हैं। भारतीय आर्य परंपरा की वैदिक शाखा में जो मन्त्रों का पाठ सिखाया जाता है और क्रमशः जो उसकी अर्थविधि बतलाई गई है उसकी जैन परंपरा में प्रसिद्ध अनुगम के साथ तुलना करें तो इस बात में कोई संदेह ही नहीं रहता कि यह अनुगमविधि वस्तुतः वही है जो जरथोस्थ्रियन धर्म में तथा वैदिक धर्म में भी प्रचलित थी और आज भी प्रचलित है।

जैन और वैदिक परंपरा की पाठ तथा अर्थविधि विषयक तुलना—

१. वैदिक	२. जैन
१ संहितापाठ (मंत्रपाठ)	१ संहिता (मूलसूत्रपाठ) १
२ पदच्छेद (जिसमें पद, क्रम, जटा आदि आठ प्रकार की विविधानुपूर्विओं का समावेश है)	२ पद २
३ पदार्थज्ञान	३ पदार्थ ३, पदविग्रह ४
४ वाक्यार्थज्ञान	४ चालना ५
५ तात्पर्यार्थनिर्णय	५ प्रत्यवस्थान ६

जैसे वैदिक परंपरा में शुरू में मूल मंत्र को शुद्ध तथा अस्खलित रूप में सिखाया जाता है; अनन्तर उनके पदों का विविध विश्लेषण; इसके बाद जब अर्थविचारणा—मीमांसा का समय आता है तब क्रमशः प्रत्येक पद के अर्थ का ज्ञान; फिर पूरे वाक्य का अर्थ ज्ञान और अन्त में साधक-बाधक चर्चापूर्वक तात्पर्यार्थ का निर्णय कराया जाता है—वैसे ही जैन परंपरा में भी कम से कम निर्युक्ति के प्राचीन समय में सूत्रपाठ से अर्थनिर्णय तक का वही क्रम प्रचलित था जो अनुगम शब्द से जैन परंपरा में व्यवहृत हुआ। अनुगम के छह विभाग जो अनुयोगद्वारसूत्र[1] में हैं उनका परंपरा प्राप्त वर्णन जिनभद्र क्षमाश्रमण ने

१ देखो, अनुयोगद्वारसूत्र सू० १५५ पृ० २६१।

विस्तार से किया है[1]। संघदास गणि ने[2] 'बृहत्कल्पभाष्य' में उन छह विभागों के वर्णन के अलावा मतान्तर से पाँच विभागों का भी निर्देश किया है। जो कुछ हो; इतना तो निश्चित है कि जैन परंपरा में सूत्र और अर्थ सिखाने के संबंध में एक निश्चित व्याख्यानविधि चिरकाल से प्रचलित रही। इसी व्याख्यानविधि को आचार्य हरिभद्र ने अपने दार्शनिक ज्ञान के नए प्रकाश में कुछ नवीन शब्दों में नवीनता के साथ विस्तार से वर्णन किया है। हरिभद्रसूरि की उक्ति में कई विशेषताएं हैं जिन्हें जैन वाङ्मय को सर्व प्रथम उन्हीं की देन कहनी चाहिए। उन्होंने उपदेशपद[3] में अर्थानुगम के चिरप्रचलित चार भेदों को कुछ मीमांसा आदि दर्शनज्ञान का ओप देकर नए चार नामों के द्वारा निरूपण किया है। दोनों की तुलना इस प्रकार है—

१. प्राचीन परंपरा	२. हरिभद्रीय
१ पदार्थ	१ पदार्थ
२ पदविग्रह	२ वाक्यार्थ
३ चालना	३ महावाक्यार्थ
४ प्रत्यवस्थान	४ ऐदम्पर्यार्थ

हरिभद्रीय विशेषता केवल नए नाम में ही नहीं है। उनकी ध्यान देने योग्य विशेषता तो चारों प्रकार के अर्थबोध का तरतम भाव समझाने के लिए दिये गए लौकिक तथा शास्त्रीय उदाहरणों में है। जैन परंपरा में अहिंसा, निर्ग्रन्थत्व, दान और तप आदि का धर्म रूप से सर्वप्रथम स्थान है, अतएव जब एक तरफ से उन धर्मों के आचरण पर आत्यन्तिक भार दिया जाता है, तब दूसरी तरफ से उसमें कुछ अपवादों का या छूटों का रखना भी अनिवार्य रूप से प्राप्त हो जाता है। इस उत्सर्ग और अपवाद विधि की मर्यादा को लेकर आचार्य हरिभद्र ने उक्त चार प्रकार के अर्थबोधों का वर्णन किया है।

जैनधर्म की अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा के बारे में जैन धर्म का सामान्य नियम यह है कि किसी भी प्राणी का किसी भी प्रकार से घात न किया जाए। यह 'पदार्थ' हुआ। इस पर प्रश्न

---

१ देखो, विशेषावश्यकभाष्य गा० १००२ से।

२ देखो, बृहत्कल्पभाष्य गा० ३०२ से।

३ देखो, उपदेशपद गा० ८५६–८८५।

होता है कि अगर सर्वथा प्राणिघात वर्ज्य है तो धर्मस्थान का निर्माण तथा शिरोमुण्डन आदि कार्य भी नहीं किये जा सकते जो कि कर्तव्य समझे जाते हैं। यह शंकाविचार 'वाक्यार्थ' है। अवश्य कर्तव्य अगर शास्त्रविधिपूर्वक किया जाए तो उसमें होनेवाला प्राणिघात दोषावह नहीं, अविधिकृत ही दोषावह है। यह विचार 'महावाक्यार्थ' है। अन्त में जो जिनाज्ञा है वही एक मात्र उपादेय है ऐसा तात्पर्य निकालना 'ऐदम्पर्यार्थ' है। इस प्रकार सर्व प्राणिहिंसा के सर्वथा निषेधरूप सामान्य नियम में जो विधिविहित अपवादों को स्थान दिलानेवाला और उत्सर्ग-अपवादरूप धर्ममार्ग स्थिर करनेवाला विचार-प्रवाह ऊपर दिखाया गया उसको आचार्य हरिभद्र ने लौकिक दृष्टान्तों से समझाने का प्रयत्न किया है।

अहिंसा का प्रश्न उन्होंने प्रथम उठाया है जो कि जैन परंपरा की जड़ है। यों तो अहिंसा समुच्चय आर्य परंपरा का सामान्य धर्म रहा है। फिर भी धर्म, क्रीडा, भोजन आदि अनेक निमित्तों से जो विविध हिंसाएँ प्रचलित रहीं उनका आत्यन्तिक विरोध जैन परंपरा ने किया। इस विरोध के कारण ही उसके सामने प्रतिवादियों की तरफ से तरह-तरह के प्रश्न होने लगे कि अगर जैन सर्वथा हिंसा का निषेध करते हैं तो वे खुद भी न जीवित रह सकते हैं और न धर्माचरण ही ही कर सकते हैं। इन प्रश्नों का जवाब देने की दृष्टि से ही हरिभद्र ने जैन समत अहिंसास्वरूप समझाने के लिए चार प्रकार के वाक्यार्थ बोध के उदाहरण रूप से सर्वप्रथम अहिंसा के प्रश्न को ही हाथ में लिया है।

दूसरा प्रश्न निर्ग्रन्थत्व का है। जैन परंपरा में ग्रन्थ—वस्त्रादि परिग्रह रखने न रखने के बारे में दलभेद हो गया था। हरिभद्र के सामने यह प्रश्न खासकर दिगम्बरत्वपक्षपातियों की तरफ से ही उपस्थित हुआ जान पड़ता है। हरिभद्र ने जो दान का प्रश्न उठाया है वह करीब-करीब आधुनिक तेरापंथी संप्रदाय की विचारसरणी का प्रतिबिम्ब है। यद्यपि उस समय तेरापंथ या वैसा ही दूसरा कोई स्पष्ट पंथ न था; फिर भी जैन परंपरा की निवृत्ति प्रधान भावना में से उस समय भी दान देने के विरुद्ध किसी-किसी को विचार आ जाना स्वाभाविक था जिसका जवाब हरिभद्र ने दिया है। जैनसंमत तप का विरोध बौद्ध परंपरा पहले से ही करती आई है[1]। उसी का जवाब हरिभद्र ने दिया है। इस तरह जैन धर्म के प्राणभूत सिद्धान्तों का स्वरूप उन्होंने **उपदेशपद** में चार प्रकार के वाक्यार्थबोध का निरूपण करने के प्रसंग में स्पष्ट किया है जो याज्ञिक विद्वानों

---

१ देखो, मज्झिमनिकाय सुत्त० १४।

की अपनी हिंसा-अहिंसा विषयक मीमांसा का जैन दृष्टि के अनुसार संशोधित मार्ग है।

भिन्न-भिन्न समय के अनेक ऋषियों के द्वारा सर्वभूतदया का सिद्धान्त तो आर्यवर्ग में बहुत पहले ही स्थापित हो चुका था; जिसका प्रतिघोष है—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—यह श्रुतिकल्प वाक्य। यज्ञ आदि धर्मों में प्राणिवध का समर्थन करनेवाले मीमांसक भी उस अहिंसाप्रतिपादक प्रतिघोष को पूर्णतया प्रमाण रूप से मानते आए हैं। अतएव उनके सामने भी अहिंसा के क्षेत्र में यह प्रश्न तो अपने आप ही उपस्थित हो जाता था। तथा सांख्य आदि अर्ध वैदिक परंपराओं के द्वारा भी वैसा प्रश्न उपस्थित हो जाता था कि जब हिंसा को निषिद्ध अतएव अनिष्टजननी तुम मीमांसक भी मानते हो तब यज्ञ आदि प्रसंगों में, की जानेवाली हिंसा भी, हिंसा होने के कारण अनिष्टजनक क्यों नहीं? और जब हिंसा के नाते यज्ञीय हिंसा भी अनिष्टजनक सिद्ध होती है तब उसे धर्म का—इष्ट का निमित्त मानकर यज्ञ आदि कर्मों में कैसे कर्तव्य माना जा सकता है? इस प्रश्न का जवाब बिना दिए व्यवहार तथा शास्त्र में काम चल ही नहीं सकता था। अतएव पुराने समय से याज्ञिक विद्वान् अहिंसा को पूर्णरूपेण धर्म मानते हुए भी, बहुजनस्वीकृत और चिरप्रचलित यज्ञ आदि कर्मों में होनेवाली हिंसा का धर्म—कर्तव्य रूप से समर्थन, अनिवार्य अपवाद के नाम पर करते आ रहे थे। मीमांसकों की अहिंसा-हिंसा के उत्सर्ग-अपवादभाववाली चर्चा के प्रकार तथा उसका इतिहास हमें आज भी कुमारिल तथा प्रभाकर के ग्रन्थों में विस्पष्ट और मनोरंजन रूप से देखने को मिलता है। इस बुद्धिपूर्ण चर्चा के द्वारा मीमांसकों ने सांख्य, जैन, बौद्ध आदि के सामने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि शास्त्र विहित कर्म में की जानेवाली हिंसा अवश्य कर्तव्य होने से अनिष्ट—अधर्म का निमित्त नहीं हो सकती। मीमांसकों का अन्तिम तात्पर्य यही है कि शास्त्र—वेद ही मुख्य प्रमाण है और यज्ञ आदि कर्म वेदविहित हैं। अतएव जो यज्ञ आदि कर्म को करना चाहे या जो वेद को मानता है उसके वास्ते वेदाज्ञा का पालन ही परम धर्म है, चाहे उसके पालन में जो कुछ करना पड़े। मीमांसकों का यह तात्पर्यनिर्णय आज भी वैदिक परंपरा में एक ठोस सिद्धांत है। सांख्य आदि जैसे यज्ञीय हिंसा के विरोधी भी वेद का प्रामाण्य सर्वथा न त्याग देने के कारण अन्त में मीमांसकों के उक्त तात्पर्यार्थ निर्णय का आत्यंतिक विरोध कर न सके। ऐसा विरोध आखिर तक वे ही करते रहे जिन्होंने वेद के प्रामाण्य का सर्वथा इन्कार कर दिया। ऐसे विरोधियों में जैन परंपरा मुख्य है। जैन परंपरा ने वेद के प्रामाण्य के साथ वेदविहित हिंसा की धर्म्यता का भी सर्वतोभावेन

निषेध किया। पर जैन परंपरा का भी अपना एक उद्देश्य है जिसकी सिद्धि के वास्ते उसके अनुयायी गृहस्थ और साधु का जीवन आवश्यक है। इसी जीवनधारण में से जैन परंपरा के सामने भी ऐसे अनेक प्रश्न समय-समय पर आते रहे जिनका अहिंसा के आत्यंतिक सिद्धांत के साथ समन्वय करना उसे प्राप्त हो जाता था। जैन परंपरा वेद के स्थान में अपने आगमों को ही एक मात्र प्रमाण मानती आई है; और अपने उद्देश्य की सिद्धि के वास्ते स्थापित तथा प्रचारित विविध प्रकार के गृहस्थ और साधु जीवनोपयोगी कर्तव्यों का पालन भी करती आई है। अतएव अन्त में उसके वास्ते भी उन स्वीकृत कर्तव्यों में अनिवार्य रूप से हो जानेवाली हिंसा का समर्थन भी एक मात्र आगम की आज्ञा के पालन रूप से ही करना प्राप्त है। जैन आचार्य इसी दृष्टि से अपने आपवादिक हिंसा मार्ग का समर्थन करते रहे।

आचार्य हरिभद्र ने चार प्रकार के वाक्यार्थ बोध को दर्शाते समय अहिंसा-हिंसा के उत्सर्ग-अपवादभाव का जो सूक्ष्म विवेचन किया है वह अपने पूर्वाचार्यों की परंपराप्राप्त संपत्ति तो है ही पर उसमें उनके समय तक की विकसित मीमांसाशैली का भी कुछ न कुछ असर है। इस तरह एक तरफ से चार वाक्यार्थबोध के बहाने उन्होंने उपदेशपद में मीमांसा की विकसित शैली का, जैन दृष्टि के अनुसार संग्रह किया; तब दूसरी तरफ से उन्होंने बौद्ध परिभाषा को भी 'षोडशक'[1] में अपनाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया। धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' के पहले से भी बौद्ध परंपरा में विचार विकास की क्रम प्राप्त तीन भूमिकाओं को दर्शानेवाले श्रुतमय, चिंतामय और भावनामय ऐसे तीन शब्द बौद्ध वाङ्मय में प्रसिद्ध रहे। हम जहाँ तक जान पाए हैं कह सकते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने ही उन तीन बौद्धप्रसिद्ध शब्दों को लेकर उनकी व्याख्या में वाक्यार्थबोध के प्रकारों को समाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया। उन्होंने षोडशक में परिभाषाएँ तो बौद्धों की लीं पर उन की व्याख्या अपनी दृष्टि के अनुसार की; और श्रुतमय को वाक्यार्थ ज्ञानरूप से, चिंतामय को महावाक्यार्थ ज्ञानरूप से और भावनामय को ऐदम्पर्यार्थ ज्ञानरूप से घटाया। स्वामी विद्यानन्द ने उन्हीं बौद्ध परिभाषाओं का 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में खंडन[2] किया, जब कि हरिभद्र ने उन परिभाषाओं को अपने ढंग से जैन वाङ्मय में अपना लिया।

उपाध्यायजी ने ज्ञानबिन्दु में हरिभद्रवर्णित चार प्रकार का वाक्यार्थबोध,

---

१ षोडशक १. १०।

२ देखो, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २१।

जिसका पुराना इतिहास, निर्युक्ति के अनुगम में तथा पुरानी वैदिक परंपरा आदि में भी मिलता है; उस पर अपनी पैनी नैयायिक दृष्टि से बहुत ही मार्मिक प्रकाश डाला है, और स्थापित किया है कि ये सब वाक्यार्थ बोध एक दीर्घ श्रुतोयोग रूप हैं जो मति उपयोग से जुदा है। उपाध्यायजी ने ज्ञानबिन्दु में जो वाक्यार्थ विचार संक्षेप में दरसाया है वही उन्होंने अपनी 'उपदेश रहस्य' नामक दूसरी कृति में विस्तार से किन्तु 'उपदेशपद' के साररूप से निरूपित किया है जो ज्ञानबिन्दु के संस्कृत टिप्पण में उद्धृत किया गया है। (देखो ज्ञान-बिन्दु, टिप्पण, पृ० ७४. पं० २७ से)।

(४) अहिंसा का स्वरूप और विकास

[२१] उपाध्यायजी ने चतुर्विध वाक्यार्थ का विचार करते समय ज्ञान-बिन्दु में जैन परंपरा के एक मात्र और परम सिद्धान्त अहिंसा को लेकर, उत्सर्ग-अपवादभाव की जो जैन शास्त्रों में परापूर्व से चली आनेवाली चर्चा की है और जिसके उपपादन में उन्होंने अपने न्याय-मीमांसा आदि दर्शनान्तर के गंभीर अभ्यास का उपयोग किया है, उसको यथासंभव विशेष समझाने के लिए, ज्ञानबिन्दु टिप्पण में [पृ० ७९ पं० ११ से] जो विस्तृत अवतरणसंग्रह किया है उसके आधार पर, यहाँ अहिंसा संबंधी कुछ ऐतिहासिक तथा तात्त्विक मुद्दों पर प्रकाश डाला जाता है।

अहिंसा का सिद्धांत आर्य परंपरा में बहुत ही प्राचीन है। और उसका आदर सभी आर्यशाखाओं में एक-सा रहा है। फिर भी प्रजाजीवन के विस्तार के साथ-साथ तथा विभिन्न धार्मिक परंपराओं के विकास के साथ-साथ, उस सिद्धांत के विचार तथा व्यवहार में भी अनेकमुखी विकास हुआ देखा जाता है। अहिंसा विषयक विचार के मुख्य दो स्रोत प्राचीन काल से ही आर्य परंपरा में बहने लगे ऐसा जान पड़ता है। एक स्रोत तो मुख्यतया श्रमण जीवन के आश्रय से बहने लगा, जब कि दूसरा स्रोत ब्राह्मण परंपरा—चतुर्विध आश्रम—के जीवन-विचार के सहारे प्रवाहित हुआ। अहिंसा के तात्त्विक विचार में उक्त दोनों स्रोतों में कोई मतभेद देखा नहीं जाता। पर उसके व्यावहारिक पहलू या जीवनगत उपयोग के बारे में उक्त दो स्रोतों में ही नहीं बल्कि प्रत्येक श्रमण एवं ब्राह्मण स्रोत की छोटी-बड़ी अवान्तर शाखाओं में भी, नाना प्रकार के मतभेद तथा आपसी विरोध देखे जाते हैं। तात्त्विक रूप से अहिंसा सब को एक-सी मान्य होने पर भी उस के व्यावहारिक उपयोग में तथा तदनुसारी व्याख्याओं में जो मतभेद और विरोध देखा जाता है उसका प्रधान कारण जीवनदृष्टि का

भेद है। श्रमण परंपरा की जीवनदृष्टि प्रधानतया वैयक्तिक और आध्यात्मिक रही है, जब कि ब्राह्मण परंपरा की जीवनदृष्टि प्रधानतया सामाजिक या लोकसंग्राहक रही है। पहली में लोकसंग्रह तभी तक इष्ट है जब तक वह आध्यात्मिकता का विरोधी न हो। जहाँ उसका आध्यात्मिकता से विरोध दिखाई दिया वहाँ पहली दृष्टि लोकसंग्रह की ओर उदासीन रहेगी या उसका विरोध करेगी। जब कि दूसरी दृष्टि में लोकसंग्रह इतने विशाल पैमाने पर किया गया है कि जिससे उसमें आध्यात्मिकता और भौतिकता परस्पर टकराने नहीं पाती।

श्रमण परंपरा की अहिंसा संबंधी विचारधारा का एक प्रवाह अपने विशिष्ट रूप से बहता था जो कालक्रम से आगे जाकर दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर के जीवन में उदात्त रूप में व्यक्त हुआ। हम उस प्रकटीकरण को 'आचाराङ्ग', 'सूत्रकृताङ्ग' आदि प्राचीन जैन आगमों में स्पष्ट देखते हैं। अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा तो आत्मौपम्य की दृष्टि में से ही हुई थी। पर उक्त आगमों में उसका निरूपण और विश्लेषण इस प्रकार हुआ है—

१. दुःख और भय का कारण होने से हिंसामात्र वर्ज्य है, यह अहिंसा सिद्धान्त की उपपत्ति।

२. हिंसा का अर्थ यद्यपि प्राणनाश करना या दुःख देना है तथापि हिंसा-जन्य दोष का आधार तो मात्र प्रमाद अर्थात् रागद्वेषादि ही है। अगर प्रमाद या आसक्ति न हो तो केवल प्राणनाश हिंसा कोटि में आ नहीं सकता, यह अहिंसा का विश्लेषण।

३. वध्यजीवों का कद, उनकी संख्या तथा उनकी इन्द्रिय आदि संपत्ति के तारतम्य के ऊपर हिंसा के दोष का तारतम्य अवलंबित नहीं है; किन्तु हिंसक के परिणाम या वृत्ति की तीव्रता-मंदता, सज्ञानता-अज्ञानता या बल प्रयोग की न्यूनाधिकता के ऊपर अवलंबित है, ऐसा कोटिक्रम।

उपर्युक्ति तीनों बातें भगवान् महावीर के विचार तथा आचार में से फलित होकर आगमों में ग्रथित हुई हैं। कोई एक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह कैसा ही आध्यात्मिक क्यों न हो पर वह संयमलक्षी जीवनधारण का भी प्रश्न सोचता है तब उसमें से उपर्युक्त विश्लेषण तथा कोटिक्रम अपने आप ही फलित हो जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो कहना पड़ता है कि आगे के जैन वाङ्मय में अहिंसा के संबंध में जो विशेष ऊहापोह हुआ है उसका मूल आधार तो प्राचीन आगमों में प्रथम से ही रहा।

समूचे जैन वाङ्मय में पाए जानेवाले अहिंसा के ऊहापोह पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि जैन वाङ्मय का अहिंसा-

संबंधी ऊहापोह मुख्यतया चार बलों पर अवलंबित है। पहला तो यह कि वह प्रधानतया साधु जीवन का ही अतएव नवकोटिक-पूर्ण अहिंसा का ही विचार करता है। दूसरा यह कि वह ब्राह्मण परंपरा में विहित मानी जानेवाली और प्रतिष्ठित समझी जानेवाली यज्ञीय आदि अनेकविध हिंसाओं का विरोध करता है। तीसरा यह कि वह अन्य श्रमण परंपराओं के त्यागी जीवन की अपेक्षा भी जैन श्रमण का त्यागी जीवन विशेष नियंत्रित रखने का आग्रह रखता है। चौथा यह कि वह जैन परंपरा के ही अवान्तर फिरकों में उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक विरोध के प्रश्नों के निराकरण का भी प्रयत्न करता है।

नवकोटिक-पूर्ण अहिंसा के पालन का आग्रह भी रखना और संयम या सद्गुणविकास की दृष्टि से जीवननिर्वाह का समर्थन भी करना—इस विरोध में से हिंसा के द्रव्य, भाव आदि भेदों का ऊहापोह फलित हुआ और अन्त में एक मात्र निश्चय सिद्धान्त यही स्थापित हुआ कि आखिर को प्रमाद ही हिंसा है। अप्रत्त जीवनव्यवहार देखने में हिंसात्मक हो तब भी वह वस्तुतः अहिंसक ही है। जहाँ तक इस आखरी नतीजे का संबंध है वहाँ तक श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि किसी भी जैन फिरके का इसमें थोड़ा भी मतभेद नहीं है। सब फिरकों की विचार-सरणी परिभाषा और दलीलें एक-सी हैं। यह हम ज्ञानबिन्दु के टिप्पण गत श्वेताम्बरीय विस्तृत अवतरणों से भली-भांति जान सकते हैं।

वैदिक परंपरा में यज्ञ, अतिथि श्राद्ध आदि अनेक निमित्तों से होने वाली जो हिंसा धार्मिक मानकर प्रतिष्ठित करार दी जाती थी उसका विरोध सांख्य, बौद्ध और जैन परंपरा ने एक सा किया है फिर भी आगे जाकर इस विरोध में मुख्य भाग बौद्ध और जैन का ही रहा है। जैन वाङ्मयगत अहिंसा के ऊहापोह में उक्त विरोध की गहरी छाप और प्रतिक्रिया भी है। पद-पद पर जैन साहित्य में वैदिक हिंसा का खण्डन देखा जाता है। साथ ही जब वैदिक लोग जैनों के प्रति यह आशंका करते हैं कि अगर धार्मिक हिंसा भी अकर्तव्य है तो तुम जैन लोग अपनी समाज रचना में मन्दिरनिर्माण, देवपूजा आदि धार्मिक कृत्यों का समावेश अहिंसक रूप से कैसे कर सकोगे इत्यादि। इस प्रश्न का खुलासा भी जैन वाङ्मय के अहिंसा संबंधी ऊहापोह में सविस्तर पाया जाता है।

प्रमाद—मानसिक दोष ही मुख्यतया हिंसा है और उस दोष में से जनित ही प्राण-नाश हिंसा है। यह विचार जैन और बौद्ध परंपरा में एक-सा मान्य है। फिर भी हम देखते हैं कि पुराकाल से जैन और बौद्ध परंपरा के बीच अहिंसा के संबंध में पारस्परिक खण्डन-मण्डन बहुत हुआ है। 'सूत्रकृताङ्ग' जैसे प्राचीन आगम में भी अहिंसा संबंधी बौद्ध मन्तव्य का खंडन है। इसी तरह

'मज्झिमनिकाय' जैसे पिटक ग्रंथों में भी जैन संमत अहिंसा का सपरिहास खण्डन पाया जाता है। उत्तरवर्ती निर्युक्ति आदि जैन ग्रंथों में तथा 'अभिधर्मकोष' आदि बौद्ध ग्रंथों में भी वही पुराना खण्डन-मण्डन नए रूप में देखा जाता है। जब जैन-बौद्ध दोनों परंपराएँ वैदिक हिंसा की एक-सी विरोधिनी हैं और जब दोनों की अहिंसा संबंधी व्याख्या में कोई तात्त्विक मतभेद नहीं तब पहले से ही दोनों में पारस्परिक खण्डन-मण्डन क्यों शुरू हुआ और चल पड़ा— यह एक प्रश्न है। इसका जवाब जब हम दोनों परंपराओं के साहित्य को ध्यान से पढ़ते हैं, तब मिल जाता है। खण्डन-मण्डन के अनेक कारणों में से प्रधान कारण तो यही है कि जैन परंपरा ने नवकोटिक अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या को अमल में लाने के लिए जो बाह्य प्रवृत्ति को विशेष नियंत्रित किया वह बौद्ध परंपरा ने नहीं किया। जीवन-संबंधी बाह्य प्रवृत्तियों के अति नियन्त्रण और मध्यम-मार्गीय शैथिल्य के प्रबल भेद में से ही बौद्ध और जैन परंपराएँ आपस में खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त हुईं। इस खण्डन-मण्डन का भी जैन वाङ्मय के अहिंसा संबंधी ऊहापोह में खासा हिस्सा है जिसका कुछ नमूना ज्ञानबिन्दु के टिप्पणों में दिए हुए जैन और बौद्ध अवतरणों से जाना जा सकता है। जब हम दोनों परंपराओं के खण्डन-मण्डन को तटस्थ भाव से देखते हैं तब निःसंकोच कहना पड़ता है कि बहुधा दोनों ने एक दूसरे को गलत रूप से ही समझा है। इसका एक उदाहरण 'मज्झिमनिकाय' का उपालिसुत्त और दूसरा नमूना सूत्रकृताङ्ग (१. १. २. २४–३२; २. ६. २६–२८) का है।

जैसे-जैसे जैन साधुसंघ का विस्तार होता गया और जुदे-जुदे देश तथा काल में नई-नई परिस्थिति के कारण नए-नए प्रश्न उत्पन्न होते गए वैसे-वैसे जैन तत्वचिन्तकों ने अहिंसा की व्याख्या और विश्लेषण में से एक स्पष्ट नया विचार प्रकट किया। वह यह कि अगर अप्रमत्त भाव से कोई जीवविराधना—हिंसा हो जाए या करनी पड़े तो वह मात्र अहिंसाकोटि की अतएव निर्दोष ही नहीं है बल्कि वह गुण (निर्जरा) वर्धक भी है। इस विचार के अनुसार, साधु पूर्ण अहिंसा का स्वीकार कर लेने के बाद भी, अगर संयत जीवन की पुष्टि के निमित्त, विविध प्रकार की हिंसारूप समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करता है तो वह संयमविकास में एक कदम आगे बढ़ता है। यही जैन परिभाषा के अनुसार निश्चय अहिंसा है। जो त्यागी बिलकुल वस्त्र आदि रखने के विरोधी थे वे मर्यादित रूप में वस्त्र आदि उपकरण (साधन) रखनेवाले साधुओं को जब हिंसा के नाम पर कोसने लगे तब वस्त्रादि के समर्थक त्यागियों ने उसी निश्चय सिद्धान्त का आश्रय लेकर जवाब दिया कि केवल संयम के धारण और निर्वाह के वास्ते ही, शरीर की

तरह मर्यादित उपकरण आदि का रखना अहिंसा का बाधक नहीं। जैन साधुसंघ की इस प्रकार की पारस्परिक आचारभेदमूलक चर्चा के द्वारा भी अहिंसा के ऊहापोह में बहुत कुछ विकास देखा जाता है, जो ओघनिर्युक्ति आदि में स्पष्ट है। कभी-कभी अहिंसा की चर्चा शुष्क तर्क की-सी हुई जान पड़ती है। एक व्यक्ति प्रश्न करता है कि अगर वस्त्र रखना ही है तो वह बिना फाड़े अखण्ड ही क्यों न रखा जाए; क्योंकि उसके फाड़ने में जो सूक्ष्म अणु उड़ेंगे वे जीव-घातक जरूर होंगे। इस प्रश्न का जवाब भी उसी ढंग से दिया गया है। जवाब देनेवाला कहता है, कि अगर वस्त्र फाड़ने से फैलनेवाले सूक्ष्म अणुओं के द्वारा जीवघात होता है; तो तुम जो हमें वस्त्र फाड़ने से रोकने के लिए कुछ कहते हो उसमें भी तो जीवघात होता है न ?—इत्यादि। अस्तु। जो कुछ हो, पर हम जिनभद्रगणि की स्पष्ट वाणी में जैनपरंपरासंमत अहिंसा का पूर्ण स्वरूप पाते हैं। वे कहते हैं कि स्थान सजीव हो या निर्जीव, उसमें कोई जीव घातक हो जाता हो या कोई अघातक ही देखा जाता हो, पर इतने मात्र से हिंसा या अहिंसा का निर्णय नहीं हो सकता। हिंसा सचमुच प्रमाद—अयतना—असंयम में ही है फिर चाहे किसी जीव का घात न भी होता हो। इसी तरह अगर अप्रमाद या यतना–संयम सुरक्षित है तो जीवघात दिखाई देने पर भी वस्तुतः अहिंसा ही है।

उपर्युक्त विवेचन से अहिंसा संबंधी जैन ऊहापोह की नीचे लिखी क्रमिक भूमिकाएँ फलित होती हैं।

(१) प्राण का नाश हिंसारूप होने से उसको रोकना ही अहिंसा है।

(२) जीवन धारण की समस्या में से फलित हुआ कि जीवन–खासकर संयमी जीवन के लिए अनिवार्य समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करते रहने पर अगर जीवघात हो भी जाए तो भी यदि प्रमाद नहीं है तो वह जीवघात हिंसारूप न होकर अहिंसा ही है।

(३) अगर पूर्णरूपेण अहिंसक रहना हो तो वस्तुतः और सर्वप्रथम चित्तगत क्लेश (प्रमाद) का ही त्याग करना चाहिए। यह हुआ तो अहिंसा सिद्ध हुई। अहिंसा का बाह्य प्रवृत्तियों के साथ कोई नियत संबंध नहीं है। उसका नियत संबंध मानसिक प्रवृत्तियों के साथ है।

(४) वैयक्तिक या सामूहिक जीवन में ऐसे भी अपवाद स्थान आते हैं जब कि हिंसा मात्र अहिंसा ही नहीं रहती प्रत्युत वह गुणवर्धक भी बन जाती है। ऐसे आपवादिक स्थानों में अगर कही जानेवाली हिंसा से डरकर उसे आचरण में न लाया जाए तो उलटा दोष लगता है।

ऊपर हिंसा-अहिंसा संबंधी जो विचार संक्षेप में बतलाया है उसकी पूरी-पूरी

शास्त्रीय सामग्री उपाध्यायजी को प्राप्त थी अतएव उन्होंने 'वाक्यार्थ विचार' प्रसंग में जैनसम्मत—खासकर साधुजीवनसम्मत-अहिंसा को लेकर/उत्सर्ग-अपवाद-भाव की चर्चा की है। उपाध्यायजी ने जैनशास्त्र में पाए जानेवाले अपवादों का निर्देश करके स्पष्ट कहा है कि ये अपवाद देखने में कैसे ही क्यों न अहिंसा-विरोधी हों, फिर भी उनका मूल्य औत्सर्गिक अहिंसा के बराबर ही है। अपवाद अनेक बतलाए गए हैं, और देश-काल के अनुसार नए अपवादों की भी सृष्टि हो सकती है; फिर भी सब अपवादों की आत्मा मुख्यतया दो तत्त्वों में समा जाती है। उनमें एक तो है गीतार्थत्व यानि परिणतशास्त्रज्ञान का और दूसरा है कृतयोगित्व अर्थात् चित्तसाम्य या स्थितप्रज्ञत्व का।

उपाध्यायजी के द्वारा बतलाई गई जैन अहिंसा के उत्सर्ग-अपवाद की यह चर्चा, ठीक अक्षरशः मीमांसा और स्मृति के अहिंसा संबंधी उत्सर्ग-अपवाद की विचारसरणि से मिलती है। अन्तर है तो यही कि जहाँ जैन विचारसरणि साधु या पूर्णत्यागीके जीवन को लक्ष्य में रखकर प्रतिष्ठित हुई है वहाँ मीमांसक और स्मार्तों की विचारसरणि गृहस्थ, त्यागी सभी के जीवन को केन्द्र स्थान में रखकर प्रचलित हुई है। दोनों का साम्य इस प्रकार है—

१ जैन	२ वैदिक
१ सव्वे पाणा न हंतव्वा	१ मा हिंस्यात् सर्वभूतानि
२ साधुजीवन की अशक्यता का प्रश्न	२ चारों आश्रम के सभी प्रकार के अधिकारियों के जीवन की तथा तत्संबंधी कर्तव्यों की अशक्यता का प्रश्न
३ शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा दोष का अभाव अर्थात् निषिद्धाचरण ही हिंसा	३ शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा-दोष का अभाव अर्थात् निषिद्धाचार ही हिंसा है

यहाँ यह ध्यान रहे कि जैन तत्त्वज्ञ 'शास्त्र' शब्द से जैन शास्त्र को—खासकर साधु-जीवन के विधि-निषेध प्रतिपादक शास्त्र को ही लेता है; जब कि वैदिक तत्त्वचिन्तक, शास्त्र शब्द से उन सभी शास्त्रों को लेता है जिनमें वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, धार्मिक और राजकीय आदि सभी कर्तव्यों का विधान है।

४ अन्ततोगत्वा अहिंसा का मर्म जिनाज्ञा के—जैन शास्त्र के यथावत् अनुसरण में ही है।	४ अनन्तोगत्वा अहिंसा का तात्पर्य वेद तथा स्मृतियों की आज्ञा के पालन में ही है।

उपाध्यायजी ने उपर्युक्त चार भूमिकावाली अहिंसा का चतुर्विध वाक्यार्थ के द्वारा निरूपण करके उसके उपसंहार में जो कुछ लिखा है वह वेदानुयायी मीमांसक और नैयायिक की अहिंसाविषयक विचारसरणि के साथ एक तरह की जैन विचारसरणि की तुलना मात्र है। अथवा यों कहना चाहिए कि वैदिक विचारसरणि के द्वारा जैन विचारसरणि का विश्लेषण ही उन्होंने किया है। जैसे मीमांसकों ने वेदविहित हिंसा को छोड़कर ही हिंसा में अनिष्टजनकत्व माना है, वैसे ही उपाध्यायजी ने अन्त में स्वरूप हिंसा को छोड़ कर ही मात्र हेतु—आत्मपरिणाम हिंसा में ही अनिष्टजनकत्व बतलाया है।

(५) षट्स्थानपतितत्व और पूर्वगत गाथा

[२७] श्रुतचर्चा के प्रसंग में अहिंसा के उत्सर्ग-अपवाद की विचारणा करने के बाद उपाध्यायजी ने श्रुत से संबंध रखनेवाले अनेक ज्ञातव्य मुद्दों पर विचार प्रकट करते हुए षट्स्थान[1] के मुद्दे की भी शास्त्रीय चर्चा की है जिसका समर्थन हमारे जीवनगत अनुभव से ही होता रहता है।

एक ही अध्यापक से एक ग्रंथ ही पढ़नेवाले अनेक व्यक्तियों में, शब्द एवं अर्थ का ज्ञान समान होने पर भी उसके भावों व रहस्यों के परिज्ञान का जो तारतम्य देखा जाता है वह उन अधिकारियों की आन्तरिक शक्ति के तारतम्य का ही परिणाम होता है। इस अनुभव को चतुर्दश पूर्वधरों में लागू करके 'कल्पभाष्य' के आधार पर उपाध्यायजी ने बतलाया है कि चतुर्दशपूर्वरूप श्रुत को समान रूप से पढ़े हुए अनेक व्यक्तियों में भी श्रुतगत भावों के सोचने की शक्ति का अनेकविध तारतम्य होता है जो उनकी ऊहापोह शक्ति के तारतम्य का ही परिणाम है। इस तारतम्य को शास्त्रकारों ने छह विभागों में बाँटा है जो षट्स्थान कहलाते हैं। भावों को जो सबसे अधिक जान सकता है वह श्रुतधर उत्कृष्ट कहलाता है। उसकी अपेक्षा से हीन, हीनतर, हीनतम रूप से छह कक्षाओं का वर्णन है। उत्कृष्ट ज्ञाता की अपेक्षा—१ अनन्तभागहीन, २ असंख्यातभागहीन, ३ संख्यातभागहीन, ४ संख्यातगुणहीन, ५ असंख्यातगुणहीन और ६ अनन्तगुणहीन—ये क्रमशः उतरती हुई छह कक्षाएँ हैं। इसी तरह सब से न्यून भावों को जाननेवाले की अपेक्षा—१ अनन्तभागअधिक, २ असंख्यातभाग-अधिक, ३ संख्यातभागअधिक, ४ संख्यातगुणअधिक, ५ असंख्यातगुणअधिक और ६ अनन्तगुणअधिक—ये क्रमशः चढ़ती हुई कक्षाएँ हैं।

---

१ देखो, ज्ञानबिन्दु, टिप्पण पृ० ६६।

श्रुत की समानता होने पर भी उसके भावों के परिज्ञानगत तारतम्य का कारण जो ऊहापोहसामर्थ्य है उसे उपाध्यायजी ने श्रुतसामर्थ्य और मतिसामर्थ्य उभयरूप कहा है–फिर भी उनका विशेष झुकाव उसे श्रुतसामर्थ्य मानने की ओर स्पष्ट है।

आगे श्रुत के दीर्घप्रयोग विषयक समर्थन में उपध्यायजी ने एक पूर्वगत गाथा का [ज्ञानबिन्दु पृ० ६.] उल्लेख किया है, जो 'विशेषावश्यकभाष्य' [गा० ११७] में पाई जाती है। पूर्वगत शब्द का अर्थ है पूर्व–प्राक्तन। उस गाथा को पूर्वगाथा रूप से मानते आने की परंपरा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जितनी तो पुरानी अवश्य जान पड़ती है; क्योंकि कोट्याचार्य ने भी अपनी वृत्ति में उसका पूर्वगतगाथा रूप से ही व्याख्यान किया है। पर यहाँ पर यह बात जरूर लक्ष्य खींचती है कि पूर्वगत मानी जानेवाली वह गाथा दिगम्बरीय ग्रंथों में कहीं नहीं पाई जाती और पाँच ज्ञानों का वर्णन करनेवाली 'आवश्यकनिर्युक्ति' में भी वह गाथा नहीं है।

हम पहले कह आए हैं कि अक्षर-अनक्षर रूप से श्रुत के दो भेद बहुत पुराने हैं और दिगम्बरीय-श्वेताम्बरीय दोनों परंपराओं में पाए जाते हैं। पर अनक्षर श्रुत की दोनों परंपरागत व्याख्या एक नहीं है। दिगम्बर परंपरा में अनक्षरश्रुत शब्द का अर्थ सबसे पहले अकलंक ने ही स्पष्ट किया है। उन्होंने स्वार्थश्रुत को अनक्षरश्रुत बतलाया है। जब कि श्वेताम्बरीय परंपरा में निर्युक्ति के समय से ही अनक्षरश्रुत का दूसरा अर्थ प्रसिद्ध है। निर्युक्ति में अनक्षरश्रुत रूप से उच्छ्वसित, निःश्वसित आदि ही श्रुत लिया गया है। इसी तरह अक्षरश्रुत के अर्थ में भी दोनों परंपराओं का मतभेद है। अकलंक परार्थ वचनात्मक श्रुत को ही अक्षरश्रुत कहते हैं जो कि केवल द्रव्यश्रुत रूप है। तब, उस पूर्वगत गाथा के व्याख्यान में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण त्रिविध अक्षर बतलाते हुए अक्षरश्रुत को द्रव्य-भाव रूप से दो प्रकार का बतलाते हैं। द्रव्य और भाव रूप से श्रुत के दो प्रकार मानने की जैन परंपरा तो पुरानी है और श्वेताम्बर-दिगम्बर शास्त्रों में एक सी ही है पर अक्षरश्रुत के व्याख्यान में दोनों परंपराओं का अन्तर हो गया है। एक परंपरा के अनुसार द्रव्यश्रुत ही अक्षरश्रुत है जब कि दूसरी परंपरा के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार का अक्षरश्रुत है। द्रव्यश्रुत शब्द जैन वाङ्मय में पुराना है पर उसके व्यञ्जनाक्षर–संज्ञाक्षर नाम से पाए जानेवाले दो प्रकार दिगम्बर शास्त्रों में नहीं है।

द्रव्यश्रुत और भावश्रुत रूप से शास्त्रज्ञान संबंधी जो विचार जैन परंपरा में पाया जाता है। और जिसका विशेष रूप से स्पष्टीकरण उपाध्यायजी

ने पूर्वगत गाथा का व्याख्यान करते हुए किया है, वह सारा विचार, आगम (श्रुति) प्रामाण्यवादी नैयायिकादि सभी वैदिक दर्शनों की परंपरा में एक-सा है और अति विस्तृत पाया जाता है। इसकी शाब्दिक तुलना नीचे लिखे अनुसार है—

१. जैन

- श्रुत
  - द्रव्य
    - व्यंजनाक्षर
    - संज्ञाक्षर
  - भाव
    - लब्ध्यक्षर
      - शक्ति
      - व्यक्ति—बोध (उपयोग)

२. जैनेतर—न्यायादि

- आगम—शब्दप्रमाण
  - शब्द
    - शब्द
    - लिपि
  - शाब्दबोध

पदार्थोपस्थिति, संकेतज्ञान, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्यज्ञान आदि शाब्दबोध के कारण जो नैयायिकादि परंपरा में प्रसिद्ध हैं, उन सबको उपाध्यायजी ने शाब्दबोध-परिकर रूप से शाब्दबोध में ही समाया है। इस जगह एक ऐतिहासिक सत्य की ओर पाठकों का ध्यान खींचना जरूरी है। वह यह कि जब कभी, किसी जैन आचार्य ने, कहीं भी नया प्रमेय देखा तो उसका जैन परम्परा की परिभाषा में क्या स्थान है यह बतलाकर, एक तरह से जैन श्रुत की श्रुतान्तर से तुलना की है। उदाहरणार्थ—भर्तृहरीय 'वाक्यपदीय' में[1] वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा रूप से जो चार प्रकार की भाषाओं का बहुत ही विस्तृत और तलस्पर्शी वर्णन है, उसका जैन परम्परा की परिभाषा में किस प्रकार समावेश हो सकता है, यह स्वामी विद्यानन्द ने बहुत ही स्पष्टता और यथार्थता से सबसे पहले बतलाया[2] है, जिससे जैन जिज्ञासुओं को जैनेतर विचार का और जैनेतर जिज्ञासुओं को जैन विचार का सरलता से बोध हो सके। विद्यानन्द का वही समन्वय वादिदेवसूरि ने अपने ढंग से वर्णित किया[3] है। उपाध्यायजी ने भी, न्याय आदि दर्शनों के प्राचीन और नवीन न्यायादि ग्रंथों में, जो शाब्दबोध और आगम प्रमाण संबंधी विचार देखे और पढ़े उनका उपयोग उन्होंने ज्ञान-

१ देखो, वाक्यपदीय १.११४।

२ देखो, तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २४०, २४१।

३ देखो, स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ९७।

बिंदु में जैन श्रुत की उन विचारों के साथ तुलना करने में किया है, जो अभ्यासी को खास मनन करने योग्य है।

(६) मतिज्ञान के विशेष निरूपण में नया ऊहापोह

[३४] प्रसंगप्राप्त श्रुत की कुछ बातों पर विचार करने के बाद फिर ग्रंथकार ने प्रस्तुत मतिज्ञान के विशेषों—भेदों का निरूपण शुरू किया है। जैन वाङ्मय में मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार भेद तथा उनका परस्पर कार्य-कारणभाव प्रसिद्ध है। आगम और तर्कयुग में उन भेदों पर बहुत कुछ विचार किया गया है। पर उपाध्यायजी ने ज्ञानबिंदु में जो उन भेदों की तथा उनके परस्पर कार्य-कारणभाव की विवेचना की है वह प्रधानतया विशेषावश्यकभाष्यानुगामिनी है[1]। इस विवेचना में उपाध्यायजी ने पूर्ववर्ती जैन साहित्य का सार तो रख ही दिया है; साथ में उन्होंने कुछ नया ऊहापोह भी अपनी ओर से किया है। यहाँ हम ऐसी तीन खास बातों का निर्देश करते हैं जिन पर उपाध्यायजी ने नया ऊहापोह किया है—

(१) प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में दार्शनिकों का ऐकमत्य

(२) प्रामाण्यनिश्चय के उपाय का प्रश्न

(३) अनेकान्त दृष्टि से प्रामाण्य के स्वतस्त्व-परतस्त्व की व्यवस्था

(१) प्रत्यक्ष ज्ञान की[2] प्रक्रिया में शब्दभेद भले ही हो पर विचारभेद किसी का नहीं है। न्याय-वैशेषिक आदि सभी वैदिक दार्शनिक तथा बौद्ध दार्शनिक भी यही मानते हैं कि जहाँ इंद्रियजन्य और मनोजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वहाँ सबसे पहले विषय और इंद्रिय का सन्निकर्ष होता है। फिर निर्विकल्पक ज्ञान, अनन्तर सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि संस्कार द्वारा स्मृति को भी पैदा करता है। कभी-कभी सविकल्पक ज्ञान धारारूप से पुनः-पुनः हुआ करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया का यह सामान्य क्रम है। इसी प्रक्रिया को जैन तत्त्वज्ञों ने अपनी व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा की खास परिभाषा में बहुत पुराने समय से बतलाया है। उपाध्यायजी ने इस ज्ञानबिंदु में, परम्परागत जैन-प्रक्रिया में खास करके दो विषयों पर प्रकाश डाला है। पहला है कार्य-कारण-भाव का परिष्कार और दूसरा है दर्शनान्तरीय परिभाषा के साथ जैन परिभाषा की तुलना। अर्थावग्रह के प्रति व्यञ्जनावग्रह की, और ईहा के प्रति अर्थावग्रह

१ देखो, विशेषावश्यकभाष्य, गा० २९६–२९९।

२ देखो, प्रमाणमीमांसा टिप्पण, पृ० ४५।

की और इसी क्रम से आगे धारणा के प्रति अवाय की कारणता का वर्णन तो जैन वाङ्मय में पुराना ही है, पर नव्यन्यायशास्त्रीय परिशीलन ने उपाध्यायजी से उस कार्य-कारणभाव का प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु में सपरिष्कार वर्णन कराया है, जो कि अन्य किसी जैन ग्रंथ में पाया नहीं जाता। न्याय आदि दर्शनों में प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया चार अंशों में विभक्त है। [३६] पहला कारणांश [पृ० १० पं० २०] जो सन्निकृष्ट इंद्रिय रूप है। दूसरा व्यापारांश [४६] जो सन्निकर्ष एवं निर्विकल्प ज्ञानरूप है। तीसरा फलांश [पृ० १५ पं० १६] जो सविकल्पक ज्ञान या निश्चयरूप है और चौथा परिपाकांश [४७] जो धारावाही ज्ञानरूप तथा संस्कार, स्मरण आदि रूप है। उपाध्यायजी ने व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह आदि पुरातन जैन परिभाषाओं को उक्त चार अंशों में विभाजित करके स्पष्ट रूप से सूचना की है कि जैनेतर दर्शनों में प्रत्यक्ष ज्ञान की जो प्रक्रिया है वही शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी है। उपाध्यायजी व्यञ्जनावग्रह को कारणांश, अर्थावग्रह तथा ईहा को व्यापारांश, अवाय को फलांश और धारणा को परिपाकांश कहते हैं, जो बिलकुल उपयुक्त है।

बौद्ध दर्शन के महायानीय 'न्यायबिन्दु' आदि जैसे संस्कृत ग्रंथों में पाई जानेवाली, प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रियागत परिभाषा, तो न्यायदर्शन जैसी ही है; पर हीनयानीय पालि ग्रंथों की परिभाषा भिन्न है। यद्यपि पालि वाङ्मय उपाध्यायजी को सुलभ न था फिर उन्होंने जिस तुलना की सूचना की है, उस तुलना को, इस समय सुलभ पाली वाङ्मय तक विस्तृत करके, हम यहाँ सभी भारतीय दर्शनों की उक्त परिभाषागत तुलना बतलाते हैं—

१ न्यायवैशेषिकादि वैदिकदर्शन तथा महायानीय बौद्धदर्शन	२ जैन दर्शन	३ पालि अभिधर्म[१]
१ सन्निकृष्यमाण इन्द्रिय या विषयेन्द्रियसन्निकर्ष	१ व्यजनावग्रह	१ आरम्मण का इन्द्रिय-आपाथगमन–इन्द्रिय-आलम्बनसंबंध तथा आवज्जन
२ निर्विकल्पक	२ अर्थावग्रह	२ चक्षुरादिविज्ञान
३ संशय तथा संभावना	३ ईहा	३ संपटिच्छन, संतीरण

१ The Psychological attitude of early Buddhist Philosophy: By Anagarika B. Govinda : P. 184. अभिधम्मत्थसंगहो ४.८।

४ सविकल्पक निर्णय	४ अवाय	४ वोट्ठपन
५ धारावाहि ज्ञान तथा संस्कार-स्मरण	५ धारणा	५ जवन तथा जवनानुबन्ध तदारम्मणपाक

(२) [३८] प्रामाण्यनिश्चय के उपाय के बारे में ऊहापोह करते समय उपाध्यायजी ने मलयगिरि सूरि के मत की खास तौर से समीक्षा की है। मलयगिरि सूरि का[1] मन्तव्य है कि अवायगत प्रामाण्य का निर्णय अवाय की पूर्ववर्तिनी ईहा से ही होता है, चाहे वह ईहा लक्षित हो या न हो। इस मत पर उपाध्यायजी ने आपत्ति उठा कर कहा है, [३९] कि अगर ईहा से ही अवाय के प्रामाण्य का निर्णय माना जाए तो वादिदेवसूरि का प्रामाण्यनिर्णयविषयक स्वतस्त्व-परतस्त्व का पृथक्करण कभी घट नहीं सकेगा। मलयगिरि के मत की समीक्षा में उपाध्यायजी ने बहुत सूक्ष्म कोटिक्रम उपस्थित किया है। उपाध्यायजी जैसा व्यक्ति, जो मलयगिरि सूरि आदि जैसे पूर्वाचार्यों के प्रति बहुत ही आदरशील एवं उनके अनुगामी हैं, वे उन पूर्वाचार्यों के मत की खुले दिल से समालोचना करके सूचित करते हैं कि विचार के शुद्धीकरण एवं सत्यगवेषणा के पथ में अविचारी अनुसरण बाधक ही होता है।

(३) [४०] उपाध्यायजी को प्रसंगवश अनेकान्त दृष्टि से प्रामाण्य के स्वतस्त्व-परतस्त्व निर्णय की व्यवस्था करनी इष्ट है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने दो एकान्तवादी पक्षकारों को चुना है जो परस्पर विरुद्ध मन्तव्य वाले हैं। मीमांसक मानता है कि प्रामाण्य की सिद्धि स्वतः ही होती है; तब नैयायिक कहता है कि प्रामाण्य की सिद्धि परतः ही होती है। उपाध्यायजी ने पहले तो मीमांसक के मुख से स्वतः प्रामाण्य का ही स्थापन कराया है; और पीछे उसका खण्डन नैयायिक के मुख से करा कर उसके द्वारा स्थापित कराया है कि प्रामाण्य की सिद्धि परतः ही होती है। मीमांसक और नैयायिक की परस्पर खण्डन-मण्डन वाली प्रस्तुत प्रामाण्यसिद्धिविषयक चर्चा प्रामाण्य के खास 'तद्वति तत्प्रकारकत्वरूप' दार्शनिकसंमत प्रकार पर ही कराई गई है। इसके पहले उपाध्यायजी ने सैद्धान्तिकसंमत और तार्किकसंमत ऐसे अनेकविध प्रामाण्य के प्रकारों को एक-एक करके चर्चा के लिए चुना है और अन्त में बतलाया है कि ये सब प्रकार प्रस्तुत चर्चा के लिए उपयुक्त नहीं। केवल 'तद्वति तत्प्रकारकत्वरूप' उसका प्रकार ही प्रस्तुत स्वतः-परतस्त्व की सिद्धि की चर्चा के लिए उपयुक्त है। अनुपयोगी कह कर छोड़ दिए गए जिन और जितने प्रामाण्य के प्रकारों का, उपाध्यायजी ने

१ देखो, नन्दीसूत्र की टीका, पृ० ७३।

विभिन्न दृष्टि से जैन शास्त्रानुसार ज्ञानबिन्दु में निदर्शन किया है, उन और उतने प्रकारों का वैसा निदर्शन किसी एक जैन ग्रन्थ में देखने में नहीं आता।

मीमांसक और नैयायिक की ज्ञानबिन्दुगत स्वतः-परतः प्रामाण्य वाली चर्चा नव्य-न्याय के परिष्कारों से जटिल बन गई है। उपाध्यायजी ने उदयन, गंगेश, रघुनाथ, पक्षधर आदि नव्य नैयायिकों के तथा मीमांसकों के ग्रंथों का जो आकंठ पान किया था उसी का उद्गार प्रस्तुत चर्चा में पथ-पथ पर हम पाते हैं। प्रामाण्य की सिद्धि स्वतः मानना या परतः मानना या उभयरूप मानना यह प्रश्न जैन परंपरा के सामने उपस्थित हुआ। तब विद्यानन्द[1] आदि ने बौद्ध[2] मत को अपना कर अनेकान्त दृष्टि से यह कह दिया कि अभ्यास दशा में प्रामाण्य की सिद्धि स्वतः होती है और अनभ्यास दशा में परतः। उसके बाद तो फिर इस मुद्दे पर अनेक जैन तार्किकों ने संक्षेप और विस्तार से अनेकमुखी चर्चा की है। पर उपाध्यायजी की चर्चा उन पूर्वाचार्यों से निराली है। इसका मुख्य कारण है उपाध्यायजी का नव्य दर्शनशास्त्रों का सर्वाङ्गीण परिशीलन। चर्चा का उपसंहार करते हुए [४२, ४३] उपाध्यायजी ने मीमांसक के पक्ष में और नैयायिक के पक्ष में आनेवाले दोषों का अनेकान्त दृष्टि से परिहार करके दोनों पक्षों के समन्वय द्वारा जैन मन्तव्य स्थापित किया है[3]।

३. अवधि और मनःपर्याय की चर्चा

मति और श्रुत ज्ञान की विचारणा पूर्ण करके ग्रन्थकार ने क्रमशः अवधि [५१, ५२] और मनःपर्याय [५३, ५४] की विचारणा की है। आर्य तत्त्व-चिंतक दो प्रकार के हुए हैं, जो भौतिक—लौकिक भूमिका वाले थे उन्होंने भौतिक साधन अर्थात् इन्द्रिय-मन के द्वारा ही उत्पन्न होने वाले अनुभव मात्र पर विचार किया है। वे आध्यात्मिक अनुभव से परिचित न थे। पर दूसरे ऐसे भी तत्त्व-चिन्तक हुए हैं जो आध्यात्मिक भूमिका वाले थे। जिनकी भूमिका आध्यात्मिक—लोकोत्तर थी उनका अनुभव भी आध्यात्मिक रहा। आध्यात्मिक अनुभव मुख्यतया आत्मशक्ति की जागृति पर निर्भर है। भारतीय दर्शनों की सभी प्रधान शाखाओं में ऐसे आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन एक सा है। आध्यात्मिक अनुभव की पहुँच भौतिक जगत् के उस पार तक होती है। वैदिक, बौद्ध और जैन परंपरा के प्राचीन समझे जाने वाले ग्रंथों में, वैसे विविध आध्यात्मिक

---

१ देखो, प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६३; तत्त्वार्थश्लोक०, पृ० १७५; परीक्षामुख १.१३।

२ देखो, तत्त्वसंग्रह, पृ० ८११।

३ देखो, प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण, पृ० १६ पं० १८ से।

अनुभवों का, कहीं-कहीं मिलते जुलते शब्दों में और कहीं दूसरे शब्दों में वर्णन मिलता है। जैन वाङ्मय में आध्यात्मिक अनुभव–साक्षात्कार के तीन प्रकार वर्णित हैं–अवधि, मनःपर्याय और केवल। अवधि प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रियों के द्वारा अगम्य ऐसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट मूर्त पदार्थों का साक्षात्कार कर सके। मनःपर्याय प्रत्यक्ष वह है जो मात्र मनोगत विविध अवस्थाओं का साक्षात्कार करे। इन दो प्रत्यक्षों का जैन वाङ्मय में बहुत विस्तार और भेद-प्रभेद वाला मनोरञ्जक वर्णन है।

वैदिक दर्शन के अनेक ग्रन्थों में–खास कर 'पातञ्जलयोगसूत्र' और उसके भाष्य आदि में–उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष का योगविभूतिरूप से स्पष्ट और आकर्षक वर्णन है[1]। 'वैशेषिकसूत्र' के 'प्रशस्तपादभाष्य' में भी थोड़ा-सा किन्तु स्पष्ट वर्णन है[2]। बौद्ध दर्शन के 'मज्झिमनिकाय' जैसे पुराने ग्रंथों में भी वैसे आध्यात्मिक प्रत्यक्ष का स्पष्ट वर्णन है[3]। जैन परंपरा में पाया जानेवाला 'अवधिज्ञान' शब्द तो जैनेतर परंपराओं में देखा नहीं जाता पर जैन परंपरा का 'मनःपर्याय' शब्द तो 'परचित्तज्ञान[4]' या 'परचित्तविजानना[5]' जैसे सदृशरूप में अन्यत्र देखा जाता है। उक्त दो ज्ञानों की दर्शनान्तरीय तुलना इस प्रकार है—

१. जैन	२. वैदिक — वैशेषिक	२. वैदिक — पातञ्जल	३. बौद्ध
१ अवधि	१ वियुक्तयोगिप्रत्यक्ष अथवा युञ्जानयोगिप्रत्यक्ष	१ भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, ध्रुवगतिज्ञान आदि	
२ मनःपर्याय		२ परचित्तज्ञान	२ परचित्तज्ञान, चेतःपरिज्ञान

मनःपर्याय ज्ञान का विषय मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु है या चिन्तनप्रवृत्त

१ देखो, योगसूत्र विभूतिपाद, सूत्र १६.२६ इत्यादि।

२ देखो, कंदलीटीकासहित प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १८७।

३ देखो, मज्झिमनिकाय, सुत्त ६।

४ 'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्'-योगसूत्र. ३.१६।

५ देखो, अभिधम्मत्थसंगहो, ६.२४।

मनोद्रव्य की अवस्थाएँ हैं[१]—इस विषय में जैन परंपरा में ऐकमत्य नहीं। निर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्रीय व्याख्याओं में पहला पक्ष वर्णित है; जब कि विशेषावश्यकभाष्य में दूसरे पक्ष का समर्थन किया गया है। परंतु योगभाष्य तथा मज्झिमनिकाय में जो परचित्त ज्ञान का वर्णन है उसमें केवल दूसरा ही पक्ष है जिसका समर्थन जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने किया है। योगभाष्यकार तथा मज्झिमनिकायकार स्पष्ट शब्दों में यही कहते हैं कि ऐसे प्रत्यक्ष के द्वारा दूसरों के चित्त का ही साक्षात्कार होता है, चित्त के आलम्बन का नहीं। योगभाष्य में तो चित्त के आलम्बन का ग्रहण हो न सकने के पक्ष में दलीलें भी दी गई हैं।

यहाँ विचारणीय बातें दो हैं—एक तो यह कि मनःपर्याय ज्ञान के विषय के बारे में जो जैन वाङ्मय में दो पक्ष देखे जाते हैं, इसका स्पष्ट अर्थ क्या यह नहीं है कि पिछले वर्णनकारी साहित्य युग में ग्रन्थकार पुरानी आध्यात्मिक बातों का तार्किक वर्णन तो करते थे पर आध्यात्मिक अनुभव का युग बीत चुका था। दूसरी बात विचारणीय यह है कि योगभाष्य, मज्झिमनिकाय और विशेषावश्यकभाष्य में पाया जानेवाला ऐकमत्य स्वतंत्र चिन्तन का परिणाम है या किसी एक का दूसरे पर असर भी है?

जैन वाङ्मय में अवधि और मनःपर्याय के संबन्ध में जो कुछ वर्णन है उस सबका उपयोग करके उपाध्यायजी ने ज्ञानबिन्दु में उन दोनों ज्ञानों का ऐसा सुपरिष्कृत लक्षण किया है और लक्षणगत प्रत्येक विशेषण का ऐसा बुद्धिगम्य प्रयोजन बतलाया है जो अन्य किसी ग्रन्थ में पाया नहीं जाता। उपाध्यायजी ने लक्षणविचार तो उक्त दोनों ज्ञानों के भेद को मानकर ही किया है, पर साथ ही उन्होंने उक्त दोनों ज्ञानों का भेद न माननेवाली सिद्धसेन दिवाकर की दृष्टि का समर्थन भी [५५–५६] बड़े मार्मिक ढंग से किया है।

४. केवल ज्ञान की चर्चा

[५७] अवधि और मनःपर्याय ज्ञान की चर्चा समाप्त करने के बाद उपाध्यायजी ने केवलज्ञान की चर्चा शुरू की है, जो ग्रन्थ के अन्त तक चली जाती है और ग्रंथ की समाप्ति के साथ ही पूर्ण होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्य ज्ञानों की अपेक्षा केवलज्ञान की ही चर्चा अधिक विस्तृत है। मति आदि चार पूर्ववर्ती ज्ञानों की चर्चा ने ग्रंथ का जितना भाग रोका है उससे कुछ कम दूना ग्रंथ-भाग अकेले केवलज्ञान की चर्चा ने रोका है। इस चर्चा में जिन अनेक

---

१ देखो, प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण पृ० ३७; तथा ज्ञानबिन्दु, टिप्पण पृ० १०७।

प्रमेयों पर उपाध्यायजी ने विचार किया है उनमें से नीचे लिखे विचारों पर यहाँ कुछ विचार प्रदर्शित करना इष्ट है—

(१) केवल ज्ञान के अस्तित्व की साधक युक्ति।

(२) केवल ज्ञान के स्वरूप का परिष्कृत लक्षण।

(३) केवल ज्ञान के उत्पादक कारणों का प्रश्न।

(४) रागादि दोषों के ज्ञानावारकत्व तथा कर्मजन्यत्व का प्रश्न।

(५) नैरात्म्यभावना का निरास।

(६) ब्रह्मज्ञान का निरास।

(७) श्रुति और स्मृतियों का जैन मतानुकूल व्याख्यान।

(८) कुछ ज्ञातव्य जैन मन्तव्यों का कथन।

(९) केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रम तथा भेदाभेद के संबन्ध में पूर्वाचार्यों के पक्षभेद।

(१०) ग्रंथकार का तात्पर्य तथा उनकी स्वोपज्ञ विचारणा।

(१) केवल ज्ञान के अस्तित्व की साधक युक्ति

[५८] भारतीय तत्त्वचिन्तकों में जो आध्यात्मिक-शक्तिवादी हैं, उनमें भी आध्यात्मिकशक्तिजन्य ज्ञान के बारे में संपूर्ण ऐकमत्य नहीं। आध्यात्मिकशक्तिजन्य ज्ञान संक्षेप में दो प्रकार का माना गया है। एक तो वह जो इन्द्रियागम्य ऐसे सूक्ष्म मूर्त पदार्थों का साक्षात्कार कर सके। दूसरा वह जो मूर्त-अमूर्त सभी त्रैकालिक वस्तुओं का एक साथ साक्षात्कार करे। इनमें से पहले प्रकार का साक्षात्कार तो सभी आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तकों को मान्य है, फिर चाहे नाम आदि के संबन्ध में भेद भले ही हो। पूर्व मीमांसक जो आध्यात्मिकशक्तिजन्य पूर्ण साक्षात्कार या सर्वज्ञत्व[१] का विरोधी है उसे भी पहले प्रकार के आध्यात्मिकशक्ति-जन्य अपूर्ण साक्षात्कार को मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मतभेद है तो सिर्फ आध्यात्मिकशक्तिजन्य पूर्ण साक्षात्कार के हो सकने न हो सकने के विषय में। मीमांसक के सिवाय दूसरा कोई आध्यात्मिक वादी नहीं है जो ऐसे सार्वज्ञ्य—पूर्ण साक्षात्कार को न मानता हो। सभी सार्वज्ञ्यवादी परंपराओं के शास्त्रों में पूर्ण साक्षात्कार के अस्तित्व का वर्णन तो परापूर्व से चला ही आता है; पर प्रतिवादी के सामने उसकी समर्थक युक्तियाँ हमेशा एक-सी नहीं रही हैं।

१ सर्वज्ञत्ववाद के तुलनात्मक इतिहास के लिए देखो, प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण, पृ० २७।

इनमें समय-समय पर विकास होता रहा है। उपाध्यायजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वज्ञत्व की समर्थक जिस युक्ति को उपस्थित किया है वह युक्ति उद्देश्यतः प्रतिवादी मीमांसकों के संमुख ही रखी गई है। मीमांसक का कहना है कि ऐसा कोई शास्त्रनिरपेक्ष मात्र आध्यात्मिकशक्तिजन्य पूर्ण ज्ञान हो नहीं सकता जो धर्माधर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का भी साक्षात्कार कर सके। उसके सामने सार्वज्ञ्यवादियों की एक युक्ति यह रही है कि जो वस्तु[1] सातिशय—तरतमभावापन्न होती है वह बढ़ते-बढ़ते कहीं न नहीं पूर्ण दशा को प्राप्त कर लेती है। जैसे कि परिमाण। परिमाण छोटा भी है और तरतमभाव से बड़ा भी। अतएव वह आकाश आदि में पूर्ण काष्ठा को प्राप्त देखा जाता है। यही हाल ज्ञान का भी है। ज्ञान कहीं अल्प तो कहीं अधिक—इस तरह तरतमवाला देखा जाता है। अतएव वह कहीं न कहीं संपूर्ण भी होना चाहिए। जहाँ वह पूर्णकलाप्राप्त होगा वही सर्वज्ञ। इस युक्ति के द्वारा उपाध्यायजी ने भी ज्ञानबिन्दु में केवल ज्ञान के अस्तित्व का समर्थन किया है।

यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रश्न है कि प्रस्तुत युक्ति का मूल कहाँ तक पाया जाता है और वह जैन परंपरा में कब से आई देखी जाती है। अभी तक के हमारे वाचन-चिन्तन से हमें यही जान पड़ता है कि इस युक्ति का पुराणतम उल्लेख योगसूत्र के अलावा अन्यत्र नहीं है। हम पातंजल योगसूत्र के प्रथमपाद में 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' [१. २५.] ऐसा सूत्र पाते हैं, जिसमें साफ तौर से यह बतलाया गया है कि ज्ञान का तारतम्य ही सर्वज्ञ के अस्तित्व का बीज है जो ईश्वर में पूर्णरूपेण विकसित है। इस सूत्र के ऊपर के भाष्य में व्यास ने तो मानों सूत्र के विधान का आशय हस्तामलकवत् प्रकट किया है। न्याय-वैशेषिक परंपरा जो सर्वज्ञवादी है उसके सूत्र भाष्य आदि प्राचीन ग्रंथों में इस सर्वज्ञास्तित्व की साधक युक्ति का उल्लेख नहीं है, हम प्रशस्तपाद की टीका व्योमवती [पृ० ५६०] में उसका उल्लेख पाते हैं। पर ऐसा कहना नियुक्तिक नहीं होगा कि व्योमवती का वह उल्लेख योगसूत्र तथा उसके भाष्य के बाद का ही है। काम की किसी भी अच्छी दलील का प्रयोग जब एक बार किसी के द्वारा चर्चाक्षेत्र में आ जाता है तब फिर आगे वह सर्वसाधारण हो जाता है। प्रस्तुत युक्ति के बारे में भी यही हुआ जान पड़ता है। संभवतः सांख्य-योग परंपरा ने उस युक्ति का आविष्कार किया फिर उसने न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध[2] परंपरा के

---

१ देखो, ज्ञानबिन्दु, टिप्पण पृ० १०८. पं० १६।

२ देखो, तत्त्वसंग्रह, पृ० ८२५।

ग्रंथों में भी प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया और इसी तरह वह जैन परंपरा में भी प्रतिष्ठित हुई।

जैन परंपरा के आगम, निर्युक्ति, भाष्य आदि प्राचीन अनेक ग्रन्थ सर्वज्ञत्व के वर्णन से भरे पड़े हैं, पर हमें उपर्युक्त ज्ञानतारतम्य वाली सर्वज्ञत्वसाधक युक्ति का सर्व प्रथम प्रयोग मल्लवादी की कृति में ही देखने को मिलता है[१]। अभी यह कहना संभव नहीं कि मल्लवादी ने किस परंपरा से वह युक्ति अपनाई। पर इतना तो निश्चित है कि मल्लवादी के बाद के सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने इस युक्ति का उदारता से उपयोग किया है। उपाध्यायजी ने भी ज्ञानबिन्दु में केवलज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करने के वास्ते एक मात्र इसी युक्ति का प्रयोग तथा पल्लवन किया है।

(२) केवलज्ञान का परिष्कृत लक्षण

[५७] प्राचीन आगम, निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में तथा पीछे के तार्किक ग्रंथों में जहाँ कहीं केवलज्ञान का स्वरूप जैन विद्वानों ने बतलाया है वहाँ स्थूल शब्दों में इतना ही कहा गया है कि जो आत्ममात्रसापेक्ष या बाह्यसाधननिरपेक्ष साक्षात्कार, सब पदार्थों को अर्थात् त्रैकालिक द्रव्य-पर्यायों को विषय करता है वही केवलज्ञान है। उपाध्यायजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में केवलज्ञान का स्वरूप तो वही माना है पर उन्होंने उसका निरूपण ऐसी नवीन शैली से किया है जो उनके पहले के किसी जैन ग्रन्थ में नहीं देखी जाती। उपाध्यायजी ने नैयायिक उदयन तथा गंगेश आदि की परिष्कृत परिभाषा में केवलज्ञान के स्वरूप का लक्षण सविस्तर स्पष्ट किया है। इस जगह इनके लक्षण से संबन्ध रखनेवाले दो मुद्दों पर दार्शनिक तुलना करनी प्राप्त है, जिनमें पहला है साक्षात्कारत्व का और दूसरा है सर्वविषयकत्व का। इन दोनों मुद्दों पर मीमांसक भिन्न सभी दार्शनिकों का ऐकमत्य है। अगर उनके कथन में थोड़ा अन्तर है तो वह सिर्फ परंपरा भेद का ही है[२]। न्याय-वैशेषिक दर्शन जब 'सर्व' विषयक साक्षात्कार का वर्णन करता है तब वह 'सर्व' शब्द से अपनी परंपरा में प्रसिद्ध द्रव्य, गुण आदि सातों पदार्थों को संपूर्ण भाव से लेता है। सांख्य-योग जब 'सर्व' विषयक साक्षात्कार का चित्रण करता है तब वह अपनी परंपरा में प्रसिद्ध प्रकृति, पुरुष आदि २५ तत्त्वों के पूर्ण साक्षात्कार की बात कहता है। बौद्ध दर्शन 'सर्व' शब्द से अपनी

---

२ देखो, नयचक्र, लिखित प्रति, पृ० १२३ अ।

३ देखो, तत्त्वसंग्रह, का० ३१३४; तथा उसकी पञ्जिका।

परंपरा में प्रसिद्ध पञ्च स्कन्धों को संपूर्ण भाव से लेता है। वेदान्त दर्शन 'सर्व' शब्द से अपनी परंपरा में पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध एक मात्र पूर्ण ब्रह्म को ही लेता है। जैन दर्शन भी 'सर्व' शब्द से अपनी परंपरा में प्रसिद्ध सपर्याय षड् द्रव्यों को पूर्णरूपेण लेता है। इस तरह उपर्युक्त सभी दर्शन अपनी-अपनी परंपरा के अनुसार माने जानेवाले सब पदार्थों को लेकर उनका पूर्ण साक्षात्कार मानते हैं और तदनुसारी लक्षण भी करते हैं। पर इस लक्षणगत उक्त सर्व-विषयकत्व तथा साक्षात्कारत्व के विरुद्ध मीमांसक की सख्त आपत्ति है।

मीमांसक सर्वज्ञवादियों से कहता है[1] कि—अगर सर्वज्ञ का तुम लोग नीचे लिखे पाँच अर्थों में से कोई भी अर्थ करो तो तुम्हारे विरुद्ध मेरी आपत्ति नहीं। अगर तुम लोग यह कहो कि—सर्वज्ञ का मानी है 'सर्व' शब्द को जाननेवाला (१); या यह कहो कि—सर्वज्ञ शब्द से हमारा अभिप्राय है तेल, पानी आदि किसी एक चीज को पूर्ण रूपेण जानना (२); या यह कहो कि—सर्वज्ञ शब्द से हमारा मतलब है सारे जगत को मात्र सामान्यरूपेण जानना (३); या यह कहो कि—सर्वज्ञ शब्द का अर्थ है हमारी अपनी-अपनी परंपरा में जो-जो तत्त्व शास्त्र सिद्ध हैं उनका शास्त्र द्वारा पूर्ण ज्ञान (४); या यह कहो कि—सर्वज्ञ शब्द से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो-जो वस्तु, जिस-जिस प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण गम्य है उन सब वस्तुओं को उनके ग्राहक सब प्रमाणों के द्वारा यथासंभव जानना (५); वही सर्वज्ञत्व है। इन पाँचों में से तो किसी पक्ष के सामने मीमांसक की आपत्ति नहीं; क्योंकि मीमांसक उक्त पाँचों पक्षों के स्वीकार के द्वारा फलित होनेवाला सर्वज्ञत्व मानता ही है। उसकी आपत्ति है तो इस पर कि ऐसा कोई साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) हो नहीं सकता जो जगत् के संपूर्ण पदार्थों को पूर्णरूपेण क्रम से या युगपत् जान सके। मीमांसक को साक्षात्कारत्व मान्य है, पर वह असर्वविषयक ज्ञान में। उसे सर्वविषयकत्व भी अभिप्रेत है, पर वह शास्त्रजन्य परोक्ष ज्ञान ही में।

इस तरह केवलज्ञान के स्वरूप के विरुद्ध सबसे प्रबल और पुरानी आपत्ति उठानेवाला है मीमांसक। उसको सभी सर्वज्ञवादियों ने अपने-अपने ढंग से जवाब दिया है। उपाध्यायजी ने भी केवलज्ञान के स्वरूप का परिष्कृत लक्षण करके, उस विषय में मीमांसक संमत स्वरूप के विरुद्ध ही जैन मन्तव्य है, यह बात बतलाई है।

यहाँ प्रसंगवश एक बात और भी जान लेनी जरूरी है। वह यह कि यद्यपि

---

१ देखो, तत्त्वसंग्रह, का० ३१२६ से।

वेदान्त दर्शन भी अन्य सर्वज्ञवादियों की तरह सर्व—पूर्ण ब्रह्मविषयक साक्षात्कार मानकर अपने को सर्वसाक्षात्कारात्मक केवलज्ञान का माननेवाला बतलाता है और मीमांसक के मन्तव्य से जुदा पड़ता है; फिर भी एक मुद्दे पर मीमांसक और वेदान्त की एकवाक्यता है। वह मुद्दा है शास्त्रसापेक्षता का। मीमांसक कहता है कि सर्वविषयक परोक्ष ज्ञान भी शास्त्र के सिवाय हो नहीं सकता। वेदान्त ब्रह्मसाक्षात्कार रूप सर्वसाक्षात्कार को मानकर भी उसी बात को कहता है। क्योंकि वेदान्त का मत है कि ब्रह्मज्ञान भले ही साक्षात्कार रूप हो, पर उसका संभव वेदान्तशास्त्र के सिवाय नहीं है। इस तरह मूल में एक ही वेदपथ पर प्रस्थित मीमांसक और वेदान्त का केवल ज्ञान के स्वरूप के विषय में मतभेद होते हुए भी उसके उत्पादक कारण रूप से एक मात्र वेद शास्त्र का स्वीकार करने में कोई भी मतभेद नहीं।

(३) केवल ज्ञान के उत्पादक कारणों का प्रश्न

[५६] केवल ज्ञान के उत्पादक कारण अनेक हैं, जैसे—भावना, अदृष्ट, विशिष्ट शब्द और आवरणक्षय आदि। इनमें किसी एक को प्राधान्य और बाकी को अप्राधान्य देकर विभिन्न दार्शनिकों ने केवलज्ञान की उत्पत्ति के जुदे-जुदे कारण स्थापित किए हैं। उदाहरणार्थ—सांख्य-योग और बौद्ध दर्शन केवल ज्ञान के जनक रूप से भावना का प्रतिपादन करते हैं, जब कि न्याय-वैशेषिक दर्शन योगज अदृष्ट को केवलज्ञानजनक बतलाते हैं। वेदान्त 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्य को केवलज्ञान का जनक मानता है, जब कि जैन दर्शन केवलज्ञान-जनकरूप से आवरण—कर्म—क्षय का ही स्थापन करता है। उपाध्यायजी ने भी प्रस्तुत ग्रंथ में कर्मक्षय को ही केवलज्ञानजनक स्थापित करने के लिए अन्य पक्षों का निरास किया है।

मीमांसा जो मूल में केवलज्ञान के ही विरुद्ध है उसने सर्वज्ञत्व का असंभव दिखाने के लिए भावनामूलक [1] सर्वज्ञत्ववादी के सामने यह दलील की है कि—भावनाजन्य ज्ञान यथार्थ हो ही नहीं सकता; जैसा कि कामुक व्यक्ति का भावना-मूलक स्वाप्निक कामिनीसाक्षात्कार। [६१] दूसरे यह कि भावनाज्ञान परोक्ष होने से अपरोक्ष सार्वज्ञ्य का जनक भी नहीं हो सकता। तीसरे यह कि अगर भावना को सार्वज्ञ्यजनक माना जाए तो एक अधिक प्रमाण भी [पृ० २० पं० २३] मानना पड़ेगा। मीमांसा के द्वारा दिये गए उक्त तीनों दोषों में से पहले दो दोषों का उद्धार तो बौद्ध, सांख्य-योग आदि सभी भावनाकारणवादी

१ देखो, ज्ञानबिन्दु, टिप्पण, पृ० १०८ पं० २३ से।

एक-सा करते हैं, जब कि उपाध्यायजी उक्त तीनों दोषों का उद्धार अपना सिद्धान्त भेद [६२] बतला कर ही करते हैं। वे ज्ञानबिन्दु में कर्मक्षय पक्ष पर ही भार देकर कहते हैं कि वास्तव में तो सार्वज्ञ्य का कारण है कर्मक्षय ही। कर्मक्षय को प्रधान मानने में उनका अभिप्राय यह है कि वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का अव्यवहित कारण है। उन्होंने भावना को कारण नहीं माना, सो अप्राधान्य की दृष्टि से। वे स्पष्ट कहते हैं कि—भावना जो शुक्लध्यान का ही नामान्तर है वह केवलज्ञान की उत्पादक अवश्य है; पर कर्मक्षय के द्वारा ही। अतएव भावना केवलज्ञान का अव्यवहित कारण न होने से कर्मक्षय की अपेक्षा अप्रधान ही है। जिस युक्ति से उन्होंने भावनाकारणवाद का निरास किया है उसी युक्ति से उन्होंने अदृष्टकारणवाद का भी निरास [६३] किया है। वे कहते हैं कि अगर योगजन्य अदृष्ट सार्वज्ञ्य का कारण हो तब भी वह कर्मरूप प्रतिबन्धक के नाश के सिवाय सार्वज्ञ्य पैदा नहीं कर सकता। ऐसी हालत में अदृष्ट की अपेक्षा कर्मक्षय ही केवलज्ञान की उत्पत्ति में प्रधान कारण सिद्ध होता है। शब्दकारणवाद का निरास उपाध्यायजी ने यही कहकर किया है कि—सहकारी कारण कैसे ही क्यों न हों, पर परोक्ष ज्ञान का जनक शब्द कभी उनके सहकार से अपरोक्ष ज्ञान का जनक नहीं बन सकता।

सार्वज्ञ्य की उत्पत्ति का क्रम सब दर्शनों का समान ही है। परिभाषा भेद भी नहीं-सा है। इस बात की प्रतीति नीचे की गई तुलना से हो जाएगी—

---

१ जैन	२ बौद्ध	३ सांख्य-योग	४ न्याय-वैशेषिक	५ वेदान्त
१ सम्यग्दर्शन	१ सम्यग्दृष्टि	१ विवेक ख्याति	१ सम्यग्ज्ञान	१ सम्यग्दर्शन
२ क्षपकश्रेणीका—रागादि के ह्रास का—प्रारंभ	२ रागादि क्लेशों के ह्रास का प्रारंभ	२ प्रसंख्यान—संप्रज्ञात समाधि का प्रारंभ	१ रागादिह्रास का प्रारंभ	२ रागादिह्रास का प्रारंभ
३ शुक्लध्यान के बल से मोहनीय का—रागादिदोष का आत्यन्तिक क्षय	३ भावना के बल से क्लेशावरण का आत्यन्तिक क्षय	३ असंप्रज्ञात—धर्ममेघ समाधि द्वारा रागादि क्लेशकर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति	३ असंप्रज्ञात-धर्ममेघ समाधि द्वारा रागादि क्लेशकर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति	३ भावना—निदिध्यासन के बल से क्लेशों का क्षय
४ ज्ञानावरण के सर्वथा नाश द्वारा सर्वज्ञत्व	४ भावना के प्रकर्ष से ज्ञेयावरण के सर्वथा नाश के द्वारा सर्वज्ञत्व	४ प्रकाशावरण के नाश द्वारा सार्वज्ञ्य	४ समाधिजन्य धर्म द्वारा सार्वज्ञ्य	४ ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा अज्ञानादि का विलय

(४) रागादि दोषों का विचार

[६५] सर्वज्ञ ज्ञान की उत्पत्ति के क्रम के संबन्ध में जो तुलना ऊपर की गई है उससे स्पष्ट है कि राग, द्वेष आदि क्लेशों को ही सब दार्शनिक केवल-ज्ञान का आवारक मानते हैं। सबके मत से केवलज्ञान की उत्पत्ति तभी संभव है जब कि उक्त दोषों का सर्वथा नाश हो। इस तरह उपाध्यायजी ने रागादि दोषों में सर्वसंमत केवल-ज्ञानावारकत्व का समर्थन किया है और पीछे उन्होंने रागादि दोषों को कर्मजन्य स्थापित किया है। राग, द्वेष आदि जो चित्तगत या आत्मगत दोष हैं उनका मुख्य कारण कर्म अर्थात् जन्म-जन्मान्तर में संचित आत्मगत दोष ही हैं। ऐसा स्थापन करने में उपाध्यायजी का तात्पर्य पुनर्जन्मवाद का स्वीकार करना है। उपाध्यायजी आस्तिकदर्शनसम्मत पुनर्जन्मवाद की प्रक्रिया का आश्रय लेकर ही केवलज्ञान की प्रक्रिया का विचार करते हैं। अतएव इस प्रसंग में उन्होंने रागादि दोषों को कर्मजन्य या पुनर्जन्ममूलक न माननेवाले मतों की समीक्षा भी की है। ऐसे मत तीन हैं। जिनमें से एक मत [६६] यह है, कि राग कफजन्य है, द्वेष पित्तजन्य है और मोह वातजन्य है। दूसरा मत [६७] यह है कि राग शुक्रोपचयजन्य है इत्यादि। तीसरा मत [६८] यह है कि शरीर में पृथ्वी और जल तत्त्व की वृद्धि से राग पैदा होता है, तेजो और वायु की वृद्धि से द्वेष पैदा होता है, जल और वायु की वृद्धि से मोह पैदा होता है। इन तीनों मतों में राग, द्वेष और मोह का कारण मनोगत या आत्मगत कर्म न मानकर शरीरगत वैषम्य ही माना गया है। यद्यपि उक्त तीनों मतों के अनुसार राग, द्वेष और मोह के कारण भिन्न-भिन्न हैं; फिर भी उन तीनों मत की मूल दृष्टि एक ही है और वह यह है कि पुनर्जन्म या पुनर्जन्मसंबद्ध कर्म मानकर राग, द्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति घटाने की कोई जरूरत नहीं है। शरीरगत दोषों के द्वारा या शरीरगत वैषम्य के द्वारा ही रागादि की उत्पत्ति घटाई जा सकती है।

यद्यपि उक्त तीनों मतों में से पहले ही को उपाध्यायजी ने बार्हस्पत्य अर्थात् चार्वाक मत कहा है; फिर भी विचार करने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उक्त तीनों मतों की आधारभूत मूल दृष्टि, पुनर्जन्म बिना माने ही वर्त्तमान शरीर का आश्रय लेकर विचार करनेवाली होने से, असल में चार्वाक दृष्टि ही है। इसी दृष्टि का आश्रय लेकर चिकित्साशास्त्र प्रथम मत को उपस्थित करता है; जब कि कामशास्त्र दूसरे मत को उपस्थित करता है। तीसरा मत संभवतः हठयोग का है। उक्त तीनों की समालोचना करके उपाध्यायजी ने यह बतलाया है कि राग, द्वेष और मोह के उपशमन तथा क्षय का सच्चा व मुख्य उपाय आध्यात्मिक

अर्थात् ज्ञान-ध्यान द्वारा आत्मशुद्धि करना ही है; न कि उक्त तीनों मतों के द्वारा प्रतिपादन किए जानेवाले मात्र भौतिक उपाय। प्रथम मत के पुरस्कर्त्ताओं ने वात, पित्त, कफ इन तीन धातुओं के साम्य सम्पादन को ही रागादि दोषों के शमन का उपाय माना है। दूसरे मत के स्थापकों ने समुचित कामसेवन आदि को ही रागादि दोषों का शमनोपाय माना है। तीसरे मत के समर्थकों ने पृथिवी, जल आदि तत्त्वों के समीकरण को ही रागादि दोषों का उपशमनोपाय माना है। उपाध्यायजी ने उक्त तीनों मतों की समालोचना में यही बतलाने की कोशिश की है कि समालोच्य तीनों मतों के द्वारा, जो-जो रागादि के शमन का उपाय बतलाया जाता है वह वास्तव में राग आदि दोषों का शमन कर ही नहीं सकता। वे कहते हैं कि वात आदि धातुओं का कितना ही साम्य क्यों न सम्पादित किया जाए, समुचित कामसेवन आदि भी क्यों न किया जाए, पृथिवी आदि तत्त्वों का समीकरण भी क्यों न किया जाए, फिर भी जब तक आत्म-शुद्धि नहीं होती तब तक राग-द्वेष आदि दोषों का प्रवाह भी सूख नहीं सकता। इस समालोचना से उपाध्यायजी ने पुनर्जन्मवादिसम्मत आध्यात्मिक मार्ग का ही समर्थन किया है।

उपाध्यायजी की प्रस्तुत समालोचना कोई सर्वथा नयी वस्तु नहीं है। भारत वर्ष में आध्यात्मिक दृष्टि वाले भौतिक दृष्टि का निरास हजारों वर्ष पहले से करते आए हैं। वही उपाध्यायजी ने भी किया है–पर शैली उनकी नई है। 'ज्ञानबिन्दु' में उपाध्यायजी ने उपर्युक्त तीनों मतों की जो समालोचना की है वह धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्त्तिक' और शान्तरक्षित के 'तत्त्वसंग्रह' में भी पाई जाती है[1]।

(५) नैरात्म्य आदि भावना

[६९] पहले तुलना द्वारा यह दिखाया जा चुका है कि सभी आध्यात्मिक दर्शन भावना—ध्यान द्वारा ही अज्ञान का सर्वथा नाश और केवलज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं। जब सार्वज्ञ्य प्राप्ति के लिए भावना आवश्यक है तब यह भी विचार करना प्राप्त है कि वह भावना कैसी अर्थात् किंविषयक? भावना के स्वरूप विषयक प्रश्न का जवाब सब का एक नहीं है। दार्शनिक शास्त्रों में पाई जानेवाली भावना संक्षेप में तीन प्रकार की है—नैरात्म्यभावना, ब्रह्मभावना और विवेकभावना। नैरात्म्यभावना बौद्धों की है[2]। ब्रह्मभावना औपनिषद दर्शन की है। बाकी के सब दर्शन विवेकभावना मानते हैं। नैरात्म्य-

---

१ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० १०९ पं० २६ से।

२ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० १०९ पं० ३०।

भावना वह है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि स्थिर आत्मा जैसी या द्रव्य जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। जो कुछ है वह सब क्षणिक एवं अस्थिर ही है। इसके विपरीत ब्रह्मभावना वह है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि ब्रह्म अर्थात् आत्म-तत्त्व के सिवाय और कोई वस्तु पारमार्थिक नहीं है; तथा आत्म-तत्त्व भी भिन्न-भिन्न नहीं है। विवेकभावना वह है जो आत्मा और जड़ दोनों द्रव्यों का पारमार्थिक और स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर चलती है। विवेक-भावना को भेदभावना भी कह सकते हैं। क्योंकि उसमें जड़ और चेतन के पारस्परिक भेद की तरह जड़ तत्त्व में तथा चेतन तत्त्व में भी भेद मानने का अवकाश है। उक्त तीनों भावनाएँ स्वरूप में एक दूसरे से बिलकुल विरुद्ध हैं, फिर भी उनके द्वारा उद्देश्य सिद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। नैरात्म्यभावना के समर्थक बौद्ध कहते हैं कि अगर आत्मा जैसी कोई स्थिर वस्तु हो तो उस पर स्नेह भी शाश्वत रहेगा; जिससे तृष्णामूलक सुख में राग और दुःख में द्वेष होता है। जब तक सुख-राग और दुःख-द्वेष हो तब तक प्रवृत्ति-निवृत्ति—संसार का चक्र भी रुक नहीं सकता। अतएव जिसे संसार को छोड़ना हो उसके लिए सरल व मुख्य उपाय आत्माभिनिवेश छोड़ना ही है। बौद्ध दृष्टि के अनुसार सारे दोषों की जड़ केवल स्थिर आत्म-तत्त्व के स्वीकार में है। एक बार उस अभि-निवेश का सर्वथा परित्याग किया फिर तो न रहेगा बांस और न बजेगी बाँसुरी—अर्थात् जड़ के कट जाने से स्नेह और तृष्णामूलक संसारचक्र अपने आप बंध पड़ जाएगा।

ब्रह्मभावना के समर्थक कहते हैं कि अज्ञान ही दुःख व संसार की जड़ है। हम आत्मभिन्न वस्तुओं को पारमार्थिक मानकर उन पर अहंत्व-ममत्व धारण करते हैं और तभी रागद्वेषमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति का चक्र चलता है। अगर हम ब्रह्मभिन्न वस्तुओं में पारमार्थिकत्व मानना छोड़ दें और एक मात्र ब्रह्म का ही पारमार्थिकत्व मान लें तब अज्ञानमूलक अहंत्व-ममत्व की बुद्धि नष्ट हो जाने से तन्मूलक राग-द्वेषजन्य प्रवृत्ति-निवृत्ति का चक्र अपने आप ही रुक जाएगा।

विवेकभावना के समर्थक कहते हैं कि आत्मा और जड़ दोनों में पारमार्थि-कत्व बुद्धि हुई—इतने मात्र से अहंत्व-ममत्व पैदा नहीं होता और न आत्मा को स्थिर मानने मात्र से रागद्वेषादि की प्रवृत्ति होती है। उनका मन्तव्य है कि आत्मा को आत्मरूप न समझना और अनात्मा को अनात्मरूप न समझना यह अज्ञान है। अतएव जड़ में आत्मबुद्धि और आत्मा में जड़त्व की या शून्यत्व की बुद्धि करना यही अज्ञान है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए विवेकभावना की आवश्यकता है।

उपाध्यायजी जैन दृष्टि के अनुसार विवेकभावना के अवलंबी हैं। यद्यपि विवेकभावना के अवलंबी सांख्य-योग तथा न्याय-वैशेषिक के साथ जैन दर्शन का थोड़ा मतभेद अवश्य है फिर भी उपाध्यायजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में नैरात्म्य-भावना और ब्रह्मभावना के ऊपर ही खास तौर से प्रहार करना चाहा है। इसका सबब यह है कि सांख्य-योगादिसंमत विवेकभावना जैनसंमत विवेकभावना से उतनी दूर या विरुद्ध नहीं जितनी कि नैरात्म्यभावना और ब्रह्मभावना है। नैरा-त्म्यभावना के खण्डन में उपाध्यायजी ने खासकर बौद्धसंमत क्षणभंग वाद का ही खण्डन किया है। उस खण्डन में उनकी मुख्य दलील यह रही है कि एकान्त क्षणिकत्व वाद के साथ बन्ध और मोक्ष की विचारसरणि मेल नहीं खाती है। यद्यपि उपाध्यायजी ने जैसा नैरात्म्यभावना का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया है वैसा ब्रह्मभावना का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन नहीं किया है, फिर भी उन्होंने आगे जाकर अति विस्तार से वेदांतसंमत सारी प्रक्रिया का जो खण्डन किया है उसमें ब्रह्मभावना का निरास अपने आप ही समा जाता है।

(६) ब्रह्मज्ञान का निरास

[७३] क्षणभंग वाद का निरास करने के बाद उपाध्यायजी अद्वैतवादि-संमत ब्रह्मज्ञान, जो जैनदर्शनसंमत केवलज्ञान स्थानीय है, उसका खण्डन शुरू करते हैं। मुख्यतया मधुसूदन सरस्वती के ग्रंथों को ही सामने रखकर उनमें प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान की प्रक्रिया का निरास करते हैं। मधुसूदन सरस्वती शाङ्कर वेदान्त के असाधारण नव्य विद्वान् हैं; जो ईसा की सोलहवीं शताब्दी में हुए हैं। अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तबिन्दु, वदान्तकल्पलतिका आदि अनेक गंभीर और विद्वन्मान्य ग्रन्थ उनके बनाए हुए हैं। उनमें से मुख्यतया वेदान्तकल्प-लतिका का उपयोग प्रस्तुत ग्रंथ में उपाध्यायजी ने किया है[1]। मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्तकल्पलतिका में जिस विस्तार से और जिस परिभाषा में ब्रह्मसान का वर्णन किया है उपाध्यायजी ने ठीक उसी विस्तार से उसी परिभाषा में प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु में खण्डन किया है। शाङ्करसंमत अद्वैत ब्रह्मज्ञानप्रक्रिया का विरोध सभी द्वैतवादी दर्शन एक सा करते हैं। उपाध्यायजी ने भी वैसा ही विरोध किया है पर पर्यवसान में थोड़ा सा अन्तर है। वह यह कि जब दूसरे द्वैतवादी अद्वैतदर्शन के बाद अपना-अपना अभिमत द्वैत स्थापना करते हैं, तब उपाध्यायजी ब्रह्मज्ञान के खण्डन के द्वारा जैनदर्शनसंमत द्वैत-प्रक्रिया का ही स्पष्टतया स्थापना करते

---

१ देखो, ज्ञानबिंदु टिप्पण पृ० १०६, पं० ६ तथा १११. पं ३०।

है। अतएव यह तो कहने की जरूरत ही नहीं कि उपाध्यायजी की खण्डन युक्तियाँ प्रायः वे ही हैं जो अन्य द्वैतवादियों की होती हैं।

प्रस्तुत खण्डन में उपाध्यायजी ने मुख्यतया चार मुद्दों पर आपत्ति उठाई है। (१) [७३] अखण्ड ब्रह्म का अस्तित्व । (२) [८४] ब्रह्माकार और ब्रह्मविषयक निर्विकल्पक वृत्ति। (३) [६४] ऐसी वृत्ति का शब्दमात्रजन्यत्व। (४) [७६] ब्रह्मज्ञान से अज्ञानादि की निवृत्ति। इन चारों मुद्दों पर तरह-तरह से आपत्ति उठाकर अन्त में यही बतलाया है कि अद्वैतसंमत ब्रह्मज्ञान तथा उसके द्वारा अज्ञाननिवृत्ति की प्रक्रिया ही सदोष और त्रुटिपूर्ण है। इस खण्डन प्रसंग में उन्होंने एक वेदान्तसंमत अति रमणीय और विचारणीय प्रक्रिया का भी सविस्तार उल्लेख करके खण्डन किया है। वह प्रक्रिया इस प्रकार है–[७६] वेदान्त पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रतिभासिक ऐसी तीन सत्ताएँ मानता है जो अज्ञानगत तीन शक्तियों का कार्य है। अज्ञान की प्रथमा शक्ति ब्रह्मभिन्न वस्तुओं में पारमार्थिकत्व बुद्धि पैदा करती है जिसके वशीभूत होकर लोग बाह्य वस्तुओं को पारमार्थिक मानते और कहते हैं; नैयायिकादि दर्शन, जो आत्मभिन्न वस्तुओं का भी पारमार्थिकत्व मानते हैं, वह अज्ञानगत प्रथम शक्ति का ही परिणाम है अर्थात् आत्मभिन्न बाह्य वस्तुओं को पारमार्थिक समझने वाले सभी दर्शन प्रथमशक्तिगर्भित अज्ञानजनित हैं। जब वेदान्तवाक्य से ब्रह्म-विषयक श्रवणादि का परिपाक होता है तब वह अज्ञान की प्रथम शक्ति निवृत्त होती है जिसका कि कार्य था प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व बुद्धि करना। प्रथम शक्ति के निवृत्त होते ही उसकी दूसरी शक्ति अपना कार्य करती है। वह कार्य है प्रपञ्च में व्यावहारिकत्व की प्रतीति। जिसने श्रवण, मनन, निदिध्यासन सिद्ध किया हो वह प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व कभी जान नहीं सकता पर दूसरी शक्ति द्वारा उसे प्रपञ्च में व्यावहारिकत्व की प्रतीति अवश्य होती है। ब्रह्मसाक्षात्कार से दूसरी शक्ति का नाश होते ही तज्जन्य व्यावहारिक प्रतीति का भी नाश हो जाता है। जो ब्रह्मसाक्षात्कारवान् हो वह प्रपञ्च को व्यावहारिक रूप से नहीं जानता पर तीसरी शक्ति के शेष रहने से उसके बल से वह प्रपञ्च को प्रातिभासिक; रूप से प्रतीत करता है। वह तीसरी शक्ति तथा उसका प्रातिभासिक प्रतीतिरूप कार्य ये अंतिम बोध के साथ निवृत्त होते हैं और तभी बन्ध-मोक्ष की प्रक्रिया भी समाप्त होती है।

उपाध्यायजी ने उपर्युक्त वेदान्त प्रक्रिया का बलपूर्वक खण्डन किया है। क्योंकि अगर वे उस प्रक्रिया का खण्डन न करें तो इसका फलितार्थ यह होता है कि वेदांत के कथनानुसार जैन दर्शन भी प्रथमशक्तियुक्त अज्ञान का ही

विलास है अतएव असत्य है। उपाध्यायजी मौके-मौके पर जैन दर्शन को यथार्थता ही साबित करना चाहते हैं। अतएव उन्होंने पूर्वाचार्य हरिभद्र की प्रसिद्ध उक्ति, [ज्ञानबिन्दु पृ० १. २६] जिसमें पृथ्वी आदि बाह्य तत्त्वों की तथा रागादिदोषरूप आन्तरिक वस्तुओं की वास्तविकता का चित्रण है, उसका हवाला देकर वेदान्त की उपर्युक्त अज्ञानशक्ति-प्रक्रिया का खण्डन किया है।

इस जगह वेदांत की उपर्युक्त अज्ञानगत त्रिविध शक्ति की त्रिविध सृष्टि वाली प्रक्रिया के साथ जैनदर्शन की त्रिविध आत्मभाव वाली प्रक्रिया की तुलना की जा सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार बहिरात्मा, जो मिथ्यादृष्टि होने के कारण तीव्रतम कषाय और तीव्रतम अज्ञान के उदय से युक्त है अतएव जो अनात्मा को आत्मा मानकर सिर्फ उसी में प्रवृत्त होता है, वह वेदांतानुसारी आद्यशक्तियुक्त अज्ञान के बल से प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व की प्रतीति करनेवाले के स्थान में है। जिस को जैन दर्शन अंतरात्मा अर्थात् अन्य वस्तुओं के अहंत्व-ममत्व की ओर से उदासीन होकर उत्तरोत्तर शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन होने की ओर बढ़नेवाला कहता है, वह वेदान्तानुसारी अज्ञानगत दूसरी शक्ति के द्वारा व्यावहारिकसत्त्व-प्रतीति करनेवाले व्यक्ति के स्थान में है। क्योंकि जैनदर्शन संमत अंतरात्मा उसी तरह आत्मविषयक श्रवण-मनन निदिध्यासन वाला होता है, जिस तरह वेदान्त संमत व्यावहारिकसत्त्वप्रतीति वाला ब्रह्म के श्रवण-मनन निदिध्यासन में। जैनदर्शनसंमत परमात्मा जो तेरहवें गुणस्थान में वर्तमान होने के कारण द्रव्य मनोयोग वाला है वह वेदान्तसंमत अज्ञानगत तृतीयशक्तिजन्य प्रतिभासिकसत्त्व-प्रतीति वाले व्यक्ति के स्थान में है। क्योंकि वह अज्ञान से सर्वथा मुक्त होने पर भी दग्धरज्जुकल्प भवोपग्राहिकर्म के संबंध से वचन आदि में प्रवृत्ति करता है। जैसा कि प्रातिभासिकसत्त्वप्रतीति वाला व्यक्ति ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी प्रपञ्च का प्रतिभास मात्र करता है। जैन दर्शन, जिसको शैलेशी अवस्थाप्राप्त आत्मा या मुक्त आत्मा कहता है वह वेदान्त संमत अज्ञानजन्य त्रिविध सृष्टि से पर अंतिमबोध वाले व्यक्ति के स्थान में है। क्योंकि उसे अब मन, वचन, कार्य का कोई विकल्पप्रसंग नहीं रहता, जैसा कि वेदान्तसंमत अंतिम ब्रह्मबोध वाले को प्रपञ्च में किसी भी प्रकार की सत्त्वप्रतीति नहीं रहती।

(७) श्रुति और स्मृतियों का जैनमतानुकूल व्याख्यान

[८८] वेदान्तप्रक्रिया की समालोचना करते समय उपाध्यायजी ने वेदान्त-संमत वाक्यों में से ही जैनसंमत प्रक्रिया फलित करने का भी प्रयत्न किया है।

उन्होंने ऐसे अनेक श्रुति-स्मृति गत वाक्य उद्धृत किये हैं जो ब्रह्मज्ञान, एवं उसके द्वारा अज्ञान के नाश का, तथा अन्त में ब्रह्मभाव प्राप्ति का वर्णन करते हैं। उन्हीं वाक्यों में से जैनप्रक्रिया फलित करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि ये सभी श्रुति-स्मृतियाँ जैनसंमत कर्म के व्यवधायकत्व का तथा क्षीणकर्मत्वरूप जैन-संमत ब्रह्मभाव का ही वर्णन करती हैं। भारतीय दार्शनिकों की यह परिपाटी रही है कि पहले अपने पक्ष के सयुक्तिक समर्थन के द्वारा प्रतिवादी के पक्ष का निरास करना और अन्त में सम्भव हो तो प्रतिवादी के मान्य शास्त्रवाक्यों में से ही अपने पक्ष को फलित करके बतलाना। उपाध्यायजी ने भी यही किया है।

(८) कुछ ज्ञातव्य जैनमन्तव्यों का कथन

ब्रह्मज्ञान की प्रक्रिया में आनेवाले जुदे-जुदे मुद्दों का निरास करते समय उपाध्यायजी ने उस-उस स्थान में कुछ जैनदर्शनसंमत मुद्दों का भी स्पष्टीकरण किया है। कहीं तो वह स्पष्टीकरण उन्होंने सिद्धसेन की सन्मतिगत गाथाओं के आधार से किया है और कहीं युक्ति और जैनशास्त्राभ्यास के बल से। जैन प्रक्रिया के अभ्यासियों के लिए ऐसे कुछ मन्तव्यों का निर्देश यहाँ कर देना जरूरी है।

(१) जैन दृष्टि से निर्विकल्पक बोध का अर्थ।
(२) ब्रह्म की तरह ब्रह्मभिन्न में भी निर्विकल्पक बोध का संभव।
(३) निर्विकल्पक और सविकल्पक बोध का अनेकान्त।
(४) निर्विकल्पक बोध भी शाब्द नहीं है किन्तु मानसिक है–ऐसा समर्थन।
(५) निर्विकल्पक बोध भी अवग्रह रूप नहीं किन्तु अपाय रूप है–ऐसा प्रतिपादन

(१) [६०] वेदान्तप्रक्रिया कहती है कि जब ब्रह्मविषयक निर्विकल्प बोध होता है तब वह ब्रह्म मात्र के अस्तित्व को तथा भिन्न जगत् के अभाव को सूचित करता है। साथ ही वेदान्तप्रक्रिया यह भी मानती है कि ऐसा निर्विकल्पक बोध सिर्फ ब्रह्मविषयक ही होता है अन्य किसी विषय में नहीं। उसका यह भी मत है कि निर्विकल्पक बोध हो जाने पर फिर कभी सविकल्पक बोध उत्पन्न ही नहीं होता। इन तीनों मन्तव्यों के विरुद्ध उपाध्यायजी जैन मन्तव्य बतलाते हुए कहते हैं कि निर्विकल्पक बोध का अर्थ है शुद्ध द्रव्य का उपयोग, जिसमें किसी भी पर्याय के विचार की छाया तक न हो। अर्थात् जो ज्ञान समस्त पर्यायों के संबंध का असंभव विचार कर केवल द्रव्य को ही विषय करता है, नहीं कि चिन्त्यमान द्रव्य से भिन्न जगत् के अभाव को भी। वही

ज्ञान निर्विकल्पक बोध है; इसको जैन परिभाषा में शुद्धद्रव्यनयादेश भी कहा जाता है।

(२) ऐसा निर्विकल्पक बोध का अर्थ बतला कर उन्होंने यह भी बतलाया है कि निर्विकल्पक बोध जैसे चेतन द्रव्य में प्रवृत्त हो सकता है वैसे ही घटादि जड़ द्रव्य में भी प्रवृत्त हो सकता है। यह नियम नहीं कि वह चेतनद्रव्यविषयक ही हो। विचारक, जिस-जिस जड़ या चेतन द्रव्य में पर्यायों के संबंध का असंभव विचार कर केवल द्रव्य स्वरूप का ही ग्रहण करेगा, उस-उस जड़ चेतन सभी द्रव्य में निर्विकल्पक बोध हो सकेगा।

(३) [६२] उपाध्यायजी ने यह भी स्पष्ट किया है कि ज्ञानस्वरूप आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि जो एक मात्र निर्विकल्पक ज्ञानस्वरूप नहीं रहता। वह जब शुद्ध द्रव्य का विचार छोड़कर पर्यायों की ओर झुकता है तब वह निर्विकल्पक ज्ञान के बाद भी पर्यायसापेक्ष सविकल्पक ज्ञान भी करता है। अतएव यह मानना ठीक नहीं कि निर्विकल्पक बोध के बाद सविकल्पक बोध का संभव ही नहीं।

(४) वेदान्त दर्शन कहता है कि ब्रह्म का निर्विकल्पक बोध 'तत्त्वमसि' इत्यादि शब्दजन्य ही हैं। इसके विरुद्ध उपाध्यायजी कहते हैं [पृ० ३०, पं० २४] कि ऐसा निर्विकल्पक बोध पर्यायविनिर्मुक्तविचारसहकृत मन से ही उत्पन्न होने के कारण मनोजन्य मानना चाहिए, नहीं कि शब्दजन्य। उन्होंने अपने अभिमत मनोजन्यत्व का स्थापन करने के पक्ष में कुछ अनुकूल श्रुतियों को भी उद्धृत किया है [६४,६५]।

(५) [६३] सामान्य रूप से जैनप्रक्रिया में प्रसिद्धि ऐसी है कि निर्विकल्पक बोध तो अवग्रह का नामान्तर है। ऐसी दशा में यह प्रश्न होता है कि तब उपाध्यायजी ने निर्विकल्पक बोध को मानसिक कैसे कहा? क्योंकि अवग्रह विचार सहकृतमनोजन्य नहीं है; जब कि शुद्ध-द्रव्योपयोगरूप निर्विकल्पक बोध विचारसहकृतमनोजन्य है। इसका उत्तर उन्होंने यह दिया है कि जिस विचारसहकृतमनोजन्य शुद्धद्रव्योपयोग को हमने निर्विकल्पक कहा है वह ईहात्मकविचारजन्य अपायरूप है और नाम-जात्यादिकल्पना से रहित भी है।[1]

इन सब जैनाभिमत मन्तव्यों का स्पष्टीकरण करके अन्त में उन्होंने यही सूचित किया है कि सारी वेदान्तप्रक्रिया एक तरह से जैनसंमत शुद्धद्रव्य-नयादेश की ही विचारसरणि है। फिर भी वेदान्तवाक्यजन्य ब्रह्ममात्र का

---

१ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण, पृ० ११४. पं० २५ से।

साक्षात्कार ही केवलज्ञान है ऐसा वेदान्तमन्तव्य तो किसी तरह भी जैनसंमत हो नहीं सकता।

(६) केवलज्ञान-दर्शनोपयोग के भेदाभेद की चर्चा

[१०२] केवलज्ञान की चर्चा का अंत करते हुए उपाध्यायजी ने ज्ञान बिन्दु में केवलज्ञान और केवलदर्शन के संबंध में तीन पक्षभेदों अर्थात् विप्रतिप्रत्तियों को नव्य न्याय की परिभाषा में उपस्थित किया है, जो कि जैन परंपरा में प्राचीन समय से प्रचलित रहे हैं। वे तीन पक्ष इस प्रकार हैं—

(१) केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों उपयोग भिन्न हैं और वे एक साथ उत्पन्न न होकर क्रमशः अर्थात् एक-एक समय के अंतर से उत्पन्न होते रहते हैं।

(२) उक्त दोनों उपयोग भिन्न तो हैं पर उनकी उत्पत्ति क्रमिक न होकर युगपत् अर्थात् एक ही साथ होती रहती है।

(३) उक्त दोनों उपयोग वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। उपयोग तो एक ही है पर उसके अपेक्षाविशेषकृत केवलज्ञान और केवलदर्शन ऐसे दो नाम हैं। अतएव नाम के सिवाय उपयोग में कोई भेद जैसी वस्तु नहीं है।

उक्त तीन पक्षों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना जरूरी है। वाचक उमास्वाति, जो विक्रम की तीसरी से पाँचवी शताब्दी के बीच कभी हुए जान पड़ते हैं, उनके पूर्ववर्ती उपलब्ध जैन वाङ्मय को देखने से जान पड़ता है कि उसमें सिर्फ एक ही पक्ष रहा है और वह केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रमवर्तित्व का। हम सबसे पहले उमास्वाति के 'तत्त्वार्थभाष्य' में ऐसा उल्लेख[1] पाते हैं जो स्पष्टरूपेण युगपत् पक्ष का ही बोध करा सकता है। यद्यपि तत्त्वार्थभाष्यगत उक्त उल्लेख की व्याख्या करते हुए विक्रमीय ८-९ वीं सदी के विद्वान् श्वे० सिद्धसेनगणि ने[2] उसे क्रमपरक ही बतलाया है और साथ ही अपनी तत्त्वार्थ-भाष्य-व्याख्या में युगपत् तथा अभेद पक्ष का खण्डन भी किया है; पर इस पर अधिक ऊहापोह करने से यह जान पड़ता है कि सिद्धसेन गणि के पहले किसी ने तत्त्वार्थभाष्य की व्याख्या करते हुए उक्त उल्लेख को युगपत् परक भी

---

१ 'मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति, न युगपत्। संभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत् सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।'–तत्त्वार्थभा० १.३१।

२ देखो, तत्त्वार्थभाष्यटीका, पृ० १११–११२।

बतलाया होगा। अगर हमारा यह अनुमान ठीक है तो ऐसा मानकर चलना चाहिए कि किसी ने तत्त्वार्थभाष्य के उक्त उल्लेख की युगपत् परक भी व्याख्या की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। 'नियमसार' ग्रन्थ जो दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द की कृति समझा जाता है उसमें स्पष्ट रूप से एक मात्र यौगपद्य पक्ष का (गा० १५६) ही उल्लेख है। पूज्यपाद देवनन्दी ने भी तत्त्वार्थ सूत्र की व्याख्या 'सर्वार्थसिद्धि'[1] में एक मात्र युगपत् पक्ष का ही निर्देश किया है। श्री कुन्दकुन्द और पूज्यपाद दोनों दिगम्बरीय परंपरा के प्राचीन विद्वान् हैं और दोनों की कृतियों में एक मात्र यौगपद्य पक्ष का स्पष्ट उल्लेख है। पूज्यपाद के उत्तरवर्ती दिगम्बराचार्य समंतभद्र ने भी अपनी 'आप्तमीमांसा'[2] में एकमात्र यौगपद्य पक्ष का उल्लेख किया है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि कुन्दकुंद, पूज्यपाद और समंतभद्र—इन तीन्हों ने अपना अभिमत यौगपद्य पक्ष बतलाया है; पर इनमें से किसी ने यौगपद्यविरोधी क्रमिक या अभेद पक्ष का खण्डन नहीं किया है। इस तरह हमें श्री कुन्दकुन्द से समंतभद्र तक के किसी भी दिगम्बराचार्य की कोई ऐसी कृति अभी उपलब्ध नहीं है जिसमें क्रमिक या अभेद पक्ष का खण्डन हो। ऐसा खण्डन हम सबसे पहले अकलंक की कृतियों में पाते हैं। भट्ट अकलंक ने समंतभद्रीय आप्तमीमांसा की 'अष्टशती'[3] व्याख्या में यौगपद्य पक्ष का स्थापन करते हुए क्रमिक पक्ष का, संक्षेप में पर स्पष्ट रूप में खण्डन किया है और अपने 'राजवार्तिक'[4] भाष्य में तो क्रम पक्ष माननेवालों को सर्वज्ञनिन्दक कहकर उस पक्ष की अग्राह्यता की ओर संकेत किया है। तथा उसी राजवार्तिक में दूसरी जगह (६. १०. १४–१६) उन्होंने अभेद पक्ष की अग्राह्यता की ओर भी स्पष्ट इशारा किया है। अकलंक ने अभेद पक्ष के समर्थक सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क नामक ग्रंथ में पाई जानेवाली दिवाकर की अभेदविषयक नवीन व्याख्या (सन्मति २. २५) का शब्दशः उल्लेख करके उसका जवाब इस तरह दिया है कि जिससे अपने

---

१ 'साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तत् छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्।'—सर्वार्थ०, १. ६।

२ 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥'—आप्तमी०, का० १०१।

३ तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्। कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत् सामान्यविशेष विषययोर्विगतावरणयोरयुगपत् प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराभावात्'–अष्टशती–अष्टसहस्री, पृ० २८१।

४ राजवार्तिक, ६. १३. ८।

अभिमत युगपत् पक्ष पर कोई दोष न आवे और उसका समर्थन भी हो। इस तरह हम समूचे दिगम्बर वाङ्मय को लेकर जब देखते हैं तब निष्कर्ष यही निकलता है कि दिगम्बर परंपरा एकमात्र यौगपद्य पक्ष को ही मानती आई है और उसमें अकलंक के पहले किसी ने क्रमिक या अभेद पक्ष का खण्डन नहीं किया है केवल अपने पक्ष का निर्देश मात्र किया है।

अब हम श्वेताम्बरीय वाङ्मय की ओर दृष्टिपात करें। हम ऊपर कह चुके हैं कि तत्त्वार्थभाष्य के पूर्ववर्ती उपलब्ध आगमिक साहित्य में से तो सीधे तौर से केवल क्रमपक्ष ही फलित होता है। जबकि तत्त्वार्थभाष्य के उल्लेख से युगपत् पक्ष का बोध होता है। उमास्वाति और जिनभद्र क्षमाश्रमण—दोनों के बीच कम से कम दो सौ वर्षों का अन्तर है। इतने बड़े अन्तर में रचा गया कोई ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं है जिसमें कि यौगपद्य तथा अभेद पक्ष की चर्चा या परस्पर खण्डन-खण्डन हो[1]। पर हम जब विक्रमीय सातवीं सदी में हुए जिनभद्र क्षमाश्रमण की उपलब्ध दो कृतियों को देखते हैं तब ऐसा अवश्य मानना पड़ता है कि उनके पहले श्वेताम्बर परंपरा में यौगपद्य पक्ष की तथा अभेद पक्ष की, केवल स्थापना ही नहीं हुई थी, बल्कि उक्त तीनों पक्षों का परस्पर खण्डन-मण्डन वाला साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में बन चुका था। जिनभद्र गणि ने अपने अति विस्तृत **'विशेषावश्यकभाष्य'** (गा० ३०६० से) में क्रमिक पक्ष का आगमिकों की ओर से जो विस्तृत सतर्क स्थापन किया है उसमें उन्होंने यौगपद्य तथा अभेद पक्ष का आगमानुसरण करके विस्तृत खण्डन भी किया है। तदुपरान्त उन्होंने अपने छोटे से **'विशेषणवती'** नामक ग्रंथ (गा० १८४ से) में तो, विशेषावश्यकभाष्य की अपेक्षा भी अत्यन्त विस्तार से अपने अभिमत

---

१ निर्युक्ति में **'सव्वस्स केवलिस्स वि** (पाठान्तर 'स्सा') **जुगवं दो नत्थि उवओगा'**—गा० ६७६—यह अंश पाया जाता है जो स्पष्टरूपेण केवली में माने जानेवाले यौगपद्य पक्ष का ही प्रतिवाद करता है। हमने पहले एक जगह यह संभावना प्रकट की है कि निर्युक्ति का अमुक भाग तत्त्वार्थभाष्य के बाद का भी संभव है। अगर वह संभावना ठीक है तो निर्युक्ति का उक्त अंश जो यौगपद्य पक्ष का प्रतिवाद करता है वह भी तत्त्वार्थभाष्य के यौगपद्यप्रतिपादक मन्तव्य का विरोध करता हो ऐसी संभावना की जा सकती है। कुछ भी हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि श्री जिनभद्रगणि के पहले यौगपद्य पक्षका खण्डन हमें एक मात्र निर्युक्ति के उक्त अंश के सिवाय अन्यत्र कहीं अभी उपलब्ध नहीं; और निर्युक्ति में अभेद पक्ष के खण्डन का तो इशारा भी नहीं है।

क्रमपक्ष का स्थापन तथा अनभिमत यौगपद्य तथा अभेद पक्ष का खण्डन किया है। क्षमाश्रमण की उक्त दोनों कृतियों में पाए जानेवाले खण्डन-मण्डनगत पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष की रचना तथा उसमें पाई जाने वाली अनुकूल–प्रतिकूल युक्तियों का ध्यान से निरीक्षण करने पर किसी को यह मानने में सन्देह नहीं रह सकता कि क्षमाश्रमण के पूर्व लम्बे अर्से से श्वेताम्बर परंपरा में उक्त तीनों पक्षों के माननेवाले मौजूद थे और वे अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हुए विरोधी पक्ष का निरास भी करते थे। यह क्रम केवल मौखिक ही न चलता था बल्कि शास्त्रबद्ध भी होता रहा। वे शास्त्र आज भले ही मौजूद न हों पर क्षमाश्रमण के उक्त दोनों ग्रंथों में उनका सार देखने को आज भो मिलता है। इस पर से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जिनभद्र के पहले भी श्वेताम्बर परंपरा में उक्त तीनों पक्षों को माननेवाले तथा परस्पर खण्डन-मण्डन करनेवाले आचार्य हुए हैं। जब कि कम से कम जिनभद्र के समय तक में ऐसा कोई दिगम्बर विद्वान नहीं हुआ जान पड़ता कि जिसने क्रम पक्ष या अभेद पक्ष का खण्डन किया हो। और दिगम्बर विद्वान की ऐसी कोई कृति तो आज तक भी उपलब्ध नहीं है जिसमें यौगपद्य पक्ष के अलावा दूसरे किसी भी पक्ष का समर्थन हो।

जो कुछ हो पर यहाँ यह प्रश्न तो पैदा होता ही है कि प्राचीन आगमों के पाठ सीधे तौर से जब क्रम पक्ष का ही समर्थन करते हैं तब जैन परंपरा में यौगपद्य पक्ष और अभेद पक्ष का विचार क्यों कर दाखिल हुआ। इसका जवाब हमें दो तरह से सूझता है। एक तो यह कि जब असर्वज्ञवादी मीमांसक ने सभी सर्वज्ञवादियों के सामने यह आक्षेप किया[1] कि तुम्हारे सर्वज्ञ अगर क्रम से सब पदार्थों को जानते हैं तो वे सर्वज्ञ ही कैसे? और अगर एक साथ सभी पदार्थों को जानते हैं तो एक साथ सब जान लेने के बाद आगे वे क्या जानेंगे? कुछ भी तो फिर अज्ञात नहीं है। ऐसी दशा में भी वे असर्वज्ञ ही सिद्ध हुए। इस आक्षेप का जवाब दूसरे सर्वज्ञवादियों की तरह जैनों को भी देना प्राप्त हुआ। इसी तरह बौद्ध आदि सर्वज्ञवादी भी जैनों के प्रति यह आक्षेप करते रहे होंगे कि तुम्हारे सर्वज्ञ अर्हत् तो क्रम से जानते देखते हैं; अतएव वे पूर्ण सर्वज्ञ कैसे? इस आक्षेप का जवाब तो एक मात्र जैनों को ही देना प्राप्त था। इस तरह उपर्युक्त तथा अन्य ऐसे आक्षेपों का जवाब देने की विचारणा में से सर्व प्रथम यौगपद्य पक्ष, क्रम पक्ष के विरुद्ध जैन परंपरा में प्रविष्ट हुआ। दूसरा यह भी संभव है कि जैन परंपरा के तर्कशील विचारकों को अपने आप ही क्रम पक्ष में त्रुटि दिखाई दी और उस त्रुटि की पूर्ति के विचार में से उन्हें यौगपद्य पक्ष सर्व

१ देखो, तत्त्वसंग्रह का० ३२४८ से।

प्रथम सूझ पड़ा। जो जैन विद्वान् यौगपद्य पक्ष को मान कर उसका समर्थन करते थे उनके सामने क्रम पक्ष माननेवालों का बड़ा आगमिक दल रहा जो आगम के अनेक वाक्यों को लेकर यह बतलाते थे कि यौगपद्य पक्ष का कभी जैन आगम के द्वारा समर्थन किया नहीं जा सकता। यद्यपि शुरू में यौगपद्य पक्ष तर्कबल के आधार पर ही प्रतिष्ठित हुआ जान पड़ता है, पर सम्प्रदाय की स्थिति ऐसी रही कि वे जब तक अपने यौगपद्य पक्ष का आगमिक वाक्यों के द्वारा समर्थन न करें और आगमिक वाक्यों से ही क्रम पक्ष माननेवालों को जवाब न दें, तब तक उनके यौगपद्य पक्ष का संप्रदाय में आदर होना संभव न था। ऐसी स्थिति देख कर यौगपद्य पक्ष के समर्थक तार्किक विद्वान भी आगमिक वाक्यों का आधार अपने पक्ष के लिए लेने लगे तथा अपनी दलीलों को आगमिक वाक्यों में से फलित करने लगे। इस तरह श्वेताम्बर परंपरा में क्रम पक्ष तथा यौगपद्य पक्ष का आगमाश्रित खण्डन-मण्डन चलता ही था कि बीच में किसी को अभेद पक्ष की सूझी। ऐसी सूझ वाला तार्किक यौगपद्य पक्ष वालों को यह कहने लगा कि अगर क्रम पक्ष में त्रुटि है तो तुम यौगपद्य पक्ष वाले भी उस त्रुटि से बच नहीं सकते। ऐसा कहकर उसने यौगपद्य पक्ष में भी असर्वज्ञत्व आदि दोष दिखाए और अपने अभेद पक्ष का समर्थन शुरू किया। इसमें तो संदेह ही नहीं कि एक बार क्रम पक्ष छोड़कर जो यौगपद्य पक्ष मानता है वह अगर सीधे तर्कबल का आश्रय ले तो उसे अभेद पक्ष पर अनिवार्य रूप से आना ही पड़ता है। अभेद पक्ष की सूझ वाले ने सीधे तर्कबल से अभेद पक्ष को उपस्थित करके क्रम पक्ष तथा यौगपद्य पक्ष का निरास तो किया पर शुरू में सांप्रदायिक लोग उसकी बात आगमिक वाक्यों के सुलझाव के सिवाय स्वीकार कैसे करते? इस कठिनाई को हटाने के लिए अभेद पक्ष वालों ने आगमिक परिभाषाओं का नया अर्थ भी करना शुरू किया और उन्होंने अपने अभेद पक्ष को तर्कबल से उपपन्न करके भी अंत में आगमिक परिभाषाओं के ढाँचे में बिठा दिया। क्रम, यौगपद्य और अभेद पक्ष के उपर्युक्त विकास की प्रक्रिया कम से कम १५० वर्ष तक श्वेताम्बर परंपरा में एक-सी चलती रही और प्रत्येक पक्ष के समर्थक धुरंधर विद्वान् होते रहे और वे ग्रन्थ भी रचते रहे। चाहे क्रमवाद के विरुद्ध जैनेतर परंपरा की ओर से आक्षेप हुए हों या चाहे जैन परंपरा के आंतरिक चिन्तन में से ही आक्षेप होने लगे हों, पर इसका परिणाम अंत में क्रमशः यौगपद्य पक्ष तथा अभेद पक्ष की स्थापना में ही आया, जिसकी व्यवस्थित चर्चा जिनभद्र की उपलब्ध विशेषणवती और विशेषावश्यकभाष्य नामक दोनों कृतियों में हमें देखने को मिलती है।

[१०२] उपाध्यायजी ने जो तीन विप्रतिपत्तियाँ दिखाई हैं उनका ऐतिहासिक विकास हम ऊपर दिखा चुके। अब उक्त विप्रतिपत्तियों के पुरस्कर्ता रूप से उपाध्यायजी के द्वारा प्रस्तुत किए गये तीन आचार्यों के बारे में कुछ विचार करना जरूरी है। उपाध्यायजी ने क्रम पक्ष के पुरस्कर्तारूप से जिनभद्र क्षमाश्रमण को, युगपत् पक्ष के पुरस्कर्तारूप से मल्लवादी को और अभेद पक्ष के पुरस्कर्तारूप से सिद्धसेन दिवाकर को निर्दिष्ट किया है। साथ ही उन्होंने मलयगिरि के कथन के साथ आनेवाली असंगति का तार्किक दृष्टि से परिहार भी किया है। असंगति यों आती है कि जब उपाध्यायजी सिद्धसेन दिवाकर को अभेद पक्ष का पुरस्कर्ता बतलाते हैं तब श्रीमलयागिरि सिद्धसेन दिवाकर को युगपत् पक्ष का पुरूकर्त्ता बतलाते हैं[1]। उपाध्यायजी ने असंगति का परिहार यह कहकर किया है कि श्री मलयगिरि का कथन अभ्युपगम वाद की दृष्टि से है अर्थात् सिद्धसेन दिवाकर वस्तुतः अभेद पक्ष के पुरस्कर्ता हैं पर थोड़ी देर के लिए क्रम पक्ष का खण्डन करने के लिए शुरू में युगपत् पक्ष का आश्रय कर लेते हैं और फिर अन्त में अपना अभेद पक्ष स्थापित करते हैं। उपाध्यायजी ने असंगति का परिहार किसी भी तरह क्यों न किया हो परंतु हमें तो यहाँ तीनों विप्रतिपत्तियों के पक्षकारों को दर्सानेवाले सभी उल्लेखों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना है।

हम यह ऊपर बतला चुके हैं कि क्रम, युगपत् और अभेद इन तीनों वादों की चर्चावाले सबसे पुराने दो ग्रन्थ इस समय हमारे सामने हैं। ये दोनों जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की ही कृति हैं। उनमें से, विशेषावश्यक भाष्य में तो चर्चा करते समय जिनभद्र ने पक्षकाररूप से न तो किसी का विशेष नाम दिया है और न 'केचित्' 'अन्ये' आदि जैसे शब्द ही निर्दिष्ट किये हैं। परंतु विशेषणवती में[2] तीनों वादों की चर्चा शुरू करने के पहले जिनभद्र ने 'केचित्' शब्द से युगपत् पक्ष प्रथम रखा है, इसके बाद 'अन्ये' कहकर क्रम पक्ष रखा है और अंत में 'अन्ये' कहकर अभेद पक्ष का निर्देश किया है। विशेषणवती की

१ देखो, नंदी टीका पृ० १३४।

२ 'केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली नियमा।
अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं ॥ १८४ ॥
अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स।
जं चिय केवलणाणं तं चिय से दरिसणं बिंति ॥ १८५॥'
—विशेषणवती।

उनकी स्वोपज्ञ व्याख्या नहीं है इससे हम यह नहीं कह सकते हैं कि जिनभद्र को 'केचित्' और 'अन्ये' शब्द से उस-उस वाद के पुरस्कर्ता रूप से कौन-कौन आचार्य अभिप्रेत थे। यद्यपि विशेषणवती की स्वोपज्ञ व्याख्या नहीं है फिर भी उसमें पाई जानेवाली प्रस्तुत तीन वाद संबंधी कुछ गाथाओं की व्याख्या सबसे पहले हमें विक्रमीय आठवीं सदी के आचार्य जिनदास गणि की 'नन्दीचूर्णि' में मिलती है। उसमें भी हम देखते हैं कि जिनदास गणि 'केचित्' और 'अन्ये' शब्द से किसी आचार्य विशेष का नाम सूचित नहीं करते। वे सिर्फ इतना ही कहते हैं कि केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग के बारे में आचार्यों की विप्रतिपत्तियाँ हैं। जिनदास गणि के थोड़े ही समय बाद आचार्य हरिभद्र ने उसी नन्दी चूर्णि के आधार से 'नन्दीवृत्ति' लिखी है। उन्होंने भी अपनी इस नन्दी वृत्ति में विशेषणवतीगत प्रस्तुत चर्चावाली कुछ गाथाओं को लेकर उनकी व्याख्या की है। जिनदास गणि ने जब 'केचित्' 'अन्ये' शब्द से किसी विशेष आचार्य का नाम सूचित नहीं किया तब हरिभद्रसूरि ने[1] विशेषणवती की उन्हीं गाथाओं में पाए जानेवाले 'केचित्' 'अन्ये' शब्द से विशेष-विशेष आचार्यों का नाम भी सूचित किया है। उन्होंने प्रथम 'केचित्' शब्द से युगपद्वाद के पुरस्कर्ता रूप से आचार्य सिद्धसेन का नाम सूचित किया है। इसके बाद 'अन्ये' शब्द से जिनभद्र क्षमाश्रमण को क्रमवाद के पुरस्कर्ता रूप से सूचित किया है और दूसरे 'अन्ये' शब्द से वृद्धाचार्य को अभेदवाद का पुरस्कर्ता बतलाया है। हरिभद्रसूरि के बाद बारहवीं सदी के मलयगिरिसूरि ने भी नन्दीसूत्र के ऊपर टीका लिखी है। उस (पृ० १३४) में उन्होंने वादों के पुरस्कर्ता के नाम के बारे में हरिभद्रसूरि के कथन का ही अनुसरण किया है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि विशेषावश्यक की उपलब्ध दोनों टीकाओं में— जिनमें से पहली आठवीं-नवीं सदी के कोट्याचार्य की है और दूसरी बारहवीं सदी के मलधारी हेमन्द्र की है—तीनों

---

१ "'केचन' सिद्धसेनाचार्यादयः 'भणंति'। किं ?। 'युगपद्' एकस्मिन् काले जानाति पश्यति च ! कः ?। केवली, न त्वन्यः। 'नियमात्' नियमेन ॥ 'अन्ये' जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रभृतयः। 'एकान्तरितम्' जानाति पश्यति च इत्येवं 'इच्छन्ति'। 'श्रुतोपदेशेन' यथाश्रुतागमानुसारेण इत्यर्थः। 'अन्ये' तु वृद्धाचार्याः 'न चैव विष्वक्' पृथक् तद् 'दर्शनमिच्छन्ति'। 'जिनवरेन्द्रस्य' केवलिन इत्यर्थः। किं तर्हि ?। 'यदेव केवलज्ञानं तदेव' 'से' तस्य केवलिनो 'दर्शनं' ब्रवते ॥"—नन्दीवृत्ति हारिभद्री, पृ० ५२ ।

वादों के पुरस्कर्ता रूप से किसी आचार्य विशेष का नाम निर्दिष्ट नहीं है[1]। कम से कम कोट्याचार्य के सामने तो विशेषावश्यक भाष्य की जिनभद्रीय स्वोपज्ञ व्याख्या मौजूद थी ही। इससे यह कहा जा सकता है कि उसमें भी तीनों वादों के पुरस्कर्ता रूप से किसी विशेष आचार्य का नाम रहा न होगा; अन्यथा कोट्याचार्य उस जिनभद्रीय स्वोपज्ञ व्याख्या में से विशेष नाम अपनी विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति में जरूर लेते। इस तरह हम देखते हैं कि जिनभद्र की एकमात्र विशेषणवती गत गाथाओं की व्याख्या करते समय सबसे पहले आचार्य हरिभद्र ही तीनों वादों के पुरस्कर्ताओं का विशेष नामोल्लेख करते हैं।

दूसरी तरफ से हमारे सामने प्रस्तुत तीनों वादों की चर्चावाला दूसरा ग्रन्थ **'सन्मतितर्क'** है जो निर्विवाद सिद्धसेन दिवाकर की कृति है। उसमें दिवाकरश्री ने क्रमवाद का पूर्वपक्ष रूप से उल्लेख करते सयय 'केचित्' इतना ही कहा है। किसी विशेष नाम का निर्देश नहीं किया है। युगपत् और अभेदवाद को रखते समय तो उन्होंने 'केचित्' 'अन्ये' जैसे शब्द का प्रयोग भी नहीं किया है। पर हम जब विक्रमीय ग्यारहवीं सदी के आचार्य अभयदेव की 'सन्मतिटीका' को देखते हैं तब तीनों वादों के पुरस्कर्ताओं के नाम उसमें स्पष्ट पाते हैं[पृ० ६०८]। अभयदेव हरिभद्र की तरह क्रमवाद का पुरस्कर्ता तो जिनभद्र क्षमाश्रमण को ही बतलाते हैं पर आगे उनका कथन हरिभद्र के कथन से जुदा पड़ता है। हरिभद्र जब युगपद्वाद के पुरस्कर्ता रूप से आचार्य सिद्धसेन का नाम सूचित करते हैं तब अभयदेव उसके पुरस्कर्ता रूप से आचार्य मल्लवादी का नाम सूचित करते हैं। हरिभद्र जब अभेद वाद के पुरस्कर्ता रूप से वृद्धाचार्य का नाम सूचित करते हैं तब अभयदेव उसके पुरस्कर्ता रूप से आचार्य सिद्धसेन का नाम सूचित करते हैं। इस तरह दोनों के कथन में जो भेद या विरोध है उस पर विचार करना आवश्यक है।

ऊपर के वर्णन से यह तो पाठकगण भली भाँति जान सके होंगे कि हरिभद्र तथा अभयदेव के कथन में क्रमवाद के पुरस्कर्ता के नाम के संबन्ध में कोई मतभेद नहीं। उनका मतभेद युगपद् वाद और अभेद वाद के पुरस्कर्ताओं के

---

१ मलधारी ने अभेद पक्ष का समर्थक 'एवं कल्पितभेदमप्रतिहतम्' इत्यादि पद्य स्तुतिकारके नामसे उद्धृत किया है और कहा है कि वैसा मानना युक्तियुक्त नहीं है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि मलधारी ने स्तुतिकार को अभेदवादी माना है। देखो, विशेषा० गा० ३०९१ की टीका। उसी पद्य को कोट्याचार्य ने 'उक्तं च' कह करके उद्धृत किया है—पृ० ८७७।

नाम के संबन्ध में है। अब प्रश्न यह है कि हरिभद्र और अभयदेव दोनों के पुरस्कर्ता संबन्धी नामसूचक कथन का क्या आधार है? जहाँ तक हम जान सके हैं वहाँ तक कह सकते हैं कि उक्त दोनों सूरि के सामने क्रमवाद का समर्थक और युगपत् तथा अभेद वाद का प्रतिपादक साहित्य एकमात्र जिनभद्र का ही था, जिससे वे दोनों आचार्य इस बात में एकमत हुए, कि क्रमवाद श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण का है। परंतु आचार्य हरिभद्र का उल्लेख अगर सब अंशों में अभ्रान्त है तो यह मानना पड़ता है कि उनके सामने युगपद्वाद का समर्थक कोई स्वतंत्र ग्रन्थ रहा होगा जो सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न किसी अन्य सिद्धसेन का बनाया होगा। तथा उनके सामने अभेदवाद का समर्थक ऐसा भी कोई ग्रन्थ रहा होगा जो सन्मतितर्क से भिन्न होगा और जो वृद्धाचार्य-रचित माना जाता होगा। अगर ऐसे कोई ग्रंथ उनके सामने न भी रहे हों तथापि कम से कम उन्हें ऐसी कोई सांप्रदायिक जनश्रुति या कोई ऐसा उल्लेख मिला होगा जिसमें कि आचार्य सिद्धसेन को युगपद्वाद का तथा वृद्धाचार्य को अभेदवाद का पुरस्कर्ता माना गया हो। जो कुछ हो पर हम सहसा यह नहीं कह सकते कि हरिभद्र जैसा बहुश्रुत आचार्य यों ही कुछ आधार के सिवाय युगपद्वाद तथा अभेदवाद के पुरस्कर्ताओं के विशेष नाम का उल्लेख कर दें। समान नामवाले अनेक आचार्य होते आए हैं। इसलिए असंभव नहीं कि सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न कोई दूसरे भी सिद्धसेन हुए हों जो कि युगपद्वाद के समर्थक हुए हों या माने जाते हों। यद्यपि सन्मतितर्क में सिद्धसेन दिवाकर ने अभेद पक्ष का ही स्थापन किया है अतएव इस विषय में सन्मतितर्क के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभयदेव सूरि का अभेदवाद के पुरस्कर्ता रूप से सिद्धसेन दिवाकर के नाम का कथन बिलकुल सही है और हरिभद्र का कथन विचारणीय है। पर हम ऊपर कह आए हैं कि क्रम आदि तीनों वादों की चर्चा बहुत पहले से शुरू हुई और शताब्दियों तक चली तथा उसमें अनेक आचार्यों ने एक-एक पक्ष लेकर समय-समय पर भाग लिया। जब ऐसी स्थिति है तब यह भी कल्पना की जा सकती है कि सिद्धसेन दिवाकर के पहले वृद्धाचार्य नाम के आचार्य भी अभेद वाद के समर्थक हुए होंगे या परंपरा में माने जाते होंगे। सिद्धसेन दिवाकर के गुरुरूप से वृद्धवादी का उल्लेख भी कथानकों में पाया जाता है। आश्चर्य नहीं कि वृद्धाचार्य ही वृद्धवादी हों और गुरु वृद्धवादी के द्वारा समर्थित अभेद वाद का ही विशेष स्पष्टीकरण तथा समर्थन शिष्य सिद्धसेन दिवाकर ने किया हो। सिद्धसेन दिवाकर के पहले भी अभेद वाद के समर्थक निःसंदेह रूप से हुए हैं यह बात तो सिद्धसेन ने किसी अभेद वाद के समर्थक एकदेशीय मत [सन्मति

२. २१] की जो समालोचना की है उसी से सिद्ध है। यह तो हुई हरिभद्रीय कथन के आधार की बात।

अब हम अभयदेव के कथन के आधार पर विचार करते हैं। अभयदेव सूरि के सामने जिनभद्र क्षमाश्रमण का क्रमवादसमर्थक साहित्य रहा जो आज भी उपलब्ध है। तथा उन्होंने सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क पर तो अति-विस्तृत टीका ही लिखी है कि जिसमें दिवाकर ने अभेदवाद का स्वयं मार्मिक स्पष्टीकरण किया है। इस तरह अभयदेव के वादों के पुरस्कर्तासंबंधी नाम वाले कथन में जो क्रमवाद के पुरस्कर्ता रूप से जिनभद्र का तथा अभेदवाद के पुरस्कर्ता रूप से सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख है वह तो साधार है ही; पर युगपद्वाद के पुरस्कर्ता रूप से मल्लवादि को दरसानेवाला जो अभयदेव का कथन है उसका आधार क्या है?—यह प्रश्न अवश्य होता है। जैन परंपरा में मल्लवादी नाम के कई आचार्य हुए माने जाते हैं पर युगपद् वाद के पुरस्कर्ता रूप से अभयदेव के द्वारा निर्दिष्ट मल्लवादी वही वादिमुख्य संभव हैं जिनका रचा 'द्वादशारनयचक्र' है और जिन्होंने दिवाकर के सन्मतितर्क पर भी टीका लिखी थी[1] जो कि उपलब्ध नहीं है। यद्यपि द्वादशारनयचक्र अखंड रूप से उपलब्ध नहीं है पर वह सिंहगणी क्षमाश्रमण कृत टीका के साथ खंडित प्रतीक रूप में उपलब्ध है। अभी हमने उस सारे सटीक नयचक्र का अवलोकन करके देखा तो उसमें कहीं भी केवलज्ञान और केवलदर्शन के संबंध में प्रचलित उपर्युक्त वादों पर थोड़ी भी चर्चा नहीं मिली। यद्यपि सन्मतितर्क की मल्लवादिकृत टीका उपलब्ध नहीं है पर जब मल्लवादि अभेद समर्थक दिवाकर के ग्रन्थ पर टीका लिखें तब यह कैसे माना जा सकता है कि उन्होंने दिवाकर के ग्रन्थ की व्याख्या लिखते समय उसी में उनके विरुद्ध अपना युगपत् पक्ष किसी तरह स्थापित किया हो। इस तरह जब हम सोचते हैं तब यह नहीं कह सकते हैं कि अभयदेव के युगपद् वाद के पुरस्कर्ता रूप से मल्लवादि के उल्लेख का आधार नयचक्र या उनकी सन्मतिटीका में से रहा होगा। अगर अभयदेव का उक्त उल्लेखांश अभ्रान्त एवं साधार है तो अधिक से अधिक हम यही कल्पना कर सकते हैं कि मल्लवादि का कोई अन्य युगपत् पक्ष समर्थक छोटा बड़ा ग्रन्थ अभयदेव के सामने रहा होगा अथवा ऐसे मन्तव्य वाला कोई उल्लेख उन्हें मिला होगा। अस्तु। जो कुछ हो पर इस समय हमारे सामने इतनी वस्तु निश्चित

---

१ 'उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सन्मतौ'—अनेकान्तजयपताका टीका, पृ० ११६।

है कि अन्य वादों का खण्डन करके क्रमवाद का समर्थन करने वाला तथा अन्य वादों का खण्डन करके अभेदवाद का समर्थन करने वाला स्वतंत्र साहित्य मौजूद है जो अनुक्रम से जिनभद्रगणि तथा सिद्धसेन दिवाकर का रचा हुआ है। अन्य वादों का खण्डन करके एकमात्र युगपद् वाद का अंत में स्थापन करने वाला कोई स्वतंत्र ग्रन्थ अगर है तो वह श्वेताम्बरीय परंपरा में नहीं पर दिगम्बरीय परंपरा में है।

(१०) ग्रन्थकार का तात्पर्य तथा उनकी स्वोपज्ञ विचारणा

उपाध्यायजी के द्वारा निर्दिष्ट विप्रतिपत्तियों के पुरस्कर्ता के बारे में जो कुछ कहना था उसे समाप्त करने के बाद अन्त में दो बातें कहना है।

(१) उक्त तीन वादों के रहस्य को बतलाने के लिए उपाध्यायजी ने जिनभद्रगणि के किसी ग्रंथ को लेकर ज्ञानबिन्दु में उसकी व्याख्या क्यों नहीं की और दिवाकर के सन्मतितर्कगत उक्त वाद वाले भाग को लेकर उसकी व्याख्या क्यों की? हमें इस पसंदगी का कारण यह जान पड़ता है कि उपाध्यायजी को तीनों वादों के रहस्य को अपनी दृष्टि से प्रकट करना अभिमत था फिर भी उनकी तार्किक बुद्धि का अधिक झुकाव अवश्य अभेदवाद की ओर रहा है। ज्ञानबिन्दु में पहले भी जहाँ मति-श्रुत और अवधि-मनःपर्याय के अभेद का प्रश्न आया वहाँ उन्होंने बड़ी खूबी से दिवाकर के अभेदमत का समर्थन किया है। यह सूचित करता है कि उपाध्यायजी का मुख्य निजी तात्पर्य अभेद पक्ष का ही है। यहाँ यह भी ध्यान में रहे कि सन्मति के ज्ञानकाण्ड की गाथाओं की व्याख्या करते समय उपाध्यायजी ने कई जगह पूर्व व्याख्याकार अभयदेव के विवरण की समालोचना की है और उसमें त्रुटियाँ बतलाकर उस जगह खुद नए ढंग से व्याख्यान भी किया है[१]।

(२) [१७४] दूसरी बात उपाध्यायजी की विशिष्ट सूझ से संबंध रखती है, वह यह कि ज्ञानबिन्दु के अन्त में उपाध्यायजी ने प्रस्तुत तीनों वादो का नयभेद की अपेक्षा से समन्वय किया है जैसा कि उनके पहले किसी को सूझा हुआ जान नहीं पड़ता। इस जगह इस समन्वय को बतलाने वाले पद्यों का तथा इसके बाद दिये गए ज्ञानमहत्त्वसूचक पद्य का सार देने का लोभ हम संवरण कर नहीं सकते। सबसे अन्त में उपाध्यायजी ने अपनी प्रशस्ति दी है जिसमें खुद अपना तथा अपनी गुरु परंपरा का वही परिचय है जो उनकी अन्य कृतियों की प्रशस्तियों में भी पाया जाता है। सूचित पद्यों का सार इस प्रकार है—

---

१ देखो, ज्ञानबिन्दु की कंडिकाएँ § १०४, १०५, १०६, ११०, १४८, १६५।

१—जो लोग गतानुगतिक बुद्धिवाले होने के कारण प्राचीन शास्त्रों का अक्षरशः अर्थ करते हैं और नया तर्कसंगत भी अर्थ करने में या उसका स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं उनको लक्ष्य में रखकर उपाध्यायजी कहते हैं कि—शास्त्र के पुराने वाक्यों में से युक्तिसंगत नया अर्थ निकालने में वे ही लोग डर सकते हैं जो तर्कशास्त्र से अनभिज्ञ हैं। तर्कशास्त्र के जानकार तो अपनी प्रज्ञा से नए-नए अर्थ प्रकाशित करने में कभी नहीं हिचकिचाते। इस बात का उदाहरण सन्मति का दूसरा काण्ड ही है। जिसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में क्रम, यौगपद्य तथा अभेद पक्ष का खण्डन-मण्डन करनेवाली चर्चा है। जिस चर्चा में पुराने एक ही सूत्रवाक्यों में से हर एक पक्षकार ने अपने अपने अभिप्रेत पक्ष को सिद्ध करने के लिए तर्क द्वारा जुदे-जुदे अर्थ फलित किये हैं।

२—मल्लवादी जो एक ही समय में ज्ञान-दर्शन दो उपयोग मानते हैं उन्होंने भेदस्पर्शी व्यवहार नय का आश्रय लिया है। अर्थात् मल्लवादी का यौगपद्य वाद व्यवहार नय के अभिप्राय से समझना चाहिए। पूज्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जो क्रम वाद के समर्थक हैं वे कारण और फल की सीमा में शुद्ध ऋजुसूत्र नय का प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् वे कारण और फलरूप से ज्ञान-दर्शन का भेद तो व्यवहारनयसिद्ध मानते ही हैं पर उस भेद से आगे बढ़ कर वे ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से मात्र एकसमयावच्छिन्न वस्तु का अस्तित्व मान कर ज्ञान और दर्शन को भिन्न-भिन्न समयभावी कार्यकारणरूप से क्रमवर्ती प्रतिपादित करते हैं। सिद्धसेन सूरि जो अभेद पक्ष के समर्थक हैं उन्होंने संग्रह नय का आश्रय किया है जो कि कार्य-कारण या अन्य विषयक भेदों के उच्छेद में ही प्रवण है। इसलिए ये तीनों सूरिपक्ष नयभेद की अपेक्षा से परस्पर विरुद्ध नहीं हैं।

३—केवल पर्याय उत्पन्न होकर कभी विच्छिन्न नहीं होता। अतएव उस सादि अनंत पर्याय के साथ उसकी उपादानभूत चैतन्यशक्ति का अभेद मानकर ही चैतन्य को शास्त्र में सादि-अनंत कहा है। और उसे जो क्रमवर्ती या सादिसान्त कहा है, सो केवल पर्याय के भिन्न-भिन्न समयावच्छिन्न अंशों के साथ चैतन्य की अभेद विवक्षा से। जब केवलपर्याय एक मान लिया तब तद्गत सूक्ष्म भेद विवक्षित नहीं हैं। और जब कालकृत सूक्ष्म अंश विवक्षित हैं तब उस केवलपर्याय की अखण्डता गौण है।

४—भिन्न भिन्न क्षणभावी अज्ञान के नाश और ज्ञानों की उत्पत्ति के भेद के आधार पर प्रचलित ऐसे भिन्न-भिन्न नयाश्रित अनेक पक्ष शास्त्र में जैसे सुने जाते हैं वैसे ही अगर तीनों आचार्यों के पक्षों में नयाश्रित मतभेद हो तो क्या

आश्चर्य है। एक ही विषय में जुदे-जुदे विचारों की समान रूप से प्रधानता जो दूर की वस्तु है वह कहाँ दृष्टिगोचर होती है ?

इस जगह उपाध्यायजी ने शास्त्रप्रसिद्ध उन नयाश्रित पक्षभेदों की सूचना की है जो अज्ञाननाश और ज्ञानोत्पत्ति का समय जुदा-जुदा मानकर तथा एक मानकर प्रचलित हैं। एक पक्ष तो यही कहता है कि आवरण का नाश और ज्ञान की उत्पत्ति ये दोनों, हैं तो जुदा पर उत्पन्न होते हैं एक ही समय में। जब कि दूसरा पक्ष कहता है कि दोनों की उत्पत्ति समयभेद से होती है। प्रथम अज्ञान-नाश और पीछे ज्ञानोत्पत्ति। तीसरा पक्ष कहता है कि अज्ञान का नाश और ज्ञान की उत्पत्ति ये कोई जुदे-जुदे भाव नहीं हैं एक ही वस्तु के बोधक अभावप्रधान और भावप्रधान दो भिन्न शब्द मात्र हैं।

५—जिस जैन शास्त्र ने अनेकान्त के बल से सत्त्व और असत्त्व जैसे परस्पर विरुद्ध धर्मों का समन्वय किया है और जिसने विशेष्य को कभी विशेषण और विशेषण को कभी विशेष्य मानने का कामचार स्वीकार किया है, वह जैन शास्त्र ज्ञान के बारे में प्रचलित तीनों पक्षों की गौण प्रधान-भाव से व्यवस्था करे तो वह संगत ही है।

६—स्वसमय में भी जो अनेकान्त ज्ञान है वह प्रमाण और नय उभय द्वारा सिद्ध है। अनेकान्त में उस-उस नय का अपने-अपने विषय में आग्रह अवश्य रहता है पर दूसरे नय के विषय में तटस्थता भी रहती ही है। यही अनेकान्त की खूबी है। ऐसा अनेकान्त कभी सुगुरुओं की परंपरा को मिथ्या नहीं ठहराता। विशाल बुद्धि वाले विद्वान् सद्दर्शन उसी को कहते हैं जिसमें सामञ्जस्य को स्थान हो।

७—खल पुरुष हतबुद्धि होने के कारण नयों का रहस्य तो कुछ भी नहीं जानते परंतु उल्टा वे विद्वानों के विभिन्न पक्षों में विरोध बतलाते हैं। ये खल सचमुच चन्द्र और सूर्य तथा प्रकृति और विकृति का व्यत्यय करने वाले हैं। अर्थात् वे रात को दिन तथा दिन को रात एवं कारण को कार्य तथा कार्य को कारण कहने में भी नहीं हिचकिचाते। दुःख की बात है कि वे खल भी गुण की खोज नहीं सकते।

८—प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु ग्रन्थ के असाधारण स्वाद के सामने कल्पवृक्ष का फलस्वाद क्या चीज़ है तथा इस ज्ञानबिन्दु के आस्वाद के सामने द्राक्षास्वाद, अमृतवर्षा, और स्त्रीसंपत्ति आदि के आनंद की रमणीयता भी क्या चीज है ?

ई० १९४०] [ज्ञानबिन्दु

———

'जैन तर्कभाषा'

ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रंथ जैन तर्कभाषा के प्रणेता उपाध्याय श्रीमान् यशोविजय हैं। उनके जीवन के बारे में सत्य, अर्ध सत्य अनेक बातें प्रचलित थीं, पर जब से उन्हीं के समकालीन गणी कान्तिविजयजी का बनाया 'सुजशवेली भास' पूरा प्राप्त हुआ, जो बिलकुल विश्वसनीय है, तब से उनके जीवन की खरी-खरी बातें बिलकुल स्पष्ट हो गई। वह 'भास' तत्कालीन गुजराती भाषा में पद्य बंध है, जिसका आधुनिक गुजराती में सटिप्पण सार-विवेचन प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत मोहनलाल द० देसाई ने लिखा है। उसके आधार से यहाँ उपाध्यायजी का जीवन संक्षेप में दिया जाता है।

उपाध्यायजी का जन्मस्थान गुजरात में कलोल [बी. बी. एण्ड सी. आई. रेलवे] के पास 'कनोडु' नामक गांव है, जो अभी मौजूद है। उस गांव में नारायण नाम का व्यापारी था जिसकी धर्मपत्नी सोभागदे थी। उस दम्पती के जसवंत और पद्मसिंह दो कुमार थे। कभी अकबर प्रतिबोधक प्रसिद्ध जैनाचार्य हीरविजयसूरि की शिष्यपरंपरा में होने वाले पंडितवर्य श्रीनयविजय पाटण के समीपवर्ती 'कुणगेर' नामक गांव से विहार करते हुए उस 'कनोडु' नामक गांव में पधारे। उनके प्रतिबोध से उक्त दोनों कुमार अपने माता-पिता की सम्मति से उनके साथ हो लिये और दोनों ने पाटण में पं० नयविजयजी के पास ही वि० सं० १६८८ में दीक्षा ली, और उसी साल श्रीविजयदेव सूरि के हाथ से उनकी बड़ी दीक्षा भी हुई। ठीक ज्ञात् नहीं कि दीक्षा के समय उनकी उम्र क्या होगी, पर संभवतः वे दस-बारह वर्ष से कम उम्र के न रहे होंगे। दीक्षा के समय 'जसवंत' का 'यशोविजय' और 'पद्मसिंह' का 'पद्मविजय' नाम रखा गया। उसी पद्मविजय को उपाध्यायजी अपनी कृति के अंत में सहोदर रूप से स्मरण करते हैं।

सं० १६९९ में अहमदाबाद शहर में संघसमक्ष पं० यशोविजयजी ने आठ अवधान किये। इससे प्रभावित होकर वहाँ के एक धनजी सूरा नामक प्रसिद्ध व्यापारी ने गुरु श्रीनयविजयजी को विनति की कि पण्डित यशोविजयजी को

काशी जैसे स्थान में पढ़ाकर दूसरा हेमचन्द्र तैयार कीजिए। उस सेठ ने इसके वास्ते दो हजार चांदी के दीनार खर्च करना मंजूर किया और हुंडी लिख दी। गुरु नयविजयजी शिष्य यशोविजय आदि सहित काशी में आए और उन्हें वहां के प्रसिद्ध किसी भट्टाचार्य के पास न्याय-आदि दर्शनों का तीन वर्ष तक दक्षिणा-दान पूर्वक अभ्यास कराया। काशी में ही बाद में, किसी विद्वान् पर विजय पाने के बाद पं० यशोविजयजी को 'न्यायविशारद' की पदवी मिली। उन्हें 'न्यायाचार्य' पद भी मिला था, ऐसी प्रसिद्ध रही। पर इसका निर्देश 'सुजशवेली भास' में नहीं है।

काशी के बाद उन्होंने आगरा में रहकर चार वर्ष तक न्यायशास्त्र का विशेष अभ्यास व चिंतन किया। इसके बाद वे अहमदाबाद पहुँचे, जहाँ उन्होंने औरंगजेब के महोबत खां नामक गुजरात के सूबे के अध्यक्ष के समक्ष अठारह अवधान किये। इस विद्वत्ता और कुशलता से आकृष्ट होकर सभी ने पं० यशोविजयजी को 'उपाध्याय' पद के योग्य समझा। श्री विजयदेव सूरि के शिष्य श्रीविजय-प्रभ सूरि ने उन्हें सं० १७१८ में वाचक—उपाध्याय पद समर्पण किया।

वि० सं० १७४३ में डभोई गांव, जो बड़ौदा स्टेट में अभी मौजूद है, उसमें उपाध्यायजी का स्वर्गवास हुआ, जहाँ उनकी पादुका वि० सं० १७४५ में प्रतिष्ठित की हुई अभी विद्यमान है।

उपाध्यायजी के शिष्य-परिवार का उल्लेख 'सुजश वेली' में तो नहीं है, पर उनके तत्त्व विजय आदि शिष्य-प्रशिष्यों का पता अन्य साधनों से चलता है, जिसके वास्ते 'जैन गुर्जर कविओ' भाग २, पृष्ठ २७ देखिए।

उपाध्यायजी के बाह्य जीवन की स्थूल घटनाओं का जो संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया है, उनमें दो घटनाएँ खास मार्के की हैं जिनके कारण उपाध्यायजी के आंतरिक जीवन का स्रोत यहां तक अन्तर्मुख होकर विकसित हुआ, कि जिसके बल पर वे भारतीय साहित्य में और खासकर जैन परंपरा में अमर हो गए। उनमें से पहली घटना अभ्यास के वास्ते काशी जाने की है, और दूसरी न्याय आदि दर्शनों का मौलिक अभ्यास करने की है। उपाध्यायजी कितने ही बुद्धि या प्रतिभासंपन्न क्यों न होते, उनके वास्ते गुजरात आदि में अध्ययन की सामग्री कितनी ही क्यों न जुटाई जाती, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि वे अगर काशी में न आते, तो उनका शास्त्रीय व दार्शनिक ज्ञान, जैसा उनके ग्रन्थों में पाया जाता है, संभव न होता। काशी में जाकर भी वे उस समय तक विकसित न्यायशास्त्र—खास करके नवीन न्याय-शास्त्र का पूरे बल से अध्ययन न करते तो उन्होंने जैन परंपरा को

और तद्द्वारा भारतीय साहित्य को जैन विद्वान् की हैसियत से जो अपूर्व भेंट दी है, वह कभी संभव न होती।

दसवीं शताब्दी से नवीन न्याय के विकास के साथ ही समग्र वैदिक दर्शनों में ही नहीं, बल्कि समग्र वैदिक साहित्य में सूक्ष्म विश्लेषण और तर्क की एक नई दिशा प्रारंभ हुई, और उत्तरोत्तर अधिक से अधिक विकास होता चला जो अभी तक हो ही रहा है। इस नवीन न्याय कृत नव्य युग में उपाध्यायजी के पहिले भी अनेक श्वेताम्बर दिगम्बर विद्वान् हुए, जो बुद्धि-प्रतिभा संपन्न होने के अलावा जीवन भर शास्त्रयोगी भी रहे। फिर भी हम देखते हैं कि उपाध्यायजी के पूर्ववर्ती किसी जैन विद्वान् ने जैन मन्तव्यों का उतना सतर्क दार्शनिक विश्लेषण व प्रतिपादन नहीं किया, जितना उपाध्यायजी ने किया है। इस अंतर का कारण उपाध्यायजी के काशीगमन में और नव्य न्यायशास्त्र के गंभीर अध्ययन में ही है। नवीन न्यायशास्त्र के अभ्यास से और तन्मूलक सभी तत्कालीन वैदिक दर्शनों के अभ्यास से उपाध्यायजी का सहज बुद्धि-प्रतिभा संस्कार इतना विकसित और समृद्ध हुआ कि फिर उसमें से अनेक शास्त्रों का निर्माण होने लगा। उपाध्यायजी के ग्रंथों के निर्माण का निश्चित स्थान व समय देना अभी संभव नहीं। फिर भी इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अन्य जैन साधुओं की तरह मन्दिर निर्माण, मूर्ति प्रतिष्ठा, संघ निकालना आदि बहिर्मुख धर्म कार्यों में अपना मनोयोग न लगाकर अपना सारा जीवन जहां वे गये और जहां वे रहे, वहीं एक मात्र शास्त्रों के चिन्तन तथा न्याय शास्त्रों के निर्माण में लगा दिया।

उपाध्यायजी के ग्रन्थों की सब प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। कुछ तो उपलब्ध हैं, पर अधूरी। कुछ बिलकुल अनुपलब्ध हैं। फिर भी जो पूर्ण उपलब्ध हैं, वे ही किसी प्रखर बुद्धिशाली और प्रबल पुरुषार्थी के आजीवन अभ्यास के वास्ते पर्याप्त हैं। उनकी लभ्य, अलभ्य और अपूर्ण लभ्य कृतियों की अभी तक की यादी देखने से ही यहां संक्षेप में किया जानेवाला उन कृतियों का सामान्य वर्गीकरण व मूल्यांकन पाठकों के ध्यान में आ सकेगा।

उपाध्यायजी की कृतियां संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी-मारवाड़ी इन चार भाषाओं में गद्यबद्ध, पद्यबद्ध और गद्य-पद्यबद्ध हैं। दार्शनिक ज्ञान का असली व व्यापक खजाना संस्कृत भाषा में होने से तथा उसके द्वारा ही सकल देश के सभी विद्वानों के निकट अपने विचार उपस्थित करने का सम्भव होने से उपाध्यायजी ने संस्कृत में तो लिखा ही पर उन्होंने अपनी जैन परम्परा की मूलभूत प्राकृत भाषा को गौण न समझा। इसी से उन्होंने प्राकृत में भी रचनाएँ की। संस्कृत-प्राकृत नहीं जाननेवाले और कम जानने वालों तक अपने विचार पहुँचा-

ने के लिये उन्होंने तत्कालीन गुजराती भाषा में भी विविध रचनायें की। मौका पाकर कभी उन्होंने हिन्दी मारवाड़ी का भी आश्रय लिया।

विषयदृष्टि से उपाध्यायजी का साहित्य सामान्य रूप से आगमिक, तार्किक दो प्रकार का होने पर भी विशेष रूप से अनेक विषयावलंबी है। उन्होंने कर्म-तत्त्व, आचार, चरित्र आदि अनेक आगमिक विषयों पर आगमिक शैली से भी लिखा है और प्रमाण, प्रमेय, नय, मंगल, मुक्ति, आत्मा, योग आदि अनेक तार्किक विषयों पर भी तार्किक शैली में खासकर नव्य तार्किक शैली से लिखा है। व्याकरण, काव्य, छंद, अलंकार, दर्शन आदि सभी तत्काल प्रसिद्ध शास्त्रीय विषयों पर उन्होंने कुछ-न-कुछ, अति महत्त्व का लिखा है।

शैली की दृष्टि से उनकी कृतियाँ खण्डनात्मक भी हैं, प्रतिपदनात्मक भी हैं और समन्वयात्मक भी। जब वे खंडन करते हैं तब पूरी गहराई तक पहुँचते हैं। प्रतिपादन उनका सूक्ष्म और विशद है। वे जब योगशास्त्र और गीता आदि के तत्त्वों का जैन मन्तव्य के साथ समन्वय करते हैं तब उनके गंभीर चिंतन का और आध्यात्मिक भाव का पता चलता है। उनकी अनेक कृतियां किसी अन्य के ग्रन्थ की व्याख्या न होकर मूल, टीका या दोनों रूप से स्वतन्त्र ही हैं, जब कि अनेक कृतियां प्रसिद्ध पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों की व्याख्यारूप हैं। उपाध्यायजी थे पक्के जैन और श्वेताम्बर फिर भी विद्याविषयक उनकी दृष्टि इतनी विशाल थी कि वह अपने संप्रदायमात्र में समा न सकी, अतएव उन्होंने पातंजल योगसूत्र के ऊपर भी लिखा और अपनी तीव्र समालोचना की लक्ष्य—दिगम्बर परंपरा के सूक्ष्म प्रज्ञ तार्किक प्रवर विद्यानन्द के कठिनतर अष्टसहस्री नामक ग्रंथ के ऊपर कठिनतम व्याख्या भी लिखी।

गुजराती और हिन्दी-मारवाड़ी में लिखी हुई उनकी अनेक कृतियों का थोड़ा बहुत वाचन, पठन व प्रचार पहिले से ही रहा है, परन्तु उनकी संस्कृत प्राकृत कृतियों के अध्ययन-अध्यापन का नामोनिशान भी उनके जीवन काल से लेकर ३० वर्ष पहले तक देखने में नहीं आया। यही सबब है कि ढाई सौ वर्ष जितने कम और खास उपद्रवों से मुक्त इस सुरक्षित समय में भी उनकी सब कृतियां सुरक्षित न रहीं। पठन-पाठन न होने से उनकी कृतियों के ऊपर टीका टिप्पणी लिखे जाने का तो संभव रहा ही नहीं, पर उनकी नकलें भी ठीक-ठीक प्रमाण में न होने पाई। कुछ कृतियां तो ऐसी भी मिल रही हैं, जिनकी सिर्फ एक-एक प्रति रही। संभव है ऐसी ही एक-एक नकल वाली अनेक कृतियां या तो लुप्त हो गईं या किसी अज्ञात स्थानों में तितर बितर हो गई हों। जो कुछ हो, पर उपाध्यायजी का जितना साहित्य लभ्य है, उतने मात्र का ठीक-ठीक पूरी तैयारी के साथ अध्ययन

किया जाए, तो जैन परंपरा के चारों अनुयोग तथा आगमिक, तार्किक कोई विषय अज्ञात न रहेंगे।

उदयन और गंगेश जैसे मैथिल तार्किक पुंगवों के द्वारा जो नव्य तर्कशास्त्र का बीजारोपण व विकास प्रारंभ हुआ, और जिसका व्यापक प्रभाव व्याकरण, साहित्य, छंद, विविध दर्शन और धर्मशास्त्र पर पड़ा, और खूब फैला उस विकास से वंचित सिर्फ दो सम्प्रदाय का साहित्य रहा। जिनमें से बौद्ध साहित्य की उस त्रुटि की पूर्ति का तो संभव ही न रहा था, क्योंकि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के बाद भारतवर्ष में बौद्ध-विद्वानों की परंपरा नामगात्र को भी न रही, इसलिए वह त्रुटि इतनी नहीं अखरती जितनी जैन साहित्य की वह त्रुटि। क्योंकि जैन संप्रदाय के सैकड़ों ही नहीं, वल्कि हजारों साधन संपन्न त्यागी व कुछ गृहस्थ भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में मौजूद रहे, जिनका मुख्य व जीवनव्यापी ध्येय शास्त्र चिंतन के सिवाय और कुछ कहा ही नहीं जा सकता। इस जैन साहित्य की कमी को दूर करने और अकेले हाथ से दूर करने का उज्जवल व स्थायी यश अगर किसी जैन विद्वान् को है, तो वह उपाध्याय यशोविजयजी को ही है।

ग्रन्थ

प्रस्तुत ग्रन्थ के जैन तर्कभाषा इस नामकरण का तथा उसे रचने की कामना उत्पन्न होने का, उसके विभाग, प्रतिपाद्य विषय का चुनाव आदि का बोधप्रद व मनोरञ्जक इतिहास है जो अवश्य ज्ञातव्य है।

जहाँ तक मालूम है इससे पता चलता है कि प्राचीन समय में तर्कप्रधान दर्शन ग्रन्थों के चाहे वे वैदिक हों, बौद्ध हों या जैन हों — नाम न्याय पद युक्त हुआ करते थे। जैसे कि न्यायसूत्र, न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायसार, न्यायमंजरी, न्यायमुख, न्यायावतार आदि। अगर प्रो० ट्यूचीका रखा हुआ 'तर्कशास्त्र'[१] यह नाम असल में सच्चा ही है या प्रमाण समुच्चय वृत्ति में निर्दिष्ट 'तर्कशास्त्र' नाम सही है, तो उस प्राचीन समय में पाये जाने वाले न्यायशब्द युक्त नामों की परम्परा का यह एक ही अपवाद है जिसमें कि न्याय शब्द के बदले तर्कशब्द हो। ऐसी पम्परा के होते हुए भी न्याय शब्द के स्थान में 'तर्क' शब्द लगाकर तर्क भाषा नाम रखनेवाले और उस नाम से धर्मकीर्तिकृत न्यायविन्दु के पदार्थों पर ही एक प्रकरण लिखनेवाले बौद्ध विद्वान् मोक्षाकर हैं जो बारहवीं शताब्दी के माने जाते हैं। मोक्षाकर की इस तर्कभाषा कृति का प्रभाव वैदिक विद्वान् केशव मिश्र पर पड़ा हुआ जान पड़ता है, जिससे उन्होंने

---

१ Pre-Dignaga Budhist logic गत 'तर्कशास्त्र' नामक ग्रंथ।

वैदिक परंपरानुसारी अक्षपाद के न्याय-सूत्र का अवलंबन लेकर अपना तर्कभाषा ग्रंथ तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में रचा। मोक्षाकर का जगत्तल बौद्ध विहार केशव-मिश्र की मिथिला से बहुत दूर न होगा ऐसा जान पड़ता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने बौद्ध विद्वान् की दोनों तर्कभाषाओं को देखा, तब उनकी भी इच्छा हुई कि एक ऐसी तर्कभाषा लिखी जानी चाहिए, जिसमें जैन मन्तव्यों का वर्णन हो। इसी इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ रचा और उसका केवल तर्क भाषा यह नाम न रख कर 'जैन तर्कभाषा' ऐसा नाम रखा। इसमें कोई संदेह नहीं, कि उपाध्यायजी की जैन तर्कभाषा रचने की कल्पना का मूल उक्त दो तर्क भाषाओं के अवलोकन में है। मोक्षाकरीय तर्कभाषा की प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति पाटण के भण्डार में है जिससे जाना जा सकता है कि मोक्षा-करीय तर्कभाषा का जैन भंडार में संग्रह तो उपाध्यायजी के पहिले ही हुआ होगा पर केशवमिश्रीय तर्कभाषा के जैन भंडार में संगृहीत होने के विषय में कुछ भार पूर्वक नहीं कहा जा सकता। संभव है जैन भण्डार में उसका संग्रह सब से पहले उपाध्यायजी ने ही किया हो, क्योंकि इसकी भी विविध टीकायुक्त अनेक प्रतियाँ पाटण आदि अनेक स्थानों के जैन साहित्य संग्रह में हैं।

मोक्षाकरीय तर्क भाषा तीन परिच्छेदों में विभक्त है, जैसा कि उसका आधार भूत न्यायबिंदु भी है। केशवमिश्रीय तर्क भाषा में ऐसे परिच्छेद विभाग नहीं हैं। अतएव उपाध्यायजी की जैन तर्क भाषा के तीन परिच्छेद करने की कल्पना का आधार मोक्षाकरीय तर्क भाषा है ऐसा कहना असंगत न होगा। जैन तर्क भाषा को रचने की, उसके नामकरण की और उसके विभाग की कल्पना का इतिहास थोड़ा बहुत ज्ञात हुआ। पर अब प्रश्न यह है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ का जो प्रति-पाद्य विषय चुना और उसे प्रत्येक परिच्छेद में विभाजित किया, उसका आधार कोई उनके सामने था या उन्होंने अपने आप ही विषय की पसंदगी की और उस-का परिच्छेद अनुसार विभाजन भी किया? इस प्रश्न का उत्तर हमें भट्टारक अक-लंक के लघीयस्त्रय के अवलोकन से मिलता है। उनका लघीयस्त्रय जो मूल पद्य-बद्ध है और स्वोपज्ञविवरणयुक्त है, उसके मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय तीन हैं, प्रमाण, नय और निक्षेप। उन्हीं तीन विषयों को लेकर न्याय-प्रस्थापक अकलंक ने तीन विभाग में लघीयस्त्रय को रचा जो तीन प्रवेशों में विभाजित है। बौद्ध-वैदिक दो तर्क भाषाओं के अनुकरण रूप से जैन तर्कभाषा बनाने की उपाध्यायजी को इच्छा हुई थी ही, पर उन्हें प्रतिपाद्य विषय की पसंदगी तथा उसके विभाग के वास्ते अकलंक की कृति मिल गई जिससे उनकी ग्रन्थ निर्माण योजना ठीक बन गई। उपाध्यायजी ने देखा कि लघीयस्त्रय में प्रमाण, नय और निक्षेप का

वर्णन है, पर वह प्राचीन होने से विकसित युग के वास्ते पर्याप्त नहीं है। इसी तरह शायद उन्होंने यह भी सोचा हो कि दिगम्बराचार्य कृत लघीयस्त्रय जैसा, पर नवयुग के अनुकूल विशेषों से युक्त श्वेताम्बर परंपरा का भी एक ग्रंथ होना चाहिए। इसी इच्छा से प्रेरित होकर नामकरण आदि में मोक्षाकर आदि का अनुसरण करते हुए भी उन्होंने विषय की पसंदगी में तथा उसके विभाजन में जैनाचार्य अकलंक का ही अनुसरण किया।

उपाध्यायजी के पूर्ववर्ती श्वेताम्बर-दिगम्बर अनेक आचार्यों के तर्क विषयक सूत्र व प्रकरण ग्रन्थ हैं पर अकलंक के लघीयस्त्रय के सिवाय ऐसा कोई तर्क विषयक ग्रंथ नहीं है, जिसमें प्रमाण, नय और निक्षेप तीनों का तार्किक शैली से एकसाथ निरूपण हो। अतएव उपाध्यायजी की विषय-पसंदगी का आधार लघीयस्त्रय ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। इसके सिवाय उपाध्यायजी की प्रस्तुत कृति में लघीयस्त्रय के अनेक वाक्य ज्यों के त्यों है जो उसके आधारत्व के अनुमान को और भी पुष्ट करते हैं।

बाह्यस्वरूप का थोड़ासा इतिहास जानने के बाद आंतरिक स्वरूप का भी ऐतिहासिक वर्णन आवश्यक है। जैन तर्क भाषा के विषयनिरूपण के मुख्य आधार-भूत दो ग्रंथ हैं—सटीक विशेषावश्यक भाष्य और सटीक प्रमाणनयतत्वालोक। इसी तरह इसके निरूपण में मुख्यतया आधार भूत दो न्याय ग्रंथ भी हैं—कुसुमांजलि और चिंतामणि। इसके अलावा विषय निरूपण में दिगम्बरीय न्यायदीपिका का भी थोड़ा सा साक्षात् उपयोग अवश्य हुआ है। जैन तर्क भाषा के नय निरूपण आदि के साथ लघीयस्त्रय और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि का शब्दशः सादृश्य अधिक होने से यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इसमें लघीयस्त्रय और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का साक्षात् उपयोग क्यों नहीं मानते। पर इसका जवाब यह है कि उपाध्यायजी ने जैन तर्क भाषा के विषय निरूपण में वस्तुतः सटीक प्रमाणनयतत्वालोक का तार्किक ग्रंथ रूप से साक्षात् उपयोग किया है। लघीयस्त्रय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि दिगम्बरीय ग्रन्थों के आधार से सटीक प्रमाणनयतत्त्वालोक की रचना की जाने के कारण जैन तर्क भाषा के साथ लघीयस्त्रय और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का शब्दसादृश्य सटीक प्रमाणनयतत्त्वालोक के द्वारा ही आया है, साक्षात् नहीं।

मोक्षाकर ने धर्मकीर्ति के न्यायबिंदु को आधारभूत रखकर उसके कतिपय सूत्रों की व्याख्यारूप में थोड़ा बहुत अन्य अन्य शास्त्रार्थीय विषय पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थों में से लेकर अपनी नातिसंक्षिप्त नातिविस्तृत ऐसी पठनोपयोगी तर्क भाषा लिखी। केशवमिश्र ने भी अक्षपाद के प्रथम सूत्र को आधार रखकर उसके निरूपण

में संक्षेप रूप से नैयायिक सम्मत सोलह पदार्थ और वैशेषिक सम्मत सात पदार्थों का विवेचन किया। दोनों ने अपने-अपने मंतव्य को सिद्ध करते हुए तत्कालीन विरोधी मन्तव्यों का भी जहां-तहां खण्डन किया है। उपाध्यायजी ने भी इसी सरणी का अवलंबन करके जैन तर्क भाषा रची। उन्होंने मुख्यतया प्रमाणनय-तत्त्वालोक के सूत्रों को ही जहां संभव है आधार बनाकर उनकी व्याख्या अपने ढंग से की है। व्याख्या में खासकर पंचज्ञान निरूपण के प्रसंग में सटीक विशेषावश्यक भाष्य का ही अवलंबन है। बाकी के प्रमाण और नयनिरूपण में प्रमाण-नयतत्त्वालोक की व्याख्या—रत्नाकर का अवलंबन है अथवा यों कहना चाहिए कि पंचज्ञान और निक्षेप की चर्चा तो विशेषावश्यक भाष्य और उसकी वृत्ति का संक्षेपमात्र है और परोक्षप्रमाणों की तथा नयों की चर्चा प्रमाणनयतत्त्वालोक की व्याख्या—रत्नाकर का संक्षेप है। उपाध्यायजी जैसे प्राचीन नवीन सकल दर्शन के बहुश्रुत विद्वान् की कृति में कितना ही संक्षेप क्यों न हो, पर उसमें पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष रूप से किंवा वस्तु विश्लेषण रूप से शास्त्रीय विचारों के अनेक रंग पूरे जाने के कारण यह संक्षिप्त ग्रन्थ भी एक महत्त्व की कृति बन गया है। वस्तुतः जैनतर्क भाषा का यह आगमिक तथा तार्किक पूर्ववर्ती जैन प्रमेयों का किसी हद तक नव्यन्याय की परिभाषा मे विश्लेषण है तथा उनका एक जगह संग्रह रूप से संक्षिप्त पर विशद वर्णन मात्र है।

प्रमाण और नय की विचार परंपरा श्वेतांबरीय ग्रंथों में समान है, पर निक्षेपों की चर्चा परम्परा उतनी समान नहीं। लघीयस्त्रय में जो निक्षेप निरूपण है और उसकी विस्तृत व्याख्या न्यायकुमुद चन्द्र में जो वर्णन है, वह विशेषावश्यक भाष्य की निक्षेप चर्चा से इतना भिन्न अवश्य है जिससे यह कहा जा सके कि तत्त्व में भेद न होने पर भी निक्षेपों की चर्चा दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परम्परा में किसी अंश में भिन्न रूप से पुष्ट हुई जैसा कि जीवकांड और चौथे कर्मग्रन्थ के विषय के बारे में कहा जा सकता है। उपाध्यायजी ने जैन तर्क भाषा के बाह्य रूप की रचना में लघीयस्त्रय का अवलंबन किया जान पड़ता है, फिर भी उन्होंने अपनी निक्षेप चर्चा तो पूर्णतया विशेषावश्यक भाष्य के आधार से ही की है।

ई० १९३९] [जैन तर्कभाषा



'न्यायकुमुदचन्द्र' का प्राक्कथन

यदि श्रीमान् प्रेमीजी का अनुरोध न होता जिन्हें कि मैं अपने इने-गिने दिगम्बर मित्रों में सबसे अधिक उदार विचारवाले, साम्प्रदायिक होते हुए भी असाम्प्रदायिक दृष्टिवाले तथा सच्ची लगन से दिगम्बरीय साहित्य का उत्कर्ष चाहने वाले समझता हूँ, और यदि न्याय कुमुदचन्द्र के प्रकाशन के साथ थोड़ा भी मेरा संबन्ध न होता, तो मैं इस वक्त शायद ही कुछ लिखता।

दिगम्बर-परंपरा के साथ मेरा तीस वर्ष पहले अध्ययन के समय से ही संबन्ध शुरू हुआ, जो बाह्य-आभ्यन्तर दोनों दृष्टि से उत्तरोत्तर विस्तृत एवं घनिष्ठ होता गया है। इतने लम्बे परिचय में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के संबन्ध में आदर एवं अति तटस्थता के साथ जहाँ तक हो सका मैंने कुछ अवलोकन एवं चिंतन किया है। मुझको दिगम्बरीय परम्परा की मध्यकालीन तथा उत्तरकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति में एक विरोध नज़र आया। नमस्करणीय स्वामी समंतभद्र से लेकर वादिराज तक की साहित्यिक प्रवृत्ति देखिए—और इसके बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति देखिए। दोनों का मिलान करने से अनेक विचार आते हैं। समंतभद्र, अकलङ्क आदि विद्वद्रूप आचार्य चाहे बनवासी रहे हों, या नगरवासी फिर भी उन सबों के साहित्य को देखकर एक बात निर्विवाद रूप से माननी पड़ती है कि उन सबों की साहित्यिक मनोवृत्ति बहुत ही उदार एवं संग्रहिणी रही। ऐसा न होता तो वे बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा की सब दार्शनिक शाखाओं के सुलभ दुर्लभ साहित्य का न तो अध्ययन ही करते और न उसके तत्त्वों पर अनुकूल-प्रतिकूल समालोचना-योग्य गम्भीर चिन्तन करके अपना साहित्य समृद्धतर बना पाते। यह कल्पना करना निराधार नहीं कि उन समर्थ आचार्यों ने अपने त्याग व दिगम्बरत्व को कायम रखने की चेष्टा करते हुए भी अपने आस-पास ऐसे पुस्तक सं ह कि.ये-कराये कि जिनमें अपने सम्प्रदाय के समग्र साहित्य के अलावा बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा के महत्त्वपूर्ण छोटे-बड़े सभी ग्रंथों का संचय करने का भरसक प्रयत्न हुआ। वे ऐसे संचय मात्र से ही संतुष्ट नहीं रहते थे, पर उनके अध्ययन-अध्यापन कार्य को अपना जीवन क्रम बनाये हुए थे। इसके

बिना उनके उपलभ्य ग्रंथों में देखा जानेवाला विचार-वैशद्य व दार्शनिक पृथक्करण संभव नहीं हो सकता। वे उस विशालराशि तत्कालीन भारतीय साहित्य के चिंतन, मनन रूप दोहन में से नवनीत जैसी अपनी कृतियों को बिना बनाये भी संतुष्ट न होते थे। यह स्थिति मध्यकाल की रही। इसके बाद के समय में हम दूसरी ही मनोवृत्ति पाते हैं। करीब बारहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के दिगम्बरीय साहित्य की प्रवृत्ति देखने से जान पड़ता है कि इस युग में वह मनोवृत्ति बदल गई। अगर ऐसा न होता तो कोई कारण न था कि बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक जहाँ न्याय वेदान्त मीमांसा, अलंकार, व्याकरण आदि विषयक साहित्य का भारतवर्ष में इतना अधिक, इतना व्यापक और इतना सूक्ष्म विचार व विकास हुआ, वहाँ दिगम्बर परम्परा इससे बिलकुल अछूती सी रहती। श्रीहर्ष, गंगेश, पक्षधर, मधुसूदन, अप्पदीक्षित, जगन्नाथ आदि जैसे नवयुग प्रस्थापक ब्राह्मण विद्वानों के साहित्य से भरे हुए इस युग में दिगम्बर साहित्य का इससे बिलकुल अछूता रहना अपने पूर्वाचार्यों की मनोवृत्ति के विरुद्ध मनोवृत्ति का सबूत है। अगर वादिराज के बाद भी दिगम्बर परम्परा की साहित्यिक मनोवृत्ति पूर्ववत् रहती तो उसका साहित्य कुछ और ही होता। कारण कुछ भी हो पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि पिछले पण्डितों और भट्टारकों की मनोवृत्ति ही बदल गई और उसका प्रभाव सारी परम्परा पर पड़ा जो अब-तक स्पष्ट देखा जाता है और जिसके चिह्न उपलभ्य प्रायः सभी भण्डारों, वर्तमान पाठशालाओं की अध्ययन-अध्यापन प्रणाली और पण्डित मण्डली की विचार व कार्यशैली में देखे जाते हैं।

अभी तक मेरे देखने सुनने में ऐसा एक भी पुराना दिगंबर भण्डार या आधुनिक पुस्तकालय नहीं आया जिसमें बौद्ध, ब्राह्मण और श्वेतांबर परम्परा का समग्र साहित्य या अधिक महत्त्व का मुख्य साहित्य संगृहीत हो। मैंने दिगंबर परम्परा की एक भी ऐसी संस्था नहीं देखी या सुनी कि जिसमें समग्र दर्शनों का आमूल अध्ययन-चिंतन होता हो या उसके प्रकाशित किये हुए बहुमूल्य प्राचीन ग्रंथों का संस्करण या अनुवाद ऐसा कोई नहीं देखा जिससे यह विदित हो कि उसके सम्पादकों या अनुवादकों ने उतनी विशालता व तटस्थता से उन मूल ग्रन्थों के लेखकों की भाँति नहीं तो उनका शतांश या सहस्रांश भी श्रम किया हो।

एक तरफ से परंपरा में पाई जाने वाली उदात्त शास्त्र भक्ति, आर्थिक सहूलियत और बुद्धिशाली पंडितों की बड़ी तादाद के साथ जब आधुनिक युग के सुभीते का विचार करता हूँ, तथा दूसरी भारतवर्षीय परंपराओं की साहित्यिक

उपासना को देखता हूँ और दूसरी तरफ दिगम्बरीय साहित्य क्षेत्र का विचार करता हूँ तब कम से कम मुझको तो कोई संदेह ही नहीं रहता कि यह सब कुछ बदली हुई संकुचित या एकदेशीय मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

मेरा यह भी चिरकाल से मनोरथ रहा है कि हो सके इतनी त्वरा से दिगम्बर परम्परा की यह मनोवृत्ति बदल जानी चाहिए। इसके बिना वह न तो अपना ऐतिहासिक व साहित्यिक पुराना अनुपम स्थान सँभाल लेगी और न वर्तमान युग में सबके साथ बराबरी का स्थान पा सकेगी। यह भी मेरा विश्वास है कि अगर यह मनोवृत्ति बदल जाए तो उस मध्यकालीन थोड़े, पर असाधारण महत्त्व के, ऐसे ग्रन्थ उसे विरासत में लभ्य हैं जिनके बल पर और जिनकी भूमिका के ऊपर उत्तरकालीन और वर्तमानयुगीन सारा मानसिक विकास इस वक्त भी बड़ी खूबी से समन्वित व संगृहीत किया जा सकता है।

इसी विश्वास ने मुझको दिगम्बरीय साहित्य के उपादेय उत्कर्ष के वास्ते कर्तव्य रूप से मुख्यतया तीन बातों की ओर विचार करने को बाधित किया है।

(१) समंतभद्र, अकलंक विद्यानंद आदि के ग्रन्थ इस ढंग से प्रकाशित किये जाएँ जिससे उन्हें पढ़नेवाले व्यापक दृष्टि पा सकें और जिनका अवलोकन तथा संग्रह दूसरी परंपरा के विद्वानों के वास्ते अनिवार्य सा हो जाए।

(२) आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन अष्टशती, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों के अनुवाद ऐसी मौलिकता के साथ तुलनात्मक व ऐतिहासिक पद्धति से किये जाएँ, जिससे यह विदित हो कि उन ग्रन्थकारों ने अपने समय तक की कितनी विद्याओं का परिशीलन किया था और किन-किन उपादानों के आधार पर उन्होंने अपनी कृतियाँ रचीं थीं—तथा उनकी कृतियों में सन्निष्ट विचार परंपराओं का आज तक कितना और किस तरह विकास हुआ है।

(३) उक्त दोनों बातों की पूर्ति का एकमात्र साधन जो सर्व संग्राही पुस्तकालयों का निर्माण, प्राचीन भाण्डारों की पूर्ण व व्यवस्थित खोज तथा आधुनिक पठनप्रणाली में आमूल परिवर्तन है, वह जल्दी से जल्दी करना।

मैंने यह पहले ही सोच रखा था कि अपनी ओर से बिना कुछ किये औरों को कहने का कोई विशेष अर्थ नहीं। इस दृष्टि से किसी समय आप्तमीमांसा का अनुवाद मैंने प्रारम्भ भी किया, जो पीछे रह गया। इस बीच में सन्मतितर्क के सम्पादन काल में कुछ अपूर्व दिगम्बरीय ग्रन्थ रत्न मिले, जिनमें से सिद्धिविनिश्चय टीका एक है। न्यायकुमुदचन्द्र की लिखित प्रति जो 'आ०' संकेत से प्रस्तुत संस्करण में उपयुक्त हुई है वह भी श्रीयुत प्रेमीजी के द्वारा मिली। जब मैंने उसे देखा तभी उसका विशिष्ट संस्करण निकालने की वृत्ति बलवती हो गई। उधर

प्रेमीजी का तकाजा था कि मदद मैं यथासंभव करूँगा पर इसका सन्मति जैसा संस्करण निकालो ही। इधर एक साथ अनेक बड़े काम जिम्मे न लेने की मनोवृत्ति। इस द्वंद में दस वर्ष बीत गए। मैंने इस बीच में दो बार प्रयत्न भी किये पर वे सफल न हुए। एक उद्देश्य मेरा यह रहा कि कुमुदचन्द्र जैसे दिगम्बरीय ग्रन्थों के संस्करण के समय योग्य दिगम्बर पंडितों को ही सहचारी बनाऊँ जिससे फिर उस परंपरा में भी स्वावलंबी चक्र चलता रहे। इस धारणा से अहमदाबाद में दो बार अलग-अलग से, दो दिगम्बर पंडितों को भी, शायद सन् १६२६–२७ के आसपास, मैंने बुलाया पर कामयाबी न हुई। वह प्रयत्न उस समय वहीं रहा, पर प्रेमीजी के तकाज़े और निजी संकल्प के वश उसका परिपाक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, जिसे मूर्त करने का अवसर १६३३ की जुलाई में काशी पहुँचते ही दिखाई दिया।

पं० कैलाशचन्द्रजी तो प्रथम से ही मेरे परिचित थे, पं० महेन्द्रकुमारजी का परिचय नया हुआ। मैंने देखा कि ये दोनों विद्वान् 'कुमुद' का कार्य करें तो उपयुक्त समय और सामग्री है। दोनों ने बड़े उत्साह से काम को अपनाया और उधर से प्रेमीजी ने कार्यसाधक आयोजन भी कर दिया, जिसके फलस्वरूप यह प्रथम भाग सबके सामने उपस्थित है।

इसे तैयार करने में पंडित महाशयों ने कितना और किस प्रकार का श्रम किया है उसे सभी अभिज्ञ अभ्यासी आप ही आप जान सकेंगे। अतएव मैं उस पर कुछ न कहकर सिर्फ प्रस्तुत भाग गत टिप्पणियों के विषय में कुछ कहना उपयुक्त समझता हूँ।

मेरी समझ में प्रस्तुत टिप्पणियाँ दो दृष्टि से की गई हैं। एक तो यह कि ग्रन्थकार ने जिस-जिस मुख्य और गौण मुद्दे पर जैनमत दर्शाते हुए अनुकूल या प्रतिकूल रूप से जैनेतर बौद्ध ब्राह्मण परम्पराओं के मतों का निर्देश व संग्रह किया है वे मत और उन मतों की पोषक परम्पराएँ उन्हीं के मूलभूत ग्रन्थों से बतलाई जाएँ ताकि अभ्यासी ग्रन्थकार की प्रामाणिकता जानने के अलावा यह भी सविस्तर जान सकें कि अमुक मत या उसकी पोषक परंपरा किन मूल ग्रंथों पर अवलंबित है और उसका असली भाव क्या है? इस जानकारी से अभ्यासशील विद्यार्थी-पंडित प्रभाचन्द्र वर्णित दर्शनान्तरीय समस्त संक्षिप्त मुद्दों को अत्यन्त स्पष्टता-पूर्वक समझ सकेंगे और अपना स्वतंत्र मत भी बाँध सकेंगे। दूसरी दृष्टि टिप्पणियों के विषय में यह रही है कि प्रत्येक मन्तव्य के तात्त्विक और साहित्यिक इतिहास की सामग्री उपस्थित की जाय जो तत्त्वज्ञ और ऐतिहासिक दोनों के संशोधन कार्य में आवश्यक है।

अगर प्रस्तुत भाग के अभ्यासी उक्त दोनों दृष्टियों से टिप्पणियों का उपयोग करेंगे तो वे टिप्पणियाँ सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर न्याय-प्रमाण ग्रन्थों के वास्ते एक सी कार्य साधक सिद्ध होंगी। इतना ही नहीं, बल्कि बौद्ध ब्राह्मण परम्परा के दार्शनिक साहित्य की अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में भी काम देंगी।

उदाहरणार्थ—'धर्म' पर की टिप्पणियों को लीजिए। इससे यह विदित हो जाएगा कि ग्रंथकार ने जो जैन सम्मत धर्म के विविध स्वरूप बतलाये हैं उन सबके मूल आधार क्या-क्या हैं। इसके साथ-साथ यह भी मालूम पड़ जाएगा कि ग्रन्थकार ने धर्म के स्वरूप विषयक जिन अनेक मतान्तरों का निर्देश व खण्डन किया है वे हरएक मतान्तर किस-किस परम्परा के हैं और वे उस परम्परा के किन-किन ग्रन्थों में किस तरह प्रतिपादित हैं। यह सारी जानकारी एक संशोधक को भारतवर्षीय धर्म विषयक मन्तव्यों का आनखशिख इतिहास लिखने तथा उनकी पारस्परिक तुलना करने की महत्त्वपूर्ण प्रेरणा कर सकती है। यही बात अनेक छोटे-छोटे टिप्पणों के विषय में कही जा सकती है।

प्रस्तुत संस्करण से दिगम्बरीय साहित्य में नव प्रकाशन का जो मार्ग खुला होता है, वह आगे के साहित्य प्रकाशन में पथ-प्रदर्शक भी हो सकता है। राज-वार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि अनेक उत्कृष्टतर ग्रन्थों का जो अपकृष्टतर प्रकाशन हुआ है उसके स्थान में आगे कैसा होना चाहिए, इसका यह नमूना है जो माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला में दिगम्बर पंडितों के द्वारा ही तैयार होकर प्रसिद्ध हो रहा है।

ऐसे टिप्पणीपूर्ण ग्रन्थों के समुचित अध्ययन अध्यापन के साथ ही अनेक इष्ट परिवर्तन शुरू होंगे। अनेक विद्यार्थी व पंडित विविध साहित्य के परिचय के द्वारा सर्वसंग्राही पुस्तकालय निर्माण की प्रेरणा पा सकेंगे, अनेक विषयों के, अनेक ग्रन्थों को देखने की रुचि पैदा कर सकेंगे। अंत में महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के असाधारण योग्यतावाले अनुवादों की कमी भी उसी प्रेरणा से दूर होगी। संक्षेप में यों कहना चाहिए कि दिगम्बरीय साहित्य की विशिष्ट और महती आन्तरिक विभूति सर्वोपादेय बनाने का युग शुरू होगा।

टिप्पणियाँ और उन्हें जमाने का क्रम ठीक है फिर भी कहीं-कहीं ऐसी बात आ गई है जो तटस्थ विद्वानों को अखर सकती है। उदाहरणार्थ—'प्रमाण' पर के अवतरण संग्रह को लीजिए इसके शुरू में लिख तो यह दिया गया है कि क्रम-विकसित प्रमाण-लक्षण इस प्रकार हैं। पर फिर उन प्रमाण-लक्षणों का क्रम जमाते समय क्रमविकास और ऐतिहासिकता भुला दी गई है। तटस्थ विचारक को ऐसा देखकर यह कल्पना हो जाने का संभव है कि जब अवतरणों का संग्रह

सम्प्रदायवार जमाना इष्ट था तब क्रमविकास शब्द के प्रयोग की क्या जरूरत थी ?

ऊपर की सूचना मैं इसलिये करता हूँ कि आयंदा अगर ऐतिहासिक दृष्टि से और क्रमविकास दृष्टि से कुछ भी निरूपण करना हो तो उसके महत्त्व की ओर विशेष ख्याल रहे। परंतु ऐसी मामूली और अगण्य कमी के कारण प्रस्तुत टिप्पणियों का महत्त्व कम नहीं होता।

अंत में दिगम्बर परंपरा के सभी निष्णात और उदार पंडितों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अब विशिष्ट शास्त्रीय अध्यवसाय में लगकर सर्वसंग्राह्य हिंदी अनुवादों की बड़ी भारी कमी को जल्दी से जल्दी दूर करने में लग जाएँ और प्रस्तुत कुमुदचन्द्र को भी भुला देने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संस्करण तैयार करें।

विद्याप्रिय और शास्त्रभक्त दिगंबर धनिकों से मेरा अनुरोध है कि वे ऐसे कार्यों में पंडित-मंडली को अधिक से अधिक सहयोग दें।

न्याय कुमुदचन्द्र के छपे ४०२ पेज, अर्थात् मूल मात्र पहला भाग मेरे सामने है। केवल उसी को देखकर मैंने अपने विचार लिखे हैं। यद्यपि जैन परम्परा के स्थानकवासी और श्वेताम्बर फिरकों के साहित्य तथा तद्विषयक मनोवृत्ति के चढ़ाव-उतार के संबंध में भी कुछ कहने योग्य है। इसी तरह ब्राह्मण परम्परा की साहित्य विषयक मनोवृत्ति के जुदे-जुदे रूप भी जानने योग्य हैं। फिर भी मैंने यहाँ सिर्फ दिगम्बर परम्परा को ही लक्ष्य में रखकर लिखा है। क्योंकि यहाँ वही प्रस्तुत है और ऐसे संक्षिप्त प्राक्कथन में अधिक चर्चा की कोई गुंजाइश भी नहीं।

ई० १९३८] [न्यायकुमुदचन्द्र का प्राक्कथन

न्यायकुमुदचन्द्र-२

'कुछ ऐतिहासिक प्रश्नों पर भी लिखना आवश्यक है। पहला प्रश्न है अकलंक के समय का। पं० महेन्द्रकुमारजी ने 'अकलङ्कग्रंथत्रय' की प्रस्तावना में धर्मकीर्ति और उनके शिष्यों आदि के ग्रंथों की तुलना के आधार पर अकलंक का समय निश्चित करते समय जो विक्रमार्कीय शक संवत् का अर्थ विक्रमीय संवत् न लेकर शक संवत् लेने की ओर संकेत किया है—वह मुझको भी विशेष साधार मालूम पड़ता है। इस विषय में पंडितजी ने जो धवलटीकागत उल्लेख तथा प्रो० हीरालालजी के कथन का उल्लेख प्रस्तावना (पृष्ठ ५) में किया है वह उनकी अकलंकग्रंथत्रय में स्थापित विचारसरणी का ही पोषक है। इस बारे में सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० जयचन्द्रजी विद्यालंकार का[२] विचार भी पं० महेन्द्रकुमारजी की धारणा का पोषक है। मैं तो पहले से ही मानता आया हूँ कि अकलंक का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और नवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध ही हो सकता है जैसा कि याकिनीसूनु हरिभद्र का है। मेरी राय में अकलंक, हरिभद्र, तत्त्वार्थभाष्य टीकाकार सिद्धसेन गणि, ये सभी थोड़े बहुत प्रमाण में समसामयिक अवश्य हैं। आगे जो समन्तभद्र के समय के बारे में कुछ कहना है उससे भी इसी समय की पुष्टि होती है।

---

१. इसका प्रारंभ का भाग 'दार्शनिक मीमांसा' खण्ड में दिया है—पृष्ठ ६७।

२. वे भारतीय इतिहास की रूपरेखा (पृ० ८२४-२६) में लिखते हैं—"महमूद गजनवी के समकालीन प्रसिद्ध विद्वान यात्री अलबरूनी ने अपने भारत विषयक ग्रन्थ में शक राजा और दूसरे विक्रमादित्य के युद्ध की बात इस प्रकार लिखी है—'शक संवत् अथवा शककाल का आरम्भ विक्रमादित्य के संवत् से १३५ वर्ष पीछे पड़ा है। प्रस्तुत शक ने उन (हिन्दुओं) के देश पर सिन्ध नदी और समुद्र के बीच, आर्यावर्त्त के उस राज्य को अपना निवासस्थान बनाने के बाद बहुत अत्याचार किये। कुछ लोगों का कहना है, वह अलमन्सूरा नगरी का शूद्र था, दूसरे कहते हैं, वह हिन्दू था ही नहीं और भारत में पश्चिम से आया था। हिन्दुओं को उससे बहुत कष्ट सहने पड़े। अन्त में उन्हें पूरब से सहायता मिली जब कि विक्रमादित्य ने उन पर चढ़ाई की, उसे भगा दिया और मुलतान तथा लोनी के कोटले के बीच करूर प्रदेश में उसे मार डाला। तब यह तिथि प्रसिद्ध

आचार्य प्रभाचन्द्र के समय के विषय में पुरानी नववीं सदी की मान्यता का तो निरास पं० कैलाशचन्द्रजी ने कर ही दिया है। अब उसके संबंध में इस समय दो मत हैं, जिनका आधार 'भोजदेवराज्ये' और 'जयसिंहदेवराज्ये' वाली प्रशस्तियों का प्रक्षिप्तत्व या प्रभाचन्द्र कर्तृकत्व की कल्पना है। अगर उक्त प्रशस्तियाँ प्रभाचन्द्रकर्तृक नहीं हैं तो समय की उत्तरावधि ई० स० १०२०, और अगर प्रभाचन्द्र कर्तृक मानी जाए तो उत्तरावधि ई० स० १०६५ है। यही दो पक्षों का सार है। पं० महेन्द्रकुमारजी ने प्रस्तावना में उक्त प्रशस्तियों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए जो विचारक्रम उपस्थित किया है, वह मुझको ठीक मालूम होता है। मेरी राय में भी उक्त प्रशस्तियों को प्रक्षिप्त सिद्ध करने की कोई बलवत्तर दलील नहीं है। ऐसी दशा में प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की ११ वीं सदी के उत्तरार्द्ध से बारहवीं सदी के प्रथमपाद तक स्वीकार कर लेना सभी दृष्टियों से सयुक्तिक है।

मैंने 'अकलङ्कग्रंथत्रय' के प्राक्कथन में ये शब्द लिखे हैं—"अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंक के बीच साक्षात् विद्या का ही संबंध रहा

हो गई, क्योंकि लोग उस प्रजापीड़क की मौत की खबर से बहुत खुश हुए और उस तिथि में एक संवत् शुरू हुआ जिसे ज्योतिषी विशेषरूप से बर्तने लगे।.... किन्तु विक्रमादित्य संवत् कहे जानेवाले संवत् के आरम्भ और शक के मारे जाने में बड़ा अन्तर है, इससे मैं समझता हूँ कि उस संवत् का नाम जिस विक्रमादित्य के नाम से पड़ा है, वही शक को मारनेवाला विक्रमादित्य नहीं है, केवल दोनों का नाम एक है।'—(पृ० ८२४–२५)। 'इस पर एक शंका उपस्थित होती है शालिवाहन वाली अनुश्रुति के कारण। अलबरूनी स्पष्ट कहता है कि ७८ ई० का संवत् राजा विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शक को मारने की यादगार में चलाया। वैसी बात ज्योतिषी भट्टोत्पल (९६६ ई०) और ब्रह्मदत्त (६२८ ई०) ने भी लिखी है। यह संवत् अब भी पंचागों में शालिवाहन-शक अर्थात् शालिवाहनाब्द कहलाता है।.......'—(पृ० ८३६)।" इन दो अवतरणों से इतनी बात निर्विवाद सिद्ध है कि विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शक को मारकर अपनी शक विजय के उपलक्ष्य में एक संवत् चलाया था। जो सातवीं शताब्दी (ब्रह्मगुप्त) से ही शालिवाहनाब्द माना जाता है। धवला टीका आदि में जिस 'विक्रमार्कशक' संवत् का उल्लेख आता है वह यही 'शालिवाहन शक' होना चाहिए। उसका 'विक्रमार्कशक' नाम शक विजय के उपलक्ष्य में विक्रमादित्य द्वारा चलाये गए शक संवत् का स्पष्ट सूचन करता है।

है, क्योंकि समन्तभद्र की कृति के ऊपर सर्वप्रथम अकलंक की व्याख्या है।" इत्यादि। आगे के कथन से जब यहाँ निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपाद के बाद कभी हुए हैं। और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्र को कृति के ऊपर सर्वप्रथम अकलंक की व्याख्या है, तब इतना मानना होगा कि अगर समन्तभद्र और अकलंक में साक्षात् गुरु शिष्य का भाव न भी रहा हो तब भी उनके बीच में समय का कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इस दृष्टि से समन्तभद्र का अस्तित्व विक्रम की सातवीं शताब्दी का अमुक भाग हो सकता है।

मैंने अकलंकग्रन्थत्रय के ही प्राक्कथन में विद्यानंद की आप्तपरीक्षा[1] एवं अष्टसहस्री के स्पष्ट उल्लेखों के आधार पर यह निःशंक रूप से बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपाद के आप्तस्तोत्र के मीमांसाकार हैं अतएव उनके उत्तरवर्ती ही हैं। मेरा यह विचार तो बहुत दिनों के पहिले स्थिर हुआ था, पर प्रसंग आने पर उसे संक्षेप में अकलंकग्रन्थत्रय के प्राक्कथन में निविष्ट किया था। पं० महेन्द्रकुमारजी ने मेरे संक्षिप्त लेख का विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भाग की प्रस्तावना (पृ० २५) में यह अभ्रान्तरूप से स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपाद के उत्तरवर्ती हैं। अलबत्ता उन्होंने मेरी सप्तभंगी वाली दलील को निर्णायक न मानकर विचारणीय कहा है। पर इस विषय में पंडितजी तथा

---

१. 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः' वाला जो श्लोक आप्तपरीक्षा में है उसमें 'इद्धरत्नोद्भवस्य' ऐसा सामासिक पद है। श्लोक का अर्थ या अनुवाद करते समय उस सामासिक पद को 'अम्बुनिधि' का समानाधिकरण विशेषण मानकर विचार करना चाहिए। चाहे उसमें समास 'इद्धरत्नों का उद्भव-प्रभवस्थान' ऐसा तत्पुरुष किया जाय, चाहे 'इद्धरत्नों का उद्भव-उत्पत्ति हुआ है जिसमें से' ऐसा बहुव्रीहि किया जाए। उभय दशा में वह अम्बुनिधि का समानाधिकरण विशेषण ही है। ऐसा करने से 'प्रोत्थानारम्भकाले' यह पद ठीक अम्बुनिधि के साथ अपुनरुक्त रूप से संबद्ध हो जाता है। और फलितार्थ यह निकलता है कि तत्त्वार्थशास्त्ररूप समुद्र की प्रोत्थान-भूमिका बाँधते समय जो स्तोत्र किया गया है। इस वाक्यार्थ में ध्यान देने की मुख्य वस्तु यह है कि तत्त्वार्थ का प्रोत्थान बाँधने वाला अर्थात् उसकी उत्पत्ति का निमित्त बतलानेवाला और स्तोत्र का रचयिता ये दोनों एक हैं। जिसने तत्त्वार्थशास्त्र की उत्पत्ति का निमित्त बतलाया उसी ने उस निमित्त को बतलाने के पहिले 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' यह स्तोत्र भी रचा। इस विचार के प्रकाश में सर्वार्थसिद्धि की भूमिका जो पढ़ेगा उसे यह सन्देह ही नहीं हो सकता कि 'वह स्तोत्र खुद पूज्यपाद का है या नहीं।'

अन्य सज्जनों से मेरा इतना ही कहना है कि मेरी यह दलील विद्यानन्द के स्पष्ट उल्लेख के आधार पर किये गए निर्णय की पोषक है और उसे मैंने वहाँ स्वतंत्र प्रमाण रूप से पेश नहीं किया है। यद्यपि मेरे मन में तो वह दलील एक स्वतंत्र प्रमाण रूप से भी रही है। पर मैंने उसका उपयोग उस तरह से वहाँ नहीं किया। जो जैन-परम्परा में संस्कृत भाषा के प्रवेश, तर्कशास्त्र के अध्ययन और पूर्ववर्ती आचार्यों की छोटी-सी भी महत्त्वपूर्ण कृति का उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा उपयोग किया जाना इत्यादि जैन मानस को जो जानता है उसे तो कभी संदेह हो ही नहीं सकता कि पूज्यपाद, दिङ्नाग के पद्य को तो निर्दिष्ट करें पर अपने पूर्ववर्ती या समकालीन समन्तभद्र की असाधारण कृतियों का किसी अंश में स्पर्श भी न करें। क्या वजह है कि उमास्वाति के भाष्य की तरह सर्वार्थसिद्धि में भी सप्तभंगी का विशद निरूपण न हो? जो कि समन्तभद्र की जैन परम्परा को उस समय की नई देन रही। अस्तु। इसके सिवाय मैं और भी कुछ बातें विचारार्थ उपस्थित करता हूँ जो मुझे स्वामी समन्तभद्र को धर्मकीर्ति के समकालीन मानने की ओर झुकाती हैं—

मुद्दे की बात यह है कि अभी तक ऐसा कोई जैन आचार्य या उसका ग्रंथ नहीं देखा गया जिसका अनुकरण ब्राह्मणों या बौद्धों ने किया हो। इसके विपरीत १३०० वर्ष का तो जैन संस्कृत एवं तर्क वाङ्मय का ऐसा इतिहास है जिसमें ब्राह्मण एवं बौद्ध परम्परा की कृतियों का प्रतिबिम्ब ही नहीं, कभी-कभी तो अक्षरशः अनुकरण है। ऐसी सामान्य व्याप्ति बाँधने के जो कारण हैं उनकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत है। पर अगर सामान्य व्याप्ति की यह धारणा भ्रान्त नहीं है तो धर्मकीर्त्ति तथा समन्तभद्र के बीच जो कुछ महत्त्व का साम्य है उस पर ऐतिहासिकों को विचार करना ही पड़ेगा। न्यायावतार में धर्मकीर्ति के द्वारा प्रयुक्त एक मात्र अभ्रान्त पद के बल पर सूक्ष्मदर्शी प्रो० याकोबी ने सिद्धसेन दिवाकर के समय के बारे में सूचन किया था, उस पर विचार करनेवाले हम लोगों को समन्तभद्र की कृति में पाये जानेवाले धर्मकीर्ति के साम्य पर भी विचार करना ही होगा।

पहली बात तो यह है कि दिङ्नाग के प्रमाण-समुच्चयगत मंगल श्लोक के ऊपर ही उसके व्याख्यान रूप से धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक का पहला परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्ति ने प्रमाण रूप से सुगत को ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरह से समन्तभद्र ने भी पूज्यपाद के 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाले मंगल पद्य को लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकर को ही आप्त-प्रमाण स्थापित किया है। असल बात यह है कि कुमारिल ने

श्लोकवार्तिक में चोदना-वेद को ही अंतिम प्रमाण स्थापित किया, और 'प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे' इस मंगल पद्य के द्वारा दिङ्नाग प्रतिपादित बुद्धि प्रामाण्य को खण्डित किया। इसके जवाब में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम परिच्छेद में बुद्ध का प्रामाण्य अन्ययोगव्यवच्छेद रूप से अपने ढंग से सविस्तर स्थापित किया। जान पड़ता है इसी सरणी का अनुसरण प्रबलप्रज्ञ समन्तभद्र ने भी किया। पूज्यपाद का 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाला सुप्रसन्न पद्य उन्हें मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी। प्रमाणवार्तिक के सुगत प्रामाण्य के स्थान में समन्तभद्र ने अपनी नई सप्तभंगी सरणी के द्वारा अन्ययोगव्यवच्छेद रूप से ही अर्हत्-जिन को ही आप्त-प्रमाण स्थापित किया। यह तो विचारसरणी का साम्य हुआ। पर शब्द का सादृश्य भी बड़े मार्के का है। धर्मकीर्ति ने सुगत को 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' (प्रमाण वार्तिक १।१३५) 'वैफल्याद् वक्ति नानृतम्' (प्र० वा० १।१४७) कह अविरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्र ने भी 'युक्तिशास्त्राविरोधवाक्' (आप्तमी० का० ६) कहकर जैन तीर्थंकर को सर्वज्ञ स्थापित किया है।

धर्मकीर्ति ने चतुरार्यसत्य के उपदेशक रूप से ही बुद्ध को सुगत-यथार्थरूप साबित किया है, स्वामी समन्तभद्र ने चतुरार्यसत्य के स्थान में स्याद्वाद न्याय या अनेकान्त के उपदेशक रूप से ही जैन तीर्थंकर को यथार्थ रूप सिद्ध किया है। समन्तभद्र ने स्याद्वाद न्याय की यथार्थता स्थापित करने की दृष्टि से उसके विषय रूप से अनेक दार्शनिक मुद्दों को लेकर चर्चा की है, सिद्धसेन ने भी सन्मति के तीसरे काण्ड में अनेकान्त के विषय रूप से अनेक दार्शनिक मुद्दों को लेकर चर्चा की है। सिद्धसेन और समन्तभद्र की चर्चा में मुख्य अन्तर यह है कि सिद्धसेन प्रत्येक मुद्दे की चर्चा में जब केवल अनेकान्त दृष्टि की स्थापना करते हैं तब स्वामी समन्तभद्र प्रत्येक मुद्दे पर सयुक्तिक सप्तभंगी प्रणाली के द्वारा अनेकान्त दृष्टि की स्थापना करते हैं। इस तरह धर्मकीर्ति, समन्तभद्र और सिद्धसेन के बीच का साम्य-वैषम्य एक खास अभ्यास की वस्तु है।

स्वामी समन्तभद्र को धर्मकीर्ति-समकालीन या उनसे अनन्तरोत्तरकालीन होने की जो मेरी धारणा हुई है, उसकी पोषक एक और भी दलील विचारार्थ पेश करता हूँ। समन्तभद्र के 'द्रव्यपर्याययोरैक्यम्' तथा 'संज्ञासंख्याविशेषाच्च' (आ० मी० ७१,७२) इन दो पद्यों के प्रत्येक शब्द का खंडन धर्मकीर्ति के टीकाकार अर्चट ने किया है, जिसे पं० महेन्द्रकुमारजी ने नवीं शताब्दी का लिखा है। अर्चट ने हेतुबिन्दु टीका में प्रथम समन्तभद्रोक्त कारिका के अंशों को लेकर गद्य में खण्डन किया है और फिर 'आह च' कहकर खण्डनपरक ४५

कारिकाएँ दी हैं। पं० महेन्द्रकुमारजी ने अपनी सुविस्तृत प्रस्तावना में (पृ० २७) यह सम्भावना की है कि अर्चटोद्धृत हेतुबिन्दुटीकागत कारिकाएँ धर्मकीर्ति कृत होंगी। पण्डितजी का अभिप्राय यह है कि धर्मकीर्ति ने ही अपने किसी ग्रन्थ में समन्तभद्र की कारिकाओं का खण्डन पद्य में किया होगा जिसका अवतरण धर्मकीर्ति का टीकाकार अर्चट कर रहा है। पर इस विषय में निर्णायक प्रकाश डालनेवाला एक और ग्रंथ प्राप्त हुआ है जो अर्चटीय हेतुबिन्दु टीका की अनुटीका है। इस अनुटीका का प्रणेता है दुर्वेक मिश्र, जो ११ वीं शताब्दी के आसपास का ब्राह्मण विद्वान् है। दुर्वेक मिश्र बौद्ध शास्त्रों का खासकर धर्मकीर्ति के ग्रंथों का, तथा उसके टीकाकारों का गहरा अभ्यासी था। उसने अनेक बौद्ध ग्रंथों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्या संपन्न बौद्ध विहार में अध्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रों के बारे में बहुत मार्मिकता से और प्रमाण रूप से लिखनेवाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपाल के ग्रंथ संग्रह में से कॉपी होकर भिक्षु राहुलजी के द्वारा मुझे मिली है। उसमें दुर्वेक मिश्र ने स्पष्ट रूप से उक्त ४५ कारिकाओं के बारे में लिखा है कि—ये कारिकाएँ अर्चट की हैं। अब विचारना यह है कि समन्तभद्र की उक्त दो कारिकाओं का शब्दशः खण्डन धर्मकीर्ति के टीकाकार अचर्ट ने किया है न कि धर्मकीर्ति ने। अगर धर्मकीर्ति के सामने समन्तभद्र की कोई कृति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होने की विशेष संभावना थी। पर ऐसा हुआ जान पड़ता है कि जब समन्तभद्र ने प्रमाणवार्तिक में स्थापित सुगतप्रामाण्य के विरुद्ध आप्तमीमांसा में जैन तीर्थंकर का प्रामाण्य स्थापित किया और बौद्धमत का जोरों से निरास किया, तब इसका जवाब धर्मकीर्ति के शिष्यों ने देना शुरू किया। कर्णगोमी ने भी, जो धर्मकीर्ति का टीकाकार है, समन्तभद्र की कारिका लेकर जैन मत का खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चट ने भी समन्तभद्र की उक्त दो कारिकाओं का सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्था में मैं अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कम से कम समन्तभद्र धर्मकीर्ति के समकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालत में विद्यानन्द की आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियों की ऐतिहासिकता में किसी भी प्रकार के सन्देह का अवकाश ही नहीं है।

पंडितजी ने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्त्वार्थभाष्य के उमास्वाति प्रणीत होने के बारे में भी अन्यदीय सन्देह का उल्लेख किया है। मैं समझता हूँ कि संदेह का कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्य की गवेषणा में सांप्रदायिक संस्कार के वश होकर अगर संदेह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी

वस्तु का कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अन्त में मैं पंडितजी की प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सत्कृति का सच्चे हृदय से अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाज के विद्वानों और श्रीमानों से भी अभिनन्दन करने का अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजी की सभी कृतियों का उदारभाव से अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं और श्रीमान् पंडितजी की साहित्यप्रवण शक्तियों का अपने साहित्योत्कर्ष तथा भण्डारोद्धार आदि कार्यों में विनियोग कराकर अभिनन्दन कर सकते हैं।

मैं पंडितजी से भी एक अपना नम्र विचार कहे देता हूँ। यह वह है कि आगे अब वे दार्शनिक प्रमेयों को, खासकर जैन प्रमेयों को केन्द्र में रखकर उन पर तात्त्विक दृष्टि से ऐसा विवेचन करें जो प्रत्येक या मुख्य-मुख्य प्रमेय के स्वरूप का निरूपण करने के साथ ही साथ उसके संबन्ध में सब दृष्टियों से पकाश डाल सके।

ई० १९४१] [न्यायकुमुदचन्द्र भाग २ का प्राक्कथन

— — — —

'अकलंकग्रन्थत्रय'

प्राकृतयुग और संस्कृतयुग का अन्तर—

जैन परम्परा में प्राकृतयुग वह है जिसमें एकमात्र प्राकृत भाषाओं में ही साहित्य रचने की प्रवृत्ति थी। संस्कृत युग वह है जिसमें संस्कृत भाषा में भी साहित्यनिर्माण की प्रवृत्ति व प्रतिष्ठा स्थिर हुई। प्राकृतयुग के साहित्य को देखने से यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय भी जैन विद्वान् संस्कृत भाषा, तथा संस्कृत दार्शनिक साहित्य से परिचित अवश्य थे। फिर भी संस्कृतयुग में संस्कृत भाषा में ही शास्त्र रचने की ओर झुकाव होने के कारण यह अनिवार्य था कि संस्कृत भाषा तथा दार्शनिक साहित्य का अनुशीलन अधिक गहरा तथा अधिक व्यापक हो। वाचक उमास्वाति के पहिले की संस्कृत-जैन रचना का हमें प्रमाण नहीं मिलता। फिर भी संभव है उनके पहले भी वैसी कोई रचना जैन-साहित्य में हुई हो। कुछ भी हो संस्कृत जैन साहित्य नीचे लिखी क्रमिक भूमिकाओं में विकसित तथा पुष्ट हुआ जान पड़ता है।

१—तत्त्वज्ञान तथा आचार के पदार्थों का सिर्फ आगमिक शैली में संस्कृत भाषा में रूपान्तर, जैसे कि तत्त्वार्थभाष्य, प्रशमरति आदि।

२—उसी शैली के संस्कृत रूपान्तर में कुछ दार्शनिक छाया का प्रवेश, जैसे सर्वार्थसिद्धि।

३—इने गिने आगमिक पदार्थ (खासकर ज्ञानसंबन्धी) को लेकर उस पर मुख्यतया तार्किकदृष्टि से अनेकान्तवाद की ही स्थापना, जैसे समन्तभद्र और सिद्धसेन की कृतियाँ।

४—ज्ञान और तत्संबन्धी आगमिक पदार्थों का दर्शनान्तरीय प्रमाण शास्त्र की तरह तर्कबद्ध शास्त्रीकरण, तथा दर्शनान्तरीय चिन्तनों का जैन वाङ्मय में अधिकाधिक संगतीकरण, जैसे अकलंक और हरिभद्र आदि की कृतियाँ।

५—पूर्वाचार्यों की तथा निजी कृतियों के ऊपर विस्तृत-विस्तृतर टीकाएँ लिखना और उनमें दार्शनिकवादों का अधिकाधिक समावेश करना, जैसे विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेव आदि की कृतियाँ।

६—श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय दोनों प्राचीन-कृतियों की व्याख्याओं में तथा निजी मौलिक कृतियों में नव्यन्याय की परिष्कृत शैली का संचार तथा उसी शैली की अपरिमित कल्पनाओं के द्वारा पुराने ही जैन-तत्त्वज्ञान तथा आचारसंबन्धी पदार्थों का अभूतपूर्व विशदीकरण, जैसे उपाध्याय यशोविजयजी की कृतियाँ।

उपर्युक्त प्रकार से जैन-साहित्य का विकास व परिवर्द्धन हुआ है, फिर भी उस प्रबल तर्कयुग में कुछ जैन पदार्थ ऐसे ही रहे हैं जैसे वे प्राकृत तथा आगमिक युग में रहे। उन पर तर्कशैली या दर्शनान्तरीय चिन्तन का कोई प्रभाव आज तक नहीं पड़ा है। उदाहरणार्थ–सम्पूर्ण कर्मशास्त्र, गुणस्थानविचार, षडद्रव्यविचारणा, खासकर लोक तथा जीव विभाग आदि। सारांश यह है कि संस्कृत भाषा की विशेष उपासना तथा दार्शनिक ग्रन्थों के विशेष परिशीलन के द्वारा जैन आचार्यों ने जैन तत्त्वचिन्तन में जो और जितना विकास किया है, वह सब मुख्यतया ज्ञान और तत्संबन्धी नय, अनेकान्त आदि पदार्थों के विषय में ही किया है। दूसरे प्रमेयों में जो कुछ नई चर्चा हुई भी है वह बहुत ही थोड़ी है और प्रासंगिक मात्र है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-मीमांसक बौद्ध आदि दर्शनों के प्रमाणशास्त्रों का अवगाहन जैसे-जैसे जैन परम्परा में बढ़ता गया वैसे-वैसे जैन आचार्यों की निजी प्रमाणशास्त्र रचने की चिन्ता भी तीव्र होती चली और इसी चिन्ता में से पुरातन पंचविध ज्ञान विभाग की भूमिका के ऊपर नए प्रमाणशास्त्र का महल खड़ा हुआ।

सिद्धसेन और समन्तभद्र—

जैन परम्परा में तर्कयुग की या न्याय प्रमाण विचारणा की नींव डालनेवाले ये ही दो आचार्य हैं। इनमें से कौन पहले या कौन पीछे है इत्यादि अभी सुनिश्चित नहीं है। फिर भी इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि उक्त दोनों आचार्य ईसा की पाँचवी शताब्दी के अनन्तर ही हुए हैं। नए साधनों के आधार पर सिद्धसेन दिवाकर का समय छठी शताब्दी का अन्त भी संभवित है। जो कुछ हो पर स्वामी समन्तभद्र के बारे में अनेकविध ऊहापोह के बाद मुझको अब अति स्पष्ट हो गया है कि—वे "पूज्यपाद देवनन्दी' के पूर्व तो हुए ही नहीं। पूज्यपाद के द्वारा स्तुत आप्त के समर्थन में ही उन्होंने आप्तमीमांसा लिखी है, यह बात विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्री में सर्वथा स्पष्ट रूप से लिखी है। स्वामी समन्तभद्र की सब कृतियों की भाषा, उनमें प्रतिपादित दर्शनान्तरीय मत, उनकी युक्तियाँ उनके निरूपण का ढंग और उनमें विद्यमान विचार विकास, यह सब वस्तु पूज्यपाद के पहले तो जैन परंपरा में न आई है न आने का संभव ही

था। जो दिङ्नाग, भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के साथ समन्तभद्र की कृतियों की बाह्यान्तर तुलना करेगा और जैन संस्कृत साहित्य के विकासक्रम की ओर ध्यान देगा वह मेरा उपर्युक्त विचार बड़ी सरलता से समझ लेगा। अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंक के बीच साक्षात् विद्या का संबन्ध हो; क्योंकि समन्तभद्र की कृति के ऊपर सर्वप्रथम अकलंक की व्याख्या है। यह हो नहीं सकता कि अनेकान्त दृष्टि को असाधारण रूप से स्पष्ट करनेवाली समन्तभद्र की विविध कृतियों में अतिविस्तार से और आकर्षक रूप से प्रतिपादित सप्तभंगियों को तत्त्वार्थ की व्याख्या में अकलंक तो सर्वथा अपनाएँ, जब कि पूज्यपाद अपनी व्याख्या में उसे छुएँ तक नहीं। यह भी संभव है कि—शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह-गत पात्रस्वामी शब्द स्वामी समन्तभद्र का ही सूचक हो। कुछ भी हो पर इतना निश्चित है कि श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धसेन के बाद तुरन्त जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हुए और दिगम्बर परम्परा में स्वामी समन्तभद्र के बाद तुरन्त ही अकलंक आए।

जिनभद्र और अकलंक—

यद्यपि श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों परम्परा में संस्कृत की प्रतिष्ठा बढ़ती चली। फिर भी दोनों में एक अन्तर स्पष्ट देखा जाता है, वह यह कि दिगम्बर परम्परा संस्कृत की ओर झुकने के बाद दार्शनिक क्षेत्र में अपने आचार्यों को केवल संस्कृत में ही लिखने को प्रवृत्त करती है जब कि श्वेताम्बर परम्परा अपने विद्वानों को उसी विषय में प्राकृत रचनाएँ करने को भी प्रवृत्त करती है। यही कारण है कि श्वेताम्बरीय साहित्य में सिद्धसेन से यशोविजयजी तक की दार्शनिक चिन्तनवाली प्राकृत कृतियाँ भी मिलती है। जब कि दिगम्बरीय साहित्य में मात्र संस्कृतनिबद्ध ही वैसी कृतियाँ मिलती है। श्वेताम्बर परम्परा का संस्कृत युग में भी प्राकृत भाषा के साथ जो निकट और गंभीर परिचय रहा है, वह दिगम्बरीय साहित्य में विरल होता गया है। क्षमाश्रमण जिनभद्र ने अपनी कृतियाँ प्राकृत में रचीं जो तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही हैं। भट्टारक अकलंक ने अपनी विशाल और अनुपम कृति राजवार्तिक संस्कृत में लिखी, जो विशेषावश्यक भाष्य की तरह तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही है। परन्तु जिनभद्र की कृतियों में ऐसी कोई स्वतन्त्र संस्कृत कृति नहीं है जैसी अकलंक की है। अकलंक ने आगमिक ग्रन्थ राजवार्तिक लिखकर दिगम्बर साहित्य में एक प्रकार से विशेषावश्यक के स्थान की पूर्ति तो की, पर उनका ध्यान शीघ्र ही ऐसे प्रश्न पर गया जो जैन परम्परा के सामने जोरों से उपस्थित था। बौद्ध और ब्राह्मण प्रमाणशास्त्रों की कक्षा में खड़ा रह सके

ऐसा न्याय-प्रमाण की समग्र व्यवस्था वाला कोई जैन प्रमाण ग्रन्थ आवश्यक था। अकलंक, जिनभद्र की तरह पाँच ज्ञान, नय आदि आगमिक वस्तुओं की केवल तार्किक चर्चा करके ही चुप न रहे, उन्होंने उसी पंचज्ञान सप्तनय आदि आगमिक वस्तु का न्याय और प्रमाण-शास्त्र रूप से ऐसा विभाजन किया, ऐसा लक्षण प्रणयन किया, जिससे जैन न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के स्वतन्त्र प्रकरणों की माँग पूरी हुई। उनके सामने वस्तु तो आगमिक थी ही, दृष्टि और तर्क का मार्ग भी सिद्धसेन तथा समन्तभद्र के द्वारा परिष्कृत हुआ ही था, फिर भी प्रबल दर्शनान्तरों के विकसित विचारों के साथ प्राचीन जैन निरूपण का तार्किक शैली में मेल बिठाने का काम जैसा-तैसा न था जो कि अकलंक ने किया। यही सबब है कि अकलंक की मौलिक कृतियाँ बहुत ही संक्षिप्त हैं, फिर भी वे इतनी अर्थघन तथा सुविचारित हैं कि आगे के जैन न्याय का वे आधार बन गई हैं।

यह भी संभव है कि भट्टारक अकलंक क्षमाश्रमण जिनभद्र की महत्त्वपूर्ण कृतियों से परिचित होंगे। प्रत्येक मुद्दे पर अनेकान्त दृष्टि का उपयोग करने की राजवार्तिक गत व्यापक शैली ठीक वैसी ही है जैसी विशेषावश्यक भाष्य में प्रत्येक चर्चा में अनेकान्त दृष्टि लागू करने की शैली व्यापक है।

अकलंक और हरिभद्र आदि—

तत्त्वार्थ भाष्य के वृत्तिकार सिद्धसेनगणि जो गन्धहस्ती रूप से सुनिश्चित हैं, उनके और याकिनीसूनु हरिभद्र के समकालीनत्व के संबन्ध में अपनी संभावना तत्त्वार्थ के हिन्दी विवेचन के परिचय में बतला चुका हूँ। हरिभद्र की कृतियों में अभी तक ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया गया जो निर्विवाद रूप से हरिभद्र के द्वारा अकलंक की कृतियों के अवगाहन का सूचक हो। सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थ भाष्य वृत्ति में पाया जानेवाला सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख अगर अकलंक के सिद्धिविनिश्चय का ही बोधक हो तो यह मानना पड़ेगा कि गन्धहस्ति सिद्धसेन कम से कम अकलङ्क के सिद्धिविनिश्चय से तो परिचित थे ही। हरिभद्र और गन्धहस्ती अकलंक की कृतियों से परिचित हों या नहीं फिर भी अधिक सभावना इस बात की है कि अकलंक और गन्धहस्ती तथा हरिभद्र ये अपने दीर्घ जीवन में थोड़े समय तक भी समकालीन रहे होंगे। अगर यह संभावना ठीक हो तो विक्रम की आठवीं और नवीं शताब्दी का अमुक समय अकलंक का जीवन तथा कार्यकाल होना चाहिए।

मेरी धारणा है कि विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जो अकलंक की कृतियों के सर्वप्रथम व्याख्याकार हैं वे अकलंक के साक्षात् विद्या शिष्य नहीं तो अनन्तरवर्ती

अवश्य हैं, क्योंकि इनके पहिले अकलंक की कृतियों के ऊपर किसी के व्याख्यान का पता नहीं चलता। इस धारणा के अनुसार दोनों व्याख्याकारों का कार्यकाल विक्रम की नवमीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तो अवश्य होना चाहिए, जो अभी तक के उनके ग्रन्थों के आन्तरिक अवलोकन के साथ मेल खाता है।

गन्धहस्ति भाष्य—

दिगम्बर परम्परा में समन्तभद्र के गन्धहस्ति महाभाष्य होने की चर्चा कभी चल पड़ी थी। इस बारे में मेरा असंदिग्ध निर्णय यह है कि तत्त्वार्थ सूत्र के ऊपर या उसकी किसी व्याख्या के ऊपर स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा के अतिरिक्त कुछ भी लिखा ही नहीं है। यह कभी संभव नहीं कि समन्तभद्र की ऐसी विशिष्ट कृति का एक भी उल्लेख या अवतरण अकलंक और विद्यानन्द जैसे उनके पदानुवर्ती अपनी कृतियों में बिना किये रह सकें। बेशक अकलंक का राजवार्त्तिक गुण और विस्तार की दृष्टि से ऐसा है कि जिसे कोई भाष्य ही नहीं महाभाष्य भी कह सकता है। श्वेताम्बर परंपरा में गन्धहस्ती की वृत्ति जब गन्धहस्ति महाभाष्य नाम से प्रसिद्ध हुई तब करीब गन्धहस्ती के ही समानकालीन अकलंक की उसी तत्त्वार्थ पर बनी हुई विशिष्ट व्याख्या अगर दिगम्बर परम्परा में गन्धहस्ति भाष्य या गन्धहस्ति महाभाष्य रूप से प्रसिद्ध या व्यवहृत होने लगे तो यह क्रम दोनों फिरकों की साहित्यिक परम्परा के अनुकूल ही है।

परन्तु हम राजवार्त्तिक के विषय में गन्धहस्ति महाभाष्य विशेषण का उल्लेख कहीं नहीं पाते। तेरहवीं शताब्दी के बाद ऐसा विरल उल्लेख मिलता है जो समन्तभद्र के गन्धहस्ति महाभाष्य का सूचन करता हो। मेरी दृष्टि में पीछे के सब उल्लेख निराधार और किंवदन्तीमूलक हैं। तथ्य यह ही हो सकता है कि अगर तत्त्वार्थ-महाभाष्य या तत्वार्थ-गन्धहस्ति महाभाष्य नाम का दिगम्बर साहित्य में मेल बैठाना हो तो वह अकलंकीय राजवार्त्तिक के साथ ही बैठ सकता है।

प्रस्तुत संस्करण—

प्रस्तुत पुस्तक में अकलंकीय तीन मौलिक कृतियाँ एक साथ सर्वप्रथम संपादित हुई हैं। इन कृतियों के संबंध में तात्त्विक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से जितना साधन उपलब्ध है उसे विद्वान् संपादक ने टिप्पण तथा अनेक उपयोगी परिशिष्टों के द्वारा प्रस्तुत पुस्तक में सन्निविष्ट किया है, जो जैन, बौद्ध, ब्राह्मण सभी परंपरा के विद्वानों के लिए मात्र उपयोगी नहीं बल्कि मार्गदर्शक भी है। बेशक अकलंक की प्रस्तुत कृतियाँ अभी तक किसी पाठ्यक्रम में नहीं हैं तथापि उनका महत्त्व और उपयोगित्व दूसरी दृष्टि से और भी अधिक है।

अकलंकग्रन्थत्रय के संपादक पं० महेन्द्रकुमारजी के साथ मेरा परिचय छह साल का है। इतना ही नहीं बल्कि इतने अरसे के दार्शनिक चिन्तन के अखाड़े में हमलोग समशील साधक हैं। इससे मैं पूरा ताटस्थ्य रखकर भी निःसंकोच कह सकता हूँ कि पं० महेन्द्रकुमारजीका विद्याव्यायाम कम से कम जैन परंपरा के लिए तो सत्कारास्पद ही नहीं अनुकरणीय भी है। प्रस्तुत ग्रंथ का बहुश्रुत-संपादन उक्त कथन का साक्षी है। प्रस्तावना में विद्वान् संपादक ने अकलंक देव के समय के बारे में जो विचार प्रकट किया है मेरी समझ में अन्य समर्थ प्रमाणों के अभाव में वही विचार आन्तरिक यथार्थ तुलनामूलक होने से सत्य के विशेष निकट है। समयविचार में संपादक ने जो सूक्ष्म और विस्तृत तुलना की है वह तत्त्वज्ञान तथा इतिहास के रसिकों के लिए बहुमूल्य भोजन है। ग्रन्थ के परिचय में संपादक ने उन सभी पदार्थों का हिन्दी में वर्णन किया है जो अकलंकीय प्रस्तुत ग्रन्थत्रय में ग्रथित हैं। यह वर्णन संपादक के जैन और जैनेतर शास्त्रों के आकंठपान का उद्गार मात्र है। संपादक की दृष्टि यह है कि जो अभ्यासी जैन प्रमाणशास्त्र में आनेवाले पदार्थों को उनके असली रूप में हिन्दी भाषा के द्वारा ही अल्पश्रम में जानना चाहें उन्हें वह वर्णन उपयोगी हो। पर उसे साद्यन्त सुन लेने के बाद मेरे ध्यान में तो यह बात आई है कि संस्कृत के द्वारा ही जिन्होंने जैन न्याय-प्रमाण शास्त्र का परिशीलन किया है वैसे जिज्ञासु अध्यापक भी अगर उस वर्णन को पढ जायँगे तो संस्कृत मूल ग्रन्थों के द्वारा भी स्पष्ट एवं वास्तविक रूप में अज्ञात कई प्रमेयों को वे सुज्ञात कर सकेंगे। उदाहरणार्थ कुछ प्रमेयों का निर्देश भी कर देता हूँ—प्रमाणसंप्लव, द्रव्य और सन्तान की तुलना आदि। सर्वज्ञत्व भी उनमें से एक है, जिसके बारे में संपादक ने ऐसा ऐतिहासिक प्रकाश डाला है जो सभी दार्शनिकों के लिए ज्ञातव्य है। विशेषज्ञों के ध्यान में यह बात बिना आए नहीं रह सकती कि कम से कम जैन न्याय-प्रमाण के विद्यार्थियों के वास्ते तो सभी जैन संस्थाओं में यह हिन्दी विभाग वाचनीय रूप से अवश्य सिफारिश करने योग्य है।

प्रस्तुत ग्रंथ उस प्रमाणमीमांसा की एक तरह से पूर्ति करता है जो थोड़े ही दिनों पहले सिंघी जैन सिरीज में प्रकाशित हुई है। प्रमाणमीमांसा के हिन्दी टिप्पणों में तथा प्रस्तावना में नहीं आए ऐसे प्रमेयों का भी प्रस्तुत ग्रंथ के हिन्दी वर्णन में समावेश है। और उसमें आए हुए अनेक पदार्थों का सिर्फ दूसरी भाषा तथा शैली में ही नहीं बल्कि दूसरी दृष्टि तथा दूसरी सामग्री के साथ समावेश है। अतएव कोई भी जैन तत्त्वज्ञान का एवं न्याय-प्रमाण-शास्त्र का गम्भीर अभ्यासी सिंघी जैन सिरीज के इन दोनों ग्रंथों से बहुत कुछ जान सकेगा।

प्रसंगवश मैं अपने पूर्व लेख की सुधारणा भी कर लेता हूँ। मैंने अपने पहले लेखों में अनेकान्त की व्याप्ति बतलाते हुए यह भाव सूचित किया है कि प्रधानतया अनेकान्त तात्त्विक प्रमेयों की ही चर्चा करता है। अलबत्ता उस समय मेरा वह भाव तर्कप्रधान ग्रंथों को लेकर ही था। पर इसके स्थान में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि तर्कयुग में अनेकान्त की विचारणा भले ही प्रधानतया तत्त्विक प्रमेयों को लेकर हुई हो फिर भी अनेकान्त दृष्टि का उपयोग तो आचार के प्रदेश में आगमों में उतना ही हुआ है जितना कि तत्त्वज्ञान के प्रदेश में। तर्कयुगीन साहित्य में भी अनेक ऐसे ग्रंथ बने हैं जिनमें प्रधानतया आचार के विषयों को लेकर ही अनेकान्त दृष्टि का उपयोग हुआ है। अतएव समुच्चय रूप से यही कहना चाहिए कि अनेकान्त दृष्टि आचार और विचार के प्रदेश में एक सी लागू की गई है।

सिंघी जैन सिरीज के लिए यह सुयोग ही है कि जिसमें प्रसिद्ध दिगंबराचार्य की कृतियों का एक विशिष्ट दिगंबर विद्वान् के द्वारा ही सम्पादन हुआ है। यह भी एक आकस्मिक सुयोग नहीं है कि दिगंबराचार्य की अन्यत्र अलभ्य परंतु श्वेताम्बरीय-भाण्डार से ही प्राप्त ऐसी विरल कृति का प्रकाशन श्वेताम्बर परंपरा के प्रसिद्ध बाबू श्री बहादुरसिंह जी सिंघी के द्वारा स्थापित और प्रसिद्ध ऐतिहासिक मुनि श्री जिन विजय जी के द्वारा संचालित सिंघी जैन सिरीज में हो रहा है। जब मुझको विद्वान् मुनि श्री पुण्यविजय जी के द्वारा प्रमाणसंग्रह उपलब्ध हुआ तब यह पता न था कि वह अपने दूसरे दो सहोदरों के साथ इतना अधिक सुसज्जित होकर प्रसिद्ध होगा।

ई० १९३९] ['अकलंकग्रन्थत्रय' का प्राक्कथन

जैन साहित्य की प्रगति

समानशील मित्रगण !

मैं आभारविधि व लाचारी प्रदर्शन के उपचार से प्रारंभ में ही छुट्टी पा लेता हूँ। इससे हम सभी का समय बच जाएगा।

आपको यह जान कर दुःख होगा कि इसी लखनऊ शहर के श्री अजित प्रसाद जी जैन अब हमारे बीच नहीं रहे। उन्होंने गोम्मटसार जैसे कठिन ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। और वे जैन गजट के अनेक वर्षों तक संपादक रहे। उनका अदम्य उत्साह हम सब में हो ऐसी भावना के साथ उनकी आत्मा को शान्ति मिले यही प्रार्थना है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री सागरानंद सूरि का इसी वर्ष स्वर्गवास हो गया है। उन्होंने अपनी सारी जिन्दगी अनेकविध पुस्तक प्रकाशन में लगाई। उन्हीं की एकाग्रता तथा कार्यपरायणता से आज विद्वानों को जैन साहित्य का बहुत बड़ा भाग सुलभ है। वे अपनी धुन में इतने पक्के थे कि आरंभ किया काम अकेले हाथ से पूरा करने में भी कभी नहीं हिचके। उनकी चिर-साहित्योपासना हमारे बीच विद्यमान है। हम सभी साहित्य-संशोधन प्रेमी उनके कार्य का मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उनकी समाहित आत्मा के प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करें।

जैन विभाग से सम्बद्ध विषयों पर सन् १६४१ से अभी तक चार प्रमुखों के भाषण हुए हैं। डॉ० ए. एन्. उपाध्ये का भाषण जितना विस्तृत है उतना ही अनेक मुद्दों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला है। उन्होंने प्राकृत भाषा का सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से तथा शुद्ध भाषातत्त्व के अभ्यास की दृष्टि से क्या स्थान है इसकी गंभीर व विस्तृत चर्चा की है। मैं इस विषय में अधिक न कह कर केवल इससे संबद्ध एक मुद्दे पर चर्चा करूँगा। वह है भाषा की पवित्रापवित्रता की मिथ्या भावना।

शास्त्रीय भाषाओं के अभ्यास के विषय में—

मैं शुरू में पुरानी प्रथा के अनुसार काशी में तथा अन्यत्र जब उच्च कक्षा के साहित्यिक व आलंकारिक विद्वानों के पास पढ़ता था तब अलंकार नाटक आदि में

आनेवाले प्राकृत गद्य-पद्य का उनके मुँह से वाचन सुन कर विस्मित सा हो जाता था, यह सोच कर कि इतने बड़े संस्कृत के दिग्गज पंडित प्राकृत को यथावत् पढ़ भी क्यों नहीं सकते ? विशेष अचरज तो तब होता था जब वे प्राकृत गद्य-पद्य का संस्कृत छाया के सिवाय अर्थ ही नहीं कर सकते थे। ऐसा ही अनुभव मुझको प्राकृत व पालि के पारदर्शी पर एकांगी श्रमणों के निकट भी हुआ है, जब कि उन्हें संस्कृत भाषा में लिखे हुए अपने परिचित विषय को ही पढ़ने का अवसर आता। धीरे-धीरे उस अचरज का समाधान यह हुआ कि वे पुरानी एकांगी प्रथा से पढ़े हुए हैं। पर यह त्रुटि जब यूनिवर्सिटी के अध्यापकों में भी देखी तब मेरा अचरज द्विगुणित हो गया। हम भारतीय जिन पाश्चात्य विद्वानों का अनुकरण करते हैं उनमें यह त्रुटि नहीं देखी जाती। अतएव मैं इस वैषम्य के मूल कारण की खोज करने लगा तो उस कारण का कुछ पता चल गया जिसका सूचन करना भावी सुधार की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं।

जैन आगम भगवती में कहा गया है कि अर्धमागधी देवों की भाषा है।[1] बौद्ध पिटक में भी बुद्ध के मुख से कहलाया गया है कि बुद्धबचन को प्रत्येक देश के लोग अपनी-अपनी भाषा में कहें[2], उसे संस्कृतबद्ध करके सीमित करने की आवश्यकता नहीं। इसी तरह पतंजलि ने महाभाष्य में संस्कृत शब्दानुशासन के प्रयोजनों को दिखाते हुए कहा कि 'न म्लेच्छितवै नापभाषितवै'[3] अर्थात् ब्राह्मण अपभ्रंश का प्रयोग न करे। इन सभी कथनों से आपाततः ऐसा जान पड़ता है कि मानों जैन व बौद्ध प्राकृतभाषा को देववाणी मान कर संस्कृत का तिरस्कार करते हैं या महाभाष्यकार संस्कृतेतर भाषा को अपभाषा कह कर तिरस्कृत करते हैं। पर जब आगे पीछे के संदर्भ व विवरण तथा तत्कालीन प्रथा के आधार पर उन कथनों की गहरी जाँच की तो स्पष्ट प्रतीत हुआ कि उस जमाने में भाषाद्वेष का प्रश्न नहीं था किन्तु अपने शास्त्र की भाषा की संस्कार शुद्धि की रक्षा करना, इसी उद्देश्य से शास्त्रकार चर्चा करते थे। इस सत्य की प्रतीति तब होती है जब हम भर्तृहरि को 'वाक्यपदीय' में साधु-असाधु शब्दों के प्रयोग की चर्चा-प्रसंग में अपभ्रंश व असाधु कहे जानेवाले

---

१ भगवती श० ५, उ० ४। प्रज्ञापना-प्रथमपद में मागधी को आर्य भाषा कहा है।

२. चुल्लवग्ग-खुद्दक-वत्थुखन्ध-बुद्धवचननिरुत्ति।

३. महाभाष्य पृ० ४६।

शब्दों को भी अपने वर्तुल में साधु बतलाते हुए पाते हैं।[1] इसी प्रकार जब आचार्य आर्यरक्षित 'अनुयोगद्वार' में[2] संस्कृत-प्राकृत दोनों उक्तियों को प्रशस्त बतलाते हैं, व वाचक उमास्वाति आर्यभाषा रूप से किसी एक भाषा का निर्देश न करके केवल इतना ही कहते हैं कि जो भाषा स्पष्ट और शुद्ध रूप से उच्चारित हो और लोक संव्यवहार साध सके वह आर्य भाषा,[3] तब हमें कोई संदेह नहीं रहता कि अपने-अपने शास्त्र की मुख्य भाषा को शुद्धि की रक्षा की ओर ही तात्कालिक परंपरागत विद्वानों का लक्ष्य था।

पर उस सांप्रदायिक एकांगी आत्मरक्षा की दृष्टि में धीरे-धीरे ऊँच-नीच भाव के अभिमान का विष दाखिल हो रहा था। हम इसकी प्रतीति सातवीं शताब्दी के आसपास के ग्रन्थों में स्पष्ट पाते हैं।[4] फिर तो भोजन, विवाह, व्यवसाय आदि व्यवहार क्षेत्र में जैसे ऊँच-नीच भाव का विष फैला वैसे ही शास्त्रीय भाषाओं के वर्तुल में भी फैला। अलंकार, काव्य, नाटक आदि के अभ्यासी विद्यार्थी व पंडित उनमें आने वाले प्राकृत भागों को छोड़ तो सकते न थे, पर वे विधिवत् आदर-पूर्वक अध्ययन करने के संस्कार से भी वंचित थे। इसका फल यह हुआ कि बड़े-बड़े प्रकाण्ड गिने जाने वाले संस्कृत के दार्शनिक व साहित्यिक विद्वानों ने अपने विषय से संबद्ध प्राकृत व पालि साहित्य को छुआ तक नहीं। यही स्थिति पालि पिटक के एकांगी अभ्यासियों की भी रही। उन्होंने भी अपने-अपने विषय से संबद्ध महत्त्वपूर्ण संस्कृत साहित्य की यहाँ तक उपेक्षा की कि अपनी ही परंपरा में बने हुए संस्कृत वाङ्मय से भी वे बिलकुल अनजान रहे।[5] इस विषय में जैन परंपरा की स्थिति उदार रही है, क्योंकि आ० आर्यरक्षित ने तो संस्कृत-प्राकृत दोनों का समान रूप से मूल्य आँका है। परिणाम यह है कि वाचक उमास्वाति के समय से आज तक के लगभग १५०० वर्ष के जैन विद्वान संस्कृत और प्राकृत वाङ्मय का तुल्य आदर करते आए हैं। और सब विषय के साहित्य का निर्माण भी दोनों भाषाओं में करते आए हैं।

इस एकांगी अभ्यास का परिणाम तीन रूपों में हमारे सामने है। पहला

---

१. वाक्यपदीय प्रथम काण्ड, का० २४८-२५६।

२. अनुयोगद्वार पृ० १३१।

३. तत्त्वार्थभाष्य ३. १५।

४. 'असाधुशब्दभूयिष्ठाः शाक्य-जैनागमादय.' इत्यादि, तंत्रवार्तिक पृ० २३७

५. उदाहरणार्थ-सीलोन, बर्मा आदि के भिक्खू महायान के संस्कृत ग्रन्थों से अछूते हैं।

तो यह कि एकांगी अभ्यासी अपने सांप्रदायिक मन्तव्य का कभी-कभी यथावत् निरूपण ही नहीं कर पाता। दूसरा यह कि वह अन्य मत की समीक्षा अनेक बार गलत धारणाओं के आधार पर करता है। तीसरा रूप यह है कि एकांगी अभ्यास के कारण संबद्ध विषयों व ग्रन्थों के अज्ञान से ग्रन्थगत पाठ ही अनेक बार गलत हो जाते हैं। इसी तीसरे प्रकार की ओर प्रो० विधुशेखर शास्त्री ने ध्यान खींचते हुए कहा है कि 'प्राकृत भाषाओं के अज्ञान तथा उनकी उपेक्षा के कारण 'वेणी संहार' में कितने ही पाठों की अव्यवस्था हुई है[१]।' पंडित बेचरदासजी ने 'गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति' में (पृ० १०० टि० ६२ में) शिवराम म० प्रांजपे संपादित 'प्रतिमा नाटक' का उदाहरण देकर वही बात कही है। राजशेखर की 'कर्पूर मंजरी' के टीकाकार ने अशुद्ध पाठ को ठीक समझ कर ही उसकी टीका की है। डा० ए. एन उपाध्ये ने भी अपने वक्तव्य में प्राकृत भाषाओं के यथावत् ज्ञान न होने के कारण संपादकों व टीकाकारों के द्वारा हुई अनेकविध भ्रान्तियों का निदर्शन किया है।

विश्वविद्यालय के नए युग के साथ ही भारतीय विद्वानों में भी संशोधन की तथा व्यापक अध्ययन की महत्त्वाकांक्षा व रुचि जगी। वे भी अपने पुरोगामी पाश्चात्य गुरुओं की दृष्टि का अनुसरण करने की ओर झुके व अपने देश की प्राचीन प्रथा को एकांगिता के दोष से मुक्त करने का मनोरथ व प्रयत्न करने लगे। पर अधिकतर ऐसा देखा जाता है कि उनका मनोरथ व प्रयत्न अभी तक सिद्ध नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है। कॉलेज व यूनिवर्सिटी की उपाधि लेकर नई दृष्टि से काम करने के निमित्त आए हुए विश्वविद्यालय के अधिकांश अध्यापकों में वही पुराना एकांगी संस्कार काम कर रहा है। अतएव ऐसे अध्यापक मुँह से तो असांप्रदायिक व व्यापक तुलनात्मक अध्ययन की बात करते हैं पर उनका हृदय उतना उदार नहीं है। इससे हम विश्वविद्यालय के वर्तुल में एक विसंवादी चित्र पाते हैं। फलतः विद्यार्थियों का नया जगत् भी समीचीन दृष्टिलाभ न होने से दुविधा में ही अपने अभ्यास को एकांगी व विकृत बना रहा है।

हमने विश्वविद्यालय के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों की तटस्थ समालोचना मूलक प्रतिष्ठा प्राप्त करनी चाही पर हम भारतीय अभी तक अधिकांश में उससे वंचित ही रहे हैं। वेबर, मेक्समूलर, गायगर, लोयमन, पिशल, जेकोबी, ओल्डनबर्ग, शार्पेन्टर, सिल्वन लेवी आदि गत युग के तथा डॉ० थॉमस बेईली, बरो शुब्रिंग, आल्सडोर्फ, रेनु आदि वर्तमान युग के संशोधक विद्वान् आज भी

१. 'पालि प्रकाश' प्रवेशक पृ० १८, टि० ४२।

संशोधनक्षेत्र में भारतीयों की अपेक्षा ऊँचा स्थान रखते हैं। इसका कारण क्या है इस पर हमें यथार्थ विचार करना चाहिए। पाश्चात्य विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम सत्यशोधक वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर रखा जाता है। इससे वहाँ के विद्वान् सर्वांगीण दृष्टि से भाषाओं तथा इतर विषयों का अध्ययन करते कराते हैं। वे हमारे देश की रूढ़प्रथा के अनुसार केवल सांप्रदायिक व संकुचित दायरे में बद्ध होकर न तो भाषाओं का एकांगी अध्ययन करते हैं और न इतर विषयों का ही। अतएव वे कार्यकाल में किसी एक ही क्षेत्र को क्यों न अपनाएँ पर उनकी दृष्टि व कार्यपद्धति सर्वांगीण होती है। वे अपने संशोधन क्षेत्र में सत्यलक्षी ही रह कर प्रयत्न करते हैं। हम भारतीय संस्कृति की अखण्डता व महत्ता की डींग हाँकें और हमारा अध्ययन-अध्यापन व संशोधन विषयक दृष्टिकोण खंडित व एकांगी हो तो सचमुच हम अपने आप ही अपनी संस्कृति को खंडित व विकृत कर रहे हैं।

एम० ए०, डॉक्टरेट जैसी उच्च उपाधि लेकर संस्कृत साहित्य पढ़ाने वाले अनेक अध्यापकों को आप देखेंगे कि वे पुराने एकांगी पंडितों की तरह ही प्राकृत का न तो सीधा अर्थ कर सकते हैं, न उसकी शुद्धि-अशुद्धि पहचानते हैं, और न छाया के सिवाय प्राकृत का अर्थ भी समझ सकते हैं। यही दशा प्राकृत के उच्च उपाधिधारकों की है। वे पाठ्यक्रम में नियत प्राकृतसाहित्य को पढ़ाते हैं तब अधिकांश में अंग्रेजी भाषान्तर का आश्रय लेते हैं, या अपेक्षित व पूरक संस्कृत ज्ञान के अभाव के कारण किसी तरह कक्षा की गाड़ी खींचते हैं। इससे भी अधिक दुर्दशा तो 'एन्श्यन्ट इन्डियन हिस्ट्री एन्ड् कल्चर' के क्षेत्र में कार्य करने वालों की है। इस क्षेत्र में काम करनेवाले अधिकांश अध्यापक भी प्राकृत-शिला-लेख, सिक्के आदि पुरातत्त्वीय सामग्री का उपयोग अंग्रेजी भाषान्तर द्वारा ही करते हैं। वे सीधे तौर से प्राकृत भाषाओं के न तो मर्म को पकड़ते हैं और न उन्हें यथावत् पढ़ ही पाते हैं। इसी तरह वे संस्कृत भाषा के आवश्यक बोध से भी वंचित होने के कारण अंग्रेजी भाषान्तर पर निर्भर रहते हैं। यह कितने दुःख व लज्जा की बात है कि पाश्चात्य संशोधक विद्वान् अपने इस विषय के संशोधन व प्रकाशन के लिए अपेक्षित सभी भाषाओं का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने की पूरी चेष्टा करते हैं तब हम भारतीय घर की निजी सुलभ सामग्री का भी पूरा उपयोग नहीं कर पाते।

इस स्थिति में तत्काल परिवर्तन करने की दृष्टि से अखिल भारतीय प्राच्य विद्वत्परिषद् को विचार करना चाहिए। मेरी राय में उसका कर्तव्य इस विषय में

विशेष महत्त्व का है। वह सभी भारतीय विश्वविद्यालयों को एक प्रस्ताव के द्वारा अपना सुझाव पेश कर सकती है जो इस मतलब का हो—

"कोई भी संस्कृत भाषा का अध्यापक ऐसा नियुक्त न किया जाए जिसने प्राकृत भाषाओं का कम से कम भाषादृष्टि से अध्ययन न किया हो। इसी तरह कोई भी प्राकृत व पालि भाषा का अध्यापक ऐसा नियुक्त न हो जिसने संस्कृत भाषा का अपेक्षित प्रामाणिक अध्ययन न किया हो।"

इसी तरह प्रस्ताव में पाठ्यक्रम संबन्धी भी सूचना हो वह इस मतलब की कि—

"कॉलेज के स्नातक तक के भाषा विषयक अभ्यास क्रम में संस्कृत व प्राकृत दोनों का साथ-साथ तुल्य स्थान रहे, जिससे एक भाषा का ज्ञान दूसरी भाषा के ज्ञान के बिना अधूरा न रहे। स्नातक के विशिष्ट (आनर्स) अभ्यास क्रम में तो संस्कृत, प्राकृत व पालि भाषाओं के सह अध्ययन की पूरी व्यवस्था करनी चाहिए। जिससे विद्यार्थी आगे के किसी कार्यक्षेत्र में परावलम्बी न बने।"

उक्त तीनों भाषाओं एवं उनके साहित्य का तुलनात्मक व कार्यक्रम अध्ययन होने से स्वयं अध्येता व अध्यापक दोनों का लाभ है। भारतीय संस्कृति का यथार्थ निरूपण भी संभव है और आधुनिक संस्कृत-प्राकृत मूलक सभी भाषाओं के विकास की दृष्टि से भी वैसा अध्ययन बहुत उपकारक है।

उल्लेख योग्य दो प्रवृत्तियाँ—

डॉ० उपाध्ये ने आगमिक साहित्य के संशोधित संपादन की ओर अधिकारियों का ध्यान खींचते हुए कहा है कि—

"It is high time now for the Jaina Community and the orientalists to collaborate in order to bring forth a standard edition of the entire Ardhamagadhi canon with the available Nijjuttis and Curnis on an uniform plan. It would be a solid foundation for all further studies. Pischel did think of a Jaina Text Society at the beginning of this century, in 1914, on the eve of his departure from India, Jacobi announced that an edition of the Siddhanta, the text of which can lay a claim to finality, would only be possible by using the old palm-leaf Mss. from the Patan Bhandaras, and only four years back Dr. Schubring also stressed this very point."

निःसंदेह आगमिक साहित्य के प्रकाशन के वास्ते भिन्न-भिन्न स्थानों में अनेक वर्षों से आज तक अनेक प्रयत्न हुए हैं। वे प्रयत्न कई दृष्टि से उपयोगी भी सिद्ध हुए हैं तो भी प्रो० जेकोबी और डॉ० शुब्रिंग ने जैसा कहा है वैसे ही संशोधित संपादन की दृष्टि से एक अखण्ड प्रयत्न को आवश्यकता आज तक बनी हुई है। डॉ० पिशल ने इस शताब्दी के प्रारंभ में ही सोचा था कि 'पालि टेक्स्ट सोसायटी' जैसी एक 'जैन टेक्स्ट सोसायटी' की आवश्यकता है। हम सभी प्राच्यविद्या के अभ्यासी और संशोधन में रस लेनेवाले भी अनेक वर्षों से ऐसे ही आगमिक साहित्य तथा इतर जैन साहित्य के संशोधित संस्करण के निमित्त होने वाले सुसंवादी प्रयत्न का मनोरथ कर रहे थे। हर्ष की बात है कि पिशल आदि की सूचना और हमलोगों का मनोरथ अब सिद्ध होने जा रहा है। इस दिशा में भगीरथ प्रयत्न करने वाले वे ही मुनि श्री पुण्यविजयजी हैं जिनके विषय में डॉ० उपाध्ये ने दश वर्ष पहिले कहा था—

"He (late Muni Shri Chaturavijayaji) has left behind a worthy and well trained pupil in Shri Punyavijayaji who is silently carrying out the great traditions of learning of his worthy teacher."

मैं मुनि श्री पुण्यविजयजी के निकट परिचय में ३६ वर्ष से सतत रहता आया हूँ। उन्होंने लिम्बड़ी, पाटन, बड़ौदा आदि अनेक स्थानों के अनेक भंडारों को सुव्यवस्थित किया है और सुरक्षित बनाया है। अनेक विद्वानों के लिए संपादन-संशोधन में उपयोगी हस्तलिखित प्रतियों को सुलभ बनाया है। उन्होंने स्वयं अनेक महत्त्व के संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों का संपादन भी किया है। इतने लम्बे और पक्क अनुभव के बाद ई० स० १६४५ में 'जैन आगम संसद' की स्थापना करके वे अब जैनागमों के संशोधन में उपयोगी देश विदेश में प्राप्य समग्र सामग्री को जुटाने में लग गए हैं। मैं आशा करता हूँ कि उनके इस कार्य से जैनागमों की अन्तिम रूप में प्रामाणिक आवृत्ति हमें प्राप्त होगी। आगमों के संशोधन की दृष्टि से ही वे अब अपना विहारक्रम और कार्यक्रम बनाते हैं। इसी दृष्टि से वे पिछले वर्षों में बड़ौदा, खंभात, अहमदाबाद आदि स्थानों में रहे और वहाँ के भंडारों को यथासंभव सुव्यस्थित करने के साथ ही आगमों के संशोधन में उपयोगी बहुत कुछ सामग्री एकत्र की है। पाटन, लिम्बड़ी, भावनगर आदि के भंडारों में जो कुछ है वह तो उनके पास संगृहीत था ही। उसमें बड़ौदा आदि के भंडारों से जो मिला उससे पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई है। इतने से भी वे संतुष्ट न हुए और स्वयं जैसलमेर के भंडारों का निरीक्षण करने के लिए अपने दलबल के साथ

ई० १६५० के प्रारंभ में पहुँच गए। जैसलमेर में जाकर शास्त्रोद्धार और भंडारों का उद्धार करने के लिए उन्होंने जो किया है उसका वर्णन यहाँ करना संभव नहीं। मैंने अपने व्याख्यान के अंत में उसे परिशिष्ट रूप से जोड़ दिया है।

उस सामग्री का महत्त्व अनेक दृष्टि से है। 'विशेषावश्यक भाष्य', 'कुवलयमाला', 'ओघनिर्युक्ति वृत्ति' आदि अनेक ताड़पत्रीय और कागजी ग्रन्थ ६०० वर्ष तक के पुराने और शुद्धप्रायः हैं। इसमें जैन परंपरा के उपरान्त बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा की भी अनेक महत्त्वपूर्ण पोथियाँ हैं। जिनका विषय काव्य, नाटक, अलंकार, दर्शन आदि है। जैसे—'खण्डन-खण्ड-खाद्यशिष्यहितैषिणी वृत्ति'—टिप्पण्यादि से युक्त, 'न्यायमंजरी-ग्रन्थिभंग', 'भाष्यवार्तिक-विवरण', पंजिकासह 'तत्त्वसंग्रह' इत्यादि। कुछ ग्रंथ तो ऐसे हैं जो अपूर्व हैं—जैसे 'न्यायटिप्पणक'—श्रीकंठीय, 'कल्पलताविवेक (कल्पपल्लवशेष), बौद्धाचार्यकृत 'धर्मोत्तरीय टिप्पण' आदि।

सोलह मास जितने कम समय में मुनि श्री ने रात और दिन, गरमी और सरदी का जरा भी ख्याल बिना किए जैसलमेर दुर्ग के दुर्गम स्थान के भंडार के अनेकांगी जीर्णोद्धार के विशालतम कार्य के वास्ते जो उग्र तपस्या की है उसे दूर बैठे शायद ही कोई पूरे तौर से समझ सके। जैसेलमेर के निवास दरमियान मुनि श्री के काम को देखने तथा अपनी अपनी अभिप्रेत साहित्यिक कृतिओं की प्राप्ति के निमित्त इस देश के अनेक विद्वान् तो वहाँ गए ही पर विदेशी विद्वान् भी वहाँ गए। हेम्बर्ग यूनिवर्सिटी के प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद डॉ० आल्सडोर्फ़ भी उनके कार्य से आकृष्ट होकर वहाँ गए और उन्होंने वहाँ की प्राच्य वस्तु व प्राच्य साहित्य के सैकड़ों फोटो भी लिए।

मुनि श्री के इस कार्य में उनके चिरकालीन अनेक साथियों और कर्मचारियों ने जिस प्रेम व निरीहता से सतत कार्य किया है और जैन संघ ने जिस उदारता से इस कार्य में यथेष्ट सहायता की है वह सराहनीय होने के साथ साथ मुनि श्री की साधुता, सहृदयता व शक्ति का द्योतक है।

मुनि श्री पुण्यविजय जी का अभी तक का काम न केवल जैन परम्परा से संबन्ध रखता है और न केवल भारतीय संस्कृति से ही संबन्ध रखता है, बल्कि मानव संस्कृति की दृष्टि से भी वह उपयोगी है। जब मैं यह सोचता हूँ कि उनका यह कार्य अनेक संशोधक विद्वानों के लिए अनेकमुखी सामग्री प्रस्तुत करता है और अनेक विद्वानों के श्रम को बचाता है तब उनके प्रति कृतज्ञता से हृदय भर आता है।

संशोधनरसिक विद्वानों के लिए स्फूर्तिदायक एक अन्य प्रवृत्ति का उल्लेख

भी मैं यहाँ उचित समझता हूँ। आचार्य मल्लवादी ने विक्रम छठी शताब्दी में 'नयचक्र' ग्रन्थ लिखा है। उसके मूल की कोई प्रति लब्ध नहीं है। सिर्फ उसकी सिंहगणि-क्षमाश्रमण कृत टीका की प्रति उपलब्ध होती है। टीका की भी जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे प्रायः अशुद्ध ही मिली हैं। इस प्रकार मूल और टीका दोनों का उद्धार अपेक्षित है। उक्त टीका में वैदिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थों के अवतरण विपुल मात्रा में हैं। किन्तु उनमें से बहुत ग्रन्थ अप्राप्य हैं। सद्भाग्य से बौद्ध ग्रंथों का तिब्बती और चीनी भाषान्तर उपलब्ध है। जब तक इन भाषान्तरों की सहायता न ली जाए तब तक यह ग्रन्थ शुद्ध हो ही नहीं सकता, यह उस ग्रन्थ के बड़ौदा गायकवाड़ सिरीज़ से प्रकाशित होनेवाले और श्री लब्धि-सूरि ग्रन्थ माला से प्रकाशित हुए संस्करणों के अवलोकन से स्पष्ट हो गया है। इस वस्तुस्थिति का विचार करके मुनि श्री जम्बूविजय जी ने इसी ग्रन्थ के उद्धार निमित्त तिब्बती भाषा सीखी है और उक्त ग्रन्थ में उपयुक्त बौद्ध ग्रन्थों के मूल अवतरण खोज निकालने का कार्य प्रारम्भ किया है। मेरी राय में प्रामाणिक संशोधन की दृष्टि से मुनि श्री जम्बूविजय जी का कार्य विशेष मूल्य रखता है। आशा है वह ग्रन्थ थोड़े ही समय में अनेक नए ज्ञातव्य तथ्यों के साथ प्रकाश में आएगा।

उल्लेख योग्य प्रकाशन कार्य—

पिछले वर्षों में जो उपयोगी साहित्य प्रकाशित हुआ है किन्तु जिनका निर्देश इस विभागीय प्रमुख के द्वारा नहीं हुआ है, तथा जो पुस्तकें अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं पर शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली हैं उन सबका नहीं परन्तु उनमें से चुनी हुई पुस्तकों का नाम निर्देश अन्त में मैंने परिशिष्ट में ही करना उचित समझा है। यहाँ तो मैं उनमें से कुछ ग्रन्थों के बारे में अपना विचार प्रकट करूँगा।

जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर द्वारा प्रकाशित दो ग्रंथ खास महत्त्व के हैं। पहला है 'यशस्तिलक एण्ड इन्डियन् कल्चर्'। इसके लेखक हैं प्रोफेसर के० के० हाण्डीकी। श्री हाण्डीकी ने ऐसे संस्कृत ग्रन्थों का किस प्रकार अध्ययन किया जा सकता है उसका एक रास्ता बताया है। यशस्तिलक के आधार पर तत्कालीन भारतीय संस्कृति के सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि पहलुओं से संस्कृति का चित्र खींचा है। लेखक का यह कार्य बहुत समय तक बहुतों को नई प्रेरणा देने वाला है। दूसरा ग्रन्थ है 'तिलोयपण्णत्ति' द्वितीय भाग। इसके संपादक हैं ख्यातनामा प्रो० हीरालाल जैन और प्रो० ए० एन.

उपाध्ये। दोनों संपादकों ने हिन्दी और अंग्रेजी प्रस्तावना में मूलसम्बद्ध अनेक ज्ञातव्य विषयों की सुविशद चर्चा की है।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, अपने कई प्रकाशनों से सुविदित है। मैं इसके नए प्रकाशनों के विषय में कहूँगा। पहला है 'न्यायविनिश्चय विवरण' प्रथम भाग। इसके संपादक हैं प्रसिद्ध पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य। अकलंक के मूल और वादिराज के विवरण की अन्य दर्शनों के साथ तुलना करके संपादक ने ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ा दिया है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में संपादक ने स्याद्वाद-संबन्धी विद्वानों के भ्रमों का निरसन करने का प्रयत्न किया है। उन्हीं का दूसरा संपादन है तत्त्वार्थ की 'श्रुतसागरी टीका'। उसकी प्रस्तावना में अनेक ज्ञातव्य विषयों की चर्चा सुविशद रूप से की गई है। खास कर 'लोक वर्णन और भूगोल' संबन्धी भाग बड़े महत्त्व का है। उसमें उन्होंने जैन, बौद्ध, वैदिक परंपरा के मन्तव्यों की तुलना की है। ज्ञानपीठ का तीसरा प्रकाशन है—'समयसार' का अंग्रेजी अनुवाद। इसके संपादक हैं वयोवृद्ध विद्वान् प्रो० ए० चक्रवर्ती। इस ग्रन्थ की भूमिका जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण विषयों से परिपूर्ण है। पर उन्होंने शंकराचार्य पर कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के प्रभाव की जो संभावना की है वह चिन्त्य है।[1] इसके अलावा 'महापुराण' का नया संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ भी प्रकाशित हुआ है। अनुवादक हैं श्री पं० पन्नालाल, साहित्याचार्य। संस्कृत-प्राकृत छन्दःशास्त्र के सुविद्वान् प्रो० एच० डी० वेलणकर ने सभाष्य 'रत्नमंजूषा' का संपादन किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने टिप्पण भी लिखा है।

आचार्य श्री मुनि जिनविजय जी के मुख्य संपादकत्व में प्रकाशित होने वाली 'सिंघी जैन ग्रन्थ माला' से शायद ही कोई विद्वान् अपरिचित हो। पिछले वर्षों में जो पुस्तकें प्रसिद्ध हुई हैं उनमें से कुछ का परिचय देना आवश्यक है। 'न्यायावतार वार्तिक-वृत्ति' यह जैन न्याय विषयक ग्रन्थ है। इसमें मूल कारिकाएँ सिद्धसेन कृत हैं। उनके ऊपर पद्यबद्ध वार्तिक और उसकी गद्य वृत्ति शान्त्याचार्य कृत हैं। इसका संपादन पं० दलसुख मालवणिया ने किया है। संपादक ने जो विस्तृत भूमिका लिखी है उसमें आगम काल से लेकर एक हजार वर्ष तक के जैन दर्शन के प्रमाण, प्रमेय विषयक चिन्तन का ऐतिहासिक व तुलनात्मक निरूपण है। ग्रन्थ के अन्त में सम्पादक ने अनेक विषयों पर टिप्पण लिखे हैं जो भारतीय दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिए ज्ञातव्य हैं।

---

१. देखो, प्रो० विमलदास कृत समालोचना; ज्ञानोदय–सितम्बर १६५१।

प्रो० दामोदर धर्मानन्द कोसंबी संपादित 'शतकत्रयादि', प्रो० अमृतलाल गोपाणी संपादित भद्रबाहु संहिता', आचार्य जिनविजयजी संपादित 'कथाकोष-प्रकरण', मुनि श्री पुण्यविजय जी संपादित 'धर्माभ्युदय महाकाव्य' इन चार ग्रन्थों के प्रास्ताविक व परिचय में साहित्य, इतिहास तथा संशोधन में रस लेने वालों के लिए बहुत कीमती सामग्री है।

'षट्खण्डागम' की 'धवला' टीका के नव भाग प्रसिद्ध हो गए हैं। यह अच्छी प्रगति है। किन्तु 'जयधवला' टीका के अभी तक दो ही भाग प्रकाशित हुए हैं। आशा की जाती है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन में शीघ्रता होगी। भारतीय ज्ञानपीठ ने 'महाबंध' का एक भाग प्रकाशित किया किन्तु इसकी भी प्रगति रुकी हुई है। यह भी शीघ्रता से प्रकाशित होना जरूरी है।

'यशोविजय जैनग्रंथ माला' पहले काशी से प्रकाशित होती थी। उसका पुनर्जन्म भावनगर में स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी के सहकार से हुआ है। उस ग्रंथमाला में स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनका निर्देश करना आवश्यक है। 'तीर्थराज आबु' यह 'आबु' नाम से प्रथम प्रकाशित पुस्तक का तृतीय संस्करण है। इसमें ८० चित्र हैं। और संपूर्ण आबु का पूरा परिचय है। इस पुस्तक की यह भी एक विशेषता है कि आबु के प्रसिद्ध मंदिर विमल वसही और लूणिग वसही में उत्कीर्ण कथा-प्रसंगों का पहली बार यथार्थ परिचय कराया गया है। 'अर्बुदाचल प्राचीन जैन लेख संदोह' यह भी उक्त मुनि जी का ही संपादन है। इसमें आबु में प्राप्त समस्त जैन शिलालेख सानुवाद दिये गए हैं। इसके अलावा इसमें अनेक उपयोगी परिशिष्ट भी हैं। उन्हीं की एक अन्य पुस्तक 'अचलगढ़' है जिसकी द्वितीय आवृत्ति हाल में ही हुई है। उन्हीं का एक और ग्रन्थ 'अर्बुदाचल प्रदक्षिणा' भी प्रकाशित हुआ है। इसमें आबु पहाड़ के और उसके आसपास के ९७ गाँवों का वर्णन है, चित्र हैं और नक्शा भी दिया हुआ है। इसी का सहचारी एक और ग्रंथ भी मुनि जी ने 'अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह' नाम से संपादित किया है। इसमें प्रदक्षिणा गत गाँवों के शिलालेख सानुवाद हैं। ये सभी ग्रंथ ऐतिहासिकों के लिए अच्छी खोज की सामग्री उपस्थित करते हैं।

वीरसेवा मंदिर, सरसावा के प्रकाशनों में से 'पुरातन जैन वाक्य सूची' प्रथम उल्लेख योग्य है। इसके संग्राहक-संपादक हैं वयोवृद्ध कर्मठ पंडित श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार। इसमें मुख्तार जी ने दिगम्बर प्राचीन प्राकृत ग्रंथों की कारिकाओं की अकारादि-क्रम से सूची दी है। संशोधक विद्वानों के लिए बहुमूल्य पुस्तक है। उन्हीं मुख्तार जी ने 'स्वयंभूस्तोत्र' और 'युक्त्यनुशासन' का भी अनु-

वाद प्रकाशित किया है। संस्कृत नहीं जाननेवालों के लिए श्री मुख्तार जी ने यह अच्छा संस्करण उपस्थित किया है। इसी प्रकार मंदिर की ओर से पं० श्री दरबारी लाल कोठिया कृत 'आप्तपरीक्षा' का हिन्दी अनुवाद भी प्रसिद्ध हुआ है। वह भी जिज्ञासुओं के लिए अच्छी सामग्री उपस्थित करता है।

'श्री दिगम्बर जैन क्षेत्र श्री महावीर जी' यह एक तीर्थ रक्षक संस्था है किन्तु उसके संचालकों के उत्साह के कारण उसने जैन साहित्य के प्रकाशन के कार्य में भी रस लिया है और दूसरी वैसी संस्थाओं के लिए भी वह प्रेरणादायी सिद्ध हुई है। उस संस्था की ओर से प्रसिद्ध आमेर (जयपुर) भंडार की सूची प्रकाशित हुई है। और 'प्रशस्तिसंग्रह' नाम से उन हस्तलिखित प्रतियों के अंत में दी गई प्रशस्तिओं का संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। उक्त सूची से प्रतीत होता है कि कई अपभ्रंश ग्रन्थ अभी प्रकाशन को राह देख रहे हैं। उसी संस्था की ओर से जैनधर्म के जिज्ञासुओं के लिए छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। 'सर्वार्थ सिद्धि' नामक 'तत्त्वार्थसूत्र' की व्याख्या का संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित हुआ है।

माणिकचन्द्र दि० जैन-ग्रन्थ माला, बंबई की ओर से कवि हस्तिमल्ल के शेष दो नाटक 'अंजना-पवनंजय नाटक and सुभद्रा नाटिका' के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। उनका संपादन प्रो० एम. वी. पटवर्धन ने एक विद्वान् को शोभा देने वाला किया है। ग्रन्थ की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि संपादक संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ पंडित हैं।

वीर शासन संघ, कलकत्ता की ओर से 'The Jaina Monuments and Places of First class Importance' यह ग्रन्थ श्री टी० एन्० रामचन्द्र द्वारा संगृहीत होकर प्रकाशित हुआ है। श्री रामचन्द्र इसी विषय के मर्मज्ञ पंडित हैं अतएव उन्होंने अपने विषय को सुचारुरूप से उपस्थित किया है। लेखक ने पूर्वबंगाल में जैनधर्म—इस विषय पर उक्त पुस्तक में जो लिखा है वह विशेषतया ध्यान देने योग्य है।

डॉ० महाएडले ने 'Historical Grammar of Inscriptional Prakrits' (पूना १६४८) में प्रमुख प्राकृत शिलालेखों की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया है। और अभी अभी Dr. Bloch ने 'Les Inscriptions d' Asoka' (Paris 1950) में अशोक की शिलालेखों की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया है।

भारतीय पुरातत्त्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० विमलाचरण लॉ ने कुछ जैन सूत्रों के विषय में लेख लिखे थे। उनका संग्रह 'सम् जैन केनोनिकल सूत्राज़'

इस नाम से रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की ओर से प्रसिद्ध हुआ है। जैन सूत्रों के अध्ययन की दिशा इन लेखों से प्राप्त होती है। लेखक ने इस पुस्तक में कई बातें ऐसी भी लिखी हैं जिनसे सहमत होना संभव नहीं।

प्रो० कापड़िया ने गुजराती भाषा में 'पाइय भाषाओ अने साहित्य' नामक एक छोटी सी पुस्तिका लिखी है। इसमें ज्ञातव्य सभी बातों के समावेश का प्रयत्न होने से पुस्तिका उपयोगी सिद्ध हुई है। किन्तु इसमें भी कई बातें ऐसी लिखी हैं जिनकी जाँच होना जरूरी है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें बहुत सा ऐसा भी है जो उनके पुरोगामी लिख चुके हैं किन्तु प्रो० कापड़िया ने उनका निर्देश नहीं किया।

जैन मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेखों का एक संग्रह 'जैन धातु प्रतिमा लेख' नाम से मुनि श्री कान्तिसागर जी के द्वारा संपादित होकर सूरत से प्रकाशित हुआ है। इसमें तेरहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के लेख हैं।

जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद भी एक पुरानी प्रकाशक संस्था है। यद्यपि इसके प्रकाशन केवल पुरानी शैली से ही होते रहते हैं तथापि उसके द्वारा प्रकाशित प्राचीन और नवनिर्मित अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन अभ्यासी के लिए उपेक्षणीय नहीं है।

जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस को स्थापित हुए सात वर्ष हुए हैं। उसने इतने अल्प काल में तथा अतिपरिमित साधनों की हालत में संशोधनात्मक दृष्टि से लिखी गई जो अनेक पत्रिकाएँ तथा कई पुस्तकें हिन्दी व अंग्रेजी में प्रसिद्ध की हैं एवं भिन्न-भिन्न विषय के उच्च उच्चतर अभ्यासियों को तैयार करने का प्रयत्न किया है वह आशास्पद है। डॉ० नथमल टाटिया का D. Litt. उपाधि का महानिबन्ध 'स्टडीज् इन जैन फिलॉसॉफी' छपकर तैयार है। इस निबन्ध में डॉ० टाटिया ने जैन दर्शन से सम्बद्ध तत्त्व, ज्ञान, कर्म, योग जैसे विषयों पर विवेचनात्मक व तुलनात्मक विशिष्ट प्रकाश डाला है। शायद अंग्रेजी में इस ढंग की यह पहली पुस्तक है।

आचार्य हेमचन्द्र कृत 'प्रमाण-मीमांसा' मूल और हिन्दी टिप्पणियों के साथ प्रथम सिंघी सिरीज में प्रकाशित हो चुकी है। पर उसका प्रामाणिक अँग्रेजी अनुवाद न था। इस अभाव की पूर्त्ति डॉ० सातकोडी मुखर्जी और डॉ० नथमल टाटिया ने की है। 'प्रमाण-मीमांसा' के प्रस्तुत अनुवाद द्वारा जैन दर्शन व प्रमाण शास्त्र की परिभाषाओं के लिए अंग्रेजी समुचित रूपान्तर की सामग्री उपस्थित की गई है, जो अंग्रेजी द्वारा शिक्षा देने और पाने वालों की दृष्टि से बहुत उपकारक है।

प्रो० भोगीलाल सांडेसरा का Ph. D. का महानिबन्ध 'कन्ट्रीब्यूशन टु संस्कृत लिटरेचर ऑफ़ वस्तुपाल एण्ड हिज़ लिटरेरी सर्कल' प्रेस में है और शीघ्र ही सिंघी सिरीज़ से प्रकाशित होने वाला है। यह निबन्ध साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से जितना गवेषणापूर्ण है उतना ही महत्त्व का भी है।

प्रो० विलास आदिनाथ संघवे ने Ph. D. के लिए जो महानिबन्ध लिखा है उसका नाम है 'Jaina Community - A Social Survey'--इस महानिबन्ध में प्रो० संघवे ने पिछली जनगणनाओं के आधार पर जैन संघ की सामाजिक परिस्थिति का विवेचन किया है। साथ ही जैनों के सिद्धान्तों का भी संक्षेप में सुन्दर विवेचन किया है। यह ग्रन्थ 'जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी' की ओर से प्रकाशित होगा। उसी सोसाइटी की ओर से डॉ० बागची की पुस्तक Jain Epistemology छप रही है।

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन Ph. D. की पुस्तक 'लाईफ़ इन् इन्श्यन्ट इण्डिया एज़ डिपिक्टेड् इन जैन केनन्स्', बंबई की न्यू बुक कम्पनी ने प्रकाशित की है। न केवल जैन परम्परा के बल्कि भारतीय परम्परा के अभ्यासियों एवं संशोधकों के सम्मुख बहुत उपयोगी सामग्री उक्त पुस्तक में है। उन्हीं की एक हिन्दी पुस्तक 'भारत के प्राचीन जैन-तीर्थ' शीघ्र ही 'जैन कल्चरल् रिसर्च सोसायटी' से प्रकाशित हो रही है।

गुजरात विद्यासभा (भो० जे० विद्याभवन) अहमदाबाद की ओर से तीन पुस्तकें यथासभव शीघ्र प्रकाशित होने वाली हैं जिनमें से पहली है—'गणधरवाद'–गुजराती भाषान्तर। अनुवादक पं० दलसुख मालवणिया ने इसका मूल पाठ जैसलमेर स्थित सबसे अधिक पुरानी प्रति के आधार से तैयार किया है और भाषान्तर के साथ महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी जोड़ी है। 'जैन आगममां गुजरात' और 'उत्तराध्ययन' का पूर्वार्ध-अनुवाद, ये दो पुस्तकें डॉ० भोगीलाल सांडेसरा ने लिखी है। प्रथम में जैन आगमिक साहित्यक में पाये जाने वाले गुजरात संबंधी उल्लेखों का संग्रह व निरूपण है और दूसरी में उत्तराध्ययन मूल की शुद्ध वाचना के साथ उसका प्रामाणिक भाषान्तर है।

श्री साराभाई नवाब, अहमदाबाद के द्वारा प्रकाशित निम्नलिखित पुस्तकें अनेक दृष्टियों से महत्त्व की हैं—'कालकाचार्य कथासंग्रह' संपादक पं० अंबालाल प्रेमचन्द्र शाह। इसमें प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक लिखी गई कालकाचार्य की कथाओं का संग्रह है और उनका सार भी दिया हुआ है। ऐतिहासिक गवेषकों के लिए यह पुस्तक महत्त्व की है। डॉ० मोतीचन्द्र की पुस्तक—'जैन मिनियेचर पेइन्टिंग्ज फ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया' यह जैन हस्तलिखित प्रतों में चित्रित

चित्रों के विषय में अभ्यासपूर्ण है। उसी प्रकाशक की ओर से 'कल्पसूत्र' शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। इसका संपादन श्री मुनि पुण्यविजय जी ने किया है और गुजराती अनुवाद पं० बेचरदास जी ने।

मूलरूप में पुराना, पर इस युग में नए रूप से पुनरुज्जीवित एक साहित्य संरक्षक मार्ग का निर्देश करना उपयुक्त होगा। यह मार्ग है शिला व धातु के ऊपर साहित्य को उत्कीर्ण करके चिरजीवित रखने का। इसमें सबसे पहले पालीताना के आगममंदिर का निर्देश करना चाहिए। उसका निर्माण जैन साहित्य के उद्धारक, समस्त आगमों और आगमेतर सैकड़ों पुस्तकों के संपादक आचार्य सागरानन्द सूरि जी के प्रयत्न से हुआ है। उन्होंने ऐसा ही एक दूसरा मंदिर सूरत में बनवाया है। प्रथम में शिलाओं के ऊपर और दूसरे में ताम्रपटों के ऊपर प्राकृत जैन आगमों को उत्कीर्ण किया गया है। हम लोगों के दुर्भाग्य से ये साहित्यसेवी सूरि अब हमारे बीच नहीं हैं। ऐसा ही प्रयत्न षट्खंडागम की सुरक्षा का हो रहा है। वह भी ताम्रपट पर उत्कीर्ण हो रहा है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक तरीके का उपयोग तो मुनि श्री पुण्य विजय जी ने ही किया है। उन्होंने जैसलमेर के भंडार की कई प्रतियों का सुरक्षा और सर्व सुलभ करने की दृष्टि से माइक्रोफिल्मिंग कराया है।

संशोधकों व ऐतिहासिकों का ध्यान खींचने वाली एक नई संस्था का अभी प्रारंभ हुआ है। राजस्थान सरकार ने मुनि श्री जिन विजय जी की अध्यक्षता में 'राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर' की स्थापना की है। राजस्थान में सांस्कृतिक व ऐतिहासिक अनेकविध सामग्री बिखरी पड़ी है। इस संस्था द्वारा वह सामग्री प्रकाश में आएगी तो संशोधन क्षेत्र का बड़ा उपकार होगा।

प्रो० एच० डी० वेलणकर ने हरितोषमाला नामक ग्रन्थमाला में 'जयदामन्' नाम से छन्दःशास्त्र के चार प्राचीन ग्रन्थ संपादित किये हैं। 'जयदेव छन्दस्', जयकीर्ति कृत 'छन्दोनुशासन', केदार का 'वृत्तरत्नाकर', और आ० हेमचन्द्र का 'छन्दोनुशासन' इन चार ग्रन्थों का उसमें समावेश हुआ है।

'Studien zum Mahanisiha' नाम से हेमबर्ग से अभी एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें महानिशीथ नामक जैन छेदग्रन्थ के छठे से आठवें अध्ययन तक का विशेषरूप से अध्ययन Frank Richard Hamn और डॉ० शुब्रिंग ने करके अपने अध्ययन का जो परिणाम हुआ उसे लिपिबद्ध कर दिया है।

जैन दर्शन—

जैन दर्शन से संबंध रखने वाले कुछ ही मुद्दों पर संक्षेप में विचार करना यहाँ इष्ट है। निश्चय और व्यवहार नय जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं, विद्वान् लोग जानते हैं कि इसी नय विभाग की आधारभूत दृष्टि का स्वीकार इतर दर्शनों में भी है। बौद्ध दर्शन बहुत पुराने समय से परमार्थ और संवृति इन दो दृष्टियों से निरूपण करता आया है।[1] शांकर वेदान्त की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक या मायिक दृष्टि प्रसिद्ध है। इस तरह जैन-जैनेतर दर्शनों में परमार्थ या निश्चय और संवृति या व्यवहार दृष्टि का स्वीकार तो है, पर उन दर्शनों में उक्त दोनों दृष्टियों से किया जाने वाला तत्त्वनिरूपण बिलकुल जुदा-जुदा है। यद्यपि जैनेतर सभी दर्शनों में निश्चय दृष्टि सम्मत तत्त्व-निरूपण एक नहीं है, तथापि सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में निश्चय दृष्टि सम्मत आचार व चारित्र एक ही है, भले ही परिभाषा वर्गीकरण आदि भिन्न हों।[2] यहाँ तो यह दिखाना है कि जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार रूप से दो दृष्टियाँ मानी गई हैं वे तत्त्वज्ञान और आचार दोनों क्षेत्रों में लागू की गई हैं। इतर सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है। जब निश्चय-व्यवहार नय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनों में होता है तब, सामान्य रूप से शास्त्र चिन्तन करने वाला यह अन्तर जान नहीं पाता कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में किया जाने वाला निश्चय और व्यवहार का प्रयोग आचार के क्षेत्र में किये जाने वाले वैसे प्रयोग से भिन्न है और भिन्न परिणाम का सूचक भी है। तत्त्वज्ञान की निश्चय दृष्टि और आचार विषयक निश्चय दृष्टि ये दोनों एक नहीं। इसी तरह उभय विषयक व्यवहार दृष्टि के बारे में भी समझना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण यों है—

जब निश्चय दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप प्रतिपादन करना हो तो उसकी सीमा में केवल यही बात आनी चाहिए कि जगत के मूल तत्त्व क्या हैं? कितने हैं? और उनका क्षेत्र-काल आदि निरपेक्ष स्वरूप क्या है? और जब व्यवहार दृष्टि से तत्त्व निरूपण इष्ट हो तब उन्हीं मूल तत्त्वों का द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि से सापेक्ष स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है। इस तरह हम निश्चय दृष्टि का उपयोग करके जैन दर्शन सम्मत तत्त्वों का स्वरूप कहना चाहें तो संक्षेप में यह कह सकते हैं कि चेतन अचेतन ऐसे परस्पर अत्यन्त विजातीय दो तत्त्व हैं। दोनों

---

१. कथावत्थु, माध्यमक कारिका आदि।

२. चतुःसत्य, चतुर्व्यूह, व आस्रव-बंधादि चतुष्क।

एक दूसरे पर असर डालने की शक्ति भी धारण करते हैं। चेतन का संकोच विस्तार यह द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि सापेक्ष होने से व्यवहारदृष्टि सिद्ध है। अचेतन पुद्गल का परमाणुरूपत्व या एक प्रदेशावगाह्यत्व यह निश्चयदृष्टि का विषय है, जब कि उसका स्कन्धपरिणमन या अपने क्षेत्र में अन्य अनन्त परमाणु और स्कन्धों को अवकाश देना यह व्यवहारदृष्टि का निरूपण है। परन्तु आचारलक्षी निश्चय और व्यवहार दृष्टि का निरूपण जुदे प्रकार से होता है। जैनदर्शन मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानकर उसी की दृष्टि से आचार की व्यवस्था करता है। अतएव जो आचार सीधे तौर से मोक्षलक्षी है वही नैश्चयिक आचार है इस आचार में दृष्टिभ्रम और काषायिक वृत्तियों के निर्मूलीकरण मात्र का समावेश होता है। पर व्यावहारिक आचार ऐसा एकरूप नहीं। नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न-भिन्न देश काल-जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी-कभी परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले भी आचार व्यावहारिक आचार कोटि में गिने जाते हैं। नैश्चयिक आचार की भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति अनेकविध व्यावहारिक आचारों में से गुजरता है। इस तरह हम देखते हैं कि आचारगामी नैश्चयिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि मुख्यतया मोक्ष पुरुषार्थ की दृष्टि से ही विचार करती है। जब कि तत्त्वनिरूपक निश्चय या व्यवहार दृष्टि केवल जगत के स्वरूप को लक्ष्य में रखकर ही प्रवृत्त होती है। तत्त्वज्ञान और आचार लक्षी उक्त दोनों नयों में एक दूसरा भी महत्त्व का अन्तर है, जो ध्यान देने योग्य है।

नैश्चयिक दृष्टि सम्मत तत्त्वों का स्वरूप हम सभी साधारण जिज्ञासु कभी प्रत्यक्ष कर नहीं पाते। हम ऐसे किसी व्यक्ति के कथन पर श्रद्धा रखकर ही वैसा स्वरूप मानते हैं कि जिस व्यक्ति ने तत्त्वस्वरूप का साक्षात्कार किया हो। पर आचार के बारे में ऐसा नहीं है। कोई भी जागरूक साधक अपनी आन्तरिक सत्-असत् वृत्तियों को व उनकी तीव्रता-मन्दता के तारतम्य को सीधा अधिक प्रत्यक्ष जान सकता है। जब कि अन्य व्यक्ति के लिए पहले व्यक्ति की वृत्तियाँ सर्वथा परोक्ष हैं। नैश्चयिक हो या व्यावहारिक, तत्त्वज्ञान का स्वरूप उस-उस दर्शन के सभी अनुयायियों के लिए एक सा है तथा समान परिभाषाबद्ध है। पर नैश्चयिक व व्यावहारिक आचार का स्वरूप ऐसा नहीं। हरएक व्यक्ति का नैश्चयिक आचार उसके लिए प्रत्यक्ष है। इस अल्प विवेचन से मैं केवल इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि निश्चय और व्यवहार नय ये दो शब्द भले ही समान हों। पर तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं, और हमें विभिन्न परिणामों पर पहुँचाते हैं।

निश्चयदृष्टि से जैन तत्त्वज्ञान की भूमिका औपनिषद् तत्त्वज्ञान से बिलकुल भिन्न हैं। प्राचीन माने जाने वाले सभी उपनिषद् सत्, असत्, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त, आकाश, आदि भिन्न-भिन्न नामों से जगत के मूल का निरूपण करते हुए केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् जड़-चेतन आदि रूप में कैसा ही नानारूप क्यों न हो, पर उसके मूल में असली तत्त्व तो केवल एक ही है। जब कि जैनदर्शन जगत् के मूल में किसी एक ही तत्त्व का स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत परस्पर विजातीय ऐसे स्वतन्त्र दो तत्त्वों का स्वीकार करके उसके आधार पर विश्व के वैश्वरूप्य की व्यवस्था करता है। चौबीस तत्त्व मानने वाले सांख्य दर्शन को और शांकर आदि वेदान्त शाखाओं को छोड़ कर—भारतीय दर्शनों में ऐसा कोई दर्शन नहीं जो जगत के मूलरूप से केवल एक तत्त्व स्वीकार करता हो। न्याय-वैशेषिक हो या सांख्य-योग हो, या पूर्व मीमांसा हो सब अपने-अपने ढंग से जगत् के मूल में अनेक तत्त्वों का स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि जैन तत्त्वचिन्तन की प्रकृति औपनिषद् तत्त्वचिन्तन की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। ऐसा होते हुए भी जब डॉ० रानडे जैसे सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक उपनिषदों में जैन तत्त्वचिन्तन का उद्गम दिखाते हैं तब विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि यह केवल उपनिषद् भक्ति की आत्यन्तिकता है।[१] इस तरह उन्होंने जो बौद्धदर्शन या न्याय-वैशेषिक दर्शन का संबन्ध उपनिषदों से जोड़ा है वह भी मेरी राय में भ्रान्त है। इस विषय में मेक्समूलर [२] और डॉ० ध्रुव आदि की दृष्टि जैसी स्पष्ट है वैसी बहुत कम भारतीय विद्वानों की होगी। डॉ० रानडे की अपेक्षा प्रो० हरियन्ना व डॉ० एस० एन० दासगुप्त का निरूपण मूल्यवान है। जान पड़ता है कि उन्होंने अन्यान्य दर्शनों के मूलग्रन्थों को विशेष सहानुभूति व गहराई से पढ़ा है।

अनेकान्तवाद [३]

हम सभी जानते हैं कि बुद्ध अपने को विभज्यवादी [४] कहते हैं। जैन आगमों में महावीर को भी विभज्यवादी सूचित किया है।[५] विभज्यवाद का मतलब पृथक्करण पूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण व सत्यों का यथावत् समन्वय करना

---

१. कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक् फिलॉसॉफी पृ० १७६

२. दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी

३. प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण पृ० ६१

४. मज्झिमनिकाय सुत्त ९९

५. सूत्रकृतांग १. १४. २२.

है। विभज्यवाद के गर्भ में ही किसी भी एकान्त का परित्याग सूचित है। एक लम्बी वस्तु के दो छोर ही उसके दो अन्त हैं। अन्तों का स्थान निश्चित है। पर उन दो अन्तों के बीच का अन्तर या बीच का विस्तार—अन्तों की तरह स्थिर नहीं। अतएव दो अन्तों का परित्याग करके बीच के मार्ग पर चलने वाले सभी एक जैसे हो ही नहीं सकते यही कारण है कि विभज्यवादी होने पर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में कई बातों में बहुत अन्तर रहा है। एक व्यक्ति अमुक विवक्षा से मध्यममार्ग या विभज्यवाद घटाता है तो दूसरा व्यक्ति अन्य विवक्षा से घटाता है। पर हमें ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी भिन्नता होते हुए भी बौद्ध और जैनदर्शन की आत्मा तो विभज्यवाद ही है।

विभज्यवाद का ही दूसरा नाम अनेकान्त है, क्योंकि विभज्यवाद में एकान्त-दृष्टिकोण का त्याग है। बौद्ध परम्परा में विभज्यवाद के स्थान में मध्यम मार्ग शब्द विशेष रूढ़ है। हमने ऊपर देखा कि अन्तों का परित्याग करने पर भी अनेकान्त के अवलम्बन में भिन्न-भिन्न विचारकों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सम्भव है। अतएव हम न्याय, सांख्य-योग और मीमांसक जैसे दर्शनों में भी विभज्यवाद तथा अनेकान्त शब्द के व्यवहार से निरूपण पाते हैं। अक्षपाद कृत 'न्यायसूत्र' के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन ने २-१-१५, १६ के भाष्य में जो निरूपण किया है वह अनेकान्त का स्पष्ट द्योतक है और 'यथा दर्शनं विभागवचनं' कहकर तो उन्होंने विभज्यवाद के भाव को ही ध्वनित किया है। हम सांख्यदर्शन की सारी तत्त्वचिन्तन प्रक्रिया को ध्यान से देखेंगे तो मालूम पड़ेगा कि वह अनेकान्त दृष्टि से निरूपित है। 'योगदर्शन' के ३-१३ सूत्र के भाष्य तथा तत्त्ववैशारदी विवरण को ध्यान से पढ़ने वाला सांख्य-योग दर्शन की अनेकान्त दृष्टि को यथावत् समझ सकता है। कुमारिल ने भी 'श्लोक वार्तिक' और अन्यत्र अपनी तत्त्व-व्यवस्था में अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया है,[1] उपनिषदों के समान आधार पर केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि जो अनेक वाद स्थापित हुए हैं वे वस्तुतः अनेकान्त विचार सरणी के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। तत्त्वचिन्तन की बात छोड़कर हम मानवयूथों के जुदे-जुदे आचार व्यवहारों पर ध्यान देंगे तो भी उनमें अनेकान्त दृष्टि पायेंगे। वस्तुतः जीवन का स्वरूप ही ऐसा है कि जो एकान्तदृष्टि में पूरा प्रकट हो ही नहीं सकता। मानवीय व्यवहार भी ऐसा है कि जो अनेकान्त दृष्टि का अन्तिम अवलम्बन बिना लिये निभ नहीं सकता। इस संक्षिप्त प्रतिपादन से केवल इतना ही सूचित करना है कि हम संशोधक अभ्या-

---

१. श्लोक वार्तिक, आत्मवाद २९-३० आदि।

सियों को हर एक प्रकार की अनेकान्तदृष्टि को, उसके निरूपक की भूमिका पर रहकर ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर हम न केवल भारतीय संस्कृति के किन्तु मानवीय संस्कृति के हर एक वर्तुल में भी एक व्यापक समन्वय का सूत्र पायेंगे।

अनेकान्त दृष्टि में से ही नयवाद तथा सप्तभंगी विचार का जन्म हुआ है। अतएव मैं नयवाद तथा सप्तभंगी विचार के विषय में कुछ प्रकीर्ण विचार उपस्थित करता हूँ। नय सात माने जाते हैं। उनमें पहले चार अर्थनय और पिछले तीन शब्द नय हैं। महत्त्व के भिन्न-भिन्न दार्शनिक मन्तव्यों को उस-उस दर्शन के दृष्टिकोण की भूमिका पर ही नयवाद के द्वारा समझाने का तथा व्यवस्थित करने का तत्कालीन जैन आचार्यों का उद्देश्य रहा है। दार्शनिक विचारों के विकास के साथ ही जैन आचार्यों में संभवित अध्ययन के आधार पर नय विचार में भी उस विकास का समावेश किया है। यह बात इतिहास सिद्ध है। भगवान् महावीर के शुद्धिलक्षी जीवन का तथा तत्कालीन शासन का विचार करने से जान पड़ता है कि नयवाद मूल में अर्थनय तक ही सीमित होगा। जब शासन के प्रचार के साथ-साथ व्याकरण, निरुक्त, निघंटु, कोष जैसे शास्त्रान्तरों का अध्ययन बढ़ता गया तब विचक्षण आचार्यों ने नयवाद में शब्द-स्पर्शी विचारों को भी शब्दनय रूप से स्थान दिया। संभव है शुरू में शब्दनयों में एक शब्दनय ही रहा हो। इसकी पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि निर्युक्ति में नयों की पाँच संख्या का भी एक विकल्प है।[1] क्रमशः शब्द नय के तीन भेद हुए जिसके उदाहरण व्याकरण, निरुक्त, कोष आदि के शब्द प्रधान विचारों से ही लिये गए हैं।

प्राचीन समय में वेदान्त के स्थान में सांख्य-दर्शन ही प्रधान था इसी से आचार्यों ने संग्रह नय के उदाहरण रूप से सांख्यदर्शन को लिया है। पर शंकराचार्य के बाद ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा बढ़ी, तब जैन विद्वानों ने संग्रह नय के उदाहरण रूप से ब्रह्मवाद को ही लिया है। इसी तरह शुरू में ऋजुसूत्र का उदाहरण सामान्य बौद्ध दर्शन था। पर जब उपाध्याय यशोविजयजी जैसों ने देखा कि बौद्ध दर्शन के तो वैभाषिक आदि चार भेद हैं तब उन्होंने उन चारों शाखाओं का ऋजुसूत्र नय में समावेश किया।

इस चर्चा से सूचित यह होता है कि नयवाद मूल में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का संग्राहक है। अतएव उसकी संग्राहक सीमा अध्ययन व चिन्तन की वृद्धि के

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गा० ७५९

साथ ही बढ़ती रही है। ऐसी हालत में जैनदर्शन के अभ्यासी एवं संशोधकों का कर्तव्य हो जाता है कि वे आधुनिक विशाल ज्ञान सामग्री का उपयोग करें और नय विचार का क्षेत्र सर्वांगीण यथार्थ अध्ययन से विस्तृत करें, केवल एकदेशीयता से संतुष्ट न रहें।

'नैगम' शब्द की 'नैक+गम,' नैग (अनेक)+म तथा 'निगमे भवः' जैसी तीन व्युत्पत्तियाँ निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में पाई जाती हैं।[1] पर वस्तुस्थिति के साथ मिलान करने से जान पड़ता है कि तीसरी व्युत्पत्ति ही विशेष ग्राह्य है, उसके अनुसार अर्थ होता है कि जो विचार या व्यवहार निगम में—व्यापार व्यवसाय करनेवाले महाजनों के स्थान में होता है वह नैगम।[2] जैसे महाजनों के व्यवहार में भिन्न-भिन्न मतों का समावेश होता है, वैसे ही इस नय में भिन्न-भिन्न तात्त्विक मन्तव्यों का समावेश विवक्षित है। पहली दो व्युत्पत्तियाँ वैसी ही कल्पना प्रसूत हैं, जैसी कि 'इन्द्र' की 'इं द्रातीति इन्द्रः' यह माठरवृत्ति गत व्युत्पत्ति है।

सप्तभंगी गत सात भंगों में शुरू के चार ही महत्त्व के हैं क्योंकि वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में तथा 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजाल सूत्र में ऐसे चार विकल्प छूटे-छूटे रूप में या एक साथ निर्दिष्ट पाये जाते हैं। सात भंगों में जो पिछले तीन भंग है उनका निर्देश किसी के पक्षरूप में कहीं देखने में नहीं आया। इससे शुरू के चार भंग ही अपनी ऐतिहासिक भूमिका रखते हैं ऐसा फलित होता है।

शुरू के चार भंगों में एक 'अवक्तव्य' नाम का भंग भी है। उसके अर्थ के बारे में कुछ विचारणीय बात है। आगम युग के प्रारम्भ से अवक्तव्य भंग का अर्थ ऐसा किया जाता है कि सत् असत् या नित्य-अनित्य आदि दो अंशों को एक साथ प्रतिपादन करनेवाला कोई शब्द ही नहीं, अतएव ऐसे प्रतिपादन की विवक्षा होने पर वस्तु अवक्तव्य है। परन्तु अवक्तव्य शब्द के इतिहास को देखते हुए कहना पड़ता है कि उसकी दूसरी व ऐतिहासिक व्याख्या पुराने शास्त्रों में है।

उपनिषदों में 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह'[3] इस उक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को अनिर्वचनीय अथवा वचनागोचर सूचित किया है। इसी

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गा० ७५५; तत्त्वार्थभाष्य १.३५; स्थानांगटीका स्था० ७

२. भगवती शतक १. उद्देशा १०

३. तैत्तिरीय उपनिषद् २ ४.।

तरह 'आचारांग' में भी 'सव्वे सरा निअट्टंति, तत्थ झुणी न विज्जइ'[1] आदि द्वारा आत्मा के स्वरूप को वचनागोचर कहा है। बुद्ध ने भी अनेक वस्तुओं को अव्याकृत[2] शब्द के द्वारा वचनागोचर ही सूचित किया है।

जैन परम्परा में तो अनभिलाप्य[3] भाव प्रसिद्ध हैं जो कभी वचनागोचर नहीं होते। मैं समझता हूँ कि सप्तभंगी में अवक्तव्य का जो अर्थ लिया जाता है वह पुरानी व्याख्या का वादाश्रित व तर्कगम्य दूसरा रूप है।

सप्तभंगी के विचार प्रसंग में एक बात का निर्देश करना जरूरी है। श्रीशंकराचार्य के 'ब्रह्मसूत्र' २–२–३३ के भाष्य में सप्तभंगी को संशयात्मक ज्ञान रूप से निर्दिष्ट किया है। श्रीरामनुजाचार्य ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। यह हुई पुराने खण्डन मण्डन प्रधान साम्प्रदायिक युग की बात। पर तुलनात्मक और व्यापक अध्ययन के आधार पर प्रवृत्त हुए नए युग के विद्वानों का विचार इस विषय में जानना चाहिए। डॉ० ए० बी० ध्रुव, जो भारतीय तथा पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की सब शखाओं के पारदर्शी विद्वान् रहे खास कर शांकर वेदान्त के विशेष पक्षपाती भी रहे—उन्होंने अपने 'जैन अने ब्राह्मण'[4] भाषण में स्पष्ट कहा है कि सप्तभंगी यह कोई संशयज्ञान नहीं है। वह तो सत्य के नानाविध स्वरूपों की निदर्शक एक विचारसरणी है। श्रीनर्मदाशंकर मेहता, जो भारतीय समग्र तत्त्वज्ञान की परम्पराओं और खासकर वेद-वेदान्त की परम्परा के असाधारण मौलिक विद्वान थे; और जिन्होंने 'हिन्द तत्त्वज्ञान नो इतिहास'[5] आदि अनेक अभ्यासपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, उन्होंने भी सप्तभंगी का निरूपण बिलकुल असाम्प्रदायिक दृष्टि से किया है, जो पठनीय है। सर राधाकृष्णन, डॉ० दासगुप्त आदि[6] तत्त्व चिन्तकों ने भी सप्तभंगी का निरूपण जैन दृष्टिकोण को बराबर समझ कर ही किया है। यह बात मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक अध्ययन का अन्तर ध्यान में आ जाय।

चारित्र के दो अंग हैं, जीवनगत आगन्तुक दोषों को दूर करना यह पहला,

---

१. आचारांग सू० १७० ।

२. मज्झिमनिकायसुत्त ६३ ।

३. विशेषा० भा० १४१, ४८८ ।

४. आपणो धर्म पृ० ६७३ ।

५. पृ० २१३–२१६ ।

६. राधाकृष्णन—इण्डियन फिलॉसॉफी वॉल्यूम १, पृ० ३०२ ।
दासगुप्ता—ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसॉफी वॉल्यूम १, पृ० १७९ ।

और आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों व सद्गुणों का उत्कर्ष करना यह दूसरा अंग है। दोनों अंगों के लिए किए जाने वाले सम्यक् पुरुषार्थ में ही वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की कृतार्थता है।

उक्त दोनों अंग परस्पर एसे सम्बन्द्ध हैं कि पहले के बिना दूसरा संभव ही नहीं, और दूसरे के बिना पहला ध्येयशून्य होने से शून्यवत् है।

इसी दृष्टि से महावीर जैसे अनुभवियों ने हिंसा आदि क्लेशों से विरत होने का उपदेश दिया व साधकों के लिए प्राणातिपातविरमण आदि व्रतों की योजना की, परन्तु स्थूलमति व अलस प्रकृति वाले लोगों ने उन निवृत्ति प्रधान व्रतों में ही चारित्र की पूर्णता मानकर उसके उत्तरार्ध या साध्यभूत दूसरे अंग की उपेक्षा की। इसका परिणाम अतीत की तरह वर्तमान काल में भी अनेक विकृतियों में नजर आता है। सामाजिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में जीवन गतिशून्य व विसंवादी बन गया है। अतएव संशोधक विचारकों का कर्तव्य है कि विरतिप्रधान व्रतों का तात्पर्य लोगों के सामने रखें।

भगवान महावीर का तात्पर्य यही रहा है कि स्वाभाविक सद्गुणों के विकास की पहली शर्त यह है कि आगन्तुक मलों को दूर करना। इस शर्त की अनिवार्यता समझ कर ही सभी संतों ने पहले क्लेशनिवृत्ति पर ही भार दिया है। और वे अपने जीवन के उदाहरण से समझा गए हैं कि क्लेशनिवृत्ति के बाद वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन में सद्गुणों की वृद्धि व पुष्टि का कैसे सम्यक् पुरुषार्थ करना।

तुरन्त करने योग्य काम—

कई भाण्डारों की सूचियाँ व्यवस्थित बनी हैं, पर छपी नहीं हैं तो कई सूचियाँ छपी भी हैं। और कई भाण्डारों की बनी ही नहीं है, कई की हैं तो व्यवस्थित नहीं हैं। मेरी राय में एक महत्त्व का काम यह है कि एक ऐसी महासूची तैयार करनी चाहिए, जिसमें प्रो० बेलणकर की जिनरत्नकोष नामक सूची के समावेश के साथ सब भाण्डारों की सूचियाँ आ जाएँ। जो न बनी हों तैयार कराई जाएँ, अव्यवस्थित व्यवस्थित कराई जाएँ। ऐसी एक महासूची होने से देशविदेश में वर्तमान यावत् जैन साहित्य की जानकारी किसी भी जिज्ञासु को घर बैठे सुकर हो सकेगी और काम में सरलता भी होगी। मद्रास में श्री राघवन संस्कृत ग्रन्थों की ऐसी ही सूची तैयार कर रहे हैं। बर्लिन मेन्युस्क्रिप्ट की एक बड़ी विस्तृत सूची अभी ही प्रसिद्ध हुई है। ऐसी ही वस्तुस्थिति अन्य पुरातत्त्वीय सामग्री के विषय में भी है। उसका भी संकलन एक सूची द्वारा जरूरी है।

अपभ्रंश भाषा के साहित्य के विशेष प्रकाशनों की आवश्यकता पर पहले के प्रमुखों ने कहा है, परन्तु उसके उच्चतर अध्ययन का विशिष्ट प्रबन्ध होना अत्यन्त जरूरी है। इसके सिवाय गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, मराठी, बंगाली आदि भाषाओं के कड़ीबंध इतिहास लेखन का कार्य संभव ही नहीं। इसी तरह उच्च शिक्षा के लिए प्रांतीय भाषाओं को माध्यम बनाने का जो विचार चारों ओर विकसित हो रहा है, उसकी पूरी सफलता तभी संभव है जब उक्त भाषाओं की शब्द समृद्धि व विविध अर्थों को वहन करने की क्षमता बढ़ाई जाय। इस कार्य में अपभ्रंश भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य रूप से अपेक्षित है।

प्राकृत विशेष नामों के कोष की उपयोगिता तथा जैन पारिभाषिक शब्द कोष की उपयोगिता के बारे में अतः पूर्व कहा गया है। मैं इस विषय में अधिक चर्चा न करके एक ऐसा सूचन करता हूँ जो मेरी राय में आज की स्थिति में सबसे प्रथम कर्तव्य है और जिसके द्वारा नए युग की माँग को हम लोग विशेष सरलता व एक सुचारु पद्धति से पूरा कर सकेंगे। वह सूचन यह है—

नवयुगीन साहित्यिक मर्यादाओं को समझने वालों की तथा उनमें रस लेने वालों की संख्या अनेक प्रकार से बढ़ रही है। नव शिक्षा प्राप्त अध्यापक विद्यार्थी आदि तो मिलते ही हैं, पर पुराने ढंग से पढ़े हुए पण्डितों व ब्रह्मचारी एवं भिक्षुओं की काफी तादाद भी इस नए युग का बल जानने लगी है। व्यवसायी पर विद्याप्रिय धनवानों का ध्यान भी इस ओर गया है। जुदे-जुदे जैन फिरकों में ऐसी छोटी बड़ी संस्थाएँ भी चल रही हैं तथा निकलती जा रही हैं जो नए युग की साहित्यिक आवश्यकता को थोड़ा बहुत पहचानती हैं और योग्य मार्गदर्शन मिलने पर विशेष विकास करने की उदारवृत्ति भी धारण करती हैं।

यह सब सामग्री मामूली नहीं है, फिर भी हम जो काम जितनी त्वरा से और जितनी पूर्णता से करना चाहते हैं वह हो नहीं पाता। कारण एक ही है कि उक्त सब सामग्री बिखरी हुई कड़ियों की तरह एकसूत्रता विहीन है।

हम सब जानते हैं कि पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थ का जो और जैसा कुछ अस्तित्व शेष है उसका कारण केवल संघ रचना व संघ व्यवस्था है। यह वस्तु हमें हजारों वर्ष से अनायास विरासत में मिली है, गाँव-गाँव, शहर-शहर में जहाँ भी जैन हैं, अपने उनका ढंग का संघ है।

हर एक फिरके के साधु–जति–भट्टारकों का भी संघ है। उस उस फिरके के तीर्थ–मन्दिर–धर्मस्थान भण्डार आदि विशेष हितों की रक्षा तथा वृद्धि करने वाली कमेटियाँ—पेढ़ियाँ व कान्फरेन्सें तथा परिषदें भी हैं। यह सब संघशक्ति का ही निदर्शन है। जब इतनी बड़ी संघ शक्ति है तब क्या कारण

है कि हम मन चाहे सर्वसम्मत साहित्यिक काम को हाथ में लेने से हिचकिचाते हैं ?

मुझको लगता है कि हमारी चिरकालीन संघशक्ति इसलिए कार्यक्षम साबित नहीं होती कि उसमें नव दृष्टि का प्राणस्पन्दन नहीं है। अतएव हमें एक ऐसे संघ की स्थापना करनी चाहिए कि जिसमें जैन जैनेतर, देशी विदेशी गृहस्थ त्यागी पण्डित अध्यापक आदि सब आकृष्ट होकर सम्मिलित हो सकें और संघ द्वारा सोची गई आवश्यक साहित्यिक प्रवृत्तियों में अपने-अपने स्थान में रहकर भी अपनी अपनी योग्यता व रुचि के अनुसार भाग ले सकें, निःसंदेह इस नए संघ की नींव कोई साम्प्रदायिक या पान्थिक न होगी। केवल जैन परंपरा से सम्बद्ध सब प्रकार के साहित्य को नई जरूरतों के अनुसार तैयार व प्रकाशित करना और बिखरे हुए योग्य अधिकारियों से विभाजन पूर्वक काम लेना एवं मौजूदा तथा नई स्थापित होने वाली साहित्यिक संस्थाओं को नयी दृष्टि का परिचय कराना इत्यादि इस संघ का काम रहेगा। जिसमें किसी का विसंवाद नहीं और जिसके बिना नए युग की माँग को हम कभी पूरा ही कर नहीं सकते।

पुरानी वस्तुओं की रक्षा करना इष्ट है, पर इसी को इतिश्री मान लेना भूल है। अतएव हमें नई एवं स्फूर्ति देने वाली आवश्यकताओं को लक्ष्य में रखकर ऐसे संघ को रचना करनी होगी। इसके विधान, पदाधिकारी, कार्य-विभाजन, आर्थिक बाजू आदि का विचार मैं यहाँ नहीं करता। इसके लिए हमें पुनः मिलना होगा।[1]

ई० १९५१]



१ ओरिएन्टल कॉन्फ्रेन्स के लखनौ अधिवेशन में 'प्राकृत और जैनधर्म' विभाग के अध्यक्षपद से दिया गया व्याख्यान। इसके अन्त में मुनिश्री पुण्यविजयजी द्वारा किये गए कार्य की रूपरेखा और नए प्रकाशनों की सूची है। उसे यहाँ नहीं दिया गया।

विश्व शांतिवादी सम्मेलन और जैन परम्परा

भूमिका

मि० होरेस अलेक्जैन्डर-प्रमुख कुछ व्यक्तियों ने १९४६ में गाँधीजी के सामने प्रस्ताव रक्खा था कि सत्य और अहिंसा में पूरा विश्वास रखनेवाले विश्व भर के इने गिने शान्तिवादी आपके साथ एक सप्ताह कहीं शान्त स्थान में बितावें। अनन्तर सेवाग्राम में डा० राजेन्द्रप्रसादजी के प्रमुखत्व में विचारार्थ जनवरी १९४९ में मिली हुई बैठक में जैसा तय हुआ था तदनुसार दिसम्बर १९४९ में विश्वभर के ७५ एकनिष्ठ शान्तिवादियों का सम्मेलन मिलने जा रहा है। इस सम्मेलन के आमंत्रणदाताओं में प्रसिद्ध जैन गृहस्थ भी शामिल हैं।

जैन परम्परा अपने जन्मकाल से ही अहिंसावादी और जुदे-जुदे क्षेत्रों में अहिंसा का विविध प्रयोग करनेवाली रही है। सम्मेलन के आयोजकों ने अन्य परिणामों के साथ एक इस परिणाम की भी आशा रक्खी है कि सामाजिक और राजकीय प्रश्नों को अहिंसा के द्वारा हल करने का प्रयत्न करनेवाले विश्व भर के स्त्री-पुरुषों का एक संघ बने। अतएव हम जैनों के लिए आवश्यक हो जाता है कि पहले हम सोचें कि शान्तिवादी सम्मेलन के प्रति अहिंसावादी रूप से जैन परम्परा का क्या कर्त्तव्य है?

क्रिश्चियन शान्तिवाद हो, जैन अहिंसावाद हो या गाँधीजी का अहिंसा मार्ग हो, सबकी सामान्य भूमिका यह है कि खुद हिंसा से बचना और यथासम्भव लोकहित की विधायक प्रवृत्ति करना। परन्तु इस अहिंसा तत्त्व का विकास सब परम्पराओं में कुछ अंशों में जुदे-जुदे रूप से हुआ है।

शान्तिवाद

'Thou shalt not kill' इत्यादि बाईबल के उपदेशों के आधार पर क्राईस्ट के पक्के अनुयायिओं ने जो अहिंसामूलक विविध प्रवृत्तियों का विकास किया है उसका मुख्य क्षेत्र मानव समाज रहा है। मानव समाज की नानाविध सेवाओं की सच्ची भावना में से किसी भी प्रकार के युद्ध में, अन्य सब तरह की सामाजिक हित की जवाबदेही को अदा करते हुए भी, सशस्त्र भाग न लेने की वृत्तिका भी उदय अनेक शताब्दियों से हुआ है। जैसे-जैसे क्रिश्चियानिटि का

विस्तार होता गया, भिन्न-भिन्न देशों के साथ निकट और दूर का सम्बन्ध जुड़ता गया, सामाजिक और राजकीय जवाबदेही के बढ़ते जाने से उसमें से फलित होनेवाली समस्याओं को हल करने का सवाल पेचीदा होता गया, वैसे-वैसे शांतिवादी मनोवृत्ति भी विकसित होती चली। शुरू में जहाँ वर्ग-युद्ध (Class War), नागरिक युद्ध (Civil War) अर्थात् स्वदेश के अन्तर्गत किसी भी लड़ाई-झगड़े में सशस्त्र भाग न लेने की मनोवृत्ति थी वहाँ क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध तक में किसी भी तरह से सशस्त्र भाग न लेने की मनोवृत्ति स्थिर हुई। इतना ही नहीं बल्कि यह भी भाव स्थिर हुआ कि सम्भवित सभी शान्तिपूर्ण उपायों से युद्ध को टालने का प्रयत्न किया जाय और सामाजिक, राजकीय व आर्थिक क्षेत्रों में भी वैषम्य निवारक शान्तिवादी प्रयत्न किये जाएँ। उसी अन्तिम विकसित मनोवृत्ति का सूचक Pacifism (शांतिवाद) शब्द लगभग १६०५ से प्रसिद्ध रूप में अस्तित्व में आया।[1] गाँधीजी के अहिंसक पुरुषार्थ के बाद तो Pacifism शब्द का अर्थ और भी व्यापक व उन्नत हुआ है। आज तो Pacifism शब्द के द्वारा हम 'हरेक प्रकार के अन्याय का निवारण करने के लिए बड़ी से बड़ी किसी भी शक्ति का सामना करने का सक्रिय अदम्य आत्मबल' यह अर्थ समझते हैं, जो विश्व शांतिवादी सम्मेलन (World Pacifist Meeting) की भूमिका है।

जैन अहिंसा

जैन परम्परा के जन्म के साथ ही अहिंसा की और तन्मूलक अपरिग्रह की भावना जुड़ी हुई है। जैसे-जैसे इस परम्परा का विकास तथा विस्तार होता गया वैसे-वैसे उस भावना का भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नाना प्रकार का उपयोग व प्रयोग हुआ है। परन्तु जैन परम्परा की अहिंसक भावना, अन्य कतिपय भारतीय धर्म परम्पराओं की तरह, यावत् प्राणिमात्र की अहिंसा व रक्षा में चरितार्थ होती आयी है, केवल मानव समाज तक कभी सीमित नहीं रही है। क्रिश्चियन गृहस्थों में अनेक व्यक्ति या अनेक छोटे-मोटे दल समय-समय पर ऐसे हुए हैं जिन्होंने युद्ध की उग्रतम परिस्थिति में भी उसमें भाग लेने का विरोध मरणान्त कष्ट सहन करके भी किया है जबकि जैन गृहस्थों की स्थिति इससे निराली रही है। हमें जैन इतिहास में ऐसा कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता जिसमें देश रक्षा के संकटपूर्ण क्षणों में आनेवाली सशस्त्र युद्ध तक की जवाबदेही टालने का या उसका विरोध करने का प्रयत्न किसी भी समझदार जवाबदेह जैन गृहस्थ ने किया हो।

---

1. Encyclopaedia of Religion (Ed. V. Ferm, 1945,) p. 555.

गाँधीजी की अहिंसा

गाँधीजी जन्म से ही भारतीय अहिंसक संस्कार वाले ही रहे हैं। प्राणिमात्र के प्रति उनकी अहिंसा व अनुकंपा वृत्ति का स्रोत सदा बहता रहा है, जिसके अनेक उदाहरण उनके जीवन में भरे पड़े हैं। गोरक्षा और अन्य पशु-पक्षियों की रक्षा की उनकी हिमायत तो इतनी प्रकट है कि जो किसी से छिपी नहीं है। परन्तु सबका ध्यान खींचनेवाला उनका अहिंसा का प्रयोग दुनिया में अजोड़ गिनी जानेवाली राजसत्ता के सामने बड़े पैमाने पर अशस्त्र प्रतिकार या सत्याग्रह का है। इस प्रयोग ने पुरानी सभी प्राच्य-पाश्चात्य अहिंसक परम्पराओं में जान डाल दी है, क्योंकि इसमें आत्मशुद्धिपूर्वक सबके प्रति न्याय्य व्यवहार करने का दृढ़ संकल्प है और दूसरी तरफ से अन्य के अन्याय के प्रति न झुकते हुए उसका अशस्त्र प्रतिकार करने का प्रबल व सर्वक्षेमंकर पुरुषार्थ है। यही कारण है कि आज का कोई भी सच्चा अहिंसावादी या शांतिवादी गाँधीजी की प्रेरणा की अवगणना कर नहीं सकता। इसी से हम विश्व शांतिवादी सम्मेलन के पीछे भी गाँधीजी का अनोखा व्यक्तित्व पाते हैं।

निवृत्ति-प्रवृत्ति

जैन कुल में जन्म लेनेवाले बच्चों में कुछ ऐसे सुसंस्कार मातृ-स्तन्यपान के साथ बीजरूप में आते हैं जो पीछे से अनेक प्रयत्नों के द्वारा भी दुर्लभ हैं। उदाहरणार्थ—निर्मांस भोजन, मद्य जैसी नसीली चीजों के प्रति घृणा, किसी को न सताने की तथा किसी के प्राण न लेने की मनोवृत्ति तथा केवल असहाय मनुष्य को ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र को संभवित सहायता पहुँचाने की वृत्ति। जन्मजात जैन व्यक्ति में उक्त संस्कार स्वतःसिद्ध होते हुए भी उनकी प्रच्छन्न शक्ति का भान सामान्य रूप से खुद जैनों में भी कम पाया जाता है, जबकि ऐसे ही संस्कारों की भित्ति पर महावीर, बुद्ध, क्राईस्ट और गाँधीजी जैसों के लोक-कल्याणकारी जीवन का विकास हुआ देखा जाता है। इसलिये हम जैनों को अपने विरासती सुसंस्कारों को पहिचानने की दृष्टि का विकास करना सबमें पहले आवश्यक है जो ऐसे सम्मेलन के अवसर पर अनायास सम्भव है। अनेक लोग संन्यास-प्रधान होने के कारण जैन परम्परा को केवल निवृत्ति-मार्गी समझते हैं और कम समझदार खुद जैन भी अपनी धर्म परम्परा को निवृत्तिमार्गी मानने मनवाने में गौरव लेते हैं। इससे प्रत्येक नई जैन पीढ़ी के मन में एक ऐसा अकर्मण्यता का संस्कार जाने अनजाने पड़ता है जो उसके जन्मसिद्ध अनेक सुसंस्कारों के विकास में बाधक बनता है। इसलिए प्रस्तुत मौके पर यह

विचार करना जरूरी है कि वास्तव में जैन परम्परा निवृत्तगामी ही है या प्रवृत्तिगामी भी है, और जैन परम्परा की दृष्टि से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का सच्चा माने क्या है।

उक्त प्रश्नों का उत्तर हमें जैन सिद्धान्त में से भी मिलता है और जैन परम्परा के ऐतिहासिक विकास में से भी।

सैद्धान्तिक दृष्टि

जैन सिद्धान्त यह है कि साधक या धर्म का उम्मेदवार प्रथम अपना दोष दूर करे, अपने आपको शुद्ध करे—तब उसकी सत्-प्रवृत्ति सार्थक बन सकती है। दोष दूर करने का अर्थ है दोष से निवृत्त होना। साधक का पहला धार्मिक प्रयत्न दोष या दोषों से निवृत्त होने का ही रहता है। गुरु भी पहले उसी पर भार देते हैं। अतएव जितनी धर्म प्रतिज्ञायें या धार्मिक व्रत हैं वे मुख्यतया निवृत्ति की भाषा में हैं। गृहस्थ हो या साधु, उसकी छोटी-मोटी सभी प्रतिज्ञायें, सभी मुख्य व्रत दोष निवृत्ति से शुरू होते हैं। गृहस्थ स्थूल प्राणहिंसा, स्थूल मृषावाद, स्थूल परिग्रह आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेता है और ऐसी प्रतिज्ञा निबाहने का प्रयत्न भी करता है। जबकि साधु सब प्रकार की प्राणहिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेकर उसे निबाहने का भरसक प्रयत्न करता है। गृहस्थ और साधुओं की मुख्य प्रतिज्ञाएँ निवृत्तिसूचक शब्दों में होने से तथा दोष से निवृत्त होने का उनका प्रथम प्रयत्न होने से सामान्य समझवालों का यह खयाल बन जाना स्वाभाविक है कि जैन धर्म मात्र निवृत्तिगामी है। निवृत्ति के नाम पर अवश्यकर्त्तव्यों की उपेक्षा का भाव भी धर्म संघों में आ जाता है। इसके और भी दो मुख्य कारण हैं। एक तो मानव-प्रकृति में प्रमाद या परोपजीविता रूप विकृति का होना और दूसरा बिना परिश्रम से या अल्प परिश्रम से जीवन की जरूरतों की पूर्ति हो सके ऐसी परिस्थिति में रहना। पर जैन सिद्धान्त इतने में ही सीमित नहीं है। वह तो स्पष्टतया यह कहता है कि प्रवृत्ति करे पर आसक्ति से नहीं अथवा अनासक्ति से—दोष त्याग पूर्वक प्रवृत्ति करे। दूसरे शब्दों में वह यह कहता है कि जो कुछ किया जाय वह यतना पूर्वक किया जाय। यतना के बिना कुछ न किया जाय। यतना का अर्थ है विवेक और अनासक्ति। हम इन शास्त्राज्ञाओं में स्पष्टतया यह देख सकते हैं कि इनमें निषेध, त्याग या निवृत्ति का जो विधान है वह दोष के निषेध का, नहीं कि प्रवृत्ति मात्र के निषेध का। यदि प्रवृत्तिमात्र के त्याग का विधान होता तो यतना-पूर्वक जीवन प्रवृत्ति करने के

आदेश का कोई भी अर्थ नहीं रहता और प्रवृत्ति न करना इतना मात्र कहा जाता।*

दूसरी बात यह है कि शास्त्र में गुप्ति और समिति–ऐसे धर्म के दो मार्ग हैं। दोनों मार्गों पर बिना चले धर्म की पूर्णता कभी सिद्ध नहीं हो सकती। गुप्ति का मतलब है दोषों से मन, वचन, काया को विरत रखना और समिति का मतलब है विवेक से स्वपरहितावह सत्प्रवृत्ति को करते रहना। सत्प्रवृत्ति बनाए रखने की दृष्टि से जो असत्प्रवृत्ति या दोष के त्याग पर अत्यधिक भार दिया गया है उसीको कम समझवाले लोगों ने पूर्ण मानकर ऐसा समझ लिया कि दोष निवृत्ति से आगे फिर विशेष कर्त्तव्य नहीं रहता। जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सच बात यह फलित होती है कि जैसे-जैसे साधना में दोष निवृत्ति होती और बढ़ती जाए वैसे-वैसे सत्प्रवृत्ति की बाजू विकसित होती जानी चाहिए।

जैसे दोष निवृत्ति के सिवाय सत्प्रवृत्ति असम्भव है वैसे ही सत्प्रवृत्ति की गति के सिवाय दोष निवृत्ति की स्थिरता टिकना भी असम्भव है। यही कारण है कि जैन परम्परा में जितने आदर्श पुरुष तीर्थंकर रूप से माने गये हैं उन सभी ने अपना समग्र पुरुषार्थ आत्मशुद्धि करने के बाद सत्प्रवृत्ति में ही लगाया है। इसलिये हम जैन अपने को जब निवृत्तिगामी कहें तब इतना ही अर्थ समझ लेना चाहिए कि निवृत्ति यह तो हमारी यथार्थ प्रवृत्तिगामी धार्मिक जीवन की प्राथमिक तैयारी मात्र है।

मानस-शास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो भी ऊपर की बात का ही समर्थन होता है। शरीर से भी मन और मन से भी चेतना विशेष शक्तिशाली या गतिशील है। अब हम देखें कि अगर शरीर और मन की गति दोषों से रुकी, चेतना का सामर्थ्य दोषों की ओर गति करने से रुका, तो उनकी गति-दिशा कौन सी रहेगी? वह सामर्थ्य कभी निष्क्रिय या गति-शून्य तो रहेगा ही नहीं। अगर उस सदा-स्फुरत् सामर्थ्य को किसी महान् उद्देश्य की साधना में लगाया न जाए तो फिर

* यद्यपि शास्त्रीय शब्दों का स्थूल अर्थ साधु-जीवन का आहार, विहार, निहार सम्बन्धी चर्या तक ही सीमित जान पड़ता है पर इसका तात्पर्य जीवन के सब क्षेत्रों की सब प्रवृत्तियों में यतना लागू करने का है। अगर ऐसा तात्पर्य न हो, तो यतना की व्याप्ति इतनी कम हो जाती है कि फिर वह यतना अहिंसा सिद्धान्त की समर्थ बाजू बन नहीं सकती। समिति शब्द का तात्पर्य भी जीवन की सब प्रवृत्तियों से है, न कि शब्दों में गिनाई हुई केवल आहार विहार निहार जैसी प्रवृत्तियों में।

वह ऊर्ध्वगामी योग्य दिशा न पाकर पुराने वासनामय अधोगामी जीवन की ओर ही गति करेगा। यह सर्वसाधारण अनुभव है कि जब हम शुभ भावना रखते हुए भी कुछ नहीं करते तब अन्त में अशुभ मार्ग पर ही आ पड़ते हैं। बौद्ध, सांख्य-योग आदि सभी निवृत्तिमार्गी कही जानेवाली धर्म परम्पराओं का भी वही भाव है जो जैन धर्म-परम्परा का। जब गीता ने कर्मयोग या प्रवृत्ति मार्ग पर भार दिया तब वस्तुतः अनासक्त भाव पर ही भार दिया है।

निवृत्ति प्रवृत्ति की पूरक है और प्रवृत्ति निवृत्ति की। ये जीवन के सिक्के की दो बाजुएँ हैं। पूरक का यह भी अर्थ नहीं है कि एक के बाद दूसरी हो, दोनों साथ न हों, जैसे जागृति व निद्रा। पर उसका यथार्थ भाव यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति एक साथ चलती रहती है भले ही कोई एक अंश प्रधान दिखाई दे। मनमें दोषों की प्रवृत्ति चलती रहने पर भी अनेक बार स्थूल जीवन में निवृत्ति दिखाई देती है जो वास्तव में निवृत्ति नहीं है। इसी तरह अनेक बार मन में वासनाओं का विशेष दबाव न होने पर भी स्थूल जीवन में कल्याणावह प्रवृत्ति का अभाव भी देखा जाता है जो वास्तव में निवृत्ति का ही घातक सिद्ध होता है। अतएव हमें समझ लेना चाहिए कि दोष निवृत्ति और सद्गुण प्रवृत्ति का कोई विरोध नहीं प्रत्युत दोनों का साहचर्य ही धार्मिक जीवन की आवश्यक शर्त है। विरोध है तो दोषों से ही निवृत्त होने का और दोषों में ही प्रवृत्त होने का। इसी तरह सद्गुणों में ही प्रवृत्ति करना और उन्हीं से निवृत्त भी होना यह भी विरोध है।

असत्-निवृत्ति और सत्-प्रवृत्ति का परस्पर कैसा पोष्य-पोषक सम्बन्ध है यह भी विचारने की वस्तु है। जो हिंसा एवं मृषावाद से थोड़ा या बहुत अंशों में निवृत्त हो पर मौका पड़ने पर प्राणिहित की विधायक प्रवृत्ति से उदासीन रहता है या सत्य भाषण की प्रत्यक्ष जवाबदेही की उपेक्षा करता है वह धीरे-धीरे हिंसा एवं मृषावाद की निवृत्ति से संचित बल भी गँवा बैठता है। हिंसा एवं मृषावाद की निवृत्ति की सच्ची परीक्षा तभी होती है जब अनुकम्पा की एवं सत्य भाषण की विधायक प्रवृत्ति का प्रश्न सामने आता है। अगर मैं किसी प्राणी या मनुष्य को तकलीफ नहीं देता पर मेरे सामने कोई ऐसा प्राणी या मनुष्य उपस्थित है जो अन्य कारणों से संकटग्रस्त है और उसका संकट मेरे प्रयत्न के द्वारा दूर हो सकता है या कुछ हलका हो सकता है, या मेरी प्रत्यक्ष परिचर्या एवं सहानुभूति से उसे आश्वासन मिल सकता है, फिर भी मैं केवल निवृत्ति की बाजू को ही पूर्ण अहिंसा मान लूँ तो मैं खुद अपनी सद्गुणाभिमुख विकासशील चेतना-शक्ति का गला घोंटता हूँ। मुझमें जो आत्मौपम्य की भावना और जोखिम उठाकर

भी सत्य भाषण के द्वारा अन्याय का सामना करने की तेजस्विता है उसे काम में न लाकर कुण्ठित बना देना और पूर्ण आध्यात्मिकता के विकास के भ्रम में पड़ना है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की दो बाजुएँ हैं जिनसे ब्रह्मचर्य पूर्ण होता है। मैथुन विरमण यह शक्तिसंग्राहक निवृत्त की बाजू है। पर उसके द्वारा संगृहीत शक्ति और तेज का विधायक उपयोग करना यही प्रवृत्ति की बाजू है। जो मैथुन-विरत व्यक्ति अपनी संचित वीर्य शक्ति का अविकारानुरूप लौकिक लोकोत्तर भलाई में उपयोग नहीं करता है वह अन्त में अपनी उस संचित वीर्य-शक्ति के द्वारा ही या तो तामसवृत्ति बन जाता है या अन्य अकृत्य की ओर झुक जाता है। यही कारण है कि मैथुनविरत ऐसे लाखों बाबा संन्यासी अब भी मिलते हैं जो परोपजीवी क्रोधमूर्त्ति और विविध वहमों के घर हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि

अब हम ऐतिहासिक दृष्टि से निवृत्ति और प्रवृत्ति के बारे में जैन परम्परा का झुकाव क्या रहा है सो देखें। हम पहिले कह चुके हैं कि जैन कुल में मांस मद्य आदि व्यसन त्याग, निरर्थक पापकर्म से विरति जैसे निषेधात्मक सुसंस्कार और अनुकम्पा मूलक भूतहित करने की वृत्ति जैसे भावात्मक सुसंस्कार विरासती हैं। अब देखना होगा कि ऐसे संस्कारों का निर्माण कैसे शुरू हुआ, उनकी पुष्टि कैसे-कैसे होती गई और उनके द्वारा इतिहास काल में क्या-क्या घटनाएँ घटीं।

जैन परम्परा के आदि प्रवर्त्तक माने जानेवाले ऋषभदेव के समय जितने अन्धकार युग को हम छोड़ दें तो भी हमारे सामने नेमिनाथ का उदाहरण स्पष्ट है, जिसे विश्वसनीय मानने में कोई आपत्ति नहीं। नेमिनाथ देवकीपुत्र कृष्ण के चचेरे भाई और यदुवंश के तेजस्वी तरुण थे। उन्होंने ठीक लग्न के मौके पर मांस के निमित्त एकत्र किए गये सैकड़ों पशुपक्षियों को लग्न में असहयोग के द्वारा जो अभयदान दिलाने का महान् साहस किया, उसका प्रभाव सामाजिक समारम्भ में प्रचलित चिरकालीन मांस भोजन की प्रथा पर ऐसा पड़ा कि उस प्रथा की जड़ हिल-सी गई। एक तरफ से ऐसी प्रथा शिथिल होने से मांस-भोजन त्याग का संस्कार पड़ा और दूसरी तरफ से पशु-पक्षियों को मारने से बचाने की विधायक प्रवृत्ति भी धर्म्य गिनी जाने लगी। जैन परम्परा के आगे के इतिहास में हम जो अनेक अहिंसापोषक और प्राणिरक्षक प्रयत्न देखते हैं उनके मूल में नेमिनाथ की त्याग-घटना का संस्कार काम कर रहा है।

पार्श्वनाथ के जीवन में एक प्रसङ्ग ऐसा है जो ऊपर से साधारण लगता है पर निवृत्ति-प्रवृत्ति के विचार से वह असाधारण है। पार्श्वनाथ ने देखा कि

एक तापस जो पंचाग्नि तप कर रहा है उसके आस-पास जलने वाली बड़ी-बड़ी लकड़ियों में साँप भी जल रहा है। उस समय पार्श्वनाथ ने चुपकी न पकड़ कर तात्कालिक प्रथा के विरुद्ध और लोकमत के विरुद्ध आवाज उठाई और अपने पर आने वाली जोखिम की परवाह नहीं की। उन्होंने लोगों से स्पष्ट कहा कि ऐसा तप अधर्म है जिसमें निरपराध प्राणी मरते हों। इस प्रसङ्ग पर पार्श्वनाथ मौन रहते तो उन्हें कोई हिंसाभागी या मृषावादी न कहता। फिर भी उन्होंने सत्य भाषण का प्रवृत्ति-मार्ग इसलिये अपनाया कि स्वीकृत धर्म की पूर्णता कभी केवल मौन या निवृत्ति से सिद्ध नहीं हो सकती।

चतुर्याम के पुरस्कर्त्ता ऐतिहासिक पार्श्वनाथ के बाद पंचयाम के समर्थक भगवान् महावीर आते हैं। उनके जीवन की कुछ घटनाएँ प्रवृत्तिमार्ग की दृष्टि से बहुत सूचक हैं। महावीर ने समता के आध्यात्मिक सिद्धान्त को मात्र व्यक्तिगत न रखकर उसका धर्म दृष्टि से सामाजिक क्षेत्र में भी प्रयोग किया है। महावीर जन्म से किसी मनुष्य को ऊँचा या नीचा मानते न थे। सभी को सद्गुण-विकास और धर्माचरण का समान अधिकार एक-सा है—ऐसा उनका दृढ़ सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त को तत्कालीन समाज-क्षेत्र में लागू करने का प्रयत्न उनकी धर्ममूलक प्रवृत्ति की बाजू है। अगर वे केवल निवृत्ति में ही पूर्ण धर्म समझते तो अपने व्यक्तिगत जीवन में अस्पृश्यता का निवारण करके संतुष्ट रहते। पर उन्होंने ऐसा न किया। तत्कालीन प्रबल बहुमत की अन्याय्य मान्यता के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाया और मेतार्य तथा हरिकेश जैसे सबसे निकृष्ट गिने जानेवाले अस्पृश्यों को अपने धर्म संघ में समान स्थान दिलाने का द्वार खोल दिया। इतना ही नहीं बल्कि हरिकेश जैसे तपस्वी आध्यात्मिक चण्डाल को छुआछूत में आन-खशिख डूबे हुए जात्यभिमानी ब्राह्मणों के धर्मवाटों में भेजकर गाँधीजी के द्वारा समर्थित मन्दिर में अस्पृश्य प्रवेश जैसे विचार के धर्म बीज बोने का समर्थन भी महावीरानुयायी जैन परम्परा ने किया है। यज्ञ यागादि में अनिवार्य मानी जाने-वाली पशु आदि प्राणी हिंसा से केवल स्वयं पूर्णतया विरत रहते तो भी कोई महावीर या महावीर के अनुयायी त्यागी को हिंसाभागी नहीं कहता। पर वे धर्म के मर्म को पूर्णतया समझते थे। इसीसे जयघोष जैसे वीर साधु यज्ञ के महान् समारंभ पर विरोध की व संकट की परवाह बिना किए अपने अहिंसा सिद्धान्त को क्रियाशील व जीवित बनाने जाते हैं। और अन्त में उस यज्ञ में मारे जानेवाले पशु को प्राण से तथा मारनेवाले याज्ञिक को हिंसावृत्ति से बचा लेते हैं। यह अहिंसा की प्रवृत्ति बाजू नहीं तो और क्या है? खुद महावीर के समक्ष उनका पूर्व सहचारी गोशालक आया और अपने आपको वास्तविक स्वरूप से छिपाने का

भरसक प्रयत्न किया। महावीर उस समय चुप रहते तो कोई उन्हें मृषावाद-विरिति के महाव्रत से च्युत न गिनता। पर उन्होंने स्वयं सत्य देखा और सोचा कि असत्य न बोलना इतना ही उस व्रत के लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि असत्यवाद का साक्षी होना यह भी भयमूलक असत्यवाद के बराबर ही है। इसी विचार से गोशालक की अत्युग्र रोषप्रकृति को जानते हुए भी भावी संकट की परवाह न कर उसके सामने वीरता से सत्य प्रकट किया और दुर्वासा जैसे गोशालक के रोषाग्नि के दुःसह ताप के कटुक अनुभव से भी कभी सत्य-संभाषण का अनुताप न किया।

अब हम सुविदित ऐतिहासिक घटनाओं पर आते हैं। नेमिनाथ की ही प्राणि-रक्षण की परम्परा को सजीव करनेवाले अशोक ने अपने धर्मशासनों में जो आदेश दिए हैं, ये किसी से भी छिपे नहीं हैं। ऐसा एक धर्मशासन तो खुद नेमिनाथ की ही साधना-भूमि में आज भी नेमिनाथ की परंपरा को याद दिलाता है। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने प्राणियों की हिंसा रोकने व उन्हें अभय-दान दिलाने का राजोचित प्रवृत्ति मार्ग का पालन किया है।

बौद्ध कवि व सन्त मातृचेट का कणिकालेख इतिहास में प्रसिद्ध है। कनिष्क के आमंत्रण पर अति बुढ़ापे के कारण जब मातृचेट भिक्षु उनके दरबार में न जा सके तो उन्होंने एक पद्यबद्ध लेख के द्वारा आमंत्रणदाता कनिष्क जैसे शक नृपति से पशु-पक्षी आदि प्राणियों को अभयदान दिलाने की भिक्षा मांगी। हर्ष-वर्धन, जो एक पराक्रमी धर्मवीर सम्राट था, उसने प्रवृत्ति मार्ग को कैसे विकसित किया यह सर्वविदित है। वह हर पाँचवें साल अपने सारे खजाने को भलाई में खर्च करता था। इससे बढ़कर अपरिग्रह की प्रवृत्ति बाजू का राजोचित उदाहरण शायद ही इतिहास में हो।

गुर्जर सम्राट् शैव सिद्धराज को कौन नहीं जानता? उसने मलधारी आचार्य अभयदेव तथा हेमचन्द्रसूरि के उपदेशानुसार पशु, पक्षी आदि प्राणियों को अभयदान देकर अहिंसा की प्रवृत्ति बाजू का विकास किया है। उसका उत्तरा-धिकारी कुमारपाल तो परमार्हत ही था। उसने कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों को जीवन में इतना अधिक अपनाया कि विरोधी लोग उसकी प्राणि-रक्षा की भावना का परिहास तक करते रहे। जो कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से युद्धों में भाग भी लेता था वही कुमारपाल अमारि-घोषणा के लिए प्रख्यात है।

अकबर, जहाँगिर जैसे मांसभोजी व शिकारशोखी मुसलिम बादशाहों से हीरविजय, शान्तिचन्द्र, भानुचन्द्र आदि साधुओं ने जो काम कराया वह अहिंसा धर्म की प्रवृत्ति बाजू का प्रकाशमान उदाहरण है। ये साधु तथा उनके अनुगामी

गृहस्थलोग अपने धर्मस्थानों में हिंसा से विरत रहकर अहिंसा के आचरण का संतोष धारण कर सकते थे। पर उनकी सहजसिद्ध आत्मौपम्यकी वृत्ति निष्क्रिय न रही। उस वृत्ति ने उनको विभिन्नधर्मी शक्तिशाली बादशाहों तक साहस पूर्वक अपना ध्येय लेकर जाने की प्रेरणा की और अन्त में वे सफल भी हुए। उन बादशाहोंके शासनादेश आज भी हमारे सामने हैं, जो अहिंसा धर्म की गतिशीलता के साक्षी हैं।

गुजरात के महामात्य वस्तुपाल का नाम कौन नहीं जानता? वह अपनी धन-राशि का उपयोग केवल अपने धर्मपंथ या साधुसमाज के लिए ही करके सन्तुष्ट न रहा। उसने सार्वजनिक कल्याण के लिए अनेक कामों में अति उदारता से धन का सदुपयोग करके दान मार्ग की व्यापकता सिद्ध की। जगडु शाह जो एक कच्छ का व्यापारी था और जिसके पास अन्न घास आदि का बहुत बड़ा संग्रह था उसने उस सारे संग्रह को कच्छ, काठियावाड़ और गुजरात व्यापी तीन वर्ष के दुर्भिक्ष में यथोयोग्य बाँट दिया व पशु तथा मनुष्य की अनुकरणीय सेवा द्वारा अपने संग्रह की सफलता सिद्ध की।

नेमिनाथ ने जो पशु पक्षी आदि की रक्षा का छोटा सा धर्मबीजवपन किया था, और जो मांसभोजन त्याग की नींव डाली थी उसका विकास उनके उत्तराधिकारियों ने अनेक प्रकार से किया है, जिसे हम ऊपर संक्षेप में देख चुके। पर यहाँ पर एक दो बातें खास उल्लेखनीय हैं। हम यह कबूल करते हैं कि पिंजरापोल की संस्था में समयानुसार विकास करने की बहुत गुंजाइश है और उसमें अनेक सुधारने योग्य त्रुटियां भी हैं। पर पिंजरापोल की संस्था का सारा इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है कि पिंजरापोल के पीछे एक मात्र प्राणि-रक्षा और जीवदया की भावना ही सजीव रूप में वर्त्तमान है। जिन लाचार पशु-पक्षी आदि प्राणियों को उनके मालिक तक छोड़ देते हैं, जिन्हें कोई पानी तक नहीं पिलाता उन प्राणियों की निष्काम भाव से आजीवन परिचर्या करना, इसके लिए लाखों रुपए खर्च करना, यह कोई साधारण धर्म संस्कार का परिणाम नहीं है। गुजरात व राजस्थान का ऐसा शायद ही कोई स्थान हो जहाँ पिंजरा-पोल का कोई न कोई स्वरूप वर्त्तमान न हो। वास्तव में नेमिनाथ ने पिंजरबद्ध प्राणियों को अभयदान दिलाने का जो तेजस्वी पुरुषार्थ किया था, जान पड़ता है, उसी की यह चिरकालीन धर्मस्मृति उन्हीं के जन्मस्थान गुजरात में चिरकाल से व्यापक रूप से चली आती है, और जिसमें आम जनता का भी पूरा सहयोग है। पिंजरापोल की संस्थाएँ केवल लूले लंगड़े लाचार प्राणियों की रक्षा के कार्य तक ही सीमित नहीं हैं। वे अतिवृष्टि दुष्काल आदि संकटपूर्ण समय में दूसरी भी अनेकविध सम्भवित प्राणिरक्षण-प्रवृत्तियाँ करती हैं।

अहिंसा व दया के विकास का पुराना इतिहास देखकर तथा निर्मांस भोजन की व्यापक प्रथा और जीव दया की व्यापक प्रवृत्ति देखकर ही लोकमान्य तिलक ने एक बार कहा था कि गुजरात में जो अहिंसा है, वह जैन परम्परा का प्रभाव है। यह ध्यान में रहे कि यदि जैन परम्परा केवल निवृत्ति बाजू का पोषण करने में कृतार्थता मानती तो इतिहास का ऐसा भव्य रूप न होता जिससे तिलक जैसों का ध्यान खिंचता।

हम "जीव दया मण्डली" की प्रवृति को भूल नहीं सकते। वह करीब ४० वर्षों से अपने सतत प्रयत्न के द्वारा इतने अधिक जीव दया के कार्य कराने में सफल हुई है कि जिनका इतिहास जानकर सन्तोष होता है। अनेक प्रान्तों में व राज्यों में धार्मिक मानी जाने वाली प्राणिहिंसा को तथा सामाजिक व वैयक्तिक मांस भोजन की प्रथा को उसने बन्द कराया है व लाखों प्राणियों को जीवित दान दिलाने के साथ-साथ लाखों स्त्री पुरुषों में एक आत्मौपम्य के सुसंस्कार का समर्थ बीजवपन किया है।

वर्तमान में सन्तबालका नाम उपेक्ष्य नहीं है। वह एक स्थानकवासी जैन मुनि है। वह अपने गुरू या अन्य धर्म-सहचारी मुनियों की तरह अहिंसा की केवल निष्क्रिय बाजू का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत कर सकता था, पर गांधीजी के व्यक्तित्व ने उसकी आत्मा में अहिंसा की भावात्मक प्रेमज्योति को सक्रिय बनाया। अतएव वह रूढ़ लोकापवाद की बिना परवाह किए अपनी प्रेमवृत्ति को कृतार्थ करने के लिए पंच महाव्रत की विधायक बाजू के अनुसार नानाविध मानवहित की प्रवृतियों में निष्काम भाव से कूद पड़ा जिसका काम आज जैन जैनेतर सब लोगों का ध्यान खींच रहा है।

जैन ज्ञान-भाण्डार, मन्दिर, स्थापत्य व कला

अब हम जैन परम्परा की धार्मिक प्रवृत्ति बाजू का एक और भी हिस्सा देखें जो कि खास महत्त्व का है और जिसके कारण जैन परंपरा आज जीवित व तेजस्वी है। इस हिस्से में ज्ञानभण्डार, मन्दिर और कला का समावेश होता है। सैकड़ों वर्षों से जगह-जगह स्थापित बड़े-बड़े ज्ञान-भाण्डारों में केवल जैन शास्त्र का या अध्यात्मशास्त्र का ही संग्रह रक्षण नहीं हुआ है बल्कि उसके द्वारा अनेकविध लौकिक शास्त्रों का असाम्प्रदायिक दृष्टि से संग्रह संरक्षण हुआ है। क्या वैद्यक, क्या ज्योतिष, क्या मन्त्र तन्त्र, क्या संगीत, क्या सामुद्रिक, क्या भाषाशास्त्र, काव्य, नाटक, पुराण, अलंकार व कथाग्रंथ और क्या सर्व दर्शन संबन्धी महत्व के शास्त्र—इन सबों का ज्ञानभाण्डारों में संग्रह संरक्षण ही नहीं हुआ है बल्कि इनके अध्ययन व अध्यापन के द्वारा कुछ विशिष्ट विद्वानों ने ऐसी प्रतिभा-

मूलक नव कृतियाँ भी रची हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं और मौलिक गिनी जाने लायक हैं तथा जो विश्वसाहित्य के संग्रह में स्थान पाने योग्य हैं। ज्ञानभाण्डारों में से ऐसे ग्रंथ मिले हैं जो बौद्ध आदि अन्य परंपरा के हैं और आज दुनियाँ के किसी भी भाग में मूलस्वरूप में अभी तक उपलब्ध भी नहीं हैं। ज्ञानभाण्डारों का यह जीवनदायी कार्य केवल धर्म की निवृत्ति बाजू से सिद्ध हो नहीं सकता।

यों तो भारत में अनेक कलापूर्ण धर्मस्थान हैं, पर चामुण्डराय प्रतिष्ठित गोमटेश्वर की मूर्ति की भव्यता व विमल शाह तथा वस्तुपाल आदि के मन्दिरों के शिल्प स्थापत्य ऐसे अनोखे हैं कि जिन पर हर कोई मुग्ध हो जाता है। जिनके हृदय में धार्मिक भावना की विधायक सौन्दर्य की बाजू का आदरपूर्ण स्थान न हो, जो साहित्य व कला का धर्मपोषक मर्म न जानते हों वे अपने धन के खजाने इस बाजू में खर्च कर नहीं सकते।

व्यापक लोकहित की दृष्टि

पहले से आज तक में अनेक जैन गृहस्थों ने केवल अपने धर्म समाज के हित के लिए ही नहीं बल्कि साधारण जन समाज के हित की दृष्टि से आध्यात्मिक ऐसे कार्य किए हैं, जो व्यावहारिक धर्म के समर्थक और आध्यात्मिकता के पोषक होकर सामाजिकता के सूचक भी हैं। आरोग्यालय, भोजनालय, शिक्षणालय, वाचनालय, अनाथालय जैसी संस्थाएँ ऐसे कार्यों में गिने जाने योग्य हैं।

ऊपर जो हमने प्रवर्तक धर्म की बाजू का संक्षेप में वर्णन किया है, वह केवल इतना ही सूचन करने के लिए कि जैन धर्म जो एक आध्यात्मिक धर्म व मोक्षवादी धर्म है वह यदि धार्मिक प्रवृत्तियों का विस्तार न करता और ऐसी प्रवृत्तियों से उदासीन रहता तो न सामाजिक धर्म बन सकता, न सामाजिक धर्म रूप से जीवित रह सकता और न क्रियाशील लोक समाज के बीच गौरव का स्थान पा सकता। ऊपर के वर्णन का यह बिलकुल उद्देश्य नहीं है कि अतीत गौरव की गाथा गाकर आत्मप्रशंसा के मिथ्या भ्रम का हम पोषण करें और देशकालानुरूप नए-नए आवश्यक कर्त्तव्यों से मुँह मोड़ें। हमारा स्पष्ट उद्देश्य तो यही है कि पुरानी व नई पीढ़ी को हजारों वर्ष के विरासती सुसंस्कार की याद दिलाकर उनमें कर्त्तव्य की भावना प्रदीप्त करें तथा महात्माजी के सेवाकार्यों की ओर आकृष्ट करें।

गांधीजी की सूझ

जैन परम्परा पहले ही से अहिंसा धर्म का अत्यन्त आग्रह रखती आई है। पर सामाजिक धर्म के नाते देश तथा सामाज के नानाविध उत्थान-पतनों में जब-जब शस्त्र धारण करने का प्रसंग आया तब-तब उसने उससे भी मुँह न मोड़ा।

यद्यपि शस्त्र धारण के द्वारा सामाजिक हित के रक्षाकार्य का अहिंसा के आत्यन्तिक समर्थन के साथ मेल बिठाना सरल न था पर गांधीजी के पहिले ऐसा कोई अशस्त्र युद्ध का मार्ग खुला भी न था। अतएव जिस रास्ते अन्य जनता जाती रही उसी रास्ते जैन जनता भी चली। परन्तु गांधीजी के बाद तो युद्ध का कर्मक्षेत्र सच्चा धर्मक्षेत्र बन गया। गांधीजी ने अपनी अपूर्व सूझ से ऐसा मार्ग लोगों के सामने रखा जिसमें वीरता की पराकाष्ठा जरूरी है और सो भी शस्त्र धारण बिना किए ही। जब ऐसे अशस्त्र प्रतिकार का अहिंसक मार्ग सामने आया तब वह जैन परम्परा के मूलगत अहिंसक संस्कारों के साथ सविशेष संगत दिखाई दिया। यही कारण है कि गांधीजी की अहिंसामूलक सभी प्रवृत्तियों में जैन स्त्री-पुरुषों ने अपनी संख्या के अनुपात से तुलना में अधिक ही भाग लिया और आज भी देश के कोने-कोने में भाग ले रहे हैं। गांधीजी की अहिंसा की रचनात्मक अमली सूझ ने अहिंसा के दिशाशून्य उपासकों के सामने इतना बड़ा आदर्श और कार्यक्षेत्र रखा है जो जीवन की इसी लोक में स्वर्ग और मोक्ष की आकांक्षा को सिद्ध करने वाला है।

अपरिग्रह व परिग्रह-परिमाण व्रत

प्रस्तुत शान्तिवादी सम्मेलन जो शान्तिनिकेतन में गांधीजी के सत्य अहिंसा के सिद्धान्त को वर्तमान अति संघर्षप्रधान युग में अमली बनाने के लिए विशेष ऊहापोह करने को मिल रहा है, उसमें अहिंसा के विरासती संस्कार धारण करने वाले हम जैनों का मुख्य कर्तव्य यह है कि अहिंसा की साधना की हरएक बाजू में भाग लें। और उसके नवीन विकास को अपनाकर अहिंसक संस्कार के स्तर को ऊँचा उठावें। परन्तु यह काम केवल चर्चा या मौखिक सहानुभूति से कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिए जिस एक तत्त्व का विकास करना जरूरी है वह है अपरिग्रह या परिग्रह-परिमाण व्रत।

उक्त व्रत पर जैन परम्परा इतना अधिक भार देती आई है कि इसके बिना अहिंसा के पालन को सर्वथा असम्भव तक माना है। त्यागिवर्ग स्वीकृत अपरिग्रह की प्रतिज्ञा को सच्चे अर्थ में तब तक कभी पालन नहीं कर सकते जब तक वे अपने जीवन के अंग प्रत्यंग को स्वावलम्बी और सादा न बनावे। पुरानी रूढ़ियों के चक्र में पड़कर जो त्याग तथा सादगी के नाम पर दूसरों के श्रम का अधिकाधिक फल भोगने की प्रथा रूढ़ हो गई है उसे गांधीजी के जीवित उदाहरण द्वारा हटाने में व महावीर की स्वावलम्बी सच्ची जीवन प्रथा को अपनाने में आज कोई संकोच होना न चाहिए। यही अपरिग्रह व्रत का तात्पर्य है।

जैन परम्परा में गृहस्थवर्ग परिग्रह-परिमाण व्रत पर अर्थात् स्वतन्त्र इच्छा-

पूर्वक परिग्रह की मर्यादा को संकुचित बनाने के संकल्प पर हमेशा भार देता आया है। पर उस व्रत की यथार्थ आवश्यकता और उसका मूल्य जितना आज है, उतना शायद ही भूतकाल में रहा हो। आज का विश्वव्यापी संघर्ष केवल परिग्रहमूलक है। परिग्रह के मूल में लोभवृत्ति ही काम करती है। इस वृत्ति पर ऐच्छिक अंकुश या नियन्त्रण बिना रखे न तो व्यक्ति का उद्धार है न समाज का और न राष्ट्र का। लोभ वृत्ति के अनियन्त्रित होने के कारण ही देश के अन्दर तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में खींचातानी व युद्ध की आशंका है, जिसके निवारण का उपाय सोचने के लिए प्रस्तुत सम्मेलन हो रहा है। इसलिए जैन परम्परा का प्रथम और सर्वप्रथम कर्त्तव्य तो यही है कि वह परिग्रह-परिमाण व्रत का आधुनिक दृष्टि से विकास करे। सामाजिक, राजकीय तथा आर्थिक समस्याओं के निपटारे का अगर कोई कार्यसाधक अहिंसक इलाज है तो वह ऐच्छिक अपरिग्रह व्रत या परिग्रह-परिमाण व्रत ही है।

अहिंसा को परम धर्म माननेवाले और विश्व शांतिवादी सम्मेलन के प्रति अपना कुछ-न-कुछ कर्त्तव्य समझकर उसे अदा करने की वृत्तिवाले जैनों को पुराने परिग्रह-परिमाण व्रत का नीचे लिखे माने में नया अर्थ फलित करना होगा और उसके अनुसार जीवन व्यवस्था करनी होगी।

(१) जिस समाज या राष्ट्र के हम अंग या घटक हों उस सारे समाज या राष्ट्र के सर्वसामान्य जीवन धोरण के समान ही जीवन धोरण रखकर तदनुसार जीवन की आवश्यकताओं का घटना या बढ़ना।

(२) जीवन के लिए अनिवार्य जरूरी वस्तुओं के उत्पादन के निमित्त किसी-न-किसी प्रकार का उत्पादक श्रम किए बिना ही दूसरे के वैसे श्रमपर, शक्ति रहते हुए भी, जीवन जीने को परिग्रह-परिमाण व्रत का बाधक मानना।

(३) व्यक्ति की बची हुई या संचित सब प्रकार की सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसके कुटुम्ब या परिवार का उतना ही होना चाहिए जितना समाज या राष्ट्र का। अर्थात् परिग्रह-परिमाण व्रत के नए अर्थ के अनुसार समाज तथा राष्ट्र से पृथक् कुटुम्ब परिवार का स्थान नहीं है।

ये तथा अन्य ऐसे जो जो नियम समय-समय की आवश्यकता के अनुसार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित की दृष्टि से फलित होते हों, उनको जीवन में लागू करके गांधीजी के राह के अनुसार औरों के सामने सबक उपस्थित करना यही हमारा विश्व शान्तिवादी सम्मेलन के प्रति मुख्य कर्त्तव्य है ऐसी हमारी स्पष्ट समझ है।

ई० १९४९]

जीव और पञ्च परमेष्ठी का स्वरूप

(१) प्रश्न—परमेष्ठी क्या वस्तु है ?

उत्तर - वह जीव है।

(२) प्रश्न—क्या सभी जीव परमेष्ठी कहलाते हैं।

उ०—नहीं।

(३) प्र०— तब कौन कहलाते हैं ?

उ०—जो जीव परम में अर्थात् उत्कृष्ट स्वरूप में—समभाव में छिन् अर्थात् स्थित हैं, वे ही परमेष्ठी कहलाते हैं।

(४) प्र०—परमेष्ठी और उनसे भिन्न जीवों में क्या अन्तर है ?

उ०—अन्तर, आध्यात्मिक विकास होने न होने का है। अर्थात् जो आध्यात्मिक-विकास वाले व निर्मल आत्मशक्ति वाले हैं, वे परमेष्ठी और जो मलिन आत्मशक्ति वाले हैं वे उनसे भिन्न हैं।

(५) प्र०—जो इस समय परमेष्ठी नहीं हैं, क्या वे भी साधनों द्वारा आत्मा को निर्मल बनाकर वैसे बन सकते हैं ?

उ०—अवश्य।

(६) प्र०—तब तो जो परमेष्ठी नहीं हैं और जो हैं उनमें शक्ति की अपेक्षा से भेद क्या हुआ ?

उ०—कुछ भी नहीं। अन्तर सिर्फ शक्तियों के प्रकट होने न होने का है। एक में आत्म-शक्तियों का विशुद्ध रूप प्रकट हो गया है, दूसरों में नहीं।

(७) प्र०—जब असलियत में सब जीव समान ही हैं तब उन सबका सामान्य स्वरूप (लक्षण) क्या है ?

उ०—रूप रस गन्ध स्पर्श आदि पौद्‌गलिक गुणों का न होना और चेतना का होना यह सब जीवों का सामान्य लक्षण[१] है।

---

१ "अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं जाण अलिंगग्गहणं, जीव-परिणिद्दिट्ठसंठाणं ॥" प्रवचनसार ज्ञेयतत्त्वाधिकार, गाथा ८०।

अर्थात्—जो रस, रूप, गन्ध और शब्द से रहित हैं जो अव्यक्त—स्पर्श रहित है, अतएव जो लिङ्गों—इन्द्रियों से अग्राह्य है जिसके कोई संस्थान आकृति नहीं है।

(८) प्र०—उक्त लक्षण तो अतीन्द्रिय-इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकने वाला है; फिर उसके द्वारा जीवों की पहिचान कैसे हो सकती है ?

उ०—निश्चय-दृष्टि से जीव अतीन्द्रिय हैं इसलिये उनका लक्षण अतीन्द्रिय होना ही चाहिए, क्योंकि लक्षण लक्ष्य से भिन्न नहीं होता। जब लक्ष्य अर्थात् जीव इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते, तब इनका लक्षण इन्द्रियों से न जाना जा सके, यह स्वाभाविक ही है।

(९) प्र० - जीव तो आँख आदि इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी कीड़े आदि जीवों को देखकर व छूकर हम जान सकते हैं कि यह कोई जीवधारी है। तथा किसी की आकृति आदि देखकर या भाषा सुनकर हम यह भी जान सकते हैं कि अमुक जीव सुखी, दुःखी, मूढ़, विद्वान्, प्रसन्न या नाराज है। फिर जीव अतीन्द्रिय कैसे ?

उ०—शुद्ध रूप अर्थात् स्वभाव की अपेक्षा से जीव अतीन्द्रिय है। अशुद्ध रूप अर्थात् विभाव की अपेक्षा से वह इन्द्रियगोचर भी है। अमूर्त्तत्व—रूप, रस आदि का अभाव या चेतनाशक्ति, यह जीव का स्वभाव है, और भाषा, आकृति, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि जीव के विभाव अर्थात् कर्मजन्य पर्याय हैं। स्वभाव पुद्गल-निरपेक्ष होने के कारण अतीन्द्रिय है और विभाव, पुद्गल-सापेक्ष होने के कारण इन्द्रियग्राह्य हैं। इसलिये स्वाभाविक लक्षण की अपेक्षा से जीव को अतीन्द्रिय समझना चाहिए।

(१०) प्र०—अगर विभाव का संबन्ध जीव से है तो उसको लेकर भी जीव का लक्षण किया जाना चाहिए ?

उ०—किया ही है। पर वह लक्षण सब जीवों का नहीं होगा, सिर्फ संसारी जीवों का होगा। जैसे जिनमें सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि भाव हों या जो[1] कर्म के कर्त्ता और कर्म-फल के भोक्ता और शरीरधारी हों वे जीव हैं।

(११) प्र०—उक्त दोनों लक्षणों को स्पष्टतापूर्वक समझाइये।

उ०—प्रथम लक्षण स्वभावस्पर्शी है, इसलिए उसको निश्चय नय की अपेक्षा से तथा पूर्ण व स्थायी समझना चाहिये। दूसरा लक्षण विभावस्पर्शी है, इसलिए

---

१ "यः कर्त्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च। संसर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥"

अर्थात्—जो कर्मों का करनेवाला है, उनके फल का भोगने वाला है, संसार में भ्रमण करता है और मोक्ष को भी पा सकता है, वही जीव है। उसका अन्य लक्षण नहीं है।

उसको व्यवहार नय की अपेक्षा से तथा अपूर्ण व अस्थायी समझना चाहिए। सारांश यह है कि पहला लक्षण निश्चय-दृष्टि के अनुसार है, अतएव तीनों काल में घटनेवाला है और दूसरा लक्षण व्यवहार-दृष्टि के अनुसार है, अतएव तीनों काल में नहीं घटनेवाला[1] है। अर्थात् संसार दशा में पाया जानेवाला और मोक्ष दशा में नहीं पाया जाने वाला है।

(१२) प्र०—उक्त दो दृष्टि से दो लक्षण जैसे जैनदर्शन में किये गए हैं, क्या वैसे जैनेतर-दर्शनों में भी हैं?

उ०—हाँ, [2]साङ्ख्य, [3]योग, [4]वेदान्त आदि दर्शनों में आत्मा को चेतन-रूप या सच्चिदानन्दरूप कहा है सो निश्चय नय[5] की अपेक्षा से, और [6]न्याय,

---

१ 'अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्व लक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थाया-मनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीव-त्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति।' —प्रवचनसार, अमृतचन्द्र—कृत टीका, गाथा ५३।

सारांश—जीवत्व निश्चय और व्यवहार इस तरह दो प्रकार का है। निश्चय जीवत्व अनन्त-ज्ञान-शक्तिस्वरूप होने से त्रिकाल-स्थायी है और व्यवहार-जीवत्व पौद्गलिक-प्राणसंसर्ग रूप होने से संसारावस्था तक ही रहने वाला है।

२ 'पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किन्तु चेतनः।' —मुक्तावलि पृ० ३६।

अर्थात्—आत्मा कमलपत्र के समान निर्लेप किन्तु चेतन है।

३ तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः'

पातञ्जल सूत्र, पाद ३, सूत्र ३५ भाष्य।

अर्थात्—पुरुष–आत्मा–चिन्मात्ररूप है और परिणामी सत्त्व से अत्यन्त विलक्षण तथा विशुद्ध है।

४ "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"—बृहदारण्यक ३।६।२८

अर्थात्—ब्रह्म–आत्मा–आनन्द तथा ज्ञानरूप है।

६ "निश्चयमिह भूतार्थं, व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।"

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ५

अर्थात्—तात्त्विक-दृष्टि को निश्चय-दृष्टि और उपचार-दृष्टि को व्यवहार दृष्टि कहते हैं।

५ "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।"

—न्यायदर्शन १।१।१०

अर्थात्—१ इच्छा, २ द्वेष, ३ प्रयत्न, ४ सुख, ५ दुःख और ज्ञान, ये आत्मा के लक्षण हैं।

वैशेषिक आदि दर्शनों में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, आदि आत्मा के लक्षण बतलाए हैं सो व्यवहार नय की अपेक्षा से।

(१३) प्र०—क्या जीव और आत्मा इन दोनों शब्दों का मतलब एक है ?

उ०—हाँ, जैनशास्त्र में तो संसारी असंसारी सभी चेतनों के विषय में 'जीव और आत्मा', इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है, पर वेदान्त[1] आदि दर्शनों में जीव का मतलब संसार-अवस्था वाले ही चेतन से है, मुक्तचेतन से नहीं, और आत्मा[2] शब्द तो साधारण है।

(१४) प्र०—आपने तो जीव का स्वरूप कहा, पर कुछ विद्वानों को यह कहते सुना है कि आत्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय अर्थात् वचनों से नहीं कहे जा सकने योग्य है, सो इसमें सत्य क्या है ?

उ०—उनका भी कथन युक्त है क्योंकि शब्दों के द्वारा परिमित भाव प्रगट किया जा सकता है। यदि जीव का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया जानना हो तो वह अपरिमित होने के कारण शब्दों के द्वारा किसी तरह नहीं बताया जा सकता। इसलिए इस अपेक्षा से जीव का स्वरूप अनिर्वचनीय[3] है। इस बात को जैसे अन्य दर्शनों में 'निर्विकल्प'[4] शब्द से या

---

१ 'जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता।'
--ब्रह्मसूत्र भाष्य, पृष्ठ १०६, अ० १, पाद १, अ० ५, सू० ६।

अर्थात्—जीव वह चेतन है जो शरीर का स्वामी है और प्राणों को धारण करने वाला है।

२ जैसे—'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिक
—बृहदारण्यक २।४।५।

३ 'यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः।
शुद्धानुभवसंवेद्यं, तद्रूपं परमात्मनः॥' द्वितीय, श्लोक ४॥

४ "निरालम्बं निराकारं, निर्विकल्पं निरामयम्।
आत्मनः परमं ज्योति-र्निरुपाधि निरञ्जनम्॥" प्रथम, १।
'धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न।
समुद्रा इव कल्लोलैः, कृतप्रतिनिवृत्तयः॥' द्वि०, ८॥
'शब्दोपरक्ततद्रूपबोधकृन्नयपद्धतिः।
निर्विकल्पं तु तद्रूपं गम्यं नानुभवं विना॥' द्वि०, ६॥

'नेति'[1] शब्द कहा है वैसे ही जैनदर्शन में 'सरा तत्थ निवत्तंते तक्का तत्थ न विज्जई' [आचाराङ्ग ५. ६] इत्यादि शब्द से कहा है। यह अनिर्वचनीयत्व का कथन परम निश्चय नय से या परम शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से समझना चाहिए। और हमने जो जीव का चेतना या अमूर्त्तत्व लक्षण कहा है सो निश्चय दृष्टि से या शुद्ध पर्यायार्थिक नय से।

(१५ प्र०--कुछ तो जीव का स्वरूप ध्यान में आया, अब यह कहिए कि वह किन तत्त्वों का बना है?

उ०--वह स्वयं अनादि स्वतंत्र तत्त्व है, अन्य तत्त्वों से नहीं बना है।

(१६) प्र०--सुनने व पढ़ने में आता[2] है कि जीव एक रासायनिक वस्तु है, अर्थात् भौतिक मिश्रणों का परिणाम है, वह कोई स्वयं सिद्ध वस्तु नहीं है, वह उत्पन्न होता है और नष्ट भी। इसमें क्या सत्य है?

उ०--जो सूक्ष्म विचार नहीं करते, जिनका मन विशुद्ध नहीं होता और जो भ्रान्त हैं, वे ऐसा कहते हैं। पर उनका ऐसा कथन भ्रान्तिमूलक है।

(१७) प्र०--भ्रान्तिमूलक क्यों?

उ०--इसलिए कि ज्ञान, सुख, दुःख, हर्ष, शोक, आदि वृत्तियाँ, जो मन से संबन्ध रखती हैं; वे स्थूल या सूक्ष्म भौतिक वस्तुओं के आलम्बन से होती हैं,

---

'अतद्व्यावृत्तितो भिन्नं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम्।
वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तस्य रूपं कथंचन ॥' द्वि०, १९ ॥

—श्री यशोविजय–उपाध्याय-कृत परमज्योतिः पञ्चविंशतिका।

'अप्राप्यैव निवर्तन्ते, वचो धीभिः सहैव तु।
निर्गुणत्वात्क्रिभावाद्विशेषाणामभावतः ॥'

—श्रीशङ्कराचार्यकृत—उपदेशसाहस्री नान्यदन्यत्प्रकरण श्लोक ३१।

अर्थात्—शुद्ध जीव निर्गुण, अक्रिय और अविशेष होने से न बुद्धिग्राह्य है और न वचन-प्रतिपाद्य है।

१ 'स एष नेति नेत्यात्माऽग्राह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽमितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोसीति होवाच याज्ञवल्क्यः।'

—बृहदारण्यक, अध्याय ४, ब्राह्मण २, सूत्र ४।

२ देखो—चार्वाक दर्शन [सर्वदर्शनसंग्रह पृ० १] तथा आधुनिक भौतिकवादी 'हेगल' आदि विद्वानों के विचार प्रो० ध्रुव-रचित आपणो धर्म पृष्ठ ३२५ से आगे।

भौतिक वस्तुएँ उन वृत्तियों के होने में साधनमात्र अर्थात् निमित्तकारण[1] हैं, उपादानकारण[2] नहीं। उनका उपादानकारण आत्मा तत्त्व अलग ही है। इसलिए भौतिक वस्तुओं को उक्त वृत्तियों का उपादानकारण मानना भ्रान्ति है।

(१८) प्र०—ऐसा क्यों माना जाय?

उ०—ऐसा न मानने में अनेक दोष आते हैं। जैसे सुख, दुःख, राज-रंक भाव, छोटी-बड़ी आयु, सत्कार-तिरस्कार, ज्ञान-अज्ञान आदि अनेक विरुद्ध भाव एक ही माता-पिता की दो सन्तानों में पाए जाते हैं, सो जीव को स्वतन्त्र तत्त्व बिना माने किसी तरह असन्दिग्ध रीति से घट नहीं सकता।

(१९) प्र०—इस समय विज्ञान प्रबल प्रमाण समझा जाता है, इसलिए यह बतलावें कि क्या कोई ऐसे भी वैज्ञानिक हैं। जो विज्ञान के आधार पर जीव को स्वतन्त्र तत्त्व मानते हों?

उ०—हाँ उदाहरणार्थ[3] सर 'ओलीवरलाज' जो यूरोप के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं और कलकत्ते के 'जगदीशन्द्र वसु, जो कि संसार भर में प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। उनके प्रयोग व कथनों से स्वतन्त्र चेतन तत्त्व तथा पुनर्जन्म आदि की सिद्धि में सन्देह नहीं रहता। अमेरिका आदि में और भी ऐसे अनेक विद्वान् हैं, जिन्होंने परलोकगत आत्माओं के संम्बन्ध में बहुत कुछ जानने लायक खोज[4] की है।

(२०) प्र०—जीव के अस्तित्व के विषय में अपने को किस सबूत पर भरोसा करना चाहिए?

उ०—अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक चिरकाल तक आत्मा का ही मनन करने वाले निःस्वार्थ ऋषियों के वचन पर, तथा स्वानुभव पर।

(२१) प्र०—ऐसा अनुभव किस तरह प्राप्त हो सकता है?

उ०—चित्त को शुद्ध करके एकाग्रतापूर्वक विचार व मनन करने से।

---

१ जो कार्य से भिन्न होकर उसका कारण बनता है वह निमित्तकारण कहलाता है। जैसे कपड़े का निमित्तकारण पुतलीघर।

२ जो स्वयं ही कार्यरूप में परिणत होता है वह उस कार्य का उपादानकारण कहलाता है। जैसे कपड़े का उपादानकारण सूत।

३ देखो—आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल आगरा द्वारा प्रकाशित हिन्दी प्रथम 'कर्मग्रन्थ' की प्रस्तावना पृ० ३८॥

४ देखो—हिन्दीग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बंबई द्वारा प्रकाशित 'छायादर्शन'।

(२२) प्र०—जीव तथा परमेष्ठी का सामान्य स्वरूप तो कुछ सुन लिया। अब कहिए कि क्या सब परमेष्ठी एक ही प्रकार के हैं या उनमें कुछ अन्तर भी है?

उ०—सब एक प्रकार के नहीं होते। स्थूल दृष्टि से उनके पाँच प्रकार हैं अर्थात् उनमें आपस में कुछ अन्तर होता है।

(२३) प्र०—वे पाँच प्रकार कौन हैं? और उनमें अन्तर क्या है?

उ०—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच प्रकार हैं। स्थूलरूप से इनका अन्तर जानने के लिए इनके दो विभाग करने चाहिए। पहले विभाग में प्रथम दो और दूसरे विभाग में पिछले तीन परमेष्ठी सम्मिलित हैं। क्योंकि अरिहन्त सिद्ध ये दो तो ज्ञान दर्शन-चारित्र-वीर्यादि शक्तियों को शुद्ध रूप में पूरे तौर से विकसित किये हुए होते हैं। पर आचार्यादि तीन उक्त शक्तियों को पूर्णतया प्रकट किए हुए नहीं होते किन्तु उनको प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अरिहंत सिद्ध ये दोही केवल पूज्य अवस्था को प्राप्त हैं, पूजक अवस्था को नहीं। इसीसे ये देवतत्त्व माने जाते हैं। इसके विपरीत आचार्य आदि तीन पूज्य, पूजक, इन दोनों अवस्थाओं को प्राप्त हैं। वे अपने से नीचे की श्रेणि वालों के पूज्य और ऊपर की श्रेणिवालों के पूजक हैं। इसी से 'गुरु' तत्त्व माने जाते हैं।

(२४) प्र०—अरिहन्त तथा सिद्ध का आपस में क्या अन्तर है? इसी तरह आचार्य आदि तीनों का भी आपस में क्या अन्तर है?

उ०—सिद्ध, शरीररहित अतएव पौद्गलिक सब पर्यायों से परे होते हैं। पर अरिहन्त ऐसे नहीं होते। उनके शरीर होता है, इसलिए मोह, अज्ञान आदि नष्ट हो जाने पर भी ये चलने, फिरने, बोलने आदि शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाएँ करते रहते हैं।

सारांश यह है कि ज्ञान-चरित्र आदि शक्तियों के विकास की पूर्णता अरिहन्त सिद्ध दोनों में बराबर होती है। पर सिद्ध, योग (शारीरिक आदि क्रिया) रहित और अरिहन्त योगसहित होते हैं। जो पहिले अरिहन्त होते हैं वे ही शरीर त्यागने के बाद सिद्ध कहलाते हैं। इसी तरह आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में साधु के गुण सामान्य रीति से समान होने पर भी साधु की अपेक्षा उपाध्याय और आचार्य में विशेषता होती है। वह यह कि उपाध्यायपद के लिए सूत्र तथा अर्थ का वास्तविक ज्ञान, पढ़ाने की शक्ति, वचन-मधुरता और चर्चा करने का सामर्थ्य आदि कुछ खास गुण प्राप्त करना जरूरी है, पर साधुपद के लिए इन गुणों की कोई खास जरूरत नहीं है। इसी तरह आचार्यपद के लिए शासन

चलाने की शक्ति, गच्छ के हिताहित की जवाबदेही, अति गम्भीरता और देश-काल का विशेष ज्ञान आदि गुण चाहिए। साधुपद के लिए इन गुणों को प्राप्त करना कोई खास जरूरी नहीं है। साधुपद के लिये जो सताईस गुण जरूरी हैं वे तो आचार्य और उपाध्याय में भी होते हैं, पर इनके अलावा उपाध्याय में पचीस और आचार्य में छत्तीस गुण होने चाहिए अर्थात् साधुपद की अपेक्षा उपाध्यायपद का महत्त्व अधिक और उपाध्यायपद की अपेक्षा आचार्यपद का महत्त्व अधिक है।

(२५) सिद्ध तो परोक्ष हैं, पर अरिहन्त शरीरधारी होने के कारण प्रत्यक्ष हैं इसलिए यह जानना जरूरी है कि जैसे हम लोगों की अपेक्षा अरिहन्त की ज्ञान आदि आन्तरिक शक्तियाँ अलौकिक होती हैं वैसे ही उनकी बाह्य अवस्था में भी क्या हम से कुछ विशेषता हो जाती है?

उ०—अवश्य। भीतरी शक्तियाँ परिपूर्ण हो जाने के कारण अरिहन्त का प्रभाव इतना अलौकिक बन जाता है कि साधारण लोग इस पर विश्वास भी नहीं कर सकते। अरिहन्त का सारा व्यवहार लोकोत्तर[1] होता है। मनुष्य, पशु पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जाति के जीव अरिहन्त के उपदेश को अपनी-अपनी भाषा[2] में समझ लेते हैं। साँप, न्यौला, चूहा, बिल्ली, गाय, बाघ आदि जन्म-शत्रु प्राणी भी समवसरण में वैर द्वेष-वृत्ति छोड़कर[3] भ्रातृभाव धारण करते हैं। अरिहन्त के वचन में जो पैंतीस[4] गुण होते हैं वे औरों के वचन में नहीं होते। जहाँ अरिहन्त विराजमान होते हैं वहाँ मनुष्य आदि की कौन कहे, करोड़ों देव हाजिर होते, हाथ जोड़े खड़े रहते, भक्ति करते और अशोकवृक्ष आदि आठ

---

१ 'लोकोत्तरचमत्कारकरी तव भवस्थितिः।
यतो नाहारनीहारौ, गोचरौ चर्मचक्षुषाम्॥'
—वीतरागस्तोत्र, द्वितीय प्रकाश, श्लोक ८।

अर्थात्—हे भगवन्! तुम्हारी रहन-सहन आश्चर्यकारक अतएव लोकोत्तर है, क्योंकि न तो आपका आहार देखने में आता और न नीहार (पाखाना)।

२ 'तेषामेव स्वस्वभाषापरिणाममनोहरम्।
अप्येकरूपं वचनं यत्ते धर्मावबोधकृत्।'
—वीतराग स्तोत्र, तृतीय प्रकाश, श्लोक ३।

३ 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।' —पातञ्जल योगसूत्र ३५–३६।

४ देखो—'जैनतत्त्वादर्श' पृ० २।

प्रातिहार्यों[1] की रचना करते हैं। यह सब अरिहन्त के परम योग की विभूति[2] है।

(२६) अरिहन्त के निकट देवों का आना, उनके द्वारा समवसरण का रचा जाना, जन्म-शत्रु जन्तुओं का आपस में वैर-विरोध त्याग कर समवसरण में उपस्थित होना, चौंतीस अतिशयों का होना, इत्यादि जो अरिहन्त की विभूति कही जाती है, उस पर यकायक विश्वास कैसे करना? ऐसा मानने में क्या युक्ति है?

उ०—अपने को जो बातें असम्भव सी मालूम होती हैं वे परमयोगियों के लिए साधारण हैं। एक जंगली भील को चक्रवर्त्ती की सम्पत्ति का थोड़ा भी ख्याल नहीं आ सकता। हमारी और योगियों की योग्यता में ही बड़ा फर्क है। हम विषय के दास, लालच के पुतले और अस्थिरता के केन्द्र हैं। इसके विपरीत योगियों के सामने विषयों का आकर्षण कोई चीज नहीं; लालच उनको छूता तक नहीं; वे स्थिरता में सुमेरु के समान होते हैं। हम थोड़ी देर के लिए भी मन को सर्वथा स्थिर नहीं रख सकते; किसी के कठोर वाक्य को सुन कर मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं; मामूली चीज गुम हो जाने पर हमारे प्राण निकलने लग जाते हैं; स्वार्थान्धता से औरों की कौन कहे भाई और पिता तक भी हमारे लिये शत्रु बन जाते हैं। परम योगी इन सब दोषों से सर्वथा अलग होते हैं। जब उनकी आन्तरिक दशा इतनी उच्च हो तब उक्त प्रकार की लोकोत्तर स्थिति होने में कोई अचरज नहीं। साधारण योगसमाधि करने वाले महात्माओं की और उच्च चरित्र वाले साधारण लोगों की भी महिमा जितनी देखी जाती है उस पर विचार करने से अरिहन्त जैसे परम योगी की लोकोत्तर विभूति में संदेह नहीं रहता।

(२७) प्र०—व्यवहार (बाह्य) तथा निश्चय (आभ्यन्तर) दोनों दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप किस-किस प्रकार का है?

उ०—उक्त दोनों दृष्टि से सिद्ध के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। उनके लिये जो निश्चय है वही व्यवहार है, क्योंकि सिद्ध अवस्था में निश्चय व्यवहार की एकता हो जाती है। पर अरिहन्त के संबन्ध में यह बात नहीं है। अरिहन्त सशरीर होते हैं इसलिए उनका व्यावहारिक स्वरूप तो बाह्य विभूतियों से संबन्ध रखता है और नैश्चयिक स्वरूप आन्तरिक शक्तियों के विकास से। इसलिए निश्चय दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप समान समझना चाहिए।

(२८) प्र०—उक्त दोनों दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप किस-किस प्रकार का है?

---

१ 'अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥'

२ देखो—'वीतरागस्तोत्र' एवं पातञ्जलयोगसूत्र का विभूतिपाद।'

उ०––निश्चय दृष्टि से तीनों का स्वरूप एक-सा होता है। तीनों में मोक्षमार्ग के आराधन की तत्परता और बाह्य-आभ्यन्तर-निर्ग्रन्थता आदि नैश्चयिक और पारमार्थिक स्वरूप समान होता है। पर व्यावहारिक स्वरूप तीनों का थोड़ा-बहुत भिन्न होता है। आचार्य की व्यावहारिक योग्यता सबसे अधिक होती है। क्योंकि उन्हें गच्छ पर शासन करने तथा जैन शासन की महिमा को सम्हालने की जवाबदेही लेनी पड़ती है। उपाध्याय को आचार्यपद के योग्य बनने के लिये कुछ विशेष गुण प्राप्त करने पड़ते हैं जो सामान्य साधुओं में नहीं भी होते।

(२९) परमेष्ठियों का विचार तो हुआ। अब यह बतलाइए कि उनको नमस्कार किसलिए किया जाता है?

उ०––गुणप्राप्ति के लिए। वे गुणवान् हैं, गुणवानों को नमस्कार करने से गुण की प्राप्ति अवश्य होती है क्योंकि जैसा ध्येय हो ध्याता वैसा ही बन जाता है। दिन-रात चोर और चोरी की भावना करने वाला मनुष्य कभी प्रामाणिक (साहूकार) नहीं बन सकता। इसी तरह विद्या और विद्वान् की भावना करने वाला अवश्य कुछ-न-कुछ विद्या प्राप्त कर लेता है।

(३०) नमस्कार क्या चीज है?

उ०––बड़ों के प्रति ऐसा बर्त्ताव करना कि जिससे उनके प्रति अपनी लघुता तथा उनका बहुमान प्रकट हो, वही नमस्कार है।

(३१) क्या सब अवस्था में नमस्कार का स्वरूप एक-सा ही होता है?

उ०—नहीं। इसके द्वैत और अद्वैत, ऐसे दो भेद हैं। विशिष्ट स्थिरता प्राप्त न होने से जिस नमस्कार में ऐसा भाव हो कि मैं उपासना करनेवाला हूँ और अमुक मेरी उपासना का पात्र है, वह द्वैतनमस्कार है। रागद्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है कि जिसमें आत्मा अपने को ही अपना उपास्य समझता है और केवल स्वरूप का ही ध्यान करता है, वह अद्वैत-नमस्कार है।

(३२) प्र०—उक्त दोनों में से कौन सा नमस्कार श्रेष्ठ है?

उ०—अद्वैत। क्योंकि द्वैत-नमस्कार तो अद्वैत का साधनमात्र है।

(३३) प्र०—मनुष्य की बाह्य-प्रवृत्ति, किसी अन्तरङ्ग भाव से प्रेरी हुई होती है। तो फिर इस नमस्कार का प्रेरक, मनुष्य का अन्तरङ्ग भाव क्या है?

उ०—भक्ति।

प्र०—उसके कितने भेद हैं?

उ०––दो। एक सिद्ध-भक्ति और दूसरी योगि-भक्ति। सिद्धों के अनन्त गुणों

की भावना भाना सिद्ध-भक्ति है और योगियों (मुनियों) के गुणों की भावना भाना योगि-भक्ति ।

(३५) प्र०—पहिले अरिहन्तों को और पीछे सिद्धादिकों को नमस्कार करने का क्या सबब है ?

उ०—वस्तु को प्रतिपादन करने के क्रम दो होते हैं। एक पूर्वानुपूर्वी और दूसरा पश्चानुपूर्वी। प्रधान के बाद अप्रधान का कथन करना पूर्वानुपूर्वी है और अप्रधान के बाद प्रधान का कथन करना पश्चानुपूर्वी है। पाँचों परमेष्ठियों में 'सिद्ध' सबसे प्रधान हैं और 'साधु' सबसे अप्रधान, क्योंकि सिद्ध-अवस्था चैतन्य-शक्ति के विकास की आखिरी हद है और साधु-अवस्था उसके साधन करने की प्रथम भूमिका है। इसलिए यहाँ पूर्वानुपूर्वी कम से नमस्कार किया गया है।

(३६) प्र०—अगर पाँच परमेष्ठियों की नमस्कार पूर्वानुपूर्वी क्रम से किया गया है तो पहिले सिद्धों को नमस्कार किया जाना चाहिए, अरिहन्तों को कैसे ?

उ०—यद्यपि कर्म-विनाश की अपेक्षा से 'अरिहन्तों' से सिद्ध' श्रेष्ठ हैं। तो भी कृतकृत्यता की अपेक्षा से दोनों समान ही हैं और व्यवहार की अपेक्षा से तो 'सिद्ध' से 'अरिहन्त' ही श्रेष्ठ हैं। क्योंकि 'सिद्धों' के परोक्ष स्वरूप को बतलाने वाले 'अरिहन्त' ही तो हैं। इसलिए व्यवहार-अपेक्षया 'अरिहन्तों' को श्रेष्ठ गिन-कर पहिले उनको नमस्कार किया गया है।

ई० १९२१] [पंचप्रतिक्रमण

———

'संथारा' और अहिंसा[1]

हिंसा का मतलब है—प्रमाद या रागद्वेष या आसक्ति। उसका त्याग ही अहिंसा है। जैन ग्रन्थों में प्राचीन काल से चली आने वाली आत्मघात की प्रथाओं का निषेध किया है। पहाड़ से गिरकर, पानी में डूबकर, जहर खाकर आदि प्रथाएँ मरने की थीं और हैं—धर्म के नाम पर भी और दुनयवी कारणों से भी। जैसे पशु आदि की बलि धर्म रूप में प्रचलित है वैसे ही आत्मबलि भी प्रचलित रही। और कहीं-कहीं अब भी है; खासकर शिव या शक्ति के सामने। एक तरफ से ऐसी प्रथाओं का निषेध और दूसरी तरफ से प्राणान्त अनशन या संथारे का विधान। यह विरोध जरूर उलझन में डालने वाला है पर भाव समझने पर कोई भी विरोध नहीं होता। जैन धर्म ने जिस प्राणनाश का निषेध किया है वह प्रमाद या आसक्ति पूर्वक किये जाने वाले प्राणनाश का ही। किसी ऐहिक या पारलौकिक संपत्ति की इच्छा से, कामिनी की कामना से और अन्य अभ्युदय की वांछा से धर्मबुध्या तरह तरह के आत्मवध होते रहे हैं। जैन धर्म कहता है वह आत्मवध हिंसा है। क्योंकि उसका प्रेरक तत्त्व कोई न कोई आसक्त भाव है! प्राणान्त अनशन और संथारा भी यदि उसी भाव से या डर से या लोभ से किया जाय तो वह हिंसा ही है। उसे जैन धर्म करने की आज्ञा नहीं देता जिस प्राणान्त अनशन का विधान है, वह है समाधिमरण। जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण-संयम—इनमें से एक ही की पसंदगी करने का विषम समय आ गया तब यदि सचमुच संयमप्राण व्यक्ति हो तो वह देह रक्षा की परवाह नहीं करेगा।

---

१ जैन शास्त्रों में जिसे संथारा या समाधिमरण कहा गया है, उसके संबन्ध में लिखते हुए हमारे देश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डा० एस० राधाकृष्णन ने अपने 'इंडियन फिलासफी' नामक ग्रन्थ में 'Suicide' (जिसका प्रचलित अर्थ 'आत्मघात' किया जाता है) शब्द का व्यवहार किया है। सन् १६४३ में जब श्री भँवरमल सिंघी ने जेल में यह पुस्तक पढ़ी तो इस विषय पर वास्तविक शास्त्रीय दृष्टि जानने की उत्सुकता हुई और उन्होंने प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी को एक पत्र लिखकर अपनी जिज्ञासा प्रकट की; उसके उत्तर में यह पत्र है।

मात्र देह की बलि देकर भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचा लेगा; जैसे कोई सच्ची सती दूसरा रास्ता न देखकर देह-नाश के द्वारा भी सतीत्व बचा लेती है। पर उस अवस्था में भी वह व्यक्ति न किसी पर रुष्ट होगा, न किसी तरह भयभीत और न किसी सुविधा पर तुष्ट। उसका ध्यान एकमात्र संयत जीवन को बचा लेने और समभाव की रक्षा में ही रहेगा। जब तक देह और संयम दोनों की समान भाव से रक्षा हो, तबतक दोनों की रक्षा कर्त्तव्य है। पर एक की ही पसंदगी करने का सवाल आवे तब हमारे जैसे देहरक्षा पसंद करेंगे और आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेंगे, जब कि समाधिमरण का अधिकारी उल्टा करेगा। जीवन तो दोनों ही हैं—दैहिक और आध्यात्मिक। जो जिसका अधिकारी होता है, वह कसौटी के समय पर उसी को पसंद करता है। और ऐसे ही आध्यात्मिक जीवन वाले व्यक्ति के लिए प्राणान्त अनशन की इजाजत है; पामरों, भयभीतों या लालचियों के लिए नहीं। अब आप देखेंगे कि प्राणान्त अनशन देह रूप घर का नाश करके भी दिव्य जीवन रूप अपनी आत्मा को गिरने से बचा लेता है। इसलिए वह खरे अर्थ में तात्त्विक दृष्टि से अहिंसक ही है। जो लेखक आत्मघात रूप में ऐसे संथारे का वर्णन करते हैं वे मर्म तक नहीं सोचते; परन्तु यदि किसी अति उच्च उदेश्य से किसी पर रागद्वेष बिना किए संपूर्ण मैत्रीभावपूर्वक निर्भय और प्रसन्न हृदय से बापू जैसा प्राणान्त अनशन करें तो फिर वे ही लेखक उस मरण को सराहेंगे, कभी आत्मघात न कहेंगे, क्योंकि ऐसे व्यक्ति का उद्देश्य और जीवनक्रम उन लेखकों की आँखों के सामने हैं, जब कि जैन परंपरा में संथारा करने वाले चाहे शुभाशयी ही क्यों न हों, पर उनका उद्देश्य और जीवन क्रम इस तरह सुविदित नहीं। परन्तु शास्त्र का विधान तो उसी दृष्टि से है और उसका अहिंसा के साथ पूरा मेल भी है। इस अर्थ में एक उपमा है। यदि कोई व्यक्ति अपना सारा घर जलता देखकर कोशिश से भी उसे जलने से बचा न सके तो वह क्या करेगा? आखिर में सबको जलता छोड़कर अपने को बचा लेगा। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवनेच्छु की रहती है। वह खामख्वाह देह का नाश कभी न करेगा। शास्त्र में उसका निषेध है। प्रत्युत देहरक्षा कर्तव्य मानी गई है पर वह संयम के निमित्त। आखिरी लाचारी में ही निर्दिष्ट शर्तों के साथ देहनाश समाधिमरण है और अहिंसा भी। अन्यथा बालमरण और हिंसा।

भयङ्कर दुष्काल आदि तङ्गी में देह-रक्षा के निमित्त संयम से पतन होने का अवसर आवे या अनिवार्य रूपसे मरण लाने वाली बिमारियों के कारण खुद को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो और फिर भी संयम या सद्गुण की रक्षा सम्भव न हो तब मात्र संयम और समभाव की दृष्टि से संथारे का विधान है

जिसमें एक मात्र सूक्ष्म आध्यात्मिक जीवन को ही बचाने का लक्ष्य है। जब बापूजी आदि प्राणान्त अनशन की बात करते हैं और मशरूवाला आदि समर्थन करते हैं तब उसके पीछे यही दृष्टिबिन्दु मुख्य है।

❀ ❀ ❀

यह पत्र तो कब का लिखा है। देरी भेजने में इसलिये हुई है कि राधाकृष्णन के लेखन की जाँच करनी थी। श्री दलसुखभाई ने इस विषय के खास ग्रन्थ 'मरण विभक्ति प्रकीर्णक' आदि देखे जिनमें उस ग्रन्थ का भी समावेश है जिसके आधार पर राधाकृष्णन ने लिखा है। वह ग्रन्थ है, आचारांग सूत्र का अंग्रेजी भाषान्तर अध्ययन-सात। राधाकृष्णन ने लिखा है सो शब्दशः ठीक है। पर मूलसंदर्भ से छोटा सा टुकड़ा अलग हो जाने के कारण तथा व्यवहार में आत्मवध अर्थ में प्रचलित 'स्युसाईड' शब्द का प्रयोग होने के कारण पढ़ने वालों को मूल-मंतव्य के बारे में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। बाकी उस विषय का सारा अध्ययन और परस्पर परामर्श कर लेने के बाद हमें मालूम होता है कि यह प्रकरण संलेखना और संथारे से संबन्ध रखता है। इसमें हिंसा की कोई बू तक नहीं है। यह तो उस व्यक्ति के लिए विधान है जो एकमात्र आध्यात्मिक जीवन का उम्मेदवार और तदर्थ की हुई सत्प्रतिज्ञाओं के पालन में रत हों। इस जीवन के अधिकारी भी अनेक प्रकार के होते रहे हैं। एक तो वह जिसने जिनकल्प स्वीकार किया हो जो आज विच्छिन्न है। जिनकल्पी मात्र अकेला रहता है और किसी तरह किसी की सेवा नहीं लेता। उसके वास्ते अन्तिम जीवन की घड़ियों में किसी की सेवा लेने का प्रसंग न आवे, इसलिये अनिवार्य होता है कि वह सावध और शक्त अवस्था में ही ध्यान और तपस्या आदि द्वारा ऐसी तैयारी करे कि न मरण से डरना पड़े और न किसी की सेवा लेनी पड़े। वही सब जवाब-देहियों को अदा करने के बाद बारह वर्ष तक अकेला ध्यान तप करके अपने जीवन का उत्सर्ग करता है। पर यह कल्प मात्र जिनकल्पी के लिये ही है। बाकी के विधान जुदे-जुदे अधिकारियों के लिए हैं। सबका सार यह है कि यदि की हुई सत्प्रतिज्ञाओं के भङ्ग का अवसर आवे और वह भङ्ग जो सहन कर नहीं सकता उसके लिए प्रतिज्ञाभंग की अपेक्षा प्रतिज्ञापालनपूर्वक मरण लेना ही श्रेय है। आप देखेंगे कि इसमें आध्यात्मिक वीरता है। स्थूल जीवन के लोभ से, आध्यात्मिक गुणों से च्युत होकर मृत्यु से भागने की कायरता नहीं है। और न तो स्थूल जीवन की निराशा से ऊबकर मृत्यु मुख में पड़ने की आत्मवध कहलाने वाली बालिशता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु से जितना ही निर्भय, उतना ही उसके लिए तैयार भी रहता है। वह जीवन-प्रिय होता है, जीवन-मोही नहीं। संलेखना

मरण को आमंत्रित करने की विधि नहीं है पर अपने आप आने वाली मृत्यु के लिए निर्भय तैयारी मात्र है। उसी के बाद संथारे का भी अवसर आ सकता है। इस तरह यह सारा विचार अहिंसा और तन्मूलक सद्‌गुणों की तन्मयता में से ही आया है। जो आज भी अनेक रूप से शिष्टसंमत है। राधाकृष्णन ने जो लिखा है कि बौद्ध-धर्म 'स्युसाइड' को नहीं मानता सो ठीक नहीं है। खुद बुद्ध के समय भिक्षु छन्न और भिक्षु वक्कली ने ऐसे ही असाध्य रोग के कारण आत्मवध किया था जिसे तथागत ने मान्य रखा। दोनों भिक्षु अप्रमत्त थे। उनके आत्मवध में फर्क यह है कि वे उपवास आदि के द्वारा धीरे-धीरे मृत्यु की तैयारी नहीं करते किन्तु एक बारगी शस्त्रवध से स्वनाश करते हैं जिसे 'हरीकरी' कहना चाहिए। यद्यपि ऐसे शस्त्रवध की संमति जैन ग्रन्थों में नहीं है पर उसके समान दूसरे प्रकार के वधों की संमति है। दोनों परम्पराओं में मूल भूमिका सम्पूर्ण रूप से एक ही है। और वह मात्र समाधिजीवन की रक्षा। 'स्युसाईड' शब्द कुछ निंद्य सा है। शास्त्र का शब्द समाधिमरण और पंडित मरण है, जो उपयुक्त है। उक्त छन्न और वक्कली की कथा अनुक्रम से मज्झिमनिकाय और संयुक्तनिकाय में है। लंबा पत्र इसलिए भी उपयोगी होगा कि उस एकाकी जीवन में कुछ रोचक सामग्री मिल जाय। मैं आशा करता हूँ यदि संभव हो तो पहुंच दें।

पुनश्च—

नमूने के लिए कुछ प्राकृत पद्य और उनका अनुवाद देता हूं—

'मरणपडियारभूया एसा एवं च ण मरणणिमित्ता जह गंडच्छेअकिरिया णो आयविराहणारूपा।'

समाधिमरण की क्रिया मरण के निमित्त नहीं किन्तु उसके प्रतिकार के लिए है। जैसे फोड़े को नस्तर लगाना, आत्मविराधना के लिए नहीं होता।

'जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नावि पत्थए।'

उसे न तो जीवन की अभिलाषा है और न मरण के लिए वह प्रार्थना ही करता है।

'अप्पा खलु संथारो हवई विसुद्धचरित्तम्भि।'

चरि॰ में स्थित विशुद्ध आत्मा ही संथारा है।

ता॰ ५-२-४३



'वेदसाम्य-वैषम्य'

श्रीमान् प्रो० हीरालालजी की सेवा में—

सप्रणाम निवेदन! आज मैंने 'सिद्धान्त-समीक्षा' पूरी कर ली। अभी जितना संभव था उतनी ही एकाग्रता से सुनता रहा। यत्र तत्र प्रश्न विचार और समालोचक भाव उठता था अतः चिह्न भी करता गया; पर उन उठे हुए प्रश्नों, विचारों और समालोचक भावों को पुनः संकलित करके लिखने मेरे लिए संभव नहीं। उसमें जो समय और शक्ति आवश्यक है वह यदि मिल भी जाय तथापि उसका उपयोग करने का अभी तो कोई उत्साह नहीं है। और खास बात तो यह है कि मेरा मन मुख्यतया अब मानवता के उत्कर्ष का ही विचार करता है।

तो भी समीक्षा के बारे में मेरे मन पर पड़ी हुई छाप को संक्षेप में लिख देना इसलिए जरूरी है कि मैं आपके आग्रह को मान चुका हूँ। सामान्यतया: आप और पं० फूलचन्दजी दोनों ऐसे समकक्ष विचारक जान पड़ते हैं जिनका चर्चायोग विरल और पुण्यलभ्य कहा जा सकता है। जितनी गहरी, मर्मस्पर्शी और परिश्रमसाध्य चर्चा आप दोनों ने की है वह एक खासा शास्त्र ही बन गया है। इस चर्चा में एक ओर पंडित मानस दूसरी ओर प्रोफेसर मानस—ये दोनों परस्पर विरुद्ध कक्षा वाले होने पर भी प्रायः समत्व, शिष्टता, और आधुनिकता की भूमिका के ऊपर कांम करते हुए देखे जाते हैं। जैसा कि बहुत कम अन्यत्र संभव है। इसलिए वह चर्चा शास्त्रपद को प्राप्त हुई है। आगे जब कभी कोई विचार करेगा तब इसे अनिवार्य रूप से देखना ही पड़ेगा। इतना इस चर्चा का तात्त्विक और ऐतिहासिक महत्व मुझको स्पष्ट मालूम होता है।

यद्यपि मैं सब पण्डितों को नहीं जानता तथापि जितनों को जानता हूँ उनकी अपेक्षा से कहा जा सकता है कि इस विषय में पं० फूलचन्दजी का स्थान अन्यों से ऊँचा है। दूसरे ग्रंथपाठी होंगे पर इतने अधिक अर्थ-स्पर्शी शायद ही हों। कितना अच्छा होता यदि ऐसे पण्डित को कोई अच्छा पद, अच्छा स्थान देकर काम लिया जाता। यदि ऐसे पण्डित को पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ पूरा अर्थसाधन दिया जाय तो बहुत कुछ शास्त्रीय प्रगति हो सकती है। अभी तो अर्थप्रधान पण्डित और गृहस्थ ऐसे सुयोग्य पण्डितों को अयोग्य रूप से निचोड़ते हैं। मेरा वश चले तो मैं ऐसों का स्थान बहुत स्वाधीन कर दूँ। अस्तु यह तो प्रासङ्गिक बात हुई।

मैं आपको लिखता हूँ और आपके बारे में कुछ लिखूँ तो कोई शायद चाटु वाक्य समझे; पर मैं तो कभी चाटुकार नहीं और बदप्रकृति भी नहीं। इसलिए जैसा समझता हूँ लिख देता हूँ। जैनेतर विद्वानों में तो कर्मशास्त्र विषयक गहरे ज्ञान की अपेक्षा ही नहीं रखी जा सकती; पर जैन और उनमें भी प्रोफेसर में ऐसे गहरे ज्ञान को ढूँढ़ना निराश होना है जितना आपके लेखों में व्यक्त होता है। निःसंदेह आपने कर्मतत्त्व का आकण्ठ पान ही नहीं मनन भी किया जान पड़ता है। अन्यथा पं० फूलचंदजी के शास्त्रीय और सोपपत्तिक लेखों का जवाब देना और सो भी अत्यन्त गहराई और पृथक्करण के साथ संभव नहीं। स्थिति ऐसी जान पड़ती है कि कर्मशास्त्र विषयक जितना पाण्डित्य पण्डित में हो उतना ही विशद पाण्डित्य एक प्रोफेसर के लेख व्यक्त करते हैं।

दोनों की विचार सरणियाँ और दलीलें देखता हूँ तो यह निश्चयपूर्वक अन्तिमरूप से कहना तो अभी कठिन है कि कौन एक विशेष ग्राह्य है? खास करके जब यह चर्चा एक या दूसरे रूप से साम्प्रदायिकता के साथ जुड़ जाती है तब मौन ही अच्छा जान पड़ता है। तो भी तटस्थभाव से देखने पर मुझे अपने विचार में परिवर्तन करना पड़ा है जो मैंने कर्म ग्रन्थ के एक परिशिष्ट में लिखे हैं। मुझको जान पड़ता है कि आपकी विचार सरणी वस्तुगामिनी है चाहे जितने शाब्दिक प्रमाण विरोधी क्यों न हों। मैं किसी शास्त्रवाक्य का वैसा कायल नहीं जैसा वस्तुतत्त्व का। हजारों के द्वारा सर्वथा प्रमाण भूत माने जाने वाले वाक्यों और शास्त्रों को मैं क्षणभर में छोड़ सकता हूँ यदि उनसे मेरी बुद्धि और तर्क को संतोष न हो। पर आपने तो तर्क और बुद्धि स्वातन्त्र्य के अलावा शास्त्रीय प्रमाण भी दिये हैं जो बहुत महत्त्व के हैं। इस दृष्टि से मेरे पर आपकी विचारसरणी का असर ही मुख्य पड़ा है।

जो मैंने अल्प स्वल्प कर्मशास्त्र विषयक चिंतन मनन किया है, जो मुझ में दूसरी सहायक अल्प स्वल्प दार्शनिक शक्तियाँ हैं, उन सबको यदि मैं एकाग्र करूँ और उसमें अपना असाम्प्रदायिक संस्कार मिला कर आप दोनों की प्रत्येक दलील की गहरी छानबीन करूँ तो संभव है मैं पूरा न्याय करके एकतर निर्णय बाँध सकूँ। पर संभव हो तब भी अब इस ओर मेरी रुचि नहीं है। एक तो यह विषय इतना अधिक सम्प्रदायगत हो गया है कि उसे कोई जैनपक्ष तटस्थभाव से कभी नहीं देखेगा। दूसरे यह विषय जीवनस्पर्शी भी नहीं। न तो किसी पुरुष या स्त्री का मोक्ष होना है और न वैसा मोक्ष इष्ट भी है। हम जिस निवृत्तिप्रधान जैन परम्परा को सर्वाङ्गीण और सदा के लिए अभ्रान्त समझते हैं उस परम्परा के मूल में एक या दूसरे कारण से दूसरी परम्पराओं की तरह त्रुटियाँ भ्रान्तियाँ

और एकदेशीयता भी रह गई है जो तात्त्विक और ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट मालूम होती हैं। हम जन्म-संस्कार और दृष्टि संकोच के कारण कुछ भी कह और मान नहीं सकते हैं। पर साम्प्रदायिक मोक्ष का स्वरूप और निवृत्ति की कल्पना न केवल अधूरी हैं; किंतु मानवता के उत्कर्ष में आत्मीय सद्‌गुणों के व्यापक विकास में बहुत कुछ बाधक भी है। हमारी चिरकालीन साम्प्रदायिक जड़ता और अकर्मण्यता ने केवल बाह्य खोंखे में और कल्पनाराशि में जैनत्व बांध रखा है। और जैन प्रस्थान में जो कुछ तत्त्वतः सारभाग है उसे भी ढांक दिया है। खास बात तो यह है कि हमारी निर्मर्याद सोचने की शक्ति ही साम्प्रदायिक जड़ता के कारण भोठी हो गई है। ऐसी स्थिति में एक अव्यवहार्य विषय पर शक्ति खर्च करने का उत्साह कैसे हो? तथापि आपने इस विषय पर जो इतनी एकाग्रता से स्वतन्त्र चिंतन किया है उसका मैं अवश्य कायल हूँ। क्योंकि मेरा मानस विद्यापक्षपाती तो है ही। खास कर जब कोई किसी विषय में स्वतन्त्र चिंतन करें तब मेरा आदर और भी बढ़ता है। इसलिए आपकी दलीलों और विचारों ने मेरा पूर्वग्रह छुडाया है।

स्त्री शरीर में पुरुष वासना और पुरुष शरीर में स्त्रीत्वयोग्य वासना के जो किस्से और लक्षण देखे सुने जाते हैं उनका खुलासा दूसरी तरह से हो जाता है जो आपके पक्ष का पोषक है। पर इस नए विचार को यहाँ चित्रित नहीं कर सकता। भोगभूमि में गर्भ में स्त्रीपुरुषयुगल योग्य उपादान हैं और कर्म भूमि में नहीं इत्यादि विचार निरे बालीश हैं। जो अनुभव हमारे प्रत्यक्ष हों, जिन्हें हम देख सकें, जांच सकें, उन पर यदि कर्मशास्त्र के नियम सुघटित हो नहीं सकते और उन्हें घटाने के लिए हमें स्वर्ग, नरक या कल्पित भोगभूमि में जाना पड़े तो अच्छा होगा कि हम उस कर्मशास्त्र को ही छोड़ दें। हमारे मान्य पूर्वजों ने जिस किसी कारण से वैसा विचार किया; पर हम उतने मात्र में बद्ध रह नहीं सकते। हम उनके विचार की भी परीक्षा कर सकते हैं। इसलिए द्रव्य और भाववेद के साम्य के समर्थन में दी गई युक्तियाँ मुझको आकृष्ट करती हैं और जो एक आकृति में विजातीय वेदोदय की कल्पना के पोषक विचार और बाह्य लक्षण देखे जाते हैं उनका खुलासा दूसरी तरह से करने को वे युक्तियाँ बाधित करती हैं। कोई पुरुष स्त्रीत्व की अभिलाषा करे इतने मात्र से स्त्रीवेदानुभवी नहीं हो सकता। गर्भग्रहण-धारण-पोषण की योग्यता ही स्त्रीवेद है न कि मात्र स्त्रीयोग्य भोगाभिलाषा। मैं यदि ऐसा सोचूँ कि कान से देखता तो अन्ध न रहता या ऐसा सोचूँ कि सिर से चलता और दौड़ता तो पङ्गु न रहता तो क्या इतने सोचने मात्र से चक्षुर्ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम का या पादकर्मेन्द्रिय का

फल मुझ में प्रकट होगा ? जैसे ज्ञानीय क्षयोपशम वस्तुतः एक है तथापि मिथ्या-दर्शन आदि के सम्बन्ध से उसके सम्यक् विपर्यास आदि फल विविध होते हैं, वैसे ही वेद एक रहने पर भी और उसका सामान्य कार्यप्रदेश एकरूप होने पर भी अन्य काषायिक बलों से और अन्य संसर्ग से उस वेद के विपरीत लक्षण भी हो सकते हैं। पुरुष वेद के उदयवाला पुरुषलिङ्गी भी स्त्रीत्व योग्य अभिलाषा करे तो उसे स्त्रीवेद का लक्षण नहीं परन्तु पुरुषवेद का विपरीत लक्षण मात्र कहना चाहिए। सफेद को पीला देखने मात्र से नेत्र का क्षयोपशम बदल नहीं जाता। वस्तुतः किसी एक ही वेद में नानाविध अभिलाषा की जननशक्ति मानना चाहिए। चाहे सामान्य नियतरूप उसके अभिलाषा को लोक अमुक ही क्यों न माने। वीर्याधायकशक्ति, विर्यग्रहण शक्ति ये ही क्रम से पुंवेद स्त्रीवेद हैं जो द्रव्याकार से नियत हैं। बकरा दूध देता है तो भी उसे स्त्रीवेद का उदय माना नहीं जा सकता, नियत लक्षण का आगन्तुक कारणवश विपर्यास मात्र है। जैसे सामान्यतः स्त्री को डाढ़ी मूँछ नहीं होते पर किसी को खास होते हैं। यह तो लम्बा हो गया। सारांश इतना ही है कि मुझको वेदसाम्य विचारसंगत जान पड़ता है। पुनश्च

ओप्रेशन के द्वारा एक दृश्य द्रव्यलिङ्ग का अन्य द्रव्यलिङ्ग में परिवर्तन आजकल बहुत देखे सुने जाते हैं। इसे विचारकोटि में लेना होगा। नपुंसक शायद तीसरा स्वतन्त्र वेद ही नहीं। जहाँ अमुक नियत लक्षण नहीं देखे वहाँ नपुंसक स्वतन्त्र वेद मान लिया पर ऐसा क्यों न माना जाय कि वहाँ वेद स्त्री पुरुष में से कोई एक ही है, पर लक्षण विपरीत हो रहे हैं। द्रव्य आकार भी पुरुष या स्त्री का विविध तारतम्य युक्त होता ही है।

—:-०-:—

गांधीजी की जैन धर्म को देन

धर्म के दो रूप होते हैं। सम्प्रदाय कोई भी हो उसका धर्म बाहरी और भीतरी दो रूपों में चलता रहता है। बाह्य रूप को हम 'धर्म कलेवर' कहें तो भीतरी रूप को 'धर्म चेतना' कहना चाहिए।

धर्म का प्रारम्भ, विकास और प्रचार मनुष्य जाति में ही हुआ है। मनुष्य खुद न केवल चेतन है और न केवल देह। वह जैसे सचेतन देहरूप है वैसे ही उसका धर्म भी चेतनायुक्त कलेवररूप होता है। चेतना की गति, प्रगति और अवगति कलेवर के सहारे के बिना असंभव है। धर्म चेतना भी बाहरी आचार रीति-रस्म, रूढ़ि-प्रणाली आदि कलेवर के द्वारा ही गति, प्रगति और अवगति को प्राप्त होती रहती है।

धर्म जितना पुराना उतने ही उसके कलेवर नानारूप से अधिकाधिक बदलते आते हैं। अगर कोई धर्म जीवित हो तो उसका अर्थ यह भी है कि उसके कैसे भी भद्दे या अच्छे कलेवर में थोड़ा-बहुत चेतना का अंश किसी न किसी रूप में मौजूद है। निष्प्राण देह सड़-गल कर अस्तित्व गँवा बैठती है। चेतनाहीन सम्प्रदाय कलेवर की भी वही गति होती है।

जैन परम्परा का प्राचीन नाम-रूप कुछ भी क्यों न रहा हो; पर वह उस समय से अभी तक जीवित है। जब-जब उसका कलेवर दिखावटी और रोगग्रस्त हुआ है तब-तब उसकी धर्मचेतना का किसी व्यक्ति में विशेषरूप से स्पन्दन प्रकट हुआ है। पार्श्वनाथ के बाद महावीर में स्पन्दन तीव्र रूप से प्रकट हुआ जिसका इतिहास साक्षी है।

धर्मचेतना के मुख्य दो लक्षण हैं जो सभी धर्म-सम्प्रदायों में व्यक्त होते हैं। भले ही उस आविर्भाव में तारतम्य हो। पहला लक्षण है, अन्य का भला करना और दूसरा लक्षण है अन्य का बुरा न करना। ये विधि—निषेधरूप या हकार-नकार रूप साथ ही साथ चलते हैं। एक के सिवाय दूसरे का संभव नहीं। जैसे-जैसे धर्मचेतना का विशेष और उत्कट सन्दन वैसे-वैसे ये दोनों विधि निषेध रूप भी अधिकाधिक सक्रिय होते हैं। जैन-परम्परा की ऐतिहासिक भूमिका को हम देखते हैं तो मालूम पड़ता है कि उसके इतिहास काल से ही धर्मचेतना के उक्त दोनों लक्षण असाधारण रूप में पाये जाते हैं। जैन-परम्परा का ऐति-

हासिक पुराना कहता है कि सब का अर्थात् प्राणीमात्र का जिसमें मनुष्य, पशु-पक्षी के अलावा सूक्ष्म कीट जंतु तक का समावेश हो जाता है—सब तरह से भला करो। इसी तरह प्राणीमात्र को किसी भी प्रकार से तकलीफ न दो। यह पुराना कहता है कि जैन परंपरागत धर्मचेतना की भूमिका प्राथमिक नहीं है। मनुष्य जाति के द्वारा धर्मचेतना का जो क्रमिक विकास हुआ है उसका परिपक्व रूप उस भूमिका में देखा जाता है। ऐसे परिपक्व विचार का श्रेय ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् महावीर को तो अवश्य है ही।

कोई भी सत्पुरुषार्थी और सूक्ष्मदर्शी धर्मपुरुष अपने जीवन में धर्मचेतना का कितना ही स्पंदन क्यों न करे पर वह प्रकट होता है सामयिक और देश-कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के द्वारा। हम इतिहास से जानते हैं कि महावीर ने सब का भला करना और किसी को तकलीफ न देना इन दो धर्मचेतना के रूपों को अपने जीवन में ठीक-ठीक प्रकट किया। प्रकटीकरण सामयिक जरूरतों के अनुसार मर्यादित रहा। मनुष्य जाति की उस समय और उस देश की निर्बलता, जातिभेद में, छूआछूत में, स्त्री की लाचारी में और यज्ञीय हिंसा में थी। महावीर ने इन्हीं निर्बलताओं का सामना किया। क्योंकि उनकी धर्मचेतना अपने आस-पास प्रवृत्त अन्याय को सह न सकती थी। इसी करुणावृत्ति ने उन्हें अपरिग्रही बनाया। अपरिग्रह भी ऐसा कि जिसमें न घर-बार और न वस्त्रपात्र। इसी करुणावृत्ति ने उन्हें दलित पतित का उद्धार करने को प्रेरित किया। यह तो हुआ महावीर की धर्मचेतना का स्पंदन।

पर उनके बाद यह स्पंदन जरूर मंद हुआ और धर्मचेतना का पोषक धर्म कलेवर बहुत बढ़ते बढ़ते उस कलेवर का कद और वजन इतना बढ़ा कि कलेवर की पुष्टि और वृद्धि के साथ ही चेतना का स्पंदन मंद होने लगा। जैसे पानी सुखते ही या कम होते ही नीचे की मिट्टी में दरारें पड़ती हैं और मिट्टी एकरूप न रह कर विभक्त हो जाती है वैसे ही जैन परम्परा का धर्मकलेवर भी अनेक टुकड़ों में विभक्त हुआ और वे टुकड़े स्पंदन के मिथ्या अभिमान से प्रेरित होकर आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे। जो धर्मचेतना के स्पंदन का मुख्य काम था वह गौण हो गया और धर्मचेतना की रक्षा के नाम पर वे मुख्यतया गुजारा करने लगे।

धर्म-कलेवर के फिरकों में धर्मचेतना कम होते ही आसपास के विरोधी दलों ने उनके ऊपर बुरा असर डाला। सभी फिरके मुख्य उद्देश्य के बारे में इतने निर्बल साबित हुए कि कोई अपने पूज्य पुरुष महावीर की प्रवृत्ति को योग्य रूपमें आगे न बढ़ा सके। स्त्री-उद्धार की बात करते हुए भी वे स्त्री के अबलापन

के पोषक ही रहे। उच्च-नीच भाव और छूआछूत को दूर करने की बात करते हुए भी वे जातिवादी ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव से बच न सके और व्यवहार तथा धर्मक्षेत्र में उच्च-नीच भाव और छूआछूतपने के शिकार बन गये। यज्ञीय हिंसा के प्रभाव से वे जरूर बच गये और पशु पक्षी की रक्षा में उन्होंने हाथ ठीक ठीक बटाया; पर वे अपरिग्रह के प्राण मूर्छा त्याग को गँवा बैठे। देखने में तो सभी फिरके अपरिग्रही मालूम होते रहे; पर अपरिग्रह का प्राण उनमें कम से कम रहा। इसलिए सभी फिरकों के त्यागी अपरिग्रह व्रत की दुहाई देकर नङ्गे पांव से चलते देखे जाते हैं, लुंचन रूप से बाल तक हाथ से खींच डालते हैं, निर्वसन भाव भी धारण करते देखे जाते हैं, सूक्ष्म-जन्तु की रक्षा के निमित्त मुँह पर कपड़ा तक रख लेते हैं; पर वे अपरिग्रह के पालन में अनिवार्य रूप से आवश्यक ऐसा स्वावलंबी जीवन करीब-करीब गँवा बैठे हैं। उन्हें अपरिग्रह का पालन गृहस्थों की मदद के सिवाय सम्भव नहीं दीखता। फलतः, वे अधिकाधिक पर-परिश्रमावलम्बी हो गए हैं।

बेशक, पिछले ढाई हजार वर्षों में देश के विभिन्न भागों में ऐसे इने-गिने अनगार त्यागी और सागार गृहस्थ अवश्य हुए हैं जिन्होंने जैन परम्परा की मूर्छित-सी धर्मचेतना में स्पन्दन के प्राण फूँके। पर एक तो वह स्पन्दन साम्प्रदायिक ढंग का था जैसा कि अन्य सम्प्रदायों में हुआ है और दूसरे वह स्पन्दन ऐसा कोई दृढ़ नींव पर न था जिससे चिरकाल तक टिक सके। इसलिए बीच-बीच में प्रकट हुए धर्मचेतना के स्पन्दन अर्थात् प्रभावनाकार्य सतत चालू रह न सके।

पिछली शताब्दी में तो जैन समाज के त्यागी और गृहस्थ दोनों की मनोदशा विलक्षण-सी हो गई थी। वे परम्पराप्राप्त सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के आदर्श संस्कार की महिमा को छोड़ भी न सकते थे और जीवनपर्यन्त वे हिंसा, असत्य और परिग्रह के संस्कारों का ही समर्थन करते जाते थे। ऐसा माना जाने लगा था कि कुटुम्ब, समाज, ग्राम राष्ट्र आदि से संबन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियाँ सांसारिक हैं, दुनियावी हैं, व्यावहारिक हैं। इसलिए ऐसी आर्थिक औद्योगिक और राजकीय प्रवृत्तियों में न तो सत्य साथ दे सकता है, न अहिंसा काम कर सकती है और न अपरिग्रह व्रत ही कार्यसाधक बन सकता है। ये धर्म सिद्धान्त सच्चे हैं सही, पर इनका शुद्ध पालन दुनिया के बीच संभव नहीं। इसके लिए तो एकान्त वनवास और संसार त्याग ही चाहिये। इस विचार ने अनगार त्यागियों के मन पर भी ऐसा प्रभाव जमाया था कि वे रात-दिन सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का उपदेश करते हुए भी दुनियावी-जीवन में उन उपदेशों के

सच्चे पालन का कोई रास्ता दिखा न सकते थे। वे थक कर यही कहते थे कि अगर सच्चा धर्म पालन करना हो तो तुम लोग घर छोड़ो, कुटुम्ब समाज और राष्ट्र की जवाबदेही छोड़ो, ऐसी जवाबदेही और सत्य-अहिंसा अपरिग्रह का शुद्ध पालन— दोनों एक साथ संभव नहीं। ऐसी मनोदशा के कारण त्यागी गण देखने में अवश्य अनगार था ; पर उसका जीवन तत्त्वदृष्टि से किसी भी प्रकार गृहस्थों की अपेक्षा विशेष उन्नत या विशेष शुद्ध बनने न पाया था। इसलिए जैन समाज की स्थिति ऐसी हो गई थी कि हजारों की संख्या में साधु-साध्वियाँ के सतत होते रहने पर भी समाज के उत्थान का कोई सच्चा काम होने न पाता था और अनुयायी गृहस्थवर्ग तो साधु साध्वियों के भरोसे रहने का इतना आदी हो गया था कि वह हरएक बात में निकम्मी प्रथा का त्याग, सुधार, परिवर्त्तन वगैरह करने में अपनी बुद्धि और साहस ही गवाँ बैठा था। त्यागी वर्ग कहता था कि हम क्या करें ? यह काम तो गृहस्थों का है। गृहस्थ कहते थे कि हमारे सिरमौर गुरु हैं। वे महावीर के प्रतिनिधि हैं, शास्त्रज्ञ हैं, वे हमसे अधिक जान सकते हैं, उनके सुझाव और उनकी सम्मति के बिना हम कर ही क्या सकते हैं ? गृहस्थों का असर ही क्या पड़ेगा ? साधुओं के कथन को सब लोग मान सकते हैं इत्यादि। इस तरह अन्य धर्म समाजों की तरह जैन समाज की नैया भी हर एक क्षेत्र में उलझनों की भँवर में फँसी थी।

सारे राष्ट्र पर पिछली सहस्राब्दी ने जो आफतें ढाई थीं और पश्चिम के सम्पर्क के बाद विदेशी राज्य ने पिछली दो शताब्दियों में गुलामी, शोषण और आपसी फूट की जो आफत बढ़ाई थी उसका शिकार तो जैन समाज शत-प्रतिशत था ही, पर उसके अलावा जैनसमाज के अपने निजी भी प्रश्न थे। जो उलझनों से पूर्ण थे। आपस में फिरकाबन्दी, धर्म के निमित्त अधर्म पोषक झगड़े, निवृत्ति के नाम पर निष्क्रियता और ऐदीपन की बाढ़, नई पीढ़ी में पुरानी चेतना का विरोध और नई चेतना का अवरोध, सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह जैसे शाश्वत मूल्य वाले सिद्धान्तों के प्रति सब की देखा देखी बढ़ती हुई अश्रद्धा—ये जैन समाज की समस्याएँ थीं।

इस अन्धकार प्रधान रात्रि में अफ्रिका से एक कर्मवीर की हलचल ने लोगों की आँखें खोली। वही कर्मवीर फिर अपनी जन्म-भूमि भारत में पीछे लौटा। आते ही सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह की निर्भय और गगनभेदी वाणी शान्त-स्वर से और जीवन-व्यवहार से सुनाने लगा। पहले तो जैन समाज अपनी संस्कार-च्युति के कारण चौंका। उसे भय मालूम हुआ कि दुनिया की प्रवृत्ति या सांसारिक राजकीय प्रवृत्ति के साथ सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का मेल कैसे

बैठ सकता है ? ऐसा हो तो फिर त्याग मार्ग और अनगार धर्म जो हजारों वर्ष से चला आता है वह नष्ट ही हो जाएगा। पर जैसे-जैसे कर्मवीर गांधी एक के बाद एक नए-नए सामाजिक और राजकीय क्षेत्र को सर करते गए और देश के उच्च से उच्च मस्तिष्क भी उनके सामने झुकाने लगे; कवीन्द्र रवीन्द्र, लाला लाजपतराय, देशबन्धु दास, मोतीलाल नेहरू आदि मुख्य राष्ट्रीय पुरुषों ने गांधीजी का नेतृत्व मान लिया। वैसे-वैसे जैन समाज की भी सुषुप्त और मूर्च्छित-सी धर्म चेतना में स्पन्दन शुरू हुआ। स्पन्दन की लहर क्रमशः ऐसी बढ़ती और फैलती गई कि जिसने ३५ वर्ष के पहले की जैन समाज की काया पलट ही दी। जिसने ३५ वर्ष के पहले की जैन-समाज की बाहरी और भीतरी दशा आँखों देखी है और जिसने पिछले ३५ वर्षों में गांधीजी के कारण जैन-समाज में सत्वर प्रकट होनेवाले सात्विक धर्म-स्पन्दनों को देखा है वह यह बिना कहे नहीं रह सकता कि जैन-समाज की धर्म चेतना—जो गांधीजी की देन है—वह इतिहास काल में अभूतपूर्व है। अब हम संक्षेप में यह देखें कि गांधीजी की यह देन किस रूप में है।

जैन-समाज में जो सत्य और अहिंसा की सार्वत्रिक कार्यक्षमता के बारे में अविश्वास की जड़ जमी थी, गांधीजी ने देश में आते ही सबसे प्रथम उस पर कुठाराघात किया। जैन लोगों के दिल में सत्य और अहिंसा के प्रति जन्मसिद्ध आदर तो था ही। वे सिर्फ प्रयोग करना जानते न थे और न कोई उन्हें प्रयोग के द्वारा उन सिद्धान्तों की शक्ति दिखाने वाला था। गांधीजी के अहिंसा और सत्य के सफल प्रयोगों ने और किसी समाज की अपेक्षा सबसे पहले जैन-समाज का ध्यान खींचा। अनेक बूढ़े तरुण और अन्य शुरू में कुतूहलवश और पीछे लगन से गांधीजी के आसपास इकट्ठे होने लगे। जैसे-जैसे गांधीजी के अहिंसा और सत्य के प्रयोग अधिकाधिक समाज और राष्ट्रव्यापी होते गए वैसे-वैसे जन-समाज को विरासत में मिली अहिंसावृत्ति पर अधिकाधिक भरोसा होने लगा और फिर तो वह उन्नत-मस्तक और प्रसन्न-वदन से कहने लगा कि 'अहिंसा परमो धर्मः' यह जो जैन परम्परा का मुद्रालेख है उसी की यह विजय है। जैन परम्परा स्त्री की समानता और मुक्ति का दावा तो करती ही आ रही थी; पर व्यवहार में उसे उसके अबलापन के सिवाय कुछ नजर आता न था। उसने मान लिया था कि त्यक्ता, विधवा और लाचार कुमारी के लिए एक मात्र बलप्रद मुक्तिमार्ग साध्वी बनने का है। पर गांधीजी के जादू ने यह साबित कर दिया कि अगर स्त्री किसी अपेक्षा से अबला है तो पुरुष भी अबल ही है। अगर पुरुष को सबल मान लिया जाए तो स्त्री के अबला रहते वह सबल बन

नहीं सकता। कई अंशों में तो पुरुष की अपेक्षा स्त्री का बल बहुत है। यह बात गांधीजी ने केवल दलीलों से समझाई न थी पर उनके जादू से स्त्री-शक्ति इतनी अधिक प्रकट हुई कि अब तो पुरुष उसे अबला कहने में सकुचाने लगा। जैन स्त्रियों के दिल में भी ऐसा कुछ चमत्कारिक परिवर्तन हुआ कि वे अब अपने को शक्तिशाली समझकर जवाबदेही के छोटे-मोटे अनेक काम करने लगी और आमतौर से जैन-समाज में यह माना जाने लगा कि जो स्त्री ऐहिक बन्धनों से मुक्ति पाने में समर्थ है वह साध्वी बनकर भी पारलौकिक मुक्ति पा नहीं सकती। इस मान्यता से जैन बहनों के सूखे और पीले चेहरे पर सुर्खी आ गई और वे देश के कोने-कोने में जवाबदेही के अनेक काम सफलतापूर्वक करने लगीं। अब उन्हें त्यक्तापन, विधवापन या लाचार कुमारीपन का कोई दुःख नहीं सताता। यह स्त्री-शक्ति का कायापलट है। यों तो जैन लोग सिद्धान्त रूप से जातिभेद और छुआछूत को बिलकुल मानते न थे और इसी में अपनी परम्परा का गौरव भी समझते थे; पर इस सिद्धान्त को व्यापक तौर से वे अमल में लाने में असमर्थ थे। गांधीजी की प्रायोगिक अंजनशलाका ने जैन समझदारों के नेत्र खोल दिए और उनमें साहस भर दिया फिर तो वे हरिजन या अन्य दलितवर्ग को समान भाव से अपनाने लगे। अनेक बूढ़े और युवक स्त्री-पुरुषों का खास एक वर्ग देश भर के जैन समाज में ऐसा तैयार हो गया है कि वह अब रूढ़ि-चुस्त मानस की बिलकुल परवाह बिना किये हरिजन और दलित वर्ग की सेवा में या तो पड़ गया है, या उसके लिए अधिकाधिक सहानुभूतिपूर्वक सहायता करता है।

जैन-समाज में महिमा एक मात्र त्याग की रही; पर कोई त्यागी निवृत्ति और प्रवृत्ति का सुमेल साध न सकता था। वह प्रवृत्ति मात्र को निवृत्ति विरोधी समझकर अनिवार्य रूप से आवश्यक ऐसी प्रवृत्ति का बोझ भी दूसरों के कन्धे पर डालकर निवृत्ति का सन्तोष अनुभव करता था। गांधीजी के जीवन ने दिखा दिया कि निवृत्ति और प्रवृत्ति वस्तुतः परस्पर विरुद्ध नहीं है। जरूरत है तो दोनों के रहस्य पाने की। समय प्रवृत्ति की माँग कर रहा था और निवृत्ति की भी। सुमेल के बिना दोनों निरर्थक ही नहीं बल्कि समाज और राष्ट्र-घातक सिद्ध हो रहे थे। गांधीजी के जीवन में निवृत्ति और प्रवृत्ति का ऐसा सुमेल जैन समाज ने देखा जैसा गुलाब के फूल और सुवास का। फिर तो मात्र गृहस्थों की ही नहीं, बल्कि त्यागी अनगारों तक की आँखें खुल गईं। उन्हें अब जैन शास्त्रों का असली मर्म दिखाई दिया या वे शास्त्रों को नए अर्थ में नए सिरे से देखने लगे। कई त्यागी अपना भिक्षुवेष रखकर भी या छोड़कर भी निवृत्ति प्रवृत्ति के गंगा-यमुना संगम

में स्नान करने आए और वे अब भिन्न-भिन्न सेवा क्षेत्रों में पड़कर अपना अनगारपना सच्चे अर्थ में साबित कर रहे हैं। जैन गृहस्थ की मनोदशा में भी निष्क्रिय निवृत्ति का जो घुन लगा था वह हटा और अनेक बूढ़े जवान निवृत्ति-प्रिय जैन स्त्री-पुरुष निष्काम प्रवृत्ति का क्षेत्र पसन्द कर अपनी निवृत्ति-प्रियता को सफल कर रहे हैं। पहले भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए एक ही रास्ता था कि या तो वे वेष धारण करने के बाद निष्क्रिय बनकर दूसरों की सेवा लेते रहें, या दूसरों की सेवा करना चाहें तो वेष छोड़कर अप्रतिष्ठित बन समाजबाह्य हो जाएँ। गांधीजी के नए जीवन के नए अर्थ ने निष्प्राण से त्यागी वर्ग में भी धर्मचेतना का प्राण स्पन्दन किया। अब उसे न तो जरूरत रही भिक्षुवेष फेंक देने की और न डर रहा अप्रतिष्ठित रूप से समाजबाह्य होने का। अब निष्काम सेवाप्रिय जैन भिक्षुगण के लिए गांधीजी के जीवन ने ऐसा विशाल कार्य-प्रदेश चुन दिया है, जिसमें कोई भी त्यागी निर्दम्भ भाव से त्याग का आस्वाद लेता हुआ समाज और राष्ट्र के लिए आदर्श बन सकता है।

जैन परम्परा को अपने तत्त्वज्ञान के अनेकान्त सिद्धान्त का बहुत बड़ा गर्व था वह समझती थी कि ऐसा सिद्धान्त अन्य किसी धर्म परम्परा को नसीब नहीं है; पर खुद जैन परम्परा उस सिद्धान्त का सर्वलोकहितकारक रूप से प्रयोग करना तो दूर रहा, पर अपने हित में भी उसका प्रयोग करना जानती न थी। वह जानती थी इतना ही कि उस वाद के नाम पर भंगजाल कैसे किया जा सकता है और विवाद में विजय कैसे पाया जा सकता है? अनेकान्तवाद के हिमायती क्या गृहस्थ क्या त्यागी सभी फिरकेबन्दी और गच्छ गण के ऐकान्तिक कदाग्रह और झगड़े में फँसे थे। उन्हें यह पता ही न था कि अनेकान्त का यथार्थ प्रयोग समाज और राष्ट्र की सब प्रवृत्तियों में कैसे सफलतापूर्वक किया जा सकता है? गांधीजी तख्ते पर आए और कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र की सब प्रवृत्तियों में अनेकान्त दृष्टि का ऐसा सजीव और सफल प्रयोग करने लगे कि जिससे आकृष्ट होकर समझदार जैनवर्ग यह अन्तःकरण से महसूस करने लगा कि भङ्गजाल और वादविजय में तो अनेकान्त का कलेवर ही है। उसकी जान नहीं! जान तो व्यवहार के सब क्षेत्रों में अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग करके विरोधी दिखाई देने वाले बलों का संघर्ष मिटाने में ही है।

जैन-परम्परा में विजय सेठ और विजया सेठानी इन दम्पती युगल के ब्रह्मचर्य की बात है। जिसमें दोनों का साहचार्य और सहजीवन होते हुए भी शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन का भाव है। इसी तरह स्थूलिभद्र मुनि के ब्रह्मचर्य की भी कहानी है जिससे एक मुनि ने अपनी पूर्वपरिचित वेश्या के सहवास में रह

कर भी विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन किया है। अभी तक ऐसी कहानियाँ लोकोत्तर समझी जाती रहीं। सामान्य जनता यही समझती रही कि कोई दम्पती या स्त्री-पुरुष साथ रहकर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करे तो वह दैवी चमत्कार जैसा है। पर गांधीजी के ब्रह्मचर्यवास ने इस अति कठिन और लोकोत्तर समझी जानेवाली बात को प्रयत्नसाध्य पर इतनी लोकगम्य साबित कर दिया कि आज अनेक दम्पती और स्त्री-पुरुष साथ रहकर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करने का निर्दम्भ प्रयत्न करते हैं। जैन समाज में भी ऐसे अनेक युगल मौजूद हैं। अब उन्हें कोई स्थूलिभद्र की कोटि में नहीं गिनता। हालाँकि उनका ब्रह्मचर्य-पुरुषार्थ वैसा ही है। रात्रि-भोजन त्याग और उपभोगपरिभोगपरिमाण तथा उपवास, आयंबिल, जैसे व्रत-नियम नए युग में केवल उपहास की दृष्टि से देखे जाने लगे थे और श्रद्धालु लोग इन व्रतों का आचरण करते हुए भी कोई तेजस्विता प्रकट कर न सकते थे। उन लोगों का व्रत-पालन केवल रूढ़िधर्म-सा दीखता था। मानों उनमें भावप्राण रहा ही न हो। गांधीजी ने इन्हीं व्रतों में ऐसा प्राण फूँका कि आज कोई इनके मखौल का साहस नहीं कर सकता। गांधीजी के उपवास के प्रति दुनिया-भर का आदर है। उनके रात्रि भोजन त्याग और इने-गिने खाद्य पेय के नियम को आरोग्य और सुभीते की दृष्टि से भी लोग उपादेय समझते हैं। हम इस तरह की अनेक बातें देख सकते हैं जो परम्परा से जैन समाज में चिरकाल से चली आती रहने पर भी तेजोहीन-सी दीखती थी; पर अब गांधीजी के जीवन ने उन्हें आदरास्पद बना दिया है।

जैन परम्परा के एक नहीं अनेक सुसंस्कार जो सुप्त या मूर्च्छित पड़े थे उनको गांधीजी की धर्म चेतना ने स्पन्दित किया, गतिशील किया और विकसित भी किया। यही कारण है कि अपेक्षाकृत इस छोटे से समाज ने भी अन्य समाजों की अपेक्षा अधिकसंख्यक सेवाभावी स्त्री-पुरुषों को राष्ट्र के चरणों पर अर्पित किया है। जिसमें बूढ़े-जवान स्त्री-पुरुष, होनहार तरुण-तरुणी और भिक्षु वर्ग का भी समावेश होता है।

मानवता के विशाल अर्थ में तो जैन समाज अन्य समाजों से अलग नहीं। फिर भी उसके परम्परागत संस्कार अमुक अंश में इतर समाजों से जुदे भी हैं। ये संस्कार मात्र धर्मकलेवर थे; धर्मचेतना की भूमिका को छोड़ बैठे थे। यों तो गांधीजी ने विश्व भर के समस्त सम्प्रदायों की धर्म चेतना को उत्प्राणित किया है; पर साम्प्रदायिक दृष्टि से देखें तो जैन समाज को मानना चाहिए कि उनके प्रति गांधीजी की बहुत और अनेकविध देन है। क्योंकि गांधीजी की देन के कारण ही अब जैन समाज अहिंसा, स्त्री-समानता, वर्ग समानता, निवृत्ति और

अनेकान्त दृष्टि इत्यादि अपने विरासतगत पुराने सिद्धान्तों को क्रियाशील और सार्थक साबित कर सकता है।

जैन परम्परा में 'ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै' जैसे सर्वधर्म-समन्वयकारी अनेक उद्‌गार मौजूद थे। पर आमतौर से उसकी धर्मविधि और प्रार्थना बिलकुल साम्प्रदायिक बन गई थी। उसका चौका इतना छोटा बन गया था कि उसमें उक्त उद्‌गार के अनुरूप सब सम्प्रदायों का समावेश दुःसंभव हो गया था। पर गांधीजी की धर्मचेतना ऐसी जागरित हुई कि धर्मों की बाड़ा-बँदी का स्थान रहा ही नहीं। गांधीजी की प्रार्थना जिस जैन ने देखी सुनी हो वह कृतज्ञतापूर्वक बिना कबूल किये रह नहीं सकता कि 'ब्रह्मा वा विष्णुर्वा' की उदात्त भावना या 'राम कहो रहिमान कहो' की अभेद भावना जो जैन परम्परा में मात्र साहित्यिक वस्तु बन गई थी; उसे गांधीजी ने और विकसित रूप में सजीव और शाश्वत किया।

हम गांधीजी की देन को एक-एक करके न तो गिना सकते हैं और न ऐसा भी कर सकते हैं कि गांधीजी की अमुक देन तो मात्र जैन समाज के प्रति ही है और अन्य समाज के प्रति नहीं। वर्षा होती है तब क्षेत्रभेद नहीं देखती। सूर्य चन्द्र प्रकाश फेंकते हैं तब भी स्थान या व्यक्ति का भेद नहीं करते। तो भी जिसके घड़े में पानी आया और जिसने प्रकाश का सुख अनुभव किया, वह तो लौकिक भाषा में यही कहेगा कि वर्षा या चन्द्र सूर्य ने मेरे पर इतना उपकार किया। इसी न्याय से इस जगह गांधीजी की देन का उल्लेख है, न कि उस देन की मर्यादा का।

गांधीजी के प्रति अपने ऋण को अंश से भी तभी अदा कर सकते हैं जब उनके निर्दिष्ट मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प करें और चलें।

———

सर्वज्ञत्व और उसका अर्थ

हेतुवाद-अहेतुवाद

प्रस्तुत लेख का आशय समझने के लिए प्रारम्भ में थोड़ा प्रास्ताविक विचार दर्शाना जरूरी है, जिससे पाठक वक्तव्य का भलीभाँति विश्लेषण कर सके। जीवन के श्रद्धा और बुद्धि ये दो मुख्य अंश हैं। वे परस्पर विभक्त नहीं हैं; फिर भी दोनों के प्रवृत्ति क्षेत्र या विषय थोड़े-बहुत परिमाण में जुदे भी हैं। बुद्धि, तर्क, अनुमान या विज्ञान से जो वस्तु सिद्ध होती है उसमें श्रद्धा का प्रवेश सरल है, परन्तु श्रद्धा के सभी विषयों में अनुमान या विज्ञान का प्रयोग संभव नहीं। अतीन्द्रिय अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो जुदे-जुदे सम्प्रदाय में श्रद्धा के विषय बने देखे जाते हैं, पर उन तत्त्वों का निर्विवाद समर्थन अनुमान या विज्ञान की सीमा से परे है। उदाहरणार्थ, जो श्रद्धालु ईश्वर को विश्व के कर्ता-धर्त्ता रूप से मानते हैं या जो श्रद्धालु किसी में त्रैकालिक सर्वज्ञत्व मानते हैं, वे चाहते तो हैं कि उनकी मान्यता अनुमान या विज्ञान से समर्थित हो, पर ऐसी मान्यता के समर्थन में जब तर्क या विज्ञान प्रयत्न करने लगता है तब कई बार बलवत्तर विरोधी अनुमान उस मान्यता को उलट भी देते हैं। ऐसी वस्तुस्थिति देखकर तत्त्वचिंतकों ने वस्तु के स्वरूपानुसार उसके समर्थन के लिए दो उपाय अलग-अलग बतलाए—एक उपाय है हेतुवाद, जिसका प्रयोगवर्तुल देश-काल की सीमा से परे नहीं। दूसरा उपाय है अहेतुवाद, जो देशकाल की सीमा से या इन्द्रिय और मन की पहुँच से पर ऐसे विषयों में उपयोगी है।

इस बात को जैन परम्परा की दृष्टि से प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों ने स्पष्ट भी किया है[1]। जब उनके सामने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा भव्यत्व-

---

१. दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य।
तत्थ उ अहेउवाओ भवियाऽभवियादओ भावा॥
भविओ सम्मद्दंसण—णाण—चरित्तपडिवत्तिसंपन्नो।
णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स॥
जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धन्तविराहओ अन्नो॥

—सन्मति प्रकरण ३. ४३-५ तथा इन गाथाओं का गुजराती विवेचन।

अभव्यत्व के विभाग जैसे साम्प्रदायिक मान्यता के प्रश्न तर्क के द्वारा समर्थन के लिए उपस्थित हुए तब उन्होंने कह दिया कि ऐसे अतीन्द्रिय विषय हेतुवाद से सिद्ध हो नहीं सकते। उनको अहेतुवाद से ही मानकर चलना होगा। अहेतुवाद का अर्थ है परम्परागत आगम पर या ऋषिप्रतिभा पर अथवा आध्यात्मिक प्रज्ञा पर विश्वास रखना।

यह नहीं कि मात्र जैन परम्परा ने ही ऐसे अहेतुवाद का आश्रय लिया हो। सभी धार्मिक परम्पराओं को अपनी किसी न किसी अतीन्द्रिय मान्यताओं के बारे में अपनी-अपनी दृष्टि से अहेतुवाद का आश्रय लेना पड़ा है। जब वेदान्त को अतीन्द्रिय परमब्रह्म की स्थापना में तर्क बाधक दिखाई दिए तब उसने श्रुति का अन्तिम आश्रय लेने की बात कही और तर्काप्रतिष्ठानात्[1] कह दिया। इसी तरह जब नागार्जुन जैसे प्रबल तार्किक को स्वभावनैरात्म्यरूप शून्य तत्त्व के स्थापन में तर्कवाद अधूरा या बाधक दिखाई दिया तब उसने प्रज्ञा का आश्रय लिया। केण्ट जैसे तत्त्वज्ञ ने भी देश-काल से पर ऐसे तत्त्व को बुद्धि या विज्ञान की सीमा से पर बतलाकर मात्र श्रद्धा का विषय सूचित किया। स्पेन्सर की आलोचना करते हुए विल डुरां ने स्पष्ट कह दिया कि ईश्वरवादी विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना छोड़ दें और वैज्ञानिक लोग ईश्वर तत्त्व या धर्म के विषय में प्रवेश करना छोड़ दें। यह एक प्रकार का हेतु-अहेतुवाद के वर्तुल का विभाजन ही तो है!

सर्वज्ञत्व जैन परम्परा की चिरश्रद्धेय और उपास्य वस्तु है। प्रश्न तो इतना ही है कि उसका अर्थ क्या? और वह हेतुवाद का विषय है या अहेतुवाद का? इसका उत्तर शताब्दियों से हेतुवाद के द्वारा दिया गया है। परन्तु बीच-बीच में कुछ आचार्य ऐसे भी हुए हैं जिनको इस विषय में हेतुवाद का उपयोग करना ठीक जँचा नहीं जान पड़ता। एक तरफ से सारे सम्प्रदाय में स्थिर ऐसी प्रचलित

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि॥
विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥
वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम्॥

—आप्तमीमांसा श्लो. ७६–८.

१. तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः।

—ब्रह्मसूत्र २. १. ११.

मान्यता का विरोध करने की कठिनाई और दूसरी तरफ से सर्वज्ञत्व जैसे अतीन्द्रिय तत्त्व में अल्पज्ञत्व के कारण अन्तिम उत्तर देने की कठिनाई—ये दोनों कठिनाइयाँ उनके सामने भी अवश्य थीं; फिर भी उनके तटस्थ तत्त्वचिन्तन और निर्भयत्व ने उन्हें चुप न रखा। ऐसे आचार्यों में प्रथम हैं कुन्दकुन्द और दूसरे हैं याकिनीसूनु हरिभद्र। कुन्दकुन्द आध्यात्मिक व गम्भीर विचारक रहे। उनके सामने सर्वज्ञत्व का परम्परागत अर्थ तो था ही, पर जान पड़ता है कि उन्हें मात्र परम्परावलम्बित भाव में सन्तोष न हुआ। अतएव प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में जहाँ एक ओर उन्होंने परम्परागत त्रैकालिक सर्वज्ञत्व का लक्षण निरूपण किया[1] वहाँ नियमसार में उन्होंने व्यवहार निश्चय का विश्लेषण करके सर्वज्ञत्व का और भी भाव सुझाया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि लोकालोक जैसी आत्मेतर वस्तुओं को जानने की बात कहना यह व्यवहारनय है और स्वात्मस्वरूप को जानना व उसमें निमग्न होना यह निश्चयनय है[2]। यह ध्यान में रहे कि समयसार में उन्होंने खुद ही व्यवहारनय को असद्भूत—अपारमार्थिक कहा है[3]। कुन्दकुन्द के विश्लेषण का आशय यह जान पड़ता है कि उनकी दृष्टि में आत्मस्वरूप का ज्ञान ही मुख्य व अन्तिम ध्येय रहा है। इसलिए उन्होंने उसी को पारमार्थिक या निश्चयनयसम्मत कहा। एक ही उपयोग में एक ही समय जब आत्मा और आत्मेतर वस्तुओं का तुल्य प्रतिभास होता हो तब उसमें यह विभाग नहीं किया जा सकता कि लोकालोक का भास व्यवहारनय है और और आत्मतत्त्व का भास निश्चयनय है। दोनों भास या तो पारमार्थिक हैं या दोनों व्यावहारिक हैं—ऐसा ही कहना पड़ेगा। फिर भी जब कुन्दकुन्द जैसे

---

१. परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गह पुव्वाहिं किरियाहिं॥
णत्थि परोक्खं किंचिवि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स॥
—प्रवचनसार १. २१-२.

२. अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ॥
—नियमसार गा. १६६.

३. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥
—समयसार गा. ११.

अध्यात्मवेदी ने निश्चय-व्यवहार का विश्लेषण किया तब यह समझना कठिन नहीं कि परम्परागत मान्यता को चालू रखने के उपरान्त भी उनके मन में एक नया अर्थ अवश्य सूझा जो उन्होंने अपने प्रिय नयवाद से विश्लेषण के द्वारा सूचित किया जिससे श्रद्धालु वर्ग की श्रद्धा भी बनी रहे और विशेष जिज्ञासु व्यक्ति के लिए एक नई बात भी सुझाई जाय।

असल में कुन्दकुन्द का यह निश्चयवाद उपनिषदों, बौद्धपिटकों और प्राचीन जैन उल्लेखों में भी जुदे-जुदे रूप से निहित था, पर सचमुच कुन्दकुन्द ने उसे जैन परिभाषा में नए रूप से प्रगट किया।

ऐसे ही दूसरे आचार्य हुए हैं याकिनीसूनु हरिभद्र। वे भी अनेक तर्क-ग्रन्थों में त्रैकालिक सर्वज्ञत्व का हेतुवाद से समर्थन कर चुके थे, पर जब उनको उस हेतुवाद में त्रुटि व विरोध दिखाई दिया तब उन्होंने सर्वज्ञत्व का सर्वसम्प्रदाय-अविरुद्ध अर्थ किया व अपना योगसुलभ माध्यस्थ्य सूचित किया।

मैंने प्रस्तुत लेख में कोई नई बात तो कही नहीं है, पर कही है तो वह इतनी ही है कि अगर सर्वज्ञत्व को तर्क से, दलील से या ऐतिहासिक क्रम से समझना या समझाना हो तो पुराने जैन ग्रन्थों के कुछ उल्लेखों के आधार पर व उपनिषदों तथा पिटकों के साथ तुलना करके मैंने जो अर्थ समझाया है वह शायद सत्य के निकट अधिक है। त्रैकालिक सर्वज्ञत्व को मानना हो तो श्रद्धा-पुष्टि व चरित्रशुद्धि के ध्येय से उसको मानने में कोई नुकसान नहीं। हाँ, इतना समझ रखना चाहिए कि वैसा सर्वज्ञत्व हेतुवाद का विषय नहीं; वह तो धर्मास्तिकाय आदि की तरह अहेतुवाद का ही विषय हो सकता है। ऐसे सर्वज्ञत्व के समर्थन में हेतुवाद का प्रयोग किया जाय तो उससे उसे समर्थित होने के बजाय अनेक अनिवार्य विरोधों का ही सामना करना पड़ेगा।

श्रद्धा का विषय मानने के दो कारण हैं। एक तो पुरातन अनुभवी योगिओं के कथन की वर्तमान अज्ञान स्थिति में अवहेलना न करना। और दूसरा वर्तमान वैज्ञानिक खोज के विकास पर ध्यान देना। अभी तक के प्रायोगिक विज्ञान ने टेलीपथी, क्लेरवोयन्स और प्रीकोग्नीशन की स्थापना से इतना तो सिद्ध कर ही दिया है कि देश-काल की मर्यादा का अतिक्रमण करके भी ज्ञान संभव है। यह संभव कोटि योग परंपरा के ऋतंभरा और जैन आदि परंपरा की सर्वज्ञ दशा की ओर संकेत करती है।

सर्वज्ञत्व का इतिहास

भारत में हर एक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप से सर्वज्ञत्व के ऊपर अधिक भार देता आ रहा है। हम ऋग्वेद आदि वेदों के पुराने भागों में देखते हैं कि

सूर्य, वरुण, इन्द्र आदि किसी देव की स्तुति में सीधे तौर से या गर्भित रूप से सर्वज्ञत्व का भाव सूचित करने वाले सर्वचेतस सहस्रचक्षु[1] आदि विशेषण प्रयुक्त हैं। उपनिषदों में खासकर पुराने उपनिषदों में भी सर्वज्ञत्व के सूचक और प्रतिपादक विशेषण एवं वर्णन का विकास देखा जाता है। यह वस्तु इतना साबित करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय मानस अपने सम्मान्य देव या पूज्य व्यक्ति में सर्वज्ञत्व का भाव आरोपित बिना किये संतुष्ट होता न था। इसीसे हर एक सम्प्रदाय अपने पुरस्कर्ता या मूल प्रवर्तक माने जाने वाले व्यक्ति को सर्वज्ञ मानता था। साम्प्रदायिक वाड़ों के बाजार में सर्वज्ञत्व के द्वारा अपने प्रधान पुरुष का मूल्य आँकने और आँकवाने की इतनी अधिक होड़ लगी थी कि कोई पुरुष जिसे उसके अनुयायी सर्वज्ञ कहते और मानते थे वह खुद अपने को उस माने में सर्वज्ञ न होने की बात कहे तो अनुयायियों की तृप्ति होती न थी। ऐसी परिस्थिति में हर एक प्रवर्तक या तीर्थंकर का उस-उस सम्प्रदाय के द्वारा सर्वज्ञरूप से माना जाना और उस रूप में उसकी प्रतिष्ठा निर्माण करना यह अनिवार्य बन जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

हम इतिहास काल में आकर देखते हैं कि खुद बुद्ध ने अपने को उस अर्थ में सर्वज्ञ मानने का इनकार[2] किया है कि जिस अर्थ में ईश्वरवादी ईश्वर को और जैन लोग महावीर आदि तीर्थङ्करों को सर्वज्ञ मानते-मनाते थे। ऐसा होते हुए भी आगे जाकर सर्वज्ञत्व मानने मनाने की होड़ ने बुद्ध के कुछ शिष्यों को ऐसा बाधित किया कि वे ईश्वरवादी और पुरुषसर्वज्ञत्ववादी की तरह ही बुद्ध का सर्वज्ञत्व युक्ति प्रयुक्ति[3] से स्थापित करें। इससे स्पष्ट है कि हर एक साम्प्रदायिक आचार्य और दूसरे अनुयायी अपने सम्प्रदाय की नींव सर्वज्ञत्व मानने-मनाने और युक्ति से उसका स्थापन करने में देखते थे।

इस तार्किक होड़ का परिणाम यह आया कि कोई सम्प्रदाय अपने मान्य पुरुष या देव के सिवाय दूसरे सम्प्रदाय के मान्य पुरुष या देव में वैसा सर्वज्ञत्व मानने को तैयार नहीं जैसा कि वे अपने इष्टतम पुरुष या देव में सरलता से मानते आते थे। इससे प्रत्येक सम्प्रदाय के बीच इस मान्यता पर लम्बे अरसे से वाद-विवाद होता आ रहा है। और सर्वज्ञत्व श्रद्धा की वस्तु मिटकर तर्क की वस्तु बन गया। जब उसका स्थापन तर्क के द्वारा होना शुरू हुआ तब हर एक तार्किक अपने बुद्धि-बल का उपयोग नये-नये तर्कों के उद्भावन में करने लगा।

१. ऋग्वेद १.२३.३; १०.८१.३।

२. मज्झिमनिकाय—चूलमालुंक्यपुत्तसुत्त; प्रमाणवार्तिक २.३२–३३।

३. तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ० ८६३।

इसके कारण एक तरफ से जैसे सर्वज्ञत्व के अनेक अर्थों की सृष्टि हुई[1] वैसे ही उसके समर्थन की अनेक युक्तियाँ भी व्यवहार में आई।

जैनसंमत अर्थ

जहाँ तक जैन परम्परा का सम्बन्ध है उसमें सर्वज्ञत्व का एक ही अर्थ माना जाता रहा है और वह यह कि एक ही समय में त्रैकालिक समग्र भावों को साक्षात् जानना। इसमें शक नहीं कि आज जो पुराने से पुराना[2] जैन आगमों का भाग उपलब्ध है उसमें भी सर्वज्ञत्व के उक्त अर्थ के पोषक वाक्य मिल जाते हैं परन्तु सर्वज्ञत्व के उस अर्थ पर तथा उसके पोषक वाक्यों पर स्वतन्त्र बुद्धि से विचार करने पर तथा उन्हीं अति पुराण आगमिक भागों में पाये जाने वाले दूसरे वाक्यों के साथ विचार करने पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि मूल में सर्वज्ञत्व का वह अर्थ जैन परम्परा को भी मान्य न था जिस अर्थ को आज वह मान रही है और जिसका समर्थन सैकड़ों वर्ष से होता आ रहा है।

प्रश्न होगा कि तब जैन परम्परा में सर्वज्ञत्व का असली अर्थ क्या था? इसका उत्तर आचरांग, भगवती आदि के कुछ पुराने उल्लेखों से मिल जाता है। आचारांग में कहा है कि[3] जो एक को जानता है वह सर्व को जानता है। और जो सबको जानता वह एक को जानता है।' इस वाक्य का तात्पर्य टीकाकारों और तार्किकों ने एक समय में त्रैकालिक समग्र भावों के साक्षात्काररूप से फलित किया है। परन्तु उस स्थान के आगे-पीछे का सम्बन्ध तथा आगे पीछे, के वाक्यों को ध्यान में रखकर हम सीधे तौर से सोचें तो उस वाक्य का तात्पर्य दूसरा ही जान पड़ता है। वह तात्पर्य मेरी दृष्टि से यह है कि जो एक ममत्व, प्रमाद या कषाय को जानता है वह उसके क्रोधादि सभी आविर्भावों, पर्यायों या प्रकारों को जानता है और जो क्रोध, मान आदि सब आविर्भावों को या पर्यायों को जानता है वह उन सब पर्यायों के मूल और उनमें अनुगत एक ममत्व या बन्धन को जानता है। जिस प्रकरण में उक्त वाक्य आया है वह प्रकरण मुमुक्षु के लिए कषायत्याग के उपदेश का और एक ही जड़ में से जुदे-जुदे कषाय रूप परिणाम दिखाने का है। यह बात ग्रन्थकार ने पूर्वोक्त वाक्य से तुरंत ही आगे दूसरे वाक्य के द्वारा स्पष्ट की है जिसमें कहा गया है कि 'जो एक को नमाता है दबाता है या वश करता है वह बहुतों को नमाता दबाता या वश करता है और जो बहु को नमाता है वह एक को नमाता है।'

---

१. तत्त्वसंग्रह पृ० ८४६.

२. आचा० पृ० ३६२ (द्वि० आवृत्ति)।

३. जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ; जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ३-४

नमाना, दबाना या वश करना मुमुक्षु के लिए कषाय के सिवाय अन्य वस्तु में लागू हो नहीं सकता। जिससे इसका तात्पर्य यह निकलता है कि जो मुमुक्षु एक अर्थात् प्रमाद को वश करता है वह बहुत कषायों को वश करता है और जो बहुत कषायों को वश करता है वह एक अर्थात् प्रमाद को वश करता ही है। स्पष्ट है कि नमाने की और वश करने की वस्तु जब कषाय है तब ठीक उसके पहले आये हुए वाक्य में जानने की वस्तु भी कषाय ही प्रकरणप्राप्त है। आध्यात्मिक साधना और जीवन शुद्धि के क्रम में जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से आस्रव के ज्ञान का और उसके निरोध का ही महत्त्व है। जिसमें कि त्रैकालिक समग्र भावों के साक्षात्कार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। उसमें प्रश्न उठता है तो मूल दोष और उसके विविध आविर्भावों के जानने का और निवारण करने का। ग्रन्थकार ने वहाँ यही बात बतलाई है। इतना ही नहीं, बल्कि उस प्रकरण को खतम करते समय उन्होंने वह भाव 'जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से निरियदंसी, जे निरियदंसी से दुक्खदंसी।' इत्यादि शब्दों में स्पष्ट रूप में प्रकट भी किया है। इसलिए 'जे एगं जाणई' इत्यादि वाक्यों का जो तात्पर्य मैंने ऊपर बतलाया वही वहाँ पूर्णतया संगत है और दूसरा नहीं। इसलिए मेरी राय में जैन परम्परा में सर्वज्ञत्व का असली अर्थ आध्यात्मिक साधना में उपयोगी सब तत्त्वों का ज्ञान यही होना चाहिए; नहीं कि त्रैकालिक समग्र भावों का साक्षात्कार।

उक्त वाक्यों को आगे के तार्किकों ने एक समय में त्रैकालिक भावों के साक्षात्कार अर्थ में घटाने की जो कोशिश की है[1] वह सर्वज्ञत्व-स्थापन की साम्प्रदायिक होड़ का नतीजा मात्र है। भगवती सूत्र में महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति और जमाली का एक संवाद है[2] जो सर्वज्ञत्व के अर्थ पर प्रकाश डालता है। जमाली महावीर का प्रतिद्वंद्वी है। उसे उसके अनुयायी सर्वज्ञ मानते होंगे। इसलिए जब वह एक बार इन्द्रभूति से मिला तो इन्द्रभूति ने उससे प्रश्न किया कि कहो जमाली! तुम यदि सर्वज्ञ हो तो जवाब दो कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत? जमाली चुप रहा तिस पर महावीर ने कहा कि तुम कैसे सर्वज्ञ? देखो इसका उत्तर मेरे असर्वज्ञ शिष्य दे सकते हैं तो भी मैं उत्तर देता हूँ कि

---

१. स्याद्वादमंजरी का० १। २. भगवती ६. ६।

द्रव्यार्थिक दृष्टि से लोक शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत। महावीर के इस उत्तर से सर्वज्ञत्व के जैनाभिप्रेत अर्थ के असली स्तर का पता चल जाता है कि जो द्रव्य-पर्याय उभय दृष्टि से प्रतिपादन करता है वही सर्वज्ञ है। महावीर ने जमाली के सम्मुख एक समय में त्रैकालिक भावों को साक्षात् जाननेवाले रूप से अपने को वर्णित नहीं किया है। जिस रूप में उन्होंने अपने को सर्वज्ञ वर्णित किया वह रूप सारी जैन परम्परा के मूल गत स्रोत से मेल भी खाता है और आचारांग के उपर्युक्त अति पुराने उल्लेखों से भी मेल खाता है। उसमें न तो अत्युक्ति है, न अल्पोक्ति; किंतु वास्तविक स्थिति निरूपित हुई है। इसलिए मेरी राय में जैन परम्परा में माने-जानेवाले सर्वज्ञत्व का असली अर्थ वही होना चाहिए न कि पिछला तर्क से सिद्ध किया जानेवाला–एक समय में सर्व भावों का साक्षात्कार रूप अर्थ।

मैं अपने विचार की पुष्टि में कुछ ऐसे भी संवादि प्रमाण का निर्देश करना उचित समझता हूँ जो भगवान् महावीर के पूर्वकालीन एवं समकालीन हैं। हम पुराने उपनिषदों में देखते हैं कि एक ब्रह्मतत्त्व के जान लेने पर अन्य सब अविज्ञात विज्ञात हो जाता है ऐसा स्पष्ट वर्णन है[1] और इसके समर्थन में वहीं दृष्टान्त रूप से मृत्तिका का निर्देश करके बतलाया है कि जैसे एक ही मृत्तिका सत्य है, दूसरे घट-शराव आदि विकार उसी के नामरूप मात्र हैं, वैसे ही एक ही ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है बाकी का विश्व प्रपंच उसी का विलासमात्र है[1] (जैन परिभाषा में कहें तो बाकी का सारा जगत ब्रह्म का पर्यायमात्र है।) उसकी परब्रह्म से अलग सत्ता नहीं। उपनिषद् के ऋषि का भार ब्रह्मज्ञान पर है, इसलिए वह ब्रह्म को ही मूल में पारमार्थिक कहकर बाकी के प्रपंच को उससे भिन्न मानने पर जोर नहीं देता। यह मानो हुई सर्वसम्मत बात है कि जो जिस तत्त्व का मुख्यतया ज्ञेय, उपादेय या हेय रूप से प्रतिपादन करना चाहता है वह उसी पर अधिक से अधिक भार देता है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व या परब्रह्म है। इसीलिए उसी के ज्ञान पर भार देते हुए ऋषियों ने कहा कि आत्मतत्त्व के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। इस स्थल पर मृत्तिका का दृष्टान्त दिया गया है, वह भी इतना ही सूचित करता है कि जुदे-जुदे विकारों और पर्यायों में मृत्तिका अनुगत है, वह विकारों की तरह अस्थायी नहीं, जैसा कि विश्व के प्रपंच में ब्रह्म अस्थायी नहीं। हम उपनिषदगत

---

१. आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितं भवति—बृहदारण्यकोपनिषद् २. ४. ५।

इस वर्णन में यह स्पष्ट देखते हैं कि इसमें द्रव्य और पर्याय दोनों का वर्णन है; पर भार अधिक द्रव्य पर है। इसमें कार्य-कारण दोनों का वर्णन है; पर भार तो अधिक मूल कारण-द्रव्य पर ही है। ऐसा होने का सबब यही है कि उपनिषद् के ऋषि मुख्यतया आत्मस्वरूप के निरूपण में ही दत्तचित्त हैं और दूसरा सब वर्णन उसी के समर्थन में है। यह औपनिषदिक भाव ध्यान में रखकर आचारांग के 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' इस वाक्य का अर्थ और प्रकरण संगति सोचें तो स्पष्ट ध्यान में आ जायगा कि आचारांग का उक्त वाक्य द्रव्य पर्यायपरक मात्र है। जैन परम्परा उपनिषदों की तरह एक मात्र ब्रह्म या आत्म द्रव्य के अखण्ड ज्ञान पर भार नहीं देती, वह आत्मा की या द्रव्यमात्र की भिन्न-भिन्न पर्याय रूप अवस्थाओं के ज्ञान पर भी उतना ही भार पहले से देती आई है। इसीलिए आचारांग में दूसरा वाक्य ऐसा है कि जो सबको—पर्यायों को जानता है वह एक को—द्रव्य को जानता है। इस अर्थ की जमाली-इन्द्रभूति संवाद से तुलना की जाय तो इसमें सन्देह ही नहीं रहता कि जैन-परम्परा का सर्वज्ञत्व संबंधी दृष्टिकोण मूल में केवल इतना ही था कि द्रव्य और पर्याय उभय को समान भाव से जानना ही ज्ञान की पूर्णता है।

बुद्ध जब मालुंक्य पुत्र नामक अपने शिष्य से कहते हैं कि मैं चार आर्य सत्यों के ज्ञान का ही दावा करता हूँ और दूसरे अगम्य एवं काल्पनिक तत्त्वों के ज्ञान का[1] नहीं, तब वह वास्तविक भूमिका पर है। उसी भूमिका के साथ महावीर के सर्वज्ञत्व की तुलना करने पर भी फलित यही होता है कि अत्युक्ति या अल्पोक्ति नहीं करने वाले संतप्रकृति के महावीर द्रव्यपर्यायवाद की पुरानी निर्ग्रन्थ परम्परा के ज्ञान को ही सर्वज्ञत्वरूप मानते होंगे। जैन और बौद्ध परम्परा में इतना फर्क अवश्य रहा है कि अनेक तार्किक बौद्ध विद्वानों ने बुद्ध को त्रैकालिकज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ स्थापित करने का प्रयत्न किया है तथापि अनेक असाधारण बौद्ध विद्वानों ने उनको सीधे सादे अर्थ में ही सर्वज्ञ घटाया है। जब कि जैन परम्परा में सर्वज्ञ का सीधा सादा अर्थ भुला दिया जाकर उसके स्थान में तर्कसिद्ध अर्थ ही प्रचलित और प्रतिष्ठित हो गया है और उसी अर्थ के संस्कार में पलने वाले जैन तार्किक आचार्यों को भी यह सोचना अति मुश्किल हो गया है कि एक समय में सर्व भावों के साक्षात्काररूप सर्वज्ञत्व कैसे असंगत है? इसलिए वे जिस तरह हो, मामूली गैरमामूली सब युक्तियों से अपना अभिप्रेत सर्वज्ञत्व सिद्ध करने के लिए ही उतारू रहे हैं।

---

१. चूलमालुंक्य सुत्त।

करीब ढाई हजार वर्ष की शास्त्रीय जैन-परम्परा में हम एक ही अपवाद पाते हैं जो सर्वज्ञत्व के अर्थ की दूसरी बाजू की ओर संकेत करता है। विक्रम की आठवीं शताब्दी में याकिनीसूनु हरिभद्र नामक आचार्य हुए हैं। उन्होंने अपने अनेक तर्कग्रन्थों में सर्वज्ञत्व का समर्थन उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में अपने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर दिगम्बर अनेक विद्वान् करते आये हैं। फिर भी उनकी तार्किक तथा समभावशील सत्यग्राही बुद्धि में वह समर्थन अखरा जान पड़ता है। हरिभद्र जब योग जैसे अध्यात्मिक और सत्यगामी विषय पर लिखने लगे तो उन्हें यह बात बहुत खटकी कि महावीर को तो सर्वज्ञ कहा जाय और सुगत, कपिल आदि जो वैसे ही आध्यात्मिक हुए हैं उन्हें सर्वज्ञ कहा या माना न जाय। यद्यपि वे अपने तर्कप्रधान ग्रन्थों में सुगत, कपिल आदि के सर्वज्ञत्व का निषेध कर चुके थे; पर योग के विषय ने उनकी दृष्टि बदल दी और उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ योगदृष्टिसमुच्चय में सुगत, कपिल आदि सभी आध्यात्मिक और सद्गुणी पुरुषों के सर्वज्ञत्व को निर्विवाद रूप से मान लिया और उसका समर्थन भी किया (का० १०२–१०८)। समर्थन करना इसलिए अनिवार्य हो गया था कि वे एक बार सुगत कपिल आदि के सर्वज्ञत्व का निषेध कर चुके थे; पर अब उन्हें वह तर्कजाल मात्र लगती थी (का० १४०–१४७)। हरिभद्र का उपजीवन और अनुगमन करनेवाले अंतिम प्रबलतम जैन तार्किक यशोविजयजी ने भी अपनी कुतर्कग्रहनिवृत्ति[1] द्वात्रिंशिका में हरिभद्र की बात का ही निर्भयता से और स्पष्टता से समर्थन किया है। हालांकि यशोविजययी ने भी अन्य अनेक ग्रन्थों में सुगत आदि के सर्वज्ञत्व का आत्यन्तिक खण्डन किया है।

हमारे यहाँ भारत में एक यह भी प्रणाली रही है कि प्रबल से प्रबल चिंतक और तार्किक भी पुरानी मान्यताओं का समर्थन करते रहे और नया सत्य प्रकट करने में कभी-कभी हिचकाए भी। यदि हरिभद्र ने वह सत्य योगदृष्टिसमुच्चय में जाहिर किया न होता तो उपाध्याय यशोविजयजी कितने ही बहुश्रुत तार्किक विद्वान् क्यों न हों पर शायद ही सर्वज्ञत्व के इस मौलिक भाव का समर्थन करते। इसलिए

---

१. धर्मवाद के क्षेत्र में श्रद्धागम्य वस्तु को केवल तर्कबल से स्थापित करने का आग्रह ही कुतर्कग्रह है। इसकी चर्चा में उपाध्यायजी ने बत्तीसी में मुख्यतया सर्वज्ञविषयक प्रश्न ही लिया है। और आ० हरिभद्र के भाव को समग्र बत्तीसी में इतना विस्तार और वैशद्य के साथ प्रकट किया है कि जिसे पढ़कर तटस्थ चिन्तक के मन में निश्चय होता है कि सर्वज्ञत्व एक मात्र श्रद्धागम्य है, और तर्कगम्य नहीं।

सभी गुणवान् सर्वज्ञ हैं—इस उदार और निर्व्याज असाम्प्रदायिक कथन का श्रेय जैन परम्परा में आचार्य हरिभद्र के सिवाय दूसरे किसी के नाम पर नहीं जाता। हरिभद्र की योगदृष्टिगामिनी वह उक्ति भी मात्र उस ग्रन्थ में सुषुप्त रूप से निहित है। उसकी ओर जैन-परम्परा के विद्वान् या चिन्तक न तो ध्यान देते हैं और न सब लोगों के सामने उसका भाव ही प्रकाशित करते हैं। वे जानते हुए भी इस डर से अनजान बन जाते हैं कि भगवान् महावीर का स्थान फिर इतना ऊँचा न रहेगा, वे साधारण अन्य योगी जैसे ही हो जायँगे। इस डर और सत्य की ओर आँख मूँदने के कारण सर्वज्ञत्व की चालू मान्यता में कितनी बेशुमार असंगतियाँ पैदा हुई हैं और नया विचारक जगत किस तरह सर्वज्ञत्व के चालू अर्थ से सकारण ऊब गया है, इस बात पर पण्डित या त्यागी विद्वान् विचार ही नहीं करते। वे केवल उन्हीं सर्वज्ञत्व समर्थक दलीलों का निर्जीव और निःसार पुनरावर्तन करते रहते हैं जिनका विचारजगत में अब कोई विशेष मूल्य नहीं रहा है।

सर्वज्ञविचार की भूमिकाएँ

ऊपर के वर्णन से यह भली भाँति मालूम हो जाता है कि सर्वज्ञत्व विषयक विचारधारा की मुख्य चार भूमिकाएँ हैं। पहली भूमिका में सूक्त के प्रणेता ऋषि अपने-अपने स्तुत्य और मान्य देवों की सर्वज्ञत्व के सूचक विशेषणों के द्वारा केवल महत्ता भर गाते हैं, उनकी प्रशंसा भर करते हैं, अर्थात् अपने-अपने इष्टतम देव की असाधारणता दर्शित करते हैं। वहाँ उनका तात्पर्य वह नहीं है जो आगे जाकर उन विशेषणों से निकाला जाता है। दूसरी भूमिका वह है जिसमें ऋषियों और विद्वानों को प्राचीन भाषा समृद्धि के साथ उक्त विशेषण-रूप शब्द भी विरासत में मिले हैं, पर वे ऋषि या संत उन विशेषणों का अर्थ अपने ढंग से सूचित करते हैं। जिस ऋषि को पुराने देवों के स्थान में एक मात्र ब्रह्मतत्त्व या आत्मतत्त्व ही प्रतिपाद्य तथा स्तुत्य जँचता है वह ऋषि उस तत्त्व के ज्ञान मात्र में सर्वज्ञत्व देखता है और जो संत आत्मतत्त्व के बजाय उसके स्थान में हेय और उपादेय रूप से आचार मार्ग का प्राधान्य स्थापित करना चाहता है वह उसी आचारमार्गान्तर्गत चतुर्विध आर्य सत्य के दर्शन में ही सर्वज्ञत्व की इतिश्री मानता है और जो संत अहिंसाप्रधान आचार पर तथा द्रव्य-पर्याय दृष्टिरूप विभज्यवाद के स्वीकार पर अधिक भार देना चाहता है वह उसी के ज्ञान में सर्वज्ञत्व समझता है। तीसरी भूमिका वह है जिसमें दूसरी भूमिका की वास्तविकता और अनुभवगम्यता के स्थान में तर्कमूलक सर्वज्ञत्व के

अर्थ की और उसकी स्थापक युक्तियों की कल्पनासृष्टि विकसित होती है। जिसमें अनुभव और समभाव की अवगणना होकर अपने-अपने मान्य देवों या पुरुषों की महत्ता गाने की धुन में दूसरों की वास्तविक महत्ता का भी तिरस्कार किया जाता है या वह भूला दी जाती है। चौथी भूमिका वह है जिसमें फिर अनुभव और माध्यस्थ्य का तत्त्व जागरित होकर दूसरी भूमिका की वास्तविकता और बुद्धिगम्यता को अपनाया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि यह चौथी भूमिका ही सत्य के निकट है, क्योंकि वह दूसरी भूमिका से तत्त्वतः मेल खाती है और मिथ्या कल्पनाओं को तथा साम्प्रदायिकता की होड़ को स्थान नहीं देती।

ई० १९४६] अप्रकाशित]



'न्यायवतारवार्तिकवृत्ति'

सिंघी जैन ग्रन्थमाला का प्रस्तुत ग्रन्थरत्न अनेक दृष्टि से महत्त्ववाला एवं उपयोगी है। इस ग्रन्थ में तीन कर्ताओं की कृतियाँ सम्मिलित हैं। सिद्धसेन दिवाकर जो जैन तर्कशास्त्र के आद्य प्रणेता हैं उनकी 'न्यायावतार' छोटी-सी पद्यबद्ध कृति इस ग्रन्थ का मूल आधार है। शान्त्याचार्य के पद्यबद्ध वार्तिक और गद्यमय वृत्ति ये दोनों 'न्यायावतार' की व्याख्याएँ हैं। मूल तथा व्याख्या में आये हुए मन्तव्यों में से अनेक महत्त्वपूर्ण मन्तव्यों को लेकर उन पर ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से लिखे हुए सारगर्भित तथा बहुश्रुततापूर्ण टिप्पण, अतिविस्तृत प्रस्तावना और अन्त के तेरह परिशिष्ट—यह सब प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक श्रीयुत पंडित मालवणिया की कृति है। इन तीनों कृतियों का संक्षिप्त परिचय, विषयानुक्रम एवं प्रस्तावना के द्वारा अच्छी तरह हो जाता है। अतएव इस बारे में यहाँ अधिक लिखना अनावश्यक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादन की विशिष्टता

यदि समभाव और विवेक की मर्यादा का अतिक्रमण न हो तो किसी अतिपरिचित व्यक्ति के विषय में लिखते समय पक्षपात एवं अनौचित्य दोष से बचना बहुत सरल है। श्रीयुत दलसुखभाई मालवणिया मेरे विद्यार्थी, सहसम्पादक, सहाध्यापक और मित्ररूप से चिरपरिचित हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ के सम्पादन का भार जब से हाथ में लिया तब से इसकी पूर्णाहुति तक का मैं निकट साक्षी हूँ। इन्होंने टिप्पण, प्रस्तावना आदि जो कुछ भी लिखा है उसको मैं पहले ही से यथामति देखता तथा उस पर विचार करता आया हूँ, इससे मैं यह तो निःसंकोच कह सकता हूँ कि भारतीय दर्शनशास्त्र के—खासकर प्रमाणशास्त्र के—अभ्यासियों के लिए श्रीयुत मालवणिया ने अपनी कृति में जो सामग्री संचित व व्यवस्थित की है तथा विश्लेषणपूर्वक उस पर जो अपना विचार प्रगट किया है, वह सब अन्यत्र किसी एक जगह दुर्लभ ही नहीं अलभ्य-प्राय है। यद्यपि टिप्पण, प्रस्तावना आदि सब कुछ जैन परम्परा को केन्द्रस्थान में रखकर लिखा गया है, तथापि सभी संभव स्थलों में तुलना करते समय, करीब-करीब समग्र भारतीय दर्शनों का तटस्थ अवलोकनपूर्वक ऐसा ऊहापोह किया है कि वह चर्चा किसी भी दर्शन के अभ्यासी के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सके।

प्रस्तुत ग्रन्थ के छपते समय टिप्पण, प्रस्तावना आदि के फार्म (Forms) कई भिन्न-भिन्न दर्शन के पंडित एवं प्रोफेसर पढ़ने के लिए ले गए, और उन्होंने पढ़कर बिना ही पूछे, एकमत से जो अभिप्राय प्रकट किया है वह मेरे उपर्युक्त कथन का नितान्त समर्थक है। मैं भारतीय प्रमाणशास्त्र के अध्यापक, पंडित एवं प्रोफेसरों से इतना ही कहना आवश्यक समझता हूँ कि वे यदि प्रस्तुत टिप्पण, प्रस्तावना व परिशिष्ट ध्यानपूर्वक पढ़ जाएँगे तो उन्हें अपने अध्यापन, लेखन आदि कार्य में बहुमूल्य मदद मिलेगी। मेरी राय में कम से कम जैन प्रमाणशास्त्र के उच्च अभ्यासियों के लिए, टिप्पणों का अमुक भाग तथा प्रस्तावना पाठ्य ग्रन्थ में सर्वथा रखने योग्य है; जिससे कि ज्ञान की सीमा, एवं दृष्टिकोण विशाल बन सके और दर्शन के मुख्यप्राण असंप्रदायिक भाव का विकास हो सके।

टिप्पण और प्रस्तावनागत चर्चा, भिन्न-भिन्न कालखण्ड को लेकर की गई है। टिप्पणों में की गई चर्चा मुख्यतया विक्रम की पंचम शताब्दी से लेकर १७ वीं शताब्दी तक के दार्शनिक विचार का स्पर्श करती है; जबकि प्रस्तावना में की हुई चर्चा मुख्यतया लगभग विक्रमपूर्व सहस्राब्दी से लेकर विक्रम की पंचम शताब्दी तक के प्रमाण प्रमेय संबंधी दार्शनिक विचारसरणी के विकास का स्पर्श करती है। इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ में एक तरह से लगभग ढाई हजार वर्ष की दार्शनिक विचारधाराओं के विकास का व्यापक निरूपण है; जो एक तरफ से जैन-परम्परा को और दूसरी तरफ से समानकालीन या भिन्नकालीन जैनेतर परम्पराओं को व्याप्त करता है। इसमें जो तेरह परिशिष्ट हैं वे मूल व्याख्या या टिप्पण के प्रवेशद्वार या उनके अवलोकनार्थ नेत्रस्थानीय हैं। श्रीयुत मालवणिया की कृति की विशेषता का संक्षेप में सूचन करना हो, तो इनकी बहुश्रुतता, तटस्थता और किसी भी प्रश्न के मूल के खोजने की ओर झुकनेवाली दार्शनिक दृष्टि की सतर्कता द्वारा किया जा सकता है। इसका मूल ग्रन्थकार दिवाकर की कृति के साथ विकासकालीन सामंजस्य है।

जैन ग्रन्थों के प्रकाशन संबंध में दो बातें

अनेक व्यक्तियों के तथा संस्थाओं के द्वारा, जैन परम्परा के छोटे-बड़े सभी फिरकों में प्राचीन अर्वाचीन ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य बहुत जोरों से होता देखा जाता है, परन्तु अधिकतर प्रकाशन सांप्रदायिक संकुचित भावना और स्वाग्रही मनोवृत्ति के द्योतक होते हैं। उनमें जितना ध्यान संकुचित, स्वमताविष्ट वृत्ति का रखा जाता है उतना जैनत्व के प्राणभूत समभाव व अनेकान्त दृष्टि-मूलक सत्यस्पर्शी अतएव निर्भय ज्ञानोपासना का नहीं रखा जाता। बहुधा यह

भुला दिया जाता है कि अनेकान्त के नाम से कहाँ तक अनेकान्त दृष्टि की उपासना होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादक ने, जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, ऐसी कोई स्वाग्रही मनोवृत्ति से कहीं सोचने लिखने का जान-बूझकर प्रयत्न नहीं किया है। यह ध्येय 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' के संपादक और प्रधान संपादक की मनोवृत्ति के बहुत अनुरूप है और वर्तमानयुगीन व्यापक ज्ञान खोज की दिशा का ही एक विशिष्ट संकेत है।

मैं यहाँ पर एक कटुक सत्य का निर्देश कर देने की अपनी नैतिक जवाबदेही समझता हूँ। जैनधर्म के प्रभावक माने मनाए जानेवाले ज्ञानोपासनामूलक साहित्य प्रकाशन जैसे पवित्र कार्य में भी प्रतिष्ठालोलुपतामूलक चौर्यवृत्ति का दुष्कलंक कभी-कभी देखा जाता है। सांसारिक कामों में चौर्यवृत्ति का बचाव अनेक लोग अनेक तरह से कर लेते हैं, पर धर्माभिमुख ज्ञान के क्षेत्र में उसका बचाव किसी भी तरह क्षन्तव्य नहीं है। यह ठीक है कि प्राचीन काल में भी ज्ञान चोरी होती थी जिसके द्योतक 'वैयाकरणश्चौरः' 'कविश्चौरः' जैसे वाक्योद्धरण हमारे साहित्य में आज भी मिलते हैं; परन्तु सत्यलक्षी दर्शन और धर्म का दावा करने वाले पहले और आज भी इस वृत्ति से अपने विचार व लेखन को दूषित होने नहीं देते और ऐसी चौर्यवृत्ति को अन्य चोरी की तरह पूर्णतया घृणित समझते हैं। पाठक देखेंगे कि प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादक ने ऐसी घृणित वृत्ति से नख-शिख बचने का सभान प्रयत्न किया है। टिप्पण हों या प्रस्तावना—जहाँ-जहाँ नए पुराने ग्रन्थकारों एवं लेखकों से थोड़ा भी अंश लिया हो वहाँ उन सब का या उनके ग्रन्थों का स्पष्ट नाम निर्देश किया गया है। संपादक ने अनेकों के पूर्व प्रयत्न का अवश्य उपयोग किया है और उससे अनेक गुण लाभ भी उठाया है पर कहीं भी अन्य के प्रयत्न के यश को अपना बनाने की प्रकट या अप्रकट चेष्टा नहीं की है। मेरी दृष्टि में सच्चे संपादक की प्रतिष्ठा का यह एक मुख्य आधार है जो दूसरी अनेक त्रुटियों को भी क्षन्तव्य बना देता है।

मेरी तरह पं० दलसुख मालवणिया की भी मातृभाषा गुजराती है। ग्रन्थरूप में हिन्दी में इतना विस्तृत लिखने का इनका शायद यह प्रथम ही प्रयत्न है। इसलिए कोई ऐसी आशा तो नहीं रख सकता कि मातृभाषा जैसी इनकी हिन्दी भाषा हो; परन्तु राष्ट्रीय भाषा का पद हिन्दी को इसलिए मिला है कि वह हरएक प्रान्त वाले के लिए अपने-अपने ढंग से सुगम हो जाती है। प्रस्तुत हिन्दी लेखन कोई साहित्यिक लेखरूप नहीं है। इसमें तो दार्शनिक विचारविवेक ही मुख्य है। जो दर्शन के और प्रमाणशास्त्र के जिज्ञासु एवं अधिकारी हैं उन्हीं के उपयोग की प्रस्तुत कृति है। वैसे जिज्ञासु और अधिकारी के लिए भाषातत्त्व

गौण है और विचारतत्त्व ही मुख्य है। इस दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि मातृभाषा न होते हुए भी राष्ट्रीय भाषा में संपादक ने जो सामग्री रखी है वह राष्ट्रीय भाषा के नाते व्यापक उपयोग की वस्तु बन गई है।

जैन प्रमाणशास्त्र का नई दृष्टि से सांगोपांग अध्ययन करनेवाले के लिए इसके पहले भी कई महत्त्व के प्रकाशन हुए हैं जिनमें 'सन्मतितर्क', 'प्रमाण-मीमांसा', 'ज्ञानबिंदु', 'अकलंकग्रन्थत्रय', 'न्यायकुमुदचन्द्र' आदि मुख्य हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं ग्रन्थों के अनुसंधान में पढ़ा जाय तो भारतीय प्रमाणशास्त्रों में जैन प्रमाणशास्त्र का क्या स्थान है इसका ज्ञान भलीभाँति हो सकता है, और साथ ही जैनेतर अनेक परम्पराओं के दार्शनिक मन्तव्यों का रहस्य भी स्फुट हो सकता है।

सिंघी जैन ग्रन्थमाला का कार्यवैशिष्ट्य

सिंघी जैन ग्रन्थमाला के स्थापक स्व० बाबू बहादुर सिंहजी स्वयं श्रद्धाशील जैन थे पर उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक न होकर उदार व सत्यलक्षी था। बाबूजी के दृष्टिकोण को विशद और मूर्तिमान् बनानेवाले ग्रन्थमाला के मुख्य संपादक हैं। आचार्य श्रीजिनविजयजी की विविध विद्योपासना पन्थ की संकुचित मनोवृत्ति से सर्वथा मुक्त है। जिन्होंने ग्रन्थमाला के अभी तक के प्रकाशनों को देखा होगा, उन्हें मेरे कथन की यथार्थता में शायद ही संदेह होगा। ग्रन्थमाला की प्राणप्रतिष्ठा ऐसी ही भावना में है जिसका असर ग्रन्थ-माला के हरएक संपादक की मनोवृत्ति पर जाने अनजाने पड़ता है। जो-जो संपादक विचारस्वातन्त्र्य एवं निर्भयसत्य के उपासक होते हैं उन्हें अपने चिन्तन लेखन कार्य में ग्रन्थमाला की उक्त भूमिका बहुत कुछ सुअवसर प्रदान करती है और साथ ही ग्रन्थमाला भी ऐसे सत्यान्वेषी संपादकों के सहकार से उत्तरोत्तर ओजस्वी एवं समयानुरूप बनती जाती है। इसी की विशेष प्रतीति प्रस्तुत कृति भी करानेवाली सिद्ध होगी।

ई० १६४६] [न्यायावतार वार्तिक वृत्ति का 'आदि वाक्य'

———

सूची